मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति

डॉ. झारखण्डे चौबे, डॉ. कन्हैया लाल श्रीवास्तव



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी ग्रंथ अकादमी ग्रंथांक : 231

मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति

लेखक

डॉ० झारखण्डे चौबे

एम०ए०, पी-एच०डी०

भूतपूर्व रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

एवम्

डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव

एम०ए०, पी०-एच०डी०

भूतपूर्व रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन,

6-महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय, ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1979
द्वितीय संस्करण : 1990
तृतीय संस्करण : 2000
चतुर्थ संस्करण : 2005
पंचम संस्करण : 2013
षष्ठम् संस्करण : 2015

प्रतियाँ : 500

मूल्य : 190=00 (एक सौ नब्बे)

ISBN : 978-93-82175-58-2

मुद्रक :
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
268, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : 2692973

प्रकाशकीय

भारतीय समाज और संस्कृति की महान परम्परा में मध्ययुग ने आधुनिक समाज की नींव डाली। आज की गंगा-जमुनी संस्कृति के विकास में इस युग में सर्वाधिक योगदान दिया। यह सही है कि प्रारम्भ में विभिन्न संस्कृतियों में टकराव भी हुए पर जल्दी ही उन्हें यह समझते देर न लगी कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का कोई दूसरा विकल्प नहीं है। एक दूसरे के सहयोग से जीवन और समाज को कहीं अधिक पूर्ण और सफल बनाया जा सकता है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. झारखण्डे चौबे और डॉ. कन्हैयालाल श्रीवास्तव की पुस्तक मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति इस विविधतापूर्ण, सकारात्मक और व्यापक सहयोग का अत्यन्त सफलतापूर्वक विवरण प्रस्तुत करती है, प्रभावित करती है।

यह पुस्तक 'मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति' 14 अध्यायों में विभक्त है। यह हैं – समाज का स्वरूप, स्त्रियों की स्थिति, अभिजात वर्ग, उलेमा एवं दासप्रथा, मुस्लिम प्रशासन में हिन्दुओं की स्थिति, भक्ति आन्दोलन, सूफीवाद, आर्थिक जीवन, शिक्षा, साहित्य, सल्तनतकालीन स्थापत्य कला, मुगलकालीन स्थापत्यकला, चित्रकला एवं संगीत तथा अन्य सांस्कृतिक विशेषताएँ। पुस्तक के अन्त में सन्दर्भित ग्रन्थों की सूची देकर विद्वान लेखक द्वय को पुस्तक को और अधिक प्रामाणिक बनाने में सफलता मिली है। इनकी सारगर्भित जानकारियाँ, विवरण और निष्कर्ष पहली ही दृष्टि में पाठक को प्रभावित करते हैं। 'मध्ययुगीन भारतीय समाज और संस्कृति' पुस्तक के निमित्त लेखक द्वय के प्रति उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान कृतज्ञ है।

मध्य युग के परवर्ती काल में विभिन्न क्षेत्रों में जिस तेज गति से विकास हुआ, ज्ञान के नये-नये क्षितिज खुले, सच तो यह है कि वह किसी बंद समाज में सम्भव ही नहीं था। इसलिए विद्वान लेखकों ने इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और विकास परम्परा को समेटने-संजोने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी कारण जागरूक पाठकों के बीच इसे असाधारण लोकप्रियता मिली और पिछले पाँच संस्करण हाथों-हाथ बिक गए। अब उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत इस पुस्तक का छठवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। आशा है कि यह ग्रन्थ शोधार्थियों एवं जागरूक पाठकों के बीच वर्तमान में तथा आगे भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ. सुधाकर अदीब

निदेशक

निवेदन

भारतीय समाज की वैभवशाली अनेकता में एकता और रचनात्मक ऊर्जा से भरपूर परम्परा को कई बार देखने-परखने और समझने की जिज्ञासा निरंतर बनी रही है। हमारी यह धरोहर हमें आह्लादित होने का गौरव प्रदान करती है। हजारों वर्षों की अवधि में यह केवल इसलिए निरंतर गतिशील रही क्योंकि इसने कभी दूसरों से सीखने की प्रवृत्ति नहीं छोड़ी। समय-समय पर यहाँ अनेक धर्म और जातियाँ आयीं और न केवल हमें नये ज्ञान और चिंतन से परिमार्जित किया अपितु स्वयं भी यहाँ की अनेकानेक उपलब्धियों को भी आत्मसात किया। ज्ञान और चिंतन की एक ऐसी आवश्यकता जो सम्पूर्ण मानवजाति की धरोहर है और यह कहा जा सकता है कि विश्व की जिन प्राचीन संस्कृतियों में इसे सर्वाधिक आत्मसात किया, उनमें भारतीय संस्कृति प्रमुख है। इसीलिए भारतीय संस्कृति निरंतर गतिशील रही है आज भी है और सदैव रहेगी। भारतीय संस्कृति का जो असाधारण, विविधतापूर्ण और मानवीय स्वरूप है, उसके पीछे इस निरंतरता का असाधारण योगदान है।

भारतीय संस्कृति को वर्तमान पहचान देने में मध्यकालीन इतिहास का योगदान अपूर्व है। इस काल में न केवल इस्लाम का आगमन हुआ जो अपने साथ जीवन व ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बिल्कुल नया चिंतन लेकर सामने आया अपितु भारतीय समाज को नया स्वरूप प्रदान करने का प्रयास भी किया। परावर्ती काल में अंग्रेज आये, उनके भी कई अच्छे-बुरे प्रभाव रहे। इस बदलाव को पढ़ना-समझना भारतीय संस्कृति के हर विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है। वर्तमान और भविष्य के अनेकानेक योजनाओं और कार्यशैली पर इसका प्रभाव पड़ता है और ऐसे में इसकी उपादेयता महत्वपूर्ण है। सुप्रसिद्ध समाज विज्ञानी डॉ. झारखण्डे चौबे और डॉ. कन्हैया लाल श्रीवास्तव की चर्चित पुस्तक 'मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति' इस कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरती है। इसी के चलते सुधी पाठकों का मान-सम्मान भी इसे मिला और इस क्रम में अब इसका पाँचवाँ संस्करण आपके सामने है। आर्थिक विकास और खुशहाली की दृष्टि से भले ही मध्यकाल का अधिकांश युग सामान्य रहा हो, अधिकांश जनता पर गरीबी की मार पड़ती रही हो, कला, स्थापत्य, साहित्य और विशेषकर उसकी भक्ति और सूफीकाल से सम्बन्धित गतिविधियाँ असाधारण रहीं। कबीर, नानक, जायसी, रसखान और महाप्रभु चैतन्य तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सूफी संत इसी समय की देन हैं। उन्होंने अंधेरे के बीच भी समाज को रास्ता दिखाया, आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

संत कवियों ने अपने-अपने दायरे में सिमटी हिन्दू-मुस्लिम परम्परा के बीच सहयोग के नये आयाम विकसित करने में महती योगदान दिया। धर्मनिरपेक्षता को समर्पित अकबर व

दाराशिकोह जैसी समन्वयवादी महान विभूतियाँ इसी युग की देन हैं। कला हो या स्थापत्य, साहित्य हो या सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रत्येक क्षेत्र में दोनों के बीच अधिक आदर और विश्वास विकसित हुआ, कालान्तर में जिसका असाधारण लाभ हमें मिला और मिली जुली हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति तथा परम्परा की नींव पड़ी। लेखक द्वय डॉ. झारखण्डे चौबे और डॉ. कन्हैयालाल श्रीवास्तव की यह पुस्तक मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति का यह पाँचवाँ संस्करण इस समूचे मध्यकाल और उसकी विशेषताओं पर विहंगम दृष्टिपात करता है। भारतीय समाज और संस्कृति के गम्भीर अध्येयताओं द्वारा इस पुस्तक के पूर्व संस्करणों का भी स्वागत हुआ है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक का यह छठवाँ संस्करण भी अपनी उपादेयता सिद्ध करने में सक्षम होगा।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

आमुख

प्राचीन काल से भारतीय समाज ने भारत आने वाली अनेक विदेशी जातियों को अपने में आत्मसात करने का यथाशक्य प्रयास किया है तथा इस प्रयास में उसे अद्‌भुत सफलता मिली है। परन्तु भारतीय परिवेश में प्रविष्ट होने वाला इस्लामी समाज भारतीय समाज में संपृक्त न हो सका। इसका प्रमुख कारण हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध का स्वरूप शासक और शासित का था। छः शताब्दियों के शासन के बावजूद दारुल हर्ब को दारुल इस्लाम में परिणत न किया जा सका। डॉ० रमेश चन्द्र मजुमदार के अनुसार हिन्दू-मुस्लिम समाज नदी के दो किनारों की भाँति थे, जिनका मिलना असम्भव था। दोनों समाज के बीच चीन की दीवार थी, छः शताब्दियों तक एक साथ रहने के बाद भी उसमें दरार तक न पड़ सकी और उसके ध्वस्त होने की बात तो एक कल्पना मात्र है। पाश्चात्य विद्वान् टाइटस ने स्पष्ट लिखा है कि समाज तथा धर्म के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम पारस्परिक प्रभाव अन्तस्तल को प्रभावित न करके कवेल बाह्यांचल को ही स्पर्श कर सका। कई शताब्दियों तक एक साथ रहने पर भी इस्लाम की सामजिक समानता, जिसे यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों ने क्रान्ति तथा बलिदान से प्राप्त किया, रूढ़िवादी तथा परम्परावादी भारतीय समाज को ग्राह्य न थी। इसी प्रकार हिन्दू धर्म का प्रशंसनीय उदारवादी सिद्धान्त इस्लामी समाज को स्वीकार न था।

टाइटस के उपर्युक्त कथन में यथार्थता अवश्य है। इसका प्रमुख कारण हिन्दू-मुस्लिम् समाज का रूढ़िवादी दृष्टिकोण था। परन्तु हिन्दू-मुस्लिम समाज के बीच चीन की दीवार का होना तथा दोनों को नदी के दो किनारों की भाँति विभक्त होना हास्यास्पद प्रतीत होता है। सूफी सन्तों, भक्ति आन्दोलन के समाज सुधारकों तथा अकबर महान् की उदारवादी नीतियों ने चीन की दीवार को ध्वस्त करके दोनों सम्प्रदायों के बीच सामाजिक सेतु का निर्माण किया। अनेक अवरोधों के बाद हिन्दू-मुस्लिम दोनों सामाजिक रंगमंच पर एकत्रित हुए। परिणामस्वरूप सामाजिक सहिष्णुता और समन्वय के युग का अभ्युदय हुआ। आचार-विचार और रीति-रिवाज की विभिन्नता होते हुए भी अनेक पर्वों तथा त्याहारों पर एक साथ मिलना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सामाजिक क्षेत्र में दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। अतः इस युग को सामाजिक समन्वयवाद का युग कहना उचित प्रतीत होता है। सूफी सन्त, महान् समाज सुधारक रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, सम्राट् अकबर, राजकुमार दाराशिकोह समन्वयवादी उद्‌भिज की सर्वश्रेष्ठ उपज तथा अतीत के सर्वोत्कृष्ट उपहार हैं।

डॉ० पी०एन० चोपड़ा ने लिखा है कि प्राचीन से आधुनिक युग तक भारतीय संस्कृति

का स्वरूप अपरिवर्तनीय रहा है। भारत में शक, हूण, कुषाण, अरब, तुर्क, मुगल, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज आदि विदेशी जातियों का आगमन तथा उनके प्रभाव के बावजूद स्त्रियों की साड़ी तथा पुरुषों का धोती और कुर्ता आज भी उतना ही लोकप्रिय है जितना गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी के समय में था। विदेशी जातियों का प्रभाव भारतीय संस्कृति के कठोर पत्थर पर अनेक सतहों के समान है। इस यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

डॉ० ताराचन्द के अनुसार इस्लाम के सर्वांगीण प्रभार के कारण भारतीय संस्कृति की आत्मा परिवर्तित हो उठी। सर यदुनाथ सरकार तथा डॉ० रमेश चन्द्र मजुमदार ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार हिन्दू-मुस्लिम समाज के बीच चीन की दीवार ने उन्हें एक साथ मिलने तथा संस्कृति को प्रभावित करने का अवसर नहीं दिया। इन दोनों मान्यताओं को स्वीकार करने का तात्पर्य मध्ययुगीन अतीत के प्रति अन्याय करना होगा। क्योंकि इस्लाम के प्रभाव के कारण न तो भारतीय संस्कृति की आत्मा परिवर्तित हो सकी और न हिन्दू-मुस्लिम समाज के बीच चीन की दीवार स्थायी रूप से रही है।

तत्कालीन परिस्थितियों, सूफी सन्तों, भक्ति आन्दोलन के समाज सुधारकों, अकबर तथा दाराशिकोह जैसे शासकों तथा राजकुमारों, अबुल फ़जल, बीरबल तथा सरमद जैसे सलाहकारों ने चीन की दीवार को ध्वस्त करके नदी के दोनों किनारों को जोड़ने के लिए सांस्कृतिक तथा सामाजिक पुल का निर्माण किया। परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम सहयोग और सद्भावना का सूत्रपात साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत के क्षेत्रों में निर्बाध रूप से हुआ। जायसी, अब्दुर्रहीम खानखाना, रसखान, कुतबन जैसे मुस्लिम साहित्यकारों की उपलब्धियों पर प्रत्येक हिन्दी साहित्य प्रेमी गर्व की अनुभूति करता है। सूजनराय खत्री का फारसी साहित्य में इतिहास लेखन सहयोग का अद्भुत प्रमाण है। कुतुबमीनार, दिल्ली का लाल किला, फतेहपुर सीकरी की इमारतें, आगरा का ताजमहल किसी एक सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं अपितु हिन्दू-मुस्लिम सहयोग की बहुमूल्य निधियाँ हैं। इन उपलब्धियों पर प्रत्येक भारतीय हिन्दू-मुस्लिम गर्व की अनुभूति करता है। अतः मध्ययुगीन संस्कृति को समन्वय की संस्कृति कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यह अलग संस्कृति न होकर डॉ० पी०एन० चोपड़ा के शब्दों में भारतीय संस्कृति पर एक सतह के समान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ''मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति'' तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के सर्वांगीण चित्रण का एक प्रयास है। यह सही है कि प्रतिपादित इस गम्भीर एवं विस्तृत विषय पर अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं। परन्तु किसी भी पुस्तक में समाज

एवं संस्कृति सम्बन्धी सभी समस्याओं का सन्तोषजनक समाधान नहीं है। इस अभाव को पूर्ण करना, इस पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य है। मूल ऐतिहासिक स्रोतों का समुचित प्रयोग किया गया है। नवीन साक्ष्यों के आलोक में कई स्थलों पर ख्यातिलब्ध इतिहासकारों के विचारों से असहमति प्रकट करने का साहस भी किया गया है। परन्तु ऐसे स्थलों पर यथार्थ तथ्यों को प्रमाणित करने का भी प्रयास है। हम उन विद्वानों के प्रति कृतज्ञ हैं जिनकी रचनाओं से हमें प्रेरणा प्राप्त हुई है।

पाश्चात्य विद्वान ट्रेवेर्नियर ने लिखा है कि प्रत्येक युग में इतिहासकार सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार इतिहास लिखता है। यही कारण है कि पूर्वाग्रही विचार के इतिहासकारों के मतों का परित्याग वर्तमान सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर किया गया है। महान् इटालियन दार्शनिक क्रोचे ने इतिहास को समसामयिक कहा है। इस विचार से प्रेरित होकर तथ्यों को उचित मूल्यांकन वस्तुगत तथा वर्तमान दृष्टिकोण से किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना स्नातकोत्तर छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गयी है। प्रत्येक विषय को सरल, सुबोध, प्रामाणिक और व्यापक बनाने की पूरी चेष्टा की गयी है। पर्याप्त तत्परता पर भी यदि पाठकों की सूक्ष्म दृष्टि में किसी प्रकार की त्रुटि दिखायी पड़े तो हम उसका स्वागत करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना का एकमात्र श्रेय पूज्य गुरु प्रो० हीरा लाला सिंह, भूतपूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को है। लेखन से प्रकाशन तक उनका निर्देशन प्रेरणा का स्रोत रहा हैं। विभागीय वरिष्ठ सदस्य प्रो० भूपेन कानूनगो तथा डॉ० जितेन्द्र नाथ वाजपेयी को उनके प्रोत्साहनपूर्ण सुझाव के लिए हम आभार प्रकट करते हैं। अपने सहयोगी डॉ० जयशंकर मिश्र तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सिंह को सहयोग के लिए हम धन्यवाद देते हैं। श्री विश्वनाथ शर्मा, निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान तथा श्री अशोक जी, कार्यकारी उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के प्रति विशेष रूप से आभारी हैं, जिनकी कृपा से पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ है।

डॉ० झारखण्डे चौबे
डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव

द्वितीय संस्करण

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 'मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति' का द्वितीय संस्करण हम लेखकद्वय के लिए हर्ष का विषय है। पाठकों एवं विद्वतसमाज के निरंतर आग्रह पर ही हमें संस्थान के निदेशक का ध्यान आकृष्ट कराना पड़ा। पुस्तक को यथाशक्य संशोधित तथा परिवर्धित करने का प्रयास किया गया है। फिर भी त्रुटियों की ओर हम विद्वानों के सुझाव का आदर करेंगे।

डॉ० झारखण्डे चौबे

29 सितम्बर, 1990 डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव

तृतीय संस्करण

मध्ययुगीन भारतीय समाज के तृतीय संस्करण पर हम लेखकद्वय अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। प्रस्तुत रचना के कुछ अध्यायों का आमूल करने की आवश्यकता थी, परन्तु उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सीमित समय-निर्धारण के कारण सम्भव नहीं हो सका, अतः आगामी संस्करण में इस कमी को दूर करने का प्रयास किया जायगा। समयाभाव के कारण फिर भी यथा स्थान संशोधन किया गया है। हम आशा करते हैं कि पाठकगण उसका लाभ उठायेंगे।

डॉ० झारखण्डे चौबे

डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव

15 सितम्बर, 2000

विषय-सूची

●

1

अध्याय 1

समाज का स्वरूप

भारतीय सामाजिक संगठन मूलतः प्राचीनकाल से आधुनिक समय तक एक समान रहा है। परन्तु निरंतर परिवर्तित कालचक्र के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के स्वरूप मे परिवर्तन स्वाभाविक था। क्योंकि समय का प्रभाव मनुष्य पर तथा मनुष्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज परिवार से राष्ट्रीय स्तर तक कई इकाइयों में विभक्त है जिसका विस्तृत विवरण यथोचित स्थान पर किया जायगा।

परिवार

प्रत्येक व्यक्ति का जन्म तथा पालन पोषण परिवार में हुआ है। वह भलीभाँति जानता है कि परिवार क्या है ? परन्तु समाज शास्त्र के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं। बर्जेस तथा लाक के अनुसार, परिवार एक गृह में रहनेवालों का समूह है, जो माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति तथा पत्नी के संबंध से अनुबंधित होकर संयुक्त है।[1] परन्तु इस परिभाषा का क्षेत्र विस्तृत है अतः दोषपूर्ण है। डनलप के मतानुसार परिवार स्त्री, पुरुष तथा उनके अल्पवयस्क बच्चों का समूह है।[2] परन्तु कुछ ऐसे परिवार हैं जिनमें बच्चे नहीं हैं अथवा गोद लिये गये हैं।[3] स्त्री पुरुष के बाद बच्चों द्वारा क्रम का चलना आवश्यक होता है। यदि शादी के बाद बच्चे न पैदा हों तो ऐसे परिवार को परिवार की संज्ञा नहीं दी जाती। इसे निःसंतान परिवार अथवा निःसंतान वैवाहिक संबंध कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[4] अतः परिवार पति, पत्नी तथा उनके अल्पवयस्क बच्चों का समूह है। वयस्क बच्चों की शादी हो जाने के बाद उनका अलग परिवार हो जाता है। इस रूप में परिवार का क्रम बराबर चलता रहता है।[5]

---

1. इ० डब्लू० बर्जेस तथा एच० जे० लाक, दि फेमिली, पृ० 8
2. के० डनलप, सिविलाइज्ड लाइफ, पृ० 136-137
3. पी० एच० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्ग्नाइजेशन, पृ० 202
4. प्रभु, पृ० 203
5. वही, पृ० 203

संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार की प्रथा प्राचीन, मध्ययुगीन तथा कुछ सीमा तक आधुनिक काल में प्रचलित रही है।[1] संयुक्त परिवार का चलना सदस्यों के सहयोग तथा प्रेम भाव पर निर्भर करता है। मध्ययुगीन समाज में संयुक्त परिवार की व्यवस्था रही है।[2] सामाजिक दृष्टिकोण से यह प्रथा अधिक उपयोगी रही है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके बच्चों तथा विधवा पत्नी का जीवन-निर्वाह संयुक्त परिवार में हो जाता है। लंगड़े, अंधे तथा अपंग व्यक्तियों का जीवन-निर्वाह ऐसे संयुक्त परिवार में सम्भव है।

प्रत्येक व्यवस्था में गुण-दोष होते हैं। अनेक उपयोगिताओं के बावजूद संयुक्त परिवार-व्यवस्था के कुछ दोष हैं। परिवार के अनेक सदस्य स्वावलम्बी होने का प्रयास नहीं करते। कभी-कभी परिवार का उत्तरदायित्व कुछ ही लोगों पर निर्भर करता है। मध्ययुगीन समाज में यह प्रथा अधिक आकर्षक नहीं रही।

जाति प्रथा का उद्‌भव

प्रख्यात समाजशास्त्री जी० एस० घुर्ये के मतानुसार जाति का तात्पर्य किसी वर्ग अथवा समुदाय में जन्म से है।[3] इसका संबंध प्राचीन सामाजिक संगठन से नहीं अपितु समाज में इसका उद्‌भव समय तथा परिस्थितियों का परिणाम है।[4] डा० अशरफ ने ठीक ही लिखा है कि इसका संबंध वर्णधर्म से है।[5] जिस प्रकार वर्णाश्रम की व्यवस्था मानव-जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर की गयी, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर वर्ण-व्यवस्था का संगठन किया गया था।

सर्वप्रथम वर्ण का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है—

"ब्राह्मणऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यांशूद्रोऽजायत ॥"[6]

विराटपुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पाँव से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई।[7] इस व्यवस्था का आधार कर्म था। कर्मकांड, यज्ञानुष्ठान

1. के० एम० अशरफ, लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ द पीपुल आफ हिन्दुस्तान, पृ० 165
2. जी० एस० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ० 176
3. वही, पृ० 176
4. अशरफ, पृ० 7
5. ऋग्वेद, 10.10.12, उद्‌धृत–जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 98
6. प्रभु, पृ० 285
7. अशरफ, पृ० 164

में पारंगत मुख के स्वामी ब्राह्मण, राजनीति में सक्रिय भाग लेनेवाले क्षत्रिय, समाज के पोषक व्यापारी, कृषक तथा शिल्पी वैश्य एवं समाज सेवक शूद्र कहलाए।[1]

ब्राह्मण

हिन्दुओं के चातुर्वर्ण में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च थी। समाज की धार्मिक सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना जाता था।[2] अल-बीरुनी ने भी ब्राह्मणों को हिन्दू जाति में सर्वोपरि माना है।[3] ब्राह्मणों का कार्य पठन-पाठन, अध्ययन तथा मनन था, अतः ब्राह्मणों का कवि, दार्शनिक, न्यायवेत्ता, आदि होना स्वाभाविक था।[4] मेगस्थनीज ने अपने यात्रा वर्णन में इसका उल्लेख किया है।[5] मध्ययुगीन समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा प्राचीन काल जैसी रही। मध्ययुग में साधारणतः ब्राह्मणों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था नहीं थी।[6]

क्षत्रिय

समाज के परिपोषण तथा रक्षण में क्षत्रिय वर्ण का सराहनीय योगदान रहा है। मध्ययुग में आक्रमण के समय क्षत्रियों ने एकनिष्ठा और साहस के साथ देश और प्रजा की रक्षा की। वस्तुतः समाज में क्षत्रियों की प्रतिष्ठा एवं सर्वप्रियता ब्राह्मणों से कम न थी।[7] राजा भोज का कथन है कि :

> "जो वीर, उत्साही, शरण देने, रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ और लम्बे शरीर वाले इस संसार में क्षत्रिय हुए, उनका कार्य प्रजा की रक्षा, उनके नियमों आदि की व्यवस्था करना था।"[8]

---

1. प्रभु, पृ० 287
2. जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 102
3. इलियट, डाउसन, पृ० 119
4. मिश्र, पृ० 103
5. वही, पृ० 101
6. वही, पृ० 108
7. वही, पृ० 112
8. येतु शूरा महौत्साहः शरण्या रक्षणा, क्षमा।
   दृढ़व्यापत देहाश्च क्षत्रियास्त इहाभवन्॥
   विक्रमो लोकसंरक्षा विभागो व्यवसायिता।
   (समराङ्ग सूत्राधार अ. 7, उद्धृत-मिश्र, पृ० 113)

वह प्रजा पर शासन करता है, उनकी रक्षा करता है। शुक्रनीति के अनुसार जो लोक की रक्षा करने में दक्ष, वीर, दानी, पराक्रमो, दुष्टों का दमन करने वाला हो, वही क्षत्रिय है।[1] क्षत्रियों को समाज में अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं, किन्तु ब्राह्मणों की तुलना में कम तथा वैश्यों की तुलना में अधिक। उन्हें वेद पढ़ने की अनुमति नहीं थी। परन्तु यज्ञ करा सकते थे।[2]

वैश्य

भारतीय समाज के व्यावसायिक और कृषि कर्म का भार प्राचीन काल से वैश्य वर्ण के हाथों में रहा। देश और समाज की आर्थिक स्थिति को सदृढ़ और सुसंगठित बनाने का कार्य वैश्य वर्ण को सुपुर्द किया गया।[3] समाज के आर्थिक आधार का संचालन वैश्य करते थे। गीता का उद्धरण करते हुए अलबीरुनी ने लिखा है कि, वैश्य का कर्म खेती करना, पशुपालन और व्यापार करना है।[4]

शूद्र

सामाजिक आचार-विचार और व्यवहार कर्म में शूद्रों का स्थान चौथा था। अधिकार और कर्तव्य की दृष्टि से यह वर्ग समाज में उपेक्षित था।[5] इनका एकमात्र कर्म समाज की सर्वविधि सेवा करना था। धर्मशास्त्रों में बताया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की सेवा करना उनका सामाजिक कर्तव्य है।[6] वे वेद-अध्ययन, देश की रक्षा और व्यापार नहीं कर सकते थे। अगर किसी कारणवश शूद्र, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा नहीं कर पाता था तो वह किसी सीमा तक क्षम्य था, परन्तु ब्राह्मणों की सेवा उनके लिए अनिवार्य थी।[7]

सामाजिक सम्बन्ध

वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था का आधार कर्म था जो सामाजिक सभी

---

1. समराङ्ग सूत्राधार अ. 7, उद्धृत–मिश्र, पृ० 113
2. प्रभु, पृ० 295
3. आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ ऐंसीयेंट इण्डिया, पृ० 74
4. कृषिगौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥ (उद्धृत-मिश्र, पृ० 117)
5. त्रिपाठी, पृ० 74
6. एकमेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्मसमृद्दिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया ॥ (मनु 1.91, मिश्र, पृ० 118)
7. प्रभु, पृ० 289

आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति के व्यवसाय, अन्त-र्वर्णविवाह तथा ज्ञानार्जन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। ऋगवेद में एक ब्राह्मण ऋषि के कथन का उल्लेख है 'मैं कवि हूँ, पिता वैद्य थे, माँ चक्की पीसने वाली थी।'[1] ब्राह्मण ऋषि भृगु के वंशज रथ बनाने में प्रवीण थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवसाय के चयन में किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था। उसी प्रकार अन्तरवर्ण विवाह के अनेक उदाहरण हैं।

श्यवन ऋषि ब्राह्मण थे पर उन्होंने क्षत्रिय राजा सयात् की पुत्री सुकन्या से विवाह किया।[2] क्षत्रिय राजा ययाति ने ब्राह्मण-कन्या देवयानी से शादी की। इसी प्रकार ब्राह्मण ऋषि स्यावस्व ने क्षत्रिय राजा रथवीति की कन्या से विवाह किया।[3] महर्षि काक्षीवान ने राजा स्वनय की पुत्री से वैवाहिक सम्बन्ध किया। इसी प्रकार ज्ञानार्जन का क्षेत्र केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं रह गया था। विदेह के राजा जनक, काशी के अजातशत्रु, पंचाल के राजा प्रवाहण जावालि[4] तथा कैकेय के अश्वपति ने ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अद्भुत ख्याति प्राप्त की। उन्हें दार्शनिक राजा कहते हैं। राज-कुमार देवापि ने अपने भाई शान्तनु के लिए यज्ञ किया।[5] इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक समाज में कर्म प्रधान था और सामाजिक व्यवहार में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। पाण्डवों को सैनिक दीक्षा देने वाले गुरु द्रोणाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे। महर्षि वशिष्ठ का जन्म एक वेश्या से हुआ था। परशुराम ने ब्राह्मणकुल में जन्म लेकर क्षात्र धर्म का पालन किया। व्यास का जन्म मछुआ परिवार में हुआ था। धृतराष्ट्र के मित्र तथा महान दार्शनिक विदुर दासीपुत्र थे। इस प्रकार इनके जाति का आधार कर्म था।[6] धीरे-धीरे कर्म के स्थान पर जब जन्म को प्रधानता दी जाने लगी तभी से जाति-प्रथा का आविर्भाव हुआ।

जातिप्रथा का विकास

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त कोई पाँचवाँ

---

1. दिल्ली सल्तनत, 5, पृ० 578
2. त्रिपाठी, पृ० 49
3. घुर्ये, पृ० 176
4. त्रिपाठी, पृ० 49
5. वही, पृ० 49
6. घुर्ये, पृ० 176

वर्ण नहीं है ।[1] याज्ञवल्क्य, बौधायन और वशिष्ठ ने इस मत पर सहमति प्रकट की है ।[2] समय परिवर्तन के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था का स्थान जातिप्रथा ने ले लिया। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन का आधार बन गयी ।[3] जाति शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के जन् से हुई है, जिसका अर्थ जन्म होता है ।[4] महाकाव्य काल तथा पुराण से वर्ण व्यवस्था में विषमता आने लगी। चारों वर्णों के लिए अलग-अलग सम्बो ।न शब्दों—एहि, आगच्छ, अद्रव तथा अधव का प्रयोग होने लगा ।[5] उनके शुभ क ।र्यों के लिए बसंत, ग्रीष्म, शरद ऋतुएँ निश्चित की गईं ।[6] पिंडदान का आकार तथा हवन के लिए पलाश, न्यग्रोध तथा अष्ठव लकड़ियों का प्रयोग निश्चित किया गया ।[7] इस प्रकार का भेदभाव प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था ।

लोगों के दृष्टिकोण को संकुचित बनाने में भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने भी सहयोग दिया। वेष-भूषा, खानपान, रीतिरिवाज की दृष्टि से उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए समानता रखना सम्भव नहीं रहा। उनका दृष्टिकोण संकुचित होकर क्षेत्रीय हो गया ।[8] फलतः जहाँ हिन्दू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे, अब उनका स्थान सैकड़ों जातियों ने ले लिया और वे गोत्र के आधार पर भी कई वर्गों में विभक्त हो गये। पारस्परिक विवाह तथा खान-पान और सामाजिक सम्बन्धों में इतनी विषमताएँ आ गई कि एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं रह गया ।[9] यह भावना फैलने लगी कि जाति के सदस्य ही भाई-भाई हैं और दूसरी जाति के लोग विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अंग होने की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र में समान होने पर भी प्रारब्ध एवं संचित कर्म के प्रभाव से सामाजिक क्षेत्र में समान नहीं हैं ।[10] इस प्रकार

1. मनु, 1–87
2. प्रभु, पृ० 296
3. एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया, पृ० 1
4. प्रभु, पृ० 298
5. वही, पृ० 289
6. वही, पृ० 289
7. वही, पृ० 289
8. अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ० 422
9. वही, पृ० 422
10. पाण्डेय, पृ० 423

सहानुभूति, प्रेम, एकता, बंधुत्व की भावना इस छोटे जनसमूह तक सीमित रह गई; जो समान सामाजिक आचार विचारों एवं कुल परम्परा के आधार पर एक जाति कही जाती थी।[1]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उपजातियों के अतिरिक्त अनेक जातियाँ मध्ययुगीन समाज में रही हैं। वर्णसंकर उन्हें कहा जाता था जो दो जातियों के संयोग से उत्पन्न होते थे।[2] यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य किसी निम्न जाति की लड़की से शादी कर लेते थे, तो उनके संयोग से उत्पन्न संतान को अनुलोम जाति कहा जाता था।[3] इसके अतिरिक्त समाज में चाण्डाल भी थे। इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था। गाँव की बस्तियों से ये दूर रहते थे। इन्हें उच्च जाति के खान पान तक को छूने का अधिकार नहीं था। यदि वे हठ करते थे तो उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।[4] इन अछूत जातियों के अंतर्गत जुलाहे, नाई आदि थे। यह वर्ग हिन्दू समाज द्वारा उपेक्षित था।[5] जन्म के आधार पर ही मनुष्य के कर्म, धर्म तथा गुण का निश्चय होने लगा।[6] लोग इस सीमा के बाहर जीविकोपार्जन तथा विवाह सम्बन्ध सोच भी नहीं सकते थे।

जातिप्रथा का मध्ययुगीन समाज पर विनाशकारी प्रभाव

कुछ विद्वानों ने जातिप्रथा की उपयोगिता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। डॉ० अशरफ के अनुसार हिन्दू समाज को सजीव रखने में जाति प्रथा का विशेष योगदान रहा है।[7] सम्भवतः किसी युग में जाति प्रथा हिन्दू समाज के लिए उपादेय रही हो, परन्तु मध्ययुगीन समाज पर तो निश्चित रूप से इसका प्रभाव विनाशकारी रहा है। यह भारतीय समाज के लिए घातक ही नहीं अपितु अभिशापस्वरूप सिद्ध हुई।

सभी लोग अपने जन्म के अनुसार ही कर्म का चयन कर सकते थे।[8] आठवीं

---

1. पाण्डेय, पृ० 423
2. वही, पृ० 422
3. दिल्ली सल्तनत, पृ० 581
4. वही, पृ० 581
5. वही, पृ० 582
6. प्रभु, पृ० 321
7. अशरफ, पृ० 6-7
8. प्रभु, पृ० 319

सदी में जब मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ, तो देश की सुरक्षा का एकमात्र उत्तरदायित्व राजपूतों को वहन करना पड़ा। देश की अधिकांश जनता देश की रक्षा के प्रति उदासीन थी। राजपूतों ने जाति प्रथा तथा कर्म निर्णय के आधार पर उन्हें सेना में स्थान नहीं दिया।[1] परिणामस्वरूप सम्पूर्ण जनता में राष्ट्रीयता की भावना का विकास न हो सका।[2] जवाहर लाल नेहरू ने इसके विनाशकारी प्रभाव के सम्बन्ध में लिखा है कि जाति प्रथा के कारण राजनैतिक सहयोग तथा एकता का अभाव था। बाह्य आक्रमण की सफलता तथा भारतवर्ष में विदेशी शासन की स्थापना इसी का परिणाम था।[3]

वैश्य कुल के लोग विद्या में पारंगत, युद्धकला में दक्ष होते हुए भी न ही वेद का अध्ययन कर सकते थे और न सैनिक सेवा।[4] इस प्रकार जाति प्रथा के कारण मनुष्य का विकास सम्भव नहीं था और न तो वह अपनी कुशलता एवं दक्षता का प्रदर्शन समाज के समक्ष कर सकता था।[5] कर्म, धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति में मनुष्य जाति प्रथा की सीमाओं में बँधा था।

शूद्रों को समाज में उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।[6] इस्लाम की सामाजिक समानता से आकृष्ट होकर अधिकांश शूद्रों ने हिन्दू समाज छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हिन्दू समाज की शक्ति क्षीण होने लगी। भक्ति आन्दोलन के प्रमुख समाज सुधारक रामानन्द, कबीर, नानक और चैतन्य ने शूद्रों को प्रतिष्ठित स्थान देकर हिन्दू समाज की रक्षा करने का सराहनीय प्रयास किया।

जाति प्रथा के कारण हिन्दुओं में सहयोग एवं एकता का इतना अभाव था कि मुस्लिम प्रशासन में अनेक यातनाओं को सहन करने के बावजूद हिन्दू प्रजा ने प्रशासन के दोषों के विरुद्ध एक स्वर से कभी आवाज उठाने का प्रयास नहीं किया। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि राष्ट्रीय स्तर पर न तो सभी शासक और न तो सम्पूर्ण जनता कभी मिल सकी।

---

1. पाण्डेय, पृ० 47
2. वही, पृ० 47
3. नेहरू, डिसकवरी ऑफ इण्डिया, पृ० 265
4. प्रभु, पृ० 319
5. वही, पृ० 322
6. वही, पृ० 322

अंत में हम कह सकते हैं कि प्राचीनकाल में भले ही जाति प्रथा की उपादेयता रही हो, मध्ययुगीन समाज के लिए यह व्यवस्था निश्चित रूप से घातक सिद्ध हुई ।

हिन्दू-मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था का एक दूसरे पर प्रभाव

आधुनिक विद्वानों के बीच यह विवादग्रस्त विषय बन गया है कि इस्लाम तथा हिन्दू सभ्यता का एक दूसरे पर कितना प्रभाव पड़ा है। डा० ताराचंद के अनुसार इस्लाम के प्रभाव के कारण भारतीय सभ्यता पूर्णरूप से परिवर्तित हो गयी ।[1] दूसरा मत सर जदुनाथ सरकार का है, जिनके अनुसार भारतीय सभ्यता ने इस्लामी सभ्यता को पूर्णरूप से प्रभावित किया था। टाइटस ने इस मत का समर्थन किया है ।[2] अपनी ग्राह्य शक्ति के लिए प्रसिद्ध होने पर भी भारतीय सभ्यता के लिए यह सम्भव नहीं था कि इस्लामी सभ्यता संबंधी सभी तत्वों को ग्रहण कर सके। फिर भी एक साथ रहने के परिणामस्वरूप इस्लाम तथा हिन्दू सभ्यता का एक दूसरे को प्रभावित करना स्वाभाविक था।

भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव

इस्लाम का भारतवर्ष से संबंध अरब व्यापारियों के माध्यम से हुआ। चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना हो गई। अरब तथा तुर्क स्थायी रूप से भारतवर्ष में बस गए ।[3] जवाहर लाल नेहरू के अनुसार उसका वंश पूर्णरूप से भारतीय हो गया और वे लोग भारत को अपनी मातृभूमि तथा शेष जगत को विदेश समझने लगे ।[4] प्रख्यात विद्वान डा० ताराचन्द ने लिखा है कि न केवल हिन्दू धर्म, कला, साहित्य तथा विज्ञान ने इस्लामी तत्वों को ग्रहण किया, बल्कि हिन्दू सभ्यता की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क पूर्णरूप से परिवर्तित हो गया। इस्लाम ने भारतीय सभ्यता के क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी। परिणामस्वरूप हिन्दू सभ्यता के प्रमुख स्तम्भ ध्वस्त होने लगे, पुनः दोनों के सम्मिश्रण से एक नवीन सभ्यता का जन्म हुआ, जिसे इण्डो-इस्लामी सभ्यता की संज्ञा दी जा सकती है ।[5]

---

1. ताराचंद, इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० 137
2. टाइटस; इण्डियन इस्लाम, पृ० 175
3. दिल्ली सल्तनत, 5, पृ० 608
4. नेहरू, पृ० 254
5. ताराचन्द, पृ० 137

भारतीय सभ्यता पर इस्लाम के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु उसके प्रभाव का क्षेत्र सीमित था। मुसलमानों की अधिकांश बस्तियाँ नगरों तक सीमित थीं, अतः उनका प्रभावक्षेत्र भी नगरों तक सीमित था। इस प्रकार दस प्रतिशत लोगों पर ही इस्लाम का प्रभाव पड़ा होगा।

इस्लाम अपने उदारवादी तथा प्रजातन्त्रात्मक सामाजिक संगठन के लिए सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है।[1] मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद हिन्दू समाज के उपेक्षित तथा पददलित वर्ग के अधिकांश लोग सामाजिक समानता के अधिकार को प्राप्त करने के लिए इस्लाम धर्म स्वीकार करने लगे। हिन्दुओं के हृदय में समाज रक्षा के लिए एक नवीन चेतना जागृत हुई। कबीर,[2] नानक,[3] चैतन्य[4] ने रूढ़िवादिता के निवारण, सामाजिक संगठन में परिवर्तन, पददलित वर्ग के उद्धार के लिए सराहनीय प्रयास किया। अनेक विद्वानों तथा समाज सुधारकों ने स्मृतियों के आधार पर अनेक नियमों का प्रतिपादन किया, जिससे तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके।

सूफीवाद का उद्भव तथा विकास इस्लाम की देन है। इसने इस्लाम की रूढ़िवादिता को कम करके सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया तथा हिन्दू मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया।[5]

पर्दा प्रथा इस्लामी सभ्यता की देन है।[6] जवाहर लाल नेहरू के अनुसार पर्दा प्रथा का रिवाज मुस्लिम समाज में प्रचलित रहा है। स्त्रियाँ बुर्का पहन कर अपने मुख को ढँकती हैं।[7] परन्तु यह निश्चयरूप से कहना कठिन है कि पर्दा प्रथा का विकास भारतीय समाज में इस्लाम के प्रभाव के कारण विकसित हुआ। हिन्दू समाज में भी स्त्रियों का एकान्त निवास तथा घूंघट से मुख ढँकना सम्मान का विषय समझा

---

1. टाइटस, पृ० 172
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 561–5
3. वही, पृ० 569
4. वही, पृ० 567
5. वही, पृ० 607
6. अशरफ, पृ० 173
7. नेहरू, पृ० 255

जाता था।[1] मध्ययुगीन समाज में इसका प्रचलन उस समय था जब मुस्लिम समाज को इसकी जानकारी भी नहीं थी।[2] यह नितान्त सत्य है कि बुर्का द्वारा पर्दा मुस्लिम समाज में था तथा स्त्रियों का एकान्त निवास हिन्दू समाज की विशेषता रही है। मध्ययुगीन समाज की विशेष परिस्थितियों में हिन्दू तथा मुसलमानों ने इस प्रथा को अपने-अपने ढंग से अपनाया।

लड़कियों के जन्म का किसी युग में स्वागत नहीं किया गया। परन्तु मध्ययुगीन समाज में इसे अच्छा नहीं माना जाता था। तुर्क शासक बल प्रयोग द्वारा हिन्दू लड़कियों से शादी करते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने चालुक्य राजा कर्ण बघेल की पत्नी कमला देवी से स्वयं[3] तथा उसकी राजकुमारी देवल देवी की[4] शादी खिज्र खाँ से कर दी थी। इस प्रकार अपहरण के भय से हिन्दू कम उम्र में अपनी लड़कियों की शादी ही कर देते थे। भारतीय समाज में बाल विवाह का प्रचलन इस्लाम के प्रभाव की देन है।

इस्लाम के प्रवेश के पहले भारतीय समाज में सती प्रथा का प्रचलन तो अवश्य था,[5] परन्तु जौहर प्रथा नगण्य रही है।[6] मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद जब तुर्क शासकों का आक्रमण राजपूत राज्यों पर होने लगा तो राजपूत रानियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर द्वारा प्राण त्याग देती थीं। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय महारानी पद्मिनी ने जौहर किया था।[7] बहाउद्दीन को शरण देने के बाद कम्पिला के राजा ने मुहम्मद तुगलक के आक्रमण के समय अपने राजमहल की स्त्रियों को जौहर के लिए आदेश दिया।[8] बाबर के आक्रमण के समय मेदिनी राय के राजमहल की स्त्रियाँ[9], गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह द्वारा अपमानित होने के भय

1. अशरफ, पृ० 172
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 609
3. पाण्डेय, पृ० 144
4. वही, पृ० 152
5. अशरफ, पृ० 188
6. वही, पृ० 192
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 26–7
8. अशरफ, पृ० 193
9. वही, पृ० 193

से चित्तौड़ की महारानी कर्णावती,[1] तथा अकबर के सेनापति आसफ खाँ के आक्रमण के समय गोंडवाना की राजपूत स्त्रियों ने जौहर के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा की।[2] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जौहर प्रथा के विकास में इस्लाम का प्रमुख योगदान रहा है।

भारतवर्ष के निवासियों ने मुसलमानों के खान-पान तथा पोशाक को अपनाया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कुछ ही लोगों पर इसका प्रभाव पड़ा, विशेष रूप से जो उनके सम्पर्क में आए।[3] केवल पराजित अथवा स्वेच्छा से आए हुए राजपूत शासकों ने उनके खान-पान तथा वेषभूषा को अपनाया। परन्तु छः शताब्दी के शासन के बावजूद साड़ी, धोती, कुर्ता भारतीय समाज में उतने ही लोकप्रिय रहे जितने गौतम बुद्ध तथा महावीर के समय में।[4]

दास प्रथा भारतीय समाज में इस्लाम के प्रवेश के पहले ही थी[5], परन्तु मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद यह प्रथा अधिक विकसित हुई। गुलामों को मध्य एशिया से आयात किया जाता था।[6] पराजित भारतीय प्रजा को भी दास बना लिया जाता था।[7] निजामुद्दीन अहमद के अनुसार राजपूतों ने मुसलमान युवकों तथा युवतियों को दास तथा नर्तकी बनाया था।[8] शेरशाह[9] तथा गुजरात के शासक बहादुर शाह ने रायसेन पर इसलिए आक्रमण किया था कि वहाँ के शासक ने मुसलमान युवतियों को नर्तकी तथा दास बनाया था। इस्लाम के प्रभाव के कारण हिन्दू शासक तथा अभिजात वर्ग दासों को रखने लगे।

भारतीय समाज में साधारणतः एक विवाह का प्रचलन था, परन्तु शासक वर्ग में बहुविवाह की प्रथा रही है। इस्लाम के प्रभाव के कारण बहुविवाह प्रथा को

---

1. ईश्वरी प्रसाद, लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ।
2. स्मिथ, पृ० 52
3. अशरफ, पृ० 196
4. पी. एन. चोपड़ा, पृ० 2-3
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 582
6. अशरफ, पृ० 103
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 582
8. वही, पृ० 582
9. देखिए, कानूनगो–शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, रायसेन विजय

प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप हिन्दू राजा तथा अभिजात वर्ग के लोग अनेक विवाह करने लगे। इस प्रकार भारतीय समाज में हरम, जनानखाना व्यवस्था का प्रचलन प्रारम्भ हो गया।

इसी प्रकार इस्लाम का प्रभाव भारतीय आर्थिक व्यवस्था[1], शिक्षा, साहित्य[2], वास्तुकला[3], चित्र कला, संगीत[4] और आमोद प्रमोद के साधनों[5] पर पड़ा। उपर्युक्त विषयों पर इस्लाम के प्रभाव का विश्लेषण यथोचित स्थानों पर किया गया है। डॉ० ताराचन्द ने उचित ही कहा है कि इस्लाम ने भारतीय सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया।[6] बाबर के समय तक हिन्दू मुसलमानों के जीवन तथा विचार में इतनी अधिक समानता आ गई थी कि उसने अपनी आत्मकथा में दोनों को हिन्दुस्तानी कहा है।[7] कुछ सीमा तक इस्लाम का प्रभाव लाभदायक सिद्ध हुआ। समाज में शूद्रों की स्थिति सुधारने के लिए भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने महत्व-पूर्ण कार्य किया। दोनों के सहयोग के कारण एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ, जिस पर प्रत्येक भारतीय गर्व का अनुभव करता है।

इस्लामी समाज पर हिन्दू व्यवस्था का प्रभाव

टाइटस के अनुसार भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा मुस्लिम समाज पर हिन्दू व्यवस्था का अधिक प्रभाव पड़ा।[8] मुसलमानों ने सैनिक तथा राजस्व पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया, परन्तु बौद्धिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य अवि-जित तथा अजेय रहा है। संत चैतन्य के अनुसार-भारतीय संस्कृति एक विशाल छाया-दार वृक्ष है, जो अपनी शाखाओं को काटने वाले को शीतल छाया प्रदान करती है। निःसन्देह हिन्दू व्यवस्था ने मुस्लिम समाज एवं संस्कृति को प्रभावित किया है।

इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की विशेषता में समानता रही है। परन्तु भारतीय

---

1. देखिए, आर्थिक दशा
2. शिक्षा साहित्य
3. वास्तुकला
4. ललितकला
5. अन्य सांस्कृतिक विशेषताएँ
6. ताराचंद, पृ० 141
7. बेवरिज, मेमायर्स ऑफ बाबर
8. टाइटस, पृ० 175

वातावरण में उसकी यह विशेषता विलीन हो गई। हिन्दू समाज की भाँति उनमें भी असमानता तथा ऊँच-नीच की भावनाओं का समावेश हुआ। पहले मुस्लिम समाज में अरबों को प्रतिष्ठित समझा जाता था, इस प्रकार अरबों तथा अरबेतर मुसलमानों में भेदभाव प्रारम्भ हुआ। अरब समाज में पैगम्बर मुहम्मद से सम्बन्धित कुरैश जाति को श्रेष्ठ माना जाता था।[1] पैगम्बर की पुत्री फातिमा के वंशज सैय्यद कहे जाते थे। उनका वही सम्मान था जो हिन्दू समाज में ब्राह्मणों को प्राप्त था।[2]

कुछ समय के बाद मुस्लिम समाज में अरब, फारसी, तुर्क, अफगान, उजबेग तथा धर्म परिवर्तित मुसलमानों के अनेक वर्ग बने।[3] इनमें ऊँच-नीच की भावना प्रधान रही। इस प्रकार मुस्लिम सामाजिक संगठन पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु हिन्दू समाज जैसी रुढ़िवादिता तथा संकुचित दृष्टिकोण का समावेश नहीं हो पाया। मुसलमान एक-दूसरे के साथ हुक्का-पानी का सम्बन्ध रख सकते थे और किसी के साथ विवाह कर सकते थे।[4] धर्म की शिक्षाओं के कारण इसमें प्रतिबंध नहीं है यद्यपि व्यवहार में ऊँच-नीच की भावनाएँ आ गईं। परिणामस्वरूप मुसलमानों का सामाजिक संगठन अधिक दृढ़ रहा और उनमें एकता की भावना हिन्दुओं की अपेक्षा प्रबलतर रही।[5]

समकालीन शासकों के नीति निर्धारण पर अनेक हिन्दुओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अलाउद्दीन खिलजी पर मलिक काफूर[6] तथा कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी पर नासिरुद्दीन खुसरो का प्रभाव पड़ा।[7] इसी प्रकार मुगल शासन काल में राजा भारमल[8], मानसिंह[9], राजा भगवान दास[10], बीरबल[11] तथा तानसेन[12] ने

1. पाण्डेय, पृ० 423
2. वही, पृ० 433
3. वही, पृ० 423
4. वही, पृ० 424
5. वही, पृ० 424
6. कै० हि० 3, पृ० 112
7. वही, पृ० 123
8. गैरेट, पृ० 30
9. वही, पृ० 35
10. स्मिथ, पृ० 42
11. वही, पृ० 72
12. वही, पृ० 36

अकबर की नीतियों को विशेष प्रभावित किया। इन लोगों के प्रभाव के कारण मुसलमान शासकों के हृदय में हिन्दू प्रजा के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ।

मुसलमान शासकों ने अनेक हिन्दू राजकुमारियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किया। अलाउद्दीन खिलजी ने कर्ण बघेल की पत्नी कमला देवी[1] से स्वयं तथा उसकी पुत्री देवल देवी की शादी खिज्र खाँ से कर दी।[2] इसी प्रकार सम्राट अकबर ने भारमल की पुत्री जोधाबाई से शादी की।[3] उसने बीकानेर तथा जैसलमेर के शासक राव कल्याण मल की पुत्री से भी वैवाहिक संबंध किया।[4] इन राजपूत राजकुमारियों ने अपने आचार व्यवहार रीति-रिवाज, तथा धार्मिक विचार से इस्लाम प्रभावित राजमहल के वातावरण को परिवर्तित किया। अकबर ने तो राजपूत रानियों के लिए आगरा के किले के जहाँगीरी महल में पूजा-पाठ, हवन, सूर्य की उपासना की पूर्ण व्यवस्था की।[5] मध्ययुगीन समाज पर हिन्दू शासक वर्ग तथा हिन्दू रानियों का प्रभाव निःसंदेह पड़ा है।

हिन्दू समाज में स्त्रियों के एकान्तवास तथा पर्दा को सम्मान का विषय समझा जाता था। राजनीति, कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दू रानियों तथा राजकुमारियों ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। देवलरानी, रूपमती, पद्मावती तथा मीराबाई ने संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त की।[6] गोंडवाना की रानी दुर्गावती[7] तथा मेवाड़ की महारानी कर्णावती[8] की राजनीतिक भूमिका अत्यन्त सराहनीय है। हिन्दू समाज में हिन्दू स्त्रियों की स्वतंत्रता ने सुल्तान रजिया को पर्दा त्याग कर राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया।[9] नूरजहाँ[10] तथा चाँद बीबी[11] ने राजनीति में

1. पाण्डेय, पृ० 144-5
2. वही, पृ० 152
3. गैरेट, पृ० 30-31
4. स्मिथ, पृ० 202
5. देखिए, वास्तुकला
6. अशरफ, पृ० 170
7. स्मिथ, पृ० 75
8. देखिए, बहादुर शाह का चित्तौड़ पर आक्रमण
9. अशरफ, पृ० 170
10. ए० बी० पाण्डेय, लेटर मेडिवल इण्डिया, पृ० 267
11. वही, पृ० 165

खुलकर भाग लिया। गुलबदन बेगम के अनुसार हुमायूँ के राजमहल की स्त्रियाँ पुरुषों से निःसंकोच मिलती थीं।[1] सम्भवतः यह हिन्दू समाज के प्रभाव की देन है। मुगल काल की स्त्रियाँ अपने हित के प्रति सदैव सचेत रही हैं। सम्भवतः इसी कारण हमीदा बानू बेगम ने सम्राट हुमायूँ के शादी के प्रस्ताव का विरोध किया था।[2] नूरजहाँ तथा मुमताजमहल भी अपने हितों के प्रति सचेत रहीं।[3]

बहुमूल्य राजसी वस्त्र, रत्नजटित चमकती हुई तलवारें, बहुरंगी छत्र, दूरवास, बहुमूल्य आवरण से सुसज्जित हाथियों को रखने की परम्परा मुस्लिम शासकों ने राजपूत शासकों से सीखी थी।[4] भारतीय सभ्यता के प्रतीक पान, सुपारी का प्रयोग मुसलमान शासक दीवान-ए-अर्ज में खुलकर करते थे।[5] उनके खाद्य पदार्थ पुलाव तथा कुर्मा का स्वरूप भारतीय बन चुका था।[6]

इस प्रकार चीर तथा पाग का प्रयोग मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं से सीखा था। अँगूठी, कान की बाली, गले की जंजीर तथा अन्य आभूषणों को मुसलमानों से हिन्दू समाज ने अपनाया था।[7] मुस्लिम समाज में हिन्दुओं के प्रभाव के कारण रेशमी तथा जरी वाले वस्त्रों का प्रयोग मुसलमानों ने प्रारम्भ किया।[8]

डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार मुसलमानों में अकीक तथा बिस्मिल्लाह की समता हिन्दू समाज के मुण्डन तथा विद्यारम्भ की प्रथा से थी।[9] शादी के शुभ अवसर पर हिन्दुओं के सोलह श्रृंगार की परम्परा को अपना कर हफ्तुह की संज्ञा मुसलमानों ने दी।[10] इब्नबतूता ने सैय्यद शैफुद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक की बहन के बीच शादी के अवसर पर हिन्दू संस्कारों के प्रभाव का विस्तृत उल्लेख किया है।[11]

---

1. अशरफ, पृ० 170
2. वही, पृ० 170
3. वही, पृ० 170
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 609
5. वही, पृ० 609
6. वही, पृ० 609
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 609
8. वही, पृ० 610
9. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 30
10. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 611
11. वही, पृ० 611

हिन्दू त्यौहार होली, दशहरा तथा दीवाली की भाँति रमजान और इदुलफितर समाज के सभी वर्गों के लिए खुशी का अवसर होता था। मुसलमानों के शबे-रात तथा हिन्दुओं की शिवरात्रि में अधिक समानता पाई जाती है।[1] मुसलमान शासकों ने आरती तथा न्यौछावर की परम्परा को राजपूतों से अपनाया था।[2] अकबर के ऊपर तो राजपूतों का इतना प्रभाव पड़ा कि वह दाढ़ी नहीं रखता था और अपने मस्तक पर तिलक लगाता था। वह सूर्य तथा अग्नि की उपासना भी करता था।

जौहर के द्वारा मुसलमान स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व की रक्षा करती थीं। तैमूर के आक्रमण के समय भटनेर के गवर्नर कमालुद्दीन ने अपनी स्त्रियों तथा सम्पत्ति को जलाकर आक्रमणकारी का सामना किया।[3] शेरशाह रायसेन के किले पर इस भय से आक्रमण नहीं करना चाहता था कि मुसलमान स्त्रियाँ भी राजपूतों के साथ जौहर कर लेंगी।[4] अकबर के समय में मालवा पर आक्रमण के समय रानी रूपमती ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्महत्या कर ली।[5] हिन्दू समाज के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है।

इसी प्रकार हिन्दू समाज का प्रभाव संगीत साहित्य, वास्तुकला पर दिखाई देता है। मुस्लिम समाज के जस्न तथा कुव्वास के अवसर पर सभी लोग सम्मिलित होते थे।[6]

निष्कर्ष

डॉ० ताराचन्द के विचार को स्वीकार करना कि इस्लाम ने भारतीय सभ्यता के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करके एक क्रान्ति पैदा कर दी, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।[7] सर यदुनाथ सरकार, डॉ० रमेश चन्द्र मजुमदार, टाइटस तथा हैवेल के मत को स्वीकार करने में कठिनाई का आभास होता है कि भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा इस्लामी समाज पर हिन्दुओं का अधिक प्रभाव पड़ा है।

---

1. दिल्ली सल्तनत, पृ० 611
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 31
3. पाण्डेय, पृ० 275
4. देखिए, कानूनगो, रायसेन विजय
5. स्मिथ, पृ० 37-43
6. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 612
7. ताराचन्द, पृ० 137

भारतवर्ष में एक साथ रहकर, एक दूसरे के साथ सहयोग कर एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया जिसे हम न तो हिन्दू और न मुस्लिम कह सकते हैं।[1] हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों ने पारस्परिक मतभेदों को भुला कर सहयोग का परिचय दिया। मुगलकालीन संस्कृति का विकास उनके सहयोग की चरम सीमा है।[2]

डॉ० आर० सी० मजुमदार के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमानों का सम्पर्क दोनों समाज तथा संस्कृति के बाह्यांचल को ही स्पर्श कर सका। कई शताब्दियों तक एक साथ रहने के बावजूद इस्लाम की सामाजिक समानता का प्रभाव हिन्दू समाज पर न पड़ सका और न तो हिन्दू समाज ने इस्लाम से कुछ सीखकर सामाजिक परिवर्तन करने का प्रयास किया। भारतीय समाज तथा संस्कृति की विशेषता, धार्मिक उदारता को मुस्लिम समाज ने भी नहीं अपनाया।[3] इस प्रकार दोनों समाज एक दूसरे से अप्रभावित रहे।

डॉ० मजुमदार का मत अकाट्य है। फिर भी यह नितांत सत्य है कि दोनों भारतीय वातावरण में बहुत दिनों तक एक साथ रहे। मध्ययुगीन समाज में उनके बीच कोई दीवार न थी। बहुत दिनों तक अलग रहना सम्भव नहीं था। हिन्दू मुसलमानों ने एक दूसरे से मिलने तथा समझने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप समाज तथा संस्कृति के क्षेत्र में पारस्परिक प्रभाव अवश्यम्भावी था। सूफी सन्तों, हिन्दू समाज सुधारकों तथा कुछ मुसलमान शासकों के प्रयास के परिणामस्वरूप सहयोग का वातावरण अनुकूल हुआ। दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। सम्राट अकबर का शासनकाल हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का चरमोत्कर्ष माना जाता है।

मध्ययुगीन समाज का स्वरूप

भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना तथा मुस्लिम साम्राज्य के विस्तार के साथ मुसलमानों की बस्तियों का भी विस्तार प्रारम्भ हुआ।[4] हिन्दू-मुस्लिम सहयोग के बावजूद भारतवर्ष दो स्पष्ट हिन्दू एवं मुस्लिम समाज में विभक्त था। पारस्परिक सम्बन्धों के रहते हुए भी इन दोनों के सामाजिक स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है।

---

1. ताराचन्द, पृ० 137
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 615
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 616-17
4. वही, पृ० 574

हिन्दू समाज

डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार मुस्लिम शासन काल (1200-1803) में हिन्दू समाज का स्वरूप अपरिवर्तनशील रहा है।[1] निःसन्देह आर्थिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से हिन्दू समाज का पतन हुआ है।[2] सर यदुनाथ सरकार ने तो स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुओं के नैतिक तथा सामाजिक पतन के लिए मध्ययुगीन मुस्लिम प्रशासन एकमात्र उत्तरदायी है।[3] निष्पक्ष दृष्टि से सामाजिक विवेचना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नैतिक तथा सामाजिक पतन के लिए न केवल मुस्लिम प्रशासन अपितु हिन्दू समाज स्वयं उत्तरदायी था।

कर्म के आधार पर प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व लुप्त हो चुका था। जन्म के आधार पर जाति प्रथा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को अनेक उप-शाखाओं में विभक्त कर दिया था। आपस में सहयोग तथा सद्भावना का अभाव था।[4] शूद्रों को समाज में घृणित स्थान देकर हिन्दू समाज ने अशान्ति, अराजकता तथा अव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया।[5] इसके अतिरिक्त वर्णसंकर तथा चाण्डाल भी हिन्दू समाज में उपेक्षित थे। धर्म, राजनीति तथा समाज में उनके लिये कोई स्थान नहीं था। कबीर, नानक तथा चैतन्य के अथक प्रयास के बावजूद भी हिन्दू सामाजिक दृष्टिकोण में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। मध्ययुगीन हिन्दू समाज के स्पष्ट चित्रण के लिए उसे तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—शासक वर्ग, सामन्त वर्ग तथा साधारण वर्ग।

शासक वर्ग

सम्राट हर्ष का शासन काल प्राचीन तथा मध्ययुगीन समाज के बीच सीमांत रेखा है। समकालीन साहित्यकार वाणभट्ट की साहित्यिक रचनाएँ तत्कालीन समाज पर प्रकाश डालती हैं। राजपूत शासकों की सबसे बड़ी अभिलाषा चक्रवर्ती बनने की थी। इसके लिए वे सदैव अपने पड़ोसियों पर आक्रमण करते थे।[6] लोकहित के चिंतन

---

1. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० 27
2. वही, पृ० 27
3. वही, पृ० 27
4. सल्तनत दिल्ली 5, पृ० 578-79
5. वही, पृ० 579-80
6. पाण्डेय, पृ० 396

के अभाव के कारण जनता में राजाओं के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता तथा स्नेह का अभाव था।[1] वे प्रायः युद्ध से अवकाश पाने पर इन्द्रियसुखों में लिप्त होकर मादक द्रव्यों का प्रयोग करते थे।[2] पृथ्वीराज रासो के लेखक के अनुसार पृथ्वीराज तथा राजा जयचंद में शत्रुता का प्रमुख कारण पृथ्वीराज द्वारा जयचंद की पुत्री संयुक्ता का अपहरण था। राजपूत शासकों की पारस्परिक शत्रुता हिन्दू समाज के लिए घातक सिद्ध हुई। इसी आधार पर प्रो० मुहम्मद हबीब, डॉ० अजीज अहमद तथा डॉ० कुरेशी ने लिखा है कि राजपूतों की साधारण प्रजा के प्रति उदासीनता के कारण भारतीय जनता ने विदेशी आक्रमणकारियों को उद्धारकर्त्ता समझ कर स्वागत किया[3] और उनके आते ही कृतज्ञतापूर्वक उनका आश्रय ग्रहण किया।[4]

भारतीय जनता के कुछ व्यक्तियों ने स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर विदेशियों का साथ दिया परन्तु अधिकांश जनता ने उन्हें सांस्कृतिक स्तर में हेय, धर्मांधता में घृणित और राजनीतिक क्षेत्र में पराजय मान कर उनका विरोध किया।[5]

सम्पूर्ण मध्ययुगीन इतिहास में केवल एक उदाहरण मिलता है कि राणा संग्राम सिंह की छत्र-छाया में अधिकांश राजपूत शासक विदेशी आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए एकत्रित हुए।[6] अकबर के समय में तो उन्होंने अपनी वंश परम्परा तथा गौरव को भुला दिया था। भारमल ने अपनी राजकुमारी की शादी मुगल सम्राट अकबर से की।[7] भारमल[8], राजा भगवान दास[9], मानसिंह[10], राजा टोडरमल[11] तथा बीरबल[12] जैसे व्यक्तियों ने तो मुगल सम्राट के यहाँ नौकरी स्वीकार कर ली।

---

1. पाण्डेय, पृ० 396
2. वही, पृ० 397
3. वही, पृ० 397
4. वही, पृ० 397
5. वही, पृ० 397
6. कै० हि० इ० 4
7. स्मिथ, पृ० 42
8. वही, पृ० 42
9. वही, पृ० 63
10. वही, पृ० 70
11. वही, पृ० 53
12. वही, पृ० 118

राणा उदयसिंह[1] तथा महाराणा प्रताप[2] ने अपनी गौरव की रक्षा के लिए नेक कष्ट सहन किया। राणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह तथा जगमल ने सम्राट् अकबर का साथ दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू समाज के शासक वर्ग का नैतिक पतन हो रहा था। सम्पूर्ण मध्ययुगीन इतिहास के क्षितिज पर राजपूत गौरव की चमक कभी-कभी हुई। हिन्दू-समाज के पतन में इनका उत्तरदायित्व कम नहीं है।

शासक वर्ग का जाति प्रथा में इतना विश्वास था कि राजपूतों के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ग के लोगों को सेना में भर्ती नहीं करते थे, यद्यपि समाज में अधिक क्षमता वाले व्यक्ति राष्ट्र की रक्षा कर सकते थे।[3] इस कारण हिन्दू समाज में राष्ट्रीयता की भावना का विकास न हो सका।[4]

सामंत वर्ग

सामंत प्रथा मध्ययुगीन हिन्दू समाज की विशेषता रही है। हिन्दू राज्य अनेक वर्गों में विभक्त था। प्रत्येक सामंत अपनी जागीर में शासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। युद्ध तथा शांति की घोषणा एवं सिक्का ढालने के अतिरिक्त उसे सभी प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। राजा की उदासीनता ने स्थानीय सामन्तों की कार्य-पटुता को विकसित होने का अवसर दिया और उनको आत्मनिर्भर बनाया।[5] सामन्त वर्ग इतना महत्वाकांक्षी हो गया कि वे कभी-कभी राजगद्दी के लिये राजद्रोह तक करने के लिए तैयार थे। बनबीर नामक सामन्त ने तो राणा उदय सिंह की हत्या का प्रयास किया था, परन्तु पन्नाधाई के कारण उदयसिंह की प्राण रक्षा हो सकी।[6] इस प्रकार हिन्दू समाज में अराजकता तथा अव्यवस्था के लिए सामन्त वर्ग भी उत्तरदायी था। विलासप्रिय जीवन में वे राजपूत शासकों का अनुकरण करते थे।

साधारण वर्ग

शासक तथा सामन्त वर्ग के अतिरिक्त सभी जनता सर्वसाधारण वर्ग के अन्तर्गत थी। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी थे। जाति प्रथा के कारण इनमें प्रेम तथा सद्भावना का अभाव था। जाति के आधार पर ही कार्य विभाजन हुआ था। मुस्लिम समाज की समानता के अधिकार से प्रभावित होकर शूद्र भी हिन्दू समाज में समानता

1. स्मिथ, पृ० 63–66
2. वही, पृ० 110, 225
3. पाण्डेय, पृ० 47
4. वही, पृ० 47
5. वही, पृ० 397
6. वही, पृ० 61

के अधिकार के लिए प्रयत्नशील थे। तुलसीदास ने समाज का बड़ा ही उपयुक्त चित्रण किया है।

> बादंहि सूद्र द्विजन सह हम तुम ते कछु घाट।
> जानहि ब्रह्म सो बिप्रवर आँख देखावहि डांट॥

शूद्रों को वेद अध्ययन, धर्मानुकरण का अधिकार न था। अधिकांश लोग इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार थे। कबीर,[1] नानक,[2] चैतन्य,[3] तुलसी दास[4] ने उन्हें समाज में समानता का अधिकार देने का अथक प्रयास किया। परन्तु उनके प्रयास का परिणाम भी सफल सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि हिन्दू समाज का स्वरूप अपरिवर्तनशील रहा है। ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता तथा धर्मान्धता इसके लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी थी। हिन्दू समाज में सती प्रथा, बाल विवाह की अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थीं।

शासक तथा सामंत वर्ग के विलासप्रिय जीवन तथा युद्ध का भार सर्वसाधारण वर्ग को वहन करना पड़ता था। यह वर्ग करों के भार से दबा हुआ था। कर देने के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं जानते थे। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद सर्वसाधारण वर्ग की दशा में और भी ह्रास हुआ है। यदि उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ तो इसके लिए शासक तथा सामंत वर्ग उत्तरदायी था। यही कारण है कि मुस्लिम शासन में हिन्दुओं ने अनेक कठिनाइयों को सहन किया परंतु सम्मिलित होकर एक स्वर से शासक की गलती तथा कष्टदायक नीतियों का प्रतिरोध नहीं किया। यदि कहीं प्रतिरोध अथवा विद्रोह हुआ भी तो उसका स्वरूप स्थानीय था, समाज के सभी वर्गों ने साथ नहीं दिया। उनकी असफलता ने उनके कष्टों को बढ़ा दिया। मुस्लिम शासनकाल में मध्ययुगीन हिन्दू समाज की स्थिति अत्यधिक शोचनीय रही है।

मुस्लिम समाज

भारतवर्ष तथा पश्चिमी एशिया के देशों का सम्पर्क सबसे पहले व्यापार के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। पश्चिम के समुद्रतटीय नगरों में कुछ मुसलमान व्यापारी

---

1. अध्याय 2
2. वही।
3. वही।
4. वही।

बस गये परन्तु भारतीय समाज में उनकी संख्या नगण्य थी। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मुसलमान भारी संख्या में बस गये[1] तथा साम्राज्य विस्तार के साथ संम्पूर्ण भारत वर्ष में फैल गये।[2] परिणामस्वरूप भारतीय परिवेश में मुस्लिम समाज का उदय हुआ।

मुस्लिम समाज में अरब, तुर्क, अफगान, मंगोल, उजबेक तथा धर्म परिवर्तित मुसलमान थे।[3] कुछ समय के बाद मुस्लिम वर्गों का स्वरूप पूर्णरूप से भारतीय बन गया।[4] नेहरू ने भी इस मत का समर्थन किया है।[5] मुस्लिम समाज की विशेषता सामाजिक समानता रही है।[6] परन्तु भारतीय परिवेश में उनमें भी ऊँच-नीच की भावना फैलने लगी। मंगोल आक्रमण के परिणामस्वरूप मध्य एशिया तथा मुस्लिम देशों के मुसलमानों ने भारतवर्ष में शरण लिया। बलबन के शासनकाल में वे लोग भारत में बस गये। बलबन कालीन अमीरों ने मंगोलों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया।[7] कुछ सुल्तानों ने मुसलमानों को भारत में बसने के लिए प्रोत्साहित किया। बहलोल लोदी ने अपने जातिवालों को इसके लिए प्रेरणा दी।[8]

तुर्कों तथा तुर्केतर वर्ग में विभेद था। इल्तुतमिश ने उन दोनों वर्गों में सामंजस्य के लिए प्रयास किया।[9] बलबन के शासनकाल में यह भावना और भी प्रबल हो गई। बलबन का पुनः नायब के पद पर प्रतिष्ठापन तुर्कों की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है।[10] अलाउद्दीन खिलजी के समय में मलिक काफूर की नायब के पद पर नियुक्ति,[11] तथा फिरोज तुगलक के शासनकाल में मलिक मकबूल खान-ए-जहाँ की नियुक्ति से स्पष्ट

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 27
2. वही, पृ० 27
3. मुहम्मद यासीन, सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया, पृ० 2
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 608
5. नेहरू, पृ० 255
6. ए रशीद, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 2
7. वही, पृ० 3
8. वही, पृ० 8
9. वही, पृ० 7
10. वही, पृ० 8
11. वही, पृ० 10

हो जाता है कि भारतीय मुसलमान मुस्लिम समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे।

सम्पूर्ण मुस्लिम-काल में जाति की भावना समाप्त नहीं हुई। बाबर ने लिखा है कि मुगल शासन की स्थापना के बाद यहाँ की मुस्लिम प्रजा उसके आदमियों से घृणा करती थी।[1]

मुगल शासन काल में मुस्लिम समाज के अन्तर्गत तुरानी, इरानी, अफगान, उजबेक तथा भारतीय मुसलमान थे।[2] इस युग में भी जातिगत भेदभाव था। अधिकांश मुसलमान तुर्क अथवा तुरानी थे। बाबर को अफगानों के साथ संघर्ष करना पड़ा।[3] हुमायूँ के प्रबल शत्रु अफगान थे।[4] अकबर अफगानों तथा उजबेगों से घृणा करता था।[5] बैरम खाँ का पतन इरानी-तुरानी द्वेष का ही परिणाम था।[6] जहाँगीर के शासन काल में एतमादुद्दौला, आसफ खाँ तथा नूरजहाँ का प्रभाव इरानी प्रभुत्व का स्पष्ट प्रमाण है। शाहजहाँ शिया के प्रति सन्देह करता था। उसका लड़का शाह शुजा की सहानुभूति शिया के प्रति थी।[7] औरंगजेब के हृदय में शिया के प्रति घृणा थी। इस समय तो शिया सुन्नी मतभेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था।[8] इस प्रकार भारतीय परिवेश में मुस्लिम समाज में जातिगत भेद-भाव प्रबल हो उठा था। मुस्लिम समाज अपनी सामाजिक समानता के अस्तित्व को खो चुका था। मध्ययुगीन मुस्लिम समाज को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—शासक वर्ग, अभिजात वर्ग तथा साधारण वर्ग।

शासक वर्ग

मुस्लिम शासन की स्थापना का श्रेय तुर्कों को है। शासन की बागडोर सुल्तान

---

1. तुजुके ए० बाबरी (अनु० जे० एस० किंग) 2, पृ० 246
2, यासीन, पृ० 2
3. पानीपत, तथा घाघरा का युद्ध
4. चौसा का युद्ध, पाण्डेय, पृ० 47-48
5. स्मिथ, पृ० 53-55
6. वही, पृ० 31-33
7. यासीन, पृ० 8
8. वही, पृ० 9

के हाथों में थी। डॉ० अशरफ के अनुसार वह मुस्लिम समाज का प्रधान होता था।[1] वह राजकोष को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझता था।[2] वह अधिक से अधिक धन को अपने विलासमय जीवन के लिए खर्च करता था। उनका राजमहल अधिक सुसज्जित रहता था। उनके राजमहलों में कीमती सोफा तथा गलीचों को इरान तथा बुखारा से मँगाया जाता था।[3] उनके अस्तबल में विदेशी घोड़े थे। फीलखाने में हाथी रखे जाते थे।[4] दास-दासियाँ उनकी परिचर्या के लिए थे। उनके राजप्रासाद के बर्तन शीशे तथा चीनी मिट्टी के होते थे।[5] राजमहल तथा राजदरबार की व्यवस्था के लिए अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति की गई थी जिनमें वकील-ए-दर, बारबक, अमीर हाजिब, अमीर-ए-शिकार, अमीर-ए-मजलिस तथा सरंजदार होते थे।[6] वकील-ए-दर राजमहल तथा सुल्तान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था।[7] बारबक राज दरबार का प्रबन्ध करता था।[8] अमीर-ए-शिकार आखेट का प्रबन्ध करता था।[9] अमीर-ए-मजलिस सभा, दावत, तथा विशेष उत्सवों की समुचित व्यवस्था करता था।[10] इनके अतिरिक्त अनेक कर्मचारी भोजनालय, राजकोष तथा हयशाला आदि का प्रबन्ध करते थे। इससे उनके व्यक्तिगत जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है।

सुल्तान बलबन राजदरबार में सुसज्जित वस्त्रों, रत्नजटित तलवार को धारण करके राजसिंहासन पर बैठता था।[11] कर्मचारी चमकते हुए तलवार तथा भाले के साथ खड़े रहते थे। वह अपने नक्षत्र के समान चमकते हुए दरबारियों के बीच चन्द्रमा के

---

1. अशरफ, पृ० 81
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 613
3. वही, पृ० 613
4. वही, पृ० 613
5. वही, पृ० 613
6. पाण्डेय, पृ० 405
7. वही, पृ० 405
8. वही, पृ० 405
9. वही, पृ० 405
10. वही, पृ० 405
11. अजीज अहमद, टर्किश एम्पायर, पृ० 264

समान चमकता था। उसके दरबार को देखकर आँखें चकाचौंध हो जाती थीं।[1] कैकुवाद के शासनकाल से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दिल्ली के सुल्तान सुरा तथा सुन्दरी को ही अपने विलासप्रिय जीवन का अंग मानते थे।[2]

राजमहल की शोभा को बढ़ाने के लिए सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने स्वयं कर्ण बघेल की पत्नी कमला देवी[3] तथा उसको पुत्री देवल देवी[4] से खिज्र खां की शादी की। रानी पद्मावती को प्राप्त करने के लिए मेवाड़ पर आक्रमण किया।[5] इस प्रकार राजपूत रानियों तथा राजकुमारियों से वह राजमहल की शोभा बढ़ाना चाहता था। मुहम्मद तुगलक ने हिमालय प्रदेश के कराचल पर इसलिए आक्रमण किया कि वहाँ की स्त्रियाँ सुन्दर होती थीं।[6] इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानों का जीवन बड़ा ही विलासप्रिय था।

मुगल सम्राट भी अपने को तत्कालीन समाज का अधिष्ठाता समझते थे। सल्तनतकालीन शासकों की अपेक्षा वे अधिक सभ्य तथा संस्कृति के प्रेमी थे। उनका जीवन अधिक विलासप्रिय था। उनके राजमहल, दरबार के आधार पर उनके विलासप्रिय जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है। वे इरानी ढंग से दरबार को सजाते थे। दरी, कालीन भोजनालय के पात्र इरानी तथा चीनी थे। फतेहपुर सीकरी की इमारतों में ख्वाबगाह, मरियम का महल, बीरबल का महल तथा पंचमहल उनके विलासप्रिय जीवन के प्रतीक हैं।[7] ख्वाबगाह को चंदन तथा गुलाबजल से शीतल रखा जाता था। शाहजहाँ की इमारतों में दिल्ली के किले का रंगमहल, खास-महल, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास तथा आगरे के किले में खासमहल, दीवान-ए-आम और दीवान-ए-खास की सजावट उनके दैनिक जीवन का चित्र उपस्थित करती है। वे राजमहल तथा दरबार को अच्छे ढंग से सजाते थे।[8]

---

1. वही, पृ० 264-5
2. वही, पृ० 320-1
3. पांडेय, पृ० 114
4. वही, पृ० 152
5. वही, पृ० 149
6. रशीद, पृ० 8
7. देखिए, अध्याय-वास्तुकला।
8. देखिये, अध्याय-वास्तुकला।

अकबर ने राजमहल के गौरव और शोभा को बढ़ाने के लिए राजपूत राजकुमारियों से शादी की ।[1] सम्राट् जहाँगीर सबसे विलासप्रिय मुगल सम्राट् था । उसने केवल शराब और गोश्त से सन्तुष्ट रहकर शासनभार नूरजहाँ को सुपुर्द कर दिया था ।[2] शाहजहाँ के विलासप्रिय जीवन एवं शानशौकत का अनुमान रंगमहल तथा मुमताजमहल के लिए बनाए हुए खास महल और तख्तताउस से लगाया जा सकता है ।

उनके यहाँ भी रत्नजटित तलवार, अँगूठी, बाली तथा गले के हार का प्रयोग होता था । उनका अस्तबल तथा फीलखाना अच्छे नस्ल के घोड़ों और हाथियों से भरा रहता था ।

अभिजात वर्ग

शासक वर्ग के बाद समाज में इनका दूसरा स्थान था । डॉ० अशरफ के अनुसार इस वर्ग को हम दो उपभागों में विभक्त कर सकते हैं—अहल-ए-कमल प्रबुद्धवर्ग था तथा अहल-ए-तीग सैनिक वर्ग ।[3] हुमायूँ ने अपने समय के मुस्लिम समाज को निम्न वर्गों में विभक्त किया था—

(i) **अहल-ए-दौलत** : इसका संबंध शासक वर्ग से था । इसमें राज परिवार के सदस्य, सैनिक अधिकारी तथा अमीर वर्ग था ।[4]

(ii) **अहल-ए-सादात** : प्रबुद्धवर्ग था । इसके अन्तर्गत उलेमा, काजी, सैय्यद, सूफी संत तथा अन्य लोग थे जिनका सम्पर्क धार्मिक कार्य से था ।[5]

(iii) **अहल-ए-मुराद** : इसके अन्तर्गत संगीतकार, भाट तथा नर्तकियाँ थीं जिनका कार्य राजप्रासाद में आमोद प्रमोद का प्रबन्ध करना था ।[6] मध्ययुगीन मुस्लिम समाज में अभिजात वर्ग के अन्तर्गत खान, मलिक, ऐज्जा तथा मुगलकालीन मनसबदार थे ।[7] प्रो० रशीद ने अभिजातवर्ग को

---

1. स्मिथ, पृ० 42
2. बेनी प्रसाद, जहाँगीर, पृ० 246
3. अशरफ, पृ० 82
4. वही, पृ० 82
5. रशीद, पृ० 5
6. अशरफ, पृ० 82
7. वही, पृ० 83

अहल-ए-सुयूफ (सैनिक), अहल-ए-कलम, सादात, मशीख वर्गों में विभक्त किया है।[1] अमीर वर्ग में तुर्क, अफगान तथा भारतीय मुसलमान थे।[2]

मुस्लिम शासन की स्थापना में तुर्क अमीरों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। अतः उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर दिल्ली के सुल्तानों ने उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दी थीं जिसे इक्ता कहा जाता था।[3] अपने जागीर के ये शासक होते थे। सुल्तानों का जागीर के प्रशासन में हस्तक्षेप नगण्य होता था। इन्हें सिक्का ढालने तथा युद्ध और शांति की घोषणा के अधिकार को छोड़ कर सभी प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे।[4] इनके पास अपनी सेना, अस्तबल तथा फीलखाना होता था।[5] समाज में यह विशेषाधिकार युक्त वर्ग था। इनका रहन-सहन सुल्तान की भाँति होता था। ये शान-शौकत तथा विलासप्रिय जीवन शासक वर्ग की भाँति व्यतीत करते थे।[6] इब्नबतूता ने अलाउलमुल्क के विषय में लिखा है कि जब कभी वह नाव पर चलता था तो उसके चारों ओर उसके सेवक रहते थे।[7] अफीफ के अनुसार फिरोज तुगलक के शासनकाल में जब मलिक नायब बारबक चलता था तो उसके सामने हाथी, घोड़े चलते थे तथा संगीत की ध्वनि की जाती थी।[8]

विलासप्रिय जीवन में वे शासक वर्ग का अनुकरण करते थे। इनके राजमहल में अनेक स्त्रियाँ, दास, दासियाँ एवं अन्य सेवक होते थे।[9] इनके महल में कीमती गलीचे, दरी तथा भोजनालय के बर्तन होते थे।[10] अपने जागीर की जनता का इन्हें पूर्ण समर्थन प्राप्त था।

अमीरों की इन सुविधाओं तथा विशेषाधिकारों ने उन्हें इतना महत्वाकांक्षी

---

1. रशीद, पृ० 5
2. अशरफ, पृ० 95
3. वही, पृ० 88
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 613
5. वही, पृ० 613
6. रशीद, पृ० 17
7. वही, पृ० 17-8
8. वही, पृ० 18
9. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 613
10. वही, पृ० 613

बना दिया था कि उन्होंने अपनी सेना तथा स्थानीय जनता की सहायता से अशांति का सृजन करके प्रभुसत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया।[1] सम्पूर्ण सल्तनत काल सुल्तान तथा अमीरों के बीच संघर्ष का इतिहास है। बलबन ने इनकी शक्ति को कम करने के लिए अनेक नियमों का प्रतिपादन किया।[2] तुर्क अमीरों की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए अलाउद्दीन खिलजी ने धर्म परिवर्तित भारतीय मुसलमान मलिक काफूर को नायब के पद पर नियुक्त किया।[3] मुहम्मद तुगलक ने विदेशियों को उच्च पदों पर नियुक्त करना प्रारम्भ किया।[4] बहलोल लोदी का शासन काल अमीरों की शक्ति के विकास का चरमोत्कर्ष माना जाता है। वह उनके बीच दरी पर बैठता था। उन्हें मनाने के लिए अपनी पगड़ी उनके पैर पर रख देता था।[5] सिकंदर लोदी ने उन सभी विशेषाधिकारों तथा जागीरों को समाप्त करने का सफल प्रयास किया। वह इतना शक्तिशाली था कि अमीर वर्ग उसके विरुद्ध आवाज नहीं उठा सके।[6] इब्राहिम लोदी के शासनकाल में अमीरों तथा सुल्तान के बीच खुल कर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। परिणाम-स्वरूप लोदी साम्राज्य का विघटन तथा वंश का पतन हुआ।[7] मुस्लिम समाज में इन्हें जो प्रतिष्ठा, सुविधा तथा विशेषाधिकार प्राप्त थे उनका अमीरों ने सदुपयोग नहीं अपितु दुरुपयोग किया।

इसके अतिरिक्त मुस्लिम समाज में सादात, राजकुमार, उलेमा तथा काजी भी विशेषाधिकार युक्त वर्ग के अंतर्गत थे। सादात का सम्बन्ध पैगम्बर मुहम्मद की पुत्री फातिमा के वंशजों से रहा है। अफीफ के अनुसार समाज में इन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया गया था। परन्तु आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी।[8]

मुगल सम्राटों ने भी अमीर वर्ग का संगठन किया। बाबर ने उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं। उसने हसन खाँ को मेवात, तातार खाँ को ग्वालियर, आलम खाँ को कालपी,

---

1. दिल्ली सल्तनत, पृ० 614
2. रशीद, पृ० 8
3. अशरफ, पृ० 91
4. रशीद, पृ० 11
5. वही, पृ० 12
6. अशरफ, पृ० 93
7. रशीद, पृ० 13
8. रशीद, पृ० 16

कासिम खाँ को सम्भल, नासीर खाँ नुहानी और मुहम्मद फर्मुली को पूर्वी प्रदेश जागीर के रूप में दिया।[1] हूमायूँ ने अमीर वर्ग का विधिवत संगठन किया। अहल-ए-दौलत-राजपरिवार के राजकुमार तथा सैनिक अधिकारी थे।[2] अहल-ए-सादात-काजी, उलेमा तथा प्रबुद्ध वर्ग।[3] अहल-ए-मुराद-संगीतकार तथा नर्तकी इत्यादि।[4]

सामाजिक जीवन में उपरोक्त अमीर वर्ग शासक का अनुकरण करता था। अमीर वर्ग में इरानी, तुरानी, अफगान, उजबेग, भारतीय धर्म परिवर्तित मुसलमान तथा राजपूत राजा और राजकुमार थे।[5] मुस्लिम समाज में इरानियों की प्रतिष्ठा थी। हुमायूँ, अकबर तथा जहाँगीर के शासनकाल में इन्हें उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। बैरम खाँ, अब्दुर्रहीम खानखाना, ऐतामाद्दौला, आसफ खाँ प्रमुख इरानी थे।

तुरानी अच्छे सैनिक थे, इनका संबंध शासक वर्ग से रहा है। अफगान मुगलों को अपहरणकर्ता की दृष्टि से देखते थे। राजपूत अमीरों में राजा भारमल, मानसिंह, टोडरमल, भगवानदास, जसवंत सिंह, मिर्जा राजा जयसिंह, राणा करण तथा अमर सिंह थे। हिन्दुस्तानी मुसलमानों में हसन खाँ वाचगोती,[6] सुलेमान खाँ पवर,[7] शेर खाँ तंवर[8] तथा सैय्यद बारहा थे।[9]

इनका दैनिक जीवन मुगल सम्राटों की भाँति था। इनके पास जागीर तथा मनसब रहा है। इनके पास सैनिक थे। राजमहल की भाँति इन-के प्रासाद होते थे। बीरबल के महल, पंचमहल की सजावट उनके विलास प्रिय जीवन का प्रतीक है।[10] राजप्रासादों को इरानी दरी, गलीचे, भोजन के बर्तनों से सुसज्जित किया गया था।

---

1. पाण्डेय, पृ० 5
2. अशरफ, पृ० 82
3. वही, पृ० 82
4. वही, पृ० 82
5. यासीन, पृ० 4
6. बदायूँनी 2, अनु० लो० पृ० 25
7. अकबर नामा 3, पृ० 198
8. मासीर-उल उमरा 1, पृ० 120, 193
9. यासीन, पृ० 16
10. देखिये, वास्तुकला

राजपूत अमीरों और शासकों का जीवन मुगल सम्राटों से कम नहीं था।

समाज में इतनी अधिक सुविधा व विशेषाधिकारों को प्राप्त करके यह वर्ग भी इतना महत्वाकांक्षी हो गया था कि मुगलकालीन इतिहास में इन लोगों ने अनेक बार विद्रोह किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत मुगल राजकुमार भी थे। मिर्जा कामरान अस्करी[1] तथा हिंदाल[2] ने हुमायूं के समय में विद्रोहात्मक व्यवहार का परिचय दिया।

अकबर के समय में राजकुमार सलीम, जहाँगीर के शासनकाल में खुसरो तथा खुर्रम, शाहजहाँ के काल में राजकुमार शुजा, मुराद तथा औरंगजेब ने विद्रोह किया। औरंगजेब के समय में राजकुमार अकबर ने सत्ता के लिए विद्रोह किया था। इसका प्रमुख कारण समाज में प्रतिष्ठा तथा विशेषाधिकारों की प्राप्ति थी।

अकबर के शासनकाल में उजबेगों ने विशेषाधिकार का दुरुपयोग करके विद्रोह कर दिया था।[3] गुजरात के अफगानों ने भी अशांति का सृजन किया।[4] जहाँगीर के काल में महावत खाँ ने विद्रोह किया।[5] शाहजहाँ के शासनकाल में खान-ए-जहाँ लोदी ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया।[6]

इन विध्वंसक कार्यों के बावजूद भी समाज और संस्कृति के विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अबुल फज्ल, अब्दुर्रहीम खानखाना, शेख फैजी का साहित्यिक योगदान महत्वपूर्ण है। तानसेन मुगलकाल का प्रसिद्ध अमीर तथा प्रधान संगीतकार माना जाता है।[7] बीरबल अकबर के दरबार का प्रसिद्ध व्यक्ति रहा है।[8] इसके अतिरिक्त एतमादुद्दौला तथा आसफ खाँ ने मुगल संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सर्वसाधारण वर्ग

डॉ० यासीन के अनुसार मुख्य रूप से मुस्लिम समाज का जीवन नगर से संब-

---

1. गुजरात में वाइसराय के रूप में विद्रोह करके सत्ता प्राप्ति का असफल प्रयास किया।
2. बंगाल अभियान के समय हिन्दाल आगरा लौटकर गद्दी प्राप्त करना चाहता था।
3. स्मिथ, पृ० 53-55
4. वही, पृ० 78-79
5. पाण्डेय, पृ० 335
6. वही, पृ० 336, 37
7. स्मिथ, पृ० 36, 45, 72 तथा 306
8. वही, पृ० 72

न्धित रहा है।[1] ग्रामीण जीवन के प्रति उनके हृदय में कोई रुचि नहीं थी। यहाँ तक कि सर्वसाधारण वर्ग के लोग ग्रामीण जीवन को सोचकर काँप जाते थे।[2] इसका कारण यह था कि मुस्लिम प्रशासन का केन्द्र नगरों तक ही सीमित था। प्रो० रशीद ने सर्वसाधारण वर्ग को अवाम-ए-खल्क की संज्ञा दी है।[3] इसके अन्तर्गत सर्राफ, शाहू, तुज्जर,[4] कारीगर, गुलाम तथा साधारण वर्ग के पेशेवर व्यक्ति थे।

प्रारम्भ में इनकी स्थिति बहुत अच्छी रही है। समकालीन इतिहासकार मुबारक शाह ने लिखा है कि मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद गरीब तुर्क जिनके पास एक भी गुलाम नहीं थे अब उनके पास अनेक गुलाम हो गये। जिसके पास एक अपना घोड़ा था वह सिपहसालार बन गया, उसके पास अपना नक्कारा, नौबत तथा रहने के लिए मकान हो गया।[5] समाज में इन्हें भी प्रतिष्ठित स्थान दिया गया था। यही कारण है कि. कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश, बलबन जैसे गुलाम अपनी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर सुल्तान के पद पर आसीन हुए। कुछ शासकों के शासनकाल में सर्वसाधारण वर्ग का समाज में कोई अधिकार न था। बलबन ने केवल शुद्ध तुर्कों की ही उच्च पदों पर नियुक्तियाँ कीं।[6] अपनी योग्यता का प्रदर्शन करके साधारण परिवार का मलिक काफूर नायब के पद पर आसीन हुआ।[7] मुहम्मद तुगलक ने योग्यता को ही नियुक्ति का आधार बनाया। एक संगीतकार के पुत्र नजब को गुजरात, मुल्तान तथा बदायूँ का गवंनर नियुक्त किया।[9] इसी तरह से अजीज खुमार, लद्धामाली को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया।[8] फिरोज हज्जाम, मनका बबर्ची, मसूद को भी इकता दिया। शेख बहुद्दीन एक जुलाहा का लड़का था, परन्तु सुल्तान ने अपने परामर्श के लिए नियुक्त किया। पेरा माली को दीवान-ए-वजारत के पद पर आसीन किया

1. यासीन, पृ० 25
2. वही, पृ० 26
3. रशीद, पृ० 25
4. वही, पृ० 25
5. मुबारकशाह—तारीख-ए-फखरुद्दीन, अनु० प्रो. हबीबुल्ला तथा उद्धृत, फाउंडेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 315
6. रशीद, पृ० 8
7. वही, पृ० 8
8. वही, पृ० 11
9. वही, पृ० 11

गया ।[1] इब्नबतूता के अनुसार अजमेर का मुस्लिम गवर्नर सुमरा जाति का था ।[2] इसी प्रकार राजस्थान में रेवाड़ी का एक धूसर बनिया हेमू, मुहम्मद आदिलशाह के समय में प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त हुआ । उसने तुगलकाबाद के युद्ध में मुगलों को परास्त करके दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया ।[3] मुगलकाल में इस प्रकार के उदाहरण नगण्य मिलते हैं ।

व्यापारी साधारण वर्ग के अंतर्गत थे । वे अनाज, घोड़े तथा दैनिक जीवन की सामग्री का क्रय विक्रय-किया करते थे ।[4] इन्हें अनेक प्रकार का कर देना पड़ता था । गुलफरोसी, गरीबहर-ए-ताम्बूल, चुंगी-ए-गल्ला, नीलगरी, माहीफरोसी, रौगहान, गरी, प्रमुख कर थे ।[5]

व्यापारी वर्ग के बाद खब्वाज, हलवाई, कसब का समाज में स्थान था । अमीर खुसरो ने जरगर (सोनार, जौहरी), अहगंट (लोहार) दर्जी, कफ्सदोज (चमार), कुलहदोज (टोपी बनाने वाला), मोजादोज (मोजा बनाने वाला), कुजागर (कुम्हार) आदि का समाज में उल्लेख किया है ।[6] अनेक सोनारों तथा लोहारों की नियुक्तियाँ शाही कारखाने में होती थीं ।[7]

समाज में सबसे निम्न स्थान दासों का था ।[8] इनकी संख्या अधिक होती थी । प्रायः इनको नियुक्तियाँ राजदरबार तथा अमीरों के महलों में होती थीं । दासों की संख्या को प्रतिष्ठा तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रतीक माना जाता था ।[9] फिरोज तुगलक के शासनकाल में इनकी सुव्यवस्था की गयी तथा इनकी देखभाल के लिए एक विभाग खोला गया । इस विभाग द्वारा इनका पंजीकरण होता था और योग्यता के अनुसार इन्हें पदों पर नियुक्त किया जाता था ।[10]

1. वही, पृ० 11
2. रेहला, पृ० 21-22
3. स्मिथ, पृ० 26-30
4. रशीद, पृ० 26
5. वही, पृ० 28-9
6. अफीफ, पृ० 353-57
7. रशीद, पृ० 28
8. देखिये–अध्याय-उलेमा तथा दास
9. रशीद, पृ० 29
10. वही, पृ० 30

मुगल शासनकाल में मुस्लिम समाज का साधारण वर्ग धर्म परिवर्तित हिन्दू थे। इनका समाज में महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। उसमें व्यापारी वर्ग, जुलाहे, मोची तथा कारीगर थे। साधारण वर्ग के नव-मुसलमानों के दृष्टकोण में परिवर्तन नहीं हुआ था। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि काश्मीर में राजौर के मुसलमान हिन्दू थे, फिरोज तुगलक ने उन्हें मुसलमान बनाया था।[1] बहुत से मुसलमान अपने वंश के नाम को रखे हुए थे जैसे—शेर खां तंवर, सुलेमान पंवर[2] तथा हसन खां बाचगोती।[3] अधिकांशतः कारीगर वर्ग को ही मुसलमान बनाया गया था। इनकी नियुक्तियाँ शाही कारखाने में होती थीं।[4] बंगाल तथा काश्मीर के धर्म परिवर्तित मुसलमान खेती भी करते थे।[5] मुगलकाल में साधारण वर्ग के अन्तर्गत कसाई, भिस्ती, चित्रकार, यूनानी हकीम, धोबी, नाई, बढ़ई, लोहार, दर्जी थे।[6]

भारतीय सामाजिक परिवेश में इस्लामी समाज की समानता का सिद्धान्त समाप्त हो गया था। साधारण वर्ग में ऊँच-नीच का भेदभाव अधिक हो गया था। मुस्लिम समाज कई छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त हो गया था।[7] साधारण वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दशा दयनीय रही है।

हिन्दू-मुस्लिम संबंध

डॉ॰ रमेश चन्द्र मजुमदार के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच सामाजिक तथा धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप चीनी दीवार खड़ी हो गई थी। सात सौ वर्षों तक एक साथ रहने के बावजूद इस दीवार में दरार तक न पड़ सकी, जो इस मतभेद की दीवार को ध्वस्त कर सके।[8] सर यदुनाथ सरकार ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि हिन्दू मुसलमानों के मतभेदों और आपस में न मिलने का एकमात्र उत्तरदायित्व इस्लाम के धर्म सापेक्ष सिद्धान्त पर है, जिसके अनुसार मुस्लिम राज्य में एक धर्म तथा एक सम्प्रदाय की व्यवस्था है। शासक की पुनीत कर्तव्य धर्म की रक्षा, प्रचार

---

1. तुजुक-ए-जहाँगीर 2, पृ॰ 180-1
2. मासीर-उल-उमरा–1, पृ॰ 120-193
3. अबुल फज्ल–3, पृ॰ 140
4. इलियट 1, पृ॰ 47
5. यासीन, पृ॰ 29
6. मनूची 4, पृ॰ 175
7. अशरफ, पृ॰ 107
8. दिल्ली सल्तनत 5, पृ॰ 624

तथा दारुल हरब को दारुल इस्लाम में परिवर्तित करना है। गैर मुसलमानों को जिम्मी कहा जाता था, मुस्लिम राज्य में उन्हें कोई अधिकार नहीं था।[1]

सम्पूर्ण मुस्लिम शासनकाल को हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष माना गया है।[2] प्रसिद्ध विद्वान के. एम. मुन्शी के अनुसार—हिन्दू स्त्री, पुरुष तथा बच्चों ने भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा के लिए मुस्लिन सत्ता का वीरता से प्रतिरोध किया।[3] डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार—सम्पूर्ण सल्तनतकाल में हिन्दू मुसलमानों के बीच गहरी खाई बनी रही। हिन्दुओं को कोई अधिकार और सुविधा प्राप्त न थी। उनका जीवन और सम्पत्ति खतरे में थी। यदि भारी संख्या में उनका धर्म परिवर्तन, उनकी निर्मम हत्या और समूल नाश न हो सका तो इसका प्रमुख कारण संख्या में उनकी अधिकता और शक्ति थी।[4] इस्लामी सिद्धांत के अनुसार गैर मुसलमान मुस्लिम राज्य के शत्रु हैं, राज्य के हित में उनकी संख्या और शक्ति पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम शासनकाल में अच्छे हिन्दू-मुस्लिम संबंध की कोई सम्भावना नहीं थी।

डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार, शताब्दियों तक एक साथ रहने के बाद भी हिन्दुओं ने इस्लाम के प्रजातन्त्रवादी, सामाजिक समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धांतों को अपने सामाजिक संगठन में स्थान नहीं दिया, यद्यपि उन्नीसवीं सदी में यूरोप ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व ने इस लोकोपकारी सिद्धांत को मान्यता दी। दीर्घकालीन सम्पर्क के बावजूद भी मुस्लिम समाज हिन्दुओं की धार्मिक उदारता के सिद्धांतों को न अपना सका।[6] इस प्रकार राष्ट्रीय परम्परा, धार्मिक तथा सामाजिक आदर्शों का जन्म सम्भव न हो सका और दोनों सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार में न तो दरार पड़ सकी और न वह ध्वस्त हो सकी।[7] समय समय पर हिन्दुओं को मुस्लिम धर्मांधता का कोपभाजन बनना पड़ा परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों की सद्‌भावना को क्षीण करने वाला फोड़ा बढ़ता गया। यह आश्चर्य की बात नहीं कि दोनों सम्प्रदायों के बीच एक

1. हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड, पूजा, 1950
2. रशीद, पृ० 216
3. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० 15
4. जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, दिसम्बर 1963, पृ० 585
5. दिल्ली सल्तनत, 5, 618
6. वही, पृ० 616-17
7. वही, पृ० 627

खून की नदी बहती रही, सदियों के सम्पर्क के बावजूद दोनों किनारों को मिलाने के लिए किसी पुल का निर्माण न हो सकी।[1]

यद्यपि यह मत अकाट्य है परंतु इसे पूर्णतया स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। डॉ० परमात्मा शरण ने उचित ही लिखा है कि इस प्रकार का प्रयास कुछ लोगों को भ्रम में डाल सकता है, परंतु किसी उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दुओं पर अत्याचार करने वाले मुस्लिम शासकों ने अपने धर्म के प्रति अधिक अन्याय किया अपेक्षा उसकी सेवा के।[2] डॉ० मुहम्मद नाजिम ने भी लिखा है कि इस्लाम के सबसे बडे शत्रु उसके मदांध अनुयायी थे।[3] इस प्रकार इस्लाम के मदांध अनुयायियों के कारण हिन्दू मुसलमानों का अच्छा संबन्ध सम्भव नहीं हो सका।

डॉ० ताराचन्द के अनुसार, भारतवर्ष में आकर मुसलमानों ने इसे अपनी मातृ-भूमि स्वीकार कर लिया। हिन्दू मुसलमानों के बीच सम्पर्क स्थापित हुआ।[4] जवाहर लाल नेहरू ने भी लिखा है कि मुसलमानों का वंश पूर्णरूप से भारतीय हो गया, वे भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि तथा शेष जगत् को विदेशी समझने लगे।[5] निस्सन्देह मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मुसलमान भारतवर्ष में बस गए। महमूद गजनवी की भांति इन लोगों ने कभी भी यहाँ के धन को भारतवर्ष के बाहर ले जाने का प्रयास नहीं किया। हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध के परिणाम के विषय में डॉ० ताराचन्द ने लिखा है कि न केवल हिन्दू धर्म, कला, साहित्य तथा विज्ञान ने मुस्लिम तत्वों को ग्रहण किया बल्कि हिन्दू सभ्यता की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क भी परिवर्तित हो गया।[6] डॉ० ताराचंद का विचार अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में सर यदुनाथ सरकार, डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार तथा डॉ० ताराचंद का दृष्टिकोण दो दिशाओं की ओर संकेत करता है। दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण है। अतः दोनों विचारों को अस्वीकार करके यह कहना उचित प्रतीत होता है कि दोनों सम्प्रदायों के बीच चीनी दीवार न थी। परिस्थितियों ने हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए बाध्य कर दिया।

1, वही, पृ० 627
2. परमात्माशरण–स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 139
3. डॉ० मुहम्मद नाजिम–महमूद आफ गजनी, पृ० 81
4. ताराचंद, पृ० 137
5. नेहरू–डिस्कवरी आफ इण्डिया, पृ० 254
6. ताराचंद, पृ० 137

हिन्दू-मुस्लिम संबंध की पृष्ठभूमि

(i) सबसे पहले पराजित हिन्दू शासक तुर्क शासकों के सम्पर्क में आये और उनकी सभ्यता और संस्कृति को समझने की चेष्टा की।

(ii) इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद भी धर्म परिवर्तित मुसलमानों ने अपने वंश के नामों को रखा। हसन खां वाचगोती,[1] सुलेमान खां पंवर,[2] शेर खां तंवर[3] ने अपनी वंशावली का नाम रखा। मुसलमान होने के बाद भी इन लोगों ने हिन्दू समाज से बराबर संबन्ध रखा। हिन्दू-मुसलमानों को समीप लाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

(iii) भारतीय पेशेवर वर्ग के स्त्री तथा पुरुषों ने सुल्तानों तथा अमीरों के यहाँ नौकरी कर ली। इनके माध्यम से भी हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के सम्पर्क में आये।

(iv) भारतीय कारीगरों ने जीविकोपार्जन के लिए सुल्तानों तथा अमीरों के यहां कार्य करना प्रारम्भ किया। हिन्दू मुस्लिम अच्छे संबन्ध के लिए इनकी भूमिका महत्वपूर्ण है।

(v) हिन्दू समाज में सूफी संत अत्यधिक लोकप्रिय थे। इनके उदारवादी दृष्टिकोण के कारण अनेक हिन्दू इनके शिष्य बन गए। इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। इनके माध्यम से भी दोनों सम्प्रदायों के बीच अच्छा संबन्ध सम्भव हो सका।[4]

(vi) भक्ति आंदोलन के प्रमुख समाज सुधारक कबीर, नानक, चैतन्य ने भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद के लिए प्रशंसनीय प्रयास किया।

(vii) अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद तुगलक का दृष्टिकोण प्रजातंत्रवादी था। योग्यता ही सरकारी सेवाओं की एकमात्र कसौटी थी। अनेक हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। सम्राट अकबर ने तो हिन्दू मुसलमानों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया कि परिणामस्वरूप दोनों के प्रयास के फलस्वरूप एक ऐसी भारतीय संस्कृति का विकास हुआ जो प्रत्येक हिन्दू तथा मुसलमान के लिए गर्व का विषय है।

---

1. बदांयूनी, अनु० लो० 2, पृ० 25
2. अबुल फज्ल—अकबरनामा, अनु० पृ० 193–198
3. मासीर-उल-उमरा 1, पृ० 120
4. दिल्ली सल्तनत, 5, पृ० 616

(viii) मुस्लिम समाज में हिन्दू योगियों की प्रतिष्ठा की जाती थी। सत्यपीर दोनों सम्प्रदायों में लोकप्रिय थे।[1]

(ix) मुसलमान विद्वानों ने हिन्दू योग, वेदांत तथा ज्योतिष का अध्ययन किया। हिन्दुओं ने भूगोल, गणित, रसायन शास्त्र का अध्ययन करके अरबों से ज्ञान प्राप्त किया।[2] इस प्रकार साहित्यकारों ने हिन्दु मुस्लिम सम्बन्ध के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान दिया।

संबन्ध का स्वरूप (सल्तनत काल)

भारतवर्ष में हिन्दू मुस्लिम संबंध के विषय में अलबरूनी ने लिखा है कि— हिन्दुओं की घृणा उन लोगों के प्रति थी जो उनसे संबन्धित नहीं थे। मुसलमानों को वे म्लेच्छ समझते थे और उनके सम्पर्क में नहीं आना चाहते थे। उनके साथ खान-पान, उठना-बैठना तथा विवाह संबन्ध नहीं करना चाहते थे।[3] परंतु अलबरूनी का मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि हिन्दुओं तथा अरब व्यापारियों का संबन्ध मैत्रीपूर्ण रहा है। अनेक अरब व्यापारियों ने हिन्दू स्त्रियों के साथ वैवाहिक संबन्ध किया। मालाबार के शासक चेरामन पेरूमल ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था।[4] बल्लभ राय ने मुसलमानों को संरक्षण प्रदान किया।[5] एक बार खम्भात के कुछ हिन्दुओं ने मुसलमान व्यापारियों को लूटा। जब इस घटना की सूचना जयसिंह सिद्धराज को दी गई तो उसने हिन्दू लूटेरों को कठोर दण्ड दिया।[6] इससे स्पष्ट हो जाता हैं कि मुस्लिम राज्य की स्थापना के पूर्व हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध मैत्रीपूर्ण रहा है।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध ने एक नया मोड़ लिया। डॉ० कुरेशी के अनुसार दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम साम्राज्य था जिसमें मुस्लिम हिन्दू संबन्ध शासक तथा शासित के रूप में रहा है।[7] निस्संदेह दिल्ली सल्तनत एक धर्म सापेक्ष राज्य था जिसमें मुसलमानों के अतिरिक्त किसी को राज-

---

1. वही, पृ० 616
2. वही, पृ० 616
3, उद्धृत-युसुफ हुसेन, पृ० 119
4. टाइटस, पृ० 37
5. वही, पृ० 37
6. रशीद, पृ० 236
7. कुरेशी–इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1961, पृ० 352

नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।[1] इस धर्म सापेक्ष राज्य में हिन्दुओं के समक्ष दो विकल्प थे, इस्लाम अथवा मृत्यु।[2] टाइटस के अनुसार मुस्लिम शासकों का एकमात्र उद्देश्य जिहाद के माध्यम से दारुल हरब को दारुल इस्लाम में परिणत करना था।[3] ऐसे वातावरण में अच्छे हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है।

सर यदुनाथ सरकार के अनुसार एक धर्म सापेक्ष राज्य में जिम्मी को कोई अधिकार न था। हिन्दू देवालय नहीं बनवा सकते थे, मुसलमानों की तरह घोड़े रखने पर प्रतिबंध था। मुसलमानों के कब्र के पास अपने मृतकों को नहीं दफना सकते थे। मुसलमानों को दास नहीं रख सकते थे और न तो अपने प्रियजनों की मृत्यु पर रो सकते थे।[4] इसी से हिन्दुओं की स्थिति एवं हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध का अनुमान लगाया जा सकता है।

हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार खड़ा करने का एकमात्र उत्तरदायित्व धर्मांध मुसलमान शासकों पर है। महमूद गजनवी के आक्रमण के संबन्ध में प्रो० मोहम्मद हबीब ने लिखा है कि उसके धर्मनिरपेक्ष युद्धों का मूल उद्देश्य स्वर्ण की प्राप्ति तथा व्यक्तिगत यश को बढ़ाना था।[5] परन्तु तथ्यों के सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् प्रो० हबीब का मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना का श्रेय कुत्बुद्दीन ऐबक को है। हसन निजामी के अनुसार उसने अपनी तलवार की शक्ति से इस्लाम का प्रचार किया तथा दिल्ली, मेरठ, बनारस, कोल, अजमेर, ग्वालियर के हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त किया।[6] डॉ० हबीबुल्ला ने मंदिरों को ध्वस्त करने तथा मस्जिदों के निर्माण को मध्य एशिया में सैनिकों की भर्ती के लिए प्रचार का साधन बताया है।[7] परंतु अजमेर में 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद को सैनिकों की भर्ती के लिए प्रचार का साधन स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। प्रो० रशीद के अनुसार–यह

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 618
2. वही, पृ० 621
3. टाइटस, पृ० 17
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 519
5. हबीब–महमूद आफ गजनी, पृ० 83
6. इलियट–2, पृ० 215
7. हबीबुल्ला--फाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 297

दुर्भाग्यपूर्ण है कि मुस्लिम विजेताओं और शासकों ने धर्म को अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों का लक्ष्य बनाया।[1] डॉ० नाजिम ने उचित ही लिखा है कि इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु उसके मदांध अनुयायी थे।[2] डॉ० परमात्माशरण के अनुसार, अधिकांश मुस्लिम शासकों ने राजनीतिक उद्देश्य तथा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिए युद्ध किया, धर्म के लिए नहीं।[3] अतीत अध्ययन वस्तुनिष्ठ होना चाहिये अतः भावनाओं को प्रधानता न देकर इस जटिल समस्या का समाधान हमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ढूँढ़ना चाहिए।

इल्तुतमिश ने हिन्दुओं की संख्या और शक्ति की अधिकता के कारण उनका समूल नाश करने में असमर्थता प्रकट की थी।[4] डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार—बलबन ने लाखों की संख्या में हिन्दू स्त्री, पुरुष तथा बच्चों की हत्या कराई थी।[5] प्रो० रशीद के अनुसार इसी प्रकार का कठोर दण्ड सुल्तान ने बंगाल के गवर्नर तुगरिल बेग तथा उसके समर्थकों को भी दिया था।[6] बरनी के अनुसार बलबन ने स्वयं कहा था कि, जब मेरे मालिक धर्म की रक्षा में असमर्थ थे तो मैं स्वयं धर्म की रक्षा में सफल न हो सकूंगा![7] उसका उद्देश्य अपनी पीड़ित प्रजा के प्रति न्याय करना था।[8] इस आधार पर प्रो० रशीद का निष्कर्ष है कि उसने अच्छे हिन्दू मुस्लिम संबंध की पृष्ठ-भूमि तैयार करने में सहयोग दिया।[9] नियुक्तियों में उसने कभी भी हिन्दुओं को स्थान नहीं दिया। हिन्दुओं के प्रति उसके दृष्टिकोण का यह अकाट्य प्रमाण है।

अमीर खुसरो के अनुसार–अलाउद्दीन खिलजी ने जामा मस्जिद के द्वितीय मीनार के निर्माण में न केवल पहाड़ के पत्थरों बल्कि ध्वस्त मंदिरों की सामग्री का प्रयोग

---

1. रशीद, 219
2. नाजिम, पृ० 87
3. परमात्मा शरण, पृ० 139
4. रशीद, पृ० 219
5. जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1963, पृ० 586-90
6. रशीद, पृ० 224
7. प्रो० हबीब–पोलिटिकल थ्योरी आफ द सुल्तानेट आफ देहली, पृ० 143
8. रशीद, पृ० 220
9. वही, पृ० 220

किया था।[1] दक्षिण भारत के विजय में भी सुल्तान ने अनेक मंदिरों को ध्वस्त कराया था।[2] समकालीन इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि सुल्तान ने जब जिम्मी के अधिकार के विषय में काजी मुगीसुद्दीन से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि–उसके लिए मृत्यु अथवा इस्लाम के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।[3] उसने हिन्दू कर्मचारी खुत, चौधरी तथा मुकद्दम के ऊपर इतना कर लगा दिया कि वे भोजन तथा वस्त्र के अतिरिक्त विद्रोह के विषय में कभी सोच नहीं सकते थे।[4] वे अच्छे वस्त्र नहीं पहनते थे तथा अच्छे घोड़े पर सवार न हो सकें। काजी मुगीसुद्दीन ने तो यहाँ तक सुझाव दिया था कि—यदि कोई राजस्व का कर्मचारी हिन्दुओं के यहाँ लगान वसूली के लिए जाय तो उन्हें मुँह खोलना चाहिए ताकि वह उनके मुँह में थूक सके।[5] इस आधार पर डॉ० आर० सी० मजुमदार ने निष्कर्ष निकाला है कि अलाउद्दीन खिलजी की हिन्दू विरोधी नीति धार्मिक विचारों से अनुप्राणित रही है।[6]

अलाउद्दीन खिलजी के संबंध में डॉ० आर० सी० मजुमदार का मत स्वीकार करना उस महान शासक के प्रति अन्याय करना है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में अलाउद्दीन खिलजी प्रथम सुल्तान है जिसने उलेमा तथा काजियों की उपेक्षा करके राज्य तथा प्रजा के हित को प्राथमिकता दी है। उसने तो स्पष्ट कहा था–"मैं यह नहीं जानता कि मेरी नीति कानूनी है अथवा गैरकानूनी, राज्य के हित में मैं सब कुछ करूँगा। कयामत के दिन अल्लाह मुझे क्या दण्ड देंगे, मैं कभी परवाह भी नहीं करता।"[7] धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना में वह सबसे आगे था। डॉ० किशोरी शरण लाल के अनुसार हिन्दुओं के प्रति दमनकारी नीति के लिए सुल्तान धार्मिक भावना से प्रेरित न था। यदि उसकी कर-नीति से हिन्दुओं को कष्ट हुआ तो उसका मूल कारण यह था कि हिन्दू अधिक संख्या में कृषिकार्य करते थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उसने कुछ लोगों का दमन हिन्दू समझ कर किया तथा कुछ लोगों

---

1. इलियट 3, पृ० 70
2. टाइटस, पृ० 23
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 621
4. वही, पृ० 23
5. वही, पृ० 25
6. वही, पृ० 24
7. ईश्वरी प्रसाद–हिस्ट्री आफ मेडिवल इण्डिया, पृ० 239

का पक्ष मुसलमान समझकर लिया।[1] राज्य का हित तथा प्रजा का सुख उसकी दृष्टि में सर्वोपरि था। अपनी शासन-नीति को धर्म-निरपेक्षता का रूप देकर अलाउद्दीन खिलजी ने हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध की एक अच्छी पृष्ठभूमि तैयार की।

धर्मांधता तथा रूढ़िवादिता का परित्याग करके उसने स्वयं गुजरात के शासक कर्ण बघेल की पत्नी कमला देवी से शादी की।[2] यही नहीं उसकी लड़की देवल देवी से राजकुमार खिज्र खाँ की शादी की।[3] उसने इन वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा न केवल हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का शिलान्यास किया अपितु महान मुगल सम्राट अकबर की राजपूत नीति का पथ-प्रदर्शन किया।

मुहम्मद तुगलक उदारवादी दृष्टिकोण का शासक माना जाता है।[4] डॉ० आर० सी० मजुमदार के अनुसार उसने घोषणा की कि दिल्ली सल्तनत एक मुस्लिम राज्य है। उसने मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुसार शासन किया।[5] सुल्तान ने चीन के सम्राट को हिमालय की तराई में मन्दिर बनवाने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वह कार्य इस्लाम विरोधी था।[6] यह सुल्तान की कट्टरता का प्रतीक है। डॉ० मजुमदार का मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि सुल्तान मुहम्मद तुगलक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना में अलाउद्दीन खिलजी से बहुत आगे था। उसने उलेमा वर्ग की उपेक्षा करके स्वयं कानून की पुस्तकों का अध्ययन किया तथा अपने विश्लेषण के अनुसार उन्हें कार्यान्वित किया।[7] उसकी दृष्टि में धर्म के ठेकेदार उलेमा स्वार्थमय, पतित, संकुचित विचार वाले तथा दम्भी थे।[8] उसकी दृष्टि में नियुक्ति का एकमात्र आधार व्यक्तिगत योग्यता थी। उसने अनेक निम्न जाति के हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त करके अच्छे हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध का बीजारोपण किया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने जब कोयल के विद्रोहियों के सम्बन्ध में काजी तथा मुहतसिब से पूछा तो उन लोगों ने अनेक हिन्दुओं का नाम बताया। सुल्तान ने काजी की हत्या का आदेश दिया

1. के० एस० लाल—हिस्ट्री आफ दी खिलजीज, पृ० 309-10
2. ईश्वरी प्रसाद, पृ० 218
3. वही, पृ० 218
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 612
5. वही, पृ० 614
6. वही, 612
7. पाण्डेय, पृ० 231
8. वही, पृ० 231

क्योंकि वह हिन्दुओं का दमन तथा देश का विनाश नहीं चाहता था।[1] हिन्दुओं के प्रति सुल्तान की नीति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है।

प्रो० रशीद के अनुसार फिरोज तुगलक के शासनकाल में हिन्दुओं को सामाजिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।[2] यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सुल्तान फिरोज तुगलक सबसे बड़ा रूढ़िवादी तथा धर्मांध शासक माना जाता है। उसके शासन काल में अनेक मंदिरों को ध्वस्त किया गया। ज्वालामुखी के मन्दिर में देवी की प्रतिमा को तोड़कर उसके टुकड़ों को गोमांस के साथ वहाँ के ब्राह्मणों के गले में बाँधा गया।[3] मूर्तिपूजा के विरुद्ध उसने वहाँ की जनता के समक्ष भाषण दिया।[4] फिरोज तुगलक गर्व से कहता था कि दिल्ली सल्तनत एक धर्म सापेक्ष मुस्लिम राज्य है।[5] फतुहत-ए-फिरोजशाही में उसने स्वयं स्वीकार किया है कि, यदि किसी हिन्दू ने दिल्ली तथा उसके आसपास मन्दिर बनाने का साहस किया तो उसकी हत्या कर दी जायेगी। मन्दिर के स्थान पर अब मुसलमान मस्जिद में नमाज पढ़ते थे।[6] अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार सुल्तान ने मन्दिरों को ध्वस्त करके हिन्दू-धर्म के सभी चिन्हों को समाप्त कर दिया।[7]

ब्राह्मण अभी तक सभी प्रकार के करों से मुक्त थे। परंतु सुल्तान ने ब्राह्मणों के ऊपर जजिया कर लगा दिया।[8] जिन लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया उन्हें जजिया कर से मुक्त दिया।[9] दिल्ली के एक ब्राह्मण को इसलिए जलवा दिया गया, क्योंकि उसके प्रभाव में आकर कुछ मुसलमान स्त्रियाँ हिन्दू हो गई थीं।[10] सुल्तान ने जब उसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा तो उसके इनकार करने

---

1. रशीद, पृ० 221
2. वही, पृ० 223
3. पाण्डेय, पृ० 258
4. वही, पृ० 258
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 623
6. इलियट 3, पृ० 380
7. वही, पृ० 36
8. ईश्वरी प्रसाद, पृ० 296
9. वही, पृ० 296
10. पाण्डेय, पृ० 261

पर उसे जीवित जला दिया गया।[1] यही नहीं बल्कि सुल्तान ने शिया और महदवियों के कार्यों में हस्तक्षेप किया।[2]

सर यदुनाथ सरकार के अनुसार फिरोज़ तुगलक ने स्वयं स्वीकार किया कि ईश्वर की असीम कृपा से हिन्दुओं के विनाश में उसे अद्भुत सफलता मिली।[3] तारीख-ए-मुबारकशाही के लेखक ने उसकी नीति की प्रशंसा की है। नौशेरखां के काल से आजतक ऐसा उदार, न्यायप्रिय तथा दयालु शासक नहीं हुआ है।[4] धर्मसापेक्ष राज्य की स्थापना से वह सबसे आगे था। उसकी रूढ़िवादी धार्मिक नीति के कारण हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध को सबसे अधिक आघात पहुँचा।

प्रो० रशीद ने स्वीकार किया है कि सुल्तान सिकन्दर लोदी रूढ़िवादी, धर्माध तथा संकुचित दृष्टिकोण का शासक था।[5] हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त करने में वह अपने पूर्वजों से बहुत आगे था। मंदिरों को गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदों और सरायों का निर्माण कराया।[6] तारीख-ए-दाउदी के लेखक के अनुसार उसने मूर्तियों को तोड़कर कसाइयों को बाट के रूप में प्रयोग करने के लिए दे दिया।[7] उसने काशी तथा मथुरा में हिन्दुओं के स्नान तथा सिर मुड़वाने पर प्रतिबंध लगा दिया।[8] बोधन नामक ब्राह्मण को इसलिए मृत्युदण्ड दिया गया क्योंकि वह कहता था कि इस्लाम की भाँति हिन्दू धर्म भी सच्चा है।[9] निजामुद्दीन अहमद ने स्वीकार किया है कि उसकी धार्मिक नीति तथा पक्षपात सीमा को पार कर गया था।[10] उसके शासनकाल में हिन्दुओं के ऊपर इतना अत्याचार किया गया कि मुसलमानों के साथ अच्छे संबन्ध की कोई सम्भावना ही नहीं रही।

---

1. पाण्डेय, पृ० 261-2
2. वही, पृ० 262
3. सरकार--सोर्सेज आफ इण्डियन ट्रेडिशन, पृ० 489
4. ईश्वरी प्रसाद, पृ० 296
5. रशीद, पृ० 224
6. ईश्वरो प्रसाद, पृ० 497
7. वही, पृ० 497
8. पाण्डेय, पृ० 314
9. वही, पृ० 314
10. वही, पृ० 314

सरकारी नियुक्तियाँ

समकालीन इतिहासकारों ने राजकीय प्रशासन में हिन्दुओं की नियुक्ति का उल्लेख किया है। डॉ० ताराचन्द के अनुसार–भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद कुत्बुद्दीन ऐबक ने अनेक हिन्दुओं को राजस्व विभाग के पदों पर रहने दिया।[1] यह सुल्तान की हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति का परिचायक नहीं अपितु उसकी विवशता तथा राजनीति का प्रतीक है। अमीर खुसरो ने गुलाम वंश के शासनकाल में देवचंद नामक अधिकारी का उल्लेख किया है।[2] बलबन केवल तुर्कों को उच्च पदों पर नियुक्त करना चाहता था।

इस दिशा में अलाउद्दीन खिलजी की नीति विशेष रूप से प्रशंसनीय है। उसने मलिक काफूर को नायब तथा प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर अपनी उदारता का परिचय दिया।[3] रामचन्द्र देव ने सुल्तान की दक्षिण विजय में सहायता की और अपनी पुत्री की शादी सुल्तान से कर दी।[4] बरनी ने उच्च पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की आलोचना की है।[5] हिन्दुओं की नियुक्ति में मुहम्मद तुगलक अपने पूर्ववर्ती अलाउद्दीन खिलजी से बहुत आगे था। उसने श्रीराज को अपना वजीर नियुक्त किया।[6] उसने अजीज खुम्मार, फिरोज हज्जाम, मनका बबर्ची, लधा माली, तथा मकबूल गायक को राजकीय प्रशासन में स्थान दिया। रतन को सिंघ तथा भैरव को गुलबर्गा का हाकिम नियुक्त किया।[7] मालवा के सुल्तानों की सेना में 12 हजार राजपूत थे।[8] एल्फिसटन के अनुसार विजयनगर के शासकदेवराय ने अनेक मुसलमानों को अपनी सेना में स्थान दिया, उनके लिए मस्जिदों का निर्माण कराया तथा जागीरें दीं।[9] दक्षिण भारत पर आक्रमण करते समय अलाउद्दीन खिलजी ने कहा

1. ताराचंद, पृ० 137
2. खुसरी—इजाज-ए-खुसखी 2, पृ० 46
3. रशीद, पृ० 228
4. पाण्डेय, पृ० 153
5. बरनी, पृ० 504-5
6. आगा मेहदी हुसेन—तुगलक डाइनेस्टी, पृ० 335
7. पाण्डेय, पृ० 226
8. टाइटस, पृ० 152
9. एलफिसटन, पृ० 475

था कि वह राजमंद्री के हिन्दू राजा की सेवा के लिए जा रहा है ।[1]

के० एम० मुंशी के अनुसार सल्तनतकाल में व्यापार पर हिन्दुओं का एकाधिकार था ।[2] प्रो० मोहम्मद हबीब के अनुसार इस काल में हिन्दू व्यापारियों का सम्पर्क मुस्लिम शासक वर्ग से हुआ ।[3] हिन्दू मुस्लिम संबन्ध की यह उपयोगी भूमिका सिद्ध हुई ।

सामाजिक संबन्ध

डॉ० ताराचंद के अनुसार—मुसलमानों ने जब भारतवर्ष में स्थायी रूप से रहने का निश्चय कर लिया तो हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क प्रारम्भ हुआ ।[4] हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय को समीप लाने में सूफी संतों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । आगे चल कर भक्ति आन्दोलन के समाज-सुधारक रामानंद, कबीर, नानक, चैतन्य ने दोनों सम्प्रदायों के बीच समन्वय के लिए अथक प्रयास किया । साहित्यकारों तथा कलाकारों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है । अमीर खुसरो ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि "मैं भारतीय तुर्क हूँ तथा हिन्दी भाषा बोलता हूँ ।"[5] इस प्रकार समाज, धर्म, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध स्थापित हुआ ।

निस्संदेह कुछ शासकों की उदासीनता, रूढ़िवादिता तथा धर्मांधता के बावजूद हिन्दू-मुसलमानों के बीच चीन की दीवार में दरार पड़ने लगी । वे एक दूसरे के समीप आये ।

मुगलकाल में हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध की पृष्ठभूमि

भारतीय इतिहास में सोलहवीं सदी उदारवादी युग माना जाता है । मुगलकाल में हिन्दू-मुसलमानों का अच्छा संबन्ध किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं अपितु अनेक उदारवादी व्यक्तियों—कबीर, नानक जैसे समाज सुधारकों, कलाकारों तथा अमीर खुसरो जैसे साहित्कारों के निरन्तर प्रयास का परिणाम था । मुगल साम्राज्य की स्थापना के पहले ही हिन्दू मुसलमानों ने सहयोग की आवश्यकता को समझा था । 1527 में खानवा के युद्ध में हसन खाँ मेवाती[6] तथा महमूद लोदी ने राणा

1. वही, पृ० 388
2. मुंशी, स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० 18
3. हबीब, भूमिका—रिलिजन एण्ड पोलिटिक्स, पृ० 21
4. ताराचन्द, 137
5. रशीद, पृ० 236
6. पाण्डेय, पृ० 238-9

सांगा के साथ बाबर के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था।[1] यद्यपि इसका कारण राजनैतिक था, परंतु यह सहयोग सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम था।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ एक नवीन युग का जन्म हुआ जिसमें हिन्दू मुसलमानों ने सामाजिक भेद-भाव को दूर करके मैत्रीपूर्ण तथा सौहार्दपूर्ण वातावरण में कार्य करने का निश्चय किया। हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग तथा मुगल शासकों की उदारतापूर्ण नीति के परिणामस्वरूप मुगल संस्कृति का जन्म हुआ, जिस पर प्रत्येक भारतीय हिन्दू अथवा मुसलमान गर्व का अनुभव करता है।

हिन्दू मुसलमानों को समीप लाने में अनेक परिस्थितियाँ सहायक सिद्ध हुईं :—

(i) तीन सौ वर्ष तक अलग रहने तथा सामाजिक कटुता ने यह सिद्ध कर दिया था कि भारतवर्ष में दोनों को एक साथ रहना है। ऐसी स्थिति में दोनों सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार सम्भव नहीं है। इस प्रकार का दृष्टिकोण दोनों के लिए अहितकर होगा।

(ii) सूफी सन्तों तथा भक्ति आन्दोलन के कबीर, नानक, चैतन्य जैसे समाज सुधारकों ने समन्वय वाद का नारा लगाकर यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया कि हिन्दू मुसलमान एक ही ईश्वर की संतान हैं।

(iii) दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों ने एक दूसरे के साहित्य का अध्ययन करके अच्छे तत्वों तथा गुणकारी विचारों को दोनों समाज के समक्ष रखा।

(iv) अनेक राजपूत शासकों ने पराजय अथवा स्वेच्छा से मुगलों के सम्पर्क में आकर उनकी सभ्यता और संस्कृति को समझा तथा हिन्दू मुस्लिम संबंध की पृष्ठभूमि तैयार करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

(v) हिन्दू मुस्लिम कलाकारों ने वास्तुकला, चित्रकला तथा संगीत के क्षेत्र में अपने सहयोग का परिचय देकर मुगलकालीन संस्कृति के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया।

(vi) मुगल सम्राटों की उदारवादी नीति ने हिन्दू मुस्लिम संबंध को एक नवीन प्रेरणा तथा जीवन प्रदान किया।

(vii) सोलहवीं सदी के वातावरण में रूढ़िवादी तथा धर्मांधपूर्ण नीति के लिए स्थान न था। अतः हिन्दू मुस्लिम अच्छे संबंध के लिए परिस्थितियों ने बाध्य कर दिया।

---

1. वही। पृ० 239

हिन्दू मुस्लिम संबंध का स्वरूप

बाबर ने अपनी आत्मकथा में हिन्दू मुसलमानों को हिन्दुस्तानी कह कर सम्बोधित किया।[1] मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद उसने प्रशासन के क्षेत्र में अधिकांश हिन्दुओं को उसी पद पर रहने दिया।[2] चंदेरी विजय के बाद मेदिनी राय की दो राजकुमारियों की शादी मिर्जा कामरान तथा हुमायूँ से करके अपनी उदारता का परिचय दिया [3] और अकबर की राजपूत नीति की पृष्ठभूमि तैयार की।

अपने उत्तराधिकारी हुमायूँ को सुझाव देते हुए बाबर ने कहा था कि भारतवर्ष में अनेक धर्मानुयायी रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में तुम्हारा मस्तिष्क धार्मिक भावनाओं से प्रभावित न हो। तुम सभी धर्मों के प्रति सहानुभूति रखकर अपनी सम्पूर्ण प्रजा के प्रति यथोचित न्याय करना।[4] गायों का वध न करके हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त करना।[6] मंदिरों को ध्वस्त न करके हिन्दुओं की कृतज्ञता को प्राप्त करने का प्रयास करना और साम्राज्य में शांति रखना।[6] हिन्दुओं के दमन की अपेक्षा प्रेम की तलवार से इस्लाम धर्म का प्रचार करना।[7] शिया तथा सुन्नी के मतभेदों पर कभी ध्यान न देना क्योंकि इससे इस्लाम की शक्ति क्षीण होगी।[8] प्रशासन तथा राजनीति को धर्म के अवगुणों से बचाना।[9]

इस प्रकार बाबर प्रथम मुगल सम्राट था जिसने अच्छे हिन्दू मुस्लिम संबंध का बीजारोपण किया।

हुमायूँ ने आजन्म अपने पिता के सुझावों का पालन किया तथा उसके आदर्शों का अनुकरण किया। हिन्दुओं के प्रति उसके हृदय में विशेष स्थान था। चौसा के युद्ध में एक हिन्दू भिस्ती से उसकी प्राणरक्षा की। कृतज्ञता में एक दिन के लिए सम्राट

---

1. ताराचंद, पृ० 142
2. पाण्डेय, पृ० 240, लेटर मेडिवल इण्डिया, पृ० 12, 13
3. वही। पृ० 7
4. डा० सय्यद महमूद-इण्डियन रिव्यू 1923, पृ० 499
5. टाइटस, पृ० 157
6. वही, पृ० 157
7. सैय्यद महमूद, पृ० 499
8. टाइटस, पृ० 157
9. वही, 157

ने उसे राज गद्दी पर बिठाया था ।[1] चौसा से भागते हुए गहोरा के हिन्दू राजा ने उसकी सहायता की थी ।[2] मालवा अभियान के समय मंझू के सुझाव पर हिन्दुओं की हत्या बंद कर दी ।[3] राजा मालदेव ने उसे सहायता का आश्वासन दिया था ।[4] अर्सकीन तथा जेम्स टाड के अनुसार हुमायूँ ने मेवाड़ की रानी कर्णावती की राखी स्वीकार कर सच्चे भाई के रूप में रानी की सहायता करने के लिए प्रस्थान किया किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वह उचित समय पर सहायता न कर सका ।[5] अमरकोट के शासक ने उसे अपने यहाँ शरण दिया । यहीं पर राजकुमार अकबर का जन्म हुआ ।[6] इन परिस्थितियों और घटनाओं के परिणामस्वरूप उसके हृदय में हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति थी । अतः सम्राट ने हिन्दू मुस्लिम संबंध को अच्छा बनाने का सफल प्रयास किया ।

शेरशाह ने अपनी शासन नीति में हिन्दू मुसलमानों को समान रूप से सुविधाएँ प्रदान कीं इन दोनों सम्प्रदायों के लिए अलग-अलग सरायों की व्यवस्था की। टोडरमल तथा बरमजीद गौड़ की नियुक्ति करके हिन्दू मुस्लिम समन्वय का एक ज्वलंत उदाहरण राजनीतिक रंगमंच पर रखा । उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद आदिलशाह ने राजस्थान में रेवाड़ी के धूसर बनिया हेमू को प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त किया ।[7]

मुगल सम्राट अकबर एक उदारवादी शासक था । वह भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि तथा हिन्दू मुस्लिम सभी को अपनी प्रजा समझ कर समान रूप से सुविधा प्रदान करना चाहता था । डॉ० मुहम्मद यासीन के अनुसार—अकबर का मुख्य उद्देश्य मुस्लिम सम्प्रदाय को भारतीय बना कर राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक रंगमंच पर एकता प्रदान करता था ।[8] हिन्दू-मुस्लिम असमानता को दूर करने के लिए 1564

---

1. पाण्डेय, पृ० 40
2 ईश्वरी प्रसाद—हुमायूँ, पृ० 202
3. जे० चौबे—हिस्ट्री आफ गुजरात किंगडम, पृ० 275
4. पाण्डेय, पृ० 59
5. टाड सम्पादित क्रूक—1, पृ० 364-5
6. स्मिथ, पृ० 10
7. वही, पृ० 23
8. यासीन, पृ० 1

में जजिया कर[1] तथा 1563 में तीर्थ यात्रा कर समाप्त घोषित किया।[2] 1562 में आमेर के शासक भारमल की राजकुमारी[3] तथा जैसलमेर के शासक मोटा राजा उदय सिंह की पुत्री से शादी करके हिन्दू मुस्लिम संबंध की सराहनीय पृष्ठभूमि तैयार की।[4] सम्राट अकबर ने राजकुमार सलीम का वैवाहिक संबंध भगवानदास की पुत्री तथा मानसिंह की बहन से 1584 में सम्पन्न करा कर[5] अपने उत्तराधिकारी के भी दृष्टिकोण में परिवर्तन करने का सफल प्रयास किया। राजा भगवान दास,[6] मानसिंह,[7] टोडरमल,[8] बीरबल[9] को उच्च प्रशासनिक तथा सैनिक पदों पर नियुक्ति करके अपनी सौहार्दता तथा उदारवादी नीति का परिचय दिया। राजपूत नीति के अंतर्गत रणथम्भौर के राजा सुरजन हाड़ा को विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं।[10]

धर्म के नाम पर उसकी सम्पूर्ण प्रजा अनेक वर्गों में विभक्त थी। अतः वह दीन-इलाही के माध्यम से सम्पूर्ण प्रजा को एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था।[11] वह स्वयं सूर्य तथा अग्नि की उपासना करता था। हिन्दुओं की भाँति मस्तक पर तिलक लगाता था।[12] सम्राट अकबर रक्षाबंधन, दीवाली, दशहरा तथा होली का त्यौहार हिन्दुओं की भाँति मनाता था।[13] बदायूनी तथा इसाई पादरियों के अनुसार उसने गोबध, मांसाहार पर प्रतिबंध लगाकर हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति का परिचय दिया।[14] साहित्य के क्षेत्र में उसने अथर्वेद, महाभारत तथा रामायण का अनु-

1. टाइटस, पृ० 157
2. स्मिथ, पृ० 47
3. वही, पृ० 42
4. वही, पृ० 163
5. वही, पृ० 162
6. वही, पृ० 42
7. वही, पृ० 42-48
8. वही, पृ० 53
9. वही, पृ० 118
10. वही, पृ० 71
11. पाण्डेय, पृ० 460
12. टाइटस, पृ० 157
13. वही, पृ० 157
14. स्मिथ, पृ० 154-5

वाद फारसी भाषा में कराया।[1] यही नहीं उसने लीलावती नामक गणित की पुस्तक का अनुवाद फारसी में कराकर हिन्दू साहित्य के प्रति सौहार्दता का परिचय दिया।[2] वास्तुकला,[3] चित्रकला[4] पर तो हिन्दू मुसलमानों का सहयोग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार सम्राट अकबर ने हिन्दू मुसलमानों को राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक रंगमंच पर समान अधिकार एवं सुविधा प्रदान कर दोनों सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार को ध्वस्त करने में अभूतपूर्व सफलता को प्राप्त किया।

मुगल सम्राट जहांगीर का दृष्टिकोण हिन्दुओं के प्रति उदारवादी था।[5] वह स्वयं रक्षाबन्धन, दिवाली के त्यौहारों में भाग लेता था। मेवाड़ के राणा कर्ण सिंह तथा अमर सिंह के साथ उसने सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनाई।[6] मानसिंह को प्रशासनिक एवं सैनिक पदों पर विभूषित किया।

शाहजहाँ का शासनकाल रूढ़िवादिता तथा धर्मांधता का युग माना जाता है। पादशाहनामा के लेखक के अनुसार–शाहजहाँ ने अनेक हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त कराकर अपनी रूढ़िवादी धार्मिक नीति का परिचय दिया। केवल बनारस में 76 मंदिरों को ध्वस्त कराया गया।[7] जयसिंह तथा जसवंत सिंह को राज्य प्रशासन में स्थान देने के बावजूद भी धार्मिक धर्मांधता का परित्याग नहीं किया। पाश्चात्य विद्वान गोल्ड-जिहर ने लिखा है कि अकबर की मृत्यु के बाद इस्लाम ने अपने वास्तविक स्वरूप को पुनः अपना लिया।[8]

हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों को समीप लाने में राजकुमार दारा शिकोह का प्रयास अत्यंत प्रशंसनीय है। अपने जीवनकाल में उसने हिन्दू धर्म, दर्शन का अध्ययन किया। रामायण, गीता तथा उपनिषद् का अनुवाद फारसी भाषा में कराया।[9] मुहम्मद काजिम के अनुसार वह ब्राह्मणों के समाज में रहता था; योगी, साधु तथा संन्यासी

1. टाइटस, पृ० 156
2. इलियट 4, पृ० 483
3. देखिए, वास्तुकला।
4. देखिए, ललितकला।
5. टाइटस, पृ० 157
6. पाण्डेय, पृ० 114
7. इलियट 7, पृ० 36
8. गोल्ड जिहर, पृ० 228–30
9. टाइटस, पृ० 161

के साथ घूमता था और उन्हें अपना गुरु मानता था। वेद को ईश्वर का शब्द मानता था। वह अल्लाह के पवित्र नाम के स्थान पर प्रभु का स्मरण करता था। उसने अपनी अँगूठी पर हिन्दी तथा संस्कृत के शब्दों को खुदवाया था।[1] टाइटस के अनुसार, यदि उसकी हत्या न होती और मुगल साम्राज्य की गद्दी प्राप्त हुई होती तो इतिहास का कुछ और ही स्वरूप होता।[2]

सम्राट औरंगजेब का शासन मुगल काल का अवसान तथा हिन्दू मुस्लिम संबंध का अंत माना जाता है। मुगल सम्राटों की नीति पर हिन्दू राजकुमारियों का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। औरंगजेब के हरम में दो हिन्दू रानियाँ थीं, परंतु उनका प्रभाव सम्राट पर नगण्य था।[3] औरंगजेब ने हिन्दुओं के प्रति रूढ़िवादी तथा धर्मांधता पूर्ण नीति को अपनाया। 1669 में मथुरा, बनारस, अयोध्या में अनेक हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त कराकर उसने मस्जिदों का निर्माण कराया।[4] मुहम्मद साकी के अनुसार उसने इस्लाम की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः बढ़ाया।[5] जोधपुर, चित्तौड़ तथा आमेर में अनेक मंदिरों को गिरवाया।[6] अमरोहा तथा सम्भल के मस्जिदों में आज भी हिन्दू मंदिरों का अवशेष दिखाई देता है।[7]

उसका मुख्य उद्देश्य दारुल हरब को दारुल-इस्लाम में परिणित करना था। अतः उसने मुस्लिम कानून के अनुसार कर निर्धारित किया तथा हिन्दुओं पर जजिया कर पुनः लगाया।[8] उसने धर्म परिवर्तन के लिए हिन्दुओं को धन तथा पद का प्रलोभन दिया।[9] आगरा के पास अनेक राजपूतों का धर्म परिवर्तन कराया।[10] उसकी शासन नीति में अच्छे हिन्दू मुस्लिम संबंध की कोई सम्भावना न थी। धर्म परिवर्तित हिन्दुओं को वह स्वयं कलमा पढ़ाता था और उन्हें खिलत तथा अन्य उपहारों से विभूषित

1. इलियट 7, पृ० 179
2. टाइटस, पृ० 161
3. बर्नियर, पृ० 126
4. टाइटस, पृ० 25
5. इलियट, 7, पृ० 184
6. वही, पृ० 184-5
7. वही, पृ० 187-8
8. वही, पृ० 168
9. वही, पृ० 159
10. टाइटस, पृ० 34

करता था।[1] मलखाना जाति के राजपूतों को बाध्य किया कि वे अपनी बेटियों को सम्राट तथा अमीरों को दें।[2] इस प्रकार औरंगजेब ने हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार को पुनः खड़ा करने का प्रयास किया जो अकबर के शासनकाल में ध्वस्त हो चुकी थी।

प्रशासनिक सेवाओं में हिन्दुओं का स्थान

मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर ने भारत विजय के बाद अनेक हिन्दुओं को प्रशासनिक पदों पर रहने दिया क्योंकि वह स्वयं यहां के शासन व्यवस्था से अपरिचित था।[3] हुमायूं को अपनी शासन नीति-निर्धारण करने का समुचित समय न मिल सका। शेरशाह ने अपनी शासन नीति में हिन्दू मुसलमानों को समान सुविधाएँ प्रदान कीं। राजा टोडरमल तथा बरमजीद गौड़ को उच्च पदों पर नियुक्त किया।[4]

सम्पूर्ण मुस्लिम शासनकाल में अकबर का युग हिन्दू मुस्लिम समन्वय का स्वर्णकाल माना जाता है। उसने राजा भारमल,[5] भगवानदास,[6] मानसिंह,[7] राजा बीरबल,[8] तानसेन,[9] शक्ति सिंह तथा जगमल को मुगल प्रशासन में प्रतिष्ठित स्थान दिया। राजा टोडरमल पंजाब का एक कायस्थ था। राजस्व संबंधी दक्षता के कारण सम्राट ने उसे वित्तमंत्री नियुक्त किया।[10] उसकी शासन नीति पर सबसे अधिक प्रभाव राजा टोडरमल तथा राजा बीरबल का पड़ा। इस प्रकार हिन्दू मुस्लिम समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। उसने राजस्व विभाग तथा सेना में अनेक राजपूतों को स्थान दिया। इसके अतिरिक्त अनेक खत्री, अग्रवाल तथा कायस्थों को प्रशासनिक सेवा में नियुक्ति की।[11]

---

1. वही, पृ० 34
2. वही, पृ० 34
3. वही, पृ० 16
4. वही, पृ० 17
5. स्मिथ, पृ० 42
6. वही, पृ० 63
7. वही, पृ० 48
8. वही, पृ० 118
9. वही, पृ० 306
10. टाइटस, पृ० 152
11. यासीन, पृ०48

जहाँगीर के काल से ही हिन्दू विरोधी प्रतिक्रिया का प्रारम्भ होता है। विलियम हाकिन्स के अनुसार सम्राट जहाँगीर ने अनेक राजपूत सेनापतियों को अपने पदों से निष्कासित कर मुसलमानों की नियुक्ति की।[1] उसकी दक्षिण में असफलता का यह प्रमुख कारण था।[2] डॉ० यासीन ने लिखा है कि इनकी संख्या 15% से अधिक न थी।[3] शाहजहाँ ने रूढ़िवादी धर्मांधता को प्रशासन में स्थान दिया। मिर्जा राजा जयसिंह तथा जसवंत सिंह ने स्वामिभक्त का परिचय धमरमत तथा समूरगढ़ के युद्ध में दिया था परन्तु उसका विश्वास राजपूतों पर न था।

औरंगजेब ने भी अनेक राजपूतों और हिन्दुओं को राजकीय सेवा से मुक्त कर दिया था।[4] उसने राजकुमार मुहम्मद आजम को लिखा कि वह उसकी इच्छा के विरुद्ध राजपूतों की नियुक्ति का अनुमोदन क्यों करता है।[5] फारुकी के अनुसार हिन्दू-पेशकार तथा कर्मचारी घूसखोर तथा चोर थे। इसीलिए औरंगजेब ने उन्हें प्रशासनिक कार्य से मुक्त किया था।[6] सर यदुनाथ सरकार ने इस हिन्दू विरोधी नीति का घातक परिणाम स्वीकार किया है।[7]

सामाजिक संबंध

सम्राट अकबर ने हिन्दू मुसलमानों को सामाजिक रंगमंच पर एक साथ लाने का प्रयास किया। वह रक्षाबंधन, होली, दिवाली त्यौहार मनाता था।[8] रूढ़िवादी धर्मांधतापूर्ण नीति के बावजूद हिन्दू मुस्लिम संबंध अच्छा रहा है। मुसलमान अमीर हिन्दू राजाओं के साथ त्यौहारों में भाग लेते थे।[9] औरंगजेब के शासन काल में भी बहादुर खाँ होली के त्यौहार पर राजा सुभान सिंह, राय सिंह राठौर, राजा

---

1. हाकिंस–अर्ली ट्रेवेल्स इन इंडिया—संपादित—फास्टर, पृ० 106-7
2. वही, पृ० 106-7
3. यासीन, पृ० 45
4. इलियट 7, पृ० 159
5. कलिमत-ए-तय्यबत—पत्र संख्या 33, पृ० 12
6. फारुकी—औरंगजेब एण्ड हिज टाइंस, पृ० 201
7. सरकार—हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब 3, पृ० 277
8. टाइटस, पृ० 157
9. यासीन, पृ० 50

अनूप सिंह, मोखम सिह चंदावत के यहाँ जाता था।[1] मीर हसन तथा मीर मुहसीन बड़ी श्रद्धा से हिन्दू त्यौहारों में भाग लेते थे।[2] हिन्दू राजा तथा अमीर उन्हें प्रीति-भोज पर आमंत्रित करते थे।[3]

निष्कर्ष

अकबर ने हिन्दू मुस्लिम संबंध की नींव डाली थी। कुछेक मुगल सम्राटों की धर्मांधता के बावजूद हिन्दू मुस्लिम संबंध अच्छा बना रहा। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार हिन्दू-मुस्लिम संबंध भारतवर्ष के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। भारतवर्ष में स्थायी शांति, रीति-रिवाज, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में विचारों के आदान-प्रदान से एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ।[4] आर्थिक क्षेत्र में भी अधिक विकास हुआ। एकेश्वरवादी विचार को प्रधानता दी गई। ऐतिहासिक साहित्य का विकास भी हिन्दू मुस्लिम संबंध का परिणाम है। भारतीय सभ्यता का सर्वांगीण विकास तथा युद्धकला में अनेक प्रणालियों का प्रवेश हिन्दू मुस्लिम संबंध के कारण ही हुआ है।[5] निस्सन्देह हम स्वीकार कर सकते हैं कि सदियों के प्रयास के बाद अब इन सम्प्रदायों के बीच चीन की दीवार न थी। अकबर ने जिस चीन की दीवार को ध्वस्त कर दिया था, औरंगजेब उसका पुनर्निमाण करने में असफल सिद्ध हुआ।

●

1. वही, पृ० 50, फुटनोट 15
2. वही, पृ० 50
3. वही, पृ० 50
4. टाइटस, पृ० 176
5. वही, पृ० 177

अध्याय 2

स्त्रियों की स्थिति

हिन्दू समाज में नारी

मध्ययुगीन समाज में हिन्दू नारी की स्थिति बड़ी दयनीय एवं सोचनीय थी। भारत में मुसलमानों के आक्रमण के कारण उनकी दशा निरन्तर ह्रास की ओर अग्रसर होती गई। हिन्दू समाज में नारी जीवनपर्यन्त पुरुष वर्ग के अधीन और आश्रित रही।[1] पुत्री के रूप में वह अपने पिता के नियंत्रण में रही और विवाह के बाद उसे पति के आदेशों का पालन करना पड़ता था। वृद्धावस्था में यदि यह विधवा हो जाती थी तो उसे अपने पुत्रों के अधीन रहना पड़ता था। वैसे हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में यह व्यवस्था है कि पति अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार करे। ऐसा न करने पर उसे राज्य द्वारा दण्ड का भागी होना पड़ता था। धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार स्त्रियाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में पुरुषों से हीन समझी जाती थीं।[2] स्मृतियों के अनुसार व्यभिचार जैसे कुछ अपराधों पर स्त्रियों के लिए मृत्यु दण्ड का विधान है।[3] कात्यायन ने लिखा है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अपराध पर आधे दण्ड की व्यवस्था है, जैसे जहाँ मनुष्य को मृत्यु दण्ड दिया जाय, स्त्री का एक अंग काट लिया जाय।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक ग्रन्थों के लेखक स्थियों के प्रति उदार थे, क्योंकि उन्होंने उनके लिए पुरुषों की अपेक्षा कम दण्ड की व्यवस्था की थी।[5] धार्मिक

---

1. विवाद रत्नाकर, पृ० 409; मदन पारिजात, 191-92; व्यवहार सार, पृ० 203-204; विवाद चिन्तामणि, पृ० 189-90
2. दिल्ली सल्तनत, पृ० 592
3. वही, पृ० 593
4. वही।
5. पराशर माधव, जिल्द 3, पृ० 29 और 34; प्रायश्चित सार, पृ० 32, 56, 64

क्षेत्र में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के समान थे।[1] वे अपने पतियों द्वारा आयोजित धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थीं। ऐसी अनेक स्त्रियाँ थीं जिन्होंने बौद्ध मठ में प्रवेश किया और भिक्षुणी बनीं।[2]

डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का कहना है कि सल्तनत काल (1206-1526) में स्त्रियों की दशा बहुत खराब हो गई।[3] परन्तु इस काल में भारत से बाहर दूसरे देशों में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी रही।[4] इब्नबतूता ने लिखा है कि तुर्की स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता थी।[5] ईरानी स्त्रियाँ पर्दा तो रखती थीं किन्तु मसजिदों में एकत्र होती थीं और वस्तुओं को खरीदने के लिए बाजारों में जाती थीं। ऐसी ही स्थिति स्त्रियों के सम्बन्ध में हेरात, शीराज और मदीना में भी थी।[6] राजस्थान की स्त्रियों के विषय में टाड महोदय ने बड़ा ही हृदयविदारक दृश्य प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है : "दूसरे देशों की स्त्रियों को राजस्थानी स्त्रियों का भाग्य भयभीत कर देनेवाले कठिनाइयों से भरा हुआ दिखलाई पड़ेगा। जीवन के प्रत्येक चरण में मृत्यु उसे अंगीकार करने के लिये खड़ी है–जन्म के समय विष, युवा होने पर अग्नि की लपटें–उसका सुरक्षित जीवन युद्ध की अनिश्चितता पर आधारित है, जो कभी भी बारह महीने से अधिक नहीं है।[7] हिन्दू समाज पर मुस्लिम

और 75। परन्तु मदन पारिजात (पृ० 881-892) के लेखक ने पुरुषों और स्त्रियों को दण्डित करने के लिए कोई अन्तर नहीं रखा है।

1. पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, तृतीय संस्करण, बम्बई, पृ० 257-58
2. राज्यश्री की रुचि बौद्ध धर्म के सिद्धान्त और दर्शन में थी। देखिये–जी० एच० चटर्जी; हर्षवर्द्धन, पृ० 308; आर० के० मुखर्जी, श्रीहर्ष, पृ० 193-94; रेखा मिश्रा, वीमेन इन मुगल इण्डिया, दिल्ली, पृ० 2, पाद टिप्पणी।
3. मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 23; सेखा मिश्रा, पृ० 129
4. के० एम० अशरफ, लाइफ एण्ड कन्डीशन्स ऑफ दि पिपुल ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० 135, फुटनोट।
5. किताबुररेहला, जिल्द 2, पृ० 200-201
6. वही, जिल्द 1, पृ० 121
7. टाड, हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, जिल्द 2, पृ० 744

कृष्णकुमारी नाम की एक राजपूत राजकुमारी ने स्त्रियों की दशा का वर्णन किया है—"हम लोग जन्म से ही बलिदान के लिये अंकित किये गये हैं। हम लोग जैसे ही संसार में आते हैं, वैसे ही वापस भेज दिये जाते हैं। मुझे अपने पिता को

समाज का व्यापक प्रभाव पड़ा। लड़कियों को परिवार में अलग रखा जाने लगा और सीमा निर्धारित कर दी गई। इससे मध्ययुग में स्त्रियों की दशा में ह्रास होने लगा।

पूर्व मध्य काल में स्त्रियाँ साड़ी, अँगिया, चोली, लँहगा आदि वस्त्र पहनती थीं।[1] वे मौसम के अनुसार अपने वस्त्रों में परिवर्तन कर देती थीं।[2] घर से बाहर निकलते समय वे दुपट्टा या ओढ़नी धारण कर लेती थीं।[3] ग्रीष्मकाल में वे महीन कपड़े पहनती थीं। वे अधिकतर रंगीन और छपे हुए कपड़ों को पसन्द करती थीं।[4] वे अपने शरीर को आभूषणों और फूलों से अलंकृत करती थीं। आभूषणों में अधिकतर वे शीशफूल, कानों में बाले, चूड़ियाँ, कंगन, अंगूठी, करधन और पायल पहनती थीं।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में स्त्रियाँ नाक में कील नहीं पहनती थीं।[6] आभूषण सोने चाँदी और अन्य बहुमूल्य रत्नों के बनाये जाते थे।[7] निर्धन स्त्रियाँ भी आभूषणों का प्रयोग करती थीं। लेकिन उनके आभूषण शीशे, हाथी दाँत और पीतल के होते थे।[8] आभूषण के अतिरिक्त स्नान के लिये सुगन्धित उबटन (चन्दन और केसरयुक्त) और अन्य लेपों का प्रयोग करती थीं।[9] वे अपने बाल को नित्य नए ढंग से गूँथती थीं और उसे फूल और गहने से सजाती थीं।[10] वे आँखों में काजल, माथे पर सिन्दूर लगाती थीं। इसके अतिरिक्त वे ओंठ, उँगलियों के सिरे और हथेली को विविध रंगों से सजाती थीं।[11] हिन्दू स्त्रियों की ऐसी ही स्थिति सल्तनत और मुगल-काल में रही।

धन्यवाद देना चाहिए कि मैं बहुत अधिक समय तक जीवित रह सकी।" [वही, जिल्द 1, पृ० 540]

1. ए० एल० श्रीवास्तव—मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 23
2. मोती चन्द्र, भारतीय वेषभूषा, पृ० 158-59
3. वही, पृ० 68-81
4. ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० 43
5. वही, पृ० 44; अल्तेकर; पृ० 298-99
6. अल्तेकर, पृ० 302
7. वही, पृ० 298
8. ए० एल० बाशम, 212
9. अल्तेकर, पृ० 300
10. ओझा, पृ० 44
11. ए० एल० बाशम, पृ० 115

भारत में मुस्लिम स्त्रियों को दशा भी काफी गिर गई। डा० अशरफ ने लिखा है, "मुसलमानों ने प्राचीन ईरानी परम्पराओं का अनुकरण किया, जो स्त्रियों को हीन स्थिति में रखने के लिये उत्तरदायी हैं।"[1] शम्शसोराज अफीफ ने फिरदौसी द्वारा वर्णित ईरानी परम्परा का उल्लेख किया है कि, स्त्री और सर्प भयानक जीव हैं, इन्हें मार डालना चाहिये।[2] अमीर खुसरो ने स्त्री को कामलिप्सा का साधन कहा है।[3] डॉ० वाहीद मिर्जा ने एक अजीब सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार मध्य युग में भारत के बाहर मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा नहीं थी।[4] उन्होंने लिखा है कि मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा राजपूती समाज के प्रभाव के कारण आई।[5] परन्तु यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि मुस्लिम आक्रमण के पहले राजपूत समाज में पर्दा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।[6] इसके विपरीत ऐसे दृष्टांत मिलते हैं कि राजपूत स्त्रियों ने चौदहवीं सदी में युद्धों में भाग लिया और अपने पुरुषों के साथ बाहरी खेलों में भाग लेती रहीं।[7]

पर्दा धनी और समृद्धिशाली परिवार तक ही सीमित था।[8] निर्धन स्त्रियाँ, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में रहनेवाली, खेतों में काम करती थीं। आर्थिक कारणों से पर्दा धारण करने में असमर्थ थीं।[9]

एस० एम० जाफर महोदय ने पर्दा को हिन्दू स्त्रियों के लिये धार्मिक कर्त्तव्य कहा है। इसके लिये उन्होंने रामायण और महाभारत से सीता और द्रौपदी का उदा-

---

1. के० एम० अशरफ, पृ० 135-36
2. अफीफ, पृ० 254; देखिये बर्नी, पृ० 245
3. देवलरानी, खिज़् खाँ, पृ० 121
4. दिल्ली सल्तनत, पृ० 609; देखिये, एलिजाबेथ कूपर दि होम एंड पर्दा, पृ० 102
5. वही।
6. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 23, फुटनोट; रेखा मिश्रा पृ० 134
7. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 23
8. बर्नियर पृ० 413; पी० एन० चोपड़ा, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मुग़ल एज, पृ० 104
9. डेलिट, पृ० 81; देखिये पी० एन० ओझा, सम ऐस्पेक्ट्स आफ लि माडर्न इण्डियन सोशल लाइफ, पटना, 1960, पृ० 37.

हरण दिया है।[1] धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण देते हुए उन्होंने समझाने का प्रयास किया है कि पर्दा त्यागना हिन्दू समाज में निन्दनीय समझा जाता था।[2] उनका कहना है कि सार्वजनिक समारोहों में स्त्रियों के बैठने के लिए अलग व्यवस्था थी और उसे पर्दों से ढँका जाता था।[3] विद्वान इतिहासकार यह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं कि पर्दे की प्रथा हिन्दू समाज में मुसलमानों के भारत में राज्य स्थापित करने के बाद आई।[4] यह सही हो सकता है कि पर्दा समाज में कुलीनता का एक चिह्न था।[5] परंतु इसका कोई धार्मिक आधार नहीं था। सीता और द्रौपदी से संबंधित उद्धृत अंश का संबंध नैतिकता से नहीं, धर्म से है।

दक्षिण भारत में पर्दा प्रथा नहीं थी। वहाँ मुसलमानों का हिन्दू समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दू समाज में पर्दा स्त्रियों की उच्च-प्रतिष्ठा का द्योतक था। यह उनके सम्मान को सुरक्षित रखने का एक साधन भी था।[6] ऐसा समझा जाता है कि निरन्तर 200 वर्षों तक मंगोलों के आक्रमण के कारण हिन्दुओं में भय की भावना आ गई थी। स्त्रियों को मंगोलों के आतंक से बचाने के लिये ही हिन्दू समाज में पर्दा का प्रयोग किया गया।[7] कुछ विद्वानों का मत है कि औरतों को अलग रखने की प्रथा हिन्दुओं ने मुस्लिम समाज से ग्रहण की, लेकिन ऐसा केवल अमीरों ने ही किया। निर्धन हिन्दुओं में पर्दा प्रथा की जानकारी ही नहीं थी।[8] इससे पता चलता है कि मुस्लिम और हिन्दू दोनों समाज की स्त्रियाँ पर्दा प्रथा का पालन करती थीं। मनूची के अनुसार पर्दा प्रथा का मुस्लिम समाज में दृढ़ता से पालन किया जाता था।[9] रजिया जिस साहस से पर्दा को त्याग कर खुले दरबार में प्रशासनिक कार्यों की देख-भाल करने लगी थी, उसे देख कर तुर्की अमीर स्तब्ध रह गये और उन्होंने उसको अपदस्थ

1. सम कल्चरल एस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० 198-99
2. ब्रह्मपुराण, अध्याय 32, श्लोक 39 उद्धृत वही।
3. हरिवंशपुराण, अध्याय 19, उद्धृत वही।
4. एस० एम० जाफर (आपसिट पृ० 201); देखिये, एन० सी० मेहता–लेख 'पर्दा', लीडर, इलाहाबाद, मई 1928, एन० एन० ला–एंशेयन्ट हिन्दू पालिटी, पृ० 144
5. बाण, हर्षचरित्र, एक्ट 1, दृश्य 3, अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद पृ० 188
6. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 139
7. वही।
8. एफ० डब्ल्यू० ठामस, म्युचुअल इनफ्लुयेन्स आफ मोहमडन्स एंड हिन्दूज इन इंडिया, पृ० 72; देखिये, एलिजाबेथ कूपर, आपसिट, पृ० 121
9. स्टोरिया, I, पृ० 62

करने के लिये षड्यंत्र रचा और अन्त में रजिया को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[1] फीरोज तुगलक पहला सुल्तान था जिसने मुस्लिम स्त्रियों को पर्दा करने के लिये बाध्य किया और सन्तों की मजारों पर जाने के लिए रोक लगाया।[2] निर्धन परिवारों की मुस्लिम स्त्रियाँ केवल बुर्का ओढ़ती थीं,[3] परन्तु अमीर और धनी वर्ग के मुस्लिम अपनी महिलाओं के लिये ढँकी हुई पालकी का प्रयोग करते थे।[4] धीरे-धीरे इस प्रथा का अनुसरण धनी वर्ग के हिन्दुओं ने भी अपनी महिलाओं के लिये किया।[5] हिन्दू समाज में स्त्रियों के सम्मान करने की प्राचीन परम्परा रही।[6] परंतु कुछ लोग उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते थे और पुरुषों के अधोपतन का प्रमुख कारण समझते थे।[7]

---

1. रेवर्टी, अंग्रेजी अनुवाद; तबकाते नासिरी, पृ० 638-643, देवलरानी खिज्र खां, पृ० 49
2. मुहम्मद तुगलक भी औरतों को पर्दा करने के लिये बाध्य करता था (बर्नी, पृ० 506)—देखिये, फतूहाते फिरोजशाही, पृ० 10–11; रिजवी—तुगलक कालीन भारत, जिल्द 2, पृ० 332
3. दि बुक ऑफ इबारटे बारबोसा, जिल्द 5, पृ० 114
4. के० एम० अशरफ आपसिट, 141 'तातर खां की बाँदिया ढकी हुई और ताला लगी पालकियों में जाती थीं (अफीफ, पृ० 393–94).
5. सर यदुनाथ सरकार—चैतन्य, पिलग्रीमेजेस एंड टीचिंग्स, पृ० 190; देखिये, सतीशचन्द्र मेडिवल इण्डिया, सोसाइटी दि जागीरदारी क्राइसिस एण्ड दि विलेज, नई दिल्ली, 1982, पृ० 97
6. दि लाज आफ मनु, अनुवाद बुहलर, पृ० 85
7. कबीरदास (बीजक, पृ० 189) ने लिखा है :—

   'नारी-सबल पुरुषहि खायी, ताते रही अकेला'

   उन्होंने कहा है :—

   'नारी कुण्ड नरक का, जोरू जूठाणि जगत की।'

   (कबीर वचनामृत, पृ० 71—73)

   दादूदयाल ने कहा है :—

   "नारी बैराणी पुरुष की, पुरिषा की बैरी नारि।
   अंतिकाल दुन्गू मुए, कछु न आया हाथ॥"

   (दादूदयाल की वाणी—भाग 1, पृ० 131—32)

साधारणतया स्त्रियों के साथ मृदु व्यवहार किया जाता था।[1] परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि परिवार में स्त्रियों का दासियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाता था।[2] स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग थी। गाँवों में निर्धन किसानों की स्त्रियाँ घर और खेत के कामों के बोझ से इतनी त्रस्त रहती थीं कि उनके पास आमोद प्रमोद के लिये कोई साधन या समय नहीं था।[3] इससे पता चलता है कि उनके सांस्कृतिक विकास के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं थीं। हिन्दू समाज के उच्च वर्ग में बहुत सी संभ्रांत और सुशिक्षित महिलायें थीं, जैसे—देवलरानी, रूपमती, मीराबाई आदि।

हजीउद्दाबिर का कहना है कि मुहम्मद तुगलक ने कराजल की पहाड़ियों पर इसीलिए आक्रमण किया था कि वह कुछ विशेष वर्ग की स्त्रियों को प्राप्त करना चाहता था जो बहुत ही सभ्य थीं।[4] ऐसा समझा जाता है कि मुगलकाल में मुस्लिम स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता थी।

बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी लेकिन यह केवल राजाओं और अमीरों तक ही सीमित थी। अधिकतर लोग केवल एक ही विवाह करते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में बिहार की बहुत सी बुद्धिमती स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न विषयों और कलाओं में पारंगत थीं।[5] कुछ स्त्रियों को 'जमीनदारी' और 'मिल्कीयत' सम्बन्धी अधिकार मिले हुये थे। उन्हें अपने इस अधिकार को, उत्तराधिकार में प्राप्त करना, बेचना या किसी को देने का अधिकार था।[6] सुभानु नाम की स्त्री ने जो किसी मोहन सिंह की बहन थी 1672

सूरदास ने लिखा है :—

"भामिनी और भुजागिनी करी, इनके विषहि डरैये।
शचहुँ विरचे सुख नही, भूलित कबहु पत्यैये।"

(सूरदास, भाग 2, पृ० 1187)

तुलसीदास ने लिखा है :—

'डोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'

1. टाड, आपसिट जिल्द 2, पृ० 711
2. फिक्रफिरोजशाही, पृ० 1 0, उद्धृत के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 137 फुटनोट
3. वही।
4. ऐन अरेबिक हिस्ट्री ऑफ गुजरात, संपादित, ई डेनिसन रास, जिल्द 3, पृ० 877
5. आर० आर० दिवाकर, बिहार थ्रू दि एजेस, पृ० 414
6. वही।

में देवीदासपुर का गाँव 1981 में बेचा। दूसरी स्त्री भीकन दो गाँव बैंदोरा और बंदोरी की मालकिन थी।[1]

आर्थिक क्षेत्र में स्त्री अपने पति के साथ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थी। विवाह के समय पति को वचन देना पड़ता था कि वह अपने पत्नी के आर्थिक हितों की सदैव रक्षा करेगा। धार्मिक ग्रन्थों में सम्पत्ति के विभाजन पर स्त्रियों के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि 'स्त्रीधन' पर उनके अधिकार को स्वीकार किया गया है।[2] हिन्दू समाज में निम्न वर्ग की स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ विभिन्न क्षेत्रों में काम करती थीं। वे खेती के कार्य में हाथ बटाती थीं।[3] वे धनुष बाण भी बनाती थीं।[4] वे बुनाई, कसीदे और टोकरी बनाने का काम करती थीं। कुछ स्त्रियाँ राजप्रासादों में नियुक्त थीं।[5]

इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व हिन्दू[6] समाज में स्त्रियों की स्थिति अधिक निराशाजनक नहीं थी। यद्यपि स्त्रियों को प्राचीन काल में स्वतन्त्रता और सम्मान का अधिकार मिला हुआ था। परंतु धीरे-धीरे सामाजिक क्षेत्र में उनके अधिकार समाप्त हो गये और उनके पास कुछ नहीं बचा।[7]

विवाह

बचपन से ही लड़की को परिवार के बड़ों, बूढ़ों का सम्मान करने के लिये शिक्षा दी जाती थी। उससे अपने पति की ईश्वर के समान पूजा करने की आशा की जाती थी। उसे अपने पति के आदेशों का पालन करना पड़ता था।[8] उसे विपत्ति के समय अपने पति की लगन के साथ सेवा करना पड़ता था और पवित्र जीवन व्यतीत करते हुये अपने पतिव्रता-धर्म का पालन करना पड़ता था।[9] उसे अपने पति-गृहस्थी

1. अल्तेकर, पृ० 214-217
2. वही, पृ० 179
3. वही, पृ० 188
4. वही, पृ० 188
5. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 17, पृ० 24
6. रेखा मिश्रा—वीमेन इन मुगल इण्डिया, पृ० 5
7. वही, पृ० 5
8. "एकै धर्म एक व्रत नेमा, कार्य वचन मम पति पद प्रेमा"

—तुलसीदास-रामचरित मानस, पृ० 631-32

9. केशव, रामचन्द्रिका, भाग 1, पृ० 135; दादूदयाल वाणी, पृ० 95

के सभी कार्यों को करना पड़ता था। सुबह तड़के उठना पड़ता था और अनाज पीस-कर भोजन तैयार करके सबको भोजन परोसना पड़ता था।[1] कुआँ से पानी खींचना पड़ता था।[2] फर्श को मिट्टी से लीपकर झाड़ना पड़ता था। इस प्रकार उसका सारा समय घरेलू कार्यों में बीत जाता था।

लड़कियों के विवाह में दहेज देने की प्रथा थी, जिसके अंतर्गत माता-पिता गहने, कुर्सी-मेज, हाथी, घोड़े, विलास की वस्तु और नौकरानियां अपनी लड़कियों को देते थे। यह प्रथा धनी वर्ग के हिन्दू में अधिक थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण वर्ग में दहेज की प्रथा नहीं थी।[3] विदेशी यात्रियों ने इसका विस्तृत विवरण दिया है।[4] साधारणतया वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष से दहेज लेते थे। लेकिन कभी-कभी कन्या पक्ष के लोग भी वर पक्ष से दहेज प्राप्त करते थे। यह प्रथा निर्धन वर्ग में अधिक प्रचलित थी।[5] अधिकतर धनी लोग जो कम उम्र की कन्या से विवाह करना चाहते थे, कन्या पक्ष को दहेज देते थे। इस संदर्भ में कन्याओं के खरीदने की पद्धति उस समय थी।[6] मध्ययुग मे बंगाल में दहेज की प्रथा सबसे अधिक थी। वर को कभी-कभी कन्या की छोटी बहन को दहेज के रूप में दे दिया जाता था।[7] एक विशेषता यह थी कि शिशु के जन्म के दूसरे दिन स्त्री घूमने-फिरने लगती थी और घर का काम करने लगती थी। यदि यात्रा के समय शिशु जन्म लेता था तो दूसरे दिन घोड़े पर

---

1. जे० डुबायस, हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज, आक्सफोर्ड 18?4, पृ० 346, ट्रेवलस इन द सेवीन्टीथ सेन्चुरी, पृ० 117-118; आर सिंह, मैथिली लोकगीत, पृ० 59
2. के० डी० उपाध्याय, भोजपुरी ग्रामगीत, पृ० 132, 163, 166, 170
3. आईने अकबरी, जिल्द 3, पृ० 339
4. मनुची, जिल्द 3, पृ० 61; डी० पी० सिंह, भोजपुरी ग्राम गीत में करुण रस, पृ० 368
5. यह प्रथा आधुनिक उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रचलित थी—देखिये, रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 131
6. मनुची, जिल्द 3, पृ० 55
7. टी० सी० दास गुप्ता—ऐस्पेक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी, पृ० 34; के. दत्ता, हिस्ट्री आफ बंगाली सूबा, पृ० 71

सवार होकर यात्रा आरम्भ कर देती थी।[1] परन्तु यह निर्धन वर्ग के लिये अधिक सत्य था।[2]

पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग के विवाह की उम्र 30 और 12, 28 और 8, 30 और 10, 21 और 7 के अनुपात में थी। साधारणतया यह उम्र 3 और 1 के अनुपात में थी। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि योग्य वर न मिले तो लड़की का विवाह न किया जाय और यदि ऐसी परिस्थिति आ जाय तो अयोग्य वर के साथ विवाह करने की अपेक्षा उसे अपना सारा जीवन अपने पिता के यहाँ बिता देना चाहिये।[3] इसके विपरीत ऐसी भी धारणा थी कि युवा होने के पहले लड़की का विवाह कर देना चाहिये चाहे पति अयोग्य ही क्यों न हो।[4] यदि युवा होने के पहले योग्य वर न मिल सके तो स्वयंवर की प्रथा के द्वारा लड़की अपना वर स्वयं चुन लेती थी।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के भारत में आने के बाद बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई। अलबरूनी ने अपने विवरण मे इस पर प्रकाश नहीं डाला है।

डॉ० रेखा मिश्रा ने लिखा है कि हिन्दू समाज में बाल-विवाह मुगल काल की एक विशेषता थी।[6] लड़कियों का विवाह 9 या 10 वर्ष की उम्र में हो जाता था।[7] हिन्दू अपनी लड़कियों का विवाह इतनी कम उम्र में कर देते थे जब कि उन्हें बोलने भी नहीं आता था।[8] स्त्रियों का जीवन उनके घरों की चहारदीवारी तक सीमित था।[9] मध्य युग में विवाह के लिए कोई निर्धारित उम्र नहीं थी। हिन्दू और मुस्लिम

1. टेरी, अर्ली ट्रवेल्स, पृ० 309
2. रेखा मिश्रा, पृ० 132
3. पराशर माधव—जिल्द 1, पृ० 481-482
4. मदन पारिजात, पृ० 149-52; टेवर्नियर XXIV, पृ० 181, पी० एन० चोपड़ा सम ऐस्पेक्ट्स आफ सोसाइटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग दि मुगल एज 1526-1707। आगरा 1955, पृ० 41, पादटिप्पणी।
6. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 131
7. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 277
8. मनूची, जिल्द 3, पृ० 54-59—उसका कहना है कि ब्राह्मण अपनी लड़कियों का विवाह 4 या 5 वर्ष की उम्र में कर देते थे। कभी-कभी 10 वर्ष की उम्र में विवाह होता था लेकिन इसके आगे नहीं।
9. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 23

दोनों समाजों में लड़कियों के विवाह कम उम्र में हो जाते थे।[1] अकबर की इच्छा थी कि विवाह के समय लड़के की उम्र 16 वर्ष और लड़की की 14 वर्ष निर्धारित कर दी जाय लेकिन उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिली।[2]

पिता विवाह की सभी रस्मों को पूरा करता था। यह एक पारिवारिक मामला था और इसमें वर-वधू से कोई मतलब नहीं था।[3] विवाह तय हो जाने के बाद 'तिलक' या 'मँगनी' का रस्म अदा किया जाता था। उसके बाद शुभ मुहूर्त में लग्न निकाली जाती थी। विवाह के दिन वधू के घर में मण्डप फूलों और झण्डियों से सजाया जाता था।[4] बारात शान से संगीत-बाजे और झिलमिलाते हुए प्रकाश से सजा कर निकाली जाती थी। विवाह के समय पुरोहित मन्त्रों का पाठ करते थे और स्त्रियाँ विवाह गीत गाती थीं और इससे संबन्धित कई रस्में जैसे—द्वाराचार, कन्यादान, गाँठ, निछावर सप्तपदी पूरी की जाती थी।[5] आज भी यही प्रथा हिन्दू समाज में प्रचलित है। इस

---

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 146
   नानक का विवाह 14 वर्ष की आयु में हुआ था (एम० ए० मैकालिफ, दि सिख रिलीजन, जिल्द 1, पृ० 18-19); खिज्र खाँ और देवलरानी का विवाह 10 और 8 वर्ष की उम्र में हुआ (देवलरानी-खिज्र खाँ, पृ० 193) फिरोज तुगलक के समय में भी विवाह कम उम्र में होते थे (अफीफ, पृ० 180)
   उस समय यूरोप में अनेक विवाह कम उम्र में होते थे। कभी-कभी माता-पिता को अपने बच्चों को गोद में लेकर गिरजाघर जाना पड़ता था और वह अपने मुँह से प्रार्थना पुस्तक के शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते थे (देखिये, एल० एफ० सल्ज मन्न, इंग्लिश लाइफ इन दि मिडिल एजेज, पृ० 254)
2. आइने अकबरी–जिल्द 1, पृ० 201; ब्लाकमैन, जिल्द 1, पृ० 195
3. के० एम० अशरफ, पृ० 146
4. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—सर जी० ए० ग्रियर्सन, बिहार पीजन्ट लाइफ, पृ० 374–86
5. मलिक मोहम्मद जायसी, पद्मावत (हिन्दी), पृ० 124–26, देखिये, अहमद शाह, बीजक ऑफ कबीर, पृ० 120; इब्नबतूता ने लिखा है कि मुसलमानों ने जिल्द 2, पृ० 47–48; मुसलमानों में विधवा विवाह की प्रथा करीब-करीब समाप्त हो गई। यह हिन्दू समाज का प्रभाव है (एफ० डब्ल्यू० टामस, पृ० 77)

युग में दहेज की प्रथा थी। धनी परिवार में दहेज में बाँदियों के देने की प्रथा थी जो कि वर की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझी जाती थी।[1] यदि वधू की उम्र कम रहती थी तो उसे अपने पिता के यहाँ रहने दिया जाता था और बाद में गौना दिया जाता था।[2] यदि लड़की का विवाह किसी धनी परिवार में हो जाता था तो वह घर की चहारदीवारी में बन्द हो जाती थी और लोगों से उसका सम्पर्क समाप्त हो जाता था।[3]

सतीप्रथा

हिन्दू स्त्री की सबसे बड़ी विपत्ति उसके पति की मृत्यु थी मध्यकाल में निम्न वर्ग के लोगों को छोड़कर हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी।[4] विधवा को अपने पति के मृत शरीर के साथ जलना पड़ता था। ऐसा न करने पर उसे अपमानजनक और संकट का जीवन व्यतीत करना पड़ता था।[5]

समाज ऐसी विधवाओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। जो सती होने से इन्कार करती थीं।[6] उन्हें लम्बे बालों को रखने की अनुमति नहीं थी, वे अच्छे वस्त्र और आभूषण धारण नहीं कर सकती थीं।[7] स्वेच्छा से सती होने की प्रथा प्राचीन थी। लेकिन कालान्तर में विधवाओं के उनकी इच्छा के विरुद्ध आग में जलने के लिए विवश किया जाता था।[8] अधिकतर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य परिवार की स्त्रियाँ सती होती थीं।[9] सभी विदेशी यात्रियों ने इस प्रथा का वर्णन किया है।[10] ऐसा

---

1. टाड, जिल्द 2, पृ० 730–31
2. के० एम० अशरफ, पृ० 149
3. वही।
4. बदायूनी, जिल्द 2 (लोव), पृ० 367, इण्डियन ट्रेवेल्स, पृ० 119, 256, 257
5. मनुची, जिल्द 3, पृ० 60
6. बर्नियर, पृ० 314
7. मनुची, जिल्द 3, पृ० 61 : वैधव्य पूर्वजन्म के पापों के लिए दण्ड समझा जाता था। देखिये, बर्नियर, पृ० 314
8. बर्नियर ने 13 वर्ष की एक विधवा को बल पूर्वक सती होने की हृदय विदारक घटना का उल्लेख किया है, पृ० 313–314
9. रेखा मिश्रा, पृ० 133
10. विलियम फिंच, अर्ली ट्रेवेल्स, पृ० 20–22; एस पचीस जिल्द 3, पृ० 49, 50; डी लेट, पृ० 87-88; पेल्सर्ट, पृ० 78-79; टेवार्नियर; जिल्द 2, पृ० 168-69; पीटर मण्डी, जिल्द 2, पृ० 24-36

समझा जाता है कि बहुत सी स्त्रियाँ सती होने से इन्कार कर देती थीं।[1]

अलबरूनी ने लिखा है कि सती-प्रथा प्रचलित थी,[2] लेकिन विधवा को जलने को मजबूर नहीं किया जाता था। उसे छूट थी कि वह या तो सारा जीवन वैधव्य में काटे या अपने मृत पति के साथ चिता में जल जावे।[3] उसका कहना है कि अधिकतर वे पहला विकल्प ही चुनती थीं।[4] स्मृतियों के अनुसार विधवाओं को अपने मृत पति के साथ चिता में जल जाना अनिवार्य था।[5] यदि मृत शरीर मिल सकता था तो पत्नी चिता में जल जाती थी, इसे 'सहमरण' कहा जाता था।[6] यदि पति की मृत्यु कहीं दूर स्थान में होती थी तो उसकी हड्डियों के साथ विधवा अग्नि में जल जाती थी। यदि हड्डी उपलब्ध नहीं होती थी, तो सांकेतिक रूप से मृत पति का पुतला बनाया जाता था और विधवा उस पुतले के साथ जल जाती थी। इस प्रथा को 'अनु-मरण' कहा जाता था।[7] इस प्रथा को 'सह-गमन' और 'अनु-गमन' के नाम से भी पुकारा जाता था।[8] धार्मिक ग्रन्थों में उल्लेख है कि सती हो जाने वाली स्त्रियों को स्वर्ग प्राप्त होता है और इस प्रथा को मानने के लिए बन्धन नहीं है।[9] विधवा के लिये आत्मदाह ही कर्तव्य है।[10] यह प्रथा अधिकतर राजस्थान में और समाज के उच्च वर्ग में प्रचलित थी। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ इस प्रथा को नहीं मानती थीं।[11] वे केवल अपने पति के मृत शरीर के साथ मकान की देहली तक जाती थीं और उसके बाद परिवार के पुरुष वर्ग के लोग उसे श्मशान घाट को ले जाते थे।[12]

---

1. पेल्सर्ट, पृ० 80; बर्नियर, पृ० 306; देखिये, इन्डियन ट्रेवेल्स, पृ० 250-256
2. अलबरूनीज इण्डिया, सचाऊ-जिल्द 2, पृ० 151—52
3. वही।
4. वही।
5. मदन पारिजात, पृ० 196—203 देखिये, दि बुक ऑफ ड्वार्टे बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 222
6. वही।
7. के० एम० अशरफ, पृ० 152
8. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 591
9. दिल्ली सल्तनत, पृ० 591; के० एम० अशरफ, पृ० 153
10. पराशर माधव, जिल्द 3, पृ० 45—49
11. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 152
12. अहमद शाह, आपसिट, पृ० 130; मकालिफ, आपसिट जिल्द 1, पृ० 381

अबुल फजल ने लिखा है कि लोगों में यह धारणा थी कि दूसरे संसार में पति की आत्मा को एक स्त्री की आवश्यकता होती थी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा भारत में प्राचीन काल में प्रचलित थी।[2] यदि एक से अधिक पत्नियाँ हों तो मुख्य पत्नी अपने मृत पति के साथ एक चिता में और दूसरी सब पत्नियाँ अलग-अलग दूसरी चिताओं में जल जाती थीं।[3] कभी-कभी सभी पत्नियाँ आपसी कटुता और वैमनस्य को भूल कर अपने मृत पति के साथ एक ही चिता में जल जाती थीं।[4] सती होने से पहले विधवा स्नान कर सुन्दर वस्त्रों को धारण करके हाथ में एक नारियल और एक दर्पण लेकर घोड़े पर सवार होकर जुलूस में बाजे के साथ चलती थीं।[5] जिसमें साथ में एक पुरोहित भी चलता था। स्थान का चुनाव किसी झाड़ी के निकट तालाब के किनारे किया जाता था।[6] उस स्थान पर पहुँच कर विधवा अपने सुन्दर वस्त्रों को उतार कर एक सादा वस्त्र धारण करके अग्नि देवी की पूजा करते हुए आग की लपटों में समा जाती थी।[7] ठीक उसी समय नगाड़े और रणभेरी बजाये जाते, जिससे लोगों का ध्यान उस हृदयविदारक दृष्टि से हट जावे।[8] इसके बाद दर्शक चिता में लकड़ी के लट्ठे फेंकते थे जिससे कि विधवा घबराकर भाग न सके।[9] इब्न-

---

1. आइने अकबरी, जिल्द 3, पृ० 191—92; देखिये विलियम क्रुक, रिलीजन और फाकलोर ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 153; ए० के० कुमारस्वामी, सती, पृ० 8
2. के० एम० अशरफ, पृ० 153।
   थामसन ने लिखा है कि सती की प्रथा को पंजाब में सिकन्दर के सिपाहियों ने देखा था (सती, पृ० 19)
3. जान फ्रेम्पटन, मार्कोपोलो, पृ० *127*
4. वही, चित्तौड़ के राजा रतनसेन की दोनों पत्नियाँ अपने मृत पति के साथ एक ही चिता में जली थीं। (पद्मावत--हिन्दी पृ० 295)
5. किताबुररेहला, जिल्द 2, पृ० 13--*14*
6. वही।
7. वही।
8. वही।
9. वही।
   अमीर खुसरो ने सती प्रथा की सराहना की है (देखिये इस्लामिक कल्चर, जिल्द 30, 1945, पृ० 5--5; किरानुस्सदामन, पृ० 31)

बतूता ने लिखा है कि 'तमाशा' देखने के लिए जनसाधारण वहाँ इकट्ठा हो जाते थे।[1] यह प्रथा इतनी प्राचीन थी कि मुस्लिम शासकों ने इसे रोकने का प्रयास नहीं किया। उन्हें ऐसा भय था कि यदि कानून बनाकर इसे रोका गया तो ईश्वर का क्रोध उनके ऊपर टूट पड़ेगा और वे नष्ट हो जावेंगे।[2] इब्नबतूता ने लिखा है कि दिल्ली के सुल्तानों ने एक नियम बनाया था कि विधवा को जलाने के लिए राज्य से एक अनुमति पत्र लेना अनिवार्य था।[3] डॉ० अशरफ का कहना है कि इसका उद्देश्य यह था कि विधवाएँ कम संख्या में जलायी जायँ और कुछ परिस्थितियों में अनुमति भी नहीं दी जाती।[4] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सभी को राज्य की तरफ से अनुमति दे दी जाती थी।[5] इस अमानुषिक प्रथा को समाप्त करने के लिए कोई नियम नहीं बनाया गया। हुमायूँ ने साहस से काम लिया और यह आदेश दिया कि यदि विधवा अधिक उम्र के कारण सन्तान उत्पत्ति के योग्य नहीं है तो उसे चिता में जलाया नहीं जा सकता, चाहे वह स्वेच्छा से ऐसा करने के लिए तैयार हो।[6] बाद में हुमायूँ ने अपने आदेश में संशोधन कर लिया क्योंकि उसे समझाया गया कि किसी के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप करने से उसके और उसके परिवार के ऊपर प्रलय गिरने की सम्भावना हो सकती है।[7] हुमायूँ ने राज्य से ऐसा करने के लिये अनुमति पत्र लेना पहले की तरह अनिवार्य रखा।[8] राज्य के अधिकारी घटनास्थल पर मौजूद रहते थे जिससे वे इस बात की जाँच कर सकें कि विधवा पर आत्मदाह करने के लिये दबाव नहीं डाला गया है।[9]

अकबर ने सती प्रथा को रोकने के लिये एक आदेश जारी किया। उसका निर्देश था कि सती होने के लिये किसी विधवा को विवश न किया जाये।[10] जहाँगीर

---

1. किताबुररेहला, जिल्द 2, पृ० 13
2. के० एम० अशरफ, पृ० 158
3. किताबुर रेहला, जिल्द 2 पृ० 13
4. किताबुर रेहला, जिल्द 2, पृ० 13
5. के० एम० अशरफ, पृ० 157
6. वही।
7. वही, पृ० 158
8. वही।
9. ए० वाम्ब्री—सीदी अली रईस, ट्रेवेल्स एण्ड एडवेन्चर्स ऑफ टर्किश एडमिरल, पृ० 60
10. बदायुनी, जिल्द 2, पृ० 388

ने भी इस प्रथा को रोकने के लिये निर्देश दिया। लेकिन उसे इस प्रथा को रोकने में सफलता नहीं मिली। उसका यह आदेश कम उम्र की विधवाओं को सती होने से रोकने के लिये था।[1] सन् 1663 ई० में औरंगजेब ने सती प्रथा को समाप्त करने के लिये आदेश दिया।[2] फिर भी जिन विधवाओं के कोई सन्तान नहीं थी उन्हें सती होने की अनुमति दी जाती थी और जिनके सन्तान रहती थी उन्हें ऐसा नहीं करने दिया। जाता था।[3] इतने प्रयासों के बावजूद मुगलकाल में सती प्रथा को समाप्त नहीं किया जा सका।[4] इस प्रथा के बने रहने के कई कारण थे। प्रथम विधवा जो आत्मदाह करती थी उसकी प्रशंसा की जाती थी।[5] द्वितीय जो आत्मदाह से इनकार करती थीं उसे समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उसे अपने पति के प्रति निष्ठावान नहीं समझा जाती थी।[6] तृतीय समाज में विधवा की स्थिति इतनी खराब थी कि आग में जल जाना अपमान के जीवन से कहीं अच्छा समझा जाता था।[7] अन्त में कभी-कभी विधवा के ऊपर आर्थिक दबाव डाला जाता था कि वह आत्मदाह करे उससे कहा जाता था कि वह दहेज की रकम वापस करने या आत्मदाह में से कोई एक चुन ले। यदि वह आत्मदाह से इनकार करती थी तो दहेज की राशि उससे ले ली

---

1. विलियम हाकिंस, अर्ली ट्रैवेल्स, पृ० 119
2. मनूची का कहना है कि औरंगजेब का निर्देश था कि कहीं भी मुगल--प्रदेश में किसी विधवा को सती न होने दिया जाये (जिल्द 2, पृ० 97)
3. मनूची ने लिखा है कि एक राजपूत राजा की प्रमुख रानी को सती नहीं होने दिया गया क्योंकि उसके पुत्र थे। (जिल्द 3, पृ० 156)
4. रेखा मिश्रा, पृ० 134
5. सर हेनरी यूल, दि बुक आफ सर मार्कोपोल, जिल्द 2, पृ० 341
6. वही; देखिये, बर्निमर्स ट्रैवल्स (कोन्सटवेल) पृ० 310–11
7. किताबुर रेहला, जिल्द 3, पृ० 13; बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 219-20
   —पेरो तेफूर ने एक विधवा के जीवन का वर्णन किया है कि आत्मदाह से इनकार करने पर उसे किस प्रकार सामाजिक उत्पीड़न से ऊब कर बेबीलोनिया भाग जाना पड़ा (ट्रैवल्स एण्ड एडवेंचर्स, पृ० 91)
   अबुल फजल ने एक विधवा जो आत्मदाह के लिये तैयार न थी, उसकी दयनीय दशा का वर्णन किया है। उसे समाज में इतना सताया गया कि उसने आग में जल जाना अपमान के जीवन से कहीं अच्छा समझा (आइने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 192)

जाती थी और उसकी सन्तान का अधिकार भी इस धन से समाप्त हो जाता था।[1]

राजस्थान में सती प्रथा का अधिक महत्व था। जब राजपूत सरकार युद्ध में हारने लगते थे तो अपने आदमियों को निर्देश देते थे कि उनके परिवार की स्त्रियों को मकान में बन्द कर उसमें आग लगा दे।[2] कुछ दृष्टांत ऐसे मिलते हैं कि स्त्रियों ने आत्मदाह अपने पतियों के प्रति निष्ठावान होने के प्रमाण में किये।[3] अबुल फजल ने सती होने वाली स्त्रियों का वर्गीकरण किया है—वे जो आत्मदाह के लिए विवश की जाती थीं; वे जो स्वेच्छा से आत्मदाह करती थीं और अपने पति के प्रति विश्वसनीय होने का परिचय देती थीं; वे जो समाज में अपकीर्ति के विचार से ऐसा करती थीं; वे जो परिवार की रीति और परम्पराओं के अनुसार कार्य करती थीं और वे जो संबंधियों द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती खींच कर आग में डाल दी जाती थीं।[4] सती प्रथा ने इस्लामी समाज को भी प्रभावित किया।[5]

जौहर

'जौहर' शब्द की उत्पत्ति, 'जतुगृह' से हुई है जिसका तात्पर्य लाख से बनाया हुआ घर है, जिसका उल्लेख महाभारत में है।[6] जौहर की प्रथा राजस्थान में प्रचलित थी। जब राजपूत सरदार मुसलमानों के द्वारा युद्ध में पराजित होने लगते हैं तो वे अपने परिवार की स्त्रियों और बच्चों को एक मकान में रखकर उसमें आग लगवा देते हैं।[7] इसके पश्चात् राजपूत युद्ध के मैदान में शत्रु पर भीषण प्रहार करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देते थे। इस युग में जौहर के कई दृष्टान्त मिलते हैं। रणथम्भोर के राणा हमीर देव ने जौहर (आत्मदाह) किया जब वे जान गये कि युद्ध में वे अला-

1. पेरो तेफूर, आपसिट, पृ० 91
2. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 157
3. हमीर देव के परिवार की स्त्रियों ने आत्मदाह अपनी स्वेच्छा से किया—विद्यापति ठाकुर, पुरुष परीक्षा-अनुवाद-नेरूकर, पृ० 13
4. आइने अकबरी, जिल्द 2, प्र० 192-93
5. जब ऐनुलमुल्क मुहम्मद तुगलक द्वारा युद्ध में पराजित हुआ तो यह अफवाह फैल गई कि उसकी मृत्यु हो गई। यह सुनकर उसकी पत्नियाँ हिन्दू सती-प्रथा के अनुसार आत्मदाह करने जा रही थीं, (रेहला, पृ० 105)
6. महाभारत 1, पृ० 142-51; कौरवों ने पाण्डवों को लाक्षागृह में रखकर जलाने का प्रयास किया था।
7. टाड, जिल्द 1, पृ० 310-11

उद्दीन खिलजी से पराजित हो जायेंगे।[1] कम्पिल के राजा ने जौहर किया जब मुहम्मद तुगलक ने उस पर आक्रमण किया क्योंकि उसने सुल्तान के विद्रोही अमीर बहाउद्दीन गुरशस्प को शरण दी थी।[2] इब्नबतूता ने लिखा है कि स्त्रियाँ स्नान के बाद अपने बदन पर चन्दन का लेप लगाकर अग्नि में भस्म हो गईं।[3]

बाबर के शासन काल में चन्देरी के मेदिनी राय ने मुगलों से पराजित होने के बाद अपने परिवार की सभी महिलाओं और बच्चों को मार डाला। मेदिनी राय के समर्थक सभी राजपूतों ने ऐसा ही किया। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि एक व्यक्ति एक तलवार लेकर ऊँचे चबूतरे पर रहे और राजपूत एक-एक करके आगे गये और उन्होंने अपनी गर्दन कटवा दी।[4] स्वाभिमानी राजपूत शत्रु के हाथों अपमानित होना और अमानुषिक व्यवहार से बचने के लिए ऐसा करते थे। इसके अतिरिक्त मध्ययुग में कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता नहीं था जिसके अन्तर्गत युद्ध बन्दियों के साथ शिष्ट व्यवहार करना अनिवार्य हो।[5]

शेरशाह ने रायसेन के राजपूत शासक पूरनमल के साथ निर्मम व्यवहार किया। पूरनमल को पहले शेरशाह ने सुरक्षापूर्वक किले से बाहर जाने के लिए आश्वासन दिया था। परन्तु बाद में उसने अपने वचन का पालन नहीं किया। जैसे राजपूत किले से बाहर आने लगे शेरशाह ने उन पर आक्रमण कर दिया। ऐसी परिस्थिति में राजपूतों ने अपनी स्त्रियों और बच्चों को जान से मार डाला। किसी प्रकार पूरनमल का एक पुत्र और पुत्री बच गयी। शेरशाह ने लड़के को नपुंसक करवा दिया और पुत्री को किसी नाचने गाने वाले परिवार में भेज दिया।[6] जौहर की इस प्रथा ने मुस्लिम समाज को भी प्रभावित किया। जब तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया और कत्लेआम करना शुरू किया तो बहुत से मुसलमानों ने तैमूर के क्रोध से बचने के लिए जौहर किया।

---

1. अमीर खुसरो, खजायनुलफ़ुतूफ, पृ० 24; के० एम० अशरफ पृ० 159
2. रेहला, पृ० 95
3. वही।
4. तुजके बाबरी, इलयिट, जिल्द 4, पृ० 277
5. टाड, जिल्द 2, पृ० 744
6. वही, जिल्द 2, पृ० 744

शेरशाह द्वारा कन्नौज की लड़ाई में पराजित होने के बाद हुमायूँ की पत्नी अकीका बेगम शेरशाह के अधिकार में आ गई। हुमायूँ पश्चाताप कर रहा था कि उसे अपनी बेगम को जान से मार देना चाहिये था।[1] अबुल फजल ने चित्तौड़ पर मुगलों के अधिकार के बाद वहाँ जौहर के विषय में लिखा है–"यह एक प्राचीन प्रथा थी चंदन आदि सुगन्धित लकड़ियों का एक ढेर बनाया जाता था और उसमें सूखी लकड़ी और तेल डाल दिया जाता था। उसके बाद राजपूत लोग कड़े दिल वाले व्यक्तियों को देख-रेख में अपनी स्त्रियों को रख देते थे। जैसे ही युद्ध में राजपूतों की पराजय और उनकी मृत्यु का समाचार मिलता था, ये लोग उन असहाय स्त्रियों को जलाकर भस्म कर देते थे"[2]। जब बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया (मार्च 1535) रानी कर्णवती ने हजारों राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर का रस्म अदा की।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में मुसलमानों द्वारा युद्ध में पराजित होने की परिस्थिति में राजाओं ने जौहर प्रथा के प्रति अपनी रुचि नहीं दिखलाई। तेलंगाना के राजा जौहर प्रथा के विरुद्ध थे, जबकि मुसलमानों द्वारा पराजित होने के बाद उसके सभी समर्थक इसके लिये तैयार थे।[4]

दासप्रथा

मध्ययुग में दासता की प्रथा प्रचलित थी। इब्नबतूता के विवरण से पता चलता है कि राज्य द्वारा बहुत सी दासियों की व्यवस्था की जाती थी, जो राज्य की तरफ से दूसरे देशों के शासकों को भेंट स्वरूप भेजी जाती थीं। मुहम्मद तुगलक इन दासियों को अमीरों और अपने संबंधियों में बँटवाता था। मुहम्मद तुगलक ने चीन के सम्राट को हिन्दू समाज से 100 पुरुष वर्ग के दास, 100 दासियाँ जो नृत्य और संगीत में प्रवीण थीं भेजा।[5] डॉ० यू० एन० घोषाल ने लिखा है कि मुसलमानों को अधिक संख्या में हिन्दू–स्त्रियों को गुलाम बनाने में अधिक प्रसन्नता होती थी। कभी-कभी इन दासियों को जिनमें राजकुमारियाँ भी होती थीं दरबार में और अमीरों की महफिल में नाचने-गाने के लिये विवश किया जाता था।[6] निजामुद्दीन अहमद ने

1. गुलबदन बेगम, हुमायूँनामा, सम्पादित–ए० एस० बेवरिज, पृ० 46
2. अकबरनामा, अनुवाद, बेवरिज, जिल्द 5, पृ० 472
3. ईश्वरी प्रसाद, लाइफ एण्ड टाइम्स आफ हुमायूँ, कलकत्ता, 1956, पृ० 71-72
4. खजायनुल फुतूह, पृ० 40, के० एम० अशरफ, पृ० 161
5. रेहला, पृ० 63 और 151
6. दिल्ली सल्तनत, पृ० 582

लिखा है कि मुस्लिम सैयद स्त्रियों को राजपूतों ने दासियों के रूप में परिवर्तित किया। उन्हें नृत्य और संगीत की शिक्षा दी गयी और उन्हें अखाड़ा में सम्मिलित होने के लिये विवश किया जाता था।[1]

स्मृतियों के अनुसार दास और दासियों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—जैसे जन्म से, खरीद करके, प्राप्त करके और उत्तराधिकार में प्राप्त करके। पाँचवीं श्रेणी में वे हैं जो अपने को बेच देते थे।[2] मालिक द्वारा इन सभी श्रेणियों के दासों को दासता के बन्धन से मुक्त किया जा सकता था, यदि दास मालिक की जान बचाने में सहायक हो या कोई अन्य महत्वपूर्ण कार्य करे।[3] दासता दक्षिण भारत में विजय नगर राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था थी।[4]

देवदासी प्रथा

हिन्दू मन्दिरों में इस युग में देवदासी की प्रथा प्रचलित थी। अलबरूनी ने लिखा है कि पुरोहितों ने इस प्रथा का विरोध किया। परन्तु राजा सुन्दर स्त्रियों को भक्ति संगीत के लिये प्रमुख मन्दिरों में रखने का पक्षपाती था। इस प्रथा के कारण मन्दिरों द्वारा अर्जित धन राज्य को राजस्व के रूप में मिलता था।[5] विदेशी यात्रियों के विवरण और अभिलेखों से पता चलता है कि मन्दिरों में देवदासियाँ बहुत अधिक समय से भक्ति-संगीत की गायिका रही हैं।[6] एस० एम० जाफर ने देवदासियों को वेश्याओं की संज्ञा दी है जो सर्वथा अनुचित है। उन्होंने कहा है कि अलाउद्दीन खिलजी के समय में इनकी संख्या अधिक हो गई थी। इस स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से सुल्तान ने वेश्याओं को विवाह करने पर विवश किया।[7]

1. तबकाते अकबरी, पृ० 597
2. विवाद रत्नाकर,पृ० 139; पराशर माधव, जिल्द, 3, पृ० 238; व्यवहार सार पृ० 152; विवाद चन्द्र, पृ० 46; विवाद चिन्तामणि, पृ० 63; व्यवहार काण्ड, पृ० 291
3. दिल्ली सल्तनत, पृ० 583
4. वही, देखिये एच० जी० रालिन्सन—इण्डिया, ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ० 38
5. अलबरूनीज इण्डिया, सचाऊ, जिल्द 2, पृ० 151-52
6. बी० ए० सेलीटोर, सोशल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन दि विजयनगर एम्पायर, जिल्द 2, पृ० 166 और 362; टी० वी० महालिंगम-एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोशल लाइफ अण्डर विजयनगर, पृ० 262
7. एस० एम० जाफर—सम कल्चरल ऐस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 184

स्त्रियों की सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में भूमिका

किसी भी काल की संस्कृति का मूल्यांकन उस समय की स्त्रियों की स्थिति से लगाया जा सकता है। प्राचीन काल में ऐसे दृष्टान्त मिले हैं कि स्त्रियों ने राज्य का प्रशासन अपने हाथ में लिया। पूर्व मध्यकालीन युग में हर्ष के समय में उसकी बहिन-राज्यश्री अपने पति की मृत्यु के उपरान्त अपने भाइयों के साथ राज्य के प्रशासनिक कार्यों में मन्त्रणा देती थी। राज्य दरबार में आदर का स्थान प्राप्त था।[1] राजपूत काल में राजकीय परिवारों की लड़कियों को प्रशासन कार्यों का प्रशिक्षण दिया जाता था।[2] इससे पता चलता है कि स्त्रियाँ पुरुष वर्ग के अधीन नहीं थीं। काश्मीर और दक्षिण भारत में भी कई दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ स्त्रियों ने देश की बागडोर अपने हाथ में ली काकतीय राज्य की रदम्बा ने 40 वर्ष तक राज्य किया।[3] राजमहलों में स्त्रियाँ परिचायकों के रूप में कार्य करती थीं। वे अंग-रक्षकों के पद पर भी नियुक्त की जाती थीं। हर्ष के समय में वे महलों की देखभाल के लिये 'प्रतिहारी' के पद पर रखी जाती थीं। वे राजकीय छत्र और पुष्पदान को धारण करती थीं और चौरी घुमाती थीं।[4] वे पान और फूल भी महल में लोगों को पहुँचाती थीं। राजमहल के उत्सवों में संगीत व नृत्य में भाग लेती थीं। कभी-कभी उनका उपयोग शत्रु के प्रदेश में गुप्तचरों के रूप में भी किया जाता था।[5] वे राजा के साथ शिकार पर भी जाती थीं।[6]

---

1. ए० एल० बाशम, दि वन्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० 91
2. चौलुक्य वंश की विजया भट्टारिका (7वीं सदी), काश्मीर की सुगन्धा और दिद्दा (दसवीं सदी) ने अपने राज्य का प्रशासन सुचारु रूप से चलाया। देखिये, ए० एस० अल्तेकर—दि पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिबिलिजेशन, पृ० 21, 187; —1193 ई० में युद्धस्थल में पृथ्वीराज के साथ समरसी की मृत्यु के उपरान्त उसकी पत्नी कूर्मा देवी ने मेवाड़ का प्रशासन अपने हाथ में लिया और कुत्बुद्दीन ऐबक में आक्रमण को विफल कर दिया—जेम्स टाड, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 303-4; अल्तेकर, आपसिट, पृ० 187
3. आर० आर० दिवाकर—थ्रू दि एजेज पृ० 414
4. अल्तेकर, आपसिट, पृ० 182; जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 17, 1938, पृ० 24
5. विष-कन्याओं का प्रयोग शत्रु को विष देने के लिये किया जाता था। देखिये, सी० बी० वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडिवल इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 6
6. आर० एन० सेलीटोर—लाईफ इन गुप्ता एज, बम्बई, 1943, पृ० 182

मुगलकाल में राणासांगा की पत्नी रानी कर्णवती का नाम प्रसिद्ध है। उसने अपने पति को अधिक प्रभावित किया। उसने अपने दो पुत्रों, विक्रम और ऊद के लिये बड़ी-बड़ी जागीरें सुरक्षित करवाईं।[1] उसने बाबर से सम्पर्क स्थापित किया जिससे उसकी सहायता से वह मेवाड़ की गद्दी पर अपना प्रभाव बनाये रख सके। इस कार्य में वह असफल हुई।[2] सन् 1531 में उसका पुत्र विक्रमादित्य मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जो निकम्मा था। उसे अभिजात वर्ग और जनता का सहयोग न मिला। ऐसे समय में रानी कर्णवती ने प्रशासन का कार्य अपने हाथ में लिया।[3] बहादुर शाह के आक्रमण से स्थिति बिगड़ गई। उसने हुमायूँ को राखी भेजी और सहायता की प्रार्थना की लेकिन उसे सहायता नहीं मिल सकी। अन्त में रानी ने जौहर किया और चित्तौड़ पर बहादुर शाह का अधिकार हो गया।[4]

रानी दुर्गावती अपनी पति की मृत्यु के बाद (1548) अपने नाबालिग पुत्र वीर नरायन की संरक्षिका बनी और राज्य का शासन अपने हाथ में लिया।[5] जब तक वह प्रभावशाली रही उसके राज्य में कोई विद्रोह नहीं हुआ। अबुलफज्ल ने उसकी सराहना की है और लिखा है कि बाजबहादुर के विरुद्ध युद्ध में वह सदैव सफल रही।[6] उसने अकबर के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं किया। वह अकबर के विरुद्ध युद्ध में वीरता से लड़ी। पराजित होने के भय से उसने आत्महत्या कर ली (1564)।[7]

स्त्री शिक्षा

मध्यकाल में हिन्दू समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा गिर गई थी। प्राचीन काल से ही स्त्रियों को शिक्षा देने पर कुछ प्रतिबन्ध थे। उन्हें वेदों के अध्ययन की मनाही थी। पर्दा और बाल विवाह के कारण उनकी स्वतंत्रता सीमित हो गई, इसीलिए उन्हें

---

1. जी० एन० शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० 46-47
2. बाबरनामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 612-613
3. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 23
4. जी० एन० शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स पृ० 55-57; ओझा, उदयपुर का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 398-99
5. अकबरनामा, जिल्द 2, पृ० 326; केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 4, पृ० 87
6. अकबरनामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 327
7. वही, पृ० 330

अधिक शिक्षा न मिल सकी ।[1] घर में उन्हें उतनी ही शिक्षा मिल पाती थी जितने की उन्हें गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में आवश्यकता पड़ती थी ।[2] मनु ने कहा है कि पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी को धन के जुटाने और खर्च करने में, घर को साफ-सुथरा रखने में, धार्मिक कृत्यों के करने में, भोजन पकाने में और घर के बर्तनों की देखभाल में लगाये ।[3] स्त्री को इस प्रकार की शिक्षा उसे अपनी मां द्वारा घर में मिलती थी । विवाह के बाद उसे पति के घर में इसी प्रकार की शिक्षा अपने सास द्वारा मिलती थी । परिवार के आय और व्यय का हिसाब रखने से उसे केवल मौखिक गणित का ही ज्ञान हो पाता था ।[4] इस प्रकार उन्हें केवल घरेलू और काम काज संबंधी शिक्षा ही मिल पाती थी । मेगस्थनीज ने एक स्थान पर लिखा है कि ब्राह्मण अपनी स्त्रियों को दर्शन शास्त्र की शिक्षा नहीं देते थे, परन्तु इस नियम में कभी-कभी ढील दे दी जाती थी ।[5] हिन्दू स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा सामान्यतः नहीं थी फिर भी उन्हें साहित्य, दर्शन, शास्त्र, धर्म और तर्कशास्त्र के अतिरिक्त संगीत और नृत्य में शिक्षा दी जाती थी ।[6] वास्तव में धनी परिवार की हिन्दू और मुस्लिम महिलाओं को अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं । सामान्यतया स्त्रियाँ निरक्षर थीं ।[7]

मध्य काल में लड़कियों के लिये अलग स्कूल नहीं थे । कभी लड़के और लड़कियाँ एक ही स्कूल में पढ़ते थे ।[8] इससे पता चलता है कि लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम नहीं थे ।[9] परन्तु धनी लोगों ने अपनी पुत्रियों को पढ़ाने के लिए घर पर अध्यापक की व्यवस्था की होगी ।[10] इस युग में कुछ दृष्टान्त ऐसे मिले

1. एम० एन० ला, प्रमोशन आफ लर्निंग इन इण्डिया, पृ० 200; यदुनाथ सरकार, स्टडीज इन मुगल इण्डिया, कलकत्ता 1919, पृ० 301
2. एफ० ई० की, ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० 73; एम०एल० भार्गी, मेडिवल इण्डिया, कल्चर एण्ड थाट, अम्बाला, 1965, पृ० 361
3. मनु, ix, 11
4. एफ० ई० की, आपसिट, पृ० 74
5. एफ० ई० की, पृ० 75
6. एम० एल० भार्गी, पृ० 361
7. वही ।
8. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 113
9. वही ।
10. वही ।

हैं जिससे पता चलता है स्त्रियों को उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। भरतचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'विन्ध्य सुन्दरी' में लिखा है कि राजकुमारी विद्या बहुत ही विदुषी महिला थी। उसने अपने होने वाले पति से दर्शन और धर्म से संबंधित जटिल प्रश्नों और समस्याओं पर शास्त्रार्थ किया।[1] दूसरी स्त्री इच्छावती साहित्य, कविता और संगीत में प्रवीण थी। रुक्मिणी व्याकरण, पुराण, स्मृति शास्त्र, वेदों और वेदांगों में पारंगत थी।[2] ऐसे ही कई दृष्टांत दिये जा सकते हैं। मध्ययुग में नर्तकियाँ थीं जो मान-विद्या और संगीत में निपुण थीं। इसके अतिरिक्त कुछ राजकीय परिवारों ने गायन विद्या में रुचि दिखलाई। पूरनमल की पत्नी हिन्दी में सुन्दर गीत गाती थी।[3] मानसिंह की पत्नी मृगनयनी संगीत में निपुण थी।[4] केशवदास, जो अकबर और जहांगीर के समकालीन थे, ओरछा के राजा इन्दर सिंह के दरबार की छः नर्तकियों का उल्लेख किया है।[5] ऐसे ही नर्तकियों के दृष्टांत बंशीदास के 'मानसमंगल' धनराम चक्रवर्ती के 'धर्ममंगल' और दूसरे विद्वानों की कृतियों से मिलते हैं।[6]

भक्ति आन्दोलन के निर्गुण ईश्वर में आस्था रखने वाली बहुत सी कवयित्रियों के उल्लेख मध्य युग में मिलते हैं। प्राणनाथ कवि की पत्नी इन्दुमती ने सन् 1549 में कुछ दोहे लिखे।[7] अकबर ने शासनकाल में कई स्त्रियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने कवितायें लिखीं, जैसे गंगा, जमुना, कालमशी देवी, रानरुधारी और नवला-देवी। परन्तु इनकी विस्तृत जानकारी नहीं मिलती।[8] स्त्रियों की कविताएँ लिखने की परम्परा बनी रही। 18वीं सदी में भी कुछ नाम मिलते हैं जिनकी ख्याति बढ़ी। उनमें दया बाई का नाम लिया जा सकता है, जिसने 18वीं सदी के मध्य में कवितायें लिखीं। उनकी लिखी दो पुस्तकें—'दयाबोध' और 'विनय मालिका' आज भी

---

1. वही।
2. ए० एल० श्रीवास्तव, पृ० 113
3. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 402
4. उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 204
5. वही, पृ० 114
6. वही।
7. सावित्री सिनहा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, दिल्ली 1953, पृ० 83; रेखा मिश्रा, पृ० 139
8. रसाल, साहित्य प्रकाश, 1931, पृ० 109

प्रसिद्ध हैं।[1] दयाबाई की समकालीन सहजो बाई थी जिसने 'सहज प्रकाश' नाम की पुस्तक लिखी।[2] सगुण ईश्वर में विश्वास रखने वाली, कृष्णमार्गी कवयित्रियों में उदयपुर के राणा भोज की पत्नी मीरा बाई प्रमुख हैं। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जैसे नरसी जी का महरा, गीत गोविन्द की टीका, राग गोविन्द, गर्वगीत स्फुट-पद और मीरा के पद।[3] इस मार्ग की दूसरी कवयित्री अकबर की समकालीन बावरी सहिब थीं, जो भैयानन्द की शिष्या थीं। उन्होंने कई पद लिखे। वे हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में पारंगत थीं।[4] इनके अतिरिक्त कृष्णमार्गी कवयित्रियों में गंगा बाई जिनकी पुस्तक 'गंगा बाई के पद' और सोन कुमारी जो जो आम्बेर की राजकुमारी थीं और जिन्होंने 'स्वर्णबेली की कविता' नामक पुस्तक लिखी, के नाम उल्लेखनीय हैं।[5] एक मुस्लिम महिला जिसका नाम ताज था (सत्रहवीं सदी) कृष्ण की भक्त थी। उसने ब्रज भाषा में कविताएँ लिखीं।[6] राममार्गी कवयित्रियों में ओरछा राज्य की मधुर अली और बंगाल की चन्द्रावती का नाम उल्लेखनीय है। मधुर अली ने 'राम चरित', 'गणेश देवलीला' नामक पुस्तकें लिखीं।[7] चन्द्रावती प्रसिद्ध कवि बंसी-दास की पुत्री थी। उसने एक रामायण की रचना की, जो मोलिकता और सुन्दर काव्य के लिये प्रसिद्ध है।[8]

मुगलकाल में रीति कालीन कवियों का उदय हुआ, जिन्होंने स्त्रियों के शृंगार पर कवितायें लिखीं। बहुत सी स्त्रियों ने भी शृंगार पर कवितायें लिखीं, जिनमें

---

1. सावित्री सिनहा, पृ० 67; रेखा मिश्रा पृ० 139
2. वही, पृ० 51-52
   दया बाई और सहजो बाई दोनों स्त्रियाँ चरण दास की शिष्या थीं।
3. सावित्री सिनहा, आपसिट; पृ० 105, 131–132 उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 246
4. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 140
5. गंगाबाई विट्ठलदास की शिष्या थीं। उनके जीवन विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।
6. सावित्री सिनहा, आपसिट, पृ० 192
7. वही, पृ० 222
8. टी० सी० दास गुप्ता, ऐस्पेक्ट्स ऑफ बेंगाली सोसाइटी फ्राम ओल्ड बेंगाली लिट-रेचर, कलकत्ता, 1947 पृ० 201

(16वीं, 17वीं सदी) प्रवीण राय पटूर, रूपमती और तीन तरंग प्रमुख थीं।[1] प्रवीण राय पटूर ओरछा के राजा इन्दजीत के दरबार की नर्तकी थी। वह स्वरचित गीत गाती थी।[2] उसकी कवितायें उसकी विद्वत्ता और मौलिकता की परिचायक थीं।[3] रूपमती सारंगपुर की एक वेश्या की पुत्री थी। उसकी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।[4] तीन तरंग ने ओरछा के राजा मधुकर शाह के संरक्षण में कवितायें लिखीं।[5]

अनेक हिन्दू स्त्रियों ने विविध विषयों पर कवितायें लिखीं। सन्त तुलसीदास की पत्नी रत्नावली ने दोहे लिखे।[6] सत्रहवीं सदी में उन्नाव की रहने वाली खगनिया ने पहेलियाँ लिखीं, जो अधिक लोकप्रिय हुईं।[7] सत्रहवीं सदी के प्रमुख हिन्दी कवि केशवदास की पुत्रवधू ने कवितायें (सवैये) लिखे।[8] सत्रहवीं सदी के अन्त में बूंदी के राजा बुध सिंह के दरबारी लोकनाथ चौबे की पत्नी कविरानी ने कवितायें लिखीं।[9]

राजस्थान की कुछ स्त्रियों ने डिंगल भाषा में कवितायें लिखीं। इनका मुख्य उद्देश्य राजकीय परिवारों की महिलाओं का मनोरंजन करना था।[10] चम्पा रानी, जिसका विवाह बीकानेर के राजा के भाई पृथ्वीराज से हुआ था, कविताएँ लिखती थीं और कविता लिखने के कार्य में अपने पति की सहायता करती थी, परन्तु उसकी कृति उपलब्ध नहीं है।[11] उसने 16वीं सदी के अन्त में कविताएँ लिखीं।[12] इसी काल की डिंगल भाषा की प्रमुख कवयित्री पद्मा चारिणी थीं। वह चरणमल जी साहू की

1. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ॰ 141-42
2. सावित्री सिनहा, पृ॰ 239-40
3. वही, पृ॰ 240-41
4. वही, पृ॰ 248
5. कोकशास्त्र ग्रंथ उसके द्वारा लिखा गया—देखिये, सावित्री सिनहा, पृ॰ 252; रेखा मिश्रा, पृ॰ 142, फुटनोट
6. सावित्री सिनहा, पृ॰ 280; रेखा मिश्रा पृ॰, 142
7. वही, पृ॰ 287
8. वही, पृ॰ 288
9. वही, पृ॰ 289
10. वही, पृ॰ 28
11. वही, पृ॰ 36-37
12. रेखा मिश्रा, पृ॰ 143

पुत्री और भरतशंकर की पत्नी थी। वह बीकानेर के राजमहल में जीविकोपार्जन के लिये कार्य करती थी।[1]

शाहजहाँ के शासनकाल में काकरेची जी नाम की कवयित्री प्रमुख थी। वह ठाकुर भगेला अग्रजी की पुत्री और मेवाड़ के नाहर नरहर दास की पत्नी थी। उसके पति की मृत्यु शाहजहाँ के समय में एक युद्ध में हुई थी।[2] औरंगजेब के शासन काल में नाथी नाम की कवयित्री ने विष्णु की भक्ति में कविताएँ लिखीं।[3] डिंगल भाषा में उपरोक्त कवयित्रियों की कविताएँ साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि की नहीं थीं।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में स्त्रियों की रुचि संस्कृत भाषा में नहीं थी। परन्तु दक्षिण भारत में स्त्रियों ने संस्कृत के अध्ययन में अधिक रुचि दिखलाई।[5] इसके कई कारण थे। उत्तर भारत में क्षेत्रीय भाषा के विकास के कारण स्त्रियों ने संस्कृत में कोई दिलचस्पी न ली। इसके अतिरिक्त उन्हें क्षेत्रीय भाषाओं को सीखने को सुविधायें प्राप्त थीं। संस्कृत भाषा के ह्रास का एक कारण फारसी भाषा का उदय होना था, जो राजभाषा बनी।[6] पूर्वी बंगाल में सन् 1600 ई० में संस्कृत के विद्वानों में प्रियंवदा का नाम प्रमुख था। उसने 'श्याम रहस्य' नामक पुस्तक लिखी थी। उसने कृष्ण की प्रशंसा में भी गीत लिखे।[7]

मुस्लिम समाज में नारी

नारी के प्रति इस्लाम का दृष्टिकोण और उसके समानता का अधिकार

जीवन के प्रति इस्लाम के दृष्टिकोण की व्याख्या कुरान में की गई है।[8] इसके

---

1. ऐसा कहा जाता है कि जब अकबर ने बीकानेर पर आक्रमण किया तब वहाँ का राजा अमर सिंह सो रहा था। उसे जगाने का साहस किसी को न हुआ और अन्त में पद्मा ने गीत गाकर उसे जगाया—वही।
2. सावित्री सिनहा, पृ० 35
3. वही, पृ० 34
4. वही, पृ० 38
5. रेखा मिश्रा, पृ० 144
6. वही।
7. वही, पृ० 145
8. देखिये कुरान, 1 xvii, *1*, 2; xi,6; x, 4

अनुसार व्यक्ति के लिये जीवन प्रकृति के द्वारा दिया गया एक सुअवसर है। समाज में पारस्परिक संबंध सुदृढ़ करने और अपने पड़ोसियों के साथ सद्भाव और न्याय पूर्वक रहने के लिये उसे निरन्तर प्रयास करना चाहिये।[1] कुरान में सामाजिक समानता पर अधिक बल दिया गया है।[2] जिस समय इस्लाम का प्रादुर्भाव अरब में हुआ वहां स्त्रियों की स्थिति गिरी हुई थी। स्त्रियों को नौकरानी और दास समझा जाता था।[3] जब किसी पुरुष को जिसके अनेक स्त्रियाँ होती थीं मृत्यु हो जाती थी तो उसके लड़के इन स्त्रियों को आपस में अचल सम्पत्ति की तरह बाँट लेते थे।[4] इस्लाम के आगमन से पहले अरब के लोग परिवार में लड़की के जन्म को बुरा मानते थे। लड़की के जन्म लेते ही उसे जिन्दा पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था।[5] पैगम्बर मोहम्मद साहब के उपदेशों से स्थिति में सुधार हुआ और समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा बढ़ी।[6] मोहम्मद साहब का कहना था कि पुरुष और स्त्री के बीच कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये। सभी की स्थिति समान है और उनके अधिकार भी समान हैं।[7] डॉ० मोहम्मद यासीन का कहना है कि स्त्रियों से संबंधित पैगम्बर के उपदेश स्त्रियों के इतने अनुकूल नहीं थे जितने कि उनके द्वारा बनाये गये नियम।[8] इस्लाम में पुरुष स्त्रियों को पैगम्बर के उपदेश बतलाकर अपने अधीन रखता था और इसके प्रत्युत्तर में स्त्रियों का कहना था कि ये उपदेश एक पुरुष के थे जो पुरुषों द्वारा बतलाये जाते थे और उनका स्पष्टीकरण भी पुरुषों के द्वारा किया जाता था।[9] जहाँ तक स्त्रियों की वैधानिक स्थिति का प्रश्न था पैगम्बर साहब ने साक्षी के रूप में स्त्री को आधे पुरुष के बराबर रखा। अर्थात् दो स्त्रियों की गवाही एक पुरुष के बराबर समझी जाती थी।[10]

---

1. मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिकी, वीमेन इन इस्लाम, लाहौर 1959, पृ० 10
2. कुरान, iv, 1
3. मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिकी, पृ० 16
4. वही।
5. वही।
6. कुरान, ii, 188
7. वही, ii, 228
8. मोहम्मद यासीन, ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया (1605-1748) लखनऊ, 1958, पृ० 120
9. वही।
10. स्त्रियों की विस्तृत जानकारी के लिए देखिये—डिक्शनरी आफ इस्लाम, लेख 'विमेन'; मोहम्मद यासीन, पृ० 120

मोहम्मद साहब ने अपनी स्त्रियों के प्रति अरबों के घृणात्मक व्यवहार की तीव्र निन्दा की है।[1]

कुरान में पुरुषों और स्त्रियों के समानता के आधार पर लड़कियों को सामाजिक और आर्थिक बोझ न समझकर उनके साथ लड़कों के समान व्यवहार करने की व्यवस्था है।[2] इब्न अब्बास, जो मोहम्मद साहब के चचेरे भाई थे, ने लिखा है।[3] कि मोहम्मद साहब का कहना था कि "यदि किसी पुरुष के यहाँ लड़की का जन्म हो और वह उसका अनादर न करे और अपने पुत्रों के समान उसका लालन पालन करे तो स्वर्ग में ईश्वर उसको इनाम देगा"।[4] अनास विल मलिक के अनुसार मोहम्मद साहब ने कहा था, "लड़कियाँ प्रेम और सद्भाव की प्रतीक हैं और परिवार के लिए वरदान हैं।"[5] मोहम्मद साहब के मित्र आबू हुरेश ने लिखा है कि पैगम्बर साहब का कहना था कि यदि किसी के तीन पुत्रियाँ हों और वह उनका उचित रूप से पालन करता हो तो ईश्वर निश्चय ही उसे स्वर्ग में इनाम देगा।"[6]

मोहम्मद साहब ने दासी स्त्रियों के साथ भी अच्छे व्यवहार करने का उपदेश दिया था।[7]

धार्मिक क्षेत्र में भी इस्लाम में पुरुषों और स्त्रियों के बीच कोई भेदभाव नहीं रखा गया है।[8] बदायुनी ने लिखा है कि हिन्दू स्त्रियों की तरह मुस्लिम स्त्रियाँ भी अपने पुरुष वर्ग की अपेक्षा अधिक धार्मिक थीं।[9] सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के समान थे। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक था कि स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए उचित अवसर प्रदान किये जायँ।[10] मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिक़ी ने लिखा है कि इस्लाम धार्मिक और अधार्मिक (सेकुलर)

---

1. कुरान, xvi 58, 58
2. मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिकी, आपसिट, पृ० 17
3. कंजुल उम्मल, पृ० 277; मु० म० सिद्दिकी, आपसिट, पृ० 18
4. वही।
5. वही।
6. वही।
7. मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिक़ी, आपसिट पृ० 18
8. कुरान, ix 71 और 72
9. बदायुँनी, जिल्द 1, पृ० 397, देखिये पी० डेलारल, जिल्द 1, पृ० 69
10. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 19

कर्तव्यों में कोई भेद नहीं रखता। सभी कर्तव्य चाहे वे राजनीति, अर्थशास्त्र या समाजहित से सम्बन्धित हों वास्तव में ठीक उसी प्रकार धार्मिक कर्तव्य हैं, जैसे नमाज पढ़ना, व्रत रखना या सामाजिक दान की व्यवस्था करना।[1] इसी आधार पर इस्लाम में पुरुषों और स्त्रियों को समानता के अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों को मोहम्मद साहब के पास आने की और प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता थी। मोहम्मद साहब ने स्त्रियों को ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया।[2]

कुरान कुछ परिस्थितियों में पुरुष और स्त्री की एक दूसरे पर श्रेष्ठता स्वीकार करता है।[3] जहाँ तक पुरुषों की विशेष स्थिति का प्रश्न है कुरान में दो बातों का स्पष्टीकरण किया गया है—प्रथम[4] पुरुष धनार्जन करता है और स्त्री का खर्च वहन करता है, द्वितीय वह घरेलू और राजनैतिक क्षेत्र में प्रधान है क्योंकि घरेलू जीवन में अनुशासन की दृष्टि से किसी एक की प्रधानता अवश्य रहनी चाहिये। इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता इसीलिये थी कि स्वभावतः पुरुष स्त्री की अपेक्षा दूरद्रष्टा और कुशाग्र बुद्धि का था और उसके पास घरेलू कार्यों से मुक्त होने पर अधिक समय राजनैतिक मामलों के लिये था।[5]

कुरान के अनुसार स्त्री पुरुष के सम्बन्धों का उद्देश्य मस्तिष्क की शान्ति और जीवन में आराम की प्राप्ति है।[6] चूँकि स्त्री और पुरुष में स्वाभाविक शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अन्तर है इसीलिए स्त्रियों के पूर्ण समता के अधिकार की व्यवस्था इस्लाम में नहीं है।[7] स्त्री पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। इस्लाम के अनुसार यह अनिवार्य था कि स्त्री और पुरुष अपने विशेष गुणों को बनाये रखें। मोहम्मद साहब ने स्त्री को पुरुष की और पुरुष को स्त्री की वेशभूषा और आचरण का अनुकरण करने की अनुमति नहीं दी।[9] जहाँगीर ने हिन्दू स्त्रियों के पातिव्रत्य की सराहना की

---

1. वही।
2. वही, पृ० 20
3. मु० म० सिद्दिकी, आपसिट, पृ० 23
4. कुरान्, iv. 34
5. वही, पृ० 24; देखिये, कुरान, ii. 228
6. कुरान, xxx, 21
7. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 24
8. कुरान, ii. 188
9. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 34

है और कहा है कि मुस्लिम स्त्रियों में इसका अभाव था ।[1]

विवाह

इस्लाम के अनुसार विवाह एक पवित्र संस्कार है ।[2] मोहम्मद साहब का निर्देश था कि सभी लोगों के लिए विवाह आवश्यक है ।[3] जो विवाह करने में समर्थ न हों उन्हें उपवास करना चाहिए क्योंकि इससे इच्छा कम हो जाती है ।[4] विवाह केवल पवित्र स्त्रियों से करना अनिवार्य था ।[5] इस नियम के उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने में इस्लाम ने स्त्री और पुरुष में भेदभाव नहीं किया ।[6] परन्तु जनमत ने सदैव व्यभिचारी स्त्री को अधिक दोषी ठहराया, क्योंकि स्त्री के व्यभिचार से परिवार और समाज में कुव्यवस्था फैलने का भय था ।[7]

वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिये इस्लाम में स्त्री पुरुष के बीच एक समझौता होता था, जिसके अनुसार यदि एक पक्ष चाहे तो विवाह भंग कर सकता था ।[8] स्त्री पुरुष विवाह के पहले भी अपने भविष्य के सम्बन्धों के लिये समझौता कर सकते थे और विवाह के समय यह समझौता वैवाहिक समझौते में सम्मिलित कर लिया जाता था ।[9] जिस तरह पति अपनी पत्नी को अपने आदेश मानने को बाध्य कर सकता था उसी प्रकार स्त्री भी अपने पति से कह सकती थी कि उसे अपनी सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घर के बाहर जाने से रोका न जाय, यदि ऐसा करने में परिवार की व्यवस्था में कोई विघ्न न पड़ता हो ।[10]

---

1. तुजुक, जिल्द 1, पृ० 150
2. वही, पृ० 37
3. वही ।
4. वही ।
5. कुरान, iv. 3—कुरान में पवित्र पुरुष के लिये 'मोहसिन' और पवित्र स्त्री के लिए 'मोहसिनात' शब्द का प्रयोग किया गया है ।
6. मु० म० सिद्दकी, आपसिट, पृ० 39
7. वही ।
8. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 51
9. खलीफा उमर, इमाम अहमद और इमाम शफी का यही विचार था, लेकिन चौथे खलीफा अली ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि ईश्वर का बनाया नियम मनुष्य के बनाये नियम से सर्वोपरि है । वही, पृ० 52
10. वही, पृ० 53

स्त्री की आर्थिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये पति को एक विशेष धन पत्नी को दहेज 'महरे मिस्ल' के रूप में देने के लिये अनिवार्य किया गया।[1] यह धन दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत होने पर निश्चित किया जाता था। यदि कोई पुरुष दूसरी पत्नी भी रखना चाहता था तो वह पहली पत्नी को दिया हुआ दहेज वापस नहीं ले सकता था।[2] कोई भी विवाह वैधानिक नहीं कहा जा सकता था जब तक कि दहेज निश्चित न किया गया हो।[3] दहेज निश्चित करने के लिये कोई सीमा नहीं थी। यह कम से कम और अधिक से अधिक दोनों पक्षों की सहमति से तय किया जाता था। खलीफा उमर ने अपनी पत्नियों का दहेज बहुत कम रखा।[4] विवाह के समय यदि पति पत्नी वयस्क न हों तो उनके पिता दहेज निश्चित करते थे।[5] मुस्लिम समाज में विधवा अपने पति की सम्पत्ति पर तब तक अधिकार रख सकती थी जब तक कि उसके दहेज की रकम की अदायगी न हो जाय। इस्लाम ने स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार दिया था। पुत्री को अपने पिता की सम्पत्ति का लड़के से आधा मिलता था। विधवा को अपने पति की सम्पत्ति का $\frac{1}{8}$ भाग मिलता था। इस्लाम ने चल और अचल सम्पत्ति में कोई अन्तर नहीं माना।[6]

मुहम्मद साहब का कहना था कि विवाह के पहले पुरुष को स्त्री को देख लेना चाहिये। इससे शारीरिक गुण-दोषों का पता चलता था और दम्पति में प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न होता था।[7] जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता इस्लाम में थी। मुहम्मद साहब ने एक प्रश्न के उत्तर में बताया कि यदि स्त्री अपनी स्वीकृति न देकर केवल चुप रहे तो उसके चुप रहने को उसकी स्वीकृति मान लेनी चाहिये। यदि वह इनकार कर दे तो उस पर दबाव डालना उचित नहीं था।[8] विवाह में दो गवाहों का होना

---

1. कुरान, iv, 4
2. वही, iv, 20
3. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 54
4. खलीफा ने 125 दिरहम से अधिक दहेज नहीं रखा—देखिये, तिरमिजी, शरुहे अरबा, पृ० 132
5. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 56
6. वही।
7. वही।
8. उद्धृत, मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 58

आवश्यक समझा जाता था।[1] मुहम्मद साहब ने बिना गवाहों के विवाह की स्वीकृति नहीं दी। उनका कहना था कि वे स्त्रियाँ जो बगैर गवाहों के विवाह करें वे व्यभिचारिणी होती हैं।[2] किसी भी विवाह में स्त्री के संरक्षण का उपस्थित होना आवश्यक समझा जाता था। मुहम्मद मज़हरुद्दीन सिद्दिक़ी का कथन है कि शायद यह व्यवस्था अल्पवयस्कों के लिये थी।[3] इमाम आबू हनीफा, जो एक प्रमुख विधिवेत्ता थे, के अनुसार वयस्क विधवा या कुआरी के विवाह को बगैर संरक्षक के भी वैधानिक समझना चाहिये।[4] विद्वानों का विचार है कि विवाह के निर्णय में स्त्री की स्वीकृति आवश्यक है इसीलिये संरक्षक के होने या न होने से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं पड़ता। कई दृष्टान्त मिलते हैं जब कि स्त्री की राय के विरुद्ध संरक्षक द्वारा विवाह निश्चित किये जाने के बाद विवाह हो जाने पर भी मुहम्मद साहब ने ऐसे विवाहों को रद्द कर दिया।[5]

तलाक

इस्लाम ने विवाह को अटूट बंधन स्वीकार नहीं किया। यदि पति और पत्नी समझौते के अन्तर्गत जीवन निर्वाह नहीं कर सकते तो वैवाहिक संबंध तोड़ने अथवा तलाक देने की व्यवस्था है।[6] परन्तु मुहम्मद साहब ने तलाक देने को अच्छा नहीं समझा।[7] पुरुष के लिये यह अनिवार्य था कि वह तलाक देने के पहले तीन महीने के अन्दर तीन बार इसकी घोषणा करे।[8] परन्तु बहुत से विधिवेत्ताओं का विचार है कि एक ही बैठक में यदि तीन बार तलाक की घोषणा कर दी जाय तो भी वह पर्याप्त होगी।[9]

---

1. वही।
2. विस्तृत विवरण के लिये देखिये, निरमोजी, किताबुन निकाह।
3. आपसिट, पृ० 58
4. वही।
5. देखिये आबू दाउद और बुखारी द्वारा संकलित, पैगम्बर मुहम्मद की परम्पराएँ।
6. कुरान iv. 19; ii. 231
7. देखिये मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 74
8. वही, पृ० 75
9. परन्तु ईमाम अहमद इब्न हनबल और ईमाम इब्न तैमिया इसे स्वीकार नहीं करते। खलीफा उमर ने उन तीन व्यक्तियों को दण्डित किया जिन्होंने एक ही बैठक में तीन बार तलाक की घोषणा की।

पहले दो बार के तलाक की घोषणा के समय पति और पत्नी के साथ-साथ रहने की व्यवस्था थी, जिससे यदि जल्दी या आवेश में घोषणा की गई हो तो उसे वापस ले सकें। तीसरी बार की घोषणा के बाद तलाक हो जाता था और पति-पत्नी के संबंध टूट जाते थे। यदि पति तलाक के बाद पश्चात्ताप करता था और अपनी पत्नी को फिर से प्राप्त करना चाहता था तो इस्लामी कानून के अन्तर्गत ऐसा नहीं कर सकता था। तलाक के बाद वह अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर सकता था जब कि पत्नी का विवाह किसी अन्य पुरुष के साथ हो जाय और बाद में वह व्यक्ति तलाक दे दे। इसके बाद वह अपनी पत्नी से फिर विवाह करके उसे प्राप्त कर सकता था। यह व्यवस्था इसीलिए थी कि पत्नी को तलाक देने के पहले पति अच्छी तरह से विचार कर ले।[1] पत्नी को पति की तरह तलाक देने का अधिकार नहीं था। यदि वह चाहे तो पति की सहमति से तलाक ले सकती थी। इसे 'खाला' कहा जाता था। यदि पति सहमत न हो तो वह न्यायालय के द्वारा तलाक प्राप्त कर सकती थी। मोहम्मद साहब ने उन पति और पत्नियों की निन्दा की जिन्होंने बार-बार तलाक लिया।[2]

मुस्लिम समाज में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को तलाक देने की अधिक स्वतन्त्रता थी। उन्हें तलाक के लिए न्यायालय की शरण लेनी नहीं पड़ती थी। स्त्रियों को तलाक के लिए अपने पुरुष वर्ग पर आश्रित रहना पड़ता था और उनको सहमति न मिलने पर न्यायालयों में जाना पड़ता था, जिससे उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

सामाजिक प्रतिबन्ध

मुस्लिम समाज में स्त्रियों को अपने वस्त्र, आभूषण और सजावट का प्रदर्शन करने की मनाही थी।[3] मुहम्मद साहब का कहना था कि यदि औरत की पहली दृष्टि किसी पुरुष पर पड़ जाय तो उसे क्षमा किया जा सकता था लेकिन दूसरी दृष्टि क्षम्य नहीं थी। स्त्री को हाथ व पैर छोड़कर सारे शरीर को ढँके रहना अनिवार्य था। इसे 'सत्र' कहा जाता था। स्त्रियों को महीन कपड़े पहनने पर प्रतिबन्ध था। वयस्क लड़कों-लड़कियों को अनुमति लेकर घर में प्रवेश करना चाहिए।[4] आगन्तुकों को

---

1. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 76
2. वही, पृ० 78
3. कुरान, xxiv 30, 3
4. कुरान, xxiv 58, 59

यदि कोई वस्तु देना हो तो पर्दे के अन्दर से देना पड़ता था।[1] मुहम्मद साहब का निर्देश था कि स्त्रियाँ मधुर वाणी में किसी से वार्ता न करें, क्योंकि ऐसी वाणी से पुरुष में वासना की भावना प्रज्वलित होने का डर था।[2] स्त्रियों के लिए सुगंधित तैल, इत्र आदि का प्रयोग वर्जित था।[3] स्त्रियों को कारखाने में काम करने पर प्रतिबन्ध था।[4] राष्ट्रीय संकट के समय में अस्थायी रूप से स्त्रियों से सैनिक कार्य लिया जा सकता था।[5] मदिरा का सेवन स्त्री पुरुष दोनों के लिए निषिद्ध था। परन्तु संकटकाल में यदि मदिरा के प्रयोग से किसी की जान बचाई जा सकती थी तो उसके अस्थाई प्रयोग के लिए अनुमति दी जाती थी।[6]

पर्दा

कुरान के अनुसार मुस्लिम स्त्रियों को पर्दा धारण करना अनिवार्य था।[7] मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दिकी का कथन है कि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में बन्द नहीं रखा जाता था। जहाँ कुरान में उल्लेख है कि स्त्रियों को घर में रहना चाहिए, वह केवल अरेबिया के रहने वाली स्त्रियों से संबंधित था क्योंकि इस्लाम के प्रादुर्भाव के पहले वहाँ की स्त्रियाँ सड़कों पर स्वच्छंदतापूर्वक घूमती थीं और पुरुषों के सम्पर्क में आकर अनैतिक आचरण करती थीं।[8] इस्लाम स्त्रियों के इस तरह के जीवन को सहन नहीं कर सकता था, इसलिए उनके जीवन को सुधारने की दृष्टि से ऐसे कड़े नियम बनाये गये।[9] परन्तु यह विचार तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि आज के युग में भी मुस्लिम स्त्रियाँ पर्दा धारण करती हैं। इसी रूढ़िवादी परम्परा के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ विश्व में दूसरे देशों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई हैं।

---

1. कुरान, xxxiii 53
2. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 107
3. वहीं, पृ० 110
4. वही, पृ० 116
5. वही, पृ० 117
6. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 117
7. कुरान, xxxiii, 33, 53; xxiv, 30-31
8. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 124
9. वही।

जहाँ तक कुरान में चेहरे पर पर्दा (नक़ाब) और शरीर पर बुर्का[1] (जिलबाब) धारण करने का उल्लेख है उसके विषय में भी मुहम्मद जहरूद्दीन सिद्दिक़ी का विचार है कि अरब में उस समय स्त्रियों के पास अधिक वस्त्र नहीं थे।[2] कभी-कभी वे एक वस्त्र को फाड़ कर शरीर के दूसरे भाग को ढकती थीं।[3] इसीलिए यह व्यवस्था की गई कि बुर्के के द्वारा यह स्थिति समाप्त हो जायेगी और ग़रीबी ढक जायेगी।[4] इस संदर्भ में भी यह विचार ठीक नहीं जँचता क्योंकि आज भी सम्भ्रांत घरों की महिलायें बुर्का धारण करती हैं, जब कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। संभवतः मुस्लिम समाज में पर्दा पद्धति ने धार्मिक रूप ग्रहण कर लिया था।

मोहम्मद साहब का निर्देश था कि युवा होने पर हाथ और चेहरे को छोड़कर लड़की के शरीर के किसी भाग पर पुरुष की दृष्टि नहीं पड़नी चाहिए चाहे वह व्यक्ति कितना ही निकट संबंधी क्यों न हो।[5] एक प्रमुख विधिवेत्ता, इमाम मलिक के अनुसार हाथ और चेहरे को छोड़कर स्त्री का सम्पूर्ण शरीर 'सत्र' में सम्मिलित है, अर्थात् उसे पूरी तरह ढका रखना चाहिए।[6] दूसरे विधिवेत्ता ईमाम शफी भी इसी विचार के समर्थक थे। परन्तु ईमाम अहमद बिन हनबल के अनुसार केवल चेहरे को छोड़कर स्त्री का सारा शरीर ढका रहना चाहिये।[7]

इस्लाम पुरुषों और स्त्रियों को सार्वजनिक स्थानों पर घुल मिलकर रहने की अनुमति नहीं देता। यहाँ तक कि मसजिदों में नमाज पढ़ने के लिये स्त्रियों की अलग

---

1. देखिये, ह्यूग्स डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृ० 95
2. वही, पृ० 125
3. वही।
4. वही।
5. मु० म० सिद्दिक़ी, पृ० 127
6. वही।
7. इमाम आबू यूसूफ के अनुसार चेहरे और हाथ के अलावा स्त्री की कलाई भी वैधानिक रूप से देखी जा सकती थी। ईमाम हज़्म ने मोहम्मद साहब की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मुस्लिम स्त्री का चेहरा और हाथ से पर्दा हटाकर जनसमुदाय के बीच आना वैधानिक था—उद्धृत, मु० म० सिद्दीक़ी, पृ० 128

पंक्ति होती थी। मोहम्मद साहब का आदेश था कि कोई भी पुरुष स्त्री से कन्धा मिलाकर खड़ा नहीं रह सकता। इस प्रकार सभी अवसर पर मुस्लिम महिलाओं के लिये अलग स्थान निर्धारित किये जाते थे।

मध्य युगीन मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा अधिक प्रचलित थी। डेलेट का कहना है कि मुस्लिम स्त्रियाँ बिना पर्दे के बाहर नहीं आती थीं। जब तक कि वे निर्लज्ज या निर्धन न हों।[2] पीट्रा डेला वाले ने लिखा है कि मुस्लिम महिलायें जब तक बेइमान या गरीब न हों बाहर नहीं आतीं।[2] उसका कहना है कि मुस्लिम अपनी स्त्रियों को अपने सम्बन्धियों से भी बात करने की अनुमति नहीं देते थे। केवल अपनी उपस्थिति में ही बात करने देते थे।[3] मनूची का कथन है कि मुस्लिम समाज में स्त्रियों से अपने चेहरे से पर्दा हटाने के लिये कहना अत्यन्त अपमानजनक था।[4] कारेरी ने लिखा है कि कुलटा और मनचली स्त्रियों को मुस्लिम स्त्रियाँ छोड़कर सार्वजनिक स्थानों में नहीं जाती थीं।[5] हैमिल्टन ने लिखा है कि मुस्लिम स्त्रियाँ जब घर से बाहर जाती थीं तो पर्दा धारण कर लेती थीं।[6] बारबोसा के अनुसार प्रत्येक मुसलमान के तीन या चार पत्नियाँ होतो थीं और वह उन्हें सावधानी से कमरे में बन्द रखता था।[7] ठामस ओवरी ने लिखा है कि बंगाली अपनी पत्नियों और रखेलों को बाहर नहीं जाने देते थे बल्कि हिजड़ों की देखरेख में रखते थे।[8] बदायुनी ने किखत हैं कि यदि नव-

---

1. जोन्स डेलेट, दि एम्पायर आफ दि ग्रेट मोगल, अनुवाद, जे० एस० हायलेंड और एस० एन० बनर्जी बम्बई, 1928, पृ० 80
2. ट्रैवेल्स ऑफ पिट्रा डेला वाले इन इण्डिया, अनुवाद, जी हेवर्स और सम्पादित एडवर्ड ग्रे हक्ल्यूत सोसाइटी, 1892, जिल्द, 1, पृ० 44, 45
3. वही, पृ० 430, देखिये ट्रेवेंनियर, पृ० 184
4. जिल्द 2, पृ० 175; जिल्द 1; पृ० 63
5. कारेरी, पृ० 248 उद्धृत रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 135, फुटनोट
6. अलेकजेण्डर हैमिल्टन, एकाउन्ट ऑफ दि ईस्टइण्डिज, एडिनबरा M.D. ccxxxvii जिल्द 1, पृ० 163; देखिये जान फायर, न्यू एकाउन्ट ऑफ इण्डीज एण्ड एशिया सम्पादित डब्ल्यू० क्रुक०, लन्दव 1212, जिल्द 2, पृ० 117-18
7. बारबोसा, जिल्द 2, पृ० 147
8. ज्याग्रीफिकल एकाउन्ट ऑफ दि कन्ट्रीज राउंड दि वे ऑफ बंगाल, (1669-79) सम्पादित आर० सी० टेम्पल, लंदन 1905, पृ० 107; टी० के० राम चौधरी बंगाल अंडर अकबर एण्ड जहांगीर कलकत्ता, 1953, पृ० 206

युवती बिना पर्दे के गलियों बाजारों में घूमती हुई दिखाई पड़ती थीं। तो उसे वेश्या बन जाना पड़ता था। [जिल्द 2, अनुवाद भाव, पृ० 405]

बहु विवाह

इस्लाम के अन्तर्गत पुरुष को एक से अधिक विवाह करने की अनुमति थी। विद्वानों का ऐसा विचार है कि उस समय इस्लाम के प्रसार में अनेक युद्ध हुए जिनमें बहुत से लोगों की जानें गईं और पुरुषों को जनसंख्या कम हो गई। इस स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से बहुविवाह की अनुमति मुहम्मद साहब ने दी। इसके अतिरिक्त अरब में इस्लाम के आगमन के पहले बहुविवाह की प्रथा थी और उसमें इतनी जल्दी सुधार लाया नहीं जा सकता था।[1]

भारत के बाहर मुस्लिम स्त्रियों की संख्या कम थी; इसलिये वहाँ साधारण मुसलमानों का हरम भारत में रहने वाले मुसलमान को अपेक्षा बहुत अधिक नहीं था।[2] सल्तनत काल में केवल नासिरुद्दीन महमूद को छोड़कर सभी सुल्तानों की एक से अधिक पत्नियाँ थीं।[3] साधारणतया मुसलमान सोचते थे कि वे एक साथ चार पत्नियाँ रख सकते थे। और इस संख्या में तलाक देकर परिवर्तन किया जा सकता था। बूढ़ी स्त्रियों के स्थान पर नवयुवतियाँ लाई जा सकती थीं।[4] अकबर पहला शासक था जिसने इस व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास किया। उसका कहना था कि एक पुरुष के लिये एक स्त्री पर्याप्त थी।[5] जिस समय दरबार में एक पत्नी के रखने पर बल दिया जा रहा था तब मिर्जा अजीज ने कहा कि चार पत्नियाँ तो कम से कम रखनी चाहिये और उसने तर्क दिया "एक पुरुष को एक पत्नी भारत की रखनी चाहिये जो सन्तान उत्पत्ति करे, एक खुरासन की होनी चाहिये जो गृहस्थी का कार्य करे, एक ईरान की होनी चाहिये जिसके साथ पुरुष बातचीत कर सके और एक ट्रांस आक्सा-यना की होनी चाहिये जो तीनों को कोड़े लगाकर नियन्त्रित कर सके और घर में शान्ति स्थापित कर सके।[6]

---

1. मु० म० सिद्दिकी, पृ० 133
2. मोहम्मद यासीन, पृ० 124।
3. वही।
4. वही, पृ० 125
5, बदायूनी—लो—जिल्द 2 पृ० 367
6. मोतामद खाँ—संपादित अब्दुल हई और अहमद अली कलकत्ता, 1865 पृ० 230-31; आईने अकबरी, ब्लाकमैन, जिल्द 1, पृ० 327; पत्नियों के वैधानिक संख्या

विद्वानों का ऐसा विचार है कि पुरुषों की प्रवृत्ति स्वभावतः बहु-विवाह की तरफ होती है इसलिये इस्लाम में इसकी व्यवस्था की गई, जिससे समाज में व्यभिचार न फैलने पाये।[1] इस्लाम बहु-विवाह को पूर्णतया रोकने में असफल रहा लेकिन कानून के द्वारा इस प्रथा को सीमित करने का प्रयास किया गया।[2] बहु-विवाह करने वाले पुरुष को यह आश्वासन देना पड़ता था कि वह अपनी सभी पत्नियों के साथ निष्पक्ष और न्यायपूर्वक व्यवहार करेगा।[3] मध्ययुगीन भारत में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति गिर गई। ये अपने बहु-वैवाहित पति के पूर्णतया अधीन हो गई।[4] स्त्रियों को अपने पतियों के निर्देश पर चलना पड़ता था। वे दासियों की भाँति जीवन व्यतीत करती थीं और उनके भोजन के उपरान्त भोजन करती थीं।[5]

इस्लामी प्रतिबन्धों का उल्लंघन

इस्लाम ने स्त्रियों को समाज में समानता का अधिकार दिया। उनकी दशा सुधारने के उद्देश्य से कुछ कड़े नियम भी बनाये गये। उस समय अरब में उनका नैतिक पतन हो चुका था इसीलिए स्त्रियों को नियन्त्रित रखना आवश्यक हो गया। राज्य द्वारा नियम बनाये गये, जिनसे नैतिक स्तर ऊँचा किया जा सके और समय के अनुसार ऐसे नियमों में परिवर्तन किया जा सके। खलीफा उमर ने स्त्रियों को मसजिदों में जाने पर रोक लगा दी और उनसे कहा गया कि अपने घरों में नमाज पढ़ें। परन्तु वह स्त्रियों के नमाज पढ़ने के अधिकार को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकता था। इससे पता चलता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में जो नियम बने थे वे बड़े लचीले थे।

इसी प्रकार तलाक देने के लिये खलीफा उमर ने यह नियम लागू किया कि

इसके विषय में अकबर ने इबादत खाना में अब्दुल नबी से पूछा, जिसने पहले कहा था कि 18 पत्नियाँ रखी जा सकती हैं लेकिन बाद में उस संख्या में परिवर्तन किया। देखिये—बदायूनी (जिल्द 2, 270) विस्तृत जानकारी के लिये देखिये ह्यूग–डिक्शनरी ऑफ इस्लाम—लेख 'पालगमी'

1. मु० म० सिद्दकी, पृ० 139
2. वही।
3. कुरान, iv 3
4. सर टामस रो और डॉ० जान फ्रायर, ट्रेवेल्स इन इण्डिया इन दि सेवेन्टीन्थ सेन्चुरी, लन्दन, 1873, पृ० 450
5. वही।

अलग-अलग तीन बार घोषणा करने के बजाय एक ही बैठक में तीन बार घोषणा करने पर तलाक वैध माना जा सकेगा। इस प्रकार मुहम्मद साहब के निर्देश के विरुद्ध यह नियम लागू किया गया। प्रारम्भ में इस्लाम के प्रसार के समय स्त्री पुरुष एक साथ मिलकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते थे। स्त्रियों को पुरुषों से अलग नहीं रखा जाता था। मुहम्मद साहब का निर्देश था कि सभी महिलाएँ और लड़कियाँ ईद के नमाज में सम्मिलित होंगी। परन्तु दूसरे देशों में इस्लाम के प्रसार के बाद मुस्लिम समाज में अमीरों और जागीरदारों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जो विलास का जीवन पसन्द करने लगा। इस वर्ग को आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों के सहयोग की आवश्यकता न थी। इसीलिए स्त्रियों को घरों की चहारदीवारी में रहने के लिए बाध्य किया गया। यही कारण था कि बादशाहों और अमीरों के हरम में स्त्रियों की संख्या हजारों में हो गई। स्त्रियों का इस तरह से पृथक रखा जाना इस्लामी कानून के विपरीत था।

निर्धन वर्ग के लोग स्त्रियों को पृथक नहीं रख सकते। फिर भी उनके ऊपर इसका प्रभाव पड़ा और स्त्रियों को यथा सम्भव घरों में रहने के लिये विवश किया गया। धनी वर्ग के मुसलमान स्त्रियों को पर्दे में रखने लगे यद्यपि निर्धन ऐसा करने में समर्थ नहीं थे, फिर भी कुछ सीमा तक उन्होंने इस प्रथा का अनुकरण अपने परिवारों में किया। इस प्रकार यह देखा जाता है कि ऐसे बहुत से नियम बनाये गये जो मुहम्मद साहब के निर्देशों के प्रतिकूल थे।

मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भूमिका

सल्तनत-काल

सल्तनत काल में मुस्लिम स्त्रियों ने समाज के विविध क्षेत्रों में रुचि दिखाई। विविध कलाओं के विकास में भी उनका योगदान रहा। दिल्ली के सुल्तानों के हरम में स्त्रियों की संख्या अधिक थी। सुल्तान की माँ को अधिक सम्मान दिया जाता था। उसके बाद सुल्तान की मुख्य बेगम का स्थान आता था। राजकीय परिवार की महिलाओं को ऊँची-ऊँची उपाधियाँ दी जाती थीं जैसे मल्के-जहाँ, मखदूमे-जहाँ, आदि।[1] इल्तुतमिश की पत्नी शाह तुर्कन बड़ी महत्वाकांक्षी महिला थी। राजनीति में अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए उसने रजिया की हत्या का षड्यन्त्र किया। अन्त में वह अपने प्रयासों में विफल हुई।

1. आई० एच० कुरेशी, एडमिनिएट्रेशन ऑफ दि सुल्तान्स ऑफ देहली-पृ०65

दूसरा दृष्टांत रजिया का है जिसने गद्दी पर बैठने के बाद सारी सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया।[1] बहुत से रूढ़िवादी तुर्की अमीर एक स्त्री को सुल्तान के पद पर नहीं देख सकते थे। रजिया का पर्दा त्यागना, खुले दरबार में बैठना, घोड़े की सवारी करना अमीरों को अच्छा नहीं लगा। अन्त में अमीरों ने रजिया को अपदस्थ कर दिया। जलालुद्दीन खिलजी की पत्नी मलके जहाँ ने अपने दामाद अलाउद्दीन के ऊपर नियन्त्रण रखने का प्रयास किया, जिससे अलाउद्दीन का घरेलू जीवन दुखमय हो गया और उसे कड़ा में जाकर रहना पड़ा। अलाउद्दीन की हत्या करने के बाद अलाउद्दीन ने मल्के जहाँ[2] और लड़कों को छलपूर्वक बन्दी बना कर उनका अन्त करा दिया।

अलाउद्दीन के कठोर शासन के अन्तर्गत स्त्रियों को कोई बढ़ावा नहीं मिला। उनकी पत्नी कमला देवी ने जो राय करन बघेला की भूतपूर्व रानी थी, सुल्तान को अपनी पुत्री देवल रानी को अपने पास बुलाने के लिए कहा इस कारण सुल्तान ने देवगिरी पर आक्रमण करने के लिए आदेश दिया, क्योंकि उस समय कमला देवी अपने पिता के साथ देवगिरी में शरण ले रही थी। अलाउद्दीन के समय में बहुत सी हिन्दू स्त्रियों का विवाह मुस्लिम राजकीय परिवार में हुआ।[3] फीरोज तुगलक की माँ हिन्दू महिला थी।[4]

मुस्लिम स्त्रियों ने संगीत में रुचि दिखलाई। जलालुद्दीन खिलजी के शासन काल में फतूहा और नसरत खातून दो प्रमुख गायिकाएँ थीं।[5] कभी-कभी मुस्लिम

---

1. उसके गुणों से प्रभावित होकर इल्तुतमिश ने अपने पुत्रों के स्थान पर अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया—मिनहाजुस सिराज, रेवर्टी जिल्द 1, पृ० 638
2. जलालुद्दीन की मृत्यु के बाद मल्के जहाँ ने सारी सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित की और अपने नाबालिग लड़के रुकुनुद्दीन इब्राहीम को गद्दी पर बैठाकर शाही फरमान जारी करने लगी, देखिए रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पृ० 39
3. अलाउद्दीन की दो शादी, प्रथम कमलादेवी से एवं दूसरी देवगिरी के शासक रामचन्द्र देव की पुत्री से हुयी थी। देवलरानी का अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खाँ से (वही, पृ० 173)
4. रिजवी, तुगलक कालीन भारत, जिल्द 2, पृ० 54
5. रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पृ० 16

स्त्रियों ने हिन्दू स्त्रियों को तरह 'जौहर' की प्रथा का पालन किया।[1] फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने मुस्लिम स्त्रियों का सन्तों की मजारों पर जाने पर प्रतिबन्ध लगाया। अतः ऊपर के तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन मुस्लिम समाज में स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी।

मुगल काल

मुगल काल में सल्तनत काल की अपेक्षा स्त्रियों की अवस्था अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित थी। बाबर ने तैमूर और चंगेज खाँ[2] की परम्पराओं का अनुसरण किया और अपनी स्त्रियों को राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया।[3] परन्तु बाबर ने संप्रभुता का अधिकार उन्हें नहीं दिया।[4] जिस समय बाबर के पिता उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हुई (1494) उसकी उम्र 11 वर्ष की थी। अपनी दादी एहसान दौलत बेगम के निर्देश से बाबर ने प्रशासन का कार्य चलाया और अपनी स्थिति सुदृढ़ की।[5] बाबर की माँ कुतलुक निगार खानम सदैव युद्धों में बाबर के साथ रही।[6] बाबर की पत्नी महीम बेगम ने अपने पति की कठिनाइयों में सर्वदा उसका साथ दिया। अपनी योग्यता के कारण राज्य में उसको अधिक सम्मान प्राप्त था और बाबर के बगल में दिल्ली के तख्त के समीप बैठती थी।[7] बाबर की मृत्यु के $2\frac{1}{2}$ वर्ष बाद तक वह राजनीति में भाग लेती थी। बाबर की दूसरी पत्नी बीवी मुबारिका यूसुफजई कबीले की थी। यूसूफजाई कबीले के लोगों और बाबर के बीच उनसे समझौता कराने में योगदान दिया। जिसके कारण बाबर का अधिकार अफगानिस्तान पर बना रह सका।[8]

---

1. जिस समय तैमूर ने भटनेरे पर आक्रमण किया, वहाँ की मुस्लिम महिलाओं ने जौहर किया। इलीयट, जिल्द 3, पृ० 426
2. चंगेज खां के समय में स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ युद्ध में जाती थीं, तैमूर की सेना में स्त्रियाँ भाला, तीर और तलवार चलाने में प्रवीण थीं—राल्फ फाक्स, चंगेज खाँ, पृ० 45; जे० एच० साण्डर्स, टेमरलेन, पृ० 324; रेखा मिश्रा, पृ० 16
3. रेखा मिश्रा पृ०17
4. आर० पी० त्रिपाठी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 109
5. रशब्रुक विलियम्स, एन एम्पायर बिल्डर आफ दि सिक्स्टींथ सेंचुरी, पृ० 34
6. बाबरनामा, (बेवरिज) जिल्द 1, पृ० 21
7. वही, पृ० 358
8. एस० के बनर्जी, हुमायूँ बादशाह, जिल्द 2, पृ० 322

हुमायूँ के शासनकाल में खानजादा बेगम ने जो बाबर की बड़ी बहन थी दरबार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। महीब बेगम की मृत्यु के बाद उसे 'पादशाह बेगम' की उपाधि से विभूषित किया गया।[1] उसने हुमायूँ और उसके भाइयों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया, परन्तु वह असफल रही।[2] हुमायूँ के चचेरे भाई सुल्तान मिर्जा की पत्नी हराम बेगम प्रशासकीय योग्यता के लिये प्रसिद्ध थी। उसे 'वली नियामत' की उपाधि मिली थी।[3] 1549 ई० में जब हुमायूँ काबुल से बल्ख पर आक्रमण करने के लिये रवाना हुआ तब उसने हराम बेगम से सहायता माँगी जो उसे तुरन्त दी गई।[4] 1566 में हराम बेगम ने काबुल की राजनीति में बड़ी रुचि दिखलाई परन्तु वह काबुल पर अधिकार न कर सकी।[5] उसने बदखशाँ के प्रशासन को सम्भाला। वह महत्वाकांक्षी महिला थी। अभिजात वर्ग के लोग और राजकीय परिवार के सदस्य उससे भयभीत रहते थे और उसका आदर करते थे।[6]

चुनार के अफगान गवर्नर ताजखां सारंगखानी की पत्नी लाड मलका अत्यन्त सुन्दर और प्रखर बुद्धि की महिला थी। उसकी उदारता से सैनिक अधिकारी और अभिजात वर्ग के लोग उसका समर्थन करते थे। अन्त में ताज खाँ की मृत्यु के बाद शेरशाह ने उससे विवाह कर लिया और चुनार पर अधिकार कर लिया।[7]

अकबर के समय में उसकी सौतेली माँ माहचुचक बेगम का नाम उल्लेखनीय है। वह एक महत्वाकांक्षी महिला थी। उसका बेटा मिर्जा मोहम्मद हकीम काबुल का गवर्नर नियुक्त किया गया (1556)। माहचुचक बेगम ने काबुल के प्रशासक को प्रभावित किया।[8] अकबर की प्रमुख दाई महाम अनगा भी एक प्रभावशाली महिला थी। उसके ही कारण बैरम खां का जो अकबर का संरक्षक था, पतन हुआ (1560)।

---

1. एस० के० बनर्जी, जिल्द 2, पृ० 314-15
2. ईश्वरी प्रसाद, लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ० 222
3. अकबर नामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 40, 212
4. ईश्वरी प्रसाद, हुमायूँ, पृ० 308
5. अकबरनामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 407-409
6. ईश्वरी प्रसाद हुमायूँ, पृ० 289 और 308
7. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 344; फरिश्ता, जिल्द 2, पृ० 110; ईश्वरी प्रसाद, हुमायूँ, पृ० 56
8. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 24

वह अकबर को प्रभावित करने में सफल हो सका।[1] दो वर्षों तक अकबर महल की स्त्रियों के प्रभाव में रहा, जिसका नेतृत्व महाम अंगा कर रही थी।[2] सन् 1662 में अकबर ने इन स्त्रियों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लिया जब कि महाम अंगा के पुत्र अधम खां को वजीर की हत्या के अपराध पर मृत्यु दण्ड दिया गया। कुछ समय के बाद पुत्रशोक में महाम अंगा की मृत्यु हो गयी।

अकबर की एक चचेरी बहन बरन्नुन्निसा बेगम थी जिसका विवाह बदखशाँ के ख्वाजा हसन से हुआ था। काबुल के गवर्नर मिर्जा मुहम्मद हाकिम के विद्रोह करने के बाद अकबर ने उसे काबुल का गवर्नर नियुक्त किया (1581)।[3] अकबर के शासनकाल में उसकी मां मरियम मकानी और उसकी पत्नी सलीमा बेगम राजनीति में अधिक रुचि लेती थीं। 1599 ई० में सलीम के विद्रोह करने पर मरियम मकानी ने अपना प्रभाव पिता पुत्र पर डालकर समझौता कराया। 1601 ई० में दूसरी बार जब सलीम ने विद्रोह किया[4] तब सलीमा बेगम और गुलबदन बेगम ने सलीम को अकबर से क्षमादान दिलाया।[5]

जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के एक वर्ष के बाद उसके पुत्र खुसरो ने मिर्जा अजीज कोका के उकसाने पर विद्रोह कर दिया। जहाँगीर ने विशिष्ट अमीरों से मंत्रणा की और निर्णय लिया कि मिर्जा को तुरन्त मृत्यु दण्ड दिया जाय, जिसका विरोध खाँन जहाँ लोदी ने किया। ठीक उसी समय सलीमा बेगम ने जहाँगीर को पर्दे के अन्दर से यह कहकर बुलवाया कि सम्राट तुरन्त जनानखाने में आ जावें, नहीं तो

---

1. आर० पी० त्रिपाठी, लेख 'महाम अंगा एण्ड अकबर —जर्नल ऑफ ई० हिस्ट्री जिल्द 1, न० 1, पृ० 338
2. 1561 में महाम अंगा के पुत्र ने मालवा का लूटा हुआ धन अपने पास रख लिया और वहाँ के स्त्रियों के साथ अत्याचार किया। अकबर ने अधम खां को दण्डित करने के उद्देश्य से चुपके से मालवा के लिये प्रस्थान किया। महाम अंगा मालवा पहुँच गई और अपने लड़के को क्षमादान के लिये अकबर से प्रार्थना की। (अकबरनामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 219)
3. बरन्नुन्निसा बेगम मिर्जा मुहम्मद हकीम की सगी बहन थी। यह नियुक्ति करके अकबर ने मिर्जा मुहम्मद हाकिम को अत्यधिक अपमानित किया।
4. अकबरनामा, बेवरिज, जिल्द 3, पृ० 1140
5. वही, पृ० 1222–23, 1230

स्त्रियाँ स्वयं उनके पास आवेंगी ।[1] जहाँगोर को विवश होकर जनानखाने में जाना पड़ा और स्त्रियों के कहने पर मिर्जा अजीज कोका को क्षमा करना पड़ा ।[2] स्त्रियों के समझाने पर जहाँगीर ने खुसरो को अपने पास आने दिया ।[3]

जहाँगीर के शासनकाल में नूरजहाँ सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली रही । उसने प्रशासन का कार्य चलाने के लिये अपना एक दल बनाया ।[4] उसने न केवल प्रशासनिक कार्य में बल्कि सैनिक क्षेत्र में भी अद्भुत कुशलता प्रदर्शित की जब उसने अपने पति जहाँगोर को महावत खां के चंगुल से छुड़वाया ।[5] नूरजहाँ ने सामाजिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया । उसने निर्धन मुसलमानों को सरकार की ओर से अनुदान दिया जिससे वे अपनी पुत्रियों का विवाह कर सकें । उसने नये-नये डिजाइनों के वस्त्रों का उपयोग किया और नये फैशन चलाये ।[6] जहाँगोर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के बाद उसने राजनीति से सन्यास ले लिया ।

शाहजहाँ के शासन काल में मुमताज महल ने राजनीति में अपना प्रभाव बनाये रखा ।[7] उसने गुजरात के गवर्नर सैफ खां को शाहजहाँ के क्रोध से बचा लिया ।[8] मनुची के अनुसार मुमताजमहल ने पुर्तगालियों के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिये शाहजहाँ को प्रेरित किया ।[9] 1631 में मुमताजमहल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ की पुत्री जहांनारा ने राजनीति में रुचि दिखलाई और अपना प्रभाव स्थापित किया । जिस किसी को पदोन्नति के लिये सम्राट से प्रार्थना करनी होती थी वह जहां-

---

1. मासिरुलउमरा, अनुवाद, बेवरिज और बेनी प्रसाद, जिल्द 1, पृ० 328
2. वही ।
3. तुजुके जहाँगीरी–रोजर्स, जिल्द 1, पृ० 252
4. बेनी प्रसाद, जहाँगीर, पृ० 160; नूरजहाँ जुन्ता का उल्लेख विदेशी यात्रियों ने अपने विवरण में किया है जिसको आधुनिक इतिहासकार स्वीकार नहीं करते (देखिये; रेखा मिश्रा, पृ० 35)
5. इलियट, जिल्द 6, पृ० 430; बेनी प्रसाद, पृ० 356
6. बेनी प्रसाद ।
7. पीटर मण्डी, जिल्द 2, पृ० 212–13
8. बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 61
9. मनुची, जिल्द 1, पृ० 182

नारा के द्वारा अपना कार्य करवाता था।[1]

जहाँनारा ने मुग़ल परिवार के दुःखी सदस्यों को सांत्वना दी। उसके ही प्रभाव के कारण शाहजहाँ ने औरंगजेब को कई बार क्षमा किया और उसको अपने पद पर बने रहने दिया। 1656 में गोलकुण्डा के सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह ने ज़हाँनारा को पत्र लिखा कि वह सम्राट पर अपना प्रभाव डाले और औरंगजेब के उसके राज्य पर आक्रमण को रोकने में सहायता करे।[2] उत्तराधिकार के संबंध में विजयी होने के बाद औरंगजेब ने अपने भाइयों को मरवा डाला और शाहजहाँ को कैद कर लिया। ऐसे समय में ज़हाँनारा निरंतर शाहजहाँ की सेवा करती रही।[3] जहाँनारा अपने मृत भाइयों के बच्चों की देखभाल करती रही। औरंगजेब ने भी सदैव जहाँनारा का सम्मान किया।[4]

रोशनारा बेगम शाहजहाँ की दूसरी पुत्री थी। उसने सदैव औरंगजेब का साथ दिया। वह अपने बड़े भाई दारा की विरोधी थी और उसने दारा को मृत्यु दण्ड देने के लिये दबाव डाला। औरंगजेब ने उसे 1669 ई० में 'शाह बेगम' की उपाधि दी और 5 लाख रुपया दिया।[5] औरंगजेब की दो पत्नियों, दिलरस बानू बेगम और उदयपुरी महल ने उस पर अपने प्रभाव डाले। सन् 1662 में जब औरंगजेब बीमार पड़ा, रोशनारा बेगम ने शाही मोहर अपने अधिकार में रखा और सम्राट की बीमारी को छिपाये रखा।[6]

औरंगजेब की पुत्रियों ने भी राजनीति में रुचि दिखलाई। जेबुन्निसा बेगम ने

---

1. जी० याज़दानी, लेख 'जहाँनारा', जर्नल ऑफ पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 2, 1912, पृ० 155
2. के० आर० कानूनगो, दाराशुकोह, पृ० 136–37
3. औरंगजेब के आगरा पर अधिकार करने के पहले जहाँनारा ने साम्राज्य विभाजन की योजना बनायी, लेकिन वह असफल रही। (देखिये, आकिल खां राजी, वाकियेत आलमगीरी, पृ० 289, उद्धृत, रेखा मिश्रा, पृ० 45)
4. शाहजहाँ की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने जहाँनारा को समवेदना का पत्र लिखा, जिसके उत्तर में उसने औरंगजेब के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की (देखिये, इंडियन हिस्टारिकल रेकार्ड्स कमीशन, जिल्द 3, 1921, पृ० 23
5. ट्रैवर्नियर, जिल्द 1, पृ० 376–77
6. बर्नियर, पृ० 123

शाहनबाज खाँ को अपने पिता के हाथों दण्डित होने से बचा लिया।[1] जेबुन्निसा ने अपने छोटे भाई मुहम्मद अकबर का साथ दिया जिससे अकबर के विद्रोह करने पर और भागने पर उसे बन्दी बनाया गया। उसका वजीफा बन्द कर दिया गया (1702)।[2] औरंगजेब ने अपनी दूसरी पुत्री जीनतुन्निसा बेगम को मरहठा कैदियों, शम्भुजी की विधवा और शाहू की देखभाल का कार्य सौंपा।[3]

काबुल के गवर्नर अमीर खाँ की पत्नी साहिबजी प्रशासकीय मामलों में दक्ष थी। वह राजनीति में भाग लेती थी। काबुल प्रान्त का वास्तविक गवर्नर उसे समझा जाता था।[4]

जहाँदार शाह के शासन काल में लाल कुँवर प्रशासकीय मामलों में हस्तक्षेप करती थी। उसके ही कहने पर लोगों को जागीरें दी जाती थीं। उसके सगे संबंधियों को उसकी सिफारिश पर जागीरें दी गईं। उसे शाही चिह्न प्रदान किये गये।[5] 1712-13 में फरुखसियर की मां ने राजनीति में भाग लिया और सैयद भाइयों के समर्थन से फरुखसियर मुग़ल सम्राट बनाया गया।[6] बाद में अपनी मां की सिफारिश पर मुहम्मद मुराद कश्मीरी को विकालत खां की उपाधि और 1000 का मनसब दिया।[7]

मुहम्मद शाह के समय में उसकी मां नवाब कुरेसिया बेगम ने राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[8] उसके प्रयासों के कारण सैयद भाइयों का पतन हुआ।[9] उसके शासन काल में कोकी ज्यू ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। उसने सम्राट की मां नवाब कुरेसिया को अपने ज्योतिष के ज्ञान से प्रभावित किया।[10] मुहम्मद शाह के सम्राट बनने के बाद कोकी ज्यू को शाही मोहर रखने के लिये दिया।[11] बहुत से

---

1. अहकामे आलमगीरी, पृ० 49, उद्धृत, रेखा मिश्रा, पृ० 50
2. वही, पृ० 51
3. जी० एस० सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ मरहठाज, जिल्द 1, पृ० 350
4. सरकार–स्टडीज इन मुग़ल इण्डिया, कलकत्ता 1919, पृ० 114–117
5. सतीश चन्द्र–पार्टीज एण्ड पालिटिक्स ऐट दि मुग़ल कोर्ट, पृ० 70–71
6. वही, पृ० 91
7. खाफी खां, मुन्तखबुल्लबाब, कलकत्ता 1874, पृ० 791
8. इरविन, लेटर मुगल्स, जिल्द 2, पृ० 3
9. वही, पृ० 4
10. रेखा मिश्रा, पृ० 56
11. इरविन, लेटर मुगल्स, जिल्द 2, पृ० 265

अमीरों ने ऊँची जागीरों के लिये उसके माध्यम से सम्राट से संपर्क स्थापित किया और उन्हें सफलता मिली।[1] इस प्रकार कोकी ज्यू ने 'पेशकश' के रूप में बहुत-सा धन संग्रहीत किया।

मुगल काल में राजकीय परिवार की स्त्रियों को विविध उपाधियों से सम्मानित किया जाता था,[2] जैसे 'मरियम मकानी', 'मरियमुस जनानी', बिलकिस मकानी, सबसे महत्वपूर्ण उपाधि 'नूर महल' और 'नूरजहाँ' जहाँगीर ने मेहरुन्निसा को दी। उसे 'शाह-बेगम' भी कहा जाता था।[3] शाहजहाँ ने अपनी पत्नी अर्जुमन्दबानू बेगम को 'मुमताज महल' की उपाधि दी और उसकी स्मृति में ताजमहल बनवाया।

जहाँनारा को 'साहिबातु जजमानी' पादशाह बेगम की उपाधियां दी गई। औरंगजेब की पुत्री जीनतुन्निसा बेगम को 'पादशाह बेगम' की उपाधि मिली।[4] औरंगजेब ने अपनी पत्नियों को उन स्थानों के नाम की उपाधियाँ दीं जहाँ से वे आई थीं, जैसे—'औरंगबादी महल' 'उदयपुरी महल' जहाँदार शाह की प्रिय बेगम लाल कुँअर को 'इमतियाज महल' की उपाधि मिली। इसी प्रकार मुहम्मद शाह की मां को 'हसरत बेगम' और 'मलिकाये जमानी' की उपाधियाँ दी गई।[5] इन स्त्रियों को व्यक्तिगत जागीरें और नकद धन शाही खजाने से दिया जाता था।[6] सबसे अधिक अनुदान 2 करोड़ रु० वार्षिक लाल कुँअर को जहाँदार शाह ने दिया।[7]

---

1. इलीयट जिल्द 8, पृ० 523
2. इरविन, आपसिट, जिल्द 2, पृ० 265
3. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 59
4. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 2
5. रेखा मिश्रा, पृ० 60
6. नूरजहाँ की जागीर पूरे साम्राज्य में दूर-दूर तक फैली थी। इसे लाख रु० वार्षिक अनुदान राजकोष से दिया जाता था (तुजुक, रोजर्स जिल्द 1, पृ० 380) मुमताज महल को 10 लाख रु० वार्षिक दिया गया। शाहजहाँ ने नूरजहाँ के वजीफे में कोई कमी नहीं की। मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ की देखरेख उसकी पुत्री जहाँनारा ने की, इसीलिये उसका वजीफा 6 लाख से बढ़ाकर 10 लाख कर दिया गया। औरंगजेब ने गद्दी पर बैठने के बाद जहाँनारा का अत्यधिक सम्मान किया, यद्यपि वह दारा की समर्थक थी। उसके निर्धारित वजीफे में कोई कटौती नहीं की गयी।
7. इरविन, जिल्द 1, पृ० 194

ऐसा समझा जाता है कि राजकीय परिवार की कुछ महिलाओं ने निजी व्यापार की रुचि दिखलाई और माल भेजने के लिए अपने-अपने अलग जहाजों की व्यवस्था की जहाँगीर की मां का जहाज 1200 टन माल ले जाने की क्षमता रखता था।[1] इसी प्रकार नूरजहाँ के पास कई जहाज थे। वह विदेशी व्यापार में दिलचस्पी रखती थी। नूरजहाँ का मुख्य प्रतिनिधि उसका भाई आसफ खाँ था।[2] जहाँनारा भी अपना निजी व्यापार करती थी और उसके कई जहाज थे। उसने अंग्रेज और हालैंड के व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित किया और व्यापार में अधिक लाभ प्राप्त किया।[3]

मुगल सम्राटों ने अपने हरम के जनानखाने को सुव्यवस्थित किया। स्त्रियों की सुरक्षा के लिये अंगरक्षक (अहदीज) महल के चारों तरफ रखे जाते थे।[4] महल में नाजिर होता था जिसकी देख-रेख में अंगरक्षक कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त मुगल सम्राट महल के अन्दर स्त्रियों की नियुक्ति करता था जिनका कार्य हरम के विषय में प्रतिदिन विस्तृत जानकारी सम्राट को देना था।[5] हरम में स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। कोई बाहरी व्यक्ति अन्दर नहीं जा सकता था।

अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ बड़े ही शान शौकत से रहती थीं। टेवर्नियर ने लिखा है कि जफरखाँ की स्त्री बहुत उदारता से खर्च करती थी। उसने एक दावत में सम्राट अकबर को भी आमंत्रित किया था।[6]

स्त्री शिक्षा

सल्तनत काल में स्त्री शिक्षा की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। ऐसा अनुमान है कि सुल्तानों और अभिजात वर्ग के लोगों ने अपने परिवार की लड़कियों को शिक्षा देने के लिये अलग से प्रबंध किया। इल्तुतमिश की पुत्री रजिया अरबी और फारसी भाषाओं में पारंगत थी। उसे कुरान जबानी याद था। यही नहीं, रजिया को

---

1. रेखा मिश्रा पृ० 69
2. आर० के० मुकर्जी, दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, लन्दन, पृ० 83
3. इंगलिश फैक्ट्री रेकार्डस् (1642-45), उद्धृत रेखा मिश्रा, पृ० 70
4. आइने अकबरी जिल्द 1, पृ० 45
5. मनुची, जिल्द 2, पृ० 331
6. ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि जफर खाँ की स्त्री इतना अधिक खर्च करती थी जितना कि सम्राट की सभी महिलायें मिलकर भी नहीं खर्च करती थीं—ट्रेवर्नियर, जिल्द 1, पृ० 389

सैनिक शिक्षा भी दी गई थी। वह घुड़सवारी और तलवार चलाने में प्रवीण थी। इससे पता चलता है कि सुल्तानों और अमीरों ने अपने परिवार की स्त्रियों को शिक्षित करने की व्यापक व्यवस्था की होगी। इल्तुतमिश की पत्नी शाहतुर्कन[1] और जलालुद्दीन खिलजी की पत्नी, मल्केजहाँ राज्य प्रशासन कार्य में दक्ष थीं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्री शिक्षा की व्यवस्था सुचारु रूप से की गई होगी।

अकबर ने अपने महल की स्त्रियों को नियमित रूप से शिक्षित करने के लिये व्यवस्था की थी। मांसरेट ने अकबर की इस व्यवस्था का विस्तृत विवरण दिया है।[2] अकबर ने फतेहपुर सीकरी में लड़कियों के लिये एक स्कूल खोला।[3] मुगल सम्राटों ने अपनी पुत्रियों को फारसी पढ़ाने के लिये शिक्षित महिलाओं की नियुक्ति की।[4] शाह-जहाँ और औरंगजेब ने अपनी पुत्रियों के पढ़ाने के लिये शिक्षित महिलाओं को रखा। पाठ्यक्रम में फारसी, अरबी, इतिहास आदि विषयों की शिक्षा सम्मिलित थी।[5] कुछ स्त्रियों ने कुरान का गहन अध्ययन किया और शेख सादी शीराजी द्वारा लिखित 'गुलिस्तान' और 'बीस्तान' का अध्ययन किया।[6] अभिजात वर्ग की स्त्रियों की शिक्षा के लिये भी अलग से अध्यापिकायें रखी जाती थीं।[7]

मुगल हरम में बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम सबसे शिक्षित महिला थी। वह फारसी और तुर्की भाषायें अच्छी तरह जानती थी। वह कवितायें भी करती थी। उसकी बहुमूल्य कृति 'हुमायूँनामा' है।[8] बाबर की दूसरी पुत्री गुलरुख बेगम एक कवयित्री

---

1. इब्नबतूता, किताबुररेहला, जिल्द 2, पृ० 25–26
2. एस० एफ० मांसरेट—दि कमन्टेरी (1581—82), अनुवाद जे० एस० हायलेन्ड और एस० एन० बेनर्जी, आक्सफोर्ड, 1922, पृ० 203
3. एन० एन० ला०, पृ० 203; एम० एम० जाफर, पृ० 197
4. यदुनाथ सरकार—स्टडीज, पृ० 301—इन अध्यापिकाओं को 'अतुन मामा' कहा जाता था। इनका काम लड़कियों की देखरेख करना और शिक्षा देना था (देखिये एस० के० बेनर्जी, लेख 'सम ऑफ दि वीमेन रिलेशन्स ऑफ बाबर' इण्डियन कल्चर, जिल्द 4, 1937–38 पृ० 53)
5. यदुनाथ सरकार, स्टडीज, पृ० 301
6. मनुची, जिल्द 2, पृ० 331
7. यदुनाथ सरकार, स्टडीज, पृ० 301
8. रेखा मिश्रा, पृ० 88

थी।[1] अकबर की पत्नी सलीमा सुल्ताने बेगम फारसी भाषा की जानकार थी और मखफी के उपनाम से कवितायें लिखती थी। उसका अपना एक ग्रन्थालय था।[2]

अब्दुर रहीम खानखाना की पुत्री जान बेगम ने कुरान पर एक टिप्पणी लिखी और अकबर ने उसे 50,000 दीनार इनाम के रूप में दिये।[3] नूरजहाँ फारसी और अरबी में पारंगत थी, वह कवितायें करती थी। उसके ग्रन्थालय में बहुमूल्य पुस्तकें थीं।[4] मुमताज महल फारसी में कवितायें लिखती थी। एक संस्कृत के विद्वान वंशीधर मिश्र को मुमताज महल ने संरक्षण प्रदान किया था।[5] नाजिर सतीउन्निसा फारसी की विद्वान थी। उसकी विद्वत्ता के कारण उसे जहाँनारा बेगम की अध्यापिका नियुक्त किया गया।[6] दारा की तरह जहाँनारा ने भी अध्यात्मवाद पर रिसाले लिखे।[7] जहाँनारा ने फारसी में कवितायें भी रचीं। उसने मुइनुद्दीन चिश्ती और उसके उत्तराधिकारियों की जीवनी लिखी।[8]

औरंगजेब ने अपनी पुत्री जेबुन्निसा बेगम के पढ़ाने के लिये एक सुशिक्षित फारसी महिला हफीजा मरियम और मुल्ला सइद अशरफी मजन्द्रानी की नियुक्ति की जो एक फारसी का प्रमुख कवि था।[9] जेबुन्निसा को कुरान जबानी याद था जिसके लिये औरंगजेब ने 30,000 सोने की मोहरें इनाम में दीं।[10] उसने गणित और नक्षत्रशास्त्र का गहन अध्ययन किया।[11] वह लेखनकला में भी प्रवीण थी और शिकस्त, 'नस्तलीक'

---

1. रेखा मिश्रा, पृ० 88
2. आइने अकबरी, जिल्द 1, अनुवाद (ब्लाकमैन), पृ० 309
3. पी० एन० चोपड़ा, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मुगल एज, पृ० 124
4. पी० एन० ओझा—सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ नार्दर्न इण्डियन सोशल लाइफ, पटना, 1961, पृ० 132
5. जे० बी० चौधरी, मुस्लिम पैट्रनेज टु संस्कृत लर्निंग, कलकत्ता, 1954, जिल्द 1, पृ० 77
6. यदुनाथ सरकार, स्टडीज, पृ० 22
7. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 90
8. वही।
9. वही।
10. यदुनाथ सरकार–स्टडीज, पृ० 79
11. मगन लाल, दीवान ऑफ जेबुन्निसा, लन्दन, 191, पृ० 83

और 'नस्ख' शैलियों में लिख सकती थी।[1] उसने एक अनुवाद विभाग खोला और बहुत-सी सर्वोत्तम साहित्यिक पुस्तकों का अनुवाद कराया।[2]

कुछ मुग़ल स्त्रियों ने शिक्षा के प्रसार के लिये स्कूल खोले। हुमायूँ की पत्नी बेगा बेगम ने अपने पति के मकबरे के समीप स्कूल खोला।[3] अकबर की दाई महाम अंगा ने दिल्ली की खैरुलमंजिल मसजिद में एक स्कूल खुलवाया।[4] जहाँनारा बेगम ने आगरे की जामा मसजिद में एक मदरसा खुलवाया।[5] प्रान्तों में भी बहुत सी शिक्षित मुस्लिम महिलाओं ने शिक्षा के प्रसार के लिये संस्थायें खोलीं। जौनपुर के शर्की सुल्तान महमूदशाह की पत्नी बीवी राज़ी ने एक कालेज खुलवाया और विद्यार्थियों और अध्यापकों के पठन पाठन के लिये वजीफे दिये।[6]

कई मुग़ल स्त्रियों ने ललित कलाओं में रुचि दिखलाई और उनके विकास में योगदान दिया। नूरजहाँ की रुचि चित्रकला में थी।[7] सजावट की कला में नूरजहाँ प्रवीण थी। उसने नये-नये डिजाइन वस्त्रों और गलीचों पर निकाले।[8] बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम और महीम बेगम भी सजावट की कला में दक्ष थी। इन लोगों ने महलों और बागों को सुन्दर ढंग से सजाया।[9]

अनेकानेक महिलायें नृत्य और संगीत में रुचि लेती थीं। कुछ स्त्रियाँ नाचने गाने का पेशा भी अपनाती थीं अकबर इनको 'किञ्चनी' कहता था।[10] बर्नियर ने उन्हें नर्तकी लिखा है।[11] ऐसी स्त्रियाँ उत्सवों में नाचती थीं।[12] कभी-कभी स्त्रियाँ अखाड़े

---

1. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 91
2. वही।
3. एस० के० बेनर्जी, हुमायूँ बादशाह, जिल्द 2, पृ० 317
4. अकबरनामा, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 313
5. यूसूफ हुसेन, लेख—एजुकेशनल सिस्टम इन मेडिवल इण्डिया, इस्लामिक कल्चर, जिल्द 30, 1956, पृ० 117
6. एन० एन० ला, पृ० 101; एस० एम० जाफर, पृ० 128
7. रेखा मिश्रा, आपसिट, पृ० 92
8. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 510
9. गुलबदन बेगम, हुमायूँनामा (बेवरिज), पृ० 114
10. आइने अकबरी, जिल्द 3, पृ० 272
11. बर्नियर, पृ० 273
12. पीटर मण्डी ने 1628 में एक नृत्य का विवरण लिखा है। (आपसिट, जिल्द 2, पृ० 216)

में भाग लेती थीं, जहाँ अभिजात वर्ग की नौकरानियों को गाना और नाचना सिखाया जाता था। ऐसे अखाड़ों में विविध संगीत के वाद्य यंत्र उपयोग में लाये जाते थे।[1] औरंगजेब ने दरबार में होने वाले संगीत के कार्यक्रमों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था फिर भी अपने परिवार की स्त्रियों के मनोरंजन के लिये उसने संगीत की अनुमति दी थी।[2] कभी-कभी राजकीय परिवारों की स्त्रियाँ स्वयं गाना गाती थीं। नूरजहाँ और जेबुन्निसा उच्चकोटि की गायिका थीं और समय-समय पर कवितायें लिखती थीं।[3] अबुल फज्ल ने लिखा है कि विवाह और जन्मोत्सव के समय कुछ स्त्रियाँ सोहल और ध्रुपद को ताल बजाकर गाती थीं। ये स्त्रियाँ प्रायः मालवा और गुजरात की होती थीं।[4]

●

1. आइने अकबरी, जिल्द 3, पृ० 273
2. मनुची, जिल्द 2, पृ० 335
3. उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, फिरोजाबाद, 1957, पृ० 204
4. आइने अकबरी, जिल्द 3, पृ० 271-72

अध्याय 3

अभिजात वर्ग

(क) : सल्तनत काल

ममलूक सुल्तानों के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

मध्य युग में किसी मुस्लिम शासक की सफलता या असफलता उसका अभिजात वर्ग पर कितना प्रभाव है, इस पर आश्रित थी। वे प्रशासन के स्तम्भ समझे जाते थे। विशिष्ट सैनिक अधिकारी, राजनीतिज्ञ और प्रशासक इसी वर्ग के होते थे। उन्हें राज्य की तरफ से विशेष अधिकार मिले हुए थे। प्रो० निजामी का कथन है कि अभिजात वर्ग वंशानुगत नहीं था, जैसा कि पाश्चात्य देशों में था।[1]

तराई के प्रथम युद्ध में मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज चौहान द्वारा पराजित होने पर एक खल्जी मलिक द्वारा सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया गया। गजनी पहुँचने पर मुइजुद्दीन ने अपने सैनिक अधिकारियों को इस पराजय के लिये दोषी ठहराया और कठोर दण्ड दिया।[2] दूसरे वर्ष अपने अमीरों के सहयोग से उसने 1192 में पृथ्वीराज को तराई के दूसरे युद्ध में हरा दिया और उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया। कुत्बुद्दीन जो उसका एक विश्वसनीय दास था भारत का गवर्नर बनाया गया। दूसरे दासों को जिन्होंने निष्ठा से मुइजुद्दीन की सेवा की थी, प्रमुख अमीरों की संज्ञा दी गई।[3]

---

1. के० ए० निजामी, वही, पृ० 124
2. फरिश्ता ने लिखा है कि अफगान, खल्जी और खुरासानी अमीरों के लापरवाही के कारण मुइजुद्दीन पराजित हुआ। (तारीखे फरिश्ता, लखनऊ, 1867, जिल्द 1 पृ० 58)
3. के० ए० निजामी, पृ० 124

प्रो० निजामी ने लिखा है कि उस समय एक अभिजात वर्ग को छोटे पद से कार्य आरंभ करना पड़ता था और बहुत समय तक छोटे से बड़े पद तक के कार्य के अनुभव प्राप्त करने के बाद 'अमीर' का पद प्राप्त होता था और उसे बहुत बड़ा क्षेत्र (अकता या इकता) दिया जाता था।[1]

मुइजुद्दीन की मृत्यु के समय (1206) उसके तीन प्रमुख दास—गजनी में ताजुद्दीन यल्दूज, मुल्तान में नसिरुद्दीन कुबाचा और हिन्दुस्तान में कुत्बुद्दीन ऐबक—अधिक प्रभावशाली थे। मिनहाज का कथन है कि मुइजुद्दीन ने यल्दूज को काला छत्र प्रदान किया था जिससे यह पता चलता है कि उसे गजनी में सुल्तान का उत्तराधिकारी घोषित किया गया था।[2] सुल्तान के निर्देश पर यल्दूज ने अपनी पुत्रियों का विवाह कुबाचा और ऐबक से किया।[3]

मुइजुद्दीन के बाद कुत्बुद्दीन ऐबक ने अपने को स्वतंत्र घोषित किया और दिल्ली में गुलाम वंश (1206-90) की नींव डाली। ये दास अपने स्वामी के प्रति विनम्र और वफादार थे परन्तु उसके परिवार के सदस्यों के साथ इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे।[4] सुल्तान बनने के बाद कुत्बुद्दीन ऐबक ने दिल्ली पर गजनी की प्रधानता समाप्त करने का प्रयत्न किया। ऐबक को चाहिये था कि वह अपने स्वामी के उत्तराधिकारी गयासुद्दीन महमूद की सहायता करता, न कि वह स्वयं अपने को स्वतंत्र शासक घोषित करता।[5] ऐसा विश्वास किया जाता है कि ऐबक को अपने स्वामी के परिवार से राजकीय सम्मान और दासता से मुक्ति पत्र सन् 1208 ई० में प्राप्त हुआ और वह उस समय तक अपने को केवल 'मलिक' और 'सिपहसालार' कहता था।[6]

ऐबक के सुल्तान बनते ही मुइजुद्दीन के प्रमुख दासों के बीच सत्ता के लिये संघर्ष छिड़ गया। एक ने दूसरे को शक्ति को क्षीण करने के लिये प्रयत्न किया।

---

1. के० ए० निजामी, पृ० 124
2. तबकाते नासिरी, पृ० 133—इसामी ने यल्दूज को सुल्तान का 'दत्तक पुत्र' कहा है। (फतूहउससलातीन, पृ० 99)
3. तारीखे फखरुद्दीन मुबारक शाही, पृ० 28
4. मिनहाज, पृ० 90 और 140; तारीखे फखरुद्दीन मुबारकशाही, पृ० 28
5. वही।
6. सिक्कों पर उसने 'मलिका' और 'सिपहसालार' की उपाधि अंकित कराई—एपीग्राफिया इन्डोमोस्लामिका, 1911-12, पृ० 2

यल्दूज़ ने गज़नी पर अधिकार कर लिया। कुबाचा ने सिंध में अपनी शक्ति को बढ़ाया। दूसरे अमीरों ने भी विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रभाव को बढ़ाया।[1] अभिजात वर्ग के लोगों के प्रति उसने सतर्कता दिखाई और कूटनीति के द्वारा उन्हें अपनी तरफ मिलाया। उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश से किया।[2] धीरे-धीरे इल्तुतमिश ने ख्याति प्राप्त की। उसने खोखरों को युद्ध में पराजित किया और सुल्तान की प्रतिष्ठा बढ़ाई। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर ऐबक ने इल्तुतमिश को दासता से मुक्त कर दिया और उसे 'अमीरुल उमरा' की उपाधि दी।

बंगाल के अलीमर्दा खिलजी ने इख्तियारउद्दीन की हत्या करके सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित कर ली। ऐबक ने बाद में उसे विधिवत इख्तियारउद्दीन का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया और उसे बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया।[3] कुछ समय के बाद मोहम्मद शेरां के नेतृत्व में खिलजी अमीरों ने बंगाल में विद्रोह किया और अलीमर्दा खिलजी को गिरफ्तार कर लिया परन्तु वह जेल से भागने में सफल हुआ। उसने दिल्ली जाकर ऐबक से प्रार्थना की कि सुल्तान बंगाल में सैनिक हस्तक्षेप करके विद्रोही अमीरों को नियंत्रित करे लेकिन ऐबक उस समय सेना भेजने की स्थिति में नहीं था। ऐबक ने बंगाल की स्थिति को सुधारने के लिये कूटनीतिक प्रयास किया और कैमाज रूमी को समझौता कराने के लिये बंगाल भेजा।[4] रूमी ने हुसामुद्दीन ईवाज को बंगाल का शासन प्रबन्ध चलाने के लिये चुना परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न चल सकी और ऐबक ने फिर से अलीमर्दा को बंगाल का गवर्नर बनाया।[5] बंगाल पहुँचने पर उसने वहाँ के अमीरों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया और आतंक फैलाया।[6]

---

1. कैमाज रूमी और इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बख्तियार खल्जी ने स्थिति से लाभ उठाया।
2. इल्तुतमिश को बचपन में ही उसके ईर्ष्यालु भाइयों ने 30,000 जीतल में ऐबक को बेच दिया था। इस विवाह के बाद उसकी पदोन्नति हुई और वह 'अमीरे शिकार' और मुख्य सेनापति बना।
3. मिनहाज, पृ० 158
4. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, दि फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, इलाहाबाद, 1961, पृ० 99-91
5. वही, पृ० 91
6. मिनहाज, पृ० 158

ऐबक ने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश से किया। अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद उसने अपने प्रतिद्वन्दियों, यल्दूज और कुबाचा के विरुद्ध सैनिक अभियान चलाया और उनकी शक्ति को नष्ट किया। ऐबक की कड़ी कार्यवाही के कारण अमीरों का विरोध समाप्त हो गया। परन्तु जब भी उन्हें अवसर मिला उन्होंने अपना प्रभाव दिल्ली के सुल्तान के चयन में दिखाया। कुत्बुद्दीन ऐबक की आकस्मिक मृत्यु (1210) से दिल्ली की राजनीति में अस्थिरता आ गई। अमीर दो दलों में विभक्त हो गये। लाहौर के अमीरों ने ऐबक के पुत्र आरामशाह[1] को दिल्ली का सुल्तान बनाया।[2] जब कि दिल्ली के अमीरों ने इल्तुतमिश को सुल्तान बनाया।

सुल्तान बनने के बाद इल्तुतमिश को अमीरों को नियंत्रित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसको मुइजी और कुतुबी अमीरों से मोरचा लेना पड़ा। यहाँ तक कि राजमहल के अंगरक्षकों 'जानदार' के सरदार और कुछ विधिवेत्ताओं ने इल्तुतमिश को सुल्तान मानने से इनकार कर दिया। काजी वजीहुद्दीन ने वैधानिक आपत्ति उठाई और कहा कि एक दास सुल्तान नहीं बन सकता। इस पर इल्तुतमिश ने वह मुक्तिपत्र दिखलाया जिसे ऐबक ने इल्तुतमिश को दिया था। विरोधी अमीरों को कोई समर्थन नहीं मिला और उनका विरोध समाप्त हो गया। प्रारम्भ में इल्तुतमिश ने ऐसे अमीरों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की, परन्तु परिस्थिति अनुकूल होने पर उसने उन्हें कड़ा दण्ड दिया। विद्रोहियों को दण्डित करने में उसे इजुद्दीन बख्तियार, नासिरुद्दीन मर्दान, शाहहिज्बुद्दीन अहमद सूर और इख्तिारुद्दीन मुहम्मद उमर से सहायता मिली।[3] विद्रोहियों को मृत्युदण्ड दिया गया।[4] इल्तुतमिश का अपने अभिजात वर्ग के लोगों से यह प्रथम संघर्ष था। विरोधी अमीरों के विरुद्ध अपनी सफलता से इल्तुतमिश संतुष्ट नहीं हुआ। उसने अपनी व्यवहार कुशलता और

---

1. आरामशाह के ऐबक के पुत्र होने पर इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। देखिये, अनुवाद, तबकाते नासिरी, पृ० 529; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 3, पृ० 51; इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, मार्च, 1937, पृ० 120
2. सिपहसालार अल इस्माइल, जो 'अमीरे दाद' के पद पर था, ने इल्तुतमिश को सुल्तान बनाने के लिये मुख्य भूमिका निभाई–मिनहाज, पृ० 170—देखिये, एस० बी० पी० निगम, नोबिलिटी अण्डर दि सुल्तान ऑफ देहली (1206-1398), दिल्ली, 1968, पृ० 26
3. ताजुलमासीर, इलियट जिल्द 2, पृ० 237
4. मिनहाज, पृ० 171

कूटनीति से अमीरों को अपने मातहत कर लिया।

इल्तुतमिश पर अपहर्त्ता होने का अभियोग लगाया गया, जिसका कोई आधार नहीं था।[1] बगदाद के खलीफा ने उसे 'सुल्ताने आजम' की उपाधि से विभूषित किया। डॉ० आर० पी० त्रिपाठी का कहना है कि शक्तिशाली होते हुए भी इल्तुतमिश को सिंहासन पर बैठने में हिचक और शर्म मालूम हुई, क्योंकि बड़े-बड़े तुर्की अमीर उसके बराबर के श्रेणी में थे।[2] उस समय खिलजी अमीर शक्तिशाली थे। उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में ख्वारिज्म शाह जलालुद्दीन मगबर्नी के साथ उसके समर्थक खिल्जी अमीरों ने भारत में प्रवेश किया।[3] बंगाल में अलीमर्दा खिल्जी के अत्याचार के कारण वहाँ के अमीरों ने विद्रोह किया और उसे जान से मार डाला। हुसामुद्दीन ईवाज के हाथ में सत्ता आई और उसने सुल्तान गयासुद्दीन के नाम से अपने को बंगाल का स्वतंत्र शासक घोषित किया। उसने बिहार पर भी अधिकार कर लिया। कुछ समय तक इल्तुतमिश बंगाल में महत्वाकांक्षी अमीरों को नियंत्रित न कर सका। सन् 1225 ई० में ईवाज को दिल्ली के सुल्तान की प्रभुता स्वीकार करने के लिये विवश किया गया और बिहार को उसके अधिकार से वंचित कर वहाँ मलिक जानी को गवर्नर नियुक्त किया गया परंतु बंगाल के विद्रोही अमीरों ने फिर विद्रोह किया। अन्त में 1227 ई० में इल्तुतमिश को वहाँ सेना भेजनी पड़ी। ईवाज जान से मारा गया और बंगाल दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया।[4] 1230 ई० में खिल्जी अमीरों ने बल्का के नेतृत्व में फिर विद्रोह किया जिसे इल्तुतमिश ने दबा दिया और बल्का जान से मारा गया।[5] बिहार और बंगाल में अलग-अलग गवर्नरों की नियुक्ति

1. आर० पी० त्रिपाठी, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, इलाहाबाद, 1956, पृ० 25
2. वही, पृ० 27-28
3. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 95
   चंगेज खाँ के आक्रमण से भयभीत होकर मगबर्नी ने भारत में शरण लेने के लिये इल्तुतमिश से प्रार्थना की। सुल्तान मध्य–एशिया की राजनीति में उलझना नहीं चाहता था इसलिये उसने अनुमति नहीं दी। मगबर्नी ने बलपूर्वक पंजाब के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और लगभग 3 वर्षों (1221-24) तक वहाँ रहा।
4. मिनहाज, पृ० 164
5. वही, पृ० 163—उसे इख्तीयारूद्दीन बल्का कहा जाता था परन्तु मिनहाज (पृ० 174) ने उसे बल्का मलिक खिल्जी लिखा है; ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 109

की गई ।[1]

भारत में दूसरे मुस्लिम देशों की अपेक्षा एक दास को राज्य प्रशासन में कम समय में ऊँचे से ऊँचे पदों पर पहुँचने की सुविधाएँ प्राप्त थीं यदि उसमें प्रतिभा और कार्य कुशलता हो । [2] प्रारम्भ में दास को राजमहल में निम्नलिखित में से किसी एक पद पर रखा जाता था : 'चाश्नीगीर', 'सार जानदार', 'अमीरे मजलिस', 'साकीए खास', 'सार आब्दार', 'तश्तदार', 'जामदार', 'नायब सार जानदार', 'युजबान' आदि ।[3] अपने कार्य में दक्षता दिखलाने पर उसकी पदोन्नति कर दी जाती थी । समकालीन इतिहासकार ने ऐसे दासों की सूची दी है जिन्हें अपने कार्य में[4] दक्षता और कुशलता दिखलाने पर 'अकतादार' बनाया गया ।[5] कुछ ऐसे दास भी थे जिन्हें उपरोक्त पदों में एक से अधिक पदों पर कुशलतापूर्वक कार्य करने पर उन्हें अकतादार बनाया गया । कुछ मामलों में इस पद्धति से विमुख होकर भी दासों को अकतादार बनाया गया । यदि किसी उम्मीदवार ने प्रारम्भिक चरणों में अपने कार्य में उदासीनता या लापरवाही दिखाई तो उसे अकतादार बनने में अधिक विलम्ब होता था ।

नासिरुद्दीन ऐतमार अल बहाई 'सारजानदार' के पद पर था । बाद में लाहौर का अकतादार बनाया गया ।[6] सैफुद्दीन ऐबक 'अमीरे मजलिस' था, बाद में उसे सिरसुती का इलाका दिया गया ।[7] इख्तीयारुद्दीन कारकस खाँ 'साकिएखास' था और उसे बरबहवान और दर्नकवान के अकते दिये गये । इल्तुतमिश के समय में उसे मुल्तान भी दिया गया ।[8] इख्तीयारुद्दीन ऐतिगीन सारजानदार था । बाद में उसे मंसूरपुर और

---

1. मलिक अलाउद्दीन जानी को लखनौती और मलिक सैफुद्दीन ऐबक को बिसर का गवर्नर नियुक्त किया गया । (मिनहाज, पृ० 231-242)
2. के० ए० निजामी, पृ० 124; ए० बी० एम० हबीबुल्ला, पृ० 299
3. के० ए० निजामी, पृ० 124-25
4. देखिए 'अकता' (या इकता) पर लेख—इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, जिल्द 2, पृ० 61; लेख 'ममलूके सीरिया एण्ड इक्ता', इस्लामिक लिटरेचर, लाहौर, अक्टूबर, 1951, पृ० 33-39; मोरलैण्ड, दि अग्रेरियन सिस्टम आफ मोस्लेम इण्डिया, पृ० 216-23
5. मिनहाज, पृ० 236, 238, 250 और 258
6. वही, पृ० 236
7. वही, पृ० 238
8. वही, पृ० 250

बदायूँ के इलाके दिये गये। वह 'अमीरे हाजिबे' भी रह चुका था।[1] ताजुद्दीन संजर कज लखन 'चाश्नीगीर' और अमीरे आखुर था। उसे मुल्तान और गुजरात दिया गया।[2] कमरुद्दीन कैरान तमर खाँ नायब अमीरे अखुर और अमीरे अखुर के पद पर काम कर चुका था, बाद में उसे कन्नौज का अकता दिया गया।[3] इख्तियारुद्दीन अल्तुनिया ने अपना राजनैतिक जीवन 'सराब्दार' और बाद में 'सारछत्रदार' के पद से प्रारम्भ किया था। उसे अन्त में बरन का अकता दिया गया।[4] ताजुद्दीन संजर ने 'अमीरे आखुर' और नायब अमीरे हजिब के पद पर काम किया था, अन्त में उसे जंजना का इलाका दिया गया।[5] सैफुद्दीन ऐबक खिताई 'सारजानदार' और 'सारजानदार' के पद पर था, परन्तु बाद में उसे समाना और कुहराम का क्षेत्र दिया गया। कुछ समय उपरान्त वह 'वकीलेदार' भी बना।[6] इजुद्दीन तुगरिल तुग़न खाँ ने 'साकी ए खास', दात्रतदार', 'चाश्नीगीर' और 'अमीरे अखुर' के पदों पर काम किया और तब उसे बदायूँ का अकता दिया गया।[7] इसी प्रकार हिन्दू खाँ को कई पदों पर काम करना पड़ा, जैसे—'युजबान' 'शुलहदार' 'तश्तदार' और 'खजानादार' और तब उसे अच्छ का अकता दिया गया।[8] प्रायः जब अमीरों को अकतादार बना दिया जाता था, तो उन्हें राजकीय महल की सेवाओं से मुक्त कर दिया जाता था। परन्तु हिन्दू खाँ के साथ ऐसा नहीं किया गया और उसे महल में तश्तदार के पद पर भी काम करना पड़ा[9]

इससे पता चलता है कि ममलूक सुल्तानों ने अमीरों की पदोन्नति के लिये

---

1. वही, पृ० 253
2. वही, पृ० 232
3. वही, पृ० 247-48
4. वही, पृ० 251
5. वही, पृ० 259-61
6. वही, पृ० 259
7. ऐसा कहा जाता है कि जब वह 'दवातदार' के पर था तो उसने राजकीय दवात को खो दिया। इसी कारण से उसे अन्य पदों पर अधिक समय तक काम करना पड़ा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसे दण्डित करने के लिए ही दूसरे पदों पर काम करने के लिये कहा गया। वही, पृ० 242
8. वही, पृ० 249
9. के० ए० निजामी, पृ० 126

एक नया तरीका अपनाया और महत्वाकांक्षी अमीरों को कड़े अनुशासन के अंतर्गत रखा।[1] प्रो० खलिक अहमद निजामी ने ठीक ही कहा है कि 'वास्तव में राजकीय महल ने दिल्ली सल्तनत के प्रशासकीय अधिकारियों को प्रशिक्षण देने में नर्सरी का कार्य किया।[2] इल्तुतमिश ने अपने दासों को राज्य प्रशासन के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया। उसने उन्हें प्रशिक्षित करने में अधिक रुचि दिखलाई। सुल्तान की प्रेरणा से प्रभावशाली दासों ने अपने को एक शक्तिशाली दल के रूप में संगठित किया जिसे 'तुरकाने चहलगानी'[3] या 'चालीस' कहा जाता था। भारत में तुर्की अमीर साधारण पदों पर कार्य और शारीरिक श्रम करना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।[4] अधिकतर तुर्की मलिक खिताई, कड़ा खिता, किपचक, गर्जी और इलवारी कबीले के होते थे।[5]

इस काल में अधिक संख्या में मध्य एशिया से शरणार्थी भारत में आये जिससे दिल्ली की राजनीति अधिक प्रभावित हुई।[6] बहुत से शरणार्थी वहाँ के राजकीय परिवारों से सम्बन्धित थे, जिन्हें प्रशासन के क्षेत्र में अधिक अनुभव था। इल्तुतमिश इन सभी लोगों को राज्य प्रशासन में नियुक्त किया।[7] ताजुद्दीन अर्सलान खाँ संजर ख्वारिज्मी 'खासदार' और 'चाश्नीगीर' के पदों पर रहने के बाद उसे बलराम का इलाका दिया गया।[8] तुर्की अभिजात वर्ग के लोग राज्य प्रशासन में विदेशी अमीरों की नियुक्ति को सहन नहीं कर सके।[9] इल्तुतमिश ने बड़ी सावधानी और कूटनीति से काम लिया और तुर्की और विदेशी अमीरों में संघर्ष नहीं होने दिया।[10] इल्तुतमिश

---

1. के० ए० निजामी, पृ० 126
2. वही।
3. जियाउद्दीन बर्नी, तारीखे फिरोजशाही, पृ० 65
4. जब बलबन को निम्न वर्ग का काम दिया गया तो तुर्की अमीरों ने इसका विरोध किया। (फतूह उस सलातीन, पृ० 123)
5. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 120
6. वही, पृ० 127
7. वही।
8. मिनहाज, पृ० 265-69
9. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, पृ० 300
10. के० ए० निजामी, पृ० 127

की मृत्यु (1236) के बाद बहुत से विदेशियों को उनके पदों से हटा दिया गया।[1] जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि 'शम्शी तुर्की दासों के प्रभाव के कारण वे सभी अभिजात वर्ग के लोग और उनके वंशज जिनके पूर्वज मलिक या मलिक के पुत्र थे या वजीर या वजीर के पुत्र थे, सुल्तान शमशुद्दीन के उन पुत्रों के शासन काल में किसी न किसी बहाने नष्ट कर दिये गये, जिन्हें राजस्व के विषय में कोई जानकारी नहीं थी।[2]

कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश ने अपने अमीरों को जागीरें दीं जिससे वे सुल्तान के प्रति वफादार रहे और जिन्होंने राज्य में शान्ति बनाये रखने में अपना योगदान दिया। जागीरें छोटी और बड़ी होती थीं। छोटी जागीरें केवल अमीरों के सैनिक सेवाओं के बदले में दी जाती थीं। उनका प्रशासनिक कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका राजकोष पर कोई उत्तरदायित्व नहीं था।[3] बड़ी-बड़ी जागीरें विशिष्ट अमीरों को दी जाती थीं। इन अमीरों को अपने क्षेत्र में प्रशासनिक कार्य की देखभाल करनी पड़ती थी। इस प्रकार के अमीर अपनी जागीरों के आय-व्यय का हिसाब रखते थे जिसे दीवाने विजारत को परीक्षण करने का अधिकार था।[4] आय में से निर्धारित खर्च को अकतादार निकालकर अतिरिक्त आय राजकोष में जमा करता था।[5]

तुर्की अभिजात वर्ग के लोगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—प्रान्तीय गवर्नर, सैनिक अधिकारी और राजमहल के अधिकारी।[6] इन सभी वर्गों के अमीर सुल्तान पर अपना प्रभाव डालने का प्रयास करते थे। कभी-कभी ये लोग एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते थे और सुल्तान के लिये कठिनाई उत्पन्न करते थे।

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद दासों की संस्था 'तुरकाने चहलगानी' बहुत शक्तिशाली हो गई। इसके सदस्य ही सुल्तानों का चयन करते थे और अयोग्य समझने पर उन्हें गद्दी से हटा देते थे और दूसरे को सुल्तान बनाते थे। इस प्रकार दिल्ली के सुल्तान इन अमीरों के हाथ की कठपुतली हो गये और उनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया। इल्तुतमिश ने अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित

1. के० ए० निजामी, पृ० 127
2. तारीखे फीरोजशाही, पृ० 27
3. दोआब में 2000 अमीरों को छोटी-छोटी जागीरें (अकते) दिये गये—बर्नी, पृ० 61
4. अफीफ, तारीखे फीरोजशाही, पृ० 414
5. बर्नी, पृ० 220
6. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 132

किया[1] परन्तु अमीरों ने रुकनुद्दीन फीरोजशाह[2] को सुल्तान बनाया। तुर्की और विदेशी अमीरों में संघर्ष इसी समय प्रारम्भ हो गया। तुर्कों ने विदेशी अमीरों को प्रशासन से पृथक कर दिया। बर्नी का कहना है कि तुर्की दास बहुत शक्तिशाली हो गये और उन्होंने लोगों को आतंकित किया।[3] प्रो० निजामी ने लिखा है कि इल्तुतमिश की मृत्यु और बलबन के गद्दी पर बैठने के इन दशकों में ही दिल्ली का राजमुकुट अनेक उथल-पुथल से होकर गुजरा और यह शटल-काक की तरह एक से दूसरे की तरफ फेंका गया और अमीरों ने सुल्तान को सत्ता और प्रतिष्ठा से विहीन करने में कोई कसर नहीं उठाया।[4]

शाह तुर्कन ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए बर्बरता दिखलाई। रजिया के छोटे भाई कुतुबुद्दीन की हत्या कर दी गई और रजिया को जान से मारने के लिये षड्यन्त्र किया। अपने अमानुषिक कृत्यों को छिपाने के उद्देश्य से शाह तुर्कन ने कुछ दासियों को जान से मरवा दिया। अभिजात वर्ग के एक दल ने इस अत्याचार का विरोध किया। उन्होंने शाह तुर्कन के प्रशासन को समाप्त करने के लिये योजना बनाई। मुल्तान के गवर्नर मलिक इजुद्दीन कबीर खाँ, हाँसी के गवर्नर मलिक सैफुद्दीन कूची और लाहौर के गवर्नर मलिक अलाउद्दीन ने विद्रोह किया।[5] रजिया ने राजधानी में सुल्तान की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर एक शुक्रवार को नमाज के समय एकत्रित लोगों को शाह तुर्कन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये आवाहन किया, जिसका अनुकूल प्रभाव पड़ा।[6] अमीरों ने रुकनुद्दीन को हटाकर रजिया को गद्दी पर बैठाया (दिसम्बर, 1236 ई०)। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रजिया और अमीरों के बीच एक समझौता हुआ था, जिसके अन्तर्गत रजिया को सुल्तान बनाया गया।[7]

1. मिनहाज, पृ० 184; देखिये ए० बी० एम हबीबुल्ला, लेख 'सुल्ताना रजिया'—इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, 1940, पृ० 750-772
2. रुकनुद्दीन के शासन काल में उसकी माँ शाहतुर्कन प्रशासन कार्य तुर्की अमीरों की सलाह से चलाती थी।
3. तारीखे फिरोजशाही, पृ० 27
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 135
5. मिनहाज, पृ० 183
6. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, पृ० 116
7. रजिया ने अमीरों को आश्वासन दिया कि यदि वह सुल्तान के रूप में उचित भूमिका न निभा सके तो 'वह अपना सिर कटा देगी'—इसामी फतूहुसलातीन, पृ० 127

रजिया को गद्दी पर बैठाने में सैनिक अधिकारियों ने निर्णय लिया था और प्रान्तीय गवर्नरों से परामर्श नहीं किया गया। इससे वे लोग क्रुद्ध हो गये क्योंकि रुकु-नुद्दीन को गद्दी पर बैठाने में प्रान्तीय हाकिमों का ही हाथ था।[1] इन प्रान्त-पतियों ने सैनिक अधिकारियों के रजिया को गद्दी पर बैठाने के निर्णय को स्वीकार नहीं किया और सैनिक अधिकारियों द्वारा उपेक्षा को अपमानजनक समझा। रजिया ने मलिक इजुद्दीन कबीर को लाहौर, हिन्दू खाँ को उच्छ और मलिक ऐतिगीन को बदायूँ का गवर्नर नियुक्त किया। जब तयास्सी को अवध का गवर्नर बनाया गया तो वहाँ विद्रोह हो गया। विद्रोहियों ने तयास्सी को जेल में डाल दिया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।[2] रजिया ने विद्रोही अमीरों के साथ बड़ी सावधानी से व्यवहार किया और कूटनीति द्वारा उनकी शक्ति को क्षीण करने का प्रयास किया। ऐसा कहा जाता है कि रजिया प्रारम्भ से ही अपनी प्रजा के हितों के अनुसार कार्य करने लगी। वह लोगों के बीच जाती थी और उनकी शिकायतों को स्वयं सुनती थी। जनता रजिया का अधिक आदर करने लगी, जिससे अमीर और मलिक उसके विरोधी हो गये।[3] वे रजिया की ख्याति को सहन नहीं कर सकते थे।

मलिक इजुद्दीन मुहम्मद सालारी, मलिक इजुद्दीन कबीर और दूसरे अमीरों ने रजिया का समर्थन किया। परन्तु मलिक सैफुद्दीन कूची, उसका भाई फखरुद्दीन और मलिक अलाउद्दीन ने रजिया का विरोध किया और वे भाग गये। उनका पीछा किया गया और वे मार डाले गये।[4] कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होता था कि रजिया के विरोधियों को समूल नष्ट कर दिया गया, परन्तु रजिया अमीरों की गतिविधियों से चौकन्नी हो गई। अपनी शक्ति को सन्तुलित करने के लिये उसने विदेशी अमीरों का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा की और उन्हें राज्य प्रशासन में ऊँचे पद दिये।[5] रजिया ने एक हब्शी अमीर जमालुद्दीन याकूत को 'अमीरे अखुर' के पद पर नियुक्त किया और इस प्रकार इस महत्वपूर्ण पद पर विशिष्ट तुर्की अमीरों के दावे की उपेक्षा की। ईसामी का कहना है कि याकूत सुल्तान रुकुनुद्दीन

1 ए० बी० एम० हबीबुल्ला, पृ० 115 और 117

2. मिनहाज, पृ० 186

3. रफीक जकरिया—रजिया क्वीन आफ इण्डिया, बम्बई 1966, पृ० 1416

4. मिनहाज, पृ० 187

5. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 119; के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 136

फीरोज के समय से ही रजिया का प्रिय हो गया था।[1] रजिया के इस कार्य से तुर्की अमीर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। 'अमीरे हाजिब', इख्तियारुद्दीन ऐतिगीन के नेतृत्व में एक षड्यन्त्र रजिया को गद्दी से हटाने के लिए किया गया।[2]

तुर्की अमीर राजधानी में रजिया की शक्ति से अवगत थे, इसीलिये उन्होंने साम्राज्य के दूर-दूर भागों में उपद्रव करके रजिया की सैन्य शक्ति को वहाँ लगाने की योजना बनाई।[3] इसी योजना के अन्तर्गत लाहौर के गवर्नर कबीर खाँ ने 1240 ई० में विद्रोह किया, परन्तु उसे दबा दिया गया। ठीक उसी समय सरहिन्द के गवर्नर अल्तूनिया ने विद्रोह किया। रजिया विद्रोहियों के जाल में फँस गई। जैसे ही वह दिल्ली से अल्तूनिया के विद्रोह को दबाने के लिये सरहिन्द की तरफ रवाना हुई कि दिल्ली में क्रान्ति हो गई।[4] वहाँ अमीरों ने उसके भाई मुइजुद्दीन बहराम शाह को दिल्ली का सुल्तान घोषित कर दिया।[5]

रजिया ने इस विकट स्थिति पर काबू पाने के लिये अल्तूनिया से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया।[6] इस पर विद्रोहियों ने अल्तूनिया का साथ छोड़ दिया और अन्त में रजिया और अल्तूनिया को बहराम शाह ने कैथल के युद्ध में पराजित किया और वहाँ से भागते समय वे दोनों डाकुओं द्वारा मार डाले गये।[7] रजिया का पतन इसलिये हुआ कि उसने अमीरों के स्वाभिमान का कोई विचार नहीं किया। उसने उन अमीरों की भी उपेक्षा की जिन्होंने रजिया को दिल्ली का सुल्तान बनाने में सहयोग दिया था। उसने अमीरों की परवाह न करके अपने हाथों में सारी सत्ता केन्द्रित करके अपने शासन को निरंकुश बनाया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तुर्की अमीर

---

1. फतूहुस्सलातीन, पृ० 129
2. ऐतिगीन बदायूँ का गवर्नर भी था—ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 119
3. मिनहाज, पृ० 188
4. दिल्ली के कुछ अमीरों ने जो इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थे, याकूत को जान से मार डाला। याकूत की मृत्यु से दिल्ली में रजिया का अधिकार समाप्त हो गया।
5. जब मलिक इजुद्दीन मुहम्मद सालारी और मलिक करकश ने रजिया और अल्तूनिया का साथ दिया तो अमीरों ने तुरन्त बहराम शाह को गद्दी पर बैठा दिया। (मिनहाज, पृ० 190)
6. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 122; रफीक जकरिया; आपसिट पृ० 150
7. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 122

ने हिन्दुओं के प्रति उसके उदार व्यवहार को पसन्द नहीं किया और हिन्दुओं को राज्य प्रशासन में सम्मिलित करने का विरोध किया। यह भी रजिया के पतन का एक कारण था।[1]

अमीरों ने बहराम शाह को कुछ शर्तों के साथ सुल्तान बनाना स्वीकार किया था। यह निश्चित हुआ था कि बहराम शाह नाम मात्र का सुल्तान बना रहेगा लेकिन वास्तविक सत्ता नायब ऐतीगीन और वजीर मुहजाबुद्दीन में निहित रहेगी।[2] यह व्यवस्था अधिक समय तक न चल सकी, क्योंकि बहराम शाह अमीरों के हाथों की कठपुतली होकर नहीं रहना चाहता था। उसने एक हत्यारे द्वारा नायब को जान से मरवा दिया और वजीर पर भी प्रहार किया, लेकिन वह किसी प्रकार बच गया।[3] बहराम ने अपने समर्थक अमीर बद्रुद्दीन सुंकर को अमीरे हाजिब के पद पर नियुक्त किया। नायब की जगह उसने किसी की भी नियुक्ति नहीं की। कुछ समय के बाद बद्रुद्दीन सुंकर ने स्वतन्त्र ढंग से कार्य करना प्रारम्भ किया और सुल्तान की उपेक्षा करने लगा।[4] बहराम शाह अपने अमीरों से सशंकित रहने लगा। उसे गुप्त रूप से सूचना मिली कि सुंकर उलेमा के साथ मिलकर उसे गद्दी से हटाने का षड्यन्त्र कर रहा था। सैयद ताजुद्दी अली मुसावी के घर पर एक गुप्त सभा हुई जिससे वजीर के साथ-साथ उलमा उलेमा को भी आमंत्रित किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान को गद्दी से हटाने के लिये पहली बार उलेमा ने अमीरों का साथ दिया।[5]

वजीर ने सुल्तान को इस षड्यन्त्र के विषय में सूचना दी, जिससे अमीरों की शक्ति को कुचलने के लिये कठोर कार्यवाही की। सुंकर को बदायूँ चले जाने के लिए कहा[6] गया और जब वह बिना अनुमति के दिल्ली आया तो उसे बन्दी बनाया गया और उसे मृत्यु दण्ड दिया।[7] सुल्तान की इस कठोर नीति से अमीर भयभीत हो

---

1. रफीक जकरिया, आपसिट, पृ० 150
2. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 121
3. वही, पृ० 139, पाद टिप्पणी।
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 138
5. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 138
6. मिनहाज, पृ० 255
7. वही,

   काजी कबीरुद्दीन और शेख मोहम्मद शमी राजधानी से भाग गये। काजी जलाल कशानी को निकाल दिया गया। शायद उस समय सुल्तान अमीर उलेमा के विरुद्ध

गये । वजीर मुहजाबुद्दीन अवसर की बात देख रहा था और अपमानित किये जाने पर वह सुल्तान से बदला लेने के लिये सोच रहा था इसी समय मंगोलों ने भारत पर आक्रमण किया । वजीर एक सेना लेकर मंगोलों से मोर्चा लेने के लिये दिल्ली से रवाना हुआ परन्तु कुछ दूर जाने पर उसने सेना को रुकने का आदेश दिया । वजीर ने सैनिक अधिकारियों को सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उसकाया उसने एक शाही फरमान मिलने का दावा किया, जिसके अनुसार सैनिक अधिकारियों को जान से मारने के लिये कहा गया था । इस पर सेना उत्तेजित हो उठी और तुरन्त राजधानी आकर उसने महल को घेर लिया और बहराम शाह को जान से मार डाला ।[1] ऐसा कहा जाता है कि मिनहाज जो बहराम शाह का समर्थक था इस झगड़े में घायल हो गया और उसे सशस्त्र दासों ने बचा लिया ।[2]

बलबन ने इस षड्यन्त्र में प्रमुख भाग लिया । उसने दौलतखाना पर अधिकार कर और अपने को सुल्तान घोषित कर दिया ।[3] परन्तु उस समय अमीर अपने में से किसी एक को सुल्तान बनाने के लिये तैयार नहीं थे उनको स्वामिभक्ति केवल इल्तुतमिश के प्रति थी, इसीलिये उन्होंने इल्तुतमिश के दूसरे लड़के अलाउद्दीन मसूद को गद्दी पर बैठाया । उस समय इल्तुतमिश के तीन जीवित पुत्र थे—नासिरुद्दीन, जलालुद्दीन और अलाउद्दीन । अलाउद्दीन मसूद के गद्दी पर बैठने के बाद अमीरों को फिर नये पदों पर नियुक्त किया गया । मलिक कुतुबुद्दीन गोरी को 'नायबे मुल्क' बनाया गया । मुजाबुद्दीन वजीर के पद पर पूर्ववत बने रहे । मलिक इख्तीयारुद्दीन कारकश को 'अमीरे हाजिब' के पद पर रखा गया । मिनहाजुससिराज ने मुख्य काजी का पद दिया और उसके स्थान पर ईमामुद्दीन शफुरकानी की नियुक्ति की गई । बलबन को जिसने सुल्तान बनने का प्रयास किया था, नागर, मंदोर, अजमेर और बदायूँ

कठोर कदम उठाने की स्थिति में नहीं था । इसीलिए उसने केवल उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरण किया–के०ए० निजामी, आपसिट, पृ० 138

1. मिनहाज, पृ० 196-97
2. के० ए० निजामी, आपसिट, 139

   जिस समय वजीर की चाल के विषय में सुल्तान को पता लगा, उसने सेखुल इस्लाम द्वारा स्पष्टीकरण देना चाहा । परन्तु सुल्तान की यह योजना असफल रही क्योंकि शेखुल इस्लाम स्वयं षड्यन्त्रकारियों से मिल गया ।
3. मिनहाज, पृ० 127

के इलाके दिये गये ।[1] प्रो० निज़ामी का कथन है कि, "यदि परिस्थितियाँ ठीक होतीं तो बलबन को बड़े-बड़े इलाके मिलने के बजाय मृत्युदण्ड दिया जाता । इन सुविधाओं और रियायतों को देने के कारण, जो राजनैतिक कारणों से प्रदान की गई उससे राजस्व की स्थिति अधिक दयनीय हो गई ।"[2] अलाउद्दीन मसूद के समय मुहताबुद्दीन का आचरण ठीक नहीं था । उसने राजस्व के कुछ विशेषाधिकारों को अपने पास रखा ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि अभिजात वर्ग के लोग आपस में किसी के भी, चाहे वह कितना सम्मानित और विशिष्ट व्यक्ति हो, राजस्व के विशेषाधिकारों के प्रयोग के कट्टर विरोधी थे ।

मलिक ताजुद्दीन सुंकर ए किरतखाँ और मलिक नसरत खाँ सुंकर ने वजीर का विरोध किया और बलबन के उकसाने पर उन्होंने मुहजाबुद्दीन की हत्या कर दी ।[4] मुहजाबुद्दीन की मृत्यु के बाद राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में एक नया मोड़ आया । बलबन को अमीरे हाजिब बनाया गया । उसने प्रशासन के सभी क्षेत्र में अपनी प्रभुता स्थापित की ।[5] निजामुद्दीन अबूबक्र को वजीर का पद दिया गया । परन्तु अमीरे हाजिब के रूप में बलबन ने वज़ीर के अधिकार को कम कर दिया और सभी विशिष्ट अमीरों ने बलबन की प्रभुता स्वीकार की ।

बलबन ने सारी सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित कर ली थी । उसने अमीरों का ध्यान राजपूतों और मंगोलों की समस्या की ओर आकृष्ट किया और उनके विरुद्ध सैनिक अभियान चलाया ।[6] उसका विचार था कि राज्य प्रशासन की सैनिक अभियान चलाने की कोई निर्धारित योजना न रहने से अमीर और सैनिक अधिकारी आपसी दलबन्दी में फँस जाते थे ।[7] अलाउद्दीन मसूद अधिक समय तक गद्दी पर न

---

1. मिनहाज, पृ० 250-261
2. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 140
3. उसने एक नौबत और हाथी का प्रयोग अपने निवास-स्थान पर किया—मिनहाज, पृ० 198
4. मिनहाज, पृ० 250; डा० हबीबुल्ला का कथन है है कि मुहजाबुद्दीन तुर्की अमीरों के प्रभाव को समाप्त करना चाहता था इसीलिये उन लोगों ने मुहजाबुद्दीन के विरुद्ध षड्यन्त्र किया । (आपसिट, पृ० 124)
5. मिनहाज, पृ० 199
6. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 125
7. वही ।

रह सका, क्योंकि महत्वाकांक्षी अमीर अपने स्वार्थ-सिद्धि में लगे थे। कदाचित् बलबन अपने समर्थकों को प्रशासन में प्रमुख पदों पर रखना चाहता था और दूसरे तुर्की अमीरों की शक्ति को कम करना चाहता था। इसीलिये उसने नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर बैठाया (1246) और अलाउद्दीन मसूद को गद्दी से उतार दिया।[1] मिनहाजुससिराज ने लिखा है कि सुल्तान मसूद अमीरों के प्रति अत्याचारी हो गया। अत उन्होंने उसे गद्दी से हटाने के लिए षड्यन्त्र किया। वह षड्यन्त्र इतना गुप्त रखा गया कि किसी को इसकी जानकारी न मिल सकी। नासिरुद्दीन महमूद उस समय अपनी माँ के साथ बहराइच में था जब कि षड्यन्त्रकारियों के नेता बलबन का पत्र उसे तुरन्त दिल्ली पहुँचने के लिये मिला।[2] जैसे ही वह दिल्ली पहुँचा उसे सुल्तान घोषित कर दिया गया।[3]

नासिरुद्दीन महमूद के गद्दी पर बैठने के बाद अभिजात वर्ग के लोगों की शक्ति कम होने लगी और बलबन ने अपना प्रभाव बढ़ाया। उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान से कर दिया। इससे वह सुल्तान के समीप आ गया। प्रशासन में उसने अपना एकाधिपत्य कर लिया। अपनी शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से उसने विशिष्ट तुर्की अमीरों की उपेक्षा की और उन्हें कुचल दिया। कोई तुर्की अमीर नहीं बचा जो बलबन के बढ़ते हुये इरादों पर रोक लगा सकता। इसी बीच में इमाद्दुददीन रिहान जो भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता था, ने बलबन के विरुद्ध सुल्तान के कान भरा। अन्त में विवश होकर सुल्तान ने बलबन को हटा दिया और[4] उसके स्थान पर रिहान की नियुक्ति की (1253)। प्रशासन में रिहान ने अपने सहयोगियों और मित्रों को प्रमुख स्थान दिया। पुराने अनुभवी अमीरों को जिन पर बलबन के समर्थक होने का अभियोग था नौकरी से निकाल दिया गया। ऐसा करने से प्रशासन में गतिरोध उत्पन्न हो गया।[5] तुर्की अमीरों ने रिहान के विरुद्ध संघर्ष किया। अन्त में विवश होकर रिहान को निकाल दिया गया और फिर से बलवन को प्रधान मंत्री के स्थान पर

---

1. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 125
2. मिनहाज, पृ० 189
3. ए० बी० एम० हबीबुल्ला, पृ० 139
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 141
5. मिनहाज सिराज जो राजधानी में प्रधान काजी था, उसे भी नौकरी से निकाल दिया गया और उसके स्थान पर शमशुद्दीन को रखा। बलबन के चचेरे भाई शेर खाँ को हटाया गया। उसके स्थान पर अर्सला खाँ को पश्चिम का गवर्नर बनाया गया।

रखा गया (1254)। बलबन ने रिहान के सभी समर्थकों को[1] हटा दिया और फिर अपने आदमियों को प्रशासन में रखा।[2] बलबन ने रिहान को जान से मरवा दिया। प्रो० निजामी ने बलबन के कार्यों की सराहना की है कि उसने अमीरों को समूल नष्ट किया, जिससे भविष्य में अभिजात वर्ग और सुल्तान में संघर्ष की सम्भावना न रहे।[3]

बलबन फिर से प्रधानमंत्री बनने के बाद महत्वाकांक्षी हो गया। उसने सुल्तान से राजस्व के कुछ चिह्न और विशेष अधिकारों की मांग की। प्रो० निजामी का कहना है कि बलबन बहुत सावधानी से गद्दी पर अधिकार करने की योजना बना रहा था।[4] जब एक बार कुतुबुद्दीन हसन ने बलबन पर हास्यास्पद और व्यंगात्मक ढंग से उसके सुल्तान बनने के प्रयासों पर टिप्पणी की तो बलबन ने उसकी हत्या करवा दी। सुल्तान ने जब इस कार्य पर दुःख प्रकट किया तो उसने केवल इतना कहा कि उसने यह कार्य दिल्ली सल्तनत के हित में किया।[5] नासिरुद्दीन की मृत्यु के बाद बलबन ने गद्दी पर अधिकार कर लिया (1266)।

गद्दी पर बैठते ही बलबन ने 'तुर्काने चहलगामी' के सदस्यों की शक्ति को क्षीण करने की योजना बनाई। ये सदस्य आपस में एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करते थे और आपसी प्रतिस्पर्धा में फँसे रहते थे। इन अमीरों ने राज्य की बड़ी-बड़ी जागीरों को अपने अधिकार में कर लिया था।[6] इन अमीरों के घमण्ड को चूर करने के लिये पहले बलबन ने साधारण तुर्कों को प्रशासन में ऊंचा पद देकर इनके बराबर की स्थिति में रखा। इसके बाद बलबन इन अमीरों के अन्दर दोष ढूँढने लगा, और साधारण से साधारण अपराधों पर उसने निष्पक्ष न्याय की आड़ में इन्हें मृत्यु दण्ड दिया। जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि बड़े-बड़े खाँ और शमशी मलिक को जिन्हें वह अपना प्रतिद्वंद्वी समझता था उन्हें खुलेआम उसने फाँसी का दण्ड दिया।[7] वह सैनिक अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने एक आदेश

---

1. तुर्की अमीर बलबन की प्रधानता मानने को तैयार नहीं थे, परन्तु भारतीत मुसलमानों से वे घृणा करते थे। इसीलिये उन्होंने रिहान को हटाने का प्रयास किया।
2. मिनहाज, पृ० 203-4, 218-20, 300-301
3. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 143
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 142
5. ईशामी, फतूहउससलातीन्, पृ० 159
6. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 143
7. बर्नी, तारीखे फिरोजशाही, पृ० 47-48

जारी किया कि जो सैनिक अधिकारी सेवा से मुक्त हो गये हों वे अपनी जागीरें सरकार को वापस कर दें। परन्तु कोतवाल फखरुद्दीन की सिफारिश पर आदेश वापस ले लिया।[1]

बलबन जानता था कि दिल्ली के तख्त पर उसका कोई वंशानुगत अधिकार नहीं था। इसीलिये वह अमीरों को प्रभावित करना चाहता था कि उसका परिवार साधारण न होकर एक अलौकिक परिवार था क्योंकि वह अफशेसियाब वंश का जिसका सम्बन्ध सीधे ईश्वर से था।[2] बलबन का व्यवहार तुर्की अमीरों के साथ बुद्धिमानी से रहित था। वह अपने स्वार्थसिद्धि में लगा था। उसके कार्यों से तुर्कों की शक्ति भारत में क्षीण हुई।[3]

तुर्की अमीरों को नष्ट करने की बलबन की अदूरदर्शी नीति का परिणाम उसकी मृत्यु के समय दिखाई पड़ा जब कि अमीरों ने कैखुसरो के स्थान पर कैकूबाद को दिल्ली का सुल्तान बनाया। कुछ विद्वानों का मत है कि बलबन दिल्ली सल्तनत को अपने पुत्रों के लिये सुरक्षित रखना चाहता था, इसीलिये उसने तुर्की अमीरों का कठोरता से दमन किया।[4] परन्तु यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। बलबन ने अपने बड़े लड़के मुहम्मद खाँ को उत्तरी पश्चिमी सीमा पर और छोटे लड़के बुगरा खाँ को बंगाल में नियुक्त किया। यदि बलबन की यह इच्छा रहती तो वह अपने लड़के को दूर प्रान्तों में न भेजकर दिल्ली में ही रखता और उसके वशियतनामे को मानने से इनकार कर दिया। कैकुबाद के गद्दी पर बैठते ही प्रशासनिक व्यवस्था उनकी विलासिता के कारण शिथिल हो गई। कोतवाल[5] फखरुद्दीन के दामाद निजामुद्दीन के वजीर के रूप में सत्ता संभाली। वह स्वयं सुल्तान बनने का स्वप्न देखने लगा और उसने अपने

1. के० ए० निजामी; आपसिट, पृ० 142
2. बर्नी, पृ० 102; तबकाते नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद—रेवर्टी, पृ० 900-10, देखिए जे० आर० एस० (1898), पृ० 467-502
3. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 143
4. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 43
5. बलबन न कैखुसरो को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। कैखुसरो और कैकुबाद दोनों बलबन के पौत्र थे। कैखुसरो मुहम्मद खाँ का और कैकुबाद बुगरा खाँ का पुत्र था। कोतवाल फखरुद्दीन ने वसीयतनामे में कैखुसरो का नाम मिटा कर कैकुबाद लिख दिया।

विरोधी अमीरों का दमन किया। निजामुद्दीन ने कैखुसरो[1] की हत्या करवा दी। निजामुद्दीन ने अमीरे हाजिब, मलिक बकमारीक, वकीलेदार मलिक गाज़ी, नायब बारबक मलिक, करीमुद्दीन और अमीरे अखुर, मलिक बहराम को जान से मरवा दिया।[2] इन मृत विशिष्ट अमीरों में अधिकतर नये मुसलमान थे जो प्रशासन में प्रमुख पदों पर थे। उसके इस कार्य से अमीर भयभीत हो गये और उन लोगों ने कोतवाल फखरुद्दीन से प्रार्थना की कि वह अपने दामाद को समझा कर उनके विरुद्ध दमन की कार्यवाही करने से उसे रोके। परंतु कोतवाल की सलाह का निजामुद्दीन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह पूर्ववत् अमीरों के विरुद्ध योजनायें बनाता रहा। उसकी कार्यवाहियों से सुल्तान भी भयभीत हो गया। अन्त में कैकुबाद ने उसे विष दिला दिया। जलालुद्दीन खिल्जी को 'आरीजे ममलीक' के पद पर नियुक्त किया और 'बारबक' और 'वकीलेदार' के पदों पर क्रमशः मलिक ऐतमार कच्छन और मलिक ऐतमार सुर्ख की नियुक्तियाँ कीं।[3] जलालुद्दीन खिल्जी समाना का गवर्नर था और सारेजानदार के पद पर रह चुका था। उसकी नियुक्ति से पता चलता है कि खिल्जी अमीर दिल्ली की राजनीति में प्रभावशाली हो गये थे।[4]

तुर्की और खिल्जी अमीरों में, उस समय संघर्ष तीव्र हो गया जब कि कैकुबाद के पक्षाघात से पीड़ित होने के बाद तुर्की अमीरों ने कैकुबाद के लड़के कैमूर्स को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया। तुर्की अमीरों ने जलालुद्दीन सहित खिल्जी अमीरों की हत्या करने का प्रयास किया।[5] खिल्जी अमीरों ने बड़ी सतर्कता दिखाई जब कि मलिक अहमद चप ने तुर्की अमीरों के खिल्जियों के विरुद्ध षड्यन्त्र की जान-

---

1. ईसामी के अनुसार कैखुसरो ने मंगोलों से सहायता लेने का प्रयास किया पर वह असफल रहा। (फतूहुउससलातीन, पृ० 196-97)
2. बर्नी, पृ० 133; तारीखे मुबारकशाही, पृ० 53; इन अमीरों को दरबार में सुल्तान-मंगोलों के ऊपर विजय प्राप्त करने पर बधाई देने के लिए आमंत्रित किया गया था। जब वे आये उन्हें मार दिया गया।
3. बर्नी, पृ० 170
4. खिल्जी अमीरों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर तुर्की अमीरों ने मलिक ऐतमार सुर्ख के नेतृत्व में अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया।
5. बर्नी, पृ० 172

कारी दी।[1] तुर्की और खल्जियों के संघर्ष में तुर्की अमीर पराजित हुए और ऐतमार सुर्ख जान से मारा गया। सत्ता, खिल्जियों के हाथ में आई और जलालुद्दीन खिल्जी ने अपने को सुल्तान घोषित किया (1290)। जलालुद्दीन गयासपुर रुका और वहाँ से राजनैतिक गतिविधियों पर दृष्टि रखी। उसके लड़के अरकली खाँ ने नाबालिग सुल्तान कैमूर्स पर अधिकार कर लिया और बाद में उसने कैकुबाद और कैमूर्स की हत्या करवा दी और प्रशासन अपने हाथ में केन्द्रित किया।

मुइजुद्दीन की मृत्यु के बाद दासों की एकता समाप्त हो गई और वे आपसी स्पर्धा में फँस गये। प्रत्येक शक्तिशाली अमीर अपने को वास्तविक शासक समझता था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने अमीरों को इस्लाम धर्म के प्रसार की योजनाओं से मंत्रमुग्ध रखा परन्तु उसकी असामयिक मृत्यु (1210) से यह व्यवस्था समाप्त हो गई। इस समय अभिजात वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। वे अपने स्वार्थ को ध्यान न देकर दिल्ली सल्तनत में राज्य व्यवस्था को प्रभावशाली बनाने के लिये योग्य व्यक्तियों को ही सुल्तान बनाने के लिये प्रयत्नशील रहे। इसी कारण से अमीरों ने आरामशाह को दिल्ली के सुल्तान बनाने का विरोध किया। लाहौर के जिन थोड़े से अमीरों ने आरामशाह का समर्थन किया उनपर दबाव डाला गया कि वे इस्लाम के हितों के अनुरूप ही कार्य करें। ऐबक और इल्तुतमिश के समय के अमीरों ने दिल्ली सल्तनत के विकास और सुदृढ़ीकरण में अधिक योगदान दिया। वे प्रतिभावान और योग्य थे।

इस्लामी शासन प्रणाली में उत्तराधिकार के लिये कोई निर्धारित व्यवस्था नहीं थी। इसीलिये अमीरों ने अधिक से अधिक सत्ता अपने हाथों में रखने का प्रयास किया। बलबन को छोड़कर सभी ममलूक सुल्तान अभिजात वर्ग द्वारा प्रभावित हुए। नासिरुद्दीन महमूद जैसे सुल्तान को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये अमीरों की आवभगत करनी पड़ी। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद तुर्की और विदेशी अमीरों के बीच संघर्ष उत्पन्न हुआ। तुर्की अमीर विदेशियों को ऊँचे पदों पर कार्य करते नहीं देख सकते थे। तुर्की अमीर कई भागों में विभक्त थे—जैसे प्रान्तीय गवर्नर, अकतादार, सैनिक अधिकारी और 'जामदार'। ये अमीर एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। रजिया को सैनिक अधिकारियों ने गद्दी पर बैठने के लिये अपना समर्थन दिया। प्रान्तीय हाकिम जिनसे इस संदर्भ में कोई परामर्श नहीं लिया गया, क्रुद्ध हो गये। ऐसी परिस्थिति में रजिया

1. मलिक अहमद चप जलालुद्दीन का निकट सम्बन्धी था : के० ए० निजामी, आप-सिट, पृ० 145

ने अपने को शक्तिशाली बनाने के लिये गैर तुर्क अमीरों को अपना कृपा पात्र बनाया, जिससे उसका पतन हुआ।

रजिया को गद्दी से हटाने के बाद अमीरों ने कुछ शर्तों के साथ बहराम शाह को दिल्ली का सुल्तान बनाया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अलाउद्दीन मसूद शाह को भी कुछ शर्तों के साथ अमीरों ने दिल्ली का सुल्तान बनाया। अमीर चाहते थे कि दिल्ली का सुल्तान केवल नाममात्र के लिये प्रधान बना रहे और वास्तविक सत्ता का उपभोग वे करें। बलबन की अभिजात वर्ग के प्रति उग्र नीति भारत में तुर्कों के साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। इसके परिणामस्वरूप खिलजी अमीरों के हाथ में सत्ता आ गई।

खिल्जी सुल्तानों के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

किलुघरी में जलालुद्दीन खिल्जी के राज्याभिषेक के साथ खिल्जी अमीरों की क्रान्ति पूर्ण हो गई। बर्नी का कहना है कि सुल्तान तुर्की अमीरों के भय से दिल्ली जाने के लिए तैयार नहीं था और कुछ समय तक किलुघरी में ही रहने का उसने निश्चय किया।[1] डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि खिल्जी क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि अमीरो की सुल्तान के प्रति स्वामिभक्त की भावना समाप्त हो गई।[2] खिल्जी सुल्तान के समय मे जिन तुर्की अमीरों को तुर्की प्रशासन में महत्वपूर्ण पद नही प्राप्त थे उन्हें जलालुद्दीन के शासन में राज्य के प्रमुख पदों पर रखा गया। खिल्जी सुल्तानों ने बलबन के 'उच्च कुल में जन्म लेने' के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया।[3]

जलालुद्दीन ने गैर तुर्की अमीर में मलिक कुतुबुद्दीन अल्वी[4] मौलाना सिराजुद्दीन सवी[5] को क्रमशः समाना के 'नायब मलिक' और 'नादिमे खास' के पदों पर नियुक्त किया। मण्डाहार जाति के एक हिन्दू को 'वकीलेदार' बनाया, जिसका वेतन 1 लाख जीतल प्रति माह था।[6] मंगालों को जिन्हें तुर्की और खिल्जी अमीर घृणा की दृष्टि से

1. बर्नी, पृ० 175-76
2. आपसिट, पृ० 41
3. आई० एच० सिद्दीकी, लेख, 'दि नोबिलिटी''''अण्डर दि खिल्जी सुल्तान्स' इस्लामिक कल्चर, हदराबाद, जनवरी 1963, जिल्द 37, संख्या 1, पृ० 55-57
4. बर्नी, पृ० 202
5. वही, पृ० 195
6. ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसने उस समय सुल्तान के सैनिक अभियान में सहायता की। वह समाना का मुल्ला था। (बर्नी, पृ० 196)

देखते थे, जलालुद्दीन के समय इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया गया, जिन्हें इतिहास में 'नये मुसलमान' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्हें अमीरों का दर्जा दिया गया। सभी खिल्जी अमीरों को जिन्होंने क्रान्ति में भाग लिया था, उपाधियाँ और इनाम दिये गये। उन्हें राज्य प्रशासन में प्रमुख पद प्राप्त हुआ।[1]

जलालुद्दीन ने अमीरों के साथ उदारता का व्यवहार किया। सुल्तान ने षड्-यन्त्र करने वाले अमीरों को भी दण्डित नहीं किया, जिसके कारण बहुत से अमीरों को विद्रोह करने की प्रेरणा मिली। इन अमीरों ने राजाज्ञा की अवहेलना की। मलिक अहमद चप, जो सुल्तान का सलाहकार था, सदैव जलालुद्दीन को उसके कर्त्तव्य और दायित्व को पूरा करने के लिये स्मरण दिलाता रहा, जब भी उसने विद्रोहियों, षड्-यन्त्रकारियों और अपराधियों को क्षमा दान दिया।[2] जब मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने के बाद उसे सुल्तान के सामने लाया गया तो सुल्तान ने उसके विद्रोह को न्यायोचित बतलाते हुये उसे क्षमादान दिया।[3] इसके कुछ समय बाद ताजुद्दीन कूची

---

1. जलालुद्दीन के तीनों लड़कों को खाने-खाना, अरकली खाँ और कद्र खाँ की उपाधियाँ दी गईं।

   अमीरों को निम्नलिखित पद दिये गये

   मलिक अहमद चप – नायब बरबक

   मलिक खुर्रम – वकीलेदार

   मलिक नासिरुद्दीन कुहरामी – हाजिबे खास

   मलिक फकरुद्दीन कूची – दादबेग

   मलिक हिरनमर – अमीरे शिकार

   मलिक नासिरुद्दीन राना – शाहनाहे पीन्न

   मलिक एजुद्दीन – आखुरबेग-ऐ-मेमना

   ताजुद्दीन कूची, कमालुद्दीन अब्दुल माली और नुसरत शाह को भी ऊँचे पद दिये गये।
2. इस प्रकार के कई दृष्टान्तों का वर्णन समकालीन लेखकों ने किया है—देखिये बर्नी पृ० 178
3. मलिक छज्जू के विद्रोह में बहुत से 'रावत' और पैक सम्मिलित थे। इस विद्रोह में अनेक जलाली अमीर–मलिक ताजुद्दीन कूची, मलिक मुहम्मद कुतलुग खाँ, मलिक नुसरतशाह, आदि शामिल थे। मलिक छज्जू ने अपने को स्वतंत्र शासक सुल्तान मुगीसुद्दीन के नाम से विख्यात किया, बर्नी, पृ० 183-84

के निवास स्थान पर सुल्तान को गद्दी से हटाने के लिये कुछ अमीरों ने षड्यन्त्र किया। जब सुल्तान को इस षड्यन्त्र की जानकारी हो गई और उसने षड्यन्त्रकारियों पर अपना क्रोध प्रकट किया तो नुसरत सूबा 'सारदावातदार' ने सुल्तान से क्षमादान के लिये प्रार्थना की।[1] उसने जलालुद्दीन से यह भी कहा कि वह अमीरों को सदैव संरक्षण प्रदान करे, क्योंकि सुल्तान को ऐसे विश्वसनीय और स्वामिभक्ति वाले अमीर नहीं मिलेंगे।[2] सीदी मौला के षड्यन्त्र (1291) में भी अभिजात वर्ग के लोगों का साथ था। सुल्तान का बड़ा पुत्र खानेखाना सीदी का शिष्य था। वह नियमित रूप से 'सीदी की खानकाह' का खर्च देता था। वह खानेखाना को अपना पुत्र कह कर संबोधित करता था।[3] उसके अनुयायियों की संख्या बढ़कर 10,000 हो गई।[4] सुल्तान को गद्दी से हटाने के लिए एक व्यापक योजना बनाई गई, जिसमें सीदी को 'खलीफा', की उपाधि देने और उसका विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन की पुत्री से किये जाने की व्यवस्था थी।[5] इस व्यवस्था का उद्देश्य सीदी की सप्रभुता को वैधानिक स्वरूप देना और अभिजात वर्ग का समर्थन प्राप्त करना था।[6] सुल्तान ने षड्यन्त्रकारियों को कड़ा दण्ड दिया और सीदी को मृत्यु दण्ड दिया गया। बदायूं के अनुसार सीदी ईरान से आया था और वह अजोधन शेख फरीदुद्दीन शकरगंज का शिष्य था।[7]

जलालुद्दीन का रणथम्भोर से बिना उसपर आक्रमण किये ही वापस आने से और नये मुसलमानों के प्रति उदार नीति अपनाने[8] के कारण नवयुवक खिल्जी अमीरों-

---

1. 'सारदावतदार' स्वयं इस षड्यन्त्र में सम्मिलित था वही, पृ० 192
2. वही।
3. वही, पृ० 209
4. फरिश्ता, पृ० 93
5. डॉ० आर० पी० त्रिपाठी ने लिखा है कि नासिरुद्दीन की पुत्री की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। परन्तु उसकी आयु लगभग 30 वर्ष की रही होगी (आपसिट, पृ० 46)
6. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 46
7. मन्तखबउततवारीख, अंग्रेजी अनुवाद रैंकिंग, जिल्द 1, पृ० 233, फरिश्ता ने भी सीदी को दरवेश लिखा है। (पृ० 92)
8. जलालुद्दीन के समय में 1000 मंगोलों ने भारत में बसने की इच्छा प्रकट की, जिसे सुल्तान ने स्वीकार कर लिया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह मंगोलों के नेता अलगू से किया।

के बीच उसकी प्रतिष्ठा गिर गई।[1] ऐसे निराश और हतोत्साहित अभिजात वर्ग के लोगों का केन्द्र कड़ा में हो गया। अलाउद्दीन ने सुल्तान के विरुद्ध इन अमीरों का समर्थन प्राप्त किया। बहुत से तुर्की अमीर जो बलबन के वंश के प्रति वफादार थे, अलाउद्दीन से मिल गये और इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपना एक दल बनाया। इन अमीरों ने सुल्तान की नारियों और कार्यों की आलोचना की और अलाउद्दीन के नेतृत्व में सुल्तान को हटाने के लिये योजना तैयार की। धन प्राप्त करने के उद्देश्य से अलाउद्दीन से देवगिरि पर आक्रमण की योजना बनाई और सुल्तान से इसे गुप्त रखा जिस समय अलाउद्दीन देवगिरि पर अधिकार करने के बाद वहाँ से लौट रहा था जलालुद्दीन ग्वालियर में था।

वह अलाउद्दीन के व्यवहार से चिन्तित हुआ, क्योंकि उसने बिना आज्ञा के देवगिरि पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया। सुल्तान उसे बहुत चाहता था, इसीलिये कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता था जिसने उसके भतीजे का अपमान हो। यह सोचकर उसने मलिक अहलद चप की सलाह मानने से इनकार कर दिया, जिसमें शाही सैनिकों को अलाउद्दीन का मार्ग रोक कर सारा धन छीन लेने की बात कही गई थी।[2] सुल्तान ने फखरुद्दीन कूची की सलाह पर दिल्ली लौटने का निर्णय किया।[3] अलाउद्दीन का छोटा भाई अलमस वेग, कड़ा में गुप्त रूप से सम्पर्क बनाये हुए था। अलाउद्दीन ने उसे सलाह दी कि वह सुल्तान को कड़ा चलने के लिये उस पर दबाब डाले। अन्त में अलमस बेग की चिकनी-चुपड़ी बात में सुल्तान आ गया और उसने कड़ा चलने की तैयारी की। कुछ चुने हुए अमीरों के साथ जलालुद्दीन नाव द्वारा कड़ा के लिये रवाना हुआ। मार्ग में अलमस बेग ने अमीरों को अपना शस्त्र अलग रख देने के लिये विवश किया और इस प्रकार निःशस्त्र सुल्तान और उसके अमीर कड़ा पहुँचे।[4]

---

1. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ०
2. मलिक अहमद चप ने कहा कि जिस अमीर के पास अधिक धन और हाथी होते हैं वह अपने को भूल जाता है। धन और संघर्ष एक दूसरे से जुड़े हैं, इसीलिये अलाउद्दीन की सारी सम्पत्ति पर तुरन्त अधिकार कर लेना जाहिए। (बर्नी, पृ० 224)
3. फखरुद्दीन ने सुल्तान के इच्छानुसार ही सलाह दी और कहा कि सब लोगों को तुरन्त दिल्ली चलना चाहिये। (वही, पृ० 226-27)
4. बर्नी (पृ० 231) ने लिखा है कि मृत्यु सुल्तान को खींचे लिये जा रही थी।

कड़ा पहुँचने पर जलालुद्दीन को हत्या कर दी गई और फखरुद्दीन कूची को छोड़कर शेष अमीरों को मार डाला गया।[1] अलाउद्दीन ने विधिवत् अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया (1296)।

गद्दी पर बैठने के बाद अलाउद्दीन ने अभिजात वर्ग को सम्मानित किया। अपने भाई अलमस बेग को 'ऊलुग खाँ' मलिक हिजाब्रुद्दीन को 'जफर खाँ' मलिक संजर को 'अल्प खाँ' मलिक नुसरत जलेसरी को 'नुसरत खाँ' की उपाधि दी। अलाउद्दीन ने कुछ जलाली अमीरों का समर्थन प्राप्त किया और प्रत्येक को 20 से 50 मन तक सोना उनके सहयोग के लिये दिया।[2] जलालुद्दीन की हत्या का समाचार मिलने के बाद उसकी पत्नी मलके जहाँ ने मलिक अहमद चप की सलाह से अपने छोटे पुत्र कद्र खाँ को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया। उसके बड़े लड़के खाने खाना की मृत्यु जलालुद्दीन के जीवनकाल में हो गई थी। उसका दूसरा पुत्र अरकली खाँ मुल्तान में था। जब अरकली खाँ ने मुल्तान में सुना कि उसकी माँ ने उसके छोटे भाई कद्र खाँ को सुल्तान बनाया और उसके दावे की उपेक्षा की तो वह नाराज हो गया। जब अलाउद्दीन को मालूम हुआ कि अरकली खाँ का उसकी माँ से मतभेद हो गया तो वह प्रसन्न हुआ। वह तुरन्त कड़ा से दिल्ली के लिये रवाना हुआ। जलाली अमीरों के साथ छोड़ देने से दिल्ली में मलके जहाँ और कद्र खां की स्थिति खराब हो गई। अरकली खाँ को मुल्तान से बुलाया परन्तु उसने आने से इनकार कर दिया और कहा गया, 'जब कि अभिजात वर्ग और सैनिक सभी अलाउद्दीन से मिल गये हैं तो मेरे वहाँ आने से क्या लाभ होगा ?'[3] विवश होकर मलके जहाँ, कद्र खाँ, मलिक अहमद

---

1. जो अमीर सुल्तान के साथ नाव में कड़ा जा रहे थे उनके नाम ये हैं—खुर्रम (वकीलेदार), फखरुद्दीन कूची, जमालुद्दीन आब मालो, नासिरुद्दीन कुहरामी, इख्तयारुद्दीन (नायब वकीलेदार), तुश्मती (तश्तदार)। तारीखे (मुबारकशाही, पृ० 69)

   फखरुद्दीन कूची को अलाउद्दीन ने 'दाद बेग ए हजरत' के पद पर नियुक्त किया। (बर्नी, पृ० 248; फरिश्ता, पृ० 102)। समाना के मलिक महमूद ने जलालुद्दीन को मारने में इतनी शीघ्रता दिखाई कि घबड़ाहट में उसने अपना ही हाथ तलवार से काट लिया।

2. जिन जलाली अमीरों ने अलाउद्दीन का साथ दिया उनके नाम ये हैं : ताजुद्दीन कूची, आमाजी अखुरबेग, अमीर अली दीवाना, उस्मान अमीर अखुर, अमीर कलान, उम्र सुर्ख और हिरनमर (बर्नी, पृ० 245–46)

3. के० एस० लाल, आपसिट, पृ० 73

चप और अलगू मुल्तान भाग गये और दिल्ली पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।[1]

प्रारम्भ में अलाद्दीन ने दिल्ली में एक मिलीजुली सरकार, जिसमें अमीरों को भी प्रमुख स्थान मिला, बनाई। डा० आई० एच० सिद्दीकी का कहना है कि 'अलाउद्दीन के शासनकाल में अभिजात वर्ग का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया क्योंकि साम्राज्य के विस्तार के कारण प्रशासनिक कार्यों के लिये अधिक लोगों की आवश्यकता हुई। अभिजात वर्ग में साधारण लोग भी सम्मिलित हुए।'[2] जलालुद्दीन के परिवार को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से उसने एक सेना उलुग्र खाँ और जफर खाँ के नेतृत्व में मुल्तान भेजी। अलाउद्दीन का यह कार्य शेख रुकुनुद्दीन[3] की मध्यस्थता करने के प्रस्ताव के कारण आसानी से पूरा हो गया। अलगू खाँ और जफर खाँ ने शेख को भुलावे में रखा और कहा था कि अरकली खाँ और कद्र खाँ उनके खेमे में आकर समझौते की बात कर ज्यों-ही वे उनके खेमे में आये उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया अलाउद्दीन के आदेश से अरकली खाँ और कद्र खाँ को मार डाला गया, और मलके जहाँ, अलगू और मलिक अहमद चप को बन्दी बनाया गया। शायद बाद में उन्हें भी मार डाला गया।[४]

अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद अलाउद्दीन ने उन जलाली अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही की जिन्होंने धन के लिये जलालुद्दीन का साथ छोड़कर अलाउद्दीन का साथ दिया था। इन अमीरों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उन्हें अन्धा कर दिया गया।[5] अलाउद्दीन ने इस प्रकार अमीरों की शक्ति को कुचल दिया और एक नये वर्ग का सृजन किया जो उसके प्रति वफादार था।[6] सन् 1299 ई० में जालोर में

---

1. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 48
2. सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ अफगान डिस्पाटिज्म इन इण्डिया, अलीगढ़, 1999, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७
3. शेखरुकुनुद्दीन मुल्तान के प्रसिद्ध सन्त थे। सभी वर्गों के लोगों में इनका सम्मान था।
4. रैंकिंग, जिल्द 1, पृ० 248; बर्नी, पृ० 249, फरिश्ता, पृ० 102
5. तीन जलाली अमीर—मलिक कुतुबुद्दीन अलवी, मलिक नासिरुद्दीन और मलिक अमीर जलाल खिल्जी को छोड़कर सभी अमीरों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया गया (के० एस० लाल, आपसिट, पृ० 81)
6. वही।

अलाउद्दीन को नये मुसलमानों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उन्होंने गुजरात में लूटे हुए माल का हिसाब न देने से इनकार किया जिसमें खम्स की वसूली नहीं की जा सकी। ये अमीर विद्रोह करने के बाद राजपूताना भाग गये जहाँ राजपूत शासकों ने उन्हें आश्रय दिया।[1]

रणथम्भोर से लौटने के बाद (1301) उसने सभी वर्गों के अमीरों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की। रणथम्भोर पर आक्रमण के समय उसे कई अमीरों के विद्रोह का सामना करना पड़ा।[2] अलाउद्दीन ने अमीरों के विद्रोह के कारणों का विश्लेषण किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अमीरों के प्रति उदासीन होने के कारण सुल्तान उनसे सम्पर्क नहीं स्थापित करते और न उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रख पाते थे।[3] अमीरों की समस्याओं के विषय में उसने अपने समर्थक और निकट के अभिजात वर्ग से वार्ता की। इन अमीरों में प्रमुख थे मलिक हामिदुद्दीन, मलिक ऐजुद्दीन, मलिक ऐनुलमुल्क मुल्तानी।

अलाउद्दीन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि धन और मदिरा सारी बुराइयों की जड़ है। इसीलिये उसने मदिरा के सेवन पर प्रतिबन्ध लगाया। शराब की दुकानें बन्द हो गईं। उसने अमीरों की सारी भूमि जब्त कर ली। इस प्रकार जागीरदारों को फिर से अपना जीवन नये तरह से प्रारम्भ करने के लिये विवश किया।[4] अमीरों की मृत्यु के बाद उनकी सारी चल और अचल सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो

1. इन नये मुसलमानों के अमीरों में प्रमुख थे मुहम्मद शाह कहबरु, यलहक और बरीक। मुहम्मदशाह और कहबरु को रणथम्भोर में एवं यलहक और बरीक को देवगिरि में शरण मिली। इन विद्रोहियों ने मलिक ऐजुद्दीन, जो नुसरत खाँ का छोटा भाई था जान से मार डाला। सुल्तान ने विद्रोहियों के परिवारों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया उनके बच्चों के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये और उनकी स्त्रियों को दास बना लिया गया और मेहतरों को दे दिया गया (बर्नी, पृ० 250)
2. विद्रोहियों में सुल्तान का भतीजा रक़त खाँ और उसके भान्जे उमर खाँ और मंगु खाँ थे जो बदायूँ और अवध के गवर्नर थे, और हाजी मौला थे, जो दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन का दास था (फरिश्ता, पृ० 107)
3. के० एस लाल, आपसिट, पृ० 227
4. बर्नी, पृ० 309। ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान ने कुछ अमीरों को इस आदेश के बाद भी भूमि दी। मलिक कबूल को, जो बाजार का शाहनाह था, जागीर दी गई। (बर्नी पृ० 250-51)

गया। इस प्रकार अमीरों के परिवार को अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ भोगनी पड़ती थीं वे निसहाय और अनाथ हो जाते थे।

चित्तौड़ के विजय के बाद (1303) अलाउद्दीन ने अमीरों की दावतों, वैवाहिक सम्बन्धों और आपसी मेलजोल पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इन आदेशों का व्यापक प्रभाव पड़ा और सुल्तान के उद्देश्यों की पूर्ति हुई। अमीर सुल्तान से भयभीत हो गये और उनकी आर्थिक दशा बहुत गिर गई।[1] ऐसा विश्वास किया जाता है कि अमीर सुल्तान से इतने भयभीत हो गये कि वे जोर से एक दूसरे से बात नहीं कर सकते थे। वे दरबार में केवल संकेतों से अपनी बात कहते थे।[2] अमीरों की शक्ति को दबाने के बाद प्रशासनिक कार्य में अलाउद्दीन को कोई बाधा नहीं हुई। उसकी कड़ाई से अमीरों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई।

अलाउद्दीन ने अपने शासन के अन्तिम काल में मंगोल अमीरों के (नये मुसलमान) विरुद्ध अभियान चलाया। बहुतों की हत्याएँ की गई और उनके परिवार के सदस्यों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया।[3] मलिक काफूर ने सुल्तान के लड़कों (खिज्र खाँ और शादी खाँ) और विशिष्ट अमीरों को बन्दी बनाया। गुजरात के गवर्नर अल्प खाँ की हत्या की गई।[4] अलाउद्दीन की मृत्यु (1316) के बाद मलिक काफूर ने खिज् खाँ के छः वर्षीय पुत्र शिहाबुद्दीन उमर खिलजी को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया और स्वयं उसका संरक्षक बन गया।[5] अमीरों को दरबार में बुलाया गया और नये सुल्तान के प्रति आदर व्यक्त करने के लिये कहा गया। सत्ता सँभालने के बाद उसने अलाउद्दीन के लड़कों को अंधा करने की कोशिश की।[6] खिज्र खाँ और शादी खाँ को अंधा किया गया। जब मुबारक को अंधा करने के लिये सैनिकों को भेजा गया तो उसने उन सैनिकों को मलिक काफूर की हत्या करने के लिये उक-

1. के० एस० लाल, आपसिट, पृ० 228
2. वही।
3. बर्नी, पृ० 335—36। इन अमीरों पर सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का आरोप था।
4. अल्प खाँ की बहन सुल्तान की पत्नी मलके जहाँ थी।
5. बर्नी, पृ० 372
6. खिज्र खाँ और शादी खाँ के अतिरिक्त अलाउद्दीन के और कई पुत्र थे—मुबारक खाँ, फरीद खाँ, उस्मान खाँ, मोहम्मद खाँ और आबू बकर खाँ (फतूह उससलातीन, पृ० 341 – 42)

साया। उन सैनिकों ने मलिक काफूर की हत्या कर दी और मुबारक खिलजी दिल्ली का सुल्तान बना। इस प्रकार मलिक काफूर का 35 दिनों तक शासन रहा।

मुबारक खिलजी ने सत्तारूढ़ होने के बाद उन सैनिकों और अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही की जिनका हाथ उसको अंधा करने की योजना में था। मुबारक खिल्जी ने अमीरों की जागीरें फिर से वापस कर दी, जिन्हें उसके पिता ने जब्त किया था। अभिजात वर्ग की स्थिति उसके शासन काल में बहुत अच्छी रही।[1] अमीरों ने उसके विरुद्ध एक षड्यन्त्र किया जिसका पता चलने पर उसने उन्हें दण्डित किया। सुल्तान केवल अपने समर्थकों को प्रशासन के प्रमुख पदों पर रखता था। उसकी इस नीति से अमीर उसके विरोधी हो गये। मुबारक को अपदस्थ करने के लिये अमीरों ने षड्यन्त्र किया, जिसमें उसका चचेरा भाई असाउद्दीन सम्मिलित था। षड्यन्त्र का पता चलने पर असाउद्दीन और उसके 29 परिवार के सदस्यों को तुरन्त मृत्यु दण्ड दिया गया।[2] इस घटना के बाद सुल्तान ने अपने भाइयों को जो जेल में थे, मृत्यु दण्ड दिया, क्योंकि उसे भय था कि कहीं दूसरा षड्यन्त्र अमीर के लिये उसके विरुद्ध न करें।[3] सुल्तान अत्याचारी हो गया और मदिरा का व्यसनी हो गया। शासन का भार एक प्रमुख अमीर खुसरो खाँ के हाथ में आया।[4] अमीरों के एक वर्ग ने खुसरो खाँ का विरोध किया और सुल्तान से उसकी शिकायत की। इन अमीरों में प्रमुख थे मलिक तामर, मलिक मल अफगन, मलिक तालबघा यागदा, मलिक तीगिन और मलिक हाजी, जो नायबे आरोज थे।[5] मुबारक खिलजी का दरबार गवैयों और नर्तकियों का केन्द्र बन गया था। तौबा नाम का एक विदूषक मन्त्रियों का खुलेआम दरबार में अपमान करता था।[6] खुसरो खाँ ने सुल्तान को गद्दी से हटाने के लिये योजना बनाई। बहुत से बारवारी राजमहल में सुरक्षा के नाम पर खुसरो खाँ के कहने पर रखे गये। काजी जियाउद्दीन ने सुल्तान से खुसरो खाँ की शिकायत की कि वह उसे अपदस्थ करने के लिये योजना बना रहा था। परन्तु सुल्तान ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। खुसरो खाँ ने अन्त में काजी जियाउद्दीन की हत्या करवा दी।[7]

1. बर्नी, पृ० 382
2. वही, पृ० 393
3. अमीर खुसरो, देवल रानी, पृ० 278; फरिश्ता, पृ० 125
4. यह एक परिवर्तित मुसलमान था। यह बारवारी बनिया था।
5. के० एस० लाल, आपसिट, पृ० 340
6. बर्नी, पृ० 396
7. वही, पृ० 406

खुसरो खाँ ने बारवारियों की सहायता से मुबारक खिलजी की हत्या कर दी (1320) और स्वयं नासिरुद्दीन खुसरो शाह के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना। मुबारक खिलजी की मृत्यु से खिलजी वंश की प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। खुसरो शाह ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के साथ निर्ममता का व्यवहार किया। यहाँ तक कि राजमहल की स्त्रियों की हत्यायें की गई।[1] जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि प्रशासन में हिन्दुओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया और कुरान का अनादर किया गया।[2] खुसरो शाह ने उन अमीरों को जान से मरवा दिया जिन्हें मुबारक खिलजी ने ऊँचे पद दिये थे।[3] गद्दी पर बैठने के बाद उसने अमीरों का समर्थन प्राप्त करने के लिये उन्हें ऊँचे पद और उपाधियाँ प्रदान कीं। परन्तु कट्टर सुन्नी अभिजात वर्ग एक परिवर्तित मुसलमान को सुल्तान के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। दीपलपुर के गवर्नर ग़ाजी मलिक के नेतृत्व में अमीरों ने खुसरो शाह के विरुद्ध एक मोरचा तैयार किया। ग़ाजी मलिक अपनी योजना को गुप्त रूप से कार्यान्वित करना चाहता था, क्योंकि उसका लड़का जूना खाँ दरबार में आरीजे ममलीक के पद पर था। उसे भय था कि षड्यन्त्र का भेद खुल जाने पर उसके पुत्र के विरुद्ध खुसरो शाह कार्यवाही करेगा। ग़ाजी मलिक ने खुसरो के विरुद्ध युद्ध को 'जिहाद' बतलाया। कुछ अमीरों ने ग़ाजी मलिक का साथ नहीं दिया। वे अवसरवादी थे।[4] अन्त में जब जूना खाँ अपने पिता के पास पहुँच गया, और ग़ाजी मलिक ने विद्रोह कर दिया। एक संघर्ष में खुसरो शाह मारा गया (1320) और ग़ाजी मलिक ने गयासुद्दीन तुग़लक के नाम से अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया। डॉ० के० एस० लाल ने लिखा है कि यह खुसरो शाह का

---

1. अमीर खुसरो, तुगलकनामा, पृ० 23—32। अमीर खुसरो ने लिखा है कि खुसरो खाँ स्वयं सुल्तान नहीं बनना चाहता था, परन्तु उसके समर्थक अमीरों ने उस पर दबाव डाला कि वह दिल्ली का सुल्तान बने (तुगलकनामा, पृ० 21)
2. बर्नी, पृ० 408
3. वही।
4. मुल्तान के गवर्नर मग़लाती ने ग़ाजी मलिक का समर्थन नहीं किया। फलस्वरूप मुल्तान में विद्रोह हो गया और मग़लाती जान से मारा गया। अजमेर का मलिक होशांग दुविधा में था। यही हाल ऐनुलमुल्क मुल्तानी का था। मलिक यकलखी देवारीगढ़ का गवर्नर था, उसने ग़ाजी मलिक की कोई सहायता नहीं की। यकलखी अपने ही आदमियों द्वारा मारा गया। (तुग़लकनामा, पृ० 63,64,68,70)

दोष नहीं था कि उसका शासन बहुत कम समय तक रहा। उसका केवल इतना दोष था कि उसने अभिजात वर्ग पर भरोसा किया।[1]

तुग़लक सुल्तानों के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

गयासुद्दीन तुग़लक (1320-25) का समर्थन प्रान्तीय गवर्नरों ने किया था। वे प्रशासन से परिवर्तित मुसलमानों को हटाना चाहते थे। बर्नी का कहना है कि राज्य प्रशासन में हिन्दुओं का प्रभाव बढ़ गया था।[2] अलाई अमीरों और जूना खाँ के सहयोगियों ने खुसरो शाह के पतन में अधिक योगदान दिया। परन्तु कुछ अमीरों ने ग़ाजी मलिक के सैनिक अभियान में तटस्थता दिखलाई।[3] गद्दी पर बैठने के बाद गयासुद्दीन तुग़लक ने एक उदार प्रशासन की शुरुआत की। अमीरों को फिर से उनके अधिकार वापस मिल गये। अलाउद्दीन खिल्जी के बनाये हुए नियम ढीले पड़ गये।

गयासुद्दीन तुग़लक ने अमीरों को सम्मानित किया जिन्होंने खुसरो शाह के विरुद्ध युद्ध में उसका साथ दिया था। बहराम ऐबा को 'कशलू खाँ' की उपाधि दी गई और उसे मुल्तान और सिंध का गवर्नर बनाया। तातर खाँ को 'तातर मलिक' की उपाधि और जफराबाद का इलाका, मलिक आउद्दीन को 'नायब बरबक' का पद, मलिक बहउद्दीन को 'आरीज़े ममलीक' का पद, मलिक शादी को 'दीवाने विजारत' दिए गए। मलिक बुरहानुद्दीन को 'आलिमुलमुल्क' की उपाधि तथा दिल्ली के कोतवाल का पद, कुतलुग खाँ को देवगिरि में 'नायब वजीर' का पद दिया गया। सुल्तान ने अपने पुत्रों को भी सम्मानित किया, यद्यपि उनको कोई प्रशासनिक पद नहीं दिये गये। उसने बड़े लड़के फखरुद्दीन जूना को 'उलूग खाँ' की उपाधि दी। इसी प्रकार उसने अपने शेष चार पुत्रों को बहराम खाँ, जफर खाँ, महमूद खाँ और नुसरत खाँ की उपाधियाँ दीं।[4] सुल्तान ने अमीरों के साथ समानता और उदारता का व्यवहार किया।[5]

---

1. आपसिट, पृ० 362
2. बर्नी, पृ० 411-12
3. ग़ाजी मलिक ने मुल्तान के गवर्नर अमीर मुग़लाती, सिवास्तान के गवर्नर मुहम्मद शाह, उच्छ के गवर्नर बहराम ऐबा, समाना के गवर्नर यकलाखी, जालोर के गवर्नर होशांग और ऐनुलमुल्क मुल्तानी को समर्थन देने के लिए कहा। मुग़लाती ने विरोध किया और वह मारा गया। यकलखी तटस्थ रहा, (आग़ा मेहदी हुसेन, तुग़लक, डायनस्टी, कलकत्ता 1963, पृ० 38)
4. बर्नी, पृ० 428
5. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 80

अमीरों ने षड्यन्त्रों में भाग लिया। वे राज्य में अराजकता फैलाना चाहते थे। इस प्रकार की कुछ घटनाओं का वर्णन समकालीन इतिहासकार ने किया है। जिस समय सुल्तान ने तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिये अपने पुत्र जूना खाँ को भेजा, कुछ अमीरों ने, जिनमें उबेद और शेखजादा दमिश्की प्रमुख थे, अफवाह फैलायी कि दिल्ली में सुल्तान की मृत्यु हो गई। उन लोगों ने सैनिक अधिकारियों से, जिनमें मुख्यतया मलिक तामर, मलिक तिगीन, मलिक मल अफगन और मलिक काफूर थे, कहा कि वे जूना खाँ के विरुद्ध विद्रोह कर दें, क्योंकि उसने उनको जान से मार डालने की योजना तैयार की थी।[1] इससे सेना में भगदड़ मच गई और जूना खाँ अपनी जान बचाकर दिल्ली भागा। सुल्तान ने इस घटना से सम्बन्धित सभी अमीरों को दण्डित किया और दूसरी सेना के साथ जूना खाँ को तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिये भेजा। कुछ अमीरों ने जूना खाँ का साथ सुल्तान के विरुद्ध एक षड्यन्त्र में दिया, जिसमें उसे जान से मारने की योजना तैयार की गई थी। जूना खाँ ने अहमद बिन अयाज (मीरे इमारत) की सहायता से एक इमारत तैयार कराई जो एक स्थान पर दबाव डालने से गिर पड़े। जिस समय सुल्तान बंगाल विजय से लौट रहा था जूना खाँ ने अफगानपुर में तैयार एक महल में सुल्तान का स्वागत किया। ज्यों ही हाथियों का प्रदर्शन सुल्तान के सामने किया गया महल गिर पड़ा और सुल्तान उसमें दब कर मर गया।[2] शेख रुकनुद्दीन मुल्तानी और अहमद अयाज, जो इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थे, को जूना खाँ ने गद्दी पर बैठने के बाद सम्मानित किया।[3]

जूना खाँ मुहम्मद तुग़लक (1325-51) के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना। गद्दी पर बैठने के बाद अमीरों को इनाम और उपाधियाँ दी गई। लखनौती के गवर्नर मलिक बेदाद खिल्जी को 'कद्र खाँ', मलिक अहमद अयाज को 'ख्वाजा जहाँ', मलिक सरतेज को 'इमादुलमुल्क', मलिक मकबूल को 'किवामुलमुल्क' और मलिक खुर्रम को 'जहिरुल जयूश' की उपाधियाँ दी गई।[4] हामिद कुमालो को मुख्य आडिटर का पद और रिया-

---

1 वही पृ० 448; फरिश्ता (बम्बई, जिल्द 1, पृ० 233)

2. सभी अमीर जो षड्यन्त्र में सम्मिलित थे, नमाज पढ़ने के बहाने महल गिरने के पहले बाहर चले गये। डॉ० आगा मेहदी हुसेन का मत है कि सुल्तान की मृत्यु दैवी कारणों से हुई और जूना खाँ का इसमें कोई हाथ नहीं था। (तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 77-87)

3. शेख रुकनुद्दीन मुल्तानी को भूमि दी गई और अहमद अयाज को वजीर का पद और 'ख्वाजा जहाँ' की उपाधि मिली। वही, (पृ० 104)

4. वही।

जुलमुल्क की उपाधि मिली। इसी प्रकार मलिक इजुद्दीन को सतगाँव का इलाका और आजम मलिक की उपाधि दी गई। 'सद्रे जहाँ', 'आलिमुलमुल्क', 'मुखलिसुलमुल्क', 'ताजुलमुल्क' और 'दावर मलिक' की उपाधियाँ क्रमशः कमालुद्दीन, निजामुद्दीन, निजामुद्दीन कमाल सुर्ख, शिहाब सुल्तानी और मौलाना यूसुफ को दी गई।[1]

मुहम्मद तुग़लक ने अपने अमीरों के साथ निरंकुशता दिखाई। उसने बहुत से अमीरों को विद्रोही होने के संशय पर ही दण्डित किया। विद्रोहियों और उसकी नीति के आलोचकों का पता लगाने के लिये उसने 'दीवाने सियासत' की स्थापना की।[2] उसकी अप्रिय और कष्टदायक योजनाओं और कड़े अनुशासन के नियमों को अभिजात वर्ग पर लागू किये जाने के कारण अमीरों ने उसका विरोध किया, और उसके समर्थकों की संख्या दिनों-दिन कम होने लगी।[3] ऐसी परिस्थिति में शक्ति सन्तुलन की दृष्टि से सुल्तान ने विदेशी अमीरों[4] को बढ़ावा दिया और प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर उनकी नियुक्ति की, सुल्तान का इस नीति से गयासी और विदेशी अमीरों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। वे एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करने लगे।[5] इस नये श्रेणी के अमीरों ने हिन्दू राजाओं, जमींदारों और क्षेत्रीय अधिकारियों से समर्थन प्राप्त किया और अपनी शक्ति का प्रसार किया।[6] मुहम्मद तुग़लक की उदारता के कारण बहुत से विदेशी अमीर भारत आये, जिन्हें दरबार में सम्मानित किया गया। सुल्तान का आदेश था कि विदेशी अमीरों को राज्य प्रशासन के विभिन्न पदों पर कार्य करना होगा। सुल्तान की इस नीति के कारण विदेशी अमीरों को पूरे साम्राज्य में प्रमुख पदों पर रखा गया। इस वर्ग के अमीरों को प्रायः मालवा, गुजरात और दक्षिण के प्रान्तों में रखा गया।

विदेशी अमीरों और ग़यासी अमीरों के बीच कटुता थी। इसका एक दृष्टांत

1. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 104
2. फतुहउसतलादीन, पृ० 436–37
3. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 80
4. विदेशी अमीरों को 'अमीर सादा' या 'अमीरन सादा' कहा जाता था। ऐसा अनुमान है कि ये लोग 100 गाँवों के स्वामी या 100 सैनिकों के सेनापति होते थे। इनमें कई देशों के अमीर सम्मिलित थे, जैसे—ईराकी, ईरानी, खुरासानी, मंगोल, अरब, अफगान आदि।
5. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 80
6. वही।

मलिक उलतुज्जार शिहाबुद्दीन ग़ज़नवी और ख्वाजा जहाँ अहमद अयाज के संघर्ष से मिलता है। सुल्तान ने मलिक उलतुज्जार को खम्भात की जागीर देने और वज़ीर बनाने का आश्वासन दिया था। ख्वाजा जहाँ अहमद अयाज इस स्थिति को सहन नहीं कर सका, क्योंकि खम्भात उसकी अपनी जागीर थी जो उसकी आय का मुख्य साधन थी और वजीर का पद उससे ले लिये जाने से उसका राजनीतिक प्रभाव समाप्त हो जाता। इसी कारण ख्वाजा जहाँ ने मलिक उमतुज्जार की हत्या करवा दी।[1] मुहम्मद तुग़लक ने जिन विदेशी अमीरों को सम्मानित किया था उनमें प्रमुख थे–मलिक अलाउलमुल्क फसीहुद्दीन ख़ुरासानी, आज्दुद्दीन शवनकरी, शेखजादा, इस्फहानी, शेखजादा दमिश्की, शेखजादा निहावन्दी, शेखजादा बिस्तामी और मलिक संजार बदख्शानी।[2] सुल्तान इन अमीरों को 'अजीज' कह कर सम्बोधित करता था। इनमें से बहुत से अमीर सुल्तान के सम्बन्धी थे, जिनमें प्रमुख थे मलिक सफीउद्दीन जो एक अरब था, शराफुलमुल्क अमीरबख्त, शेखजादा बिस्तामी और मलिक मुग़ीस इब्नमलिकुल-मुल्क। इन अमीरों के साथ सुल्तान ने अपनी बहनों का विवाह किया था।[3] सुल्तान के सम्बन्धियों के अतिरिक्त जिन अमीरों को बड़ी जागीरें मिली थीं उनके नाम थे अमरोहा के मुफ्ती शमशुद्दीन बदख्शी और लहरी के मुफ्ती मलिक अलाउलमुल्क खुराशानी। इन अमीरों ने सुल्तान का साथ अवध के मुफ्ती ऐनुलमुल्क मुल्तानी के विद्रोह को दबाने में दिया था।[4] सुल्तान की खुरासानी सेना ने ऐनुलमुल्क की शक्ति को कुचल दिया।

डॉ० एस० बी० पी० निगम का विचार है कि सुल्तान ने मंगोल अमीरों को संरक्षण प्रदान किया, क्योंकि मंगोलों के आक्रमण के भय से उसने दिल्ली से दौलताबाद राजधानी परिवर्तन की योजना बनाई, जो असफल सिद्ध हुई।[5] इसका प्रभाव यह हुआ कि तारम शीरीन के आक्रमण को छोड़कर उसके शासन काल में कोई दूसरा मंगोल आक्रमण नहीं हुआ। प्रति वर्ष अधिक संख्या में मंगोल अमीर भारत

1. वही, पृ० 81
2. इब्नबतूता, ट्रैवेल्स, पृ० 109, 254, 301, 355; उद्धृत, एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 82। देखिये, बर्नी, पृ० 487-88
3. बर्नी, पृ० 487-88
4. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 82
5. वही।

आते थे, जिन्हें सुल्तान सम्मानित करता था।[1] मुहम्मद तुग़लक के समय में अफगान अमीरों को भी प्रशासन में ऊँचा स्थान मिला।[2]

पुराने अमीरों और विदेशी अमीरों के संघर्ष से राज्य को अधिक क्षति हुई तथा तुगलक साम्राज्य का विघटन भी प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे लखनौती, माबर और देवगिरी में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। सभी प्रान्तों में विद्रोह होने लगे। सुल्तान के मस्तिष्क का सन्तुलन जाता रहा और वह विद्रोहियों को कड़े से कड़ा दण्ड देने लगा। इससे विदेशी अमीर भी सुल्तान के विरोधी हो गये और उन्होंने भी विद्रोह किया। अपने जीवन के अन्तिम समय तक सुल्तान अमीरों के विद्रोहों को दबाने में लगा रहा जिससे वह प्रशासन के विभिन्न विभागों पर विशेष ध्यान नहीं दे सका।

मुहम्मद तुगलक के समय में अमीरों के 21 विद्रोह हुए। इन विद्रोहों के अध्ययन के लिये पूरे शासन काल को दो असमान भागों में बाँटना सुविधाजनक होगा।[3] पहले भाग (1325-35) के अन्तर्गत अमीरों के वे विद्रोह आते हैं जो अलग-अलग अमीरों द्वारा किये गये और जिनका साम्राज्य पर कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु दूसरे भाग (1335-51) के अन्तर्गत वे विद्रोह आते हैं, जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध था, और जिनका साम्राज्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा।[4] सन् 1335 के पहले अमीरों के विद्रोह में प्रमुख थे बहाउद्दीन गुरशस्प, किशलू खाँ, गयासुद्दीन बहादुर और जलालुद्दीन एहसन शाह के विद्रोह और 1335 के बाद के विद्रोहों में महत्त्वपूर्ण थे, हुलाजुन मलिक होशांग, मसूद खाँ, सैयद इब्राहीम, फाखरानिजाम मेन, शिहबुद्दीन सुल्तानी, अलीशाह ऐनुलमुल्क, शाह अफगन, दौलताबाद के अमीर सादाओं और तागी के विद्रोह। इन विद्रोहों में अधिकतर विदेशी अमीर सम्मिलित थे। इन विद्रोहों की एक विशेषता यह थी कि सभी विद्रोह राजधानी से दूर हुए और दिल्ली में पूर्ण शान्ति थी, जब कि इलबरी और खिलजी सुल्तानों के समय में जो विद्रोह हुए थे वे दिल्ली और आस-पास के क्षेत्रों में हुए।[5]

जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि सुल्तान ने अपने विश्वसनीय अमीरों का एक

---

1. बर्नी पृ० 462-69
2. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 82
3. आगा मेंहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 195
4. आगा मेंहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 195-96
5. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 83

दल तैयार किया था जिसके द्वारा बहुत से सीधे सादे अमीरों की हत्या की गई। इस दल का प्रधान वजीर ख्वाजा जहाँ अहमद अयाज था।[1] सुल्तान की अनुपस्थिति में इस दल ने अपने असीमित अधिकारों का प्रयोग अमीरों के उत्पीड़न में किया। अफीफ ने लिखा है कि मुफ्तो मलिक मुजीर आबू रजा को, मलिक कबीर जो नायब था मृत्यु दण्ड दिया। उस समय सुल्तान राजधानी के बाहर था।[2] सुल्तान ने राजधानी में आने के बाद इस दण्ड की पुष्टि की। अमीरों के प्रति इस प्रकार के अमानुषिक व्यवहार के कारण दूर-दूर इलाकों के अमीरों ने राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुहम्मद तुगलक के समय में दासों का प्रभाव राजनीति में बिलकुल ही नहीं पड़ा। सुल्तान इनके हानिकारक प्रभाव को पहले देख चुका था। उसे खिल्जी साम्राज्य के उत्थान और पतन की जानकारी थी। उसने उससे शिक्षा ली थी, यही कारण है कि उसने दासों को कोई प्रश्रय नहीं दिया।[3] सुल्तान ने प्रशासन के केन्द्रीकरण में अत्यधिक योगदान दिया। उसने जगह-जगह पर अमीर सादाओं की नियुक्ति की। इन अमीरों का उद्देश्य यह था कि कम से कम समय में अधिक से अधिक धन अर्जित करके उसे अपने देश को भेज देना। उनका कोई लगाव देश, राज्य और जनता से नहीं था। इन विदेशी अमीरों ने जनता पर अधिक कर लगाया और निर्दयता से उसकी वसूली की, जिससे लोगों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कभी-कभी इन अमीर सादाओं ने सरकारी धन का दुरुपयोग और गबन भी किया और सरकार को हिसाब न दे सकने पर विद्रोह किया। ऐसी परिस्थिति में इन विदेशी अमीरों को नियन्त्रित करने के लिये उसने समाज के निम्न वर्ग के लोगों को चुनकर प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर रखा और उनको विदेशी अमीरों को कुचलने का आदेश दिया। इस सन्दर्भ में मालवा के गवर्नर अजीज खुमार का नाम उल्लेखनीय है, जिसने एक दिन में 89 विदेशी अमीरों को दावत के बहाने निमंत्रित करके जान से मरवा दिया।[5] सुल्तान उसके इस कार्य से प्रसन्न हुआ, परन्तु इस घटना से सभी विदेशी अमीर एक हो गये और उन्होंने मिलकर सुल्तान का

---

1. बर्नी, पृ० 504। वजीर को 'कसाई की संज्ञा दी गई थी। बर्नी ने लिखा है कि सुल्तान मृत्यु दण्ड से कम किसी विदोही को देने की सोच नहीं सकता। (आपसिट, पृ० 500)
2. अफीफ, पृ० 452-54
3. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 85
4. बर्नी, पृ० 503-4

मुकाबला किया। अन्त में मलिक मख अफगन और हसन कंग के नेतृत्व में विदेशी अमीरों ने शाही सैनिकों को पराजित किया और दक्षिण में एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य, जिसे बहमनी राज्य कहा गया, स्थापित की। (1347)।[1]

इस प्रकार अमीरों के प्रति मुहम्मद तुग़लक की नीति असफल रही। गुजरात के विद्रोही अमीर तग़ी का पीछा करते हुए उसकी मृत्यु थट्टा में हो गई (1351)। वह तग़ी को पराजित न कर सका। ऐसी ही परिस्थिति में फीरोज तुग़लक को अमीरों ने दिल्ली का सुल्तान घोषित किया।[2] साम्राज्य में विद्रोही अमीरों द्वारा उत्पन्न विस्फोटक स्थिति को देखते हुए अमीरों ने निश्चय किया कि शाही सेना तुरन्त दिल्ली की तरफ प्रस्थान करे और फिर से केन्द्रीय प्रशासन को सुदृढ़ करके स्थिति पर नियंत्रण रखा जाय। फीरोज के गद्दी पर बैठने का विरोध राजधानी में ख्वाजा जहाँ के समर्थकों ने किया। उन्होंने मुहम्मद तुग़लक की बहन खुदावन्दजादा के पुत्र दावर मलिक को सुल्तान बनाया। थट्टा और फिरोज को सुल्तान बनाने की अमीरों की कार्यवाही को अवैधानिक कहा।[3] फीरोज के समर्थक अमीरों ने मलिक सैफुद्दीन खूजू के माध्यम से खुदावन्द जादा को कहला भेजा कि ऐसी कठिन परिस्थिति में वे एक प्रभावशाली व्यक्ति को ही सुल्तान स्वीकार करेंगे।[4] इस प्रकार दावर मलिक को सुल्तान के पद से हटा दिया गया और उलेमा सहित सभी अमीरों ने एक मत से फीरोज तुग़लक को दिल्ली का सुल्तान स्वीकार किया।[5]

ऐसा विश्वास किया जाता है कि राजधानी के अमीरों ने दबाव में आकर सात वर्षीय बालक दावर मलिक को सुल्तान स्वीकार किया, क्योंकि दिल्ली में ख्वाजा जहाँ का प्रभाव अधिक था। सभी अमीर यह जानते थे कि जैसे ही फीरोज अपने समर्थकों के साथ थट्टा से दिल्ली पहुँचेगा, राजधानी के सभी अमीर उसका पक्ष लेंगे।[6] कुछ विद्वानों का मत है कि ख्वाजा जहाँ इसीलिये अप्रसन्न था कि फीरोज को

1. वही।
2. फीरोज तुग़लक सुल्तान बनने से पहले 'अमीरे हाजिब' के पद पर था।
3. बर्नी, पृ० 536
4. अफीफ, पृ० 44-45; तारीख मुबारक शाही, पृ० 118; देखिये, ए० बैनर्जी, लेख 'ए नोट आन दि सक्सेशन ऑफ फीरोजशाह', इण्डियन कल्चर, 2 (1935-36) पृ० 47-52
5. बर्नी, पृ० 536-39
6. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 86-87

सुल्तान बनाने में उससे राय नहीं ली गयी थी।[1] अफीफ का कहना है कि ख्वाजा जहाँ को ग़लत सूचना दी गई थी कि फिरोज और तातर खाँ को या तो शत्रु ने बन्दी बना लिया या मार डाला। इस समाचार के मिलने पर ही ख्वाजा जहाँ ने दावर मलिक को गद्दी पर बैठाया था और इस प्रकार उसने एक भयंकर भूल की।[2] फीरोज को मुहम्मद तुग़लक ने अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।[3] सभी तथ्यों की जानकारी के बाद ख्वाजा जहाँ के अनेक समर्थक अमीरों ने फीरोज का साथ दिया, उनमें प्रमुख थे मलिक मकबूल, मलिक कब्तधा, अमीर मेहान, सनम और समाना के मुफ्ती मलिक महमूद बक, शेखजादा बिस्तामी, नाथू सोन्धाल, हसन हसाम अधग़ आदि।[4] इस प्रकार उत्तराधिकार की समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान निकल आया और रक्तपात रुक गया। अभिजात वर्ग के लोगों ने फिर दिल्ली के सुल्तान के चयन में अपना प्रभाव दिखलाया।

फीरोज तुग़लक ने अभिजात वर्ग के लोगों के साथ उदारता का व्यवहार किया और प्रशासन के प्रमुख पदों पर नियुक्त करने में अमीरों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया। उसके अमीरों में कई वर्गों के लोग थे जैसे, मंगोल, अफगान, दास और भारतीय मुसलमान। मलिक किवामुलमुल्क को जिन्होंने ख्वाजा जहाँ का साथ छोड़ दिया था, 'वजीर' सुल्तान के बड़े लड़के फतेह खाँ को 'बरबक' सुल्तान के भाई इब्राहीम को नायब बरबक, सुल्तान के दूसरे भाई मलिक कुतबुद्दीन को सिपहसालार, मलिक निजामुलमुल्क को नायब वजीरे समालीक, मलिक अली को राठ का मुफ्ती, मलिक राजी को 'आरीजे ममालीक', मलिक सैफुलमुल्क को 'अमीरे शिकारे मैंमना' के पद दिये गये।[5]

सुल्तान फीरोज तुग़लक के प्रशासन की यह विशेषता थी कि अमीरों का कोई दल राज्य में बहुत प्रभावशाली नहीं हो सका। अभिजात वर्ग के विभिन्न दलों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई थी, जिसके कारण प्रशासनिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही।[6] उसके राज्य में एक को छोड़कर किसी अमीर का कोई विद्रोह नहीं

1. वही, पृ० 87
2. अफीफ, पृ० 51-54
3. बर्नी, पृ० 532
4. अफीफ, पृ० 66-71; बर्नी पृ० 545-47; तारीखे मुबारकशाही, पृ० 122-6
5. बर्नी, पृ० 575-78 तारीखे मुबारक शाही, पृ० 119-20
6. यह फीरोज का महत्वपूर्ण योगदान था कि अमीरों का कोई संघर्ष उसके शासन काल में नहीं हुआ, जबकि 13वीं और 14वीं सदियों में अभिजात वर्ग के आपसी झगड़े होते रहे—एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 88

हुआ।[1] अमीरों के विद्रोह न करने का एक कारण यह भी था कि सुल्तान ने अमीरों को इतनी सुविधायें दीं कि इससे अधिक वे विद्रोह करके भी नहीं प्राप्त कर सकते थे। खाने जहाँ मकबूल ने वजीर के पद का कार्य सुचारु रूप से चलाया और उसे सभी वर्गों के अमीरों का सहयोग मिला। बड़े से बड़े प्रतिभा सम्पन्न अमीर अन्त तक सुल्तान के प्रति वफ़ादार रहे और उसके शासन के अन्त में जब उनकी मृत्यु होने लगी तो अनुशासनहीनता और विरोध दिखलाई पड़ने लगा।[2] जिसके कारण तुग़लक साम्राज्य का पतन होने लगा। फीरोज तुग़लक ने अमीरों को संतुष्ट रखने के लिये मुहम्मद तुग़लक के कड़े नियमों को समाप्त कर दिया। जिन अमीरों को या उनके परिवार के सदस्यों को मुहम्मद तुग़लक द्वारा कष्ट मिला था उन्हें सरकार की तरफ से मुआवजा दिया गया और उनसे 'सन्तुष्टि पत्र' लिया गया कि अब उन्हें मुहम्मद तुग़लक से कोई शिकायत नहीं रही।[3] विद्वानों का मत है कि ऐसा करके फिरोज ने स्वयं मुहम्मद की अमीरों के प्रति नीति का विरोध किया।

फिरोज ने स्वायत्ता के नाम पर अमीरों के भ्रष्ट तरीकों और त्रुटियों की तरफ ध्यान नहीं दिया। धीरे-धीरे प्रशासन के सभी विभागों में भ्रष्टाचार फैल गया। अमीर राज्य के हितों की अपेक्षा अपने स्वार्थ पर अधिक ध्यान देने लगे। यहाँ तक कि सेना विभाग में बुराइयाँ फैल गई। अपंग और अयोग्य सैनिकों की भर्ती होने लगी। फिरोज के समय में सेना की उपयोगिता कम हो गई, क्योंकि साम्राज्य-विस्तार-की नीति को सुल्तान ने त्याग दिया। सेना और दूसरे विभागों में नौकरियाँ वंशानुगत कर दी गयीं।[4] एक अमीर के मरने के बाद उसका पद उसके लड़के, दामाद या दास को दे दिया जाता था चाहे उसमें उस पद पर कार्य करने की क्षमता हो या न हो। सुल्तान के इस आदेश से प्रशासनिक व्यवस्था भंग हो गई। इस नियम के कारण योग्य और उत्साही अमीरों को अपनी प्रतिभा और कार्य कुशलता दिखलाने का अवसर नहीं मिला।[5] यही कारण था कि जिन तुर्कों ने कई बार मंगोलों के आक्रमण को

---

1. शम्सी दमगनी ने 1380-81 में विद्रोह किया जिसे दबा दिया गया और उसे मार डाला गया। (अफीफ, पृ० 499-502)
2. अफीफ, पृ० 419। अफीफ का कहना है कि 1380 में कई विशिष्ट अमीरों की मृत्यु हुई जिनके मृत शरीर को दिल्ली दफनाने के लिये····?
3. फतूहाते फीरोजशाही, पृ० 16; आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 394
4. अफीफ, पृ० 404-5
5. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 89

विफल कर दिया था वे तैमूर के विरुद्ध, युद्ध में बुरी तरह पराजित हुए।[1]

डॉ० निगम का कहना है कि फीरोज तुग़लक के समय में सुचारु रूप से प्रशासनिक कार्यों के चलने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके दरबार में अमीरों का कोई आपसी झगड़ा नहीं था। जब भी अमीरों के स्वार्थ आपस में टकराते थे तो वे संघर्ष करते थे।[2] साधारणतया सुल्तान उनके झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करता था और आवश्यकता पड़ने पर वजीर को उन्हें निपटाने के लिये कहता था। यदि अमीरों के संघर्षों में उसे हस्तक्षेप करना पड़ता था तो वह उसी अमीर का पक्ष लेता था जो शक्तिशाली होता था।[3] इस सम्बन्ध में वजीर और ऐनुलमुल्क मुल्तानी की आपसी शत्रुता उल्लेखनीय है। वजीर के कहने पर सुल्तान ने ऐनुलमुल्क को 'मुशारिफे मुमालिक' के पद से हटा दिया, यद्यपि ऐनुलमुल्क ने अपने कर्त्तव्यों का पालन कुशलतापूर्वक किया था। सुल्तान ने बाद में ऐनुलमुल्क को मुल्तान का इकता दिया, लेकिन ऐनुलमुल्क ने इस शर्त पर स्वीकार किया कि भविष्य में वजीर उस प्रान्त की प्रशासकीय व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।[4] इस घटना का प्रभाव अमीरों पर पड़ा। वे सोचने लगे कि उनका अस्तित्व वजीर की इच्छा पर निर्भर था न कि उनकी योग्यता पर। अमीरों ने वजीर के विरुद्ध एक दल बनाया और सुल्तान से वजीर की शिकायत की परन्तु सुल्तान ने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया।[5] सुल्तान ने अमीरों के बीच मेल स्थापित करने का प्रयास किया परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला, क्योंकि अमीरों को कड़ाई से ही नियन्त्रित किया जा सकता था।[6] खाने जहाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का वजीर बना। उसे भी खाने जहाँ की उपाधि दी गई। उसके वजीर बनते ही अमीर दो दलों में विभक्त हो गये, एक का नेता वह स्वयं था और दूसरे दल का नेता सुल्तान का पुत्र मुहम्मद खाँ था।[7]

फीरोज के शासन के अन्तिम दिनों में वजीर ने सुल्तान के पुत्र मुहम्मद खाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा और सुल्तान से कहा कि उसका पुत्र अपने कुछ साथियों द्वारा

1. वही।
2. वही, पृ० 90
3. अफीफ, पृ० 406
4. वही, पृ० 406-15
5. वही, पृ० 415-19
6. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 90
7. अफीफ, पृ० 454

सुल्तान की हत्या करके स्वयं गद्दी पर बैठने की योजना बना रहा था। सुल्तान ने वजीर को निर्देश दिया कि वह मुहम्मद खाँ और उसके समर्थकों को बन्दी बना ले। परन्तु इस आदेश को कार्यान्वित होने के पहले ही मुहम्मद खाँ ने अपना पक्ष सुल्तान के सामने प्रस्तुत किया और वजीर के विरुद्ध राजद्रोह का अभियोग लगाया।[1] इस पर सुल्तान ने अपने पुत्र मुहम्मद खाँ को वजीर के विरुद्ध कार्यवाही करने का आदेश दिया।[2] मुहम्मद खाँ ने वजीर को जान से मरवा दिया। वजीर को समाप्त करने के बाद मुहम्मद खाँ ने सारी सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित की और वह एक स्वतन्त्र शासक की तरह कार्य करने लगा। यहाँ तक कि उसने खुतबे में अपना नाम पढ़वाना प्रारम्भ किया और सिक्के में अपना नाम 'मुहम्मद शाह' भी अंकित कराया।[3] फीरोज के समर्थक अमीरों ने इसका विरोध किया और कहा कि फीरोज के रहते मुहम्मद खाँ के नाम का खुतबा पढ़ना और सिक्कों में उसका नाम रहना अवैधानिक था। अन्त में अमीरों ने मुहम्मद खाँ के विरुद्ध युद्ध किया। युद्ध में मुहम्मद खाँ की विजय होने वाली थी जब कि अमीरों ने बूढ़े सुल्तान को युद्ध स्थल पर खड़ा कर दिया। सुल्तान को देखते ही मुहम्मद खाँ के समर्थक अमीर सुल्तान की तरफ आ गये और मुहम्मद खाँ अकेला रह गया और वह जान बचाकर भागा। कुछ समय के बाद फीरोज तुग़लक की मृत्यु हो गई (20 सितम्बर, 1388)।

फिरोज तुग़लक की मृत्यु के बाद अमीरों की दलबन्दी के कारण प्रशासन में कुव्यवस्था आ गई और उसका स्थायित्व समाप्त हो गया। अमीर अपने इच्छानुसार सुल्तान के परिवार के किसी सदस्य को चुन लेते और उसे गद्दी पर बैठाने का प्रयास करते। ऐसी परिस्थिति में फिरोज के उत्तराधिकारी अभिजात वर्ग के हाथ की कठपुतली बन गये। वे केवल नाम मात्र के शासक रह गये।[4] 1388 से 1395 तक छह सुल्तान गद्दी पर बैठे। तुग़लक शाह द्वितीय (1388-89), अबूबक़ (1389-90) समाना में मुहम्मद खाँ (1389), नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह (1390-94); अलाउद्दीन सिकन्दर शाह (1394-95) और नासिरुद्दीन महमूद शाह (1395-1412) इनमें दो को छोड़कर सभी को अमीरों की दलबन्दी के कारण गद्दी से हटाया गया।

---

1. हाजीउद्दाबिर, अरेबिक हिस्ट्री ऑफ गुजरात, लन्दन 1928, जिल्द 3, पृ० 899
2. एडवर्ड ठामस, क्रानिकल्स ऑफ दि पठान किंग्स ऑफ देहली, 1871, पृ० 305
3. हाजीउद्दाबिर, आपसिट, पृ० 899
4. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 444-45

इस काल में कई प्रभावशाली अमीरों ने राजनीति में अपनी भूमिका अदा की, जिनमें प्रमुख थे नायब वजीर रुकनुद्दीन,[1] बहादुर नाहिर मेवाती, नासिरुलमुल्क खिज्र खाँ, मलिक सरवर, इस्लाम खाँ, आबू रज़ा, फरहातुलमुल्क, सिकन्दर और जफर खाँ।

नासिरुद्दीन महमूद शाह के शासन काल में अमीरों की दलबन्दी इतनी जटिल हो गई थी कि वजीर मलिक सरवर (ख्वाजा जहाँ) निराश होकर राजधानी छोड़ कर जौनपुर चला गया।[2] और उसने अपने को जौनपुर का स्वतन्त्र शासक घोषित किया। उसने 'मलिक उस शर्क' की उपाधि ग्रहण की और शार्की वंश की स्थापना की। थोड़े समय में उसने इटावा, अवध, कन्नौज, सण्डीला, डालमऊ, बहराइच, बिहार, तिरहुत पर अधिकार कर लिया।[3] गुजरात में जफर खाँ, और दीपलपुर में सारंग खाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत का विघटन शीघ्रता से होने लगा और केन्द्रीय सरकार कमजोर होने के कारण इन अमीरों को नियंत्रित न कर सके। नासिरुद्दीन महमूद शाह के शासन काल में बहादुर नाहिर मेवाती, मल्लू इकबाल, मुकर्रब खाँ और सादत खाँ अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगे रहे। वे कभी किसी शाही परिवार को गद्दी पर बैठाने की कोशिश करते और कभी उन्हें बीच में ही छोड़ देते। उनका कोई सिद्धान्त नहीं था।[4] अमीरों की इस दलबन्दी में प्रान्तीय गवर्नरों ने कोई भाग नहीं लिया। दिल्ली सल्तनत की ऐसी राजनीतिक स्थिति में तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया (1398)। तैमूर के आक्रमण का यह प्रभाव पड़ा कि केन्द्रीय सरकार नाम मात्र की रह गयी और वह प्रान्तीय प्रशासन पर नियंत्रण करने में असमर्थ रही। प्रान्तीय गवर्नर स्वतन्त्र हो गये—ख्वाजा जहाँ जौनपुर में, मुजफ्फर शाह गुजरात में, दिलावर खाँ मालवा में, गालिब खाँ समाना में, शम्स खाँ औहदी बयाना में और महमूद खाँ महोबा में स्वतन्त्र हो गये।[5]

परवर्ती तुग़लक शासकों के समय अमीरों की भूमिका षड्यन्त्रों की रचना में हत्यायें कराने और एक दूसरे को नष्ट करने में रही।[6] फिरोज तुग़लक की मृत्यु के

1. नायब वजीर ने बादशाह बनाने की भूमिका अदा की, बदाँयुनी, मुन्तखबउततवारीख, जिल्द 1, पृ॰ 258
2. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ॰ 456
3. याह्या, तारीखे मुबारक शाही, पृ॰ 156-57
4. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ॰ 456-58
5. तारीखे मुबारक शाही, पृ॰ 168
6. एस॰ बी॰ पी॰ निगम, आपसिट, पृ॰ 90

प्रथम दशक में अमीरों की जो गतिविधियाँ राजनीति में रहीं उसकी तुलना इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् तुर्की दास सुल्तानों को दिल्ली की गद्दी पर बैठाने और अपदस्थ करने में लगे हुए अमीरों से की जा सकती है।[1] फीरोज के शासन काल में अमीरों ने प्रशासन को स्थायित्व प्रदान करने में सहयोग दिया, क्योंकि इसी में उनका अपना हित था। वे जानते थे कि साम्राज्य के विघटन से उनकी क्षति होगी, जिसकी पूर्ति होना सम्भव नहीं हो सकेगा। उन्हें स्वयं राजकोष से उदारतापूर्वक अनुदान मिलता था। परन्तु फीरोज की मृत्यु के बाद अमीर दायित्वों के प्रति उदासीन रहे उन्हें इस बात का भी ज्ञान न रहा कि वे समयानुसार कार्य कर सकें।[2]

फीरोज के प्रशासन में अमीरों की वंशानुगत व्यवस्था के कारण प्रशासन में स्थिरता रही। अमीर अपने परिवार के सदस्यों के लिए अधिक से अधिक जागीरों पर अधिकार करने और ऊँचे से ऊँचे पदों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहे। इस सन्दर्भ में खानेजहाँ मकबूल और उसके पुत्रों के अधिकार में ऊँचे पद और बड़ी जागीरें रही उससे वास्तविक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।[3] ऐसी परिस्थिति में अमीरों में भ्रष्टाचार व्यापक रूप से फैला। फिरोज तुग़लक के शासनकाल में अमीर कई अ-समान दलों में विभक्त थे जो एक दूसरे के ऊपर दृष्टि रखते थे और दरबार में स्वतः शक्ति-सन्तुलन बना हुआ था, जिसके लिये फीरोज को कोई कार्य नहीं करना पड़ा।[4] जहाँ पर फीरोज के शासनकाल में अ-समान अमीरों का दल एक वरदान सिद्ध हुआ; वही परवर्ती तुग़लक सुल्तानों के समय यह अभिशाप बना। केन्द्रीय प्रशासन के दुर्बल होने के कारण विघटनकारी शक्तियाँ सक्रिय हो गयीं छोटे-छोटे अमीरों के दल के नेता सत्ता के होड़ में लग गये। यद्यपि अमीरों का यह दल साम्राज्य के सुदृढ़ करने में समर्थ नहीं था। परन्तु तुगलक साम्राज्य के पतन में इनका अधिक हाथ था।[5]

फीरोज के शासन काल में एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि दासों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी थी। सुल्तान अपने दासों में अधिक रुचि लेता था। उसने उनकी

---

1. वही, पृ० 91
2. वही।
3. अफीफ, पृ० 297-98
4. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 91
5. वही, पृ० 92

देख रेख और प्रशिक्षण के लिये एक अलग विभाग 'दीवाने आरीजे बन्दगान, ख़ोला जो हज़ारों दासों की देखभाल करता था। धोरे-धीरे दासों की संख्या 1,80,0000 तक पहुँच गई। दासों को प्रशिक्षित करने के बाद कारखानों[1] में भेजा जाता था जहाँ कुछ समय के बाद वे कुशल कारीगर बन जाते थे। इनमें से बहुतों को सेना, शाही महल, शफाखानों और पुस्तकालयों में नियुक्त किया जाता था। कुछ दासों को नियमित रूप से नकद वेतन, कुछ को भूमि दी जाती थी।[2] इन दासों ने धीरे-धीरे अभिजात वर्ग का स्थान ले लिया। फीरोज तुग़लक के जीवन काल में इन दासों ने अपने और अपने सम्बन्धियों के लिये अधिक धन अर्जित किया। इस सन्दर्भ में बशीर सुल्तानी का दृष्टांत उल्लेखनीय है। बशोर को 'इमादुलमुल्क' की उपाधि दी गई और रापरी का मुफ्ती नियुक्त किया गया। उसने अनुचित साधनों से असीमित धन एकत्रित किया, जिसे रखने की समस्या हो गई। अनुमानतः उसके पास 13 करोड़ टंका था। जब सुल्तान से इसकी शिकायत की गई तो उसने कोई ध्यान नहीं दिया।[3] अफीफ ने लिखा है कि प्रत्येक दास एक राजा के समान था। उसके पास हाथी, सेना और छत्र था। उनकी संख्या बहुत अधिक थी और वे रात-दिन सुल्तान के साथ रहते थे।[4] इसी तरह दूसरा दृष्टांत मलिक शमसुद्दीन, आबू रजा का है। यह पहले कार्य था, और बाद में समाना में नायब मुक्ति के पद पर नियुक्त हुआ। धीरे-धीरे इसने सुल्तान पर अपना इतना प्रभाव बढ़ा लिया कि उसने वजीर नायब, वजीर मुस्तौफी, मुसरिफ, मजमुआदार बारीद नाजिर और वकफे वजायफ के पदों को अपने अधिकार में कर लिया। यही नहीं, उसने इन पदों पर काम करने वालों से धन वसूल किया और धन न देने वालों को अपमानित किया।[5] उसने एक बार ख्वाजा हिसामुद्दी जुनैदी को जो मजमुआदार था, बुरी तरह से डाँटा और अपमानित किया। ख्वाजा एक धार्मिक व्यक्ति थे। वह इस अपमान को सहन न कर सका। वह बीमार पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई।[6]

---

1. फीरोज ने 36 कारखाने खोले थे। प्रत्येक कारखाना एक विशिष्ट अमीर के अन्तर्गत कार्य करता था। अफीफ, पृ० 337-38
2. वही, पृ० 267-72
3. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 436
4. अफीफ, पृ० 440
5. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 437
6. वही, पृ० 438

वास्तव में दासों के इस वर्ग ने जो अमीरों की नयी श्रेणी में आया। तुगलक साम्राज्य को पतन के गर्त में ढकेल दिया। इस नये वर्ग के अमीरों के मार्ग में पुराने अमीरों के अवरोध थे। बिना उनके हटाये वे आगे नहीं बढ़ सकते थे। यही कारण था कि फीरोज तुग़लक के उत्तराधिकारियों के समय में पुराने और नये अमीरों के बीच कटुता बढ़ी और एक दूसरे को नष्ट करने के लिये संघर्ष हुए। ऐसी परिस्थिति में तुगलक साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था।[1]

सैय्यद और लोदी सुल्तानों के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

खिज्र खाँ सैय्यद (1414-21) ने गद्दी पर बैठते ही अपने अमीरों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। ताजुलमुल्क को वजीर का पद, सैय्यद सलीम, जो सैय्यदों में प्रधान था, को सहारनपुर की जागीर, मलिक सुलेमान के दत्तक पुत्र अब्दुर रहीम को मुल्तान की जागीर, इख्तियार खाँ को दोआब की जागीर, मलिक सरवर को राजधानी में 'शाहनाह' का पद, मलिक दाउद को दाबिर का पद, मलिक काल को शाहनाहेपील का पद और खैरुद्दीन को 'आरीजे ममालीक' का पद दिया गया।[2]

खिज्र खाँ के शासन में शान्ति व्यवस्था स्थापित न हो सकी। खोखर सरदारों और बहादुर नाहिर मेवाती ने विद्रोह किया। सैय्यद सुल्तान केवल सेना के बल पर ही प्रान्तों से राजस्व वसूल कर पाते थे। उसका सारा समय तुग़लकी अमीरों के दबाने में लग गया। एक स्थान में एक अमीर के विद्रोह को दबाया जाता तो दूसरे स्थान में दूसरा अमीर विद्रोह कर देता।[3] राजधानी में अमीरों ने खिज्र खाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र किया।[4] वजीर ताजुलमुल्क की सहायता से विद्रोही अमीरों को मृत्यु दण्ड दिया। खिज़्र खाँ विद्रोही अमीरों की शक्ति को कुचल नहीं सका। उसकी नीति यह थी कि अमीरों से बलपूर्वक बकाया राजस्व का कुछ भाग वसूल करना और शेष धन के भुगतान के लिये भविष्य में अमीरों से आश्वासन प्राप्त करना। अमीर ऐसा आश्वासन तो देते थे, परन्तु उसे वे कभी पूरा नहीं करते थे। खिज़्र खाँ अमीरों द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों का सामना नहीं कर सका, और इन्हीं परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हो गई (20 मई 1421)।[5] उसकी विशेषता यह थी कि उसने अपनी

1. एस० बी० पी० निगम, आपसिट, पृ० 92
2. तारीखे मुबारकशाही, इलियट, जिल्द 4, पृ० 46-47
3. वही, पृ० 52
4. इस षड्यन्त्र में प्रमुख अमीरों में किवाम खाँ और इख्तियार खाँ थे। वही, पृ० 51
5. तारीखे मुबारक शाही, इलीयट, जिल्द 4, पृ० 51

शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये अपने शत्रुओं और विद्रोही अमीरों का रक्तपात नहीं किया।

अपने पिता की तरह मुबारक शाह सैयद[1] (1421-34) ने अभिजात वर्ग के साथ उदारता का व्यवहार किया। उसने सभी अमीरों को पूर्ववत अपने पदों और जागीरों में बने रहने दिया, क्योंकि उन्होंने उसे अपना समर्थन दिया।[2] उसके प्रशासन की यह विशेषता थी कि हिन्दू अमीरों को भी राज्य सरकार में महत्वपूर्ण पद दिये गये। बहादुर नाहिर मेवाती के पौत्र जल्लू और कद्दू ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किया। इसी प्रकार बयाना के गवर्नर मुहम्मद खाँ ने भी विद्रोह किया। जौनपुर के शर्की सुल्तान और मुबारक शाह के बीच संघर्ष में अमीरों की भूमिका विनाशकारी रही।

मुबारक शाह के विरुद्ध सभी वर्गों के अमीरों ने मिलकर विद्रोह किया, उनमें प्रमुख थे, जसरथ खोखर[3] पौलाद, मलिक यूसूफ, हेमू भट्टी, काबुल के गवर्नर शेख जादा अली। इमादुलमुल्क ने इन विद्रोही अमीरों को दबाने में अधिक योगदान दिया। जिस समय उसे सुल्तान के शत्रुओं को पराजित करने में सफलता मिल रही थी, उसको वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर खैरुद्दीन खानी को भेजा गया। यह सुल्तान की भयंकर भूल थी।[4]

मुबारक शाह ने बाद में सरवरुलमुल्क को विद्रोही अमीरों के विरुद्ध भेजा। उसकी अद्भुत सफलता से स्वयं सुल्तान उसकी वीरता से ईर्ष्या करने लगा। उसे वापस बुला लिया गया और उससे विजारत विभाग का कार्य देखने के लिये कहा गया। सुल्तान ने सरवरुलमुल्क के प्रभाव को कम करने के लिये एक दूसरे अमीर कमालउलमुल्क की नियुक्ति की और आदेश दिया कि दोनों आपस में सहयोग से विभाग का कार्य सुचारु रूप से चलायें।[5] सरवरुलमुल्क कमालउमुल्क, के बढ़ते हुये प्रभाव को देख न सका। इसीलिये उसने सुल्तान को जान से मारने के लिये षड्यन्त्र रचा।[6]

1. मुबारक शाह को सुल्तान न कह कर 'खुदाबाद जहाँपनाह' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। वही, पृ० 53
2. फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 1 पृ० 512
3. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 54
4. तारीखे मुबारक शाही, इलीयट, जिल्द 4, पृ० 72
5. वही, पृ० 78
6. सरवरुलमुल्क की जागीर दीपलपुर उससे वापस ले ली गई। इससे वह बहुत क्रुद्ध हुआ।

जिस समय सुल्तान जमुना नदी के किनारे सरकारी भवन के निर्णय कार्य का निरीक्षण कर रहा था, हत्यारों ने उस पर आक्रमण कर दिया और वह जान से मारा गया (19 फरवरी, 1434)।[1]

मुबारकशाह के बाद मुहम्मद शाह (1434-45) को अमीरों ने दिल्ली का सुल्तान बनाया। मुबारकशाह की हत्या में वजीर सरवरुलमुल्क का प्रमुख हाथ था इसीलिये उसने सारी सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित करने का प्रयास किया। उसने खानेजहाँ की उपाधि ली और अपने समर्थक अमीरों को राज्य प्रशासन में नियुक्त किया।[2] कमालुलमुल्क ने खिज्र खाँ सैय्यद के परिवार के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति का परिचय दिया। उसने गुप्त रूप से अमीरों का एक दल तैयार किया और मुबारकशाह के हत्यारों से बदला लेने के लिये एक योजना तैयार की। इस कार्य में कमालुलमुल्क की सहायता मुहम्मद शाह ने भी की।[3] कमालुलमुल्क का साथ उन अमीरों ने दिया जो वजीर सरवरुलमुल्क की हिन्दुओं के प्रति उदार नीति के विरोधी थे।[4]

सरवरुलमुल्क को इस षड्यन्त्र का पता चल गया और उसने अपनी सुरक्षा के लिये सारी किले में व्यवस्था की। सरवरुलमुलक ने मुहम्मद शाह की भी हत्या करवाने का प्रयास किया, परन्तु कमालुलमुल्क के सहयोगियों ने जब सरवरुलमुल्क दरबार में प्रवेश कर रहा था,[5] की हत्या कर दी। कमालुलमुल्क ने अब अपने समर्थकों को महत्वपूर्ण पदों पर रखा और सारी सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित कर ली लेकिन उसे सफलता नहीं मिली, क्योंकि न तो उसे शक्तिशाली सेना का समर्थन मिला और न उसमें प्रशासन कार्य की क्षमता थी। यही कारण था कि वह राज्य प्रशासन में स्थायित्व नहीं ला सका। साम्राज्य के अनेक भागों से अमीरों के विद्रोह के समाचार आने लगे। इब्राहीम शर्की ने दिल्ली सल्तनत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। मालवा का शासक महमूद खिल्जी सेना लेकर दिल्ली तक आ गया। यदि लाहौर और सरहिन्द के गवर्नर बहलोल लोदी ने समय पर मुहम्मद शाह की सहायता न की, होती तो स्थिति भयंकर हो सकती थी।[6] सुल्तान ने बहलोल लोदी का 'फर्जन्द'

1. वही, पृ० 78-80
2. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 80
3. वही, पृ० 81
4. वही।
5. वही, पृ० 83
6. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 85

पुत्र कह कर सम्बोधित और उसे 'खानेखाना' की उपाधि दी। इस स्थिति से बहलोल लोदी और अन्य अफगान अमीरों ने लाभ उठाया और उन्होंने कई परगनों पर अधिकार कर लिया। सुल्तान को विवश होकर उन परगनों को, लोदियों को विधिवत दे दिया, जिन पर उन्होंने पहले ही अधिकार कर लिया था।[1] बहलोल ने अपने को पंजाब का स्वतंत्र शासक कहना प्रारम्भ किया, यद्यपि खुतबा और सिक्के पर उसने अपने नाम का प्रयोग नहीं किया।[2] अमीरों की आपसी दलबन्दी के कारण राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई और इन्हीं परिस्थितियों में मुहम्मद शाह की मृत्यु हो गई (1445)।[3]

मुहम्मद शाह की मृत्यु के बाद अमीरों ने उसके लड़के अलाउद्दीन आलम शाह (1445-50) को दिल्ली का सुल्तान बनाया। अलाउद्दीन आलमशाह अकर्मण्य अयोग्य शासक था। सुल्तान का अपने वजीर हमीद खाँ से झगड़ा हो गया। सुल्तान अपने वजीर को जान से मरवा देना चाहता था। सुल्तान और वजीर के संघर्ष का बहलोल लोदी ने लाभ उठाया। हमीद खाँ ने बहलोल लोदी को आमंत्रित किया कि वह दिल्ली के सुल्तान का पद ग्रहण करे।[4] सुल्तान अलाउद्दीन आलम शाह अमीरों के षड्यंत्र और राजनीति में उनकी विनाशकारी भूमिका से ऊब गया। उसे अमीरों द्वारा अपने जीवन का खतरा दिखाई पड़ा। इसलिए वह राजधानी छोड़कर शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिये बदायूँ चला गया (1447) और उसने उसे अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया।[5] अमीरों ने सुल्तान की इस नीति का समर्थन नहीं किया। फरिश्ता ने लिखा है कि 'बदायूँ की जलवायु सुल्तान के स्वास्थ्य के लिये अनुकूल थी'। एडवर्ड टामस का मत है कि सुरक्षा की दृष्टि से बदायूँ सुल्तान के लिये उत्तम स्थान था क्योंकि अमीरों की दलबन्दी और उनके षड्यंत्रों के कारण सुल्तान का जीवन राजधानी में असुरक्षित था।[6] अलाउद्दीन आलमशाह के समय में प्रान्तीय हाकिम लगभग स्वतंत्र हो चुके थे। बहलोल लोदी के पास पंजाब, दीपलपुर और सरहिन्द था। यहाँ तक कि पानीपत तक के प्रदेश पर बहलोल

1. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 174
2. ए० बी० पाण्डे, फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इण्डिया, कलकत्ता 1956, पृ० 51
3. इलीयट, जिल्द 4, पृ० 86
4. वही, पृ० 87
5. इलीयट, पृ० 87
6. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 174

का अधिकार था। अहमद खाँ मेवाती ने महरोली से लादोसराय तक[1] दरिया खाँ ने सम्भल, इसा खाँ तुर्क ने कोल, कुतुब खाँ ने रापरी से भोगाँव, इटावा और चाँदवार, राजा प्रताप ने पटियाला एवं कम्पिल, दाउद खाँ औहदी ने बयाना के इलाकों पर अधिकार कर लिया।[2] अमीरों के इस तरह पूरे दिल्ली सल्तनत के क्षेत्र पर अधिकार कर लेने से सुल्तान के पास केवल दिल्ली और पालम के परगने बच गये।[3] इसीलिये व्यंगात्मक ढंग से कहा जाता था कि सुल्तान का दिल्ली अधिकार केवल दिल्ली से पालम तक था।

अलाउद्दीन आलमशाह के बदायूँ चले जाने के बाद हमीद खाँ ने शासन की बागडोर सम्भाली। कुछ अमीरों ने हमीद खाँ का विरोध किया और जान से मारने का षड्यन्त्र किया, परन्तु हमीद खाँ बच गया।[4] हमीद खाँ ने दिल्ली के सुल्तान पद के लिये पहले मालवा और जौनपुर के सुल्तानों के नाम पर विचार किया। परन्तु दोनों शासक नाम मात्र के लिये सुल्तान नहीं होना चाहते थे, इसीलिये वजीर ने उन्हें अस्वीकार कर दिया।[5] इन्हीं परिस्थितियों में हमीद खाँ ने सरहिन्द के गवर्नर बहलोल लोदी को दिल्ली आने का निमंत्रण दिया। दिल्ली पहुँचने पर उसने अफग़ान अमीरों को राज्य प्रशासन के प्रमुख पदों पर बैठाया।[6] अफगान अमीर अभद्र, अशिष्ट और अनुशासनहीन समझे जाते थे। बहलोल इन्हीं अमीरों को हमीद खाँ के विरुद्ध लगा कर सारी सत्ता अपने हाथ में रखना चाहता था। सभी अफगान अमीर वजीर के यहाँ प्रतिदिन जाने लगे। एक दिन अफगानों ने हमीद खाँ को बन्दी बना लिया और बहलोल लोदी को (1451-89) विधिवत गद्दी पर बैठा दिया।

लोदी साम्राज्य की स्थापना के पूर्व अफगान अमीरों को राज्य प्रशासन में, महत्वपूर्ण पद प्राप्त थे। इलबरी सुल्तानों के समय अफगानों को सैनिक चौकियों पर नियुक्त किया जाता था। मुहम्मद तुग़लक के समय एक अफगान प्रान्तीय गवर्नर के पद पर नियुक्त किया गया।[7] फीरोज तुग़लक के समय में मलिक वीर अफगन को

1. यह स्थान दिल्ली के निकट है।
2. ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 52
3. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 172
4. ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 53। इन अमीरों में प्रमुख थे–ईसा खां, राजा प्रताप, कुतुब खाँ।
5. वही, पृ० 44
6. वही, पृ० 55
7. बर्नी, पृ० 514; ईसामी, पृ० 493

बिहार का गवर्नर बनाया गया था।[1] सैय्यद सुल्तानों ने भी अफगानों को राज्य प्रशासन में ऊँचा पद दिया था। सुल्तान खिज्र खाँ के समय में सुल्तान शाह लोदी एक प्रतिष्ठित अमीर था। उसी के समय बहुत से सूर, नुहानी, नियाजी और लोदी अमीर भारत में आये।[2] दौलत खाँ पहला अफगान था जिसने दिल्ली में शासन की बागडोर अपने हाथ में संभाला (1412-1414)। वह 1405 में दोआब का फौजदार नियुक्त किया गया और उसी समय से उसकी ख्याति बढ़ी।[3] सैय्यद सुल्तानों के समय अफगान अमीर ऊँचे-ऊँचे पदों पर थे। मलिक अल्लाह दाद सम्भल का गवर्नर था। उसके मरने के बाद उसके भाई दरया खाँ लोदी ने अपने क्षेत्र का विस्तार दिल्ली तक किया।[4] इस प्रकार दिल्ली सल्तनत की राजनीति में अफगानों का अधिक प्रभाव बहलोल लोदी के सुल्तान बनने के पहले ही हो गया था।

बहलोल लोदी को प्रारम्भ में अमीरों के भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे पहले सैय्यद अमीरों ने विरोध प्रकट किया। वे बहलोल को अपहर्ता समझते थे। उनकी स्वामी-भक्ति भूतपूर्व सैय्यद सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह के प्रति थी, जो बदायूँ में निवास कर रहा था।[5] दूसरी तरफ हमीद खाँ के समर्थकों ने कठिनाई उत्पन्न की क्योंकि वे हमीद खाँ के संरक्षण का लाभ उठाना चाहते थे, जो उसके अपदस्थ हो जाने के कारण लाभान्वित नहीं हो सके।[6] इसके विपरीत तुर्की अमीर अफगानों से घृणा करते थे। उनका विचार था कि अफगान केवल सिपाही बनने के योग्य थे और वे प्रशासन में ऊँचे पदों के लिये सर्वथा अयोग्य थे।[7] तुर्कों और अफगानों में वैमनस्य इतना अधिक था कि खुतबा पढ़ने के समय मुल्ला कादान अफगानियों को बुरा भला कहते थे और इसके बाद वे खुतबा पढ़ते थे।[8] बहलोल को अपने समर्थकों को नियंत्रित करने में कठिनाई थी। अफगान स्वतंत्रता-प्रेमी थे। वे अपने नेता का आदर तो करते थे, परन्तु उसके साथ

1. तारीखे मुबारकशाही, पृ० 133, बसु, (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० 140
2. ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 39
3. वही।
4. तारीखेमुबारकशाही, पृ० 239
5. ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 59
6. वही, पृ० 60
7. वही, पृ० 61
8. वही।

व्यवहार में वे मालिक और नौकर के सिद्धान्त को पसन्द नहीं करते थे। अफगान सम्प्रभुता के अंतर्गत सभी अफगान बराबरी के दर्जे में थे चाहे कोई सर्वोच्च पद पर हो और चाहे वह साधारण व्यक्ति हो।

बहलोल लोदी और जौनपुर के शर्की सुल्तानों के संघर्ष में अमीर भी अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे रहे कभी वे बहलोल खाँ का साथ देते थे और वे जौनपुर के शर्की सुल्तान की तरफ मिल जाते थे। तुर्की और सैय्यद अमीरों ने बहलोल लोदी का साथ दिया, जब कि अफगान अमीर, सम्भल का गवर्नर दरया खाँ लोदी, और रापरी का गवर्नर कुतुब खाँ अफगान कभी शर्की की तरफ रहते और कभी बहलोल की तरफ। उनका कोई सिद्धान्त नहीं था। बहलोल और शर्की मुल्तान के प्रथम युद्ध में (1452) इसा खाँ तुर्क और सैय्यद शमसुद्दीन ने अफगानों की तरफ से शर्की सुल्तान के सेनापति दरया खां लोदी से गुप्त रूप से सम्पर्क स्थापित किया और कहा कि उसे एक अफगान होने के नाते बहलोल की सहायता करनी चाहिये।[1] अन्त में दरया खाँ लोदी ने सहायता का आश्वासन दिया और शर्की सेना को गलत आदेश दिये, जिसके कारण बहलोल की विजय हुई। मुबारिज खाँ, कुतुब खाँ और राजा प्रताप ने कई बार लोदी और शर्की सुल्तानों के बीच संघर्ष को बढ़ावा दिया, लड़ाई समाप्त करने में मध्यस्थता की।[2] बहलोल ने हिन्दू अमीरों का समर्थन भी प्राप्त किया, जिनमें प्रमुख थे रायकर्ण, राजा प्रताप, रायबीर सिंह, राय त्रिलोक चन्द और धन्धू।[4] बहलोल कुछ अमीरों को उनकी महत्वाकांक्षा और राजनैतिक सूझबूझ के कारण अपनी तरफ पूर्णतया न मिला सका।[4] बहलोल लोदी अफगानी संप्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार दरबार में गद्दी पर नहीं बैठा, बल्कि वह एक बहुत बड़े कालीन पर बैठता था।[5] अमीरों को 'मनसदे आली' कहकर सम्बोधित करता था।[6] यही कारण था कि उसके शासन काल में अमीरों ने कोई विद्रोह नहीं किया। यदि कोई अमीर अप्रसन्न

1. ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 87
2. वही, पृ० 88-89
3. वही, पृ० 97
4. इन अमीरों में प्रमुख थे—कुतुब खाँ, राजा प्रताप, अहमद खाँ मेवाती और अहमद खाँ जलवानी। जलवानी ने तो बयाना में शर्की सुल्तान हुसेनशाह के नाम का खुतबा पढ़ा (ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 98)
5. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 93
6. वही।

हो जाता था तो वह उसे मनाने के लिये उसके घर जाता था और कहता था कि यदि वे उसे नहीं चाहते तो सुल्तान के पद से हटा दे और किसी दूसरे सुल्तान को चुन ले, और, उसे जो काम सुपुर्द करेंगे उसे वह निष्ठा के साथ करेगा। इस प्रकार बहलोल लोदी ने अमीरों के दम्भ को बनाये रखा और उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिये वह समय-समय पर भेंट दिया करता था।

बहलोल लोदी की मृत्यु (1489) के बाद अफगान अमीरों ने अपनी मजलिस में उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार किया। गद्दी के लिये तीन उम्मीदवार थे—बहलोल के दो पुत्र निजाम खाँ और बारबकशाह और बहलोल का पौत्र आजम हुमायूँ (बयाजीद का पुत्र)। अमीर तीन वर्गों में विभक्त थे और अपने अपने उम्मीदवारों के पक्ष में समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। कुछ अमीर निजाम खाँ के विरोधी थे क्योंकि उसकी माँ एक हिन्दू महिला थी और लोग उसे आधा हिन्दू समझते थे। ईसा खाँ ने निजाम खाँ का विरोध किया, परन्तु खानेजहाँ और खानेखाना फर्मुली के समर्थन से उसे दिल्ली का सुल्तान सिकन्दरशाह लोदी (1489-1517) के नाम से घोषित किया गया।

सुल्तान बनने के बाद सिकन्दर लोदी को भय था कि बारबकशाह और आजम हुमायूँ, जो क्रमशः जौनपुर और कालपी के गवर्नर थे, अपने-अपने समर्थकों की सहायता से सत्ता के लिए गृहयुद्ध छेड़ देंगे। शर्की सुल्तान के संघर्ष मे वह अमीरों की भूमिका अपने पिता के समय में देख चुका था। उसने अमीरों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें दरबार में सम्मानित किया और उपाधियाँ दीं। उसने विरोधी अमीरों आलम खाँ और ईसा खाँ लोदी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और उन्हें आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। सिकन्दर लोदी ने इस्माइल खाँ नूहानी और शेखजादा फर्मुली की सहायता से अपने भाई बारबक शाह को नियंत्रित करने का प्रयास किया। उसने जौनपुर में अपने को स्वतंत्र शासक घोषित किया था। बारबकशाह गुप्त रूप से शर्की सुल्तान से मिल गया। सिकन्दर ने अपने भाई को बन्दी बना लिया।

बदायुँनी ने लिखा है कि सिकन्दर विद्रोही अमीरों को दण्डित नहीं करता था। उन्हें केवल एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज देता था।[1] बयाना के गवर्नर खानेजहाँ फर्मुली की मृत्यु के बाद उसके लड़कों इमाद और सुलेमान की नियुक्ति की परन्तु वे निष्ठावान नहीं सिद्ध हुये। लखनऊ के गवर्नर अहमद खाँ, शिवपुर के गवर्नर अली खाँ नागौरी ने सुल्तान के आदेश के विरुद्ध कार्य किया लेकिन

1. बदायुंनी, जिल्द 1, पृ० 317

उन्हें उचित दण्ड नहीं दिया गया।[1] सिकन्दर ने अमीरों की शक्ति उन्हें स्थानान्तरण करके और उनपर व्यक्तिगत निगरानी करके कम किया उसने अमीरों के अधिकार को सीमित किया।[2] जब कि उसका पिता जमीन पर गलीचे पर बैठता था सिकन्दर सिंहासन पर बैठने लगा। दरबार में अमीरों के आचरण के लिये उसने एक आचार संहिता तैयार की। उसने अमीरों को शाही आदेश मानने के लिये विवश किया। शाही फरमान प्राप्त करने के लिए अमीर को अपने स्थान से 6 मील की दूरी पर पैदल जाकर शाही दूत से फरमान लेना पड़ता था।[3] अमीरों को यह आभास हो गया कि वे सुल्तान के नौकर थे। अपने पिता की तरह उसने अमीरों को बराबरी का स्थान नहीं दिया, बल्कि सुल्तान और अमीरों के बीच एक दूरी निर्धारित की। डॉ० ए० बी० पाण्डेय ने लिखा है कि सिकन्दर लोदी की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि यदि वह अपने किसी दास को पालकी में बैठाकर अमीरों से उसे आदर करने को कहे तो सभी अमीर बिना किसी हिचकिचाहट के उसके आदेश को मानेंगे।[4]

इतने परिवर्तनों के बावजूद भी सिकन्दर अपने पिता द्वारा अमीरों को दी गई सभी सुविधाओं को समाप्त नहीं कर सका। अफगानों के कबीलों का ढांचा पूर्ववत् बना रहा। बहुत से पदों पर वंशानुगत नियुक्तियाँ की जाती थीं, जिससे उसका यह स्वरूप बना रहे। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि खवास खाँ के बाद उसका बेटा मियाँ भुवा वजीर के पद पर आसीन हुआ। बयाना के खानेखाना फर्मुली के बाद उसके पुत्र ईमाद और सुलेमान वहाँ के गवर्नर बनाये गये। कालपी में महमूद खाँ लोदी के बाद उसका पुत्र जलाल खाँ वहाँ का उत्तराधिकारी बना।[5] सिकन्दर लोदी ने भी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ 'खानेजहाँ', 'खानेखाना', 'आजम हुमायूँ', 'खाने आजम' आदि—अमीरों को प्रसन्न करने के लिये दी। उसने इस बात को ध्यान में रखा कि

---

1. ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 151
   अवन्तगढ़ और नरवर पर आक्रमण के समय मुजाहिद खाँ, जलाल खाँ और शेर खाँ नुहानी शत्रु से मिल गए। सुल्तान ने उन्हें दण्डित नहीं किया
2. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 182। जब एक अमीर ने अभद्र व्यवहार किया तो सिकन्दर ने उसे धक्के मारकर बाहर निकलवा दिया।
3. निजामुद्दीन अहमद, तबकाते अकबरी, जिल्द 1, पृ० 338
3. वही, पृ० 219
4. वही।

ये उपाधियाँ अफगानों के सभी वर्गों (लोदी, नूहानी, फमुंली) के विशिष्ट अमीरों को दी जायँ।[1] उसने विशिष्ट अमीरों को सुल्तान के साहचर्य का विशेष अधिकार प्रदान किया।[2]

अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले सिकन्दर ने अमीरों को आमंत्रित किया था। शायद वह ग्वालियर पर आक्रमण की योजना बनाना चाहता था, परन्तु उसके पूरा होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई (1517)।[3] उसके दोनों लड़के इब्राहीम और जलाल वहाँ उपस्थित थे। इब्राहीम बड़ा था और नियमानुसार उसे ही दिल्ली का सुल्तान घोषित किया जाना चाहिये था। परन्तु अमीरों ने अपने स्वार्थ के लिये साम्राज्य के विभाजन का प्रस्ताव मजलिस में किया, जिससे कोई केन्द्रीय सरकार न रहे, जो अमीरों को नियंत्रित कर सके।[4] अमीरों का एक वर्ग इब्राहीम से अप्रसन्न था, क्योंकि उसने अभिजात वर्ग के लोगों को अपमानित किया और अपने नौकरों की तरह उनसे व्यवहार करता था।[5] यदि सम्भव होता तो वे इब्राहीम के स्थान पर जलाल को ही दिल्ली का सुल्तान बनाते, परन्तु उनके इस कार्य से भयंकर गृह युद्ध की सम्भावना हो सकती थी। अन्त में यह निश्चय किया गया कि साम्राज्य का विभाजन इब्राहीम और जलाल के बीच किया जाय। जलाल को पुराना शर्की राज्य का क्षेत्र दिया गया और शेष साम्राज्य इब्राहीम को दिया गया। इस निर्णय के बाद जलाल जौनपुर चला गया और अपना राज्याभिषेक किया।[6]

इस मजलिस में बहुत से अमीर उपस्थित नहीं थे। कुछ समय के बाद जब वे दिल्ली आये तो उन्होंने साम्राज्य के विभाजन को मानने से इनकार कर दिया और सभी अमीरों को इस समस्या पर विचार के लिये बुलाया गया। जलाल को भी जौनपुर से बुलाया गया।[7] इस मजलिस में अमीरों ने साम्राज्य विभाजन को समाप्त कर दिया और जलाल से कहा गया कि वह दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम के अन्तर्गत जौन-

---

1. ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 220
2. वही।
3. वही, पृ० 161
4. तबकात अकबरी, जिल्द 1, पृ० 341
5. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 188
6. तबकाते अकबरी, जिल्द 1, पृ० 343-44; बदाँयूनी, जिल्द 1, पृ० 326
7. जलाल को बुलाने के लिये हैबत खाँ गुर्गन्दाज को भेजा गया ?

पुर का प्रशासन चलाये।[1] रापरो के गवर्नर खानेजहाँ नूहानी ने विभाजन का डटकर विरोध किया और इसे मूर्खता पूर्ण निर्णय कहा। सभी अमीर मजलिस में चुप रहे, क्योंकि जो लोग विभाजन के समर्थक थे वे जलाल के साथ जौनपुर चले गये थे। जलाल ने दूसरी मजलिस के निर्णय को नहीं माना, जिससे गृह युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। बिहार के दरया खाँ नूहानी, गाजीपुर के नासिर खाँ नूहानी और अवध के शेखजादा मोहम्मद फर्मुली जैसे विशिष्ट अमीरों को इस आशय के शाही फरमान के साथ अलग से भेंट दी गई।[2]

इब्राहीम ने अमीरों के समर्थन से जलाल को पराजित किया। पूर्वी क्षेत्र के अमीरों ने बाद में जलाल का साथ देना बन्द कर दिया।[3] जलाल बन्दी बना लिया गया और बाद में उसकी हत्या कर दी गई।[4] अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद इब्राहीम ने अमीरों की शक्ति को कुचलने की योजना बनायी। उसने अपने पिता के समय में अमीरों के विद्रोहों और षड्यन्त्रों को देखा था। उसने निश्चय किया कि वह अपने राज्य में बड़े और छोटे अफगान और अन्य वर्ग के अमीर और सामान्य जनता को बराबरी के स्तर पर रखेगा। इसके विपरीत अमीर बहलोल और सिकन्दर द्वारा दिये गये विशेषाधिकारों का उपयोग करना चाहते थे। बहलोल ने अपनी विनम्रता से अमीरों की प्रभुता बनाये रखी थी और अफगानी परम्पराओं का सम्मान करना था। सिकन्दर ने सुल्तान की प्रतिष्ठा बढ़ाते हुए अमीरों का आदर किया और उनके अधिकारों को सीमित किया। शासन के प्रारम्भ से ही अमीरों और इब्राहीम के बीच अविश्वास और कटुता की भावना आ गई, क्योंकि उसने स्वयं कहा था कि 'राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता।' बड़े से बड़े अमीरों को दरबार में उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहना पड़ता था।[5] इब्राहीम के इस व्यवहार से अमीर उसके विरोधी

1. जलाल सशंकित हो गया और उसने दिल्ली चलने से इनकार कर दिया। इस पर शाही फरमान के द्वारा जौनपुर के अमीरों को जलाल का साथ छोड़ने के लिये कहा गया। (बदाँयूनी, जिल्द 1, पृ० 326)
2. तारीखे दाउदी, पृ० 107 के अनुसार 30000 और 40000 मनसब के अमीरों को सुल्तान ने सम्मानित किया। (ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 168)
3. आजम हुमायूँ और उसके पुत्र फतेह खाँ ने जलाल का साथ छोड़ दिया। इसके पहले इन्हीं अमीरों ने जलाल को संघर्ष के लिये उकसाया था।
4. यादगार (पृ०, 74) ने लिखा है कि अहमद खाँ ने जलाल की हत्या की।
5. ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 184

हो गये और अफगान साम्राज्य के प्रति बाह्य रूप से स्वामि-भक्ति का परिचय देते हुए परोक्ष रूप से उसके विनाश के लिए कार्य करने लगे।[1]

इस प्रकार इब्राहीम और अमीरों के सम्बन्ध दिनों दिन बिगड़ते गये। इब्राहीम ने जो दुर्व्यवहार मियाँ भुआ, आजम हुमायूँ सरवानी और मियाँ हुसेन फर्मुली के साथ किया उससे अमीरों ने यह निर्णय लिया कि सुल्तान अमीरों के साथ समझौता नहीं करना चाहता। अतः उसका विरोध करना परिस्थितियों के अनुसार ठीक था आजम हुमायूँ को जलाल का साथ देने पर बन्दी बनाया गया, यद्यपि उसने बाद में जलाल का साथ छोड़ कर इब्राहीम का साथ दिया। वह सुल्तान का इतना वफ़ादार बन गया था कि उसने अपने लड़के इस्लाम खाँ के विद्रोह करने की सम्भावना से सुल्तान को परिचित करा दिया था।[2] इस पर भी इब्राहीम ने आजम हुमायूँ को अपमानित किया। मियाँ हुसेन फर्मुली को राजपूतों के साथ गुप्त रूप से मिलने पर और सुल्तान के विरुद्ध कार्य करने पर गिरफ्तार किया गया। मियाँ भुआ को जो सिकन्दर के समय में वजीर था सुल्तान के आदेश न मानने पर जेल में डाल दिया गया और उसके लड़के को वजीर बनाया गया।[3]

इब्राहीम लोदी द्वारा अमीरों के विरुद्ध कार्य करने की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इस्लाम खाँ ने अपने पिता आजम हुमायूँ सारवानी के प्रति जेल में दुर्व्यवहार किये जाने के विरोध में विद्रोह कर दिया। उसका साथ सईद खाँ लोदी और आजम हुमायूँ लोदी ने दिया। इब्राहीम लोदी ने सेना भेजकर विद्रोह दबाने की कोशिश की, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। सुल्तान ने अमीरों को चेतावनी दी कि जब तक इस्लाम खाँ का विद्रोह दबाया नहीं जाता, अमीरों को दरबार आने की अनुमति नहीं दी जा सकती।[4] इस्लाम खाँ के सैनिकों की संख्या 40000 पहुँच गई। इस संघर्ष को समाप्त करने के उद्देश्य से शेख राजू बुखारी ने मध्यस्थता की।[5] विद्रोहियों का कहना था कि सुल्तान आज़म हुमायूँ सरवानी को छोड़ दें तो वे राज्य छोड़ कर चले जायेंगे। सुल्तान ने इसे अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा और ऐसा करने से इनकार कर दिया। उसने पूर्वी क्षेत्र के अमीरों-बिहार के दरया खाँ नूहानी, गाज़ी-

1. वही।
2. वही, पृ० 186
3. तारीखे दाउदी, पृ० 113-14। उद्धृत ए० बा० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 189
4. डार्न, हिस्ट्री ऑफ़ अफ़गान्स, जिल्द 1, पृ० 75
5. तबकाते अकबरी, जिल्द 1, पृ० 850

पुर के नासिर खाँ नूहानी और शेखजादा मुहम्मद फर्मुली को विद्रोहियों के विरुद्ध कार्यवाही करने का निर्देश दिया। इस्लाम खाँ मारा गया।

सुल्तान पुराने अमीरों से संशकित था। इसीलिये उसने नवयुवक अमीरों को प्रशासन में नियुक्त किया। सुल्तान ने उन सभी अमीरों को संरक्षण दिया जिन्हें पहले प्रशासन से अलग रखा गया था। डॉ० आर० पी० त्रिपाठी के अनुसार बहलोल लोदी ने अपने पुत्र सिकन्दर को सलाह दी थी कि वह 'नियाजी' और 'सूर' वर्ग को प्रशासन में उच्च पदों पर न नियुक्त करे क्योंकि वे महत्वाकांक्षी होते थे। परन्तु इब्राहीम लोदी ने 'नूहानी' फर्मुली और कुछ 'लोदी' अफगानों को उपद्रवी तत्व समझा।[1] इस्लाम खाँ के विद्रोह ने पूर्वी क्षेत्र के अमीरों को घमण्डी बना दिया। वे कहने लगे कि बिना उनकी सहायता से सुल्तान विद्रोहियों का दमन करने में असमर्थ था।[2] कुछ समय के बाद जेल में हुए मियाँ भुआ और आजम हुमायूँ की मृत्यु का समाचार दिया गया। अमीरों को सन्देह था कि सुल्तान ने इन्हें जान से मरवा दिया। दरिया खाँ नूहानी को भय था कि सुल्तान उसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करेगा, इसीलिए उसने विद्रोह कर दिया।[3] वह सोचने लगा कि चूँकि उसने इस्लाम खाँ के विद्रोह को दबाया, सुल्तान उसे खतरनाक अमीर समझेगा।[4] सुल्तान ने कुछ पुराने अमीरों को गिरफ्तार किया, जिससे दरया खाँ को सुल्तान के इरादों का पता लग गया।

दरया खाँ के विद्रोह को दबाने के लिए सुल्तान ने पंजाब के गवर्नर दौलत खाँ लोदी को दरबार में बुलाया[5] परन्तु अपने फरमान में उसने स्पष्ट कारण नहीं लिखा। जिस समय शाही फरमान दौलत खाँ को मिला, वह सोचने लगा कि अन्य अमीरों की तरह सुल्तान उसके विरुद्ध कार्यवाही करेगा। उसने कई वर्षों का अपने प्रान्त के राजस्व का हिसाब नहीं भेजा था। ऐसी परिस्थिति में उसने बिना पूरी जानकारी किये दिल्ली दरबार जाना उचित नहीं समझा। उसने घटनाओं की

1. आपसिट, पृ० 90
2. ए० बी० पाण्डेय, आपसिट पृ० 193
3. डार्न, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 76
4. दरिया खाँ ने सोचा कि उसने एक बार सुल्तान की आलोचना की थी, इसीलिए वह उसे नष्ट करने के लिए वह सभी उपाय करेगा।
5. सुल्तान ने सोचा कि लोदी होने के नाते दौलत खाँ नूहानियों के विद्रोह को दबाने में सुल्तान के साथ-साथ सहयोग करके अपने को गौरवान्वित समझेगा। (ए० बी० पाण्डेय, आपसिट, पृ० 195)

जानकारी के लिए अपने पुत्र दिलावर खाँ को दिल्ली भेजा।[1] सुल्तान दिलावर खाँ को देखते ही क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने कहा कि फरमान दौलत खाँ के लिए था और उसे आना चाहिये था। सुल्तान ने निर्देश दिया कि दिलावर को जेल में उन अमीरों की हालत दिखाई जाय जिन्होंने सुल्तान के आदेशों के विरुद्ध काम किया था जेल में अमीरों की दर्दनाक हालत देखकर जब दिलावर वापस जाने लगा तो सुल्तान ने धमकी दी कि यदि उसका पिता तुरन्त उपस्थित नहीं हुआ तो उसकी भी वही गति होगी जैसी उसने जेल में दूसरे अमीरों की देखी। दिलावर खाँ ने जो घटनाओं का वर्णन अपने पिता को दिया, दौलत खाँ उससे घबड़ा गया। उसने तुरन्त काबुल के शासक बाबर के दरबार में दिलावर को भेजा और उसे दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया।[2]

अमीरों के एक वर्ग ने बहलोल खाँ के पुत्र आलम खाँ को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से घोषित किया और उसे बाबर के दरबार में इब्राहीम लोदी के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा।[3] सभी अमीर जानते थे कि बिना किसी सहायता के वह सुल्तान के पद का भार नहीं संभाल सकता, क्योंकि वह इसके योग्य नहीं था।[4] बाबर भारत पर आक्रमण की योजना पहले भी बना चुका था। जब अफगान अमीरों ने उसे आमन्त्रित किया तो उसने आक्रमण की पूरी तैयारी की। बाबर काबुल से रवाना हुआ (नवम्बर, 1525) और पंजाब पर अधिकार करने के बाद उसकी सेनायें पानीपत के मैदान में आ गईं (अप्रैल, 1526)। इब्राहीम लोदी भी बाबर के आक्रमण का समाचार सुनकर अपनी सेना के साथ पानीपत पहुँच गया।

इब्राहीम लोदी ने युद्ध के पहले एक शानदार दरबार आयोजित किया और अमीरों को सम्मानित किया और उपहार दिया।[5] उसने आश्वासन दिया कि बाबर के विरुद्ध युद्ध में विजयी होने के बाद वह अमीरों को इनाम व जागीरें प्रदान करेगा, यदि वह पराजित हुआ तो अमीर इतने से सन्तुष्ट रहें जो उस समय दिया गया था।[6] इब्राहीम के इस आश्वासन के बाद भी अमीरों ने सुल्तान पर विश्वास नहीं

1. यादगार, तारीखे सलातीने अफगाना, पृ० 87
2. बदाँयुनी, जिल्द 1, पृ० 330
3. तारीखे दाउदी, पृ० 129-30, उद्धृत, ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 202
4. अर्सकीन, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जिल्द 1, पृ० 421-22
5. यादगार, आपसिट, पृ० 94-95
6. वही।

किया और युद्ध के दौरान उसे पूर्ण समर्थन नहीं दिया। वह युद्ध में पराजित हुआ और मारा गया। फलस्वरूप अफगानों का राज्य समाप्त हो गया और भारत में मुगल वंश की स्थापना हुई। इब्राहीम लोदी, दौलत खाँ लोदी और दरया खाँ की मृत्यु के बाद अफगान अमीरों में ऐसा कोई भी योग्य व्यक्ति नहीं रहा जो अमीरों का नेतृत्व कर सकता।

(ख) : मुगल काल

मुगल अभिजात वर्ग का स्वरूप

मुग़ल काल में अभिजात वर्ग वंशानुगत नहीं था। अमीर केवल अपने जीवन काल तक ही अपने अधिकारों और सुविधाओं का प्रयोग कर सकता था। उनकी मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जाता था। बाबर के समय में अभिजात वर्ग 'बेग' कहे जाते थे, परंतु बाद में उन्हें 'अमीर' कहा जाने लगा। बर्नियर ने उन्हें 'उमरा' कहा है। उसके अनुसार 'उमरा' अधिकतर साहसी होते थे, जो राजदरबार में एक दूसरे को प्रलोभन देते थे।[1] इनमें सभी राज्यों के लोग होते थे। मुगल अमीरों में असमान विविध तत्व होते थे, जैसे—तुर्क, तारतर ईरानी, भारतीय मुस्लिम और हिन्दू। यहाँ तक की कुछ यूरोपीय लोग भी मुगल अमीर थे, जैसे फ्रेंसिस खाँ, फिरंगी खाँ, इंगलिश खाँ आदि। मुगल अमीर मुख्यतः दो भागों में विभक्त थे—'तूरानी अर्थात् सुन्नी दल और 'ईरानी' अर्थात् शिया वर्ग। तूरानी बहुत अधिक संख्या में आये और बड़े-बड़े पदों पर आसीन हो गये। हुमायूँ ने बहुत से ईरानियों को राज्य प्रशासन में ऊँचा पद दिया।[2] ईरानियों के अधिक संख्या में आने से दो दलों के बीच धार्मिक संघर्ष होने लगा।

मुगल अमीरों का तीसरा वर्ग अफ़गान था जो काबुल और कन्धार से भारत आया। कुछ समय बाद इनकी संख्या मुगल अमीरों से अधक हो गई। मुगल अमीरों की चौथी श्रेणी में हिन्दुस्तानी, भारत में पैदा हुये। मुसलमान–बारहा के सैय्यद जिनके पूर्वज कई पीढ़ियों पहले भारत आये थे, इस श्रेणा में आते हैं। इस वर्ग के अमीरों ने भारतवासियों के साथ सहयोग दिया। इस श्रेणी में उस समय के राजपूतों और हिन्दू जमींदारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि

1. बर्नियर, ट्रेवेल्स इन दि मुगल एम्पायर, पृ० 212
2. ईरान के शाह की सहायता से हुमायूँ ने खोया राज्य प्राप्त किया, इसीलिए उसके समय में बहुत से ईरानी अमीर भारत आये और उन्हें ऊँचे पद दिये गये। (एलफिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 463)

औरंगजेब ने असाद खाँ और जुल्फिकार खाँ जैसे ईरानी अमीरों के प्रभाव को कम करने के लिए तूरानी दल के अमीरों को प्रशासन में नियुक्त करना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार मुगल अभिजात वर्ग के लोग एक सूत्र में संगठित न हो सके और अपने को एक शक्तिशाली अमीरों की श्रेणी में गठित न कर सके। वे मुगल सम्राट के लिए उसी प्रकार उपयोगी थे जैसे शरीर के दूसरे भाग हृदय के लिए थे।[1] वे सिंहासन की शोभा बढ़ाने वाले थे उनका काम सम्राट की सहायता करना था।[2] वे 'राज्य की तलवार' और 'साम्राज्य के स्तम्भ थे'। उन्होंने अपने को चार्ल्स महान और नेपोलियन के सैनिक अधिकारियों की तरह संगठित किया था।[3] इन अमीरों में सबसे श्रेष्ठ तैमूरी वंश के अमीर थे जो हुमायूँ और अकबर के साथ भारत आये थे। अपने को मुगल सम्राट के समान समझते थे और राजत्व अथवा राज्य शासन प्रणाली में अपने को एक भागीदार समझते थे। ऐसे लोगों को 'मिर्जा' कहा जाता था।[4] फरिश्ता ने लिखा है कि मुहम्मद हुसेन मिर्जा, इब्राहीम मिर्जा, हुसेन मिर्जा और आकिल मिर्जा को अकबर के दरबार में अभिजात वर्ग का पद दिया गया जब कि वे नाबालिग थे।[5]

ये मिर्जा दम्भी और घमण्डी थे और शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के विरोधी थे। वे चाहते थे कि मुगल सम्राट का वास्तविक शासन केवल दिल्ली तक ही सीमित रहे। उस समय मिर्जा शरफुद्दीन, मिर्जा सुलेमान, शाह मिर्जा इब्राहीम हुसेन, मिर्जा मुहम्मद हुसेन, मिर्जा उलूगबेग और मिर्जा मुहम्मद हाकिम महत्वपूर्ण पदों पर थे। ये लोग सामन्तवाद के पक्ष में थे, क्योंकि इससे विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा मिलता था। मुगल काल में ये मिर्जा क्षेत्रीय सामन्तवाद की अपेक्षा व्यक्तिगत सामन्तवाद को अधिक पसन्द करते थे। प्रत्येक मुगल अमीर एक सैनिक अधिकारी था। अबुल फज्ल के अनुसार 200 के ऊपर दर्जे के मनसबदार ही अमीर कहे जाते थे।[6] मनसबदारों में सबसे निम्न श्रेणी 20 की थी। 500 और उसके ऊपर के मनसबदार को कुछ अतिरिक्त घोड़े रखने का अधिकार था। व्यक्तिगत दर्जा 'जात'

1. शाह नवाज खाँ, मासिरुल उमरा, जिल्द 1, पृ० 1
2. वही, पृ० 9
3. कीन, टर्कस इन इण्डिया, पृ० 159
4. पी० केनेडी–हिस्ट्री ऑफ मुगल्स, जिल्द 1, पृ० 242
5. फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 2, पृ० 226
6. आइने अकबरी-ब्लाकमैन, जिल्द 1, पृ० 239

और अतिरिक्त विशेष श्रेणी 'सवार' कही जाती थी। शाहजहाँ के समय में 500 के मनसबदार ही अमीर की श्रेणी में आते थे। अमीरों की दो प्रमुख श्रेणियाँ थीं। 1000 ऊपर के मनसबदार को 'उमराये किबर' या 'उमराये इजम' कहते थे।[1] उनमें सबसे श्रेष्ठ अमीर को 'अमीरुल उमरा' की उपाधि दी जाती थी। हुमायूँ ने यह उपाधि मीर हिन्दू बेग को दी थी, जिसे जौनपुर का गवर्नर बनाया गया। उसे हुमायूँ ने एक स्वर्ग सिंहासन भी दिया था। सिद्धान्त रूप से यह उपाधि केवल एक समय में केवल एक ही व्यक्ति को दी जाती थी, परन्तु इस नियम का पालन पूरी तरह नहीं किया जाता था। 'अमीरुल उमरा' की उपाधि आधम खाँ, खिज्र ख्वाजा खाँ, मीर मुहम्मद खाँ अतका, मुजफ्फर खाँ, कुतुबुद्दीन मुहम्मद खाँ, बैरम खाँ, मुनीम खाँ और मिर्जा अब्दुर्रहीम को दिया गया।[2] बादशाहनामा के अनुसार 'अमीरुल उमरा' की उपाधि केवल एक व्यक्ति अलीमर्दा खाँ को दी गई।[3] अमीरुल उमरा को कभी-कभी मीर बख्शी या मुख्य सेनापति का पद दिया जाता था। वह राजकीय परिवार के लिए अत्यन्त निकट होता था।

अकबर ने अमीरों को 'दौलत' नाम की एक नयी उपाधि देना प्रारम्भ किया। उसके समय में फाथुल्ला शीराजी को 'अजदूद दौला' की पहली उपाधि दी गई। अकबर के बाद यह उपाधि साधारणतः अमीरों को दी जाने लगी।[4] आजम ने असाद खाँ को 'अमीरुल उमरा' की उपाधि दी, क्योंकि उसने उत्तराधिकार के युद्ध में उसकी सहायता की थी।[5] मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के समय में खाने दौरान को यह उपाधि दी गई। नादिर शाह के आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हो जाने के बाद 'अमीरुल उमरा' को उपाधि गाजीउद्दीन और निजामुलमुल्क को प्रदान की गई। इससे अवध के नवाब बुरहानुलमुल्क को ईर्ष्या हुई, क्योंकि वह इस उपाधि के लिये पहले से ही लालायित था। जुल्फिकार खाँ और उसके बाद सैय्यद हुसेन अली को यह उपाधि दी गई।

इस उपाधि के समकक्ष 'खानेखाना'[6] की उपाधि भी अमीरों को दी गई।

1. आइने अकबरी, ब्लाक मैन, जिल्द 1, पृ० 240
2. वही।
3. इलियट, जिल्द 7, पृ० 69
4. फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 2, पृ० 257
5. इलियट, जिल्द 7, पृ० 391
6. कुरेशी, एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मोगल एम्पायर, पृ० 105

हुमायूँ ने यह उपाधि बैरम खाँ को दी[1] जब उसने अफगानों के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त की। जब भी मुगल सम्राट किसी साधारण व्यक्ति को अमीर बनाना चाहते थे तो मुसलमानों को 'खान' और हिन्दुओं को 'राय' की उपाधि देते थे। 'खानेखाना' और 'अमीरुल उमरा' की उपाधियाँ समान थीं। कभी-कभी मुगल सम्राट किसी अमीर को मनसब का दर्जा उसकी अनुपस्थिति में भी दे देते थे। शाहजहाँ ने हाजी मंसूर को 2000 सवार का दर्जा दिया जब कि वह बल्ख का सद्र था। इसे 'गैबाना' कहते थे। इसका तात्पर्य यह था कि जब अमीर को सम्मानित किया गया हो और वह दरबार में उपस्थित न हो।

मुगल अभिजात वर्ग वंशानुगत नहीं था। वे बड़े उच्च सैनिक अधिकारी व हाकिम थे, परन्तु ये सम्राट के वंशानुगत कर्मचारी नहीं थे। अमीर की सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार था, न कि उसका कोई व्यक्तिगत अधिकार। उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति को सरकार अपने अधिकार में ले लेती थी।[2] अमीरों के लड़के अपने पिता की मृत्यु के बाद नये सिरे से जीवन प्रारम्भ करते थे। वे अनाथ हो जाते थे। उनकी उन्नति उनके सन्तोषजनक कार्य पर ही निर्भर रहती थी।[3] मुगल सम्राट किसी को भी किसी श्रेणी का अमीर बना सकते थे। परन्तु अमीर चाहते थे कि वरीयता के ही आधार पर पदोन्नति की जाय। औरंगजेब, असाद खाँ (जो वजीर की श्रेणी से नीचे था) की पदोन्नति करना चाहता था, परन्तु उसे भय था कि इसमें पुराने विशिष्ट अमीरों की उपेक्षा होगी और वे अप्रसन्न हो जायेंगे। इन सब कारणों से असाद खाँ को 6 वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस काल में उसे बख्शी नं० 2 के स्थान पर काम करना पड़ा। उसे वजीर का पद 1676 ई० में मिला।

बर्नियर का कहना है कि मुगल अमीरों का भूमि पर कोई अधिकार नहीं था, जैसा कि पश्चिमी यूरोप में अभिजात वर्ग के लोगों का था।[4] भूमि की इस व्यवस्था से अमीरों की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई और उन्हें आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। सभी जागीरें सिद्धान्त रूप में सम्राट की थी और वह अपने इच्छानुसार जिसे देना चाहते थे, देते थे। ऐसी व्यवस्था में किसी अमीर की कोई पैतृक सम्पत्ति नहीं हो सकती थी।[5] कभी-कभी किसी अमीर की मृत्यु पर सम्राट

1. ईश्वरी प्रसाद, दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ पृ० 303
2. यदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 146
3. वही, पृ० 147
4. बर्नियर, अनुवाद कान्सटेवल, पृ० 65
5. हाकिन्स, परचास, जिल्द 3, पृ० 34

द्वारा भेजे हुये मृतक के परिवार को समवेदना के पत्र के साथ-साथ राजकीय आदेश वहाँ के गवर्नर को भेजा जाता था कि वह उस अमीर की सम्पत्ति जब्त कर ले। बच्चों को अपने पिता की मृत्यु के दुख के साथ-साथ आने वाली निर्धनता की समस्या को झेलना पड़ता था ऐसी परिस्थिति में अमीर के परिवार के सदस्य, उसकी मृत्यु के पहले जितना धन छिपाकर हटा सकते थे, हटा देते थे।[1]

ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि अमीर प्रायः अपनी स्त्री और बच्चों के लिये मरने के पहले काफी धन छोड़ जाते थे, जिसकी जानकारी सम्राट को नहीं रहती थी।[2] राजकोष से मृतक के परिवार के लिये छोटी पेंशन दी जाती थी।[3] कभी-कभी मृतक के नाबालिग पुत्र को मनसब का दर्जा दिया जाता था, जैसे जाहिद के कोंक को जब वह 10 वर्ष का था, उसके पिता की मृत्यु हुई। शाहजहाँ ने उसे 1000-1400 का मनसब बना दिया।[4] शाहनवाज खाँ की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने उसके छोटे भाई दारब को 5000 का मनसब बना दिया।[5] राजकीय परिवार के सदस्यों को 11 या 12 वर्ष की उम्र में ही मनसब दे दिया जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बाद में मृतक-अमीर को सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में लेने के नियम का सख्ती से पालन नहीं किया गया। जहाँगीर नामा के अनुसार खाने दौरान के पास उसके मृत्यु के समय 4 लाख रुपये की सम्पत्ति थी, जो उसके उत्तराधिकारियों को दे दी गई।[6]

औरंगजेब ने उस प्रथा को जिसके अनुसार अमीरों के पूर्वजों का बकाया जो उनके वेतन से काट लिया जाता था उसे समाप्त कर दिया। उसने उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति को जब्त करने के नियम को भी समाप्त कर दिया।[7] परन्तु नियम में इस प्रकार की ढील सम्राट ने केवल कुछ ही अमीरों के लिये की। मुहम्मद शाह ने अपने वजीर मुहम्मद अमीन खाँ की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में लेने से इनकार कर दिया और उसके उत्तराधिकारियों के लिए उसकी सम्पत्ति छोड़ दी। शाहजहाँ ने सादत खाँ की सारी सम्पत्ति उसकी पत्नी को दे दी। सम्राट

1. यदुनाथ सरकार, आपसिट, पृ० 156
2. ट्रेवर्नियर्स ट्रेवेल्स, अनुवाद, वी० बाल, जिल्द 1, पृ० 18
3. बर्नियर्स, ट्रेवेल्स इन दि मुगल एम्पायर, पृ० 312
4. शाहनवाज खाँ, मासिरुल उमरा, अनुवाद बेवरिज, पृ० 512
5. जहाँगीर नामा, अनुवाद ए-रोजर्स, जिल्द, 2, पृ० 88
6. वही, जिल्द 3, पृ० 172
7. इलियट, जिल्द 8, पृ० 160-61

ने सम्भवतः ऐसा इसलिये किया कि लोग यह न समझें कि उसने सादत खाँ की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिये उसकी हत्या करवाई।[1] सम्पत्ति जब्त करने का नियम हिन्दू राजाओं के लिये नहीं था जो काफी संख्या में मुगल प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर थे।[2]

बाबर ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि हिन्दुस्तान के शासक अपने अमीरों को बड़ी-बड़ी उपाधियाँ देते थे जैसे आजम हुमायूँ, खानेजहाँ, खानेखाना आदि।[3] मुगल सम्राटों ने जो उपाधियाँ अपने अमीरों को प्रदान की उनमें प्रमुख थी 'रुकनुद्दौला', 'सैफुद्दौला', 'नासिरजंग', 'शुजात खाँ', सरदार खाँ', रुस्तमअली खाँ', 'इज्जत-उद्दौला', 'मुजफ्फर खाँ' आदि। मुगल अमीरों के पास अपार धनराशि रहती थी। जब 1590 ई० में मखदूमुलमुल्क की मृत्यु हो गई तो अकबर ने काजीअली को लाहौर में उसकी सम्पत्ति का पता लगाने के लिये भेजा पर सोने की ढेर उसकी कब्र में रखी गई थी। जिस कारण कोई भी उसकी सम्पत्ति का अनुमान न कर सका।[4]

मुगल प्रशासन के अन्तर्गत एक पृथक विभाग 'बेतल मल' होता था जो मृत अमीरों की सम्पत्ति का हिसाब रखता था जिनका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था।[5] इस विभाग में उन मृत अमीरों की भी सम्पत्ति जमा की जाती थी जिनके उत्तराधिकारी होते थे। अमीरों की सम्पत्ति जब्त करने का मुख्य कारण यह था कि अमीर निर्धारित राशि से अधिक राजकोष से धन लेते थे जिसकी अदायगी वे नहीं कर पाते थे।[6] मनूची का कहना है कि औरंगजेब ने इस नियम का कड़ाई से पालन किया।[7] जहाँगीर ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि अमीर की मृत्यु के बाद वह उसकी सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में नहीं लेता था, बल्कि उसके उत्तराधिकारियों को वितरित करवा देता था।[8] सर यदुनाथ सरकार का विचार है कि जहाँगीर

---

1. मनूची, अनुवाद इरविन, जिल्द 1, पृ० 202
2. खोसला, मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी, पृ० 224
3. बाबरनामा, अनुवाद बेवरिज, पृ० 344
4. बदायूँनी, रैंकिग, जिल्द 2, पृ० 321
5. यदुनाथ सरकार, आपसिट, पृ० 147
6. वही, पृ० 150-51
7. स्टोरिया, जिल्द 2, पृ० 417
8. तुजुक, पृ० 4

केवल ऐसे ही अमीरों की सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में नहीं लेता था जिन्हें राजकोष से अग्रिम धनराशि न मिली हो और किसी प्रकार के बकाये का भुगतान राजकोष में न करना हो ।[1]

अमीरों की सम्पत्ति जब्त करने का एक कुप्रभाव यह पड़ा कि अमीर अपने जीवन काल में शान शौकत से रहकर फजूल-खर्ची करने लगे इस प्रकार उनका नैतिक पतन होना प्रारम्भ हो गया ।[2] अमीरों में असुरक्षा की भावना से देश का आर्थिक विकास नहीं हो सका । वे अपने जीवन काल में सम्पत्ति के छिपाने में प्रयत्नशील रहते थे । कभी-कभी अमीर के मरने के बाद तुरन्त उसके पड़ोसी और उसके नौकर मृतक के धन को लूटने लगते थे । इस नियम का घातक प्रभाव यह हुआ कि अभिजात वर्ग का संगठित रूप में अस्तित्व समाप्त हो गया । उसके शक्तिशाली न होने से सम्राट के निरंकुश और दोषपूर्ण शासन पर अंकुश लगाने की कोई राजनैतिक संस्था नहीं रह गई ।[4] इस नियम के कारण मुगल अमीर स्वार्थी हो गये । उत्तराधिकार के संघर्ष के समय या विदेशी आक्रमण के समय वे निष्ठापूर्वक मुगल सम्राट का साथ नहीं देते थे, क्योंकि वे जानते थे कि जो विजयी होगा उसी की ईच्छा से वे अपनी जागीर पर अधिकार रख सकेंगे ।

इस प्रकार मध्य युग में अमीरों की कोई ऐसी संगठित संस्था नहीं थी जो सम्राट और जनता के बीच कड़ी स्थापित कर सकती । ऐसी परिस्थिति में सरकार में स्थायित्व का अभाव था । राज्य की शान्ति-व्यवस्था प्रायः शिथिल हो जाती थी, जिसका प्रभाव आर्थिक दृष्टि से अहितकर था । जिस कारण राज्य में समृद्धि नहीं हो सकती थी ।[5]

मुगल काल में विदेशी अमीर बड़ी संख्या में भारत आये, जिन्हें राज्य प्रशासन के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया गया । इनमें से अधिकतर अमीर मध्य एशिया और ईरान से आये । ईरानी अमीर अधिक योग्य, शिष्ट और वित्तीय मामलों में दक्ष होते थे । औरंगजेब के अनुसार ईरानी अमीर भारतीय मुसलमानों से अधिक कुशल

---

1. यदुनाथ सरकार, आपसिट, पृ० 151
2. यदुनाथ सरकार, आपसिट, पृ० 156
3. वही ।
4. वही ।
5. यदुनाथ सरकार, आपसिट, पृ० 159

होते थे।[1] तुर्की अमीरों को प्रमुख पदों पर नियुक्त करने से एक लाभ यह था कि वे अपने साथ अरबी विज्ञान और संस्कृति भारत लाते थे।[2] ऐसे विदेशी अमीरों को जब उनके देश की सरकारों से खतरा उत्पन्न हो जाता था तब वे भारत भाग कर आ जाते थे और मुगल प्रशासन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते थे। इन विदेशी अमीरों ने मुगल साम्राज्य के विकास में काफी योगदान दिया, परन्तु कालान्तर में इन अमीरों का भारत आना बन्द हो गया, जब सुन्नी और शिया का धार्मिक संघर्ष छिड़ गया।[3] मुगल सम्राटों ने उच्चकुल के ईरानी और अरब शरणार्थियों को सम्मानित किया और अपने लड़कों का विवाह इन परिवार की लड़कियों से किया। इन विदेशी अमीरों को उच्च पद देने के पहले उनसे कहा जाता था कि वे अपने परिवार को अपने देश से लाकर भारत में बन्धक के रूप में रखे जिससे वे छिप कर देश से भाग न सके। उन्हें अपने एक लड़के को दरबार में अपने प्रतिनिधि वकील के रूप में रखना पड़ता था। जब तक वे ऐसा नहीं करते थे उन्हें उनके पदों पर स्थायी नहीं किया जाता था।[4]

1641 ई० में यामिनुद्दौला आसफ खाँ खानेखाना को जिसे 9000/9000 का मनसब मिला हुआ था। 16 करोड़ 20 लाख दाम वेतन के रूप में दिया जाता था। इससे उसे 59 लाख रुपये का लाभ मिलता था। उसने 20 लाख की लागत से लाहौर में एक शानदार भवन का निर्माण कराया। मृत्यु के समय उसके पास 2 करोड़ 50 लाख की सम्पत्ति थी। उसकी अतुल धनराशि में 30 लाख के जवाहरात, 42 लाख की अशर्फियाँ, 30 लाख का सोना और चाँदी, 23 लाख की अन्य बहुमूल्य वस्तुयें और 1 करोड़ 25 लाख नकद सम्मिलित था।[5] कुतुबुद्दीन मुहम्मद के पास 10 करोड़ से अधिक सम्पत्ति थी।[6] शाहजहाँ के समय में अली मर्दा खाँ का वेतन 30 लाख रुपया था। अकबर के समय में पीर मुहम्मद खाँ इतना धनी था कि उसने खानेखाना को शिकार पर शानदार दावत दी। 'खानेखाना' चकित रह गया जब उसने 3000 प्याले और 1700 चीनी मिट्टी की तश्तरियाँ देखीं। परन्तु बर्नियर का

1. वही, पृ० 159
2. वही, पृ० 160
3. वही।
4. वही।
5. अब्दुलहमीद लाहोरी–बादशाहनामा, इलीयट, जिल्द 7, पृ० 68-69
6. बदायूँनी, रैंकिंग, जिल्द 2, पृ० 341

कथन है कि उसने बहुत थोड़े मुगल अमीरों को धनी पाया। उसके अनुसार प्रायः अमीर ऋणी थे।[1]

मुगल अमीरों को सम्राट को भेंट देने के लिये और अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये एक बड़े कार्यालय के रखने पर अधिक धन खर्च करना पड़ता था। वे अपने परिवार को राजकीय शान शौकत से रखते थे। वे ठाठबाट से जीवन व्यतीत करने और यात्रा करने में मुगल सम्राट की नकल करते थे। बहुमूल्य आभूषणों में अमीरों का अधिक धन व्यय हो जाता था। वे बड़ी मात्रा में चाँदी, सोना, हीरे जवाहरात खरीदते थे।

जब बाबर ने आगरा में एक महल बनवाया और उसमें एक बाग लगवाया तो उसने अपने अमीरों को भी ऐसा ही करने के लिये प्रोत्साहित किया। जब अकबर ने फतेहपुर सीकरी में सुन्दर भवनों का निर्माण किया तो अमीरों ने भी सुन्दर महल और स्तम्भ बनवाये।[2] मुगल सम्राट अमीरों को प्रायः सम्पत्ति विदेश ले जाने की अनुमति नहीं देते थे। सर टामस रो के अनुसार मुगल अमीर स्वस्थ्य और धनाढ्य थे।[3] जब भी किसी अमीर को राजनैतिक कारणों से देश से बाहर हटाना पड़ता था तो इस प्रकार की अनुमति सम्राट दे देता था। सर टामस रो के अनुसार मुग़ल अमीर अधिक स्वस्थ्य और धनाढ्य थे। सभी अमीर अवसरवादी थे। शाहजहाँ के वैभव का सूर्य अस्त होते देख वे औरंगजेब का समर्थन करने लगे।

मनूची ने लिखा है कि जिन दो प्रतिष्ठित अमीरों ने दारा का साथ दिया वे दानिशमन्द खाँ और तर्करूब खाँ थे।[4] उत्तराधिकार के युद्ध में खलीलुल्ला खाँ का दारा के प्रति आचरण और अलीवर्दी खाँ का शाहशूजा के प्रति व्यवहार शत्रुतापूर्ण और अत्यन्त निन्दनीय था। इन अमीरों ने अपने मालिकों के प्रति कृतज्ञता दिखाई। इससे पता चलता है कि मुगल सम्राट के प्रति अमीरों की निष्ठा, भय और स्वार्थ से प्रेरित थी।

अमीरों को वीरता और साहस का परिचय देने पर पुरस्कृत किया जाता था और कायरता पर उन्हें अपमानित होना पड़ता था। अमीर अपना अलग दरबार लगाते

---

1. आपसिट, पृ० 213
2. बदायूँनी, रैंकिंग, जिल्द 2, पृ० 112
3. वही, पृ० 137
4. तर्करूब खाँ, शाहजहाँ का चिकित्सक था। इन अमीरों ने औरंगजेब का साथ देने से इनकार कर दिया।

थे जहाँ उनके निचले स्तर के लोग उनके दरबार में आकर उनका सम्मान करते थे और 'मूर्ति' की तरह हाथ जोड़े खड़े रहते थे।[1] पुराने और अनुभवी अमीरों के नष्ट हो जाने से दुर्बल मुगल सम्राटों को अनेक खतरों का सामना करना पड़ा। सम्राट के प्रति अमीरों की स्वामिभक्ति की भावना समाप्त हो गई और वे स्वार्थी एवं राज-द्रोही हो गये। अवध के नवाब सादत खाँ को मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने उच्च पद दिया था और उसने नादिरशाह को आमन्त्रित किया, जिसके आक्रमण के फल-स्वरूप मुगल सम्राट की शेष प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। सादत खाँ के पुत्र सफदर जंग ने जो कि 'मीरे आतिश' के पद पर था, मुगल सम्राट को धोखा दिया।[2] परवर्ती मुगल सम्राटों का दरबार अमीरों के षड्यन्त्र का अड्डा बन गया था।[3] अकबर के समय में अभिजात वर्ग योग्यता के आधार पर ऊँचे पदों पर नियुक्त होते थे। उसके समय में अमीरों का अधिक से अधिक मनसब 5000 था, परन्तु मुगल काल के अन्तिम समय में अमीरों को ऊँचा मनसब केवल उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए ही दिया जाता था। मुहम्मद शाह के समय में मुहम्मद अमीन खाँ को सैय्यद हुसेन अली की हत्या करने पर 8000 का मनसब देकर उसे पुरस्कृत किया गया। खाने दौरा को भी 8000 का मनसब दिया गया। बहादुर शाह ने सम्राट बनने के पहले अमीरों को आश्वासन दिया था कि वह गद्दी प्राप्त करने के बाद अमीरों की सभी इच्छाओं की पूर्ति करेगा।[4] उसके समय में एक ही उपाधि कई अमीरों को प्रदान की जाती थी। 6000 और 7000 का मनसब निम्न श्रेणी के लोगों को दिया जाने लगा।[5] दानिशमन्द का कहना है कि 3 अमीरों को एक साथ एक ही उपाधि 'फाजिल खाँ' की प्रदान की गई।

खाफी खाँ ने लिखा है कि मनसब, नौबत नकारा, हाथी आदि अमीरों को उनकी प्रतिष्ठा और पद के अनुसार नहीं दिये जाते थे, यही कारण था कि मुगल सम्राट को लोग बेखबर बादशाह के नाम से पुकारने लगे।[6] मुहम्मद शाह के समय में अमीर इतने प्रभावशाली हो गये थे कि वे सम्राट की उपेक्षा करने लगे। मुजफ्फर शाह और

---

1. ओर्म, फ्रेगमेन्ट ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 426
2. टाड–एनलस एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, जि० 1, पृ० 330.
3. खोसला, आपसिट, पृ० 255
4. खोसला, आपसिट, पृ० 255–56
5. सैय्यद गुलाम हुसेन खाँ, सरिये मुतखरीन, जिल्द 1, पृ० 17
6. मुन्तखबउहलुबाब, इलीयट, जिल्द 7, पृ० 410

बुरहानुलमुल्क सम्राट के सामने ही झगड़ने लगे।[1] मुगल अमीर बादशाह बनाने वाले कहे जाने लगे सम्राट की दुर्बलता का लाभ उठाकर अमीरों ने राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। सम्राट और राजमुकुट में कोई अन्तर नहीं रह गया। ऐसी परिस्थिति में अमीरों के पास कोई वैधानिक अधिकार नहीं रह गया। जिससे वे सम्राट को राजमुकुट की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने से रोक सके।[2] मुगल काल में केवल एक ही दृष्टांत मिलता है जब कि किसी अमीर ने अपने इस अधिकार का प्रयोग किया। जहाँगीर के समय में महावत खाँ ने सम्राट को घेर लिया था। उसका उद्देश्य सम्राट को क्षति पहुँचाना नहीं था, बल्कि सम्राट के विशेषाधिकारी के दुरुपयोग को रोकना था।[3] अवांछनीय तत्वों ने सम्राट को कठपुतली बना लिया था और उसके अधिकारों का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिये करना प्रारम्भ कर दिया था। इस भय से कि कहीं कोई अप्रिय घटना न हो जाय, जहाँगीर ने महावत खाँ की माँग को पूरा करने का आश्वासन दे दिया। सम्राट महावत खाँ की सेवाओं और उसके स्वामिभक्ति से प्रभावित था।

अमीरों के बहुत से विद्रोह अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये किये गये। सैय्यद भाइयों[4] की तरह कुछ अमीरों ने थोड़े समय के लिये सत्ता अपने हाथों में ले ली परन्तु वे अधिक समय तक उसे अपने हाथ में न रख सके। सैय्यद भाइयों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान प्रशासन में हिन्दुओं के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाना था। फरूखसियर की मृत्यु के बाद नये सम्राट को उन्होंने सलाह दी कि जजिया कर हटा लिया जाय और राजपूतों को सन्तुष्ट रखा जाय।[5] इनायतउल्ला के स्थान पर उन्होंने राजा रतन चन्द्र की नियुक्ति का सुझाव दिया। सैय्यद भाइयों के पास असीमित साधन थे। राजकोष पर उनका पूर्ण नियन्त्रण था और उन्हें बारहा कबीले के लोगों का सहयोग प्राप्त था। परन्तु इतनी सुविधाओं के होते हुए भी वे केवल बादशाह बनाने वाले हो सके न कि स्वयं बादशाह बन सके। मुगल काल में शेरशाह

---

1. वही।
2. खोसला, आपसिट, पृ० 258
3. वही।
4. सैय्यद हुसेन अली ने राजत्व के विशेष अधिकार अपने हाथ में ले लिये। वह शाही महल के सामने नगाड़े बजाते हुये निकलता था। जब कि यह विशेषाधिकार केवल सम्राट का था। इस प्रकार हैं सैय्यद भाइयों ने नियम का उल्लंघन किया।
5. इरविन, लेटर मुगल्स, जिल्द 1, पृ० 246, 334, 404

को छोड़कर कोई दूसरा शक्तिशाली अमीर सिंहासन पर बैठने में सफल नहीं हुआ। औरंगजेब के बाद जितने भी सम्राट हुये वे अमीरों के हाथ की कठपुतली बने रहे, परन्तु सभी बादशाह शाही परिवार के तैमूर वंशज थे।

मुगल दरबार में सम्राट को भेंट देना शिष्टाचार का एक अंग था। सम्राट न केवल अमीरों से बल्कि शाही परिवार के सदस्यों से भी भेंट लेता था, जिन्हें, अमीरों के समकक्ष समझा जाता था। इस भेंट को पेशकश[1] कहा जाता था, जो एक प्रकार का आयकर था, कभी-कभी सम्राट किसी भेंट को केवल छूकर लौटा देता था इसका अर्थ यह था कि सम्राट ने उसे स्वीकार कर लिया। कभी-कभी भेंट का एक भाग स्वीकार कर शेष भाग उस अमीर को लौटा दिया जाता था। सम्राट को जब किसी अमीर को विशेष रूप से सम्मानित करना होता था तो वह अपना कोट उतार कर उसे दे देता था।[2] सम्राट का अपनी पगड़ी उतार कर अमीर के सिर पर रखना सबसे बड़ा सम्मान समझा जाता था। जहाँगीर ने अपनी पगड़ी उतार कर एतमादुद्दौला के सिर पर रख दी। फरुखसियर ने सैय्यद भाइयों को सन्तुष्ट रखने के लिये यथा सम्भव प्रयत्न किया। सम्राट स्वयं वजीर अब्दुल्ला खाँ सैय्यद के निवास स्थान गया और उनको अपना मित्र बनाने का आश्वासन दिया। फरुखसियर ने इस मित्रता के प्रगाढ़ बनाने के उद्देश्य से अपनी पगड़ी उतार कर वजीर के सिर पर रखी।

जब भी नये अमीरों की नियुक्ति की जाती थी उन्हें 'खिलत' दी जाती थी। बहुत कम अमीरों को राजकोष से उसकी सेवाओं के बदले नकद वेतन दिया जाता था।[3] किसी अमीर को जागीर देने का अर्थ था उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान को बढ़ावा देना।[4] खिलत की पाँच श्रेणियाँ होती थीं—3, 5, 6 या 7 का टुकड़ों का बना हुआ खिलत या सम्राट के राजकीय वस्त्र का बना हुआ खिलत जिसे 'मलबूस ए खास' कहा जाता था। तीन टुकड़ों से बने हुये खिलत में पगड़ी (दस्तर) लम्बा कोट और एक बड़ा रुमाल कमर में बाँधने के लिए होता था। इसे प्रायः खिलतखाना में रखा जाता था। पाँच टुकड़ों का 'खिलत' तोस्पाहखाना में संग्रहित किया जाता था और वहीं से अमीरों को देने के लिए लाया जाता था इस खिलत में दो अतिरिक्त-

1. कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 153-154
2. मनूची, अनुवाद 2, पृ० 463
3. इरविन, आर्मी ऑफ इण्डियन मोगल्स, पृ० 15
4. वही।

टुकड़े होते थे—प्रथम 'पगड़ी' जिसे 'तारपेच' कहते थे और द्वितीय एक पट्टी होती थी जिसे पगड़ी में बाँधा (बालाबन्द) जाता था। निम्न श्रेणी के अमीरों के लिए एक छोटा जैकेट होता था, जिसकी बाहें छोटी (नीम-आस्तीन) होती थीं।

ट्रेवर्नियर ने खिलत के विषय में विस्तृत जानकारी दी है।[1] साटन के टुकड़ों के खिलत में एक टोपी, काबा, छोटा कोट, दो पैंजामे, दो कमीजें, दो पेटियाँ और एक स्कार्फ होते थे।[2] सम्राट द्वारा नगाड़े देने की प्रथा बड़ी ही रोचक थी। जब किसी अमीर को नगाड़ा दिया जाता था तो अमीर को उसे अपनी पीठ पर रखकर सम्राट के आगे झुकना पड़ता था। कभी-कभी सुविधा के लिये अमीर को एक बहुत छोटे आकार का नगाड़ा अपनी पीठ पर रखकर दरबार के इस समारोह में भाग लेना पड़ता था और बाद में उसे बड़ा नगाड़ा बनवाकर दिया जाता था।[3] इसी प्रकार तोरण और दूसरे चिन्ह भी सम्राट अमीरों को प्रदान करता था। ये चिह्न या तो दरबार के मुख्य द्वार पर रखे जाते थे या हाथियों पर रख कर सम्राट के पास लाये जाते थे इसे 'कर' कहते थे और जो अधिकारी इसकी देखभाल करते थे उसे कुरबेगो कहते थे।[4] राजकीय चिन्हों में मछली[5] और उसके साथ गेंद (माहीमरतीब) होती थी जो ताँबे की बनी होती थी और हाथियों के द्वारा दरबार लायी जाती थीं। यह सम्मान केवल उन्हीं अमीरों को दिया जाता था जिसका मनसब 6000 या इससे ऊपर होता था। ऐसी परिस्थिति में निम्न श्रेणी के अमीर इस चिन्ह को प्राप्त करने की सोच भी नहीं सकते थे।[6] एक तोरण (आलम) जो त्रिकोण कशीदा कारी कपड़े का बना होता था निम्न वर्ग के अमीरों को दिया जाता था जिनका मनसब 1000 या इससे ऊपर होता था।[7] एक अन्य चिन्ह को ज़ो तिब्बती बैल की पूँछ होती थी 'तूमन तोग' कहा जाता था और उसे कुछ अमीरों को दिया जाता था।[8]

---

1. ट्रेवर्नियर, बाल, जिल्द 1, पृ० 163
2. इरविन, दि आर्मी ऑफ इण्डियन मुगल्स, पृ० 29
3. वही, पृ० 30
4. वही, पृ० 31
5. मछली 4 फीट लम्बी होती थी और उसे भाले के नोक पर रखा जाता था। इरविन, आपसिट, पृ० 33
6. वही।
7. वहो, पृ० 34
8. वही।

मुगल अमीर सम्राट की तरह कवियों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते थे। यह परम्परा अकबर के समय में प्रारम्भ हुई। अकबर की उदारता के कारण विदेशों से बहुत से विद्वान भारत आये जिन्हें सम्राट ने सम्मानित किया। जहाँगीर स्वयं एक विद्वान था और उसे कवियों से प्रेम था। मुगल सम्राट का उदाहरण अमीरों ने ग्रहण किया और वे भी विद्वानों और कवियों को भूमि और अनुदान देने लगे। अब्दुल फतेह जीलानी और अब्दुर्रहीम खानेखाना ने कविता की एक अकादमी स्थापित की। खाने जहाँ कवियों का संरक्षक था गजाली ने 1000 पदों में उसकी प्रशस्ति लिखी और प्रत्येक पद के लिए उसे एक-एक सोने की मुद्रा दी गई।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह धन उससे कहीं अधिक था जो कि महमूद गजनवी ने 'शाहनामा' नामक कविता संग्रह लिखने पर फिरदोसी को दिया था। बैरम खाँ भी एक उच्च कोटि का कवि था। उसने नजीरो की संरक्षण प्रदान किया। खाने आजम कोकल्टश, जो अकबर का सम्बन्धी था तथा एक विद्वान् लेखक था। उसने कई विद्वानों-सब्जवारी बदखशीं, जफर हरवाई, सहीनी और मुद्रामी-को संरक्षण दिया। उर्फी को एक लाख रुपया अपनी एक कविता[2] लिखने पर मिला। दानियाल हिन्दी भाषा का कवि था। मुराद ने नाजिरीं निशापुरी को संरक्षण दिया। जहाँगीर के दरबार में ताहिर अवाली उच्च कोटि का कवि था। उसे कवि 'शिरोमणि' की उपाधि दी गई। शाहजहाँ ने यह आबू हालिब कहीम, कन्धार के गवर्नर को प्रदान की। जहाँगोर के शासन काल में कन्धार का गवर्नर गाजी खाँ विकारी साहित्यकारों और विद्वानों का बहुत बड़ा संरक्षक था। उसने एक बड़े विद्वान मीर निमततुल्ला को संरक्षण प्रदान किया।

बाबर और हुमायूँ के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

काबुल के शासक के रूप में (1504-25) बाबर को अमीरों से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तैमूर के वंशज मिर्जा कहे जाते थे। बाबर के दो तुर्की अमीरों-उस्ताद अली और मुस्तफा को सेवायें प्राप्त हुई। पानीपत की लड़ाई में जिन लोगों ने भाग लिया उनमें प्रमुख थे—बली काजिल; मलिक कासिम, बाबा कुश्क, ख्वाजा किलन, सुल्तान मुहम्मद दुलदाई, हिन्दू बली बेग, वली खाजिन, पीर कुली सिस्तानी, चिन तिमुर सुल्तान, सुल्तान सलीम मिर्जा मुहम्मद, कोकल्टश, शाह नंसूर बरलाज यूनीस अली, दरवेश मोहम्मद सरबान, अब्दुल्ला किताबदार, ख्वाजा मीर पीरन, खलीफा, अहमद पखन्ची, तारीं वेग, कुचवेग, मुहिब्ब अली खलीफा, मिर्जा बेग

1. शिवली, शेरुल अजाम, जिल्द 3 पृ० 14
2. उस कविता का शीर्षक था 'आये दश्तदार दर सयाये हम तेगो कलम रा'।

तरखन, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा, मेहदी ख्वाजा, आदिल सुल्तान, शाहमीर हुसेन, सुल्तान जुनैद बरलाज, कुश्लुक कदम, जान बेग, मुहम्मद बख्शी, शाह हुसेन बार्गी, मुहम्मद घन्ची, कड़ा कुर्जा, अब्दुल मुहम्मद, नीरजा बाज, शेख अली, शेख जमाल बशिन; माहदी, तगी कुली मुगल, खुसरो कोकल्टश मोहम्मद अली जंग-जंग और अब्दुल अजीज ।[1]

दिल्ली पर अधिकार हो जाने के बाद बाबर ने अपने अमीरों (देग) को 1700 से 2800 पौण्ड तक धन इनाम के रूप में दिया।[2] पानीपत की लड़ाई में विजय प्राप्त करने के बाद उसको अपने बेगों से कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि वे भारत जैसे गर्म देश में रहना नहीं चाहते थे और काबुल लौटने के लिये व्यग्र थे। बाबर ने अमीरों की मजलिस बुलाई और उनको भारत में रहकर मुगल साम्राज्य के विस्तार करने के लिये प्रोत्साहित किया। बाबर ने स्पष्ट रूप से उन अमीरों को काबुल वापस जाने के लिये कहा जो उसका साथ नहीं दे सकते थे। बाबर के इस वक्तव्य का अनुकूल प्रभाव अमीरों पर पड़ा और वे भारत में रुकने के लिये तैयार हो गये।[3]

रवनवा के युद्ध के पहले बाबर के सैनिक राजपूतों की वीरता की कहानी सुनकर हतोत्साहित हो गये थें। अमीरों और वजीर, जिनका काम सैनिकों को सान्त्वना देना था, चुप रहे। कुछ छिटपुट राजपूतों और मुगलों से झड़प होने से अमीरों को राजपूतों के साहस और वीरता का परिचय मिल गया। इससे वे युद्ध के पहले निराश होने लगे। युद्ध के पहले बाबर ने अपने अमीरों को उनके कर्तव्यों का ध्यान दिलाया और ईश्वर की साक्षी देकर उन्हें शपथ दिलायी कि वे मृत्यु की परवाह न करके अपने कर्तव्यों का पालन करें। अमीरों ने कुरान हाथ में लेकर शपथ ली कि वे अपने कर्तव्यों के पालन में अपना जीवन बलिदान करेंगे।[4] अमीरों के इस प्रतिज्ञा के फल-स्वरूप रवनवा के युद्ध में बाबर की विजय हुई।

बाबर ने अपनी मृत्यु (1530) के पहले अमीरों की एक सभा बुलाई और हुमायूँ को अपना विधिवत उत्तराधिकारी घोषित किया उसने हुमायूँ को भी सलाह दी कि वह अपने भाइयों के साथ सदैव अच्छा व्यवहार करे चाहे वे इसके योग्य हों

1. रशब्रुक विलियम्स—ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ दि सिक्स्टींथ सेन्चुरी, पृ० 134-35
2. लेनपुल—मेडिवल इण्डिया, पृ० 166-67
3. बाबर नामा—अनुवाद लीडेन और अर्सकीन, पृ० 336
4. हुमायूँनामा, अनुवाद बेवरिज, पृ० 99

या न हों।[1] बाबर एक प्रशासक नहीं था। इसलिये उसने विजित विदेशों को छोटे-छोटे भागों में विभक्त करके उन्हें अपने अमीरों को सुपुर्द कर दिया और निर्देश किया कि वे अपने क्षेत्र के अच्छे प्रशासन के लिये स्वयं उत्तरदायी होंगे। इस प्रकार केन्द्रीय प्रशासन कमजोर हो गया। बाबर ने सारा खजाना और राज्य अमीरों को बाँट दिया। अपना खर्च चलाने के लिये उसने अमीरों को निर्देश दिया कि वे अपने यहाँ का 30% राजस्व केन्द्रीय प्रशासन को दें।

बाबर के बीमार पड़ते ही अमीरों ने एक षड्यन्त्र किया जिसका नेता वजीर खलीफा था। वह हुमायूँ को गद्दी पर बैठाने के विरुद्ध था। वह चाहता था कि मेहदी ख्वाजा[2] को गद्दी पर बैठाया जाय। परन्तु मेहदी ख्वाजा की जल्दबाजी से वजीर ने अपना विचार बदल दिया और बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ का राज्याभिषेक कर दिया गया। इस घटना की विस्तृत जानकारी 'तबकाते अकबरी' के लेखक निजामुद्दीन अहमद ने लिखा है कि एक दिन खलीफा और लेखक के पिता मुहम्मद मुकीम हर्वी मेहदी ख्वाजा के पास बैठे मन्त्रणा कर रहे थे, इसी बीच बाबर की तबीयत अधिक खराब होने लगी और तुरन्त वजीर को बुलाया गया। ज्योंही वजीर चला गया मेहदी ख्वाजा उठ खड़े हुये और बगैर इस बात का ध्यान किये हुये कि मुहम्मद मुकीम उनके पीछे खड़े थे मेहदी ख्वाजा ने वजीर की तरफ संकेत करके कहा 'मैं बादशाह बनते ही इस बूढ़े की खाल खिचवा लूंगा'।[3] इसके बाद ज्यों ही मेहदी ख्वाजा पीछे घूमे उन्होंने मुहम्मद मुकीम को वहाँ खड़े देखा और उन्हें सम्बोधित करते हुये कहा 'कभी-कभी लाल जिहवा की स्वतन्त्रता से पैगम्बर मुहम्मद के हरे पगड़ी वाले अनुयायियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है'।[4] मुकीम हर्वी ने तुरन्त वजीर खलीफा को इसकी सूचना दी। उसने बाबर के मरते ही हुमायूँ को गद्दी पर बैठा दिया।

हुमायूँ को अपने भाइयों और मिर्जाओं के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके भाई कामरान, अस्करी और हिन्दाल ने समय-समय पर अमीरों की दलबन्दी में सम्मिलित होकर विरोध किया। मुहम्मद जमान मिर्जा, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा, मीर मुहम्मद मेहदी ख्वाजा ने हुमायूँ को सम्राट स्वीकार करने से इनकार

1. वही, पृ० 108–9
2. यह बाबर का बहनोई था।
3. उद्धृत रशब्रुक विलियम्स, आपसिट, पृ० 177
4. वही।

कर दिया और विद्रोह किया। अपने भाइयों और सम्बन्धियों के विरोध के साथ-साथ उसे बाहरी खतरों का सामना करना पड़ा। अफगान अमीर मुगल साम्राज्य के विरोधी थे उन्होंने फिर से अफगानी राज्य स्थापित करने का प्रयास किया इसी उद्देश्य से अफगानों ने मुगलों से कई बार संघर्ष किया।[1] इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी और चाचा आलम खाँ लोदी ने हुमायूँ का विरोध किया। महमूद लोदी का समर्थन बीबन और बयाजीद ने किया, जिसे बाबर ने पराजित किया था। परन्तु उनकी शक्ति पूर्णरूप से क्षीण नहीं हुई थी वे भाग कर बिहार चले गये थे और विद्रोह करने की बाट देख रहे थे। आलम खाँ ने तो बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था परन्तु बाद में वह मुगलों द्वारा अपमानित किया गया। उसे बदख्शाँ में नजरबन्द रखा गया परन्तु वहाँ से भागने में सफल हुआ और उसने गुजरात के शासक बहादुरशाह के यहाँ शरण ली।[2]

बहादुर शाह ने आलम खाँ की सहायता की, जिससे उसने एक सेना हुमायूँ से युद्ध के लिए तैयार की। आलम खाँ ने अपने पुत्र तातर खाँ को आगरे की तरफ भेजा, परन्तु तातर खाँ की पराजय हुई, क्योंकि उसके सैनिक मुगलों से मिल गये।[3] शेर खाँ सूर और बहादुरशाह दो प्रमुख अमीरों ने हुमायूँ के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। उनकी योजना थी कि बारी-बारी से वे हुमायूँ के विरुद्ध भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्रोह करते रहेंगे। शेर खाँ ने बाबर की सेना में रहकर मुगलों की दोषपूर्ण सैनिक व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर ली थी। उसका कहना था कि मुगलों की विजय शक्तिशाली सेना के कारण नहीं हुई बल्कि अफगानों के आपसी संघर्ष और फूट के कारण हुई।[4] बहादुरशाह और शेर खाँ के आपसी समझौते के कारण हुमायूँ के सामने अनेक कठिनाइयाँ आईं। मालवा और गुजरात पर अधिकार हो जाने के बाद ये क्षेत्र मुगलों के हाथ से निकल गये। अन्त में शेर खाँ के साथ संघर्ष में उसकी पराजय हुई और उसे विवश होकर 1540 में भारत छोड़ना पड़ा।[5]

---

1. लेनपूल, मेडिवल इण्डिया, पृ० 219-20
2. ईश्वरी प्रसाद, दि लाइफ एण्ड टाइम्स आफ हुमायूँ, पृ० 66
3. एलफिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 442
4. कीन, आपसिट, पृ० 95
5. कामरान भी गुप्त रूप से शेरशाह से मिल गया और हुमायूँ का रास्ता रोकने की कोशिश करने लगा। वह चाहता था कि अपने भाई को पकड़ कर वह शेरशाह के हवाले कर दे।

शेर खाँ ने शेरशाह के नाम से अपने को सम्राट घोषित किया और हुमायूँ का पीछा करने के लिए एक सेना खवास खाँ और ब्रह्मजीत गौड़ के नेतृत्व में भेजी। शेरशाह ने अपने सेनापतियों को निर्देश दिया कि वह मुगलों से मुठभेड़ न करे बल्कि अपने सैनिकों को दूरी पर रख कर हुमायूँ को देश से बाहर भगा दे।[1] हुमायूँ के इस दुर्दिन में मुगल अमीरों ने उसका साथ नहीं दिया। हुमायूँ सभी अमीरों के सहयोग से एक निश्चित योजना बनाना चाहता था, परन्तु अमीरों ने हुमायूँ का समर्थन नहीं किया। मिर्जा मुहम्मद सुल्तान और उसके लड़के मुल्तान चले गये। मिर्जा हिन्दाल और मिर्जा यादगार नसीर भक्कर और थट्टा की तरफ चले गये और मिर्जा कामरान ने काबुल जाने का निश्चय किया। अन्त में हुमायूँ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह अपने भाइयों और अमीरों के सहयोग की आशा नहीं कर सकता क्योंकि वे स्वार्थ सिद्धि में लगे थे।[2]

हुमायूँ की ईरान यात्रा के समय केवल बैरम खाँ उसके साथ था। उसकी सलाह से वहाँ के शासक ताहमस्प की सहायता से फिर उसने अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की योजना बनाई। कामरान और उसके साथियों के विरोध के कारण उसको काबुल और कन्धार पर अधिकार करने में अनेक कठिनाइयों का सामना पड़ा। अन्त में कामरान पकड़ा गया और हुमायूँ के आदेशानुसार तीन अमीरों ने अली दोस्त बारबेशी, सैय्यद मुहम्मद बिकना और गुलाम अली ने उसे अन्धा किया। बाद में कामरान को मक्का जाने की अनुमति दी गई, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई (अक्टूबर 1557)।[3]

हुमायूँ ने मछिवाड़ा और सरहिन्द की लड़ाईयाँ जीतने के बाद पंजाब और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। फिर से राज्य प्राप्त करने के बाद उसने अपने अमीरों को सम्मानित किया। अपने पुत्र अकबर को हिसारफिरोजा, बैरम खाँ को सरहिन्द, तार्दी खाँ को मेवाड़, सिकन्दर खाँ को आगरा, अलीकुली खाँ को सम्भल और मेरठ, हैदर मुहम्मद खाँ अकता बेगी को बयाना, शाह अब्दुल मलिक को पंजाब की जागीरें दीं।[4] उसने अपने राज्य में रहने वालों को तीन भागों में विभक्त किया।

---

1. ईश्वरी प्रसाद, हुमायूँ, पृ० 153-54
2. फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 2, पृ० 86-87; एस० के० बैनर्जी, हुमायूँ बादशाह, पृ० 253-56
3. इलियट, जिल्द 5, पृ० 253
4. ईश्वरी प्रसाद, हुमायूँ, पृ० 347

सम्राट के परिवार के सदस्यों, अभिजात वर्ग, मंत्रियों और सैनिक अधिकारियों को 'अहले दौलत' कहा जाता था। धार्मिक पुरुषों, विद्वानों, कवियों और वैज्ञानिकों की दूसरी श्रेणी थी, जिसे 'अहले साहब' कहा जाता था जो लोग संगीत, नृत्य में रुचि रखते थे उन्हें 'अहले मुराद' कहा जाता था। इन तीन श्रेणी के लोगों का वर्णीकरण 12 श्रेणियाँ बाणों में किया गया। इन बाणों की विशेषता यह थी कि जो वर्ग प्रमुख होते थे उनके बाण में सोने की मात्रा अधिक होती थी। भिन्न-भिन्न बाण अलग-अलग वर्ग के अमीरों को प्रदान किये जाते थे। बारहवाँ बाण शुद्ध सोने का बना होता था जो कि केवल सम्राट ही अपने तरकस में रख सकता था। उसे छूने का साहस कोई अन्य अमीर नहीं कर सकता था। इसी प्रकार ग्यारहवाँ बाण सम्राट के भाइयों तथा सम्बन्धियों के लिए होता था जो राज्य प्रशासन में प्रमुख पदों पर होते थे। दसवाँ बाण धार्मिक पुरुषों, विद्वानों शेख और सैय्यद के लिये था। नवाँ बाण विशिष्ट अमीरों को प्रदान किया जाता था। आठवाँ दरबारियों और सम्राट के व्यक्तिगत अनुचरों को दिया जाता था। सातवाँ साधारण श्रेणी के सम्राट के नौकरों के लिये था। पाचवाँ नव युवती नौकरानियों को दिया जाता था। चौथा खजान्ची के लिये था। तीसरा सैनिकों को दिया जाता था। दूसरा निम्न कोटि के नौकरों के लिये था। पहला महल के अंगरक्षकों और ऊँट गाड़ी आदि चलाने वालों को दिया जाता था। प्रत्येक बाण में तीन श्रेणियाँ होती थी उच्चतम, मध्यम, और निम्नतम्। हुमायूँ ने इन तीन श्रेणियों में प्रत्येक के लिये सप्ताह में दिन निर्धारित किया। शनिवार और वृहस्पतिवार, विद्वानों और धार्मिक पुरुषों के लिये निश्चित किया गया। इन दिनों सम्राट उनसे मिलता था। रविवार और मंगलवार, सरकारी अधिकारियों के लिये था। सोमवार और बुद्धवार, आमोद प्रमोद के लिये रखा गया। इन दिनों संगीत आदि का कार्यक्रम होता था। शुक्रवार को सम्राट सभी वर्गों के लोगों को एक साथ बुलाता था और उनके बीच बैठता था।[1]

अकबर के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

हुमायूँ की मृत्यु के बाद बैरम खाँ के नेतृत्व में अमीरों ने अकबर को गद्दी पर बैठाया। इस उपलक्ष्य में अमीरों को सम्मानित किया गया। बैरम खाँ ने जो अकबर का संरक्षक था, अमीरों को आश्वासन दिया कि भविष्य में उन्हें और अधिक सुविधायें दी जायगी।[2] जिस समय अकबर सम्राट बना बैरम खाँ के पास एक छोटी सेना थी,

1. ख्वान्दमीर हुमायूँ नामा, इलियट, जिल्द 5, पृ० 119-24
2. इलियट, जिल्द 5, पृ० 64

जिस पर पूरी तरह से भरोसा नहीं किया जा सकता था। पंजाब और दूसरे क्षेत्रों पर केवल शक्ति के बल पर अधिकार था। मुगल अमीर संगठित नहीं थे। कुछ तो विद्रोही और दम्भी थे। शाह अबुल माली ने उस सभा में आने से इनकार कर दिया जहाँ अमीर अकबर के राज्याभिषेक के लिये एकत्रित हुए थे।[1] बैरम खाँ ने उसे बन्दी बनाया और वह उसे मृत्यु दण्ड देने जा रहा था कि अकबर ने मना कर दिया। अकबर, शासन के प्रारम्भ में अमीरों का रक्तपात करने का विरोधी था। इसीलिये उसे लाहौर के किले में रखा गया, परन्तु वह वहाँ से बचकर निकल भागा वह फिर पकड़ा गया और बयाना के बन्दीगृह में रखा गया।[2] काबुल के शासक मिर्जा मुहम्मद हकीम और बदख शाँ के शासक मिर्जा सुलेमान जो अकबर के निकटतम् सम्बन्धी थे सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने और स्वतंत्र होने की कोशिश करने लगे।[3]

तार्दी बेग ने हुमायूँ के समय में मुगल साम्राज्य के प्रसार में बड़ा योगदान दिया और उसकी मृत्यु के बाद दिल्ली और मेवाड़ का कुशलता पूर्वक प्रशासन चलाया।[4] परन्तु अकबर के गद्दी पर बैठते ही वह बैरम खाँ का कोपभाजन बना और उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन न करने और राजद्रोह के अपराध पर मृत्यु दण्ड दिया गया। विद्वानों ने बेरम खाँ के इस कार्य को समानुकूल, और न्यायोचित बतलाया है।[5] तार्दी बेग के मृत्यु दण्ड से दूसरे मुगल अमीर जो बैरम खाँ का साथ देने के लिये तैयार नहीं थे वे भय के कारण उसके आज्ञाकारी हो गये। तार्दी बेग की अकर्मण्यता से दिल्ली मुगलों के हाथ से चली गई और हेमू का अधिकार हो गया। ऐसी परिस्थिति में अकबर ने बैरम खाँ को खाँ बाबा की उपाधि दी और उससे कहा कि वह स्वामिभक्ति का वैसा ही परिचय उस विकट परिस्थिति में दे जैसा उसने उसके पिता हुमायूँ के समय में दिया था।[6] बैरम खाँ ने अमीरों की एक सेना, स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए, बुलाई, कुछ अमीरों ने इस आधार पर कि सम्राट के

1. स्मिथ, अकबर दि ग्रेट मोगल, पृ० 23
2. इलियट, जिल्द 5, पृ० 248
3. वही, पृ० 249-40
4. इलियट, जिल्द 5, पृ० 249-50
5. स्मिथ, आपसिट, पृ०27
6. हेमू ने राजा विक्रमाजीत की उपाधि ग्रहण किया और अकबर के विरुद्ध सेना भेजी (फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 2, पृ० 187)

पास केवल 20,000 घुड़सवार थे और हेमू के पास 1 लाख सैनिक थे सुझाव दिया कि मुगलों को काबुल वापस चलना चाहिये। बैरम खाँ ने अमीरों के इस प्रस्ताव का विरोध किया और तुरन्त हेमू पर आक्रमण करने के लिये अकबर से अनुरोध किया जिसे सम्राट ने स्वीकार कर लिया।[1] बैरम खाँ की सूझ-बूझ से पानीपत की दूसरी लड़ाई (1556) में हेमू की पराजय हुई और वह मारा गया दिल्ली पर फिर मुगलों का अधिकार हो गया।

कुछ अमीरों के सुझाव देने पर 1560 ई० में अकबर ने राज्य प्रशासन का कार्य स्वयं संभाल लिया। इन अमीरों ने बैरम खाँ के दोषों को बढ़ा चढ़ा कर सम्राट से कहा, जिसके कारण बैरम खाँ को राज्य प्रशासन से अलग कर दिया गया।[5] बैरम खाँ बुरी संगत में फँस गया और अकबर के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उसने अपना एक दल तैयार किया। फरिश्ता ने लिखा है कि बैरम खाँ का झुकाव कामरान मिर्जा के पुत्र अबुल कासिम मिर्जा की तरफ हो गया था। इसकी सूचना मिलने पर अकबर ने बैरम खाँ के अधिकारों को कम कर दिया।[3]

बैरम खाँ की संरक्षता से मुक्त होने पर अकबर दो वर्षों तक (1560-62) महल की स्त्रियों के प्रभाव में रहा, जिनमें प्रमुख थी अकबर की दाई माहम अंगा। माहम अंगा प्रशासन में अपने लड़के अधम खाँ और दामाद पीरमुहम्मद को महत्व-पूर्ण स्थान दिलाना चाहती थी, उसके इस उद्देश्य की पूर्ति में बैरम खाँ बाधक था, इसीलिए उसने उसे हटाने के लिए षड्यन्त्र किया। माहम अंगा अपने लड़के को वजीर बनवाना चाहती थी जिसको अकबर ने स्वीकार नहीं किया और खाने आजम (शम्सुद्दीन मुहम्मद अतगा) को वजीर बनाया। अधम खाँ इस नियुक्ति को सहन न कर सका क्योंकि वह स्वयं इस पद के लिए लालायित था। अधम खाँ ने शिहाबुद्दीन अहमद खाँ, मुनीम खाँ, खाने खाना और दूसरे अमीरों की सहायता से वजीर की हत्या कर दी। वह सोचता था कि सम्राट उसे उसकी माँ के कहने पर क्षमा कर देगा। परन्तु अकबर ने उसे मृत्यु दण्ड दिया। इस हत्या के दोषी दूसरे अमीर भागने में सफल हो गये। अकबर ने अपने मामा ख्वाजा मुअजम को उसके भयंकर अपराधों के कारण देश से निकाल दिया। उसके वापस लौटने पर उसे नदी में डूबाने का प्रयास किया

1. फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द, पृ० 185-86
2. इलियट, जिल्द 5, पृ० 260
3. ब्रिग्स, जिल्द 2, पृ० 196-97

और अन्त में उसे ग्वालियर जेल में बन्द कर दिया, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।[1] स्मिथ का कहना है कि अकबर ने अपने सम्बन्धियों और निकट अमीरों को जो दण्ड दिया, इससे पता चलता है कि उसने अपने को महल की स्त्रियों के प्रभाव से मुक्त कर लिया था।[2]

अकबर के निकट सम्बन्धी काबुल के गवर्नर मिर्जा मुहम्मद हकीम ने विद्रोह कर दिया अकबर को इन विद्रोहों को दबाने में कठिनाई हुई। उसे इस बात की जानकारी थी कि साम्राज्य के दूरस्थ भागों के अमीर आपस में मिलकर उसे गद्दी से हटाना चाहते थे। वजीर ख्वाजा शाह मंसूर विद्रोहियों से मिला था यह विद्रोह 1581 ई० में हुआ, जब कि अकबर ने सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अकबर की उदार धार्मिक नीति से कट्टर विचारों वाले मुगल अमीर अप्रसन्न हो गये। मिर्जा मुहम्मद हकीम और उसके समर्थक इस अवसर की बाट देख रहे थे। इसी समय इन असन्तुष्ट अमीरों को हकीम ने अपनी तरफ मिलाया। बंगाल, बिहार, गुजरात और उत्तर पश्चिम के क्षेत्रों में एक साथ विद्रोह हुए।[3] बंगाल में मुजफ्फर खाँ तुरबती के गवर्नर बनने के बाद प्रशासनिक सुधारों के लाने के उद्देश्य से कड़े नियम बनाये गये, जिससे वहाँ के लोग प्रभावित हुए। लगान की वसूली बड़ी सख्ती से की गई। रोशन बेग काकशल को मृत्यु दण्ड दिया गया, इससे काकशालों ने बाबा खाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया।[4] इसी प्रकार बिहार में मुल्ला तैय्यब और राय पुरुषोत्तम बख्शी के अत्याचारों से वहाँ के अमीरों ने मासूम काबूली के नेतृत्व में विद्रोह किया। बिहार और बंगाल के विद्रोही लोग सम्राट के विरुद्ध आपस में मिल गये। अकबर ने विद्रोहियों को कुचलने के लिए सेना भेजी। अन्त में मिर्जा मुहम्मद हकीम को क्षमा दान दिया गया और वजीर ख्वाजा शाह मंसूर को मृत्यु दण्ड मिला।[5] जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद याजदी को भी मृत्यु दण्ड मिला, क्योंकि उसने सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए 'फतवा' निकाला था। 1581 ई० का वर्ष अमीरों के षड्यन्त्रों और कुचक्रों

---

1. अकबर नामा, जिल्द 2, पृ० 276
2. स्मिथ, आपसिट, पृ० 43
3. वही पृ० 136-37
4. वही, पृ० 135-37
5. वही, पृ० 139

के कारण सम्राट के लिए अत्यन्त संकटमय था। इस काल में अकबर ने बड़े साहस का परिचय दिया।[1]

अपने सगे सम्बन्धियों और अमीरों के विरोध के कारण अकबर ने मुगल-साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से राजपूतों का समर्थन और सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। उसने राजपूतों के साथ उदार नीति अपनाई और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। युद्ध में पराजित राजपूत राजाओं के साथ भी उसने सम्मानपूर्वक व्यवहार किया। राजपूत शासकों को राज्य प्रशासन में ऊँचे मनसब दिये गये। अकबर ने अमीरों का वर्गीकरण किया और उनकी योग्यता के आधार पर उनका मनसब निर्धारित किया। उसने अमीरों और सरकारी अधिकारियों को 33 श्रेणियों में विभक्त किया।[2] ऐसा अनुमान किया जाता है कि अकबर ने गुजरात विजय के बाद (1573-74) अमीरों को मनसब दिये।[3] सबसे कम मनसब 10 और अधिक से अधिक 10000 का मनसब था, साधारणतया 5000 से अधिक का मनसब राजकीय परिवार के सदस्यों को दिया जाता था। 500 से 2500 तक मनसब वाले अमीरों को 'उमरा' कहा जाता था। अमीरों में सबसे ऊँची श्रेणी 'अमीर आजम' की थी। दूसरी विशिष्ट उपाधि—"खाने खाना" की थी जो बैरम खाँ के पुत्र अब्दुल रहीम को सम्राट ने प्रदान की।

अकबर के दरबार में हिन्दू अमीरों को अधिक सम्मान प्राप्त था, जिनमें राजा मानसिंह, राजा भगवान दास, बीरबल और टोडरमल प्रमुख थे। अबुल फज्ल और मिर्जा अजीज कोक (खाने अजम) उच्चकोटि के अभिजात वर्ग में थे। सलीम के विद्रोह के कारण कुछ अमीर अकबर के बाद उसे गद्दी पर बैठाने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इसने राजकोष को लूटा और अबुल फज्ल की हत्या करवाई। राजा मानसिंह और खाने आजम सलीम के लड़के खुसरो को गद्दी पर बैठाना चाहते थे। इस प्रस्ताव का समर्थन बहुत से राजपूतों ने किया। परन्तु अकबर ने मृत्यु (1605) के पहले सलीम को क्षमा कर दिया और उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। अकबर के इस निर्णय से उन कट्टर धार्मिक विचारों वाले मुगल अमीरों को सान्त्वना मिली जो दरबार में राजपूतों के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित थे।

---

1. वही, पृ० 136
2. स्मिथ, आपसिट, पृ० 263
3. वही

जहाँगीर और शाहजहाँ के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

जहाँगीर ने गद्दी पर बैठने के बाद अभिजात वर्ग को सम्मानित किया और उसे उपाधियाँ प्रदान की। अबुल फज्ल के हत्यारे बीरसिंह बुन्देला का मनसब बढ़ाकर 3000 कर दिया गया। जबकि अबुल फज्ल के पुत्र अब्दुर रहीम खाँ को 2000 का मनसब दिया गया।[1] मिर्जा गयास बेग, को जो नूरजहाँ के पिता थे, एतमाद-उद्दौला की उपाधि दी गई। खाने जमान अजीज कोक और राजा मानसिंह जैसे अमीरों की, जिन्होंने जहाँगीर के उत्तराधिकार का विरोध किया था, उपेक्षा की गई और उनका प्रभाव दरबार में समाप्त हो गया।[2]

जहाँगीर ने उस नियम में संशोधन किया, जिसके अन्तर्गत अमीरों की सम्पत्ति उनके मरने के बाद सरकार अपने अधिकार में ले लेती थी। उसने अमीरों के उत्तराधिकारियों को अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार बनाये रखने का आदेश दिया।[3] जब किसी अमीर की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का कोई दावेदार नहीं होता था तो सम्राट उसे अपने अधिकार में ले लेता था और उसकी व्यवस्था इस्लामी नियम के अनुसार करने का निर्देश देता था।[4] जहाँगीर ने सभी अमीरों को क्षमा कर दिया जो उसके विद्रोह के समय उसका साथ छोड़कर अकबर से मिल गये थे। इस सम्बन्ध में अब्दुर रज्जाक मामूरी और ख्वाजा अब्दुल्ला, नक्शबन्दी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन अमीरों को उनके पदों पर बने रहने दिया गया।[5] जहाँगीर ने राजा मानसिंह के पुत्र महासिंह को भी 2000 का मनसब दिया। कुछ समय बाद राजा मानसिंह से सम्राट अप्रसन्न हो गया। उसने मानसिंह को 'पुराना भेड़िया' की संज्ञा दी और बंगाल के गवर्नर के पद से उसे मुक्त कर दिया। उसके स्थान पर कुतुबुद्दीन खाँ कोका को नियुक्त किया और उसका मनसब 5000 कर दिया।[6]

जहाँगीर ने अपने पुराने मित्र शरीफ खाँ[7] को वजीर के पद पर नियुक्त किया

---

1. तुजुके जहाँगीरी, अनुवाद रोजर्स एण्ड बेवरिज, जिल्द 1, पृ० 17
2. बेनी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, पृ० 121-122
3. इलियट, जिल्द 6, पृ० 284
4. वही।
5. तुजुके जहाँगीरी, अनुवाद रोजर्स एण्ड बेवरिज, जिल्द 1, पृ० 13-14, 27
6. वही, पृ० 78
7. यह प्रसिद्ध चित्रकार अब्दुल समद का पुत्र था।

और उसे 'अमीरल उमरा' की उपाधि और 5000 का मनसब दिया। उसकी पदोन्नति से अमीर उससे ईर्ष्या करने लगे।[1] दीवानी विभाग का कार्य मिर्जा जान बेग और एतमादउद्दौला को सौंपा गया। एतमादउद्दौला ने कार्यकुशल होते हुए भ्रष्ट तरीकों को अपनाया। उसे 1500 का मनसब दिया गया।[2] शेख फरीद बोखारी को जिसने राजा मानसिंह और अजीज कोका के खुसरो को मुगल सम्राट बनाने के प्रस्ताव का विरोध किया था, 1500 का मनसब दिया गया। शेख बोखारी बहुत सहृदय था। वह अपने सैनिकों का बहुत ख्याल करता था। उसने निर्धनों, विधवाओं और अनाथों की बड़ी सहायता की।[3] शेख बोखारी को मीर बख्शी के पद पर नियुक्त किया गया।

जमान बेग को 1500 का मनसब और महावत खाँ को उपाधि दी गई। यह प्रारम्भ से ही सलीम का स्वामिभक्त था। जहाँगीर ने इसे बोलने की स्वतन्त्रता दी थी, जिसके बदले में इसने सम्राट के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की।[4] जहाँगीर ने अपने पुराने साथियों को मनसब दिये—रुकुनुद्दीन (शेरखाँ) को 3500 का मनसब, लाला बेग (बाज बहादुर) को 4000 का मनसब और बिहार का गवर्नर और मीर जिया-उद्दीन काजवीनो को 1000 का मनसब और घुड़साल का स्वामी बनाया गया। शेख सलीम, चिश्ती के वंशजों को भी सम्राट ने सम्मानित किया। अलाउद्दीन को बंगाल के गवर्नर का पद और इस्लाम खाँ की उपाधि मिली। उसके पुत्र इकराम खाँ को 5000 जात और 1500 सवार का मनसब और मेवात की फौजदारी दी गई। शेख कबीर को बंगाल के प्रशासन में प्रमुख पद और 'शुजात खाँ' की उपाधि प्रदान की गई।[5] अमीरों की इस पदोन्नति से पुराने अमीर अप्रसन्न हो गये, क्योंकि उनके विचार से ये अमीर अयोग्य थे। जहाँगीर में उनके विरोध को समाप्त करने के लिए आम तौर से सभी अमीरों के वेतन में 20 प्रतिशत की वृद्धि कर दी। कुछ अमीरों को 300 या 400 प्रतिशत तक की वृद्धि दी गई। सैन्य विभाग में अहादियों को 50 प्रतिशत वेतन में वृद्धि मिली।[6]

---

1. तुजुके जहाँगीरी, अनुवाद रोजर्स एण्ड बेवरिज, जिल्द 1, पृ० 14, 15, 18
2. वही, पृ० 22
3. बेनी प्रसाद आपसिट, पृ० 123-24
4. बेनी प्रसाद, आपसिट, पृ० 124
5. तुजके जहाँगीरी रो० बो०, पृ० 21, 25, 24, 29, 31, 32, 82, 87, 102, 208, 287
6. बेनी प्रसाद, आपसिट, पृ० 125-26

जहाँगीर को प्रारम्भ में अपने पुत्र खुसरो के विद्रोह का सामना करना पड़ा। वह महल से भागने में सफल हो गया और उसने हुसेन बेग और लाहौर के दीवान अब्दुर रहीम[1] की सहायता से एक सेना तैयार की और लाहौर पर आक्रमण किया। वहाँ के गवर्नर दिलावर खाँ ने लाहौर पर अधिकार करने के खुसरो के सभी प्रयास विफल कर दिये। जहाँगीर ने तुरन्त शेख फरीद को खुसरों का पीछा करने के लिए भेजा। खुसरों के समर्थक अमीरों को जहाँगीर ने बन्दी बना लिया जिनमें प्रमुख थे—मिर्जा शाहरुख और मिर्जा मुहम्मद हकीम के लड़कों खुसरों का विद्रोह विफल रहा। उसके समर्थक हुसेन बेग को बैल की खाल में सिला दिया गया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। अब्दुर रहीम को गधे की पीठ पर बैठा कर सड़कों पर घुमाया गया, परन्तु बाद में उसे क्षमा कर दिया गया।[2]

खुसरो के विरुद्ध सफल सैनिक अभियान के लिये जहाँगीर ने अमीरों को उपाधियाँ दीं और उनके मनसब बढ़ा दिये। शेखफरीद बुखारी को 2,000 जात और 1,300 सवार का मनसब और दिलावर खाँ को 2,000/1,400 का मनसब मिला।[3]

अपना स्वास्थ्य गिरने के कारण जहाँगीर, प्रशासन सम्बन्धी कार्यों की निगरानी नहीं कर सका और उसने नूरजहाँ को सारा कार्य-भार सौंप दिया। नूरजहाँ ने अपना एक दल तैयार किया, जिसकी सहायता से राज्य-प्रशासन चलाया। इस दल को नूरजहाँ का गुट कहा जाता है, जिसके सदस्य थे उसके पिता मिर्जा गयास बेग, उसकी माँ असमत बेगम, उसका भाई आसफ खाँ और खुर्रम। इस दल ने सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली और पुराने विशिष्ट अमीरों की उपेक्षा की।[4] पुराने अमीर इस दल से ईर्ष्या करने लगे। सन् 1611 से 1622 तक नूरजहाँ शक्तिशाली रही उसने खुर्रम को ऊँचा उठाने के लिये उसे अनेक अवसर प्रदान किये। 1622 से 1627 तक इस दल में दरार पड़ गई।[5] नूरजहाँ जहाँगीर के लड़के शहरयार में रुचि लेने लगी। आसफ खाँ की रुचि खुर्रम में थी। मिर्जा गयास बेग और असमत बेगम माता-

1. खुसरो ने अब्दुर रहीम को 'अनवर खाँ' की उपाधि दी और अपना वजीर बनाया। —वही, पृ० 130
2. बेनी प्रसाद आपसिट, पृ० 135
3. वही।
4. वही, पृ० 179
5. वही।

पिता के न रहने से भाई और बहन के बीच वैमनस्य बढ़ता गया इस प्रकार यह गुट भंग हो गया । 1622-27 तक प्रयास करते थे । नूरजहाँ के व्यवहारों से तंग आकर खुर्रम और महावत खाँ ने विद्रोह कर दिया, महावत खाँ ने 'गुट' का विरोध करना शुरू किया । सन् 1612 में महावत खाँ को 4000/3500 उपाधि मिली । दस वर्षों में (1612-22) में उसकी कोई पदोन्नति नहीं हुई । जब नूरजहाँ को उसकी आवश्यकता हुई तो महावत खाँ का मनसब 6000/5000 कर दिया गया ।[1] गुट के भंग हो जाने पर पुराने अमीरों ने खुर्रम का साथ दिया क्योंकि वह साहसी था और उसका व्यक्तिगत जीवन अच्छा था ।[2] महावत खाँ भी नूरजहाँ के पुराने अमीरों के प्रति अपमान जनक व्यवहार को सहन नहीं कर सका और उसने विद्रोह कर दिया । अपने सैनिकों द्वारा उसने जहाँगीर को घेर लिया । महावत खाँ का उद्देश्य सम्राट् को अपमानित करना नहीं था । वह केवल जहाँगीर को नूरजहाँ के चंगुल से छुड़ाना चाहता था । महावत का यह प्रयास विफल गया ।

जहाँगीर की बीमारी से उत्तराधिकार के लिये संघर्ष की सम्भावना बढ़ गई । आसफ खाँ अपने दामाद खुर्रम (शाहजहाँ) को सम्राट् बनाना चाहता था । महावत खाँ परवेज को गद्दी पर बैठाना चाहता था और नूरजहाँ शहरयार को गद्दी देना चाहती थी । इस प्रकार गृह-युद्ध की तैयारी हुई । इसी बीच परवेज की मृत्यु हो गई, (1626) और महावत खाँ शाहजहाँ से मिल गया ।[3] नूरजहाँ ने शाहजहाँ और महावत खाँ के गठबन्धन को समाप्त करने के लिये खानेजहाँ को भेजा ।[4] इसी बीच जहाँगीर की मृत्यु हो गई (1627) शाहजहाँ और नूरजहाँ के बीच संघर्ष में शाहजहाँ की विजय हुई, क्योंकि उसे सभी अमीरों का समर्थन प्राप्त था ।

गद्दी पर बैठने के पहले ही शाहजहाँ को अभिजात वर्ग का सहयोग मिला था । उसकी राजगद्दी सुरक्षित करने के उद्देश्य से आसफ खाँ दावर बख्श[5] को सम्राट् घोषित किया था । अमीर पहले दावर बख्श को सम्राट् स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे, परन्तु जब उन्हें आसफ खाँ के वास्तविक उद्देश्य की जानकारी हुई तो उन्होंने

---

1. वही, पृ० 180
2. वही, पृ० 181
3. बेनी प्रसाद, आपसिट, पृ० 395
4. इलियट, जिल्द 6, पृ० 431, 434
5. यह खुसरो का पुत्र था ।

आसफ खाँ का साथ दिया।[1] शाहजहाँ को दक्षिण से राजधानी पहुँचने में समय लग सकता था, जबकि राजगद्दी का खाली रहना ठीक नहीं था इसीलिये दावर बख्श को गद्दी पर बैठाया। शाहजहाँ ने आसफ खाँ को एक फरमान दिया कि खुसरो के पुत्र दावर बख्श, उसके भाई नाशुदनी और दानियाल के पुत्र को मौत के घाट उतार दे।[2]

शाहजहाँ ने अपने दरबार में कवियों, विद्वानों और ज्योतिषियों को सम्मानित किया। उसने ईमानदार अमीरों को पदोन्नति की और बेइमान अभिजात वर्ग के लोगों को दण्डित किया। महावत खाँ को 7000/7000 का मनसब दिया गया और उसे 'खाने खाना' की उपाधि प्रदान की गई। आसफ खाँ को 8000/8000 का मनसब दिया गया। खानेजहाँ लोदी जो जहाँगीर के समय में गुजरात और दक्षिण का गवर्नर रह चुका था, उसको 5000 का मनसब प्राप्त था। शाहजहाँ के समय में उसकी पदोन्नति उसकी आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं हुई। वह स्वयं 'खाने खाना' बनना चाहता था, परन्तु यह उपाधि महाब्रत खाँ को मिल गई, जिससे खानेजहाँ लोदी महाव्रत खाँ से ईर्ष्या करने लगा।[3] उसने निजामुल मुल्क को बालाघाट का प्रदेश 3 लाख रुपये लेकर दे दिया।[4] अन्त में खानेजहाँ लोदी पराजित हुआ और मारा गया।[5] इस विद्रोह के दबाने में जिन अमीरों को श्रेय मिला शाहजहाँ ने उन्हें सम्मानित किया। खानेजहाँ लोदी को पराजित करने में अब्दुल्ला खाँ और सैय्यद मुजफ्फर खाँ का महत्वपूर्ण योगदान था। शाहजहाँ ने अब्दुल्ला खाँ को 6000/6000 का मनसब और फिरोज जंग की उपाधि दी। सैय्यद मुजफ्फर खाँ को 5000/5000 का मनसब और खानेजहाँ की उपाधि मिली।[6]

शाहजहाँ के दरबार में बहुत से अमीर विद्वान् थे, जिनमें प्रमुख थे अली मर्दा खाँ, सादुल्ला खाँ, सईद खाँ, जफर खाँ, खानाजादा खाँ, अमीर जुमला, अफजल खाँ, राजा जय सिंह।[7] परन्तु उनकी साहित्यिक कृतियों की विस्तृत जानकारी नहीं

1. इलियट, जिल्द 7, पृ० 5-6
2. वही, पृ० 435-38
3. बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 68
4. वही।
5. इस विद्रोह के बाद शाहजहाँ ने अफगान अमीरों पर विश्वास करना छोड़ दिया— एम० अतहर अली, दि नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब, 1870, पृ० 20
6. इलियट, जिल्द 7, पृ० 7-22
7. सक्सेना, आपसिट, पृ० 247

मिलती ।[1] शाहजहाँ ने कुछ अमीरों को, उनकी श्रेणी के निर्धारित वेतन के सिवा, अतिरिक्त भत्ता देने के आदेश दिये। अली मर्दां खाँ, जिसको 7000/7000 का मनसब प्राप्त था और 30 लाख रुपया वार्षिक वेतन मिलता था को अतिरिक्त भत्ता को दिया गया। इसी प्रकार अतिरिक्त भत्ता आसफ खाँ को भी मिला।[2] शाहजहाँ के समय में साधारणतया अमीरों को वर्ष में दस महीने का वेतन मिलता था, परन्तु विशिष्ट अमीरों को पूरे वर्ष का वेतन दिया जाता था।[3] 'जात' और 'सवार' श्रेणी के अतिरिक्त 'तूमन ओ तूंग' जो केवल शाही परिवार के सदस्यों के लिये ही निर्धारित था, कुछ प्रमुख अमीरों को दिया गया, 'माही मरतीब' केवल दक्षिण के अमीरों को ही प्रदान किये गये।

सम्राट् ने शाह मीर लाहौरी और मुहबीब अली सिन्धी को धर्म प्रसार के कार्यों में लगाया।[4] दो हिन्दू अमीरों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर सम्राट् ने उन्हें सम्मानित किया। राज सिंह कछवाहा के पुत्र राजा बख्तावर सिंह को धर्म परिवर्तन पर 'राजकीय वस्त्र' और 2000 रुपया मिला इसी प्रकार पुरुषोत्तम सिंह को धर्म बदलने पर 'सादतमन्द' की उपाधि मिली।[5]

शाहजहाँ के समय में 'नजर' देने की प्रथा अपने चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसका आरम्भ नूरजहाँ के समय में हुआ था। सम्राट् अपने दरबारियों से महत्वपूर्ण अवसरों पर 'नजर' प्राप्त करने की आशा करता था। यह एक प्रकार की घूस लेने की प्रथा थी, जिससे अमीरों का नैतिक पतन होने लगा।

औरंगजेब के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

बर्नियर के अनुसार औरंगजेब के शासन काल के आरम्भ में उजबेग ईरानी, अरब और तुर्क और उनके वंशज अभिजात वर्ग में सम्मिलित थे, जो दरबार में एक दूसरे से होड़ करते थे।[6] ईरानी और तूरानी अमीरों की प्रतिद्वन्द्विता पहले से चली आ रही थी। ईरानी शिया थे और तूरानी सुन्नी थे। इससे उनके आपसी संघर्ष

1. वही।
2. सक्सेना, आपसिट, पृ० 288
3. वही, पृ० 287
4. वही, पृ० 294-95
5. वही, पृ० 295
6. बर्नियर, आपसिट, पृ० 209, 212

धार्मिक विवाद का रूप ग्रहण कर लेते थे। ईरानी अधिक सभ्य और सुसंस्कृति होते थे, इसीलिये जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में इन्हें राज्य प्रशासन में ऊँचा स्थान मिला। ऐसा कहा जाता है कि उत्तराधिकार के युद्ध में सुन्नी अमीरों के समर्थन से औरंगजेब की विजय हुई और शिया अमीरों के सहयोग के कारण दारा की पराजय हुई, परन्तु यह मत निराधार है।[1] 1000 से ऊपर के मनसब वाले 124 औरंगजेब के समर्थक अमीरों में 27 ईरानी थे, जिनमें 4 अमीर 5000 से ऊँचे मनसब के थे, जब कि 87 दारा के समर्थक अमीरों में केवल 23 ईरानी थे।[2] इसके अतिरिक्त मीर जुमला और शायस्ता खाँ, जो प्रमुख शिया अमीर थे, औरंगजेब के समर्थक थे उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब के विजयी होने से शिया अमीरों का अहित नहीं हुआ। बर्नियर ने लिखा है कि विदेशी अमीरों में अधिकतर ईरानी थे।[3] और ट्रैवर्नियर का कहना है कि ईरानी अमीरों को राज्य प्रशासन में महत्वपूर्ण पद प्राप्त थे।[4] दक्षिण की रियासतों में बहुत से ईरानी ऊँचे पदों पर थे जो भारत आने वाले ईरानी अमीरों के हितों की रक्षा करते।[5] औरंगजेब ईरानी अमीरों पर अधिक विश्वास करता था।[6]

शाहजहाँ के समय में खानेजहाँ लोदी के विद्रोह के कारण मुगल दरबार में अफगान अमीरों की प्रतिष्ठा गिर गई। उसके समय में औरंगजेब ने कई अफगान अमीरों की पदोन्नति के लिये सिफारिश की, परन्तु शाहजहाँ के अविश्वास के कारण अफगानों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला।[7] परन्तु औरंगजेब ने पदोन्नति में अफगान अमीरों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया। उसके समय में अफगान अमीरों की संख्या में वृद्धि हुई। जिसका मुख्य कारण यह था कि बीजापुर और गोलकुण्डा के मुगल साम्राज्य में विलय हो जाने के बाद, वहाँ के बहुत से अफगान अमीर मुगल दरबार में आ गये और उन्हें प्रशासन में उचित स्थान दिया गया। भारतीय मुसलमानों को शेखजादा कहा जाता था जिनमें बाराहा और कम्बूस के सैय्यद प्रमुख रूप से थे।

1. एम० अतहर अली, आपसिट पृ० 19
2. वही।
3. आपसिट, पृ० 3
4. ट्रैवर्नियर, जिल्द 2, पृ० 138
5. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 19
6. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 72
7. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 20

औरंगजेब के समय में इन अमीरों की संख्या कम हो गई, क्योंकि वह इन पर अविश्वास करता था। इसका मुख्य कारण यह था कि बाराहा के सैय्यदों ने उत्तराधिकार के संघर्ष में दारा का साथ दिया था।[1]

एक कट्टर मुसलमान बादशाह होते हुए भी शाहजहाँ ने अपने शासन काल में राजपूत अमीरों को उच्च पद दिया। इसी प्रकार औरंगजेब ने भी राजपूत शासकों को अपनी तरफ मिलाने के लिए उन्हें अनेक प्रलोभन दिए। इस कारण से मेवाड़ के राजा राजसिंह, जसवन्त सिंह और मिर्जा राजा जयसिंह ने उसका साथ दिया। औरंगजेब ने उन्हें राज्य प्रशासन में महत्वपूर्ण पद दिये।[2] प्रो० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि औरंगजेब राजपूत अमीरों को ऊँचा मनसब नहीं देता था।[3] तीन प्रमुख राजपूत अमीरों को रामसिंह हाड़ा, हलपतराव बुन्देला और जयसिंह सबाई जिन्होंने दक्षिण में मुगल सरकार की सेवा की और युद्धों में अपने सैनिकों के साथ भाग लिया उन्हें 3000 से अधिक ऊँचा मनसब नहीं दिया गया। रामसिंह हाड़ा को 3000/1500; का मनसब, दलपतराव को 3000/3000, का मनसब और जयसिंह सवाई को 2000/2000 का मनसब दिया गया, जो अपेक्षाकृत नीचे दर्जे के मनसब थे।[4]

औरंगजेब अमीरों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु के बाद सरकारी अधिकार में लेने के पक्ष में नहीं था। किसी अमीर की मृत्यु होने पर सम्राट का आदेश था कि मृतक की सम्पत्ति से केवल वही धनराशि ली जाय जिसे उसको राजकोष में जमा करनी थी। इस प्रकार बकाया धन की वसूली के बाद शेष सम्पत्ति मृतक के उत्तराधिकारियों को सौंप दी जाती थी। रहमत खाँ की मृत्यु के बाद (1666) उसकी सम्पत्ति से सरकारी बकाया धन की वसूली करने के बाद शेष सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को सौंप दी गई।[5] गुजरात के सद्र शेख महीउद्दीन की मृत्यु के बाद (1687) उसके पुत्र शेख इकरामुद्दीन के इस आश्वासन पर कि वह अपने पिता का बकाया धन राजकोष में जमा कर देगा सम्राट ने उसकी सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में नहीं लिया।[6] इसी प्रकार शेर अफगन की मृत्यु के बाद (1700) उसकी सम्पत्ति उसके

1. वही, पृ० 21
2. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 25
3. रिलीजस पालिसी आव् दि मुगल एम्पर, पृ० 134
4. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 26
5. वही पृ० 65
6. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 319

उत्तराधिकारियों को दे दी गई। गुजरात के सूबेदार शुजात खाँ की मृत्यु (1701) पर उसकी सम्पत्ति को सरकारी अधिकार में नहीं लिया गया। मृतक अमीर लुत-फुल्ला खाँ के ऊपर 1 लाख 70 हजार रुपया बकायां था। परन्तु उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को दे दी गई। केवल उसके हाथी और घोड़ों को सरकारी अधिकार में लिया गया।[1] इससे पता चलता है कि औरंगजेब ने अमीरों की सम्पत्ति के अधिग्रहण सम्बन्धी नियम में संशोधन कर दिया था, परन्तु मनूची ने लिखा है कि औरंगजेब अमीरों की सम्पत्ति जप्त कर लेता था और वह केवल दिखावे के लिए इसका विरोध करता था।[2]

औरंगजेब ने 1666 ई० तक अमीरों की स्थिति में कोई परिवर्तन करना ठीक नहीं समझा, क्योंकि उस समय तक शाहजहाँ जीवित था और उसे डर था कि कहीं अमीर उसकी नीति से उसका विरोध करनें लगें और फिर से शाहजहाँ को गद्दी पर बैठाने की योजना बनाने लगें।[3] अतः उसने शाहजहाँ की मृत्यु के बाद राजपूत अमीरों और हिन्दुओं के प्रति कड़ा रुख अपनाया। यद्यपि राजपूतों के पास उनका पुराना मनसब बना रहने दिया, उसने राजपूतों को पदोन्नति देना या मनसब बढ़ाना कम कर दिया।[4] जसवन्त सिंह की मृत्यु के बाद उसने पूरे मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। इन्हीं कारणों से सम्राट को राजपूतों के विद्रोह का सामना करना पड़ा (1679-80)। कुछ विद्वानों का कहना है कि राठौर और सिसोदिया के विद्रोह को राजपूतों का विद्रोह कहना ठीक नहीं है।[5] क्योंकि बहुत से राजपूत शासक मुगल सम्राट का साथ दे रहे थे, जैसे कछवाहा, हाड़ा, भटी और बीकानेर के राठौर। ऐसा विश्वास किया जाता है कि विद्रोही राजपूत शासकों को अप्रत्यक्ष रूप से कुछ मुगल अमीरों का समर्थन प्राप्त था, जैसा कि औरंगजेब के पुत्र, मुहम्मद अकबर के विद्रोह से पता चलता है। अकबर के विद्रोह के समय दो विशिष्ट मुगल अमीर तहव्वर खाँ और बहादुर खाँ कोकल्टश ने सम्राट को सुझाव दिया कि वह अजीत सिंह को मान्यता प्रदान करे।[6] जिस समय मुहम्मद अकबर दक्षिण की तरफ भागा वहाँ के वाइसराय, बहादुर खाँ कोकल्टश ने

1. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 66
2. मनूची, जिल्द 2, पृ० 417
3. एम० अतहर अली, आपसिट, पृ० 98
4. वही पृ० 99-100
5. वही, पृ० 100
6. वही, पृ० 101

उसे रोकने का प्रयास नहीं किया और वह शम्भूजी के दरबार में बिना किसी रुकावट के पहुँच गया।[1]

दक्षिण में सैनिक अभियान मुगल अमीरों के कारण लम्बे समय तक चलता रहा। कभी-कभी मुगल अमीर शत्रु से मिल जाते थे। दक्षिण में नियुक्त मुगल अमीरों में आपसी मतभेद के कारण भी औरंगजेब की योजनाएँ असफल रहीं। दिलेर खां शाह आलम और जसवन्त सिंह में मतभेद था। जसवन्त सिंह और शाह आलम पर मराठों के विरुद्ध कड़ी नीति न अपनाने के लिए दोषी ठहराया गया। यह भी अभियोग लगाया गया कि 1682 ई० में शाह आलम सैय्यद अब्दुल्ला खाँ, मोमीन खाँ, नज्म सानी और सादिक खाँ गुप्त रूप से बीजापुर के शासक से मिल गये।[2] शाह आलम और बहादुर खाँ कोकल्टश को गोलकुण्डा के शासक अबुल हसन के प्रति उदार नीति अपनाने का दोषी ठहराया गया। इसी अपराध पर 1685 ई० में शाह आलम को बन्दी बनाया गया।[3] जसवन्त सिंह पर औरंगजेब ने यह आरोप लगाया कि वह गुप्त रूप से शिवाजी से मिला था और इसी कारण शिवाजी को शायस्ता खाँ पर आक्रमण करने में सफलता मिली (1663)।[4] जब औरंगजेब ने जफर खाँ और महावत खाँ को शिवाजी की शक्ति को कुचलने का निर्देश दिया तो महावत खाँ ने उत्तर दिया कि इसके लिए सेना की अपेक्षा काजी का एक 'फतवा' अधिक उपयुक्त होगा।[5]

इसी प्रकार ईरानी मुगल अमीर, जो शिया धर्म के मनाने वाले थे, गोलकुण्डा जैसे शिया राज्य को नष्ट होते नहीं देख सकते थें। मुगल अमीर दक्षिण में विस्तारवादी नीति के समर्थक नहीं थे। यही कारण है कि जब जय सिंह ने मराठों को कुचलने के लिए एक शक्तिशाली सेना की मांग की तो उसके प्रस्ताव को सम्राट ने स्वीकार नहीं किया। जयसिंह बीजापुरी अमीरों के बीच मतभेद पैदा करना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने सिफारिश की कि बीजापुरी अमीरों को मुगल प्रशासन में नियुक्त करके उनकी पदोन्नति की जाय, परन्तु औरंगजेब ने इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया।[6] अन्त में न तो जयसिह और न तो उसके आलोचक अमीरों की नीति सफल

---

1 वही।
2. अतहर अली, आपसिट, पृ० 103
3. खाफी-खां, जिल्द 2, पृ० 300-301
4. वही पृ० 316
5. वही, पृ० 216-17
6. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, जिल्द 4, पृ० 120-21; खाफी खां, जिल्द 2, पृ० 184

हो सकी। जब सम्राट ने एक साथ मराठों, बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध सैनिक अभियान चलाया तो मुगल साम्राज्य के प्रायः सभी साधन समाप्त हो गये और उसकी बड़ी क्षति हुई।[1] औरंगजेब 25 वर्षों तक दक्षिण में रहा। अमीर इतने अधिक समय तक अपने घरों से दूर रहते हुए ऊब चुके थे। वे उत्तर भारत लौटने के लिए व्यग्र थे। दिल्ली स्थानान्तरण के लिए बहरमन्द खाँ सम्राट को 1 लाख रुपया नजर देने के लिए तैयार था,[2] परन्तु औरंगजेब ने इसे अस्वीकार कर दिया। ऐसी परिस्थिति में मुगल अमीर निष्ठा के साथ सम्राट का साथ नहीं दे सके और वे शत्रु से भी मिल जाते थे। यही कारण था कि औरंगजेब का विश्वास अमीरों पर से उठ गया था और उसे स्वयं सैन्य संचालन करना पड़ा।[3]

दक्षिण में नियुक्त मुगल अमीर सम्राट के प्रति निष्ठावान नहीं थे। समय-समय पर उन्हें याद दिलाया जाता था कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करें।[4] भीमसेन ने लिखा है कि अमीरों को मराठों से गुप्त समझौता करना, उनसे युद्ध करने की अपेक्षा अधिक लाभप्रद था।[5] मनूची ने इस सन्दर्भ में दाऊद खाँ पन्नी का दृष्टांत दिया है, जिसने मराठों से गुप्त समझौता किया।[6] ऐसी परिस्थिति में राजदरबार में अमीरों की आपसी दलबन्दी और एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र देखने को मिलते थे। मुहम्मद मुराद खाँ और तरबीयत खाँ में कटुता थी। सैय्यद लश्कर खाँ और जुल्फिकार खाँ नुसरत जंग के बीच वैमनस्य था।[7] ऐसी परिस्थिति में अमीरों ने मुगल साम्राज्य के हितों को ध्यान में न रख कर अपने स्वार्थ के लिए कार्य किया। इसका एक मात्र कारण यह था कि अमीरों को विश्वास हो गया था कि औरंगजेब की दक्षिणी नीति सफल नहीं होगी। इस सन्दर्भ में 1700 ई० में मनूची ने लिखा है कि 'मुगल साम्राज्य' में जो घटनाएँ हो रही हैं उन पर आश्चर्य व्यक्त नहीं किया जा सकता। सम्राट उसके परिवार के सदस्य, गवर्नर्स और सेनापति सभी के अलग-अलग दृष्टिकोण

---

1. अतहर अली, आपसिट, पृ० 106
2. मासिरुल उमरा, जिल्द 1, पृ० 457
3. मनूची, जिल्द 4, पृ० 115
4. अतहर अली, आपसिट, पृ० 107-8
5. दिलकुशा, फेरुलियो 140 ए-बी, उद्धृत वही, पृ० 108
6. मनूची, जिल्द, 4, पृ० 98, 228-29
7. अतहर अली, आपसिट, पृ० 108

हैं और वे अपनी व्यक्तिगत योजनाओं को सफल बनाने के उद्देश्य से काम कर रहे हैं।[1]

औरंगजेब के शासन के अन्तिम समय में अमीरों में दो महत्वपूर्ण दल हो गये, जिन्हें 'ईरानी दल' और 'तूरानी दल' कहा जाता था। ईरानी दल में प्रमुख अमीर असाद खाँ और उसके पुत्र जुल्फिकार थे। तूरानी दल के विशिष्ट अमीर गाजीउद्दीन खाँ, फीरोज जंग और उसके पुत्र चिन किलिच खाँ थे।[2] ईरानी दल को एक 'पारिवारिक और व्यक्तिगत दल की' संज्ञा दी गई, जो सम्राट् के प्रति निष्ठावान् था। असाद खाँ और जुल्फिकार खाँ के अतिरिक्त इस दल के दूसरे सदस्य थे दाऊद खाँ पन्नी, दलपत राव बुन्देला, राम सिंह हाड़ा। उनके मनसब इस प्रकार थे—

असाद खाँ	—	7000/7000
जुल्फिकार खाँ	—	6000/6000
दाऊद खाँ पन्नी	—	6000/6000
दलपत राव बुन्देला	—	3000/3000
राम सिंह हाड़ा	—	3000/1500

इस प्रकार इस दल का कुल मनसब औरंगजेब की मृत्यु के समय 25000/23500 था।[3] गाजीउद्दीन खाँ फीरोज जंग का दल 'वर्ग प्रधान पारिवारिक दल' था, क्योंकि इसके सभी सदस्य तूरानी थे।[4] इस दल के सदस्यों के मनसब इस प्रकार थे—

गाजीउद्दीन खाँ फिरोज जंग	—	7000/7000
चिन किलिच खाँ	—	5000/5000
मुहम्मद अमीन खाँ	—	4000/1500
हमीद खाँ	—	2500/1500
रहीमुद्दीन खाँ	—	1500/600

इस प्रकार इस दल के सदस्यों का मनसब कुल मिलाकर 20000/15600 था, जो कि ईरानी दल के सदस्यों से कम था।[5] इन दोनों दलों के सदस्यों को

1. मनूची, जिल्द, 2, पृ० 270
2. सतीशचन्द्र, पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट, पृ० 6
3. अतहर अली, आपसिट, पृ० 109
4. सतीश चन्द्र, आपसिट, पृ० 9
5. सतीश चन्द्र, आपसिट, पृ० 9

विशेषता यह थी कि ये लोग दक्षिण की राजनीति में बहुत रुचि रखते थे। ये अमीर बहुत लम्बे समय तक मराठों के विरुद्ध सैनिक अभियानों से सम्बद्ध थे। यही कारण था कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के युद्ध में वे आजम का साथ देने के लिये उत्तर भारत जाने के लिये तैयार नहीं हुये।[1]

इन दोनों दलों के अमीरों में दक्षिण की समस्याओं के समाधान के लिये सहमति नहीं थी। ईरानी दल मराठों के प्रति उदार नीति का पक्षपाती था। जुल्फिकार खाँ के परम सहयोगी दाऊद खाँ पन्नी ने मराठों से गुप्त एक समझौता किया और इसीलिये जब वह कर्नाटक का गवर्नर था उसने मराठों की शक्ति को कुचलने के लिये कोई कार्यवाही नहीं की (1705)।[2] एक फ्रान्सीसी विद्वान् मार्टिन ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि जुल्फिकार खाँ मराठों से मिलकर दक्षिण में अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहता था।[3] इसके विपरीत तूरानी दल मराठों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने के पक्ष में था। गाजीउद्दीन फीरोज जंग, जो इस दल का प्रमुख सदस्य था, मराठों से किसी प्रकार के समझौते का विरोधी था। वह महत्वाकांक्षी था। सम्राट् के प्रति निष्ठावान् नहीं था। वह अपनी सैनिक सफलताओं के आधार पर दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य बनाने का प्रयास कर रहा था। औरंगजेब उसके प्रति सशंकित था। इशरदास ने लिखा है कि गाजीउद्दीन फीरोज जंग के अन्धापन के लिये सम्राट् स्वयं उत्तरदायी था। उसी के आदेश से डाक्टरों ने फीरोज जंग को अन्धा किया।[4] इन दोनों दलों के अमीरों की आपसी प्रतिस्पर्धा और वैमनस्य के कारण मुगल साम्राज्य में विकट स्थिति उत्पन्न हो गई। औरंगजेब अपने उद्देश्यों में सफल हो सकता था, यदि सभी अमीर मिलकर उसका साथ देते।[5] यह महत्वपूर्ण है कि गाजीउद्दीन फीरोज जंग और उसके समर्थकों ने औरंगजेब की दक्षिणी नीति का तो समर्थन किया, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह जान लिया था कि सम्राट् दक्षिण में अपने उद्देश्यों में पूर्णतया विफल होगा। अन्त में उसके पुत्र चिन किलिच खाँ ने दक्षिण में अपना एक स्वतन्त्र राज्य बना लिया।

---

1. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 572
2. मनूची, जिल्द 4, पृ० 98, 2 28-29; मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 403
3. उद्धृत यदुनाथ सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, जिल्द 5, पृ० 101
4. फतूहाते आलमगीर, फोलियो 145 ए० बी०, उद्धृत अतहर अली, आपसिट, पृ० 111
5. अतहर अली, आपसिट, पृ० 111

परवर्ती मुगल सम्राटों के अन्तर्गत अभिजात वर्ग

औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिलते ही मुहम्मद आजम ने अपने को सम्राट् घोषित किया। अमीरों को सम्मानित किया, उन्हें उपाधियाँ और जागीरें दीं, जिससे गृह-युद्ध में अमीरों का समर्थन उसे मिलता रहे। असाद खाँ और जुल्फिकार खाँ ने प्रारम्भ में आजम का साथ दिया।[1] आजम ने बुरहानपुर पहुँचने पर तूरानी दल के अमीरों से सहयोग देने को कहा, परन्तु मुहम्मद अमीन खाँ और चिन किलीच खाँ ने उसके साथ उत्तर भारत जाने से इनकार कर दिया।[2] आजम इन अमीरों को वहीं छोड़कर मुअज्जम से संघर्ष के लिये आगे बढ़ा। मुअज्जम (शाहआलम) की सहायता मुनीम खाँ ने की। मुनीम खाँ ने तुरन्त मुअज्जम को जमरूद में औरंगजेब की मृत्यु का समाचार भेजा। मुनीम खाँ ने फातुल्हा खाँ और उसके सहायक जाँनिसार खाँ को आगरा प्रस्थान करने के लिये निर्देश दिया, जिससे कि वे लोग मुअज्जम के पुत्र अजीमुखशान से मिलकर अपनी स्थिति आगरे में सुदृढ़ कर लें। परन्तु फातुल्ला खाँ ने जिसे 5000/5000 का मनसब मिला हुआ था, आगरा जाने से इनकार कर दिया। अन्त में जानिसार खाँ आगरे की तरफ रवाना हुआ।[3]

जजाऊ के युद्ध (जून 1707) में पराजित होने के बाद जुल्फिकार खाँ ने आजम को सलाह दी कि वह कुछ समय के लिए युद्ध-स्थल से पीछे हट कर पूरी तैयारी करे और फिर वह मोर्चा ले। आजम ने इसे अपमानजनक समझा और जुल्फिकार खाँ को बुरा भला कहा, जिससे उसने आजम का साथ छोड़ दिया।[4] जुल्फिकार के हटने से आजम की स्थिति कमजोर हो गई और अन्त में वह मुअज्जम के विरुद्ध लड़ाई में हार गया और मारा गया। रुस्तम दिल खाँ ने आजम का कटा हुआ सिर मुअज्जम के सामने इस आशा से रखा कि उसे बड़ा इनाम मिलेगा, परन्तु मुअज्जम इस हृदय विदारक दृश्य को नहीं देख सका। उसने तुरन्त सम्मान के साथ उसे दफ़नाने का आदेश दिया।[5] इस विजय के बाद मुअज्जम बहादुर शाह के नाम से मुगल सम्राट् बना (1707-12)।

गद्दी पर बैठने के बाद उसने अमीरों को इनाम दिया। मुनीम खाँ को 'खाने

1. इरविन, दि लेटर मुगल्स, जिल्द 1, पृ० 11
2. इलियट, जिल्द 7, पृ० 391
3. वही।
4. इलियट, जिल्द 7, पृ० 398-99
5. वही, पृ० 546-47, 549

खाना' और बहादुर जफर जंग को 'यार ये वफादार' की उपाधियाँ दीं। उसे 1 करोड़ रुपया नक़द मिला। उसका मनसब बढ़ा कर 7000/7000 कर दिया गया और उसे वजीर का पद दिया। बहादुर शाह ने अपने चारों पुत्रों को 30000/20000 का मनसब दिया।[1] बहादुर शाह ने एक फरमान जारी करके असाद खाँ, जुल्फीकार खाँ और हमीदुद्दीन को ग्वालियर से बुलाया। ये अमीर युद्ध के समय आजम का साथ छोड़कर ग्वालियर चले गये। बहादुर शाह ने इन अमीरों को सुरक्षा का आश्वासन दिया और कहा कि वे अपने साथ आजम के परिवार की महिलाओं को भी साथ लेते आवें।[2] असाद खाँ को 'निजामुलमुल्क आसफुद्दौला' की उपाधि और 'वकीले मुतलक' का पद दिया गया तथा उसे नगाड़े बजाने का विशेषाधिकार भी दिया गया। जुल्फिकार खाँ को 7000/7000 का मनसब 'सम्सुद्दौला अमीरुल बहादुर नुसरत जंग' की उपाधि और मीर बख्शी का पद मिला।[3]

काम बख्श ने दक्षिण में अपने को स्वतंत्र शासक घोषित किया। उसने अहसान खाँ को 'बख्शी' का पद और हाकिम मुहसीन को वजीर का पद और 'तकर्रब खाँ' की उपाधि दी। कामबख्श ने बहादुर शाह के समझौते के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। जुल्फीकार खाँ को कामबख्स के विरुद्ध भेजा गया। कामबख्श और उसके दो लड़के घायल अवस्था में बहादुर शाह के सामने लाये गये। कुछ समय बाद कामबख्श और उसके लड़के फीरोजमन्द की मृत्यु हो गई।[4] इस प्रकार बहादुर शाह ने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित किया। जो अमीर आजम और कामबख्श के समर्थक थे उन्हें बहादुर शाह ने अपनी तरफ मिला लिया और उनके विरुद्ध बदले की कोई कार्यवाही नहीं की। सबसे अधिक लाभ जुल्फिकार खाँ को मिला। वह अमीरुलउमरा; मीरबख्शी और दक्षिण के वाइसराय के पद पर था।[5] दक्षिण का प्रशासन सुचारु रूप से चलने के लिए उसने अपने एक सहायक दाऊद खाँ पन्नी की नियुक्ति की, जो उसके नाम से प्रशासन का कार्य चलाता था। वह स्वयं दरबार में रहता था।[6]

---

1. वही, पृ० 401-2
2. इलियट, जिल्द 7, पृ० 401
3. वही, पृ० 402
4. वही, पृ० 407-8
5. वही, पृ० 402
6. सियारुलमुतखरीन, अनुवाद ब्रिग्स, पृ० 14-15

समकालीन इतिहासकारों का कहना है कि सम्पूर्ण मुगल इतिहास में एक अमीर को एक साथ तीन बड़े पद नहीं दिये गये। बहादुर शाह ने सैय्यद भाइयों—सैय्यद अब्दुल्ला खाँ और सैय्यद हुसेन अली को सम्मानित किया, क्योंकि उन्होंने जजाऊ के युद्ध में उसकी सहायता की थी।[1] अब्दुल्ला खाँ को इलाहाबाद और हुसेन अली को अजीमाबाद (पटना) की फौजदारी दी गई। जफर खाँ को बंगाल और उड़ीसा के सूबे दिये गये। बहादुर शाह की विशेषता यह थी कि उसने किसी अमीर की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं किया।[2] उसने अमीरों को जागीरें, उपाधियाँ और ऊँचे पद उनकी योग्यता को बिना ध्यान में रखकर दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन उपाधियों और पदोन्नति का कोई महत्व नहीं रहा।[3] बहादुर शाह और उसके वजीर मुनीम खाँ का झुकाव शिया मत की तरफ था, इसीलिये उसने खुतबा में परिवर्तन कर दिया और 'वसी' शब्द को खुतबे में जोड़ दिया। खुतबा पढ़ने की इस संशोधित विधि से सुन्नी अमीरों की भावनाओं को ठेस पहुँची। हाजी यार मुहम्मद ने इसका तीव्र विरोध किया। बहादुर शाह इस पर क्रुद्ध हुआ और उसे धमकी दी,[4] परन्तु इसका कोई उसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ा। हाजी यार मुहम्मद का समर्थन अफगान अमीरों और नगर के 1 लाख लोगों ने किया। यहाँ तक कि सम्राट के पुत्र अजीमुशशान ने भी हाजी यार मुहम्मद का समर्थन गुप्त रूप से किया।[5] इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अहमदाबाद और अन्य स्थानों में दंगे हुये। अन्त में विवश होकर बहादुर शाह ने आदेश दिया कि खुतबा उसी ढंग से पढ़ा जाय जैसे उसके पिता औरंगजेब के समय में पढ़ा जाता था।[6]

बहादुर शाह की मृत्यु के बाद (1712) अभिजात वर्ग के विभिन्न दल आपस में सत्ता के लिए होड़ करने लगे। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य एवं निकम्मे निकले। शासक अमीरों के हाथ की कठपुतली बन गये। वे अमीरों के इच्छानुसार ही कार्य कर सकते थे। जब भी अमीर चाहते थे एक शासक को हटा कर दूसरे को गद्दी पर बैठा देते थे। औरंगजेब की मृत्यु से लेकर पानीपत की तीसरी लड़ाई तक (1707-61)

1. वही।
2. वही।
3. वही, पृ० 15, 16
4. इलियट, जिल्द 7, पृ० 427
5. इलियट, जिल्द 7, पृ० 428
6. वही।

राजकीय परिवार के दस सदस्यों ने सम्राट का पद ग्रहण किया। यह स्वाभाविक रूप से नहीं हुआ। जहाँदरशाह (1712-13) और फरूखसियर (1713-19) को अमीरों ने गला घोंट कर मार डाला।[1] रफीउद्दारजात (1719) और नेकसियर (1719) की मृत्यु जेल में हुई और रफीउद्दौला (1719) की मृत्यु उसके गद्दी पर बैठने के तीन महीने बाद बीमारी के कारण हो गई। मुहम्मद शाह (1719-48) का शासन अपेक्षाकृत कुछ लम्बे समय तक रहा और उसकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई। सुल्तान इब्राहीम (शाहजहाँ द्वितीय–1720) को केवल कुछ ही दिनों के लिये अमीरों के एक वर्ग ने सम्राट बनाया। अहमदशाह (1748-54) को गद्दी से हटाकर अन्धा कर जेल में डाल दिया गया। आलमगीर द्वितीय (1754-59) की हत्या की गई। शाह आलम द्वितीय (1759-1806) को अपमानित करके राजधानी से भगा दिया गया।[2] अतः स्पष्ट है कि अमीरों की गतिविधियों के कारण राजनैतिक कुव्यवस्था फैल गई थी।

खाफी खाँ के अनुसार बहादुर शाह की मृत्यु के एक सप्ताह के बाद उसके चारों लड़कों के बीच साम्राज्य विभाजन सम्बन्धी एक समझौता हो गया था।[3] जिसके अन्तर्गत जहाँशाह को दक्षिण, रफी उसशान को मुल्तान, थट्ठा और कश्मीर और शेष साम्राज्य अजीमउसशान और जहाँदरशाह के बीच बराबर बटवारों के रूप में मिलना था, परन्तु राजकोष के सम्बन्ध में सहमति न होने के कारण समझौता भंग हो गया और अमीरों के हस्तक्षेप के कारण गृह युद्ध की तैयारी हो गई।[4] अजीमुसशान के विरुद्ध तीनों भाई संघर्ष के लिये तैयार हो गये। अजीमुसशान की पराजय हुई, जिसका एक कारण यह भी था कि वह घमण्डी और लालची था तथा अपने सैनिकों को समय पर वेतन नहीं भुगतान करता था।[5]

जुल्फिकार खाँ ने अजीमुशशान की मृत्यु के बाद जहाँदर शाह का समर्थन किया। जहाँशाह और रफीउशशान को नष्ट करने के लिए जुल्फिकार खाँ ने सैनिक अभियान चलाये। जहाँशाह और उसका पुत्र फरखुन्द अख्तर जान से मारे गये।[6]

1. श्रीराम शर्मा, मुगल एम्पायर इन इण्डिया, पृ० 697
2. वही पृ० 697-98
3. इरविन, आपसिट, पृ० 135
4. वही, पृ० 160-61
5. वही, पृ० 161
6. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 182

रफीउशशान भी मारा गया उसके तीन पुत्रों, मुहम्मद इब्राहीम, रफीउद्दौला और रफीउद दारजात को बन्दी बना लिया गया। इस गृह युद्ध के कारण बहादुरशाह के मृत शरीर को दफनाने में देर हुई।

सम्राट बनने के बाद जहाँदर शाह ने अमीरों को मनसब और उपाधियाँ दीं। असाद खाँ को वकीले मुतलक के पद पर बने रहने दिया गया। अली मुराद कोकल्टश खाँ को जो जहाँदर शाह का व्यक्तिगत नौकर था, 'खाने जहाँ' की उपाधि दी गई और उसे 'मीर बख्शी' का पद मिला। इखलसखाँ को 'दीवानेतन' का पद और जुल्फिकार खाँ के मन्त्री सभाचन्द को 'राजा' की उपाधि और दिवाने खालसा का पद दिया गया।[1] हिदायत अल्ला खाँ को 'मीर समन' का पद और 'सादुल्ला खाँ' की उपाधि, सैय्यद राजी मुहम्मद खाँ को 'मीर आतिश' का पद, ख्वाजा हुसेन को 'खाने कौरों' की उपाधि और द्वितीय बख्शी का पद मिला।[2] कोकल्टश खाँ के भाई मुहम्मद शाह जफर खाँ को 'आजम खाँ' की उपाधि और आगरे की सूबेदारी दी गई। लुतफुल्ला खाँ सादिक पानीपती को जिसने जहाँ शाह का साथ छोड़ दिया था और 30 लाख रुपया सम्राट् को भेंट देकर क्षमा प्राप्त की थी, जहाँदर शाह के पुत्र अजुद्दीन को 'दीवान' बनाया गया।[2] इनायतउल्ला खाँ कश्मीरी को कश्मीर का गवर्नर पूर्ववत बना रहने दिया गया और जबरदस्त खाँ को 'अली मर्दां खाँ' की उपाधि और लाहोरे के गवर्नर का पद मिला।[4]

जहाँदर शाह ने अपने भाइयों के सैनिकों को शाही सेना में सम्मिलित नहीं किया। मीर ईशाक (अमीर खाँ का पुत्र) ख्वाजा मुजफ्फर, ख्वाजा फखरुद्दीन और लुतफुल्ला के नेतृत्व में हजारों ऐसे सैनिक बिहार और बंगाल की तरफ बढ़ रहे थे। परन्तु कुछ सैनिक अधिकारियों को जहाँदर शाह ने बन्दी बना लिया था जिनमें प्रमुख थे मुनीम खाँ का पुत्र महावत खाँ, हमीदउद्दीन खाँ आलमगीरी, सरफराज खां बहादुर शाही, रहमान यार खाँ, इहतिमाम खाँ, अमीनुद्दीन खां सम्भाली। रुस्तम दिल खाँ, मुखलिस खाँ और जानी खाँ को जो जहाँशाह के समर्थक थे मृत्युदण्ड देने का आदेश दिया गया परन्तु अजुद्दीन के कहने पर जानी खाँ को छोड़कर सभी को मृत्यु दण्ड मिला। रुस्तम दिल खाँ की 12 लाख रुपये की सम्पत्ति को अब्दुल समद खाँ को दे

1. वही, पृ० 186
2. वही।
3. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 187
4. वही।

दिया गया।[1] जहाँशाह के दो पुत्रों हुमायूँ और मुहम्मद करीम को भी बन्दी बनाया गया। मुहम्मद करीम ने जेल से भागने का प्रयास किया। उसे पकड़ा गया और जुल्फिकार खाँ के हवाले कर दिया गया। जुल्फिकार खाँ ने उसे तीन दिनों तक अपने घर में बन्द रखा और उसे खाना पानी नहीं दिया। जब उसे जान से मारा जा रहा था उसने कुछ रोटी और पानी माँगा, जुल्फिकार खाँ ने उसे अस्वीकार कर दिया। उसे मृत्यु दण्ड दिया गया।[2]

जहाँदर शाह आमोद प्रमोद का जीवन व्यतीत करने लगा। उसने लालकुँवर जो नाचने गाने वाले परिवार की स्त्री थी, से विवाह किया। दरबार में अधिकतर लाल कुँवर के सम्बन्धियों को ऊँचा पद दिया गया। रात में जहाँदर शाह के साथ उसके घर वाले मदिरा पान करते थे और शराब के नशे में सम्राट् को घूंसों और लातों से पीटते थे।[5] लाल कुँवर के इन्हीं सम्बन्धियों को ऊँचा मनसब दिया गया। विशिष्ट अमीरों की उपेक्षा की गई। जब गाने बजाने वालों को जागीरें दी जाने लगीं तो अमीरों ने इसे अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा। लाल कुँवर के भाई नियामत खाँ कलावन्त को मुल्तान प्रान्त का सूबेदार बनाया गया।[4] जुल्फिकार खाँ ने जानबूझकर आगरे की सूबेदारी के कागजात तैयार करने में देर की। खुशाल खाँ ने इसकी शिकायत जहाँदर शाह से की। जब सम्राट् ने जुल्फिकार से देरी का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि खुशाल खाँ ने उसे रिश्वत के रूप में 1000 गिटार नहीं दिये इससे उसने सूबेदारी से संबन्धित कागजात नहीं दिये। जब जहाँदरशाह ने पूछा कि इतनी बड़ी संख्या में उसे गिटारों की क्या आवश्यकता थी तो जुल्फिकार ने उत्तर दिया कि, 'जब सम्राट् अमीरों के सारे पद गाने बजाने वालों को दे दे रहे हैं तो अमीरों के पास कोई काम नहीं रहेगा और वे गिटार बजायेंगे।'[5] जहाँदरशाह मुस्कराया और जुल्फिकार खाँ का संकेत समझ गया और खुशाल खाँ को आगरे की सूबेदार देने का

1. वही, पृ० 188, 189
2. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 190
3. सम्राट यह सब अपमान इसलिये सहता था कि कहीं लालकुँवर नाराज न हो जाय—वही, पृ० 196
4. वही, पृ० 193
5. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 193

प्रस्ताव वहीं समाप्त हो गया।[1] कामवर खाँ ने अमीरों की स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है 'उल्ल गिद्ध के घोसले में रहने लगा और कौवे ने बुलबुल का स्थान ले लिया।'[2]

दरबार की प्रतिष्ठा गिर गई। अनुशासन सम्बन्धी सभी नियम भंग हो गये। लोगों के हृदय से सम्राट् का भय समाप्त हो गया। दरबार में नाच रंग, हँसी मजाक का कार्यक्रम चलने लगा। ऐसी परिस्थिति में सैय्यद भाइयों, अब्दुल्ला खाँ और हुसेन अली के समर्थन से अजीमुशशान के फरुखसियर को मुगल सम्राट् बनाने की तैयारी की गई। सैय्यद भाइयों को पहले ही प्रशासन में ऊँचा स्थान मिला था अजीमुशशान के ही कारण बहादुरशाह के समय में हुसेन अली को 1708 ई० में बिहार के प्रशासन में प्रमुख स्थान मिला। अब्दुल्ला खाँ को 1711 में इलाहाबाद का नायब गवर्नर बनाया गया सैय्यद भाइयों ने अजीसशशान के इस एहसान का बदला उसके लड़के फरुखसियर को समर्थन देकर किया। सबसे पहले हुसेन अली ने फरुखसियर की मां को आश्वासन दिया कि वह जहाँदरशाह के स्थान पर उसके लड़के को मुगल सम्राट् बनाने का प्रयास करेगा। जहाँदर शाह ने सैय्यद अब्दुल्ला खाँ से इलाहाबाद का सूबा वापस लेकर गर्वेजी सैय्यद को दिया और उसके नायब सूबेदार खाँ को किले पर अधिकार करने के लिए भेजा। परन्तु अब्दुल्ला खाँ ने किले पर अधिकार करने वाली सेना को पराजित किया। जहाँदर शाह ने बिगड़ती हुई स्थिति को सँभालने का प्रयास किया और एक फरमान द्वारा अब्दुल्ला खाँ का मनसब 4000 से बढ़ाकर 6000 कर दिया और अनेक सम्मानजनक उपाधियाँ उसे दीं। परन्तु अब्दुल्ला खाँ जहाँदरशाह के व्यवहार से दुखी था और उसने फरुखसियर को समर्थन देने का निश्चय किया।[3]

सैय्यद भाइयों के समर्थन से फरुखसियर ने जहाँदर शाह को पराजित किया और वह सम्राट् बना। जहाँदर शाह और जुल्फिकार खाँ को मृत्यु दण्ड दिया गया। सैय्यद अब्दुल्ला खाँ को 'नवाब कुतबुलमुल्ला' और 'यामिनउद्दौला' की उपाधियाँ और वजीर का पद दिया गया। उसके छोटे भाई हुसेन अली खाँ को 'उमदातउल-

---

1. वही।
2. अमीरों के शानदार महलों को सम्राट् ने अपने अधिकार में ले लिया। और उन्हें लालकुँवर के रिश्तेदारों को दे दिया गया। इसका वर्णन कामवर खाँ ने व्यंगात्मक ढंग से किया।
3. इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 208

मुल्क', 'अमीरउल उमरा बहादुर' और 'फिरोज जग सिपह सरदार' की उपाधियाँ और 'मीर बख्शी' का पद मिला। मुहम्मद बाकिर मुतामिद खाँ को 'दीवाने खालसा' का पद, लुतफुल्ला खाँ बहादुर सादिक को 'दीवाने तन' मुहम्मद अमीन खाँ चिन बहादुर को द्वितीय बख्शी का पद और 'इतिमादउद्दौला नुसरत जंग' की उपाधि, अफरासयाब खाँ बहादुर को तृतीय बख्शी का पद कमरुद्दीन खाँ बहादुर को अहादियों के बख्शी का पद दिया गया।[1] इस्लाम खाँ को जिसे बहादुर शाह के समय में 5000/3000 का मनसब प्राप्त था, 'मीर तुजाक' का पद दिया गया और उसे पुराना मनसब फिर से मिला। फरुखसियर ने अपने व्यक्तिगत सहायकों को छोटे पदों पर नियुक्त किया—सैफुल्ला खाँ बहादुर को 'दीवाने बयुतात' का पद ख्वाजा आसीम को 'सम्सुद्दौला', 'खाने दौरान' की उपाधियाँ दी गईं। मीर जुमला को 'मुतामिद-उलमुल्क' 'मुअज्जम खाँ' और 'खाने खाना' की उपाधियाँ दी गईं।[2] चिन किलिच खाँ को गृह युद्ध में तटस्थ रहने पर सम्मानित किया गया। उसे दक्षिण के सभी 6 सूबों का सूबेदार बनाया गया और उसे 'खाने खाना', 'निजामुलमुल्क', 'बहादुर' और 'फाकजंग' की उपाधियाँ दी गई।[3] हैदरअली खाँ को दक्षिण का 'दीवान' और दाऊद खाँ पन्नी को अहमदाबाद का 'सूबेदार' बनाया गया।[4]

कुछ समय के बाद सैय्यद भाइयों और फरुखसियर के बीच मतभेद हो गया सैय्यद भाई प्रशासन में अपना प्रभुत्व चाहते थे, क्योंकि उनके समर्थन से ही फरुख-सियर मुगल सम्राट् बना था। सम्राट् के सहायक अमीर सैय्यद भाइयों को सत्ता से हटाने के लिए षड्यन्त्र कर रहे थे और इसमें फरुखसियर की सहमति थी। सैय्यद भाइयों ने इसे अपमान जनक समझा। वे राजनीति में मीर जुमला के निरन्तर हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सके।[5]

मीर जुमला, सम्राट् का इतना विश्वास पात्र था कि वह कहा करता था कि मीर जुमला के हस्ताक्षर मेरे हस्ताक्षर है। इस प्रकार सभी अमीरों का उसके आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ता था। मीर जुमला के अतिरिक्त मुहम्मद मुराद ने भी सम्राट् के ऊपर अपना प्रभाव जमा लिया था। बहादुर शाह के समय इसे 1000

1. वही, पृ० 258-59
2. 'मसिर उलउमरा', जिल्द 3, पृ० 711; इरविन, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 267-68
3. मासिरुल उमरा, जिल्द 3, पृ० 120, 875-83
4. इरविन, जिल्द 1, पृ० 262-63
5. इलियट, जिल्द 7, पृ० 443

का मनसब और 'वकालत खाँ' की उपाधि मिली हुई थी। फरुखसियर ने इसका मनसब 1000 से बढ़ाकर 7000 कर दिया और इसे 'रूकनुद्दौल्ला' इतिकाद खाँ फरूख शाही की उपाधि दी। सम्राट् इसे सैय्यद अब्दुल्ला खाँ के स्थान पर वजीर बनाना चाहता था। जबकि सभी ईरानी और तूरानी अमीरों को पता चला कि एक निम्न वर्ग के व्यक्ति को वजीर बनाने की कोशिश की जा रही है तो वे निराश हो गये।[1] फरुखसियर ने गुप्त रूप से अजीत सिंह और दाऊद खाँ पन्नी को पत्र लिखे, कि वे हुसैन अली की शक्ति को कुचल दे।[2] इसी बीच अब्दुल्ला खाँ की हत्या के लिए भी षड्यन्त्र किया गया परन्तु इसका पता वजीर को लग गया और उसने अपनी रक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही की।[3] सैय्यद भाइयों को सम्राट् द्वारा लिखे गये गुप्त पत्रों के विषय में जिनमें उन्हें नष्ट करने की योजना बनाई गई थी, पूरी जानकारी मिल गई। अन्त में सैय्यद भाइयों ने फरुखसियर को गद्दी से हटाने का निश्चय किया। उन्होंने महल को घेर लिया और फरुखसियर को पकड़ कर मार डाला और उसके स्थान पर रफीउद्दारजात को मुगल सम्राट् बनाया (मई, 1719)। परन्तु यक्ष्मा की बीमारी के कारण वह केवल 6 महीने 10 दिन तक जीवित रहा उसकी मृत्यु के बाद सैय्यद भाइयों ने रफीउद्दौला को मुगल सम्राट् बनाया और उसको शाहजहाँ द्वितीय के नाम से सम्बोधित किया। सैय्यद भाइयों ने सम्राट पर पूर्ण नियन्त्रण रखा। बिना उनकी अनुमति के कोई भी अमीर सम्राट् से नहीं मिल सकता था और वह नमाज पढ़ने भी नहीं जा सकता था। हिम्मत खाँ को सम्राट् का संरक्षक नियुक्त किया गया। रफीउद्दौला की मृत्यु आमाशय की खराबी के कारण लगभग तीन महीने में हो गई (सितम्बर, 1719)। इरविन के मतानुसार रफीउद्दारजात और रफीउद्दौला की मृत्यु में सैय्यद भाइयों का हाथ नहीं था। उनकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई।[4]

सैय्यद भाइयों ने जहाँशाह के लड़के मुहम्मद रोशन अख्तर को सम्राट् बनाने का निश्चय किया, जिसे मुहम्मद शाह (1719-48) के नाम से मुगल सम्राट् घोषित किया। इसने कभी भी अमीरों के रक्तपात के लिए अपनी स्वीकृत नहीं दी। लोग आराम से जीवन व्यतीत करने लगे। वाह्य रूप से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा

1. इलियट, जिल्द 7, पृ० 449-50
2. एलफिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 684
3. सैय्यद भाइयों ने दरबार, किले और अपने निवासस्थान पर सैनिकों को अपनी सुरक्षा के लिए रखा (इलियट, जिल्द 7, पृ० 449-50)।
4. इरविन, जिल्द 1, पृ० 430-320

बढ़ी ।[1] कुछ समय बाद सम्राट और सैय्यद भाइयों के बीच मतभेद हो गया । उनके पतन में सम्राट और निजामुलमुल्क का हाथ था ।

सैय्यद भाइयों ने अमीरों और विद्वानों के साथ अच्छा व्यवहार किया । हुसेन अली खाँ को उदारता में हातिम की संज्ञा दी गई ।[2] उसने निर्धनों और असहायों की सहायता की । सैय्यद भाइयों ने राजपूतों और मराठों के प्रति उदार नीति अपनाई । परन्तु सैय्यद अब्दुल्ला खाँ से अमीर रुष्ट हो गये । उसने वजीर के पद का कार्य अपने सहयोगी रतनचन्द्र पर छोड़ दिया, जिसने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया । वह बिना रिश्वत लिये कोई कार्य नहीं करता था । अब्दुल्ला खाँ व्यसनी हो गया था और अपना सारा समय हरम में बिताने लगा ।[3] अमीर वजीर के विरोधी हो गये और उसके हटाने के लिए षड्यन्त्र करने लगे । वे दोनों भाइयों को अलग-अलग कर उन्हें नष्ट करने की योजना बनाने लगे ।

जिस समय हुसेन अली दक्षिण के लिए रवाना हुआ, वहाँ उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया । इस षड्यन्त्र में सम्मिलित प्रमुख अमीर थे मुहम्मद अमीन खाँ, हैदरकुली खाँ (मीरे आतिश) अबुल गफूर, मीर जुमला, सैय्यद मुहम्मद अमीन, सादात, खाँ और मीर हैदर बेग दगलत । अमीरों के इस दल को सम्राट और उसकी माँ का समर्थन प्राप्त था । हैदर बेग नें सैय्यद हुसेन अली की हत्या कर दी (अक्टूबर,1720) । इस घटना के बाद मुहम्मद अमीन खाँ हुसेन अली के सैनिक अधिकारियों से मिले और उन्हें अपनी तरफ मिला लिया ।[4] सम्राट ने मुहम्मद अमीन खाँ का मनसब बढ़ाकर 8 हजार कर दिया । खाने दौरान को भी 8 हजार का मनसब मिला । मुहम्मद अमीन के पुत्र कमरुद्दीन खाँ को 7 हजार का मनसब, हैदरकुली खाँ को 6 हजार का मनसब और सादात खाँ को 5 हजार का मनसब दिया गया ।[5]

जब हुसेन अली की हत्या का समाचार सैय्यद अब्दुल्ला खाँ को मिला उसने मुहम्मद शाह को गद्दी से उतारने का निश्चय किया । उसके स्थान पर उसने रफीउशशान के पुत्र मुहम्मद इब्राहीम को मुगल सम्राट बनाने की योजना बनाई, क्योंकि यही एक उपाय था जिससे वह अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर सकता था ।

---

1. यदुनाथ सरकार, फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर, जिल्द 1, पृ० 9-10
2. इलियट, जिल्द 7, पृ० 519-20
3. वही, पृ० 481; देखिये, इरविन, जिल्द 1, पृ० 416-17
4. इरविन जिल्द 2; पृ० 66
5. वही ।

अब्दुल्ला खाँ ने इब्राहीम शाह के नाम से उसे मुगल सम्राट् बनाया (15 अक्टूबर, 1720)[1] । उसने इस नये सम्राट् से 'गाजीउदगालिबजंग' की उपाधि, मीर बख्शी का पद और 8 हजार का मनसब प्राप्त किया । ऐसे अमीर जो रफीउद्दारजात के समय से जेल में बन्द थे उन्हें छोड़ दिया गया और मनसब दिया गया, अब्दुल्ला खाँ ने उन्हें निर्देश दिया कि वे एक सेना तैयार करें और 80 रु० प्रति माह प्रति सैनिक के वेतन के हिसाब से उनकी भर्ती करें । इस प्रकार 30 या 40 हजार रुपया इस कार्य के लिए उन्हें अग्रिम धन दिया गया ।[2] कुछ ही समय में 90 हजार घुड़सवारों की सेना को अब्दुल्ला खाँ ने तैयार कर ली, जिसमें लगभग 15 हजार ऐसे सैनिक थे जिन्हें युद्ध का अनुभव नहीं था ।

मुहम्मद शाह को जब अब्दुल्ला खाँ की इन कार्यवाहियों का पता चला तो उसने उसका सामना करने के लिए शाही सेना भेजी, जो यमुना नदी के किनारे शाहपुर नामक स्थान पर पहुँच गई । 3 दिन के युद्ध में अब्दुल्ला खाँ पराजित हुआ (12-14 नवम्बर, 1720) और हैदरकुली द्वारा पकड़ कर मुहम्मद शाह के सामने हाथी पर बैठा कर लाया गया ।[3] मुहम्मद इब्राहीम भी पकड़ कर लाया गया, परन्तु उसे क्षमा कर दिया गया, क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं था । बाद में उसे शाहजहाँबाद के किले में नजरबन्द कर दिया गया और 40 रु० प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता मिला । अब्दुल्ला खाँ को जेल में बन्द किया गया, जहाँ उसकी मृत्यु 1722 ई० में हो गई । इब्राहीम की मृत्यु 1746 ई० में हुई । मुहम्मद शाह को इस प्रकार सैय्यद भाइयों के चंगुल से छुटकारा मिला । सैय्यद भाइयों के पतन के बाद मुगल दरबार में तूरानी दल के अमीरों का उदय हुआ, जिनका प्रमुख नेता निजामुल-मुल्क था ।[4]

मुहम्मद शाह ने सैय्यद भाइयों के पतन के बाद अमीरों को सम्मानित किया । सादत अली खाँ को, जो बयाना का फौजदार था, आगरे का सूबा मिला । मुहम्मद खाँ बंगाश को, जिसने सैय्यद अब्दुल्ला खाँ का साथ छोड़ दिया था, इलाहाबाद का सूबा दिया गया । मुहम्मद अमीन खाँ को वजीर का पद मिला परन्तु दुर्भाग्य से उसकी मृत्यु हो गई (जनवरी 1721) और इस रिक्त स्थान के लिए खाने दौरान और वजीर

1. वही, पृ० 76
2. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 720
3. इरविन, जिल्द 2, पृ० 82-83
4. सियारुलमुतखरीन, ब्रिग्स, पृ० 128

के पुत्र कमरुद्दीन खाँ के बीच वैमनस्य हो गया।[1] अन्त में निजामुलमुल्क को वजीर का पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया गया। वजीर बनने के बाद निजामुलमुल्क को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रशासन में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर थी। सम्राट् कोकी नामक एक स्त्री और हाफीज खिदमतगार खाँ जैसे एक निम्न श्रेणी के व्यक्ति के हाथों की कठपुतली बन गया था। ये दोनों अमीरों से 'पेशकश' लेकर सीधे सम्राट् से उन्हें जागीरें और ऊँचे मनसब दिला देते थे, जिसकी कोई जानकारी वजीर को नहीं रहती थी। निजामुलमुल्क ने इस रिश्वतखोरी को समाप्त करने की कोशिश की। वजीर का विरोध खाने दौरान, कोकी और हाफीज खिदमतगारखाँ ने किया। सम्राट् और उसके नवयुवक सहयोगी 50 वर्षीय वजीर का मजाक उड़ाने लगे।[2] निजामुलमुल्क का विरोध केवल दरबार में ही नहीं परन्तु कुछ प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा भी होने लगा, जिनमें गुजरात का गवर्नर हैदरकुली खाँ था। हैदरकुली निजामुलमुल्क की उपेक्षा करने लगा और स्वतन्त्र होने का प्रयास करने लगा।

निजामुलमुल्क ने हैदरकुली के विरुद्ध अभियान चलाया (नवम्बर 1722)। हैदर कुली ने इस स्थिति से बचने के लिये अपने समर्थक अमीरों से सम्राट पर दबाव डालने के लिये कहा। इस कार्य के लिये उसने अमीरों को रिश्वत दी और अपने समर्थक काजिम खाँ को सम्राट के पास भेजा। इसी बीच निजाम स्वयं अहमदाबाद पहुँच गया (फरवरी 1723)। हैदर कुली पागलपन के बहाने वहाँ से भागा। निजाममुलमुल्क ने गुजरात पर अधिकार कर लिया और हमीद खाँ को अपना नायब बना कर उसे सुपुर्द कर दिया।[3] वजीर ने मालवा में अपने चचेरे भाई अजीमुउल्ला खाँ को मालवा का नायब गर्वनर बनाया (मई 1723)। जब वजीर वापस दरबार आया तो उसने दरबार में पहले से अधिक भ्रष्टाचार देखा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रशासन से सुधार करना सम्भव नहीं है।[4] खुशहाल चन्द ने लिखा है कि दरबार में प्रत्येक व्यक्ति मुख्य मन्त्री या राजस्व विभाग का प्रशासक था।[5] कुछ अमीर दुरंगी चाल चलते थे। एक तरफ तो वे निजामुलमुल्क को मुहम्मद शाह का गद्दी से हटाने की बात करते थे और दूसरी तरफ जाकर कहते थे कि वजीर सैय्यद भाइयों की तरह

1. इरविन, जिल्द 2, पृ० 104-5
2. सियारुलमुखरीन, ब्रिग्स, पृ० 216-17
3. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 763
4. इरविन, जिल्द 2, पृ० 131
5. वही, पृ० 130

महत्वाकांक्षी और सम्राट् के लिये खतरनाक था। अन्त में निराश होकर निजामुल-मुल्क ने सम्राट् से छुट्टी लेकर अपने परिवार के साथ अपनी जागीर सम्भल और मुरादाबाद के लिये रवाना हो गया। कुछ समय के बाद उसने सम्राट् को लिखा कि वह दक्षिण जा रहा है, क्योंकि मालवा और गुजरात पर मराठों के आक्रमण का भय था। अन्त में वह औरंगाबाद पहुँच गया (अगस्त 1714)।

दरबार में निजामुलमुल्क को सत्ता से हटाने के लिये अमीरों ने उन्हीं तरीकों का प्रयोग किया, जिनका उन्होंने सैय्यद भाइयों के विरुद्ध इस्तेमाल किया था। मुबारिज खाँ को निजामुलमुल्क के विरुद्ध भेजा गया, परन्तु निजामुलमुल्क ने जबाबी कार्यवाही की और सम्राट् की यह योजना असफल रही। जिस समय सम्राट् को यह पता चला उसने तुरन्त एक फरमान जारी करके निजामुलमुल्क की दक्षिण में नियुक्ति स्थायी कर दी और मुबारिज खाँ का अजीमाबाद (पटना) स्थानान्तरण कर दिया। परन्तु सम्राट् का यह आदेश मुबारिज खाँ को देर से मिला और संघर्ष हो गया, जिसमें मुबारिज खाँ मारा गया (अक्टूबर 1724)।[1] इस युद्ध के बाद निजमुलमुल्क ने हैदराबाद में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की (1725)।

निजामुलमुल्क के दरबार से अनुपस्थित रहने से राज्य में अराजकता की स्थिति हो गई। सम्राट आमोद-प्रमोद में डूबा रहा। अमीरों की इस दलबन्दी से राजपूतों और मराठों ने लाभ उठाया।[2] मुगल सम्राट् ने सोचा कि राज्य में शासन और व्यवस्था केवल निजामुलमुल्क ही स्थापित कर सकता था, इसीलिये लगभग 12 वर्षो बाद उसे राजधानी बुलाया गया (1737)। उसके लड़के नाजीउद्दीन खाँ फीरोज जंग को आगरा और मालवा का गवर्नर बनाया गया। मुगल साम्राज्य का विघटन होने लगा। मीर मुहम्मद अमीन, सादत खाँ बुरहानुलमुल्क ईरानी दल का नेता था और वह निजामुलमुल्क का प्रतिद्वन्द्वी था। स्वयं एक सैय्यद होते हुए उसने हुसेन अली खाँ की हत्या करने के षड्यन्त्र में भाग लिया। उसे इस कार्य के लिये इनाम मिला और उसे 5हजार/3हजार का मनसब और 'सादत खाँ बहादुर' की उपाधि दी गई। दो वर्षों (1720-22) तक वह आगरा का गर्वनर था और फिर उसका मनसब बढ़ाकर 6हजार/5हजार कर दिया गया।[3] जाटों के विरुद्ध उसकी असफलता

1. इलियट, जिल्द 7, पृ० 527
2. इरविन, जिल्द 2, पृ० 242-43
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, दि फर्स्ट टू नवाब्स ऑफ अवध, लखनऊ, 1933, पृ० 72

पर सम्राट् ने क्रुद्ध होकर उसे अवध का गर्वनर बनाया (1722)। सादत खाँ दिल्ली की राजनीति में भाग लेना चाहता था अतः उसने अपने भतीजे और दामाद सफदर जंग को अवध में अपना नायब नियुक्त किया (1724) और वह दिल्ली चला आया। उसने मराठों को उत्तर भारत में अपनी शक्ति का प्रसार नहीं करने दिया (1732)। सादत खाँ ने आगरे के समीप मराठों को पराजित किया (मार्च 1737)। अपनी इस सफलता के विषय में सादत खाँ ने बढ़ा चढ़ाकर विवरण सम्राट् के पास भेजा, जिस पर दरबार के अमीरों ने विश्वास नहीं किया।[1]

नादिर शाह का आक्रमण (1739) दरबार में अमीरों की दलबन्दी और भ्रष्ट केन्द्रीय प्रशासन के कारण हुआ। करनाल की लड़ाई (1739) में मुगलों की पराजय पुराने अस्त्र-शस्त्र और पुरानी युद्ध-कला के कारण नहीं हुई बल्कि मुगल अमीरों में एकता और नेतृत्व की कमी के कारण।[2] नादिर शाह और मुगल सम्राट् के बीच समझौता-वार्ता में भी इन अमीरों ने एक दूसरे को आपसी वैमनस्य के कारण नीचा दिखाने का प्रयास किया। निजामुलमुल्क ने 50 लाख रुपये के भुगतान पर नादिर शाह को भारत से लौट जाने पर सहमत कर लिया था, परन्तु सादत खाँ ने नादिर शाह से कहा कि इस धनराशि के भुगतान के लिये निजामुलमुल्क को वह बन्धक बना ले और दिल्ली चले जहाँ उसको और धन मिलने की सम्भावना थी।[3]

दिल्ली पहुँचने पर नादिर शाह ने नागरिकों का रक्तपात किया और अमीरों को अपमानित किया। सादत खाँ इस अपमान को सहन न कर सका और उसने आत्महत्या कर ली।[4] नादिर शाह के हाथ असीम धनराशि लगी, जिसे वह अपने साथ ले गया। अफगानिस्तान, पंजाब, काश्मीर और सिन्ध पर उसका अधिकार हो गया और वहाँ मुगलों का प्रशासन समाप्त हो गया। लाहौर के गर्वनर ने अलग से प्रतिवर्ष 20 लाख रुपया नादिर शाह को देने का आश्वासन दिया।

मुहम्मद शाह के बाद उसका पुत्र अहमद शाह (1748-54) गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य था। उसने अपना शासन प्रबन्ध जावेद खाँ को सौंप दिया। जावेद खाँ शाही हरम की देखभाल करता था। वह पढ़ा लिखा नहीं था, परन्तु अहमद शाह ने

---

1. वही, पृ० 72
2. इरविन, जिल्द 2, पृ० 350-52
3. श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 61-75; इरविन, जिल्द 2, पृ० 354-60
4. वही, पृ० 75

उसे दीवाने खास के दरोगा का पद और 6 हजार का मनसब दिया ।[1] राज्य प्रशासन में कुव्यवस्था फैल गई । गाजउद्दीन ने वजीर का पद सँभाला (जून 1754) । उसने अमीरों की सभा बुलाई और कहा कि सम्राट को गद्दी से उतार देना चाहिये, क्योंकि वह मराठों का सामना नहीं कर सकता और न उसमें शासन करने की क्षमता थी । अमीरों ने तुरन्त अपनी सहमति दी और अहमद शाह गद्दी से उतार दिया गया और उसे अन्धा करके सलीम गढ़ के जेल में रखा गया । शाही परिवार के सदस्यों को अमीरों से इतना भय हो गया था कि वे गद्दी पर बैठने के लिये तैयार नहीं थे । अन्त में जहाँदार शाह के पुत्र अजीजुद्दीन को सम्राट् बनने के लिये बाध्य किया गया जो आलमगीर द्वितीय (1754-59) के नाम से मुगल सम्राट् बना । गाजीउद्दीन खाँ वजीर के पद पर बना रहा ।[2]

आलमगीर द्वितीय धार्मिक प्रवृत्ति का था। वह दरवेशों और फकीरों का सम्मान करता था । अमीरों ने इसे जान से मार डालने का षड्यन्त्र किया । सबसे पहले उन्होंने सम्राट् के मुख्य सलाहकार इन्तिजामुद्दौला खाने खाना की हत्या कर दी । बाद में वे कन्धार के एक दरवेश से मिलाने के बहाने आलमगीर को कोटला फीरोज शाह ले गये, जहाँ मेहद अली खाँ के नेतृत्व में हत्यारों ने सम्राट् को घेर लिया और वजीर के इशारे पर आलमगीर की हत्या कर दी गई (30 नवम्बर 1759) । उसी दिन कामबख्श के एक पौत्र को शाहजहाँ द्वितीय के नाम से मुगल सम्राट घोषित किया ।

परन्तु इसे किसी ने मान्यता नहीं दी ।[3] इसी बीच अहमद शाह दुर्रानी (अब्दाली) के आक्रमण का समाचार मिला । बादशाह बनाने वाले अमीरों को अपनी सुरक्षा के लिए भागना पड़ा । आलमगीर द्वितीय की मृत्यु का समाचार उसके पुत्र अली जौहर को पटना में मिला । उसको गद्दी पर बैठाने के लिये रोहिला सरदार नजीबउद्दौला, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और अहमदशाह अब्दाली ने प्रस्ताव किया और वह शाह आलम द्वितीय (1759-1806) के नाम से मुगल सम्राट् बना । परन्तु वह भय के कारण राजधानी नहीं आ सका । उसे 1772 ई० में मराठों के संरक्षण में राजधानी लाया गया । वह केवल नाम मात्र का सम्राट् था । मुगल साम्राज्य

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 723
2. इलियट, जिल्द 8, पृ० 323
3. वही, पृ० 184-85 । परन्तु केम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (1934) पृ० 475 के अनुसार उसे शाहजहाँ तृतीय के नाम से सम्बोधित किया गया ।

समाप्त हो चुका था। अमीर प्रान्तों में स्वतन्त्र हो चुके थे। इलाहाबाद, अवध, इटावा, शिकोहाबाद और रोहिली के प्रदेश पर नवाब वज़ीर आसफुद्दौला का अधिकार हो गया था। बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार था। दक्षिण में निजाम अली खाँ, 'हैदर नायक और मुहम्मद अली खाँ' का अधिकार था। जाटों के प्रदेश पर नजफ खाँ का प्रभुत्व था। पंजाब में सिखों का अधिकार था। जाजनगर में जबीता खाँ प्रधान था। इसी प्रकार छोटे-छोटे जमींदारों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी प्रधानता स्थापित की। मुगल सम्राट् अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों से, जिसका प्रारम्भ 1748 ई० में और अन्त 1761 में हुआ, राजनैतिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि 'मुगल साम्राज्य का आरम्भ पानीपत की लड़ाई से हुआ और अन्त भी पानीपत के युद्ध से हुआ'।[1] प्लासी (1757) और बक्सर (1764) की लड़ाइयों ने यह सिद्ध कर दिया था कि मुगल अमीर अकर्मण्य हो गये थे। विघटन की जो प्रक्रिया औरंगजेब की मृत्यु के बाद शुरू हुई वह अंगरेजों की सत्ता स्थापित होने के बाद पूरी हो गई। मुगल सम्राट् नाममात्र का रह गया। 18वीं शताब्दी के मध्य तक साम्राज्य का पूरा विघटन हो गया और धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य का स्थान ब्रिटिश साम्राज्य ने ले लिया। इस विघटन के अनेक कारणों में अमीरों की प्रतिद्वन्द्विता, स्वार्थ और नैतिक पतन का मुख्य स्थान है।

मुग़ल काल में हिन्दू अभिजात वर्ग

अकबर ने राजपूतों को प्रशासन में ऊँचे पद दिये उन्हें मनसबदारी व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान दिया। अकबर एक ही वर्ग के अभिजात वर्ग पर आश्रित नहीं रहना चाहता था[2]। वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये राजपूतों को अपनी तरफ मिलाना चाहता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने राजपूत परिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। अकबर के शासन काल में राजपूत मनसबदारों की संख्या 54 थी।[3]

सन् 1582 ई० में अकबर ने केन्द्रीय सरकार में 46 अधिकारियों की नियुक्ति की जिनमें 9 हिन्दू थे जिनमें राजा टोडरमल, राय शाल, राय दुर्गा, रायसूर्जन

1. कामदार और शाह, ए हिस्ट्री ऑफ दि मुगल रूल इन इण्डिया, पृ० 266
2. एम अतहर अली, पोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1972, पृ० 180
3. एस. आर. शर्मा दि रिलिजस पालिसी आफ दि मुगल एम्परर्स, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1962, ए० 57-59

जगन्नाथ, लुनकर्ण, असकरन, जगमल और बीरबर प्रमुख थे।[1] सन् 1586 ई० में अकबर ने 12 प्रान्तों में प्रशासनिक अधिकारियों हाकिम, दीवान, बख्शी की नियुक्ति की जिनमें दो दीवान टोडरमल (साम्राज्य के दीवान और लाहौर के दीवान के पद पर) और राय पिथीदास को बिहार का दीवान नियुक्त किया इसके अतिरिक्त एक बख्शी (सिन्ध में ताराचन्द) और 6 संयुक्त हाकिम-राजा जगन्नाथ और अजमेर के राम दुर्गा और राजा असकरन की आगरा में, राजा मानसिंह को काबुल में राजा भगवान दास और राव राय सिंह को लाहौर में नियुक्त किया।[2]

मुगल सम्राट और अभिजात वर्ग के सम्बन्धों में कभी-कभी कटुता भी देखने को मिलती थी। यद्यपि अकबर ने स्वतन्त्र हिन्दू राजाओं को अपनी तरफ मिलाने का प्रयास किया। परन्तु बिहार में अकबर ने किसी भी अभिजाल वर्ग को प्रशासन में स्थान नहीं दिया।[3] मुगल साम्राज्य में जब भी नया सम्राट गद्दी पर बैठता था हिन्दू अभिजात वर्ग प्रायः विद्रोह कर देता था। जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के समय और उसके पुत्र खुसरो के विद्रोह के कारण खड्गपुर के शासक ने विद्रोह किया और अपने को स्वतंत्र करने का प्रयास किया।[4]

मुगल शासन काल में कछवाहा राजपूतों ने सन् 1562 ई० से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया जब कि भारमल ने अपनी पुत्री का विवाह अकबर से किया। जब 1605 ई० में अकबर मृत्यु शैया पर पड़ा था कछवाहा अभिजात वर्ग में उत्तराधिकार के प्रश्न पर मतभेद हो गया। शेखावत सरदार रायसल दरबारी और उदावत सरकार रामदास सलीम का समर्थन करते थे।[5] जब कि रजावत सरदार मानसिंह और उसका भाई माधो सिंह सलीम के पुत्र खुसरो के पक्ष में थे।[6] सन् 1605 ई० में कछवाहा

---

1. अकबर नामा, जिल्द 3, पृ० 404-5
2. एस. आर शर्मा, आपसिट, पृ० 59
3. अहमद रजा खाँ—चीफटेन्स इन बिहार ट्यूरिंग दि मुगल पीरियड प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस, 1987, पृ० 197, कृपया देखिये—ए. आर. खाँ, चीफटेन्स इन दि मुगल एम्पायर ट्यूरिंग दि रेन आफ अकबर, शिमला, 1977 पृ० 173
4. अहमद रजा खाँ; आपसिट, पृ० 202
5. एस इनायत अली जैदी, प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, अलीगढ़, 1975, पृ० 180; आर. एन. प्रसाद, राजा मान सिंह आफ आम्बेर, कलकत्ता, 1966, पृ० 112-114
6. तुजुके जहाँगीरी स० सैयद अहमद खाँ, अलीगढ़, 1863-64, पृ० 26

अभिजात वर्ग का कुल मनसब-27400 जत और 22200 सवार था।[1]

जहाँगीर ने अपने शासन काल में कछवाहा अभिजात वर्ग की स्थिति को यथावत् बनाये रखा जो कि अकबर के समय में था। जहाँगीर कछवाहा राजपूतों के मनसब में बढ़ोत्तरी की जिससे कि उनका मनसब 29500 जात और 26100 सवार हो गई। परन्तु सन् 1612 ई० में जहाँगीर कछवाहा अभिजात वर्ग से अप्रसन्न हो गया और उसने उनके मनसब में कमी कर दी जिससे उनका मनसब 29500 जत। 26100 सवार से घटकर 2700 जात और 24300 सवार हो गया। सन् 1608 में सम्राट ने मानसिंह का मनसब 7000-6000 से घटाकर 5000 कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँगीर मानसिंह का कट्टर विरोधी हो गया था।[2]

मानसिंह को बंगाल के सूबेदार के पद से हटा दिया गया (जून 1606) इसके उपरान्त किसी भी कछवाहा अभिजात वर्ग को किसी महत्वपूर्ण प्रशासनिक और सैनिक पद पर नहीं रखा गया।[3] राज दरबार में जहाँगीर को सलाह दी गई कि वह कछवाहा राजपूतों के विरुद्ध उनके दुर्व्यवहार के लिये कड़ी कार्यवाही करे परन्तु उसने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसके पिता अकबर के समय में अधिक सम्मान दिया गया था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँगीर ने कछवाहा राजपूतों की स्थिति को कमजोर बनाने के लिये दुहरी नीति अपनायी जिससे इस वर्ग में आपसी फूट पैदा हो गयी।[6]

यद्यपि शाहजहाँ कट्टर धार्मिक विचारों का था और उसे मेवाड़ राज्य से युद्ध करना पड़ा उसने राजपूतों को ऊँचे मनसब दिये जिससे अभिजात वर्ग में राजपूतों की स्थिति अधिक शक्तिशाली हो गयी।[7] शाहजहाँ के शासनकाल में 241 मनसबदार

1. एस. इनायत अली जैदी, आपसिट, पृ० 180
2. वही।
3. जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में मानसिंह को पाखण्डी की संज्ञा दी है। (तुजुके जहाँगीरी, पृ० 165)।
4. प्रो० आर० पी० त्रिपाठी (राइज एण्ड फाल आल दि मुगल एम्पायर, इलाहाबाद 1958 पृ० 367-68) का मत है कि मानसिंह को बंगाल से हटाकर बिहार भेज दिया गया परन्तु तथ्य इसके विपरीत है क्योंकि उस समय बिहार का सूबेदार जहाँगीर कुली खाँ था—देखिये–तुजुके जहाँगीरी, पृ० 101
5. वही, पृ० 12-13
6. एस० इनायत अली जैदी, आपसिट, पृ० 183
7. जी० डी० शर्मा, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थायें, जयपुर, 1984 पृ० 113

1000 और इसके ऊपर श्रेणी के थे जिनमें 51 हिन्दू थे। औरंगजेब ने अपने शासन काल के प्रारम्भ में हिन्दू राजपूतों के प्रति उदारता की नीति अपनायी और उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। उत्तराधिकार के संघर्ष में उसने राजपूतों का सहयोग प्राप्त करना चाहा।[1] शाहजहाँ ने मारवाड़ के राजा जसवन्त सिंह और आमेर के राजा जय सिंह को मुगल सेनाओं का सेनापति नियुक्त किया। औरंगजेब ने धरमत के युद्ध (16 अप्रैल, 1658) में मेवाड़ के राजा राजसिंह का समर्थन प्राप्त किया। युद्ध के बाद औरंगजेब ने राजा राज सिंह का मनसब बढ़ाकर 6000 जात / 6000 सवार कर दिया और उसे पुर और मण्डल के परगन वापस कर दियें जो 1654 ई० में उससे छीन लिये गये थे इसके अतिरिक्त डूंगरपुर और बसवारा के क्षेत्र उसे इनाम के रूप में दे दिया। समूगढ़ के युद्ध में पराजय के बाद राजा जय सिंह औरंगजेब के पक्ष में हो गया। देवराई के युद्ध में महाराजा जसवन्त सिंह की संदिग्ध भूमिका को अनदेखी करते हुये औरंगजेब ने महाराजा के साथ अच्छा व्यवहार किया और उसका मनसब 7000 जात / 7000 सवार पूर्ववत बनाये रखा और उसे गुजरात की सूबेदारी दी। बूंदी के राजा छत्रसाल और कोटा के मुकुन्द सिंह औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध में मारे गये। औरंगजेब ने सम्राट बनने के बाद कोटा और बूंदी की रियासतों में उत्तराधिकार के प्रश्न पर कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया।

औरंगजेब ने राजपूतों के प्रति उदार नीति महाराजा जसवन्त सिंह की मृत्यु तक (1666) अपनायी। प्रो० अतहार अली के अनुसार 1665-1666 के बाद राजपूतों के मनसब में गिरावट आ गयी औरंगजेब ने अपने शासन के सातवें और दसवें वर्ष[3] में राजपूतों के वेतन और भत्ते में कटौती की। सामान्यतः राजपूत राजाओं की मृत्यु के बाद उनके पुत्रों के मनसब और वेतन कम कर दिये जाते थे।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1666 से 1669 ई० के काल में मुगल दरबार में राजपूत अभिजात वर्ग की स्थिति गिर गयी कोई भी राजपूत अभिजात वर्ग दरबार में नहीं रह गया और न ही मुगल सम्राट् के समीप प्रमुख राजपूत थे। राजा राम सिंह

1. एस. आर. शर्मा, रिलिजस पालिसी आफ दि मुगल एम्परर्स, पृ० 118
2. सतीश चन्द्र, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1965, जी० डी० शर्मा, राजपूत पालिटी, नई दिल्ली, 1977, पृ० 53-55
3. मुगल नौबिलिटी अण्डर औरंगजेब, बम्बई। 1970, पृ० 24
4. जी० डी० शर्मा, मध्यकालीन भारतीय पृ० 115-116

और महाराजा जसवन्त सिंह को राजधानी से बहुत दूर रखा गया। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्राट को राजपूत अभिजात वर्ग की सेवाओं की कोई आवश्यकता नहीं थी।[1]

महाराजा जसवन्त सिंह की मृत्यु (29 नवम्बर, 1678) के बाद औरंगजेब मारवाड़ राज्य को मुगल साम्राज्य में मिला लेना चाहता था जिससे सम्राट के सम्बन्ध राजपूतों से खराब हो गये। सम्राट उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त और शिया राज्यों बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना चाहता था ऐसी परिस्थिति में राजपूतों का महत्त्व मुगल दरबार में समाप्त हो गया और उनके मनसब बहुत कम कर दिये गये।

मारवाड़ के विरुद्ध औरंगजेब के युद्ध के कारण राजपूत अभिजात वर्ग की स्थिति में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ। सन् 1680-81 ई० में मुगल सेनाओं ने सिसोदिया और राठौर राजपूतों के विरुद्ध संघर्ष किया परन्तु दूसरे राजपूत सरदार औरंगजेब का समर्थन करते रहे। और मुगल प्रशासन में महत्वपूर्ण पदों पर बने रहे। सन् 1679 ई० के बाद औरंगजेब ने राठौर राजपूतों के मनसब बहाल कर दिये उन्हें 1696-97 तक प्रशासन में सम्मान के साथ रखा गया इससे पता चलता है कि औरंगजेब ने राजपूत अभिजात वर्ग को नष्ट करने को कोई नीति नहीं अपनायी यद्यपि वह राजपूतों को ऊँचा पद देने के पक्ष में नहीं था।

प्रो० एस० आर शर्मा का विचार है कि औरंगजेब के शासन काल में हिन्दू मनसबदारों की संख्या 148 होने का यह तात्पर्य नहीं है कि सम्राट ने राजपूतों के प्रति कोई उदार नीति अपनायी।[2] औरंगजेब ने इन्दर सिंह और बहादुर सिंह के मनसब को बढ़ाये जाने के अपने पुत्र की सिफारिश को अस्वीकार कर दिया।[3] औरंगजेब के दूसरे पुत्र ने जयसिंह द्वितीय को नायक सूबेदार, बनाने का प्रस्ताव रखा जिसे भी औरंगजेब ने नामंजूर कर दिया।[4]

---

1. जी० डी० शर्मा, मध्यकालीन भारतीय पृ० 116
2. एस० आर शर्मा, आपसिट पृ० 119
3. वही, पृ० 120
4. वही।

औरंगजेब ने कई राजपूतों को मदिरा के सेवन के लिये दण्डित किया।[1] औरंगजेब ने जयपुर के कछवाध राजपूतों के विरुद्ध कार्यवाही की क्योंकि वे मदिरा का सेवन करते थे (6 जून 1705) मुगल सेना राजसिंह गौड़ की जागीर राजनगर भेजी गयी जिसने मदिरा सेवन सम्बन्धो सभी बर्तनों को नष्ट कर दिया।

मुगल अमीरों की तरह राजपूत अभिजात वर्ग के लिये मृत्यु के उपरान्त उनकी सम्पत्ति जब्त करने के नियम औरंगजेब ने बनाये। महाराजा जसवन्त सिंह के ऊपर राजकोष का अधिक धन बकाया था सम्राट ने सन् 1670 में दूसरी बार महाराजा को गुजरात की सूबेदारी देते समय निर्देश दिया कि वह 2 लाख रुपया वार्षिक कर्ज की अदायगी करते रहें जब तक की पूरा ऋण अदा नहीं हो जाता।[2] राजपूत अभिजात वर्ग को मुगल अमीरों की तरह अपने अच्छे व्यवहार और चाल चलन के लिये दरबार में अपने परिवार के एक सदस्य को बन्धक के रूप में रखना अनिवार्य था।[3]

●

1. एक राजपूत मनसबदार का मदिरा सेवन के कारण तबादला कर दिया गया (20 अप्रैल 1693)। राजा मानसिंह और दूसरे राजपूतों का इसी आधार पर मनसब कम कर दिया गया (6 मई, 1702) एस० आर शर्मा आपसिट पृ० 110
2. यदुनाथ सरकार—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, कलकत्ता 1952, पृ० 150
3. वही, पृ० 160

अध्याय 4

उलेमा तथा दास प्रथा

मुस्लिम राज्य का धार्मिक स्वरूप

इस्लाम के प्रादुर्भाव के पहले अरबी समाज को 'अल जाहिलिया' (अनभिज्ञता का युग) की संज्ञा दी गई थी।[1] पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अरबों को एक भाईचारे (मिल्लत) के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया। उन्होंने सबके लिये एक धर्म चलाया, जिसे 'इस्लाम' कहा गया। प्रारम्भ में अरबों ने इस्लाम धर्म का विरोध किया, इसीलिए इस भाईचारे को पैगम्बर मुहम्मद ने एक सेना का स्वरूप दिया, जिससे इस्लाम के विरोधियों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध (जिहाद) छेड़ा जा सके और उनका दमन किया जा सके। कुरान के अनुसार पैगम्बर के निर्देश का पूर्णतया पालन अनिवार्य है।[2] इस्लामी राज्य का उद्देश्य शत्रुओं के राज्य (दारुल हर्ब) को इस्लामी राज्य (दारुल इस्लाम) में परिवर्तित करना है, जिससे मुसलमानों की प्रधानता को उस देश के रहने वाले स्वीकार कर लें।[3] इस्लाम का प्रसार उसके अनुयायियों की धार्मिक प्रेरणा और सैनिक अभियान के द्वारा किया गया।

सिद्धान्त के रूप में इस्लामी राज्य वह प्रदेश है जहाँ सभी मुसलमान एक सम्प्रदाय के रूप में खलीफा (इमाम) के अन्तर्गत रहें। खलीफा इस्लामी राज्य का प्रधान समझा जाता था। उसे जनता का प्रतिनिधि कहते थे और वह अपने अधिकार जनता से प्राप्त करता था।[4] वह पैगम्बर का उत्तराधिकारी था। उसके ऊपर इस्लाम

---

1. ये लोग मूर्तिपूजक थे और खानाबदोश का जीवन व्यतीत करते थे—डी० बी० मैकडोनल्ड, डेवलपमेन्ट ऑफ मुस्लिम थियोलॉजी, जूरिसप्रूडेन्स एण्ड कान्स्टीट्यूशनल थ्योरी, पृ० 8
2. कुरान, अध्याय 4, पृ० 90; अध्याय 5, पृ० 59
3. वही, अध्याय 8, पृ० 39; अध्याय 9, पृ० 29
4. अब्दुर रहीम, मुहम्मडन जूरिसप्रूडेन्स, पृ० 383

की रक्षा और प्रसार का दायित्व था।[1] खलीफा इस्लामी सेना का सर्वोच्च सेनापति था। इस्लामी जगत् में खलीफा के चयन की[2] व्यवस्था थी। उसे अपने उत्तराधिकारी घोषित करने का भी अधिकार प्राप्त था। परन्तु कुछ समय के बाद चयन केवल नाम मात्र के लिए होता था। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि चयन और नामांकन के सिद्धान्त में परिवर्तन हुआ। खलीफा की संप्रभुता का राज्य के कुछ विशिष्ट लोगों द्वारा स्वीकार करने को खलीफा का चयन समझा जाने लगा। चयन करने वाले सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई। अन्त में खलीफा स्वयं अपने को ही चुन लेता था। इस पद्धति से चयन का सिद्धान्त समाप्त हो गया।[3]

खलीफा के अधिकार असीमित थे। संसार में किसी प्रदेश का मुस्लिम शासक अपने को सुल्तान की उपाधि से विभूषित नहीं कर सकता था जब तक कि उसे खलीफा द्वारा मान्यता न मिल जाय।[4] खलीफा को वैधानिक, कार्यकारिणी, सैनिक और न्यायिक अधिकार प्राप्त थे।[5] इतने असीम अधिकारों से सम्पन्न होते हुए भी खलीफा के लिए इस्लामी नियम का अक्षरशः पालन करना अनिवार्य था। किसी भी परिस्थिति में वह उन नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। उस पर काजी की अदालत में मुकदमा चलाया जा सकता था।[6] इस्लामी नियम में यह व्यवस्था है कि यदि खलीफा स्वयं कानून के अनुसार कार्य न करे तो मुसलमानों को खलीफा का आदेश नहीं मानना चाहिए। विद्वानों का कहना है कि इससे कभी-कभी अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। इसलिए विधि वेत्ताओं ने सभी परिस्थितियों में खलीफा का आदेश मानने के लिए व्यवस्था दी।[7]

इस्लाम का प्रसार युद्धों में मुसलमानों की विजय प्राप्ति के बाद हुआ। इन युद्धों के कारण मुसलमानों को अतुल धन राशि मिली।[8] खलीफा उमर (634-44)

1. आई० एच० कुरेशी, दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देहली, पृ० 23
2. आरनल्ड, कैलिफेट, पृ० 72
3. रामप्रसाद त्रिपाठी, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 23
4. आरनल्ड, कैलिफेट, पृ० 101-2; कुरेशी, आपसिट पृ० 25
5. खुदाबख्श, ओरियन्ट अण्डर दि कैलिफ्स, पृ० 265, कैम्ब्रिज माडर्न हिस्ट्री, जिल्द 4, पृ० 281
6. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 5
7. मैकडोनल्ड, आपसिट, पृ० 92
8. मौलाना मोहम्मद अली, अर्ली कैलिफेट, पृ० 64

सीरिया और ईरान से प्राप्त धन को देखकर चकित रह गया और कहा कि उसे डर था कि कहीं इस धन का उपयोग आमोद प्रमोद में करके लोग विलासिता का जीवन न व्यतीत करने लगें, जो अन्त में मुसलमानों की बरबादी का कारण बने।[1]

तीसरी सदी हिजरी में मुस्लिम साम्राज्य का काफी विकास हो चुका था और क्षेत्रीय मुस्लिम शासक अधिक शक्तिशाली हो गये थे। खलीफा केवल नाम मात्र का प्रधान रह गया था। वह मुस्लिम शासकों को सुल्तान की उपाधि देता था। यदि खलीफा उसे देने से इनकार भी कर दे तो भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता था, क्योंकि क्षेत्रीय शासक बड़े शक्तिशाली थे। महमूद गजनी प्रथम शासक था जिसे खलीफा ने सुल्तान की उपाधि दी।[2]

दिल्ली के सुल्तानों ने खलीफा के प्रति केवल परम्परागत सम्मान प्रकट किया। खलीफा का अधिकार बगदाद और मिस्र से बाहर अन्य किसी इस्लामी प्रदेश पर नहीं था। उन्होंने अपने शासन को वैधानिक स्वरूप देने के लिए ही खलीफा से सनद प्राप्त की। इस सम्बन्ध में इल्तुतमिश (1211-36) ने 1229 में खलीफा मुस्तसिर से सनद प्राप्त की। उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसका अनुकरण किया। दिल्ली के सुल्तानों को खलीफा के विषय में कोई अधिक जानकारी नहीं थी। खलीफा मुस्तसिम की मृत्यु 1258 में हो गयी थी, पर उसका नाम भारतीय सिक्कों पर नासिरुद्दीन महमूद (1246-65), गयासुद्दीन बलबन (1265-87), मुइज़ुद्दीन कैकुबाद(1287-90) और जलालुद्दीन खल्जी (1290-96) के समय में खुदवाया जाता रहा। अलाउद्दीन खल्जी ने 'यामिनुलफिलाफत'[3] और नासिर अमीरुल मुमिनीन'[4] की उपाधियाँ ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक (1325-51) और फीरोज तुगलक (1351-88) ने खलीफा से सनद प्राप्त की।[5]

1. मौलाना मोहम्मद अली, आपसिट, पृ० 64
2. आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 9; परमात्माशरण, इस्लामिकपालिटी, पृ० 7 प्रो० मोहम्मद हबीब का कहना है कि खलीफा ने सुल्तान की उपाधि देने से महमूद गजनी को इनकार कर दिया था। लेकिन यह असंगत प्रतीत होता है। (सुल्तान महमूद ऑफ गजनी, पृ० 22)
3. खलीफा का दाहिना हाथ।
4. मुसलमानों के सर्वोच्च सेनापति का सहायक।
5. मुहम्मद तुगलक ने खलीफा मुस्तकफी से सनद प्राप्त की। यद्यपि मुस्तकफी की मृत्यु 1340 में हो गई, उसका नाम 1342 और 1343 में भारतीय सिक्कों पर खुदवाया जाता रहा।

कुछ समय के बाद प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने राज्य प्रशासन में इस्लामी नियमों का परित्याग कर दिया। खलीफा उस समय इतना शक्तिशाली नहीं था कि विघटनकारी शक्तियों का मुकाबला कर सके। इब्न खल्दून के अनुसार खलीफा हारुन अल रशीद (786-809) के बाद सभी खलीफा केवल नाममात्र के रह गये।[1] बहुत से मुस्लिम शासकों ने स्वयं खलीफा की उपाधि ग्रहण की।[2] ऐसा विश्वास किया जाता है कि शासकों का खलीफा की उपाधि ग्रहण करना किसी नये सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं था। आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण मुस्लिम शासकों ने अपनी प्रतिष्ठा और गौरव को ऊँचा करने के उद्देश्य से खलीफा की उपाधि ग्रहण की।[3] इब्न खल्दून ने उदार दृष्टिकोण अपनाया है और इसे न्यायोचित बतलाया है। उसका कहना है कि मुस्लिम राज्य के विकास के कारण अकेले खलीफा प्रशासकीय कार्य सँभालने में असमर्थ था, इसीलिए उन प्रदेशों में मुस्लिम शासकों का खलीफा के अधिकार ग्रहण करना पूर्णतया वैधानिक था।[4]

सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम के अन्तर्गत अरबों के आक्रमण (711–13) का शासन प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रारम्भ में मुहम्मद बिन कासिम ने देबल में अपनी विजय शत्रु के देश में एक मुस्लिम विजेता के रूप में मनाई। इस्लाम न स्वीकार करने वाले वहाँ के निवासियों को तलवार के घाट उतारा। कुछ समय के बाद उसने विचार किया कि क्षेत्रीय लोगों के प्रति उदार नीति अपनाना श्रेयस्कर होगा। इसी नीति के अन्तर्गत उसने हिन्दुओं के प्रति आंशिक सहिष्णुता का परिचय दिया।

महमूद गजनी का भारत के विरुद्ध सैनिक अभियानों (999–1030) का इस्लामी शासन व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उसका उद्देश्य भारत से केवल धन प्राप्त करना था। मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी को तराई के युद्ध में विजय (1192) प्राप्त करने से उसे भारत में एक स्थायी मुस्लिम राज्य स्थापित करने में

---

1. आरनल्ड, कैलीफेट, पृ० 107
2. भारत में सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खल्जी (1316–20) ने 'खलीफाये अज्मा' की उपाधि ली।
3. आरनल्ड, कैलीफेट, पृ० 119
4. आरनल्ड, कैलीफेट, पृ० 119

सफलता मिली। भारत में मुस्लिम राज्य एक धर्मतन्त्र था।[1] परन्तु डॉ० कुरेशी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि सुल्तान को अधिक आदर और सम्मान देने में हिन्दू और मुस्लिम परम्पराओं में कोई अन्तर नहीं है।[2] परन्तु डॉ० कुरेशी का मत असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने भारत के प्रत्येक मुस्लिम शासक की सराहना की है।[3] प्रो० मोहम्मद हबीब ने भी भारत में इस्लामी राज्य को धर्मतन्त्र नहीं स्वीकार किया है।[4] उनका कहना है कि धर्मतंत्र के लिए एक विधान की आवश्यकता होती है[5] जबकि ऐसा कोई विधान नहीं था। इस्लामी राज्य धार्मिक कानून (शरियत) पर आधारित नहीं था परन्तु बादशाह के द्वारा बनाये हुए नियमों (जवाबित) के अनुसार प्रशासन चलाया जाता था।[6] ऐसी परिस्थिति में प्रो० हबीब के अनुसार इस्लामी राज्य धर्मतंत्र नहीं कहा जा सकता। तथ्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि भारत में इस्लामी राज्य धर्मतंत्र था।[7]

डॉ० कुरेशी का कहना है कि मुस्लिम राज्य में कोई धार्मिक वर्ग नहीं था और जितने भी विधिवेत्ता थे वे साधारण व्यक्ति थे जो भूल न करने का दावा नहीं कर

---

1. जे० एन० सरकार, हिस्ट्री आफ औरंगजेब, जिल्द 3, पृ० 296–97; आर० पी० त्रिपाठी, आपसिट, पृ० 2; के० एम० अशरफ, आपसिट, 1-24; टी० पी० ह्यूम्स, डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृ० 711; इनसाइक्लोपीडियो ऑफ इस्लाम, जिल्द 1, पृ० 959; ए० एम० श्रीवास्तव, अकबर दि ग्रेट, जिल्द 2, पृ० 3
2. आई० एच० कुरेशी, आपसिट, पृ० 43, 47; देखिये मुहम्मद अजीज अहमद का लेख 'थियोक्रेसी वर्सस आटोक्रेसी', जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 18, भाग 3, दिसम्बर, 1939
3. देखिये पी० हार्डी, हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन, सम्पादित सी० एच० फिलिप्स, पृ० 302
4. पोलिटिकल थ्योरी ऑफ दि देलही सल्तनत, इन्ट्रोडक्शन, पृ० vi
5. इसकी व्याख्या के लिए देखिये दि चेम्बर्स ट्वेन्टियथ सेन्चुरी डिक्शनरी, 1947; पृ० 1005
6. देखिये जी० एन० कर्जन, पार्शिया एण्ड दि पर्शियन क्रिश्चियंस, जिल्द 1, पृ० 509. आर्थर जेफरी, रीडर आन इस्लाम, दि हेग, 1963, पृ० 254; के० एस० लाल, स्टडीज इन मेडीवल इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 44
7. मो० हबीब, आपसिट, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 5

सकते थे।[1] प्रो० निजामी का भी यही विचार है कि इस्लामी राज्य में कोई वंशानुगत धार्मिक वर्ग नहीं था।[2] उनका यह कथन कुछ हद तक ठीक हो सकता है क्योंकि विधिवेत्ताओं के पदों पर विशेषज्ञों की कहीं-कहीं नियुक्ति नहीं की गई।[3] कुछ छिटपुट दृष्टान्तों को छोड़कर मध्ययुगीन भारत में विधिवेत्ता धर्माधिकारी और विद्वान वर्ग के थे, जिन्हें उलेमा कहा जाता था[4] और जिनकी प्रधानता सल्तनत काल में राज दरबारों में रही। ये उलेमा वर्ग के लोग कट्टर और अनुदार थे। डॉ० यूसुफ हुसेन ने लिखा है कि उच्चस्तरीय शिक्षा देने वाले मदरसों में शिक्षा का आधार धार्मिक था। ये मदरसे राज्य सरकार द्वारा संचालित किये जाते थे और वे उलेमा के मुख्य केन्द्र थे।[5]

विधिवेत्ताओं, इस्लामी कानून की व्याख्या करने वालों और मुस्लिम शासकों के सलाहकारों की नियुक्ति धर्मशास्त्र की संस्थाओं के विद्वानों में से की जाती थी।[6] इब्नहसन ने लिखा है कि 'शरीयत' को संरक्षण देने के दो स्वरूप हैं—प्रथम, 'शरा' के ज्ञान को संरक्षण देना और द्वितीय, राज्य में इस्लामी कानून (शरीयत) का कार्यान्वित किया जाना। पहले से अभिप्राय यह है कि ऐसे विद्वानों का होना जो इस ज्ञान को प्राप्त करने और प्रसार करने में संलग्न हों और दूसरे से तात्पर्य है कि इन्हीं विद्वानों में से राज्य सम्बन्धी सभी कार्यों में बादशाह के सलाहकार की नियुक्ति करना। वे विद्वान जो इस ज्ञान की प्राप्ति में रत रहते हैं थे उन्हें 'उलेमा' और जो राजा के सलाहकार के रूप जो चुने जाते थे उन्हें 'शेखुलइस्लाम' कहा जाता था।[7] हेनरी ब्लाकमैन ने लिखा है कि इस्लाम में किसी राज्य में धर्माधिकारी की व्यवस्था नहीं है, परन्तु

1. आई० एच० कुरेशी आपसिट, पृ० 43
2. सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दि थर्टीन्थ सेन्चुरी, पृ० 150
3. मुहम्मद तुगलक ने इब्नबतूता को दिल्ली के काजी पद पर नियुक्त किया जब कि इब्नबतूता ने स्वयं स्वीकार किया कि वह कानून नहीं जानता और इस पद के लिए योग्यता नहीं रखता। (ईश्वरीप्रसाद—ए हिस्ट्री ऑफ करौना टर्क्स, पृ० 339)
4. आलिम (जो ज्ञानी हो) का बहुबचन 'उलेमा' है।
5. यूसूफ हुसेन, आपसिट, पृ० 71
6. वही।
7. इब्नहसन, दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 255-56

उलेमा वर्ग में क्रमबद्ध पदाधिकारी मिलते हैं जिनमें से प्रान्तों में 'सद्र', 'मीरअदल', 'मुफ्ती' और 'काजी' की नियुक्ति की जाती थी। दिल्ली और आगरा में ये धर्माधिकारी कट्टर सुन्नी होते थे, जिनका मुख्य उद्देश्य सम्राट् पर अपना प्रभाव बनाये रखना था।[1] उलेमा बहुत शक्तिशाली होते थे। मुस्लिम शासकों में केवल अलाउद्दी खल्जी और अकबर ने उनको नियंत्रित रखा।[2] सिद्धान्त रूप में उलेमा का यह उत्तरदायित्व था कि राजनैतिक परिवर्तनों की उपेक्षा करते हुए धार्मिक संस्थाओं को ज्यों का त्यों बनाये रखें।[3] एक तरफ उलेमा धार्मिक क्रिया-कलापों में, मसजिदों और मदरसों के निर्माण में और दान की समुचित व्यवस्था में अपना योग देते थे, दूसरी तरफ उन धार्मिक संस्थाओं पर अपने द्वारा नियुक्त किये गये अधिकारियों के माध्यम से नियंत्रण रखते थे।[4]

उलेमा का प्रमुख उद्देश्य इस्लामी सम्प्रदाय की एकता बनाये रखना था। इस कार्य में वे किसी तरह के जातिभेद को स्थान नहीं देते थे और वे अपना कार्य करने में राजनीतिक संस्थाओं से पूर्णतया स्वतंत्र थे। उलेमा का यह कर्त्तव्य था कि वे ज्ञान प्राप्त करने में रत रहें और इस्लामी कानून का प्रभाव क्षेत्र बढ़ायें। राज्य की तरफ से प्रार्थना व अन्य धार्मिक समारोहों में भी उलेमा की प्रधानता थी।[5]

उलेमा वर्ग की राजनीति में भूमिका

इस्लाम में धार्मिक श्रेणी में कई वर्गों के लोग सम्मिलित हैं जैसे धर्माचार्य,

---

1. ब्लाकमैन, आइने अकबरी, द्वितीय संस्करण, पृ० xxxii-xxxiii
2. वही।
3. गिब एन्ड बीवेन, इस्लामिक सोसाइटी एण्ड दि वेस्ट, जिल्द 1, भाग 2, पृ० 80
4. इन अधिकारिकी में 'काजी' और 'मुहतसिब' प्रमुख थे। काजी विद्वान और विधिवेत्ता होने के कारण प्रशासनिक विभागों पर नियन्त्रण रखता था और वह उलेमा और सरकार के मध्य एक शृंखला की तरह था। मुहतसिब न्याय विभाग का एक सहायक अधिकारी था, जो दैनिक जीवन में अपराध करने पर लोगों को दण्ड देता था। (वही)
5. गिब एण्ड बीवेन, आपसिट, पृ० 80
   भारतीय राजनीति में उलेमा की भूमिका के लिए देखिये सी० एच० फिलिप्स सम्पादित 'पालिटिक्स एण्ड सोसाइटी इन इण्डिया', लन्दन 1963, पृ० 41-46

सन्त, सैय्यद, पीर और उनके वंशज ।[1] धर्माचार्य, जो राज्य में न्याय और धार्मिक विभागों में उच्च पदों पर आसीन थे, दस्तस्वन्दन (पगड़ी धारण करने वाले) कहे जाते थे क्योंकि वे सिर पर पगड़ी बाँधते थे ।[2] सैय्यद को कुला दारन कहा था, क्योंकि वे सिर पर कुला (नोकीली टोपी) पहनते थे ।[3] राज्य में ये धर्माचार्य और सैय्यद इस्लाम में रूढ़िवादी विचारधारा के प्रतिपादक थे । ये लोग इस्लाम में सुन्नी और हनाफी कानून के समर्थक थे । ये सभी लोग चौथे खलीफा अली और उन सभी व्यक्तियों का, जो पैगम्बर मुहम्मद साहब से सम्बन्धित थे, आदर करते थे । परन्तु इन लोगों ने शियायों के विरुद्ध अधिक समय तक धार्मिक उत्पीड़न की नीति अपनायी ।[4] केवल मुगल काल में ईरानियों के बढ़ते हुए प्रभाव और मुगल सम्राटों की उदार नीति के कारण शियायों का धार्मिक उत्पीड़न समाप्त हुआ ।[5]

सल्तनत काल

सल्तनत काल में उलेमा मुस्लिम बहुत प्रभावशाली रहे । वे पैगम्बर के उत्तराधिकारी समझे जाते थे । पैगम्बर साहब का कहना है कि सभी अच्छे बादशाह और अभिजात वर्ग के लोग उलेमा के निवास स्थान पर जाते थे । बादशाहों का स्थान उलेमा के बाद आता था ।[6] प्रो० निजामी का कहना है कि कोई व्यक्ति, जिसको धार्मिक ज्ञान प्राप्त था, उसे 'आलिम' कहा जाता था ।[7] सभी उलेमा का आदर करते थे, परन्तु उनके दोषों और अपराधों की कड़ी आलोचना करते थे । लोगों का विश्वास था कि 'अपढ़ व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके पाप भी उसके साथ समाप्त हो जाते हैं,

---

1. के० एम० अशरफ; आपसिट; पृ० 67
2. ये लोग दस्तरबन्दन इसलिये कहे जाते थे कि इनको एक निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी जिसके अन्तर्गत इस्लामी कानून, तर्क-शास्त्र, अरबी भाषा, धार्मिक साहित्य, जैसे तफसीर हदीस, कलाम का अध्ययन करना पड़ता था । अध्ययन पूरा करने के बाद उन्हें दीक्षान्त समारोह में उपाधि वितरित की जाती थी जिसमें उन्हें पगड़ी दी जाती थी । (वही, पृ० 68) ।
3. तबकाते नासिरी; अंग्रेजी अनुवाद, रेवर्टी, पृ० 705
4. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 67
5. वही ।
6. तारीखे फखरुद्दीन मुबारक शाह, पृ०11-12
7. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 150-51

परन्तु जब किसी आलिम की मृत्यु होती है तो उसके पाप उसकी मृत्यु के बाद भी बने रहते हैं'।[1]

धन के लिए ज्ञानार्जन करना निन्दनीय समझा जाता था।[2] उलेमा का राजनीति में भाग लेना राज्य के लिए हानिकारक समझा जाता था, इब्न खल्दून के अनुसार उलेमा राजनैतिक समस्याओं के समाधान में सर्वथा अयोग्य थे।[3] शेख फरीद ने मुफ्फितयों और काजियों का उल्लेख करते हुए कहा था कि धार्मिक कानून का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य उसके अनुसार कार्य करना था न कि लोगों को तंग करना।[4] कुरान में उलेमा को मुस्लिम समाज में पृथक् श्रेणी में रखा गया है और उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे अच्छाई के मार्ग पर चलेंगे। इसके अतिरिक्त कुरान में उलेमा वर्ग के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं है।[5] परन्तु कुछ समय बाद पैगम्बर मुहम्मद साहब की परम्पराओं में उलेमा से सम्बन्धित पैगम्बर के कथित उपदेश उनमें सम्मिलित कर लिये गये, जैसे मुहम्मद साहब का निर्देश था कि 'उलेमा का सम्मान करना चाहिए क्योंकि वे पैगम्बर के उत्तराधिकारी हैं, जो उनका सम्मान सरता है वह इस्लाम के पैगम्बर व अल्लाह का आदर करता है'।[6] ऐसी परिस्थिति में उलेमा के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार स्वाभाविक था।

उलेमा दो वर्गों में विभाजित थे—'उलेमा ए अखरात' और 'उलेमा ए दुनिया'।[7] उलमाये अखरात त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। वे अपना समय धार्मिक कृत्यों में लगाते थे। उन्हें सांसारिक ऐश्वर्य से कोई लगाव नहीं था। वे राजाओं के दरबार में धन प्राप्त करने की अपेक्षा आर्थिक कठिनाइयों में जीवन व्यतीत करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। इसके विपरीत 'उलेमा ए दुनिया' भौतिक सुख और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करना पसन्द करते थे। वे राजाओं और विशिष्ट प्रशासनिक अधिकारियों के सम्पर्क में सदैव रहते थे और राजाओं के अच्छे और बुरे

---

1. सरुरुससुदूर (पाण्डुलिपि), पृ० 26, उद्धृत के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 151
2. फवायेदुलफुवाद, पृ० 182
3. मुकद्दिमा, उर्दू अनुवाद, जिल्द 3, पृ० 216
4. सियारुल औलिया, पृ० 85
5. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 68, देखिये कुरान, 3 : 103
6. वही, आपसिट, पृ० 68
7. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 152; बर्नी, आपसिट, पृ० 154-55; देखिये आगा मेहदी हुसेन, तुगलक डायनेस्टी, पृ० 361-62, टिप्पणी।

कार्यों में अपना सहयोग देते थे।[1] इस प्रकार के उलेमा को 'उलेमा ए सू' कहा जाता था। लोग इनको अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे और मुस्लिम समाज की समस्त बुराइयों के लिए इनको उत्तरदायी समझते थे।[2]

कुछ उलेमा वर्ग के विद्वानों ने उच्चकोटि के त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया है। 'मशरिकउल अनवर' के लेखक मौलाना रजीउद्दीन हसन नायबे मुशरिफ के पद पर थे। मुशरिफ के अपमानजनक व्यवहार के कारण उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया।[3] उन्होंने आर्थिक कठिनाई का जीवन व्यतीत किया। वे अच्छे विद्वान थे। कुछ समय तक नागरिकों को उन्होंने धर्म की शिक्षा दी। इसके बाद जालोर, गुजरात और लाहौर होते हुए बगदाद चले गये, जहाँ अब्बासी खलीफा अलनासिर (1180-1225) ने उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें राज्य प्रशासन में ऊँचा स्थान दिया।[4] शेख निजामुद्दीन औलिमा के गुरु मौलाना अलाउद्दीन उसूली अत्यन्त आर्थिक कठिनाइयों में होते हुए भी अपने शिष्यों को निःशुल्क शिक्षा देते थे और किसी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं करते थे।[5] मौलाना कमालुद्दीन ज़ाहीद को पैगम्बर साहब की परम्पराओं (हदीस) का अच्छा ज्ञान था। बलबन ने उनसे इमाम के पद पर कार्य करने की प्रार्थना की, जिसको उन्होंने अस्वीकार कर दिया। मौलाना जाहीद ने अपना सारा समय 'हदीस' की शिक्षा देने में लगाया।[6] मौलाना बुरहानुद्दीन नसफी बहुत बड़े विद्वान थे जब भी कोई विद्यार्थी उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए आता था तो वे उससे केवल दिन में एक बार भोजन करने, प्रतिदिन कक्षा में आने तथा उनके पैर और हाथ न चूमने का आश्वासन लेते थे।[7] ख्वाजा शम्सुलमुल्क दूसरे उच्चकोटि के विद्वान थे जिन्होंने कुछ समय तक मुस्तौफी के पद पर कार्य किया।

---

1. बर्नी, आपसिट, पृ० 154
2. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 152
3. मुशरिफ ने एस दिन क्रोध में मौलाना पर दावात फेंक दी। उन्होंने यह कर त्याग पत्र दे दिया कि अनपढ़ों के साथ नहीं रहना चाहिए। (फवायेदुलफुवाद पृ० 103-4)
4. इन्हें इल्तुतमिश के दरबार में दूत बनाकर भेजा गया। (के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 154)
5. खैरुलमजलिस, पृ० 180
6. वही, पृ० 190-91
7. फवायेदुल फुवाद, पृ०158

कुछ समय के बाद उन्होंने अपना पद त्याग दिया और अध्यापन के कार्य में लग गये। उन्होंने भी अपने शिष्यों को प्रतिदिन कक्षा में आने के लिए बल दिया।[1] उनके शिष्यों में शेख निजामुद्दीन औलिया, काजी फखरुद्दीन नकीला और मौलाना बुरहानुद्दीन प्रमुख थे।[2] अत्यधिक आर्थिक कठिनाइयों में जीवन व्यतीत करने वाले उपरोक्त उलेमा के अतिरिक्त उलेमा वर्ग में बहुत से ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने ज्ञानार्जन में ही अपना समय लगाया। उनकी राजनीति में कोई रुचि नहीं थी और न ही उन्होंने बादशाहों के दरबार में जाना उचित समझा।[3] समाज में उनकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। यही कारण था कि बलबन ऐसे विद्वानों के निवासस्थान में जाता था। वह विद्वानों की मजारों पर जाता था और अपना आदर प्रकट करता था। विद्वान की मृत्यु पर उनकी अर्थी में सम्मिलित होता था और कभी-कभी फूट फूटकर रोता था।[4] बर्नी ने लिखा है कि बलबन ने मौलाना शरफुद्दीन वलवा जी, मौलाना सिराजुद्दीन संजारी और मौलाना नज्मुद्दीन दमिस्की को सम्मानित किया।[5] मौलाना बुरहानुद्दीन मल्ख और मौलाना बुरहानुद्दीन बजाज ने भी अपना सारा समय अध्ययन में लगाया।[6] इनके विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती।[7]

शेख निजामुद्दीन औलिया ने तीन प्रमुख विद्वानों का उल्लेख किया था, जो सन्तों की तरह जीवन व्यतीत करते थे। उनके नाम हैं : मेरठ के मौलाना शिहाबुद्दीन, मौलाना अहमद और मौलाना कैथाली।[8] तेरहवीं सदी में कुछ विशिष्ट उलेमा थे, मौलाना नूर तुर्क, मौलाना निजामुद्दीन, अबुल मुवय्यद और शेख शिहाबुद्दीन खातिब, जिन्होंने अपना जीवन संसारिक वैभव को त्याग कर शैक्षणिक कार्यों में लगाया।[9] मौलाना नूर तुर्क ऐसे उलेमा से घृणा करते थे। जो भौतिक सुख प्राप्त करने के इच्छुक रहते थे। उनके चरित्र की प्रशंसा शेख फरीद गंजएशकर ने की है। मौलाना

1. वही, पृ० 67-68
2. वही।
3. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 156
4. बर्नी, आपसिट, पृ० 46-47
5. वही।
6. वही, पृ० 111
7. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 157
8. फवायेदुल फुवाद, पृ० 65-67
9. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 157

तुर्क प्रतिदिन एक दांग में अपना जीवन निर्वाह करने थे, जो उनका गुलाम उन्हें देता था, जिसे दासता के बन्धन से मुक्ति मिल गई थी।[1] जब रजिया ने कुछ सोने की मुद्राएँ भेंट कीं, तो उन्होंने उन्हें अस्वीकार दिया।[2]

शेख जलालुद्दीन तबरीजी ने एक बार बदायूँ के काजी से कहा कि 'उलेमा की सबसे बड़ी अभिलाषा एक मुतवल्ली (अध्यापक) बनने की होती है। यदि वह इससे ऊँचा पद चाहता है तो किसी नगर में काजी होना और उसकी सबसे बड़ी इच्छा 'सद्रए जहाँ' के पद की प्राप्ति होती है।[3] 'काजी ए ममालीक' का पद न्याय विभाग से सबसे ऊँचा था। उसी के अनुमोदन पर राज्य में विभिन्न स्थानों पर काजी की नियुक्ति की जाती थी।[4] साधारणतः 'सद्रए जहाँ' और 'काजी ए ममालीक' के पद पर एक ही व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी।[5] कभी-कभी 'कजा', 'खिताबत', 'ईमामत और 'हिस्वाह' के पदों पर एक ही व्यक्ति की नियुक्ति होती थी।[6]

ऐसा विश्वास किया जाता है कि उलेमा को जिन पदों पर नियुक्त किया जाता था, वे नियुक्तियाँ वंशानुगत नहीं थीं। परन्तु परम्परागत कुछ परिवार 'कजियों', 'मुफ्तियों' और 'खातिबों' के नाम से कहे जाने लगे। मिनहाज उससिराज ने लिखा है कि नासिरुद्दीन महमूद के शासन काल के चौदहवें वर्ष में 'शेखुल इस्लाम' काजी, करबक, अमीरे हजिब और इमाम की मृत्यु हो गई और उन सभी रिक्त स्थानों पर उनके पुत्रों को नियुक्त किया गया।[7]

शेखुल इस्लाम राज्य के धार्मिक मामलों के प्रधान थे।[8] सभी सन्त और फकीर जिन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त था, शेखुल इस्लाम की देख-रेख में थे।[9] सम-

1. वही।
2. मौलाना ने अपनी छड़ी से सोने की मुद्रा को पीटा और शाही दूत से उस सने को अपनी दृष्टि से दूर ले जाने को कहा, फवायेदुल फुवाद, पृ० 198-99
3. वही, पृ० 237; के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 158
4. तबकाते नासिरी, पृ० 175
5. मिनहाजुससिराज स्वयं दो पदों पर तीन बार कार्य कर चुके थे। परन्तु उन्हें सद्रए जहाँ कहा जाता था।
6. तबकाते नासिरी, पृ० 219, देखिये बर्नी, आपसिट, 126
7. खेर्टी, अनुवाद तबकाते नासिरी, पृ० 713
8. जे० एच० क्रेमर, लेख इन्सायक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, जिल्द 4, पृ० 275-79; कुरेशी, एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ देहली सल्तनत, पृ० 179-80
9. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 159

कालीन स्रोतों से पता चलता है कि शेखुल इस्लाम का एक पद और इस नाम की उपाधियाँ विशिष्ट लोगों को सम्मान के रूप में दी जाती थीं।[1] कुछ प्रमुख सन्तों को यह उपाधि दी गई थी, यद्यपि उनसे इस पद का कोई कार्य नहीं लिया गया।[2] इल्तुतमिश ने सैय्यद नूरुद्दीन मुबारक गजनवी को शेखुल इस्लाम के पद पर नियुक्त किया। उन्होंने सुल्तान को भारत से हिन्दू धर्म समाप्त करने के लिये कहा।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के उलेमा उदार विचारों के नहीं थे। इल्तुतमिश ने शेख कुत्बुद्दीन बख्तियार काकी के अस्वीकार करने पर शेख जमालुद्दीन बिस्तामी को शेखुल इस्लाम के पद पर नियुक्त किया।[4] इन्होंने इस पर बड़ी कार्य-कुशलता से अपने कर्तव्यों का पालन किया। इस काल के सभी शेखुल इस्लाम इनकी विद्वता और आदर्शों के स्तर पर नहीं हुये।[5] नज्मुद्दीर सुगरा, जिसे इल्तुतमिश ने शेखुल इस्लाम का पद दिया, बहुत घमण्डी और संकीर्ण विचारों का था। जब भी वह किसी उलेमा को जनता की दृष्टि में ऊँचा उठते देखता तो अनेक उपायों से उसे नीचे गिराने का प्रयास करता। उसने शेख जलालुउद्दीन तबरीजी पर अनैतिकता के गम्भीर आरोप लगाये, जिससे सुल्तान की दृष्टि में वह नीचे गिर जाय।[6] निजामुद्दीन सुगरा, दम्भी और अधिकार तन्त्र की भावना से ओत-प्रोत था। उसने अजमेर के शेख मुइनुद्दीन चिश्ती का अपमान किया।[7] वह शेख कुत्बुद्दीन बख्तियार काकी से भी

1. इल्तुतमिश ने शेख बहाउद्दीन जकारिया को 'शेखुल इस्लाम' की उपाधि से विभूषित किया, सियारूल आरीफीन, पृ० 169; के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 159
2. कभी-कभी शेखुल इस्लाम की उपाधि सुल्तान द्वारा नहीं दी गयी। जियाउद्दीन बर्नी ने शेख निजामुद्दीन औलिया के लिये (आपसिट, पृ० 343) और अमीर हसन. सिजा ने शेख फरीद के लिये (फवायेदुल फवाद, पृ० 5) शेखुल इस्लाम उपाधि देने का प्रयास किया।
3. बर्नी, आपसिट, पृ० 41-44
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 162
5. वही।
6. वही।
7. नजमुद्दीन सुगरा शेख मुइनुद्दीन चिश्ती से भिन्न था। एक बार जब मुइनुद्दीन सुगरा से मिलने उसके निवास स्थान पर गये तो वह एक चबूतरे के निर्माण कार्य का निरीक्षण कर रहा था और उसने शेख का स्वागत नहीं किया उसके शुष्क और नीरस व्यवहार पर शेख ने सुगरा से कहा—"ऐसा प्रतीत होता है कि शेखुल इस्लाम के पद ने तुम्हारे मस्तिष्क को असन्तुलित कर दिया है।" (सियारूल औलिया, पृ० 54; के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 162, पाद टिप्पणी)

ईर्ष्या करता था और उसे राजधानी से निष्कासित करना चाहता था।[1]

शेख निजामुद्दीन औलिया ने शेख जलालुद्दीन तबरीजी के प्रति सुगरा के अशोभनीय व्यवहार का उल्लेख किया है। सुगरा ने जलालुद्दीन तबरीजी को अपमानित करने के लिये अपने पद का दुरुपयोग किया। वह तबरीजी को नीचा दिखाना चाहता था, क्योंकि उसे सुल्तान का आदर प्राप्त था और वह इसे सहन नहीं कर सकता था।[2] तबरीजी के विरुद्ध षड्यन्त्र में सुगरा सफल नहीं हो सका। अन्त में इल्तुतमिश ने उसे शेखुल इस्लाम के पद से मुक्त कर दिया।[3] ऐसा समझा जाता है कि शेखुल इस्लाम के इस तरह के आचरण का मध्य युग में कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं है, परन्तु इस अशोभनीय घटना से उलेमा की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुँचा।[4]

सुल्तान बहराम शाह के समय में शेखुल इस्लाम सैय्यद कुत्बुद्दीन ने सुल्तान को विकट परिस्थिति में धोखा दिया,[5] जिससे पता चलता है कि उच्च पद पर आसीन उलेमा वर्ग के लोग भी विश्वसनीय नहीं होते थे।[6] समकालीन ग्रन्थों से पता चलता है कि शेखुल इस्लाम के परिवार के सदस्य अधिक धन लोलुप होते थे, जिसके कारण के घृणा के पात्र थे।[7] कबीर, जो शेखुलइस्लाम के पौत्र थे, कोतवाल निजामुद्दीन के निवास स्थान पर निरन्तर जाया करते थे। निजामुद्दीन ने अन्त में ऊब कर कबीर को बुरा भला कहा और अपने घर पर आने को मनाही कर दी। इतने पर भी कबीर की आदत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और उसने कोतवाल के यहाँ जाने का क्रम बनाये रखा और अशोभनीय व्यवहार किया।[8]

---

1. वही।
2. फवायेदुल फवाद, पृ० 143-44
3. नजमुद्दीन सुगरा ने तबरीजी पर गौहर नाम की एक नर्तकी के साथ अनैतिक कार्य करने का दोषी ठहराया और एक न्यायालय को स्थापना की, जिसमें तबरीजी के विरोधी मुख्य काजी बनाये गये। परन्तु इस न्यायालय ने शेख तबरोजी को निर्दोष ठहराया। अन्त में इल्तुतमिश ने क्रुद्ध होकर सुगरा को उसके पद से मुक्त कर दिया। (सियारूल आरीफीन, पृ० 167-69; उद्धृत के० ए० निजामी, पृ० 164)
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 164
5. तबकाते नासिरी, पृ० 169
6. के. ए. निजामी, आपसिट, पृ० 164
7. फवायेदुल फवाद, पृ० 125, उद्धृत वही।
8. वही।

मध्य युग में प्रत्येक नगर में एक काजी की नियुक्ति की जाती थी।[1] काजी का काम केवल न्याय विभाग तक सीमित रहता था। प्रशासनिक कार्य के लिए दूसरे अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था। प्रो० निजामी का कहना है कि मध्ययुग के धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों में काजी को विस्तृत अधिकार दिये गये हैं, लेकिन वास्तव में सल्तनत-काल के प्रारम्भिक काल में काजी केवल दीवानी मुकदमों में निर्णय देते थे।[2] इस सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रचलित थी कि 'काजी केवल दुष्ट लोगों के लिये है, भले लोगों से उसे कोई सरोकार नहीं है।[3] यही कारण था कि जब शेख निजामुद्दीन औलिया ने शेख नाजिबुद्दीन मुतवक्किल से काजी बनने के लिये इच्छा प्रकट की तो उसने उत्तर दिया, काजी मत बनो, किसी दूसरे पद के लिये इच्छा करो।'[4]

मध्ययुगीन ऐतिहासिक और धार्मिक ग्रन्थों में इन काजियों के नामों का उल्लेख मिलता है—सादुद्दीन करोड़ी, कहतवाल के शुऐब, अजोधन के अब्दुल्ला, नासिरुद्दीन कसलैस, जलालुद्दीन, कबीरुद्दीन काजीये लश्कर, मुल्तान के शरफुद्दीज, कमालुद्दीन जाफरी, जमाल मुल्तानी कुतुबुद्दीन कशानी, नासिर कशानी, बहराइच के शमशुद्दीन, मिनहाजुस सिराज, फखरुद्दीन नकीला, साद, इमादुद्दीन, रफीउद्दीन राजरुनी, शमशुद्दीन मराजी, समाना के रुकुनुद्दीन, सादिदुद्दीन, जहीरुद्दीन, जलालुद्दीन कशानी, इमादुद्दीन मुहम्मद शकुरकानी, मुहम्मद शमी और शमशुद्दीन मेहर।[5]

कुछ काजी राजधानी में नियुक्त थे, और अन्य प्रान्तीय नगरों और कसबों में रखे गये। ऐसा प्रतीत होता है कि काजी राजनीति में अधिक रुचि लेते थे और अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार में प्रयत्नशील थे।[6] इस सम्बन्ध में काजियों के प्रति बलबन के विचार उल्लेखनीय हैं। बलबन ने कहा 'मेरे तीन काजी हैं, उनमें से एक मुझसे नहीं परन्तु ईश्वर से डरता है, दूसरा ईश्वर से नहीं परन्तु मुझसे डरता है और तीसरा न तो मुझसे और न तो ईश्वर से डरता है....फखू नकीला मुझसे डरता है परन्तु ईश्वर से नहीं; काजी ये लश्कर ईश्वर से डरता है परन्तु मुझसे नहीं। मिनहाज न

1. आई० एच० कुरेशी, आपसिट, पृ० 152
2. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 164
3. सद्रउस सदूर (पाण्डुलिपि), पृ० 29, उद्धृत वही।
4. फवायेदुल फवाद, पृ० 28
5. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 165-66
6. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 166

तो मुझसे और न ही ईश्वर से डरता है।[1] बलबन काजी ये लश्कर का अधिक सम्मान करता था और सिफारिशों का आदर करता था। काजी जलालुद्दीन कशानी के विषय में जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि 'वही एक सम्मानित काजी था परन्तु दुष्ट प्रकृति था'।[2]

शुएब को कोतवाल (जिला सुल्तान) के पद पर नियुक्ति किया गया, यद्यपि वे इस पद के लिए उत्सुक नहीं थे।[3] उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र शेख जमालुद्दीन को वहाँ का काजी बनाया गया शेख जमालुद्दीन के पुत्र शेख फरीद गजए शकर प्रमुख सूफी सन्त के रूप में विख्यात हुए। अजोधन के काजी अब्दुल्ला और फरीद के बीच जुमे की नमाज पढ़ने के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो गया, जिसमें शेख फरीद अपमानित हुये और मसजिद से अपने निवास स्थान वापस चले आये।[4] नासिरुद्दीन कुबाचा के समय में काजी शर्फुद्दीन ने शेख बहाउद्दीन जकारिया के साथ सुल्तान इल्तुतमिश को पत्र लिखा, जिसमें सुल्तान को मुल्तान पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया था। यह पत्र कुबाचा के हाथ लग गया कुबाचा ने शर्फुद्दीन को प्राण दण्ड दिया।[5]

बदायूँ के काजी कमालुद्दीन जाफरी का विद्वत्ता के लिए बड़ा सम्मान था। उन्होंने एक ग्रन्थ 'मुनफिक' की रचना की। शेख निजामुद्दीन औलिया ने उनके इतने व्यस्त रहने पर भी नियमित रूप से नमाज पढ़ने की सराहना की।[6] वे बहुत शान से रहते थे। बहुत से नौकर मुख्य द्वार पर उनके दरबान के रूप में रहते थे।[7] परन्तु एक बार जब शेख जलालुद्दीन तबरीजी उनसे मिलने गये तो उन्होंने नमाज पढ़ने के बहाने शेख से मिलने से इनकार कर दिया।[8] काजी मिनहाजुस सिराज ने 'सभा' (सूफी संगीत) को वैधानिक स्वरूप प्रदान किया। मिनहाज के इस निर्णय का विरोध दो अन्य काजियों-काजी ईमाद और काजी साद ने किया और अन्त में इल्तुतमिश से

1. सद्रउस सदूर (पाण्डुलिपि), पृ० 47-48, उद्धृत वही।
2. बर्नी, आपसिट, पृ० 210
3. के० ए० निजामी, आपसिट, 166
4. सियारुल औलिया, पृ० 84
5. फवायेदुल फवाद, पृ० 119-20 सिमारुल आरीफीन, पृ० 113, के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 167
6. फवायेदुल फवाद, पृ० 225
7. वही, पृ० 236
8. वही, पृ० 236-37

प्रार्थना की गई कि इस विषय पर विधि वेत्ताओं की सम्मति प्राप्त की जाय।[1] इसी प्रकार अजोधन के काजी ने शेख फरीद के संगीत के कार्यक्रम को इस्लाम के प्रतिकूल समझा और मुल्तान के विधि-वेत्ताओं से इस सम्बन्ध में शेख के विरुद्ध निर्णय देने के लिये कहा[2], परन्तु उस समय के उलेमा वर्ग की विशेषता यह थी कि किसी विषय में वे अपने विचार तब तक प्रकट नहीं करते थे जब तक कि उन्हें उस व्यक्ति के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं हो जाती थी। जब उन्हें पता चला कि शेख फरीद के विरुद्ध निर्णय देना है तो उलेमा वर्ग ने ऐसा करने से इनकार कर दिया, क्योंकि शेख एक विशिष्ट और सम्मानित व्यक्ति थे।[3]

राज्य में विद्वान उलेमा ही इमान और खातिब के पदों पर रखे जाते थे। जब मौलाना मलिक यार को बदायूँ के इमाम पर नियुक्त किया गया तो कुछ लोगों ने विरोध किया, क्योंकि उनमें इस पद के लिए योग्यता नहीं थी।[4]- परन्तु मौलाना अलाउद्दीन उसूली, जो बदायूँ के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान थे, मलिक यार की नियुक्ति को न्यायोचित बतलाया, क्योंकि वे आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न थे।[5] जिस समय मौलाना जमालुद्दीन खातिब, शेख फरीद गंज ए शकर के पास उनके शिष्य बनने के लिए आये, शेख ने उनसे कहा कि वे सरकारी पद (शुगल) त्याग कर ही शिष्य बन सकते हैं।[6] मौलाना जमालुद्दीन ने वैसा ही किया। उस पद के साथ ही मौलाना का वैभवपूर्ण जीवन समाप्त हो गया। वे निर्धन हो गये और जीवन निर्वाह करना उनके लिये कठिन हो गया। जब शेख को मौलाना जमालुद्दीन की दयनीय दशा का पता चला तो वे बड़े प्रसन्न हुये और कहा कि 'ईश्वर इससे प्रसन्न होगा और मौलाना वास्तव में सुखी रहेंगे।[7]

मुस्लिम शासकों ने उलेमा वर्ग से कुछ विद्वानों को मुजक्किर के पद पर नियुक्त किया। ये मुजक्किर रमजान और मुहर्रम के महीनों में 'तजकीर' सभाओं में भाग लेते थे, जो राजदरबार में आयोजित की जाती थी। मिनहाजुससिराज के अनुसार

---

1. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 169
2. वही।
3. फवायेदुल फवाद, पृ० 153; सियारुल अरीफिन, पृ० 34-35
4. वही, पृ० 166
5. वही।
6. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 169
7. सियारुल औलिया, पृ० 180-81; के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 169

यह गोष्ठी सप्ताह में तीन बार होती थी, परन्तु रमजान में यह गोष्ठी प्रतिदिन होती थी।[1] मिनहाज स्वयं इन गोष्ठियों को संचालित करता था। उसके व्याख्यान सारगर्भित होते थे, जो लोगों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। शेख निजामुद्दीन औलिया स्वयं एक बार मिनहाज के व्याख्यान को सुनकर यहाँ तक भावावेश में आ गये कि उनको अपनी कुछ सुध न रही।[2] संकट के समय उलेमा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने उपदेशों से जनता का मनोबल ऊँचा करें।[3] खातिबों से कहा जाता था कि वह विद्रोहियों को अपने उपदेशों से शान्त करें।[4] सुल्तान बहराम शाह ने मंगोल आक्रमण के समय काजी मिनहाज स सिराज से 'नजकीर' की सभा में सुल्तान के पक्ष में परिचर्चा करने के लिए कहा।[5]

इस युग में मौलाना हुमाम दरवेश एक प्रख्यात मुजक्किर थे। जियाउद्दीन बर्नी ने इनकी सराहना की है।[6] शेख हमीदुद्दीन सूफी ने हुसाम के उपदेश देने की कुशलता की प्रशंसा की है। मुइजुद्दीन कैकुबाद के शासन काल में मौलाना हुसाम राजदरबार में रुचि रखने लगे, जहाँ उन्हें सुल्तान के नादिम के पद पर नियुक्त किया गया।[7] कुछ समय बाद उन्हें धन की लिप्सा बढ़ गई और वे दम्भी हो गये। अन्त में उन्हें सुल्तान द्वारा अपमानित होना पड़ा।[8] हुसाम दरवेश के समकालीन काजी निजामुद्दीन थे। वे बहुत भावुक थे। एक बार जब निजामुद्दीन उपदेश दे रहे थे, काजी मिनहाजुससिराज, जो उस सभा में बैठे थे, उठकर चले गये इससे वे निजामुद्दीन मिनहाज से क्रुद्ध हो गये।

मध्य युग में उलेमा वर्ग से विशिष्ट विद्वान अध्यापक के पद पर नियुक्त किये जाते थे। इस्लामी राज्य के प्रसार के साथ मदरसों का निर्माण किया गया। उनमें

---

1. तबकाते नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद-रेवर्टी, पृ० 619
2. फवायेदुल फव्वाद, पृ० 191; अखबारुल अख्मार, पृ० 79-80 उद्धृत के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 169
5. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 170
4. वही।
5. तबकाते नासिरी, पृ० 195
6. बर्नी, आपसिट, पृ० 131
7. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 170
8. सद्ररुस सुदूर, (पाण्डुलिपि), पृ० 48, उद्धृत वही।

योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की जाती थी। तेरहवीं सदी में मुइजी मदरसा[1] और नासिरिया मदरसा शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में परम्परागत शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा न प्राप्त करने पर भी उलेमा की नियुक्ति शिक्षक के पद पर की जाती थी।[2] उदाहरण के लिये, मौलाना जियाउद्दीन ने विधिवत किसी शिक्षण संस्था में शिक्षा नहीं पाई थी, फिर भी उन्हें, उनकी विद्वत्ता के कारण, मुइजी मदरसे में अध्यापक के पद पर रखा गया।[3] मध्य युग में शिक्षकों का अधिक सम्मान था।[4]

तेरहवीं सदी में उलेमा ने राजनीति में अपने प्रभाव का विकास किया। वे राजनीति में अमीरों के गुटों का अपने स्वार्थ के लिए समर्थन करने लगे। यह स्थिति अलाउद्दीन खिल्जी के सिंहासन पर बैठने के समय तक बनी रही। कुत्बुद्दीन ऐबक उलेमा का सम्मान करता था। उसके शासन काल में कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जबकि उलेमा ने राजनीति में हस्तक्षेप किया हो।[5] ऐसा विश्वास किया जाता है कि कुत्बुद्दीन ऐबक ने बड़ी संख्या में उलेमा को इस्लाम के प्रसार के लिये नियुक्त किया। बहुत से उलेमा 1 हजार नयी मसजिदों में धार्मिक कार्यों के लिये रखे गये, जिन्हें कुत्बुद्दीन ऐबक ने मन्दिरों को गिराकर बनवाया था।[6] परन्तु इल्तुतमिश के गद्दी पर बैठने के समय उलेमा राजनीति में अपनी शक्ति के प्रसार के लिये अधिक सक्रिय रहे।[7] काजी वजीहुद्दीन कशानी के नेतृत्व में उलेमा के एक दल ने इल्तुतमिश से यह जानकारी प्राप्त करनी चाही कि क्या उसे दास के बन्धन से मुक्त कर दिया गया था।[8] इल्तुतमिश इस स्थिति के लिए पहले से ही तैयार था और उसने मुक्ति पत्र काजी के

---

1. तबकाते नासिरी, पृ० 151
2. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 171
3. फवायेदुल फवाद, पृ० 23
4. ताजुद्दीन यल्दूज ने एक अध्यापक के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की, जब कि उसने यल्दूज के लड़के को इतना मारा कि उसकी मृत्यु हो गई। (तबकाते नासिरी, पृ० 133)
5. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 172
6. हसन निजामी, ताजुल मासिर, इलियट, जिल्द 2, पृ० 223
7. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 172
8. वही, आपसिट, पृ० 172

सामने रख दिया।[1] इल्तुतमिश ने उलेमा के साथ युक्ति से व्यवहार किया, जिसका फल यह निकला कि वे सुल्तान की आलोचना करने के बजाय उसके समर्थक हो गये।

प्रो० निजामी का मत है कि इल्तुतमिश की उलेमा के प्रति नीति ने उनके चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं डाला।[2] उसने उलेमा को इतना सम्मान दिया कि वे दम्भी बन गये और भौतिक सुख प्राप्त करने के इच्छुक हो गये। कुछ समय के बाद उलेमा का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।[3] जिस समय इल्तुतमिश ने रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया, उलेमा वर्ग के किसी भी सदस्य को 'शरीयत' के आधार पर सुल्तान का विरोध करने का साहस नहीं हुआ। शेख अब्दुल हक मुहद्दिस ने उनके द्वारा रजिया के पक्ष में इस मूक समर्थन पर आश्चर्य प्रकट किया है।[4] बहराम शाह के समय में राज्य में उलेमा की शक्ति का प्रसार हो चुका था। कुछ काजियों ने सुल्तान के परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये[5] मलिक बद्रुद्दीन सुंकर ने उलेमा की सहायता से विद्रोह किया था। यहाँ तक कि सद्रुलमुल्क सैय्यद ताजुद्दीन अली मुसावी के घर पर षड्यन्त्र की गुप्त सभाएँ की जाती थीं।[6] महरपुरा के काजी को षड्यन्त्र करने पर मृत्यु दण्ड दिया गया। बहराम शाह ने विद्रोहियों की शक्ति कुचलने के उद्देश्य से उलेमा का सहारा लिया।[7] उसने मिनहाज से लोगों को उपदेश देने के लिए कहा और शेखुल इस्लाम, सैय्यद कुत्बुद्दीन को विद्रोहियों को शान्त करने के लिए भेजा।[8] सुल्तान के समर्थन में मिनहाज को शारीरिक चोटें आईं लेकिन शेखुल इस्लाम ने समयानुसार अमीरों के दलों का समर्थन किया और कोई खतरा नहीं उठाया। प्रो० निजामी का विचार है कि मिनहाज स्वयं उलेमा वर्ग का था, इसीलिए उसने उलेमा के क्रियाकलापों का कोई उल्लेख अपनी पुस्तक में नहीं किया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उलेमा का आचरण

---

1. अखबारुल अफसार, जिल्द 2, पृ० 62, उद्धृत वही।
2. वही।
3. वही।
4. तारीखे-हक्की (पाण्डुलिपि) उद्धृत वही।
5. काजी नासिरुद्दीन ने बहराम शाह की बहन से विवाह किया (तबकाते नासिरी, पृ० 192)
6. वही, पृ० 193
7. वही, पृ० 195
8. वही, पृ० 195-96

ठीक नहीं था और उनकी प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी ।[1] उस समय उलेमा का नैतिक पतन इतना हो चुका था कि उनमें साहस नहीं था कि वे कैकुबाद की आलोचना कर सकते, जब कि उसने नियमित रूप से प्रार्थना करना और रमजान में व्रत रखना त्याग दिया था ।[2]

अलाउद्दीन खल्जी के पहले सुल्तान में इतना साहस न था कि वह उलेमा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सकता और उनको नियंत्रित करता, यद्यपि वे सुल्तान के विरुद्ध भी कार्य करने लगे थे । अलाउद्दीन खल्जी ने उलेमा के कार्य क्षेत्र को सीमित कर दिया और उन पर दबाव डाला की वे निर्धारित सीमा के अन्दर ही कार्य करें और राजनीति में हस्तक्षेप न करे ।[3] अलाउद्दीन खल्जी ने सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित की और राज्य और धर्म को पृथक रखा । मुहम्मद तुगलुक ने तो राज्य को धर्म निरपेक्ष बनाने का प्रयास किया, उसने उलेमा और राज्य के दूसरे कर्मचारियों को समकक्ष रखा और उलेमा के विशेष अधिकारों को समाप्त कर दिया ।[4]

ईसामी के अनुसार मुहम्मद तुगलुक ने उलेमा और सूफी सन्तों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की, क्योंकि उसका विश्वास इस्लाम में समाप्त हो चुका था और वह इस्लाम के विरुद्ध आचरण कर रहा था ।[5] उलेमा जो एक पवित्र वर्ग समझा जाता था और जिन्हें कड़ा दण्ड नहीं दिया जा सकता था, को मुहम्मद तुगलुक ने भयंकर अपराध करने पर मृत्यु दण्ड दिया । फिर भी उलेमा का प्रभाव राज्य में बना रहा और वे न्याय विभाग के प्रमुख पदों पर बने रहे । अपने सौतेले भाई ममूद खाँ की माँ पर व्यभिचार का दोषी पाये जाने पर मुहम्मद तुगलुक ने काजी कमालुद्दीन को अनुमति दी कि उसे नियमानुसार पत्थरों के प्रहार से जान से मार डाला जाय ।[6]

मुहम्मद तुगलुक ने न्याय विभाग में उलेमा के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया । सुल्तान का कहना था कि उलेमा अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते और

---

1. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 173
2. बर्नी, आपसिट, पृ० 54
3. उलेमा केवल न्यायालयों और धार्मिक क्षेत्र में ही कार्य कर सकते थे और सभी मामले उनके कार्य-क्षेत्र से बाहर रखे गये (तारीखे फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 192)
4. सिंध के कुछ उलेमा ने सरकारी धन का दुरुपयोग किया । सुल्तान ने उन्हें कड़ा दण्ड दिया (देखिये, इब्नबतूता किताबुर रेहला—जिल्द 2, काहिरा, 1870-71, पृ० 54)
5. ईसामी, पृ० 515, 530, 580 (मद्रास संस्करण) ।
6. इब्नबतूता, रेहला (जी० ओ० एस०) पृ० 85

क़ुरान और शरीयत का अध्ययन नहीं करते, इसीलिए उलेमा को केवल योग्यता के अनुसार न्याय विभाग में उनकी नियुक्ति की जायगी। उसने उन लोगों को भी जो उलेमा वर्ग के नहीं थे, काजी के पद पर नियुक्त किया जैसा कि इब्नबतूता की काजी के पद पर नियुक्ति से पता चलता है, यद्यपि उसने स्वयं स्वीकार किया है कि उसे शरीयत के विषय में कोई जानकारी नहीं थी।[1]

सुल्तान के इस नये धार्मिक विचार को सुनकर प्रसिद्ध सूफी सन्त शेख शिहाबुद्दीन इतने क्रुद्ध हो गये कि उन्होंने अपना जूता उतार कर सुल्तान के मुख पर फेंका।[2] सुल्तान ने शेख को तुरन्त मृत्यु दण्ड दिया। समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने उस समय सुल्तान का समर्थन किया परन्तु बाद में उसने पश्चाताप किया।[3] उसका कहना था कि सुल्तान का समर्थन करके उसने पापमय कार्य किया जिसके कारण ईश्वर ने उसे जीवन के अन्तिम समय में यातनाएँ दीं।[4] उलेमा सुल्तान को 'जालिम' कहने लगे थे जैसा कि ऐनुलमुल्क मुल्तानी के सुल्तान विरोधी सैनिक अधिकारियों के सम्बोधन से पता चलता है।[5] ऐनुलमुल्क मुल्तानी स्वयं उलेमा वर्ग (मुल्लाजादा) का था और उसने मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध विद्रोह किया। इससे पता चलता है कि उस समय उलेमा राजनीति में अपना प्रभाव बढ़ाने में प्रयत्नशील थे।

फीरोज तुगलुक के सुल्तान बनते ही राज्य दरबार में उलेमा को फिर उनके विशेष अधिकार पूर्ववत प्राप्त हो गये। उलेमा ने मुहम्मद तुगलुक की असफलताओं को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उपयोग किया और सुल्तान पर दबाव डाला कि राज्य के प्रशासन में उलेमा से सलाह ली जाय और उनके कहने पर ही सरकार कार्य करे।[6] इस सम्बन्ध में कई कानून की पुस्तकें लिखी गयीं और शिक्षण संस्थाओं में

---

1. वही।
2. आगा मेहदी हुसेन, तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 262-63
3. बर्नी, नातयेमुहम्मदी, पाण्डुलिपि रजा लाइब्रेरी, रामपुर उद्धृत, वही।
4. बर्नी, पृ० 466
5. इसामी, फुतहुस्सलातीन, पद्य—890-56, उद्धृत आगा मेहदी हुसेन, पृ० 298
6. बर्नी, पृ० 580; फीरोज तुगलुक ने बंगाल के उलेमा को वचन दिया कि यदि बंगाल के शासक पर उसकी विजय हो जायेगी तो वह उलेमा को सरकार की तरफ से मिलने वाली धनराशि में वृद्धि कर देगा (जे० ए० एस, बी, XIX, पृ० 280)

धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया।[1] जिस समय तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया उलेमा अपने विशेष अधिकार प्राप्त कर चुके थे। परन्तु उस समय तक राज्य प्रशासन पूरी तरह से गठित हो गया था, जिसके कारण उलेमा का धार्मिक प्रभाव अधिक नहीं पड़ा।[2] तैमूर ने दिल्ली में लूटमार और कत्लेआम का आदेश देते समय अपने सैनिक अधिकारियों को निर्देश दिया कि उलेमा और सैय्यद वर्ग के लोगों का आदर किया जाय और उन्हें किसी तरह की कोई हानि नहीं पहुँचे। अफगानों के सत्तारूढ़ होने पर शासकों ने उलेमा वर्ग का अधिक आदर किया लेकिन राजनीति में उनके प्रभाव को बढ़ने नहीं दिया। इसके विपरीत अफगान शासकों ने उलेमा के धार्मिक प्रभाव को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग किया।[3] इस सन्दर्भ में शेरशाह का नाम उल्लेखनीय है, क्योंकि उसने अपने सभी कार्यों में उलेमा का समर्थन प्राप्त कर लिया था। उसने पूरनमल को कुरान की शपथ लेकर सुरक्षा का पूरा आश्वासन दिया था, जिसकी अवहेलना जान बूझकर उसने की और पूरनमल और उसके राजपूत समर्थकों के नृशंसतापूर्वक कत्लेआम के लिए उलेमा द्वारा फतवा जारी किया गया।

बहलोल लोदी के समय उलेमा को कितना अधिक सम्मान प्राप्त था इसका पता मुल्ला कादान के खुतबा पढ़ने के समय अफगान विरोधी वक्तव्यों से पता चलता है। बहलोल लोदी ने मुल्ला कादान के विरुद्ध कोई कार्यवाही न करके बड़ी शिष्टता से उन्हें ऐसा न करने के लिए कहा।[4] बहलोल लोदी उलेमा के साथ अपने व्यवहार में बड़ा विनम्र था। एक बार एक कुरूप मुल्ला बहलोल की उसके प्रति टिप्पणी पर क्रोधित हो गया, परन्तु बहलोल ने उसके इस अभद्र व्यवहार को सहन कर लिया।[5]

सिकन्दर लोदी ने हिन्दू विरोधी धार्मिक नीति में उलेमा से फतवा देने के लिए कहा। वह कुरुक्षेत्र में एकत्रित असंख्य हिन्दुओं की हत्या करवाना चाहता था। उसने अजोधन के मियाँ अब्दुल्ला से फतवा देने के लिए कहा, परन्तु उसने इस कार्य का विरोध किया।[6] सिकन्दर लोदी सदैव उलेमा की संगत में रहता था। ऐसा

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 69
2. वही।
3. वही।
4. इलियट, जिल्द 4, पृ० 437
5. वाकयाते मुश्ताकी, पृ० 9-10
6. ए० बी० पाण्डे, फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ० 284

विश्वास किया जाता है कि उसके साथ सदैव 17 धर्म शास्त्री रहते थे।[1] सिकन्दर ने उलेमा द्वारा निर्णय दिये जाने पर बोधन नामक ब्राह्मण को इस्लाम धर्म न स्वीकार करने पर जिन्दा जलवा दिया।[2]

सल्तनत काल में उलेमा ने दिल्ली के सुल्तानों की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहयोग दिया। सुल्तानों को पूर्णतया लोगों के अधिकारी (उलूल अम्र ए मिनकुम) की संज्ञा दी गई।[3] इन शासकों की शक्ति बढ़ाने के लिए क़ुरान की आयतों का अर्थ तोड़-मरोड़ कर उलेमा ने लगाया।[4] इस प्रकार सुल्तान को ईश्वर के समान समझा गया और लोगों को उसकी आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया गया।[5] उलेमा के अनुसार सुल्तान के आदेशों को न मानने वाले दूसरे संसार में दण्डित होने के साथ-साथ पाप के भी भागी समझे जाते थे। उलेमा ने दिल्ली के सुल्तानों को पैगम्बर के समान लोगों को आदर देने के लिए कहा।[6] उनके अनुसार लोगों को एक अत्याचारी शासक के आदेशों का भी पालन करना चाहिए।[7] दिल्ली के सुल्तानों ने उलेमा के पूर्ण समर्थन से राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर अमल किया। उलेमा ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि लोगों का कर्त्तव्य है कि वे अत्याचारी मुस्लिम शासक के आदेशों का भी पालन करें। राजाज्ञा की अवहेलना करने वाले न केवल राज्य में अपराधी समझे जायेंगे, बल्कि इस्लामी कानून के अन्तर्गत घोर पापी समझे जायेंगे।[8]

उलेमा ने सुल्तान को ईश्वर की संज्ञा दी। उनका कहना था कि 'जो सुल्तान के आदेशों का पालन करता है वह ईश्वर का आज्ञाकारी है'।[9] उलेमा ने मुगल

1. ये धर्मशास्त्री रात्रि के भोजन के समय तक सुल्तान के साथ रहते थे। सुल्तान के साथ उन्हें भी खाना परसा जाता था। परन्तु सुल्तान के भोजन कर चुकने के बाद ही वे खाना खा सकते थे।
2. तबकाते अकबारी, पृ० 322-23; होदीवाला, पृ० 471
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 18
4. वही।
5. तारीखे फखरुद्दीन मुबारकशाही, पृ० 12-13
6. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 18
7. वही।
8. बर्नी, तारीखे फीरोजशाही, पृ० 27
9. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 19

सम्राट अकबर को धार्मिक और राजनैतिक प्रधान स्वीकार किया, जिसके फलस्वरूप मुस्लिम शासक को 'इमामे आदिल' (न्यायप्रिय आदिल अर्थात् सुल्तान) के अधिकार प्राप्त हुए। इसके अन्तर्गत मुस्लिम शासक को धार्मिक विवादों में अपना निर्णय देने का अधिकार मिल गया। उलेमा द्वारा सुल्तान को सर्वोच्च अधिकार दिये जाने से इस्लाम धर्म राज्य की अपेक्षा गौण हो गया।[1] फलस्वरूप सुल्तान ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। परन्तु बदायूँनी जैसे उलेमा वर्ग के लोगों ने मुस्लिम शासक के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया।

मुगल काल

मुगलों के शासन काल में मुस्लिम समाज का संगठन और प्रशासनिक व्यवस्था अधिक विकसित हो चुकी थी। काजीउलकुजात, आदिल, मुफ्ती, सद्रउससुदूर शेखुल इस्लाम, मुहतसिब आदि के पदों का महत्त्व बढ़ गया था। साधारणतः काजी उलकुजात और सद्रउससुदूर के पद पर एक ही व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी, जिसके द्वारा दोनों विभागों का संचालन किया जाता था।[2] सद्रउससुदूर का पद अब्बासी खलीफा इमाम अबू यूसुफ के समय से प्रारम्भ हुआ था, जिसका कार्य राजधानी के बाहर काजियों की नियुक्ति करना था।[3] मुगल सम्राटों ने इस परम्परा को बनाये रखा जो दिल्ली सल्तनत काल में प्रारम्भ मे ही प्रचलित थी।[4]

मुगल सम्राट कानून की व्याख्या के लिए उलेमा पर आश्रित रहते थे, परन्तु कभी-कभी वे धार्मिक समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं निर्णय ले लेते थे और उलेमा की इच्छाओं पर ध्यान नहीं देते थे।[5] शेरशाह के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह सदैव उलेमा और धर्माधिकारियों के साथ रहता था और उनकी अनुपस्थिति में वह भोजन नहीं करता था।[6] मुगल शासकों के समय उलेमा को उनके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करने को अधिक स्वतन्त्रता थी। उनके कार्यों में मुगल सम्राट तभी

1. वही।
2. आइने अकबरी, जिल्द 2, आईन 19
3. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पटना, पृ० 207
4. कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि देहली सल्तनत, पृ० 175-76
5. एम० टी० टाइटस, आपसिट, पृ० 69

हस्तक्षेप करते थे जब वे कुरान के विरुद्ध कार्य करते थे ।[1] मुगल सम्राटों में अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने अपने को बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभूषित किया, जिससे उनके दैवी अधिकार का आभास मिलता है ।[2] इन उपाधियों के कारण मुगल सम्राट उलेमा के प्रभाव से दूर हो गये और बड़े से बड़े धर्माधिकारी मुगल सम्राट को धर्म के मामले में नियन्त्रित न कर सके ।

अकबर के शासन काल में सद्रउससुदूर के पद पर शेख अब्दुनबी की नियुक्ति हुई । अबुल फज्ल के अनुसार वह एक योग्य दूरदर्शी सत्यवादी, ईमानदार और बुद्धिमान व्यक्ति था ।[3] सद्र के माध्यम से चार श्रेणियों के लोगों ज्ञान प्राप्त करने वालों, भोग विलास की इच्छाओं को दमन करने वालों, आर्थिक दृष्टि से निस्सहाय लोगों और उच्च कुल के व्यक्तियों को जो अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपने उद्यम की जानकारी न प्राप्त कर सके हों—को सरकार की तरफ से अनुदान दिया जाता था ।[4] सद्र उन मसजिदों की व्यवस्था के लिए धार्मिक अधिकारियों की नियुक्ति करता था जिसका प्रबन्ध क्षेत्रीय मुस्लिम समाज के लोग न चला सकें ।[5] सद्र को अधिकार था कि बड़ी बड़ी मसजिदों में ईमाम, खातिब, मुअज्जिन और मुहतबियों की नियुक्ति करे । इन नियुक्तियों के लिए सद्र केवल योग्य व्यक्तियों का चुनाव करता था, जो कुरान का पाठ सही ढंग से कर सके ।[6]

अबुल फज्ल ने लिखा है कि शेख अब्दुनबी के सद्रउससुदूर पद पर आसीन होने के पहले इस विभाग में भ्रष्टाचार व्याप्त था ।[7] शेख की नियुक्ति भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए की गई थी ।[8] शेख ने भ्रष्टाचार दूर करने के आवरण में एक जाँच करवायी और सभी अफगानों को, जिन्हें भूमि धार्मिक कारणों से वितरित की गई थी ।[9] भूमि वापस करने के लिए विवश किया गया । ऐसा समझा जाता है कि मुगल

1. एस० आर० शर्मा, मुगल गवर्नमेण्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, बम्बई, 1951, पृ० 15
2. वही, पृ० 16
3. अकबर नामा जिल्द 2, पृ० 247
4. आइने अकबरी, जिल्द 2, आईन 19
5. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 208
6. वही ।
7. वही, पृ० 209
8. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मुगल एम्पायर, पृ० 209
9. जब किसी उलेमा को जमीन दी जाती थी तो इस अनुदान को 'सयूरघल' कहते

पराजित अफगान वर्ग को सरकार की तरफ से अनुदान देने के पक्ष में नहीं थे।[1] अकबर उलेमा वर्ग की शक्ति को कमजोर करना चाहता था, इसीलिये उसने ऐसे उलेमा की भूमि पर अधिकार करना चाहा जिनके पास 5 सौ बीघे से अधिक भूमि थी। बाद में अकबर ने 100 बीघे से अधिक भूमि रखने वाले उलेमा की 60% जमीन वापस ले ली, जिससे वे अधिक शक्तिशाली न रह सके।[2] अकबर ने यह आदेश महिलाओं पर लागू नहीं किया। उनकी भूमि सरकारी अधिकार में नहीं ली गयी। जब भी कोई उलेमा अपनी जमीन को एक से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण के लिए आवेदन करता था तो उसको जमीन में एक चौथाई की कमी कर दी जाती थी।[3]

अकबर के इस नये आदेश से उलेमा वर्ग की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सम्राट ने सुल्तान ख्वाजा के समय के पहले सभी काजियों को सेवा मुक्त कर दिया।[4] सम्राट के इस कार्य से उलेमा को अधिक आघात पहुँचा। अकबर चाहता था कि सद्र जो दीन इलाही के सदस्य थे उलेमा के संकीर्ण विचारों के विरुद्ध अभियान चलाये। ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर, सद्र द्वारा उलेमा के विरुद्ध अभियान से सन्तुष्ट नहीं था। इसीलिए सम्राट ने फिर से उलेमा के विरुद्ध जाँच करने का प्रस्ताव किया। जिसे अबुल फज्ल की देखरेख में सद्रे जहाँ ने किया इसके अन्तर्गत पूर्वी जिलों से लेकर भक्कर[5] तक की सयूरघल की जाँच की गई। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सरकार की इन कार्यवाहियों से उलेमा को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। शेख अब्दुनबी के विरुद्ध कुछ लोगों ने भ्रष्ट तरीके अपनाने के अभियोग लगाये। परन्तु बदायुँनी ने जो शेख का विरोधी था, इस प्रकार का विचार प्रकट नहीं किया है उसने केवल यही लिखा है कि शेख ने उलेमा को भूमि देने में कृपणता का परिचय दिया। शेख ने ऐसा करने में अकबर के आदेशों का ही पालन किया।

थे, और जब राजकोष से नकद धन दिया जाता था तो इसे 'वजीफा' कहा जाता था। सरयूमल को 'सिल्क' और मददेमाश, भी कहा जाता था। इस पर अधिकार वंशानुगत था। (वही, पृ० 21।)

1. वही, पृ० 209
2. वही, पृ० 210
3. वही।
4. बदायुंनी, जिल्द 2, पृ० 340 सुल्तान ख्वाजा दीन इलाही का सदस्य था।
5. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 210

बदायूँनी के अनुसार शेख मुबारक और[1] अबुलफज्ल के प्रभाव के कारण बहुत से परिवार नष्ट हो गये ।[2] इस प्रकार की मुसीबतों का सामना उन सभी काजियों और उनके परिवारों को करना पड़ा होगा जिन्हें अकबर ने नौकरी से निकाल दिया था। अकबर के समय में ही सद्र की प्रतिष्ठा गिर गई थी, यद्यपि सभी सद्र दीनइलाही के सदस्य थे ।[3] अकबर ने प्रान्तों में सद्र नियुक्त किये और इस विषय में सद्रउससुदूर से परामर्श नहीं किया। इस प्रकार सम्राट ने सद्रउससुदूर के अधिकार कम कर दिये ।[4]

बदायूँनी के अनुसार अकबर की उलेमा के प्रति नीति पूर्णतया असफल रही। उसका कहना है कि गाँवों में रहने वाले उलेमा ने राज्य प्रशासन से सयूरघल के लिये आवेदन पत्र देना बन्द कर दिया और इस प्रकार की भूमि बेकार पड़ी रही। बदायूँनी ने लिखा है कि उलेमा अकबर से अपने सिद्धान्तों का हनन करके कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। प्रोफेसर कुरेशी ने लिखा है कि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर ने धार्मिक विभाग में जो नये नियम लागू किये उसका अभिप्राय भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना नहीं था, जैसा कि अबुल फज्ल का मत है ।[5] उलेमा का दोष केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे अकबर के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं कर सके ।[6] अकबर का आदेश था कि उलेमा को जो भूमि दी जाय उसका आधा भाग ही खेती योग्य हो और आधे भाग पर खेती न की जा सके। यदि उनके पास ऐसी भूमि हो जिसके पूरे भाग में खेती की जाती हो तो सम्पूर्ण भूमि का 1/4 भाग सरकार को वापस ले लेना चाहिये और उसके बदले में दूसरी भूमि इस प्रकार देनी चाहिये कि उलेमा के पास केवल 3/8 भाग खेती योग्य भूमि रह जाय ।[7] वजीफा प्रतिदिन के हिसाब से या निर्धारित तिथि के लिये दिया जाता था। वित्तीय मामलों में सद्र की सहायता के लिये 'दीवाने सादात' होता था ।[8] अकबर उलेमा

1. बदायूँनी, जिल्द 2, पृ० 204-205
2. बदायूँनी, जिल्द 2, पृ० 199
3. वही, पृ० 343
4. एस० आर० शर्मा—मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, बम्बई 1951, पृ० 169
5. मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 211
6. आईने अकबरी, जिल्द 2, आईन 19
7. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 212
8. आईने अकबरी, जिल्द 2, आईन 19

के प्रभाव से मुक्त रहा[1] और जब भी आवश्यकता पड़ी उसने अपना निर्णय मानने के लिये उन्हें बाध्य किया।[2] इसी प्रकार धार्मिक विवादों को भी सम्राट अपने विवेक के अनुसार तय कराता।

प्रारम्भ से ही अकबर धार्मिक कट्टरता और उलेमा के संकीर्ण विचारों का विरोधी था। उलेमा की रूढ़िवादिता को समाप्त करने में अकबर को उसके दरबारियों से सहायता मिली। शेख मुबारक को कट्टर पन्थी उलेमा द्वारा अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसने ऐसे उलेमा से बदला लेने के उद्देश्य से कार्य किया और उसके लड़के अबुल फज्ल और फैजी ने सावधानी से कट्टर उलेमा के विरुद्ध एक दल तैयार किया। यहाँ तक कि बदायुँनी ने जो अकबर की धार्मिक नीति का कटु आलोचक था कट्टर पन्थी उलेमा का विरोध किया।[3] इस प्रकार अबुल फज्ल गैर मुस्लिम और गैर सुन्नी दरबारियों का सहयोग प्राप्त करने में सफल हुआ और अपने दल के प्रभाव से उसने अकबर को कट्टर पन्थी उलेमा का विरोधी कर दिया।[4] ऐसी परिस्थितियों में कुछ समकालीन विद्वानों ने अकबर को इस्लाम धर्म के प्रतिकूल कार्य करने का दोषी बतलाया है, जिसका अकबर ने स्वयं विरोध किया है।[5]

अकबर ने दो परस्पर विरोधी विचार वाले सुन्नी उलेमा मखदूमउलमुल्क और अब्दुनबी के विवादों को पसन्द नहीं किया और उन्हें संकीर्णता और रूढ़िवादिता का प्रतीक बतलाया।[6] इबादत खाने में एक दिन उलेमा ने आपस में एक दूसरे को इस्लाम के प्रतिकूल आचरण करने का दोषी ठहराया और अकबर की उपस्थिति में अशोभनीय शब्दों का प्रयोग किया। इसी प्रकार का संघर्ष गुजरात के सद्र हाजी इब्राहीम सरहिन्दी और मुख्य काजी सैय्यद मुहम्मद के बीच हुआ। हाजी इब्राहीम का कहना था कि पीले और लाल रंग के वस्त्र पहनना इस्लामी नियम के अनुसार ठीक है जबकि सैय्यद मुहम्मद ने कड़े शब्दों में इसका विरोध किया।[7] सम्राट ने ऐसी परिस्थिति बदायुँनी को बुलवाया और कहा कि वह उलेमा को

1. एम० टी० टाइटस, आपसिट, पृ० 70
2. बदायुँनी, मुन्तखबउतवारीख, इलियट, जिल्द 5, पृ० 532
3. ब्लाक मैन आईने अकबरी, पृ० ix, टिप्पणी।
4. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 31
5. अबुल फज्ल, अकबर नामा, जिल्द 3, पृ० 498-99
6. बदायुँनी, जिल्द 2, पृ० 211
7. वही, पृ० 210-11

चेतावनी दे दें कि वे भविष्य में इस प्रकार का अभद्र व्यवहार इबादत खाने में न करें। बदायुँनी ने इसके उत्तर में कहा कि तब तो इबादत खाना बिल्कुल खाली रहेगा।[1] बदायुँनी के इस कथन से उस समय के उलेमा की मानसिक परिस्थिति की जानकारी मिलती है। जब भी किसी विषय पर इस्लामी कानून की व्याख्या होती थी तो उलेमा एक दूसरे के तर्क को काटने का प्रयास करते थे।

जब जलालुद्दीन को कुरान पर एक टिप्पणी लिखने के लिये कहा गया तो यह कार्य एक दूसरे के विरोधी विचारों के कारण पूरा नहीं हो सका।[2] एक वर्ग एक बात को संवैधानिक कहता तो दूसरा उसे असंवैधानिक होने की बात कहता।[3] उलेमा का पतन उनके दम्भी आचरण के कारण भी हुआ। वे दरबार में बड़े से बड़े अमीर की उपेक्षा करते थे।[4] बदायुँनी ने लिखा है कि अकबर स्वयं शेख अब्दु-नबी के जूतों को ठीक करता था, जिससे कि शेख को उसे पहनने में कठिनाई न हो।[5] प्रो० श्रीराम शर्मा का कहना है कि सद्रउससुदूर के विभाग को वजीफा और मद्देमाश उलेमा को देने के अधिकार दिये जाने से इस विभाग में भ्रष्टाचार फैल गया, जिससे उलेमा का पतन होना प्रारम्भ हुआ।[6] ऐसा समझा जाता है कि यदि सद्र को यह अधिकार न मिलता तो सम्भव था कि वह साधु-जीवन व्यतीत कर सकता।[7] सद्र को धन और भूमि वितरण के अधिकार मिल जाने से उलेमा वर्ग की प्रतिष्ठा गिरने लगी। अब्दुनबी राज्य के लिये एक कलंक हो गया।[8] शेख के इस आचरण का प्रभाव दूसरे उलेमा पर भी पड़ा। मखदूमउलमुल्क ने राजकोष का धन अपने निजी कार्यों में लगाया।[9] हाजी इब्राहीम सरहिन्दी को घूस लेने के

1. बदायुँनी, जिल्द 2, पृ० 211
2. वही।
3. वही, पृ० 259
4. श्रीराम शर्मा, दि रिलीजस पालिसी ऑफ दि मुगल एम्परर्स, बम्बई 1962, पृ० 17
5. बदायुँनी, जिल्द 2, पृ० 204; जिल्द 3, पृ० 80
6. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 17
7. वही।
8. वही, जिल्द 2, पृ० 77, 204-6
9. वही, पृ० 203

अपराध में नौकरी से निकाल दिया गया।[1] मुल्तान के काजी जलालुद्दीन ने शाही आदेश में जाल-साजी करके 5 लाख टंका गबन किया।[2] जाल-साजी के कार्यों के कारण धार्मिक विभाग के पदाधिकारियों को लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे।[3] अब्दुनबी की हत्या कर दी गई (1584), मखदुमउलमुल्क की मृत्यु के समय उसके पास असीम धनराशि थी।

अकबर का विचार था कि वह उलेमा से अधिक इस्लाम के सिद्धान्तों को समझता था। उलेमा की दलबन्दी और कटुता के कुप्रभाव से राज्य को बचाने के लिए अकबर ने शेख मुबारक, अबुलफज्ल और फैजी से सहायता ली और धार्मिक विवादों और समस्याओं के समाधान के लिए प्रयास किया। प्रो० श्रीराम शर्मा का विचार है कि शेख मुबारक और उसके पुत्रों ने अकबर को धार्मिक क्षेत्र में एक नयी उदार नीति अपनाने की सलाह नहीं दी बल्कि अकबर स्वतः इस नीति को अपनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था।[4] इतना कहा जा सकता है कि शेख मुबारक के परिवार ने अकबर को उदार नीति अपनाने में अपना सहयोग दिया।

आरम्भ में अकबर सद्रउससुदूर शेख अब्दुनबी का सम्मान करता था और धार्मिक मामलों में उसके निर्णय को स्वीकार करता था।[5] एक मामले में सद्रउससुदूर के निर्णय को स्वीकार करने में अकबर के सामने कठिनाई आ गई। मथुरा के एक ब्राह्मण को पैगम्बर मुहम्मद को अपशब्द कहने पर राजधानी में बुलाया गया और मुकदमे की सुनवाई करने पर शेख अब्दुनबी ने उसे मृत्यु दण्ड दिया। मृत्यु दण्ड कार्यान्वित करने के लिए सम्राट का आदेश अनिवार्य था। अकबर उस ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड नहीं देना चाहता था और उसने सद्रउससुदूर से अपने निर्णय पर पुनः विचार करने को कहा।[6] परन्तु शेख ने अपना निर्णय नहीं बदला। अकबर उस समय तक धार्मिक कट्टरता से अपने को दूर रख चुका था। उसने कोई स्पष्ट आदेश इस सम्बन्ध में नहीं दिया और मामले को शेख अब्दुनबी पर छोड़ दिया। अन्त में ब्राह्मण को फाँसी दे दी गई।[7] इस घटना का अकबर पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसी समय से मुबारक, अबुल फज्ल और फैजी

---

1. वही, जिल्द 2, पृ० 312
2. वही, जिल्द 3, पृ० 313
3. वही, पृ० 311
4. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 18
5. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 184
6. वही।
8. बदायुँनी, जिल्द 3, पृ० 80-83

मुल्लाओं की धर्मान्धिता के विरुद्ध अभियान चलाने लगे। यहाँ तक कि बदायूँनी भी मुल्लाओं की कट्टरता पसन्द नहीं करता था।[1]

अकबर स्वतंत्र न्यायपालिका के, जिसमें सम्राट का कोई हस्तक्षेप न हो, पक्ष में नहीं था। इस समस्या के समाधान के लिए शेख मुबारक और उसके लड़कों ने एक सुझाव दिया और अकबर के सामने कुछ प्रमुख विद्वानों के हस्ताक्षर के साथ एक 'महजर' प्रस्तुत किया[2] (1579) इसके अन्तर्गत धार्मिक विवादों को निपटाने के लिए अकबर को एकमात्र अधिकार दिया गया और सम्राट का निर्णय सभी वर्णों के लोगों को मानना निश्चित हुआ।[3] इस महजर पर हस्ताक्षर करने वाले उलेमा थे—मखदूमुलमुल्क, अब्दुनबी (सद्रउससुदूर), सद्रजहाँ (मुफ्ती), जलालुद्दीन (प्रधान काजी), मुबारक, गाजी खाँ।[4] बदायूँनी ने इस सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी बातें लिखी हैं। एक स्थान यर बदायूँनी ने लिखा है कि कुछ उलेमा ने महजर पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर किये और दूसरों ने दबाव के कारण ऐसा किया। परन्तु दूसरे स्थान पर वह लिखता है कि केवल मुबारक को छोड़कर सभी उलेमा ने अपनी इच्छा के विरुद्ध महजर पर हस्ताक्षर किये।[5] इस महजर पर हस्ताक्षर करने के बाद उलेमा का भविष्य समाप्त हो गया।[6] प्रो० कुरेशी का कहना है कि 'महजर' का उद्देश्य सफल नहीं हुआ, क्योंकि एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिलता जहाँ न्यायालयों के मामलों में अकबर ने हस्तक्षेप किया हो।[7] प्रो० श्रीराम शर्मा बदायूँनी के मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उलेमा ने स्वेच्छा से महजर पर हस्ताक्षर किया।[8] हस्ताक्षर करने वालों में मुख्य काजी जलालुद्दीन को अकबर ने ही नियुक्त किया था। वह सम्राट का विरोध नहीं कर सकता था। सद्रजहाँ 'महजर' प्रस्तुत किये जाने के बहुत लम्बे समय तक अपने पद पर बना रहा।[9] यह अनुमान किया जाता है कि वह सम्राट

1. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 185
2. विस्तृत विवरण के लिए देखिये, बदायूँनी, जिल्द 2, पृ० 270-72
3. वही।
4. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 32
5. बदायूँनी, जिल्द 2, पृ० 270-72
6. कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 32
7. वही, पृ० 186
8. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 32-33
9. तबकाते अकबरी, पृ० 392

का समथक रहा होगा। गाजी खाँ भी अपने पद पर 1584 ई० तक बना रहा। उसने भी दबात्र में आकर हस्ताक्षर नहीं किया। मखदूमुलमुल्क स्वयं सद्रउससुदूर के पद पर आसीन होना चाहता था और अब्दुनबी इस पद पर ही था। इन दोनों ने भी अपने इच्छानुसार ही हस्ताक्षर किया होगा।[1] विद्वानों की महजर के विषय में भ्रांत धारणाएँ थीं। इसके द्वारा अकबर के निर्णय का अधिकार केवल उस परिस्थिति में था जब उलेमा में मतभेद हो।[2]

अकबर का उद्देश्य था कि न्यायपालिका उसके इशारे पर चले। अबुल फज्ल के अनुसार काजीउलकुजात (प्रधान काजी) के पद पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति होती थी जिसकी अकबर के धार्मिक सिद्धान्तों में आस्था थी।[3] बदायुँनी ने न्याय विभाग में उलेमा की इस प्रकार को नियुक्तियों की निन्दा की है। अकबर पर दोषारोपण किया गया है कि इस्लामी न्यायपालिका के नियमों का उल्लंघन करके अयोग्य व्यक्तियों को न्याय विभाग में रखा गया।[4]

तथ्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि अकबर ने औरंगजेब की तरह सम्राट का विरोध करने वाले सद्रों को सेवा मुक्त नहीं किया। सभी पदाधिकारी पूर्ववत् अपने पदों पर बने रहे। अकबर ने 'महजर' का प्रयोग अपने विरोधी उलेमा को दबाने में नहीं किया, क्योंकि सम्राट द्वारा इस्लामी कानून की व्याख्या करने पर और निर्णय देने पर भी उलेमा का विरोध समाप्त नहीं हुआ।[5] सम्राट अपने धार्मिक आदेशों (फतवा) के द्वारा उलेमा को ऐसी बातें मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकता था जिन्हें वह वैधानिक और उलेमा वर्ग के लोग अवैधानिक समझते थे।[6] महजर का यह परिणाम हुआ कि सम्राट ने उलेमा से उनका वह अधिकार ले लिया, जिसके अन्तर्गत वे लोगों को उनके इस्लाम विरोधी विचारों के कारण दण्डित करते थे।[7] अकबर ने उलेमा को उनके धार्मिक विचारों के लिए दण्डित नहीं किया। परन्तु वे परिवर्तित स्थिति को सहन नहीं कर सके और उन्होंने अकबर को इस्लाम विरोधी

---

1. मैलेसन, अकबर, पृ० 158
2. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 33
3. आइने अकबरी, जिल्द 2, आइन 19
4. बदायुँनी, जिल्द 2, पृ० 309
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 33
6. वही।
7. वही, पृ० 34

आचरण करने का दोषी ठहराया। उलेमा ने सम्राट् के विरुद्ध आरोप लगाये और इस्लाम धर्म के प्रतिकूल कार्य करने की मनगढ़न्त कहानी को ईरान, काबुल, टर्की आदि दूर-दूर देशों तक फैलाया।[1]

उलेमा ने सम्राट् के विरुद्ध असफल षड्यन्त्र किया, जिसका नेतृत्व उसके भाई काबुल के शासक अब्दुल हकीम ने किया।[2] सलीम ने जब अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया तो उसे उलेमा के एक वर्ग का समर्थन मिला, यद्यपि उसने अपने पिता पर इस्लाम विरोधी कार्यों का कोई अभियोग नहीं लगाया।[3] संभवतः उत्तराधिकार के संघर्ष में उलेमा का सहयोग सलीम को मिला, क्योंकि उनका विश्वास था कि गद्दी पर बैठने के बाद सलीम उनके छोड़े हुए अधिकार को वापस करेगा और राज्य प्रशासन इस्लाम के सिद्धान्तों के आधार पर उनके परामर्श से चलायेगा।[4] यही कारण था कि उलेमा ने सलीम का समर्थन किया और खुसरों का विरोध किया।

जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के बाद उलेमा ने फिर से राज्य प्रशासन में अपने विशेषाधिकार को प्राप्त करने की चेष्टा की।[5] मुल्ला शाह अहमद ने जो एक प्रमुख धार्मिक नेता थे, सभी दरबारियों को पत्र लिखा कि वे जहाँगीर के शासन के प्रारम्भ में ही उलेमा का विशिष्ट स्थान फिर से दिलाने का प्रयत्न करें, नहीं तो कुछ समय बाद यह कार्य सम्भव नहीं हो सकेगा।[6] उलेमा की इस कार्यवाही का प्रभाव जहाँगीर पर पड़ा। उसने शेख फरीद को निर्देश दिया कि वह चार विद्वानों के नाम सम्राट् को दें, जो यह देखें कि राज्य में कोई कार्य इस्लाम के कानून के विरुद्ध न हो। जहाँगीर के इस आदेश का मुल्ला अहमद ने विरोध किया और कहा कि चार विद्वान् किसी भी विषय पर एकमत नहीं हो सकते। मुल्ला अहमद ने सुझाव दिया कि केवल एक व्यक्ति को ही इसके लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।[7] परन्तु अन्ततः किसी को भी

1. वही, पृ० 40
2. जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद याज्दी ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए अपना फतवा दिया। विद्रोह विफल होने के बाद काजी को मृत्यु दण्ड दिया गया।
3. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 40
4. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 4, पृ० 152
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 61
6. मुल्ला अहमद, मकतूबाते मुल्ला अहमद सरहिन्दी, जिल्द 1, 2, पृ० 46
7. वही, पृ० 26

नियुक्ति नहीं हुई। कट्टर पंथी मुल्लाओं को अकबर की अपेक्षा जहाँगीर में अधिक आस्था थी।[1] उलेमा जहाँगीर से इसलिए अधिक प्रसन्न थे कि उसका झुकाव हिन्दुओं की तरफ कम था और उसने मुसलमानों से हिन्दू रीति-रिवाजों और परम्पराओं को त्यागने के लिए कहा।[2] जहाँगीर की विशेषता थी कि उसने बिना धार्मिक कट्टरता का प्रदर्शन करते हुए अकबर की उदार नीति को त्याग दिया और इस्लाम के हितों की रक्षा की।[3]

प्रारम्भ में जहाँगीर ने अपने पिता अकबर की परम्पराओं को बनाये रखा। वह इबादतखाने में मुल्लाओं द्वारा धार्मिक चर्चा सुना करता था। उसने दूसरे धर्मों के विद्वानों से भी सम्पर्क स्थापित किया। मुल्ला अहमद सरहिन्दी ने लिखा है कि रमजान के महीने में जहाँगीर धार्मिक गोष्ठियों में भाग लेता था।[4] इन गोष्ठियों में जहाँगीर दूसरे धर्म के विद्वानों और मुल्लाओं को धार्मिक विवाद में भाग लेने के लिए आमंत्रित करता था। वह उन्हें सुनता था परन्तु विवाद में हस्तक्षेप नहीं करता था।[5] जहाँगीर प्रसिद्ध मुस्लिम सन्त मियाँ मीर से लाहौर में मिला और उसके संपर्क से लाभान्वित हुआ।[6] उसने गुजरात के गवर्नर को पत्र लिखा कि वह वाजिदुद्दीन के पुत्र को सरकारी अनुदान दे क्योंकि उसकी ख्याति राजधानी तक पहुँच गई थी।[7]

उलेमा का काफी सम्मान जहाँगीर के समय में किया गया। 'अदल और काजियों' को दरबार में प्रवेश करने पर 'जमीन बोस' की रसम नहीं अदा करनी पड़ती थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन दो वर्गों के उलेमा ने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर इस प्रथा का विरोध किया था।[8] परन्तु उन्हें 'सिजदा' करना पड़ता था। यदि कोई कट्टर उलेमा सिजदा करने से इनकार करता था तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता था। शेख अहमद सरहिन्दी के सिजदा करने से इनकार करने पर जहाँगीर ने उसे ग्वालियर के किले में कैद रखा। शेख का कहना था कि वह

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 61
2. मुल्ला अहमद, जिल्द 1, (3), पृ० 82
3. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 61
4. वही, पृ० 70
5. वही।
6. तुजुके जहाँगीरी, पृ० 290
7. वही, पृ० 62
8. वही, पृ० 100

केवल ईश्वर के आगे ही झुकेगा ।[1] जब बाद में जहाँगीर को पता चला कि उसके दरबार के कुछ उलेमा ने, जो शेख के विरोधी थे, सम्राट् पर शेख के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिये दबाव डाला था तो जहाँगीर ने शेख को मुक्त करने का आदेश दिया और तत्पश्चात् दरबार में शेख को सम्मानित किया।[2] इससे पता चलता है कि जहाँगीर ने शेख को 'सिजदा' न करने की छूट दे रखी थी। सम्राट् अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् नासिरुद्दीन बुरहानपुरी से मिला और उसे भी सिजदा से मुक्त कर दिया। कहा जाता है कि नासिरुद्दीन को बुरहानपुर से आमन्त्रित किया गया और उसकी भेंट जहाँगीर से राज उद्यान में हुई। ज्यों ही वह सिजदा करने के लिये झुका सम्राट् ने उसे सीने से लगा लिया।[3] जहाँगीर ने विशिष्ट उलेमा को सिजदा से मुक्त कर दिया था।

शेख अहमद सरहिन्दी उच्चकोटि के विद्वान् थे। उसके विरोधी दल के द्वारा उसे यातनाएँ भुगतनी पड़ीं। जहाँगीर ने शेख इब्राहीम को इस्लाम विरोधी कार्य करने पर चुनार के किले में परवेज की देख रेख में बन्दी बनाया।[4] काजी नूरूल्ला को शिया मत की तरफ झुकाव रहने पर कोड़े मारने की सजा दी गई, जिससे उसकी मृत्यु हो गई।[5] उलेमा ने जहाँगीर पर दबाव डाला कि वह रमजान के महीने में व्रत रखे। जहाँगीर ने इसे स्वीकार नहीं किया। एक बार इस्लामी कानून में दक्ष विद्वानों को खाने पर बुलाया। उसने खाने की मेज पर मदिरा और तरह-तरह का मांस रखा, जिसकी इस्लाम में अनुमति नहीं है। उलेमा ने इस भोजन को इस्लाम के प्रतिकूल बताते हुए खाने से इनकार कर दिया। सम्राट् ने उलेमा से पूछा कि किस धर्म में मदिरा और मांस के बिना भेदभाव के ग्रहण करने की अनुमति है। उलेमा ने उत्तर दिया कि केवल ईसाई धर्म ही इसकी अनुमति देता है। यह सुन कर जहाँगीर ने हास्यास्पद ढंग से कहा कि ऐसी परिस्थिति में सभी लोगों को ईसाई बन जाना चाहिए। उसने तुरन्त दर्जी बुलाने को कहा, जिससे कि मुसलमानों के वस्त्र काट कर छोटे-छोटे कोट बनाये जाएँ और पगड़ी को हैट में बदला जाय। सभी उलेमा सम्राट् के इस कथन से आश्चर्य चकित रह गये और अपने भविष्य के विषय में भयभीत हो

1. तुजुके जहाँगीरी, पृ० 275
2. रहमान अली, उलमाये हिन्द, पृ० 12
3. वही।
4. तुजुके जहाँगीरी, पृ० 37
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 68

उठे। उलेमा ने जहाँगीर से कहा कि सम्राट् कुरान के नियमों को चाहे पालन करें या न करें और वे किसी भी तरह का मांस और कितनी ही मात्रा में मदिरा का सेवन कर सकते हैं।[1]

जब शाहजहाँ गद्दी पर बैठा (1627) तो उसने धार्मिक क्षेत्र में किसी नयी नीति की घोषणा नहीं की। जहाँगीर ने काजी और मीर अदल के लिए सिजदा करना मना कर दिया था, परन्तु शाहजहाँ ने सभी वर्गों के लोगों को दरबार में प्रवेश करने पर सिजदा की प्रथा से मुक्त कर दिया था। उसका कहना था कि इस्लामी नियम के अनुसार केवल ईश्वर के लिए ही सिजदा किया जा सकता है।[2] शाहजहाँ ने जमीन बोस की प्रथा को भी इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल समझा और इसे भी समाप्त कर दिया (1636-37)। उसने 'चहार तसलीम' की प्रथा चलायी, जिसके अनुसार दरबार में प्रवेश करने वाले लोगों को सम्राट् को चार बार झुक कर नमस्कार करना पड़ता था। लेकिन शाहजहाँ ने उलेमा को इस प्रथा से छूट दे दी।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समय में दरबार की शानशौकत और धार्मिक कट्टरता के बीच संघर्ष चल रहा था, जिसमें शानशौकत की विजय हुई।[4]

शाहजहाँ अपने दरबार को इस्लामी ढंग से चलाना चाहता था। मुसलमानी त्योहार धूमधाम से मनाये जाने लगे। उसके शासन के बारहवें वर्ष में ईद सजधज से मनायी गयी और 5 लाख रुपया दान के लिए मक्का भेजने की व्यवस्था की गई। इसके लिए एक विशिष्ट आलिम को 'मीरेहज' नियुक्त किया गया, जो हज करने वाले तीर्थयात्रियों का मुखिया समझा जाता था।[5] शाहजहाँ ने उलेमा वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ाई। जब भी उनको धार्मिक दायित्व सौंपा जाता था तो साथ में उनको ऊँचा मनसब दिया जाता था। जब 1642 में सैय्यद जलाल गुजराती को सद्रउससुदूर बनाया गया तो उसको 4 हजार का मनसब दिया गया, जिसे कुछ समय बाद बढ़ा कर 6 हजार कर दिया गया।[6] शाहजहाँ के पहले किसी भी शासक के समय उलेमा को इतना ऊँचा दर्जा नहीं दिया गया था। यही कारण है कि उलमा और अन्य विद्वानों ने

---

1. इलियट, जिल्द 6, पृ० 513-14
2. खाफी खाँ, जिल्द 1, पृ० 540
3. अब्दुल हमीद लाहौरी, जिल्द 1, i, 3 और 222-23
4. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 80
5. अब्दुल हमीद लाहौरी, जिल्द 1, i, पृ० 306-7
6. वही, जिल्द 2, पृ० 718

शाहजहाँ की इस्लाम के प्रति निष्ठा की सराहना की।[1] उलेमा को प्रसन्न करने के लिए शाहजहाँ ने हिन्दू और ईसाइयों पर दूसरे धर्मों के लोगों के धर्म परिवर्तन पर रोक लगा दी और मन्दिरों और गिरजाघरों को ध्वंस कराया।

शाहजहाँ ने इस्लाम के प्रसार के लिए धर्म परिवर्तन पर जोर दिया। इस कार्य के लिए उसने एक प्रमुख आलिम की देख रेख में एक पृथक् विभाग खोला।[2] शाहजहाँ ने यह नियम बनाया कि जब भी किसी हिन्दू या राजपूत परिवार की स्त्री विवाह के द्वारा शाहीमहल में आये, तो सबसे पहले उसे इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया जाय और इस आदेश का कड़ाई से पालन किया जाय।[3] इसके पहले अकबर और जहाँगीर ने अपने हरम में हिन्दू स्त्रियों को हिन्दू धार्मिक कृत्य करने की स्वतंत्रता दी थी। शाहजहाँ के इस नये आदेश की उलेमा ने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे इस्लाम धर्म का प्रवर्त्तक कहा।[4] तब भी जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में गैर-मुसलमानों और शियाओं को प्रशासन में स्थान मिला, क्योंकि उन्हें इनके सहयोग की आवश्यकता थी।[5] परन्तु कट्टरपन्थी उलेमा की प्रधानता शाहजहाँ के शासन काल में बनी रही।

सन् 1658 ई० में औरंगजेब के सिंहासनारूढ़ होने पर उलेमा वर्ग की प्रधानता राज्य प्रशासन में बढ़ गई। औरंगजेब ने दारा को दण्डित करने के लिए उलेमा का एक सम्मेलन बुलाया। उसने झरोखा दर्शन, तुलादान, संगीत, ज्योतिष और इतिहास लेखन पर, इस्लाम धर्म के प्रतिकूल होने के कारण, प्रतिबन्ध लगाया।[6] उसने सोने-चाँदी के बर्तन, दावात, तश्तरी, दीपक आदि का प्रयोग बन्द कर दिया।[7] उसने एक आदर्श इस्लामी राज्य बनाने के लिए एक विशेष विभाग खोला, जो मुहतसिब के अन्तर्गत रखा गया।[8] मुहतसिब का कर्त्तव्य था कि वह मुस्लिम जनता को इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों से अवगत कराये और इस्लामी समाज में लोगों को

---

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 81
2. लाहौरी, जिल्द 1, ii, पृ० 58
3. मासिरे आलमगिरी, पृ० 37; श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 92
4. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 92
5. आइ० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 35
6. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 107-8
7. मासिरे आलमगीरी, पृ० 162
8. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 8

आदर्श जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दे। इस उद्देश्य से साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में प्रमुख उलेमा की नियुक्ति मुहतसिब के अन्तर्गत हुई। मुहतसिब को अपने कार्यों में आशाजनक सफलता नहीं मिली।

उलेमा वर्ग इस्लामी कानून की व्याख्या अपने अपने ढंग से करने लगे। कोई वर्ग किसी बात को अवैधानिक कहता तो कोई उसे वैधानिक बतलाता। एक मुफ्ती ने 'फतवा' दिया कि ताड़ी का बेचना इस्लामी कानून के अनुसार है। तदनुसार एक राजकीय परिवार के सदस्य ने, जो प्रान्तपति था, अपने क्षेत्र में ताड़ी के प्रयोग की अनुमति दे दी। जब औरंगजेब को इसकी सूचना मिली तो उसने उस प्रान्तपति को मूर्ख उलेमा की सलाह मानने पर फटकारा।[1] साम्राज्य के दूसरे भागों में मादक वस्तुओं की बिक्री खुले आम होने लगी। मुहतसिब का विभाग लोगों के इस्लाम विरोधी आचरण रोकने में असमर्थ रहा।[2] विवश होकर औरंगजेब ने सभी प्रान्तपतियों को आदेश दिया कि वे अपने क्षेत्र में मुहतसिब के विभाग से सहयोग करें, जिससे यह बुराई दूर हो सके।

औरंगजेब ने धार्मिक कट्टरता की नीति अपनायी। उसने जनता के बीच सूफी सन्तों के संगीत कार्यक्रम को उलेमा द्वारा असंवैधानिक घोषित कराया और उस पर रोक लगाने की कार्यवाही की गई।[3] सूफी सन्तों ने संगीत पर रोक लगाने से इनकार कर दिया। शेख याह्या चिश्ती[4] ने, जो अहमदाबाद के विख्यात सन्त थे, औरंगजेब के आदेश का विरोध किया। जब मुहतसिब मिर्जा बाकर ने शेख के संगीत के कार्यक्रम पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा तो शेख और उसके शिष्यों ने इसका विरोध किया। जब मुहतसिब ने शेख पर बल प्रयोग करना चाहा और इसकी सूचना औरंगजेब को मिली तो उसने मुहतसिब[5] को निर्देश दिया कि वह शेख से दूर रहे। एक आलिम ने संगीत का घोर विरोध किया, उसने औरंगजेब से कहा कि सन्तों की मजार पर होने वाले गाने-बजाने पर तुरन्त रोक लगाई जानी चाहिये, क्योंकि संगीत के कारण मृत सन्तों की हड्डियाँ कब्र से बाहर निकल रही थीं। संगीत पर प्रतिबन्ध लगाने के आदेश का पूरी तरह से पालन नहीं हुआ। एक आलिम

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 109
2. वही, पृ० 109-11
3. मनूची, जिल्द 2, पृ० 8
4. औरंगजेब शेख याह्या चिश्ती का शिष्य था।
5. मीराते अहमदी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 70
6. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 564

को स्वयं एक सड़क पर संगीत के कार्यक्रम को रोकना पड़ा, क्योंकि मुहतसिब ने इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नहीं की।[1]

बोहरा सम्प्रदाय के लोग सुन्नी और शिया मतों में विभक्त थे। समय-समय पर सुन्नियों ने प्रशासन की सहायता से शियाओं के विरुद्ध कार्यवाही की और शिया मसजिदों मे सुन्नी इमाम और मुअज्जिनों की नियुक्ति की गई।[2] बहुत से बोहरा शियाओं ने सुन्नी परम्पराओं को मान्यता दी, परन्तु कुछ ने अपनी आस्था शिया मत में गुप्त रूप से बनाई रखी।[3] औरंगजेब ने उलेमा की सिफारिश पर शियाओं के विरुद्ध कार्यवाही की। कुमीर को ईसाई मत से प्रभावित एक पुस्तक लिखने पर मृत्यु दण्ड दिया गया। एक फकीर को जो अपने को ईश्वर कहता था, मृत्यु दण्ड मिला। हुसेन मलिक को पैगम्बर का अपमान करने पर मौत की सजा दी गई।[4] ऐसा ही दण्ड एक शिया दीवान मुहम्मद ताहिर को दिया गया, जिसने तीन खलीफाओं को अपशब्द कहे थे।[5] सरमद, जो दारा का गुरु था, उलेमा द्वारा इस्लाम विरोधी कार्यों के लिये दण्डित किया गया। सरमद ने मृत्यु का बड़ी प्रसन्नता से आलिंगन किया। आज भी उसकी मजार पर लोग उसे सम्मान देने जाते हैं।[6]

औरंगजेब का क्रोध मियाँ मीर के शिष्य मुल्ला शाह बदखशी पर भी पड़ा। मुल्ला शाह का सम्मान दारा और शाहजहाँ करते थे। शाहजहाँ कहा करता था कि भारत में दो सम्राट् थे, एक वह स्वयं और दूसरा मुल्ला शाह। मुल्ला शाह शाहजहाँ से तब मिलता था जब सम्राट् खड़ा रहता था, जिससे कि उसे सम्राट् को आदर करने के लिये झुकना न पड़े।[7] औरंगजेब ने दारा के विरोधी अमीरों के प्रभाव में आकर मुल्ला शाह को दरबार में आने का आदेश दिया।[8] परन्तु मुल्ला शाह उस बसन्त ऋतु में कश्मीर छोड़ने के लिये तैयार न था। औरंगजेब ने प्रान्तपति को आदेश दिया कि वह मुल्ला शाह को शाही फरमान मानने के लिये विवश करे।

---

1. खाफी खाँ, पृ० 561
2. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 113
3. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 263; अंग्रेजी अनुवाद, सप्लीमेन्ट, पृ० 110
4. मनूची, जिल्द 4, पृ० 118-21
5. मासिरे आलमगीरी, पृ० 120
6. बर्नियर, पृ० 317
7. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 115
8. आजमी तारीख कश्मीर, पृ० 165

अन्त में मुल्ला शाह ने औरंगजेब के सम्राट् बनने पर प्रशंसा के रूप में कुछ पंक्तियाँ लिख कर भेजीं, जिससे सम्राट् प्रसन्न हुआ और उसे लाहौर में रहने की अनुमति दे दी। विद्वानों का विचार है कि मुल्ला शाह की पंक्तियों का दुहरा अर्थ था और उनमें औरंगजेब की प्रशंसा नहीं थी। मुल्ला शाह विद्वान् था और उसने कुरान पर टिप्पणी लिखी थी।

औरंगजेब ने कवियों के विरुद्ध कार्यवाही की। कवि शादमान ने औरंगजेब की प्रशंसा में कुछ पंक्तियाँ लिखकर भेजीं, जिससे वह प्रसन्न हुआ, परन्तु उसने धार्मिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर उस कवि को कविता न लिखने के लिये कहा।[1] कहा जाता है कि काजी अब्दुल अजीज ने एक आलिम को सेवा मुक्त कर दिया, क्योंकि उसके कार्यालय की मुहर को डिजाइन एक कविता की पंक्ति की तरह थी। उस आलिम को सम्राट् को समझाने में काफी कठिनाई हुई कि उस कला का कविता से और कोई सम्बन्ध नहीं था।[2]

औरंगजेब स्वभाव से और परिस्थितियों के अनुसार कट्टरपन्थी उलेमा का पक्षपाती था। इस कारण उसे शिया और हिन्दू वर्गों का समर्थन नहीं मिला। औरंगजेब शियाओं का विश्वास नहीं करता था, क्योंकि मुगलों और ईरान के शाह के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसके अतिरिक्त शिया मुगलों का शिया रियासतें बीजापुर और गोलकुण्डा पर आक्रमण से अप्रसन्न थे।[3] हिन्दू मराठों के मुगल प्रदेश पर आक्रमण से बहुत प्रभावित हुये। वे हिन्दू साम्राज्य के नव-निर्माण का स्वप्न देख रहे थे।[4] यही कारण था कि औरंगजेब ने कट्टर मुल्लाओं के कहने पर हिन्दुओं पर जजिया लगाया और शिया रियासतों को नष्ट करने की योजना बनायी।[5] इन्हीं कट्टरपन्थी उलेमा के कारण औरंगजेब को हिन्दू और शिया सरकारी कर्मचारियों का सहयोग नहीं मिला।

दास प्रथा

मध्यकालीन भारत में दासों की स्थिति ठीक नहीं थी। उनकी वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए समकालीन साक्ष्य का अभाव है।[6] उस समय जागीर-

---

1. श्रीराम शर्मा, आर्पसिट, पृ० 115
2. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 248; ट्रेवर्नियर, जिल्द 1, पृ० 356
3. आई० एच० कुरेशी, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 35
4. वही।
5. वही।
6. लल्लनजी गोपाल, दि इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, 1965, पृ० 71

दारों और जमींदारों के आपसी संघर्षों में विजेता पक्ष विजित क्षेत्र से लोगों को पकड़ कर दास के रूप में परिणत कर देते थे। इस प्रकार दासों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। दास प्रथा हिन्दू समाज में निर्दिष्ट समय से बहुत काल पूर्व से चली आती थी।[1] गौरीशंकर हीराशंकर ओझा ने लिखा है "यहाँ की दास प्रथा अन्य देशों की दास प्रथा की भाँति कलुषित, घृणित और निन्दनीय नहीं थी। वे दास घरों में परिवार के एक अंग की तरह रहते थे।"[2] प्राचीन भारतीय समाज में दासों को मुक्त करने की व्यवस्था थी। जो दास यदि कर्ज के कारण बन्धन में रहते थे, अपने मालिक को वे कर्ज अदा करने के बाद मुक्ति पा जाते थे। दास की सेवा से यदि मालिक प्रसन्न हो जाता था तो उसे दासता के बन्धन से मुक्त कर देता था।[3] दास प्रथा का उल्लेख स्मृतियों में भी मिलता है। उनके अनुसार दास 4 वर्गों में विभक्त थे—जो दास परिवार में पैदा हुआ हो, जिन्हें खरीदा गया हो, जिन्हें लाया गया हो, और जिन्हें बिसारत के रूप में प्राप्त किया गया हो। पाँचवीं श्रेणी में वे आते थे जिन्होंने अपने को बेच दिया हो।[4] दक्षिण भारत में विजय नगर राज्य में दासता की प्रथा को वैधानिक मान्यता प्राप्त थी।[5] दासों के साथ इतना अच्छा व्यवहार किया जाता था कि वे दास, मालूम ही नहीं पड़ते थे यही कारण था कि—चीनी और अरब यात्रियों को भारतीय समाज में सेवकों और दासों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ा। इससे उन्होंने दास प्रथा का कोई वर्णन अपने यात्रा विवरणों में नहीं दिया।[6] परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में दासों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था और उन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती थीं,[7] जिससे वे आत्महत्या तक करने को

---

1. गौरीशंकर हीराशंकर ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 1945, पृ० 49
2. वही।
3, वही, पृ० 49
4. विवाद रत्नाकर, पृ० 139; व्यवहार सार, पृ० 152; विवाद चिन्तामणि, पृ० 63
5. दि डेलही सल्तनत, पृ० 583; एच० जी० रालिन्सन, ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, सम्पादित, सी० जी० सेलिगमैन, लन्दन, 1932, पृ० 38
6. गौरीशंकर हीराशंकर ओझा, आपसिट, पृ० 50
7. लल्लनजी गोपाल, आपसिट, पृ० 75

बाध्य हो जाते थे ।[1] रूपवती दासियों को काम वासना की तृप्ति के लिए रखने की प्रथा थी ।[2]

मुसलमानों के आक्रमण के कारण भारत की आर्थिक स्थिति गिर गई । अनेक स्थानों में अकाल के कारण लोगों को जीवन निर्वाह के लिए दास बनना पड़ा । अलउत्बी का कहना है कि महमूद गजनी के आक्रमण के कारण दासों की संख्या बढ़ गई ।[3] ऐसा अनुमान किया जाता है कि 5 लाख हिन्दुओं को दास बनाकर गजनी ले जाया गया ।[4] महमूद ने 1017 ई० में कन्नौज से इतने अधिक लोगों को दास बनाया, जिसकी गणना नहीं की जा सकती थी ।[5] हसन निजामी के अनुसार 1197 ई० में तुर्की सैनिकों ने गुजरात पर आक्रमण किया और 20 हजार लोगों को दास बनाया । कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1202 ई० में कालिंजर पर विजय प्राप्त करके 50 हजार लोगों को दास बनाया ।[6]

ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम प्रशासन में दासों की स्थिति में सुधार हुआ और उनके साथ अच्छा व्यवहार किया गया । मुस्लिम शासक और अभिजात वर्ग के लोग अपने दासों में अधिक रुचि लेने लगे और उन्हें सुशिक्षित और कुशल बनाने के लिए प्रयत्न किया । इस्लाम धर्म के भाई चारे के सिद्धान्त में विश्वास रखता है । यही कारण था कि दासों को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया और न दासता को कलंक समझा गया । फलतः मध्य युग के दासों में प्रभावशाली व्यक्ति सुल्तान के पद पर पहुँचे और गुलाम वंश की स्थापना हुई ।

दास रखने की प्रथा मुस्लिम समाज के प्रत्येक प्रतिष्ठित परिवार में थी ।[7] ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, साधारण लोग भी घरेलू काम काज को स्वयं करने में हीनता का अनुभव करने लगे और दास और दासियों को अपने घरों में रखने लगे ।[8]

---

1. लल्लनजी गोपाल, आपसिट, पृ० 75
2. वही, पृ० 80
3. इलियट, जिल्द 2, पृ० 39
4. इलियट, जिल्द 2, पृ० 26
5. वही, पृ० 45
6. वही, पृ० 230-31
7. बर्नी, आपसिट, पृ० 192, 226 । खल्जी सुल्तानों के समय में अभिजात वर्ग के लोगों को दासों को रखने का अत्यधिक शौक था (वही) ।
8. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 74

भारत में दूसरे देशों से दास लाये जाते थे, लेकिन भारत के दासों की अपेक्षा कार्य कुशलता का अभाव था। आसाम क्षेत्र के दास शारीरिक शक्ति के कारण बहुत उपयोगी थे, इनकी माँग अधिक थी। एक विशेष प्रकार के दासों को हरम में मुस्लिम महिलाओं की सेवाओं के लिए रखा जाता था।[1] तेरहवीं सदी में इस प्रकार के दासों का व्यापार बंगाल में अधिक होता था।[2] इन्हें कभी-कभी मलाया द्वीप समूह से भारत में लाया जाता था।

अलाउद्दीन के समय में लगभग 50 हजार दास थे, लेकिन राज्य की तरफ से उनके लिए विशेष व्यवस्था नहीं थी।[3] इब्नबतूता ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलक ने बड़ी संख्या में दासियों की व्यवस्था की थी। विदेशों में वह उपहार स्वरूप उन्हें वहाँ के शासकों को भेजता था। सुल्तान ने एक बार चीन के सम्राट् को एक सौ दास और एक सौ दासियाँ, जो संगीत और नृत्य में निपुण थीं, भेजा। ये सभी दास-दासियाँ परिवर्तित हिन्दू थे।[4] अफीफ ने लिखा है कि फीरोज तुगलक के समय में दासों की संख्या लगभग 1 लाख 80 हजार तक पहुँच गयी थी। सुल्तान ने इनकी शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की और उन्हें विभिन्न कलाओं और उद्यम के लिए प्रशिक्षण देने के लिए कारखानों में भेजा। दासों की देख-रेख के लिए सुल्तान ने एक पृथक् विभाग खोला और वित्तीय सहायता पहुँचाने के लिए एक नये दीवान की नियुक्ति की। उसके समय में 12 हजार दासों को प्रशिक्षण दिया गया।[5]

दासियाँ दो प्रकार की होती थीं—एक श्रेणी की दासियाँ घरेलू काम काज के लिए रखी जाती थीं और दूसरी श्रेणी की दासियाँ आमोद-प्रमोद के लिए थीं।[6] घरेलू काम काज में लगी दासियों को अनेक यातनाएँ उठानी पड़ती थीं,[7] परन्तु दूसरे श्रेणी की दासियों का परिवार में अधिक प्रभाव था। दासियों को भारत के अतिरिक्त दूसरे देशों, जैसे चीन और तुर्कीस्तान, से मँगाया जाता था।[8] एक मुगल

---

1. इस प्रकार के दासों को पकड़कर बचपन में उनका पुरुषत्व नष्ट कर दिया जाता था।
2. मूल, जिल्द 2, पृ० 185; बारबोसा, जिल्द 2, पृ० 141
3. इलियट, जिल्द 3, पृ० 342
4. रेहला, पृ० 63, 151
5. अफीफ, इलियट, जिल्द पृ० 341-342
6. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 74
7. वही।
८ अमीर खुसरो, इजाजे खुसरवी, जिल्द 1, पृ० 166-67

अमीर ने दासियों के वर्गीकरण के विषय में व्यंग्यात्मक ढंग से कहा है कि एक खुरासानी को घर के काम के लिए, एक हिन्दू को शिशुओं के लालन-पालन के लिए, एक ईरानी को आमोद-प्रमोद के लिए, ट्रांस आक्सायनियन को पीटने के लिए, जिसे तीनों श्रेणियों के दासियों को चेतावनी हो जाय, रखना चाहिए ।[1]

कुछ समय के बाद दास रखने की प्रथा हिन्दू समाज में भी प्रचलित हो गई। हिन्दू अभिजात वर्ग के लोग दासों को घरेलू कार्य और सैनिक काम के लिए भी रखने लगे।[2] दक्षिण में वेश्यायें भी दासियों को सेवा के लिए रखने लगीं।[3]

राजस्थान की रियासतों में मध्ययुग की तरह 19वीं सदी तक दासता की प्रथा प्रचलित रही। इस सम्बन्ध में कर्नल टाड ने लिखा है कि खेतिहर दास (जिन्हें 'बसाई' कहा जाता है) के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी दास होते थे, जिन्हें 'गोला' या 'दास' कहा जाता था। ये प्रायः राजपूत राजा की अवैध सन्तान थीं जिनका राज्य से कोई अधिकार नहीं था। उनकी सन्तान भी दास होती थीं, जिनका वर्गीकरण उनकी माँ के अनुसार किया जाता था। टाड महोदय का कहना है कि मेवाड़ में उनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया जाता था। उनकी पहचान यह थी कि वे बायें कुहनी में चाँदी का छल्ला पहनते थे।[4]

इस्लामी समाज में दासों को भी अधिकार मिले हुये थे। विधि-वेत्ताओं का कहना है कि इस्लाम के अन्तर्गत एक मालिक को अपने दास के लिए उन सभी सुख और सुविधाओं को उपलब्ध कराना चाहिए जिनका उपभोग वह स्वयं करता हो।[5] डॉ० के० एम० अशरफ ने लिखा है कि यदि दास पहले हिन्दू समाज के निम्न वर्ग का था तो इस्लाम धर्म के ग्रहण करने से उसकी स्थिति निश्चय ही ऊँची हो जाती थी। यदि वह ऊँची जाति का होता था तो इस्लाम स्वीकार करने के बाद हिन्दू समाज में उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती थी। वह फिर से हिन्दू समाज में अपमानजनक परि-स्थितियों में ही जा सकता था।[6]

---

1. ब्लाकमैन, जिल्द 1, पृ० 327
2. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 75
3. मेजर इण्डिया इन दी फिफ्टीन्थ सेन्चुरी, लन्दन, 1857, पृ० 29
4. कर्नल टाड, एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, जिल्द 1, पृ० 217-20
5. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 75, टिप्पणी संख्या 5
6. वही।

डॉ० घोषाल का कहना है कि दास बनाने में मुस्लिम शासक साम्प्रदायिकता की भावना से प्रेरित थे। वे हिन्दू स्त्रियों को अधिक संख्या में दासी बनाने में गौरव का अनुभव करते थे। यहाँ तक की हिन्दू राजकीय परिवारों की लड़कियों को भी मुस्लिम शासकों के दरबार में और अमीरों के यहाँ गायन और नृत्य के लिए बाध्य किया गया।[1] निजामुद्दीन अहमद के अनुसार राजपूतों ने मुस्लिम स्त्रियों, विशेषकर सैय्यद महिलाओं को दासी बनाया और उन्हें संगीत और नृत्य की शिक्षा दी।[2]

दास की स्थिति वैधानिक रूप से भिन्न थी। वह तो युद्ध बन्दी होता था। अपने बन्दी बनाने वालों की दया पर वह पूर्णतः आश्रित होता था।[3] यदि मालिक चाहे तो दास को जान से मार सकता था, या उसे बेच सकता था। इस स्थिति को दोनों पक्ष अच्छी तरह से समझते थे। यदि मालिक अपने दास की जान छोड़ देता था और उसे अपने घर में सफाई आदि कार्य करने में लगा लेता था तो यह समझा जाता था कि मालिक ने उदारता का परिचय दिया। इसी प्रकार दास यदि गुलामों के बाजार में बेच दिया गया हो और किसी ने उसे खरीदा हो तो वह दास मालिक की व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान थे।[4]

इस्लामी समाज में सम्पत्ति के रूप में दास की मान्यता थी। कानून में यह व्यवस्था थी कि यदि किसी दास को सुल्तान दासता के बन्धन से छुड़ाना चाहता था तो उसे उसके मालिक को मुआवजा देना पड़ता था।[5] इसके अतिरिक्त उसे किसी अन्य क्षेत्र में स्वतन्त्र नहीं समझा जाता था, और यदि उसे दण्ड देना होता था तो उसके मालिक की उपस्थिति में ही उसे दण्डित किया जाता था।[6]

डॉ० के० एम० अशरफ का विचार है कि मध्ययुग में दासों की स्थिति साधारण जनता से गिरी नहीं थी। यदि वह दास हिन्दू समाज की निम्न श्रेणी से परिवर्तित मुस्लिम हो तो उसकी दशा पहले से कहीं अधिक अच्छी थी।[7] कभी-कभी ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं जब कि एक स्वतन्त्र व्यक्ति को साधन की कमी से दैवी

1. दि देलही सल्तनत, पृ० 582
2. तबकाते अकबरी, पृ० 597
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 76
4. वही।
5. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 76
6. फिकए फिरोजशाही, पृ० 186, उद्धृत, वही।
7. वही।

विपत्तियों के कारण भूखों मरते देखा गया परन्तु सुल्तान के दास को प्रचुर मात्रा में भोजन की सामग्री उपलब्ध रही।[1] इस प्रकार सुल्तान की सेवा में रत दासों को अनेक सुख और सुविधायें मिलतीं थीं जबकि स्वतन्त्र व्यक्ति को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी राजनैतिक परिस्थितियों के कारण कुशाग्र बुद्धि वाले दासों को सामाजिक क्षेत्र में ऊँचा स्थान प्राप्त करने में सफलता मिली।[2]

दास प्रथा ने समाज को दो वर्गों में विभक्त किया। एक वर्ग केवल दूसरे वर्ग का काम करने के लिए रहा और दूसरा वर्ग काम न करने के लिए हो गया। इस स्थिति का दूसरा कुप्रभाव यह पड़ा कि समाज में यह धारणा बन गई कि शारीरिक श्रम केवल दासों के लिए था और इसे निन्दनीय समझा जाने लगा। दास प्रथा से समाज में निर्दयता और बर्बरता की वृद्धि हुई। दासों को उचित शिक्षा और सुविधायें न मिलने से उनका नैतिक पतन हुआ। इन्हीं सब कारणों से मध्ययुगीन समाज की प्रगति अवरुद्ध हो गई।

---

1. अफीफ तारीखे फिरोजशाही, पृ० 444
2. लेनपूल-मेडिवल इण्डिया अण्डर मुहमडन रूल, लन्दन 1903, पृ० 64

अध्याय 5

मुस्लिम प्रशासन में हिन्दुओं की स्थिति

सल्तनत काल

इस्लामी राज्य में गैर-मुसलमानों को दो वर्गों में रखा गया है—प्रथम, अहले किताब, अर्थात् वे लोग जिन्हें धार्मिक मार्ग का दिग्दर्शन कराने के लिए पैगम्बर हुए हों, जैसे यहूदी, ईसाई आदि और द्वितीय, वे सभी लोग जो 'दाहिर' अथवा मूर्तिपूजक कहे जाते हैं। इस्लामी कानून के अन्तर्गत प्रथम वर्ग के लोग इस्लामी राज्य में जजिया कर देकर रह सकते हैं, परन्तु दूसरी श्रेणी के लोग इस्लामी राज्य में तभी रह सकते हैं जबकि उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया हो या उन्हें दास बना लिया गया हो। धर्म परिवर्तन न करने पर उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था।

मुहम्मद बिन कासिम ने 712 ई० में सिन्ध पर अधिकार कर लेने के बाद हिन्दुओं को—जो इस्लामी कानून के अन्तर्गत द्वितीय श्रेणी में थे और दाहिर कहे जाते थे—अहले किताब की संज्ञा दी, क्योंकि कभी हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन से इन्कार करने पर जान से मारा नहीं जा सकता था। उस समय अरबों की संख्या कम थी और हिन्दू अधिक संख्या में थे। इसीलिए हिन्दुओं को जजिया कर देने पर इस्लामी राज्य में रहने की अनुमति दी गई। प्रोफेसर निजामी का कथन है कि दिल्ली के सभी सुल्तानों ने इसी स्थिति को स्वीकार किया और हिन्दुओं से जजिया लेकर अपने राज्य में रहने दिया।[1] परन्तु जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि कट्टर विचारधारा के उग्रवादी मुसलमानों (उलेमा) ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने सुल्तान इल्तुतमिश पर प्रभाव डाला कि हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन बलपूर्वक किया जाय। वजीर निजामुलमुल्क जुनैदी ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और कहा कि ऐसा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे हिन्दू सामूहिक विद्रोह कर सकते हैं और मुस्लिम राज्य समाप्त हो जायेगा। परन्तु इल्तुतमिश ने उलेमा को उत्साहित करने के उद्देश्य से कहा कि भविष्य में इस पर फिर विचार किया जायेगा जब मुस्लिम सैनिकों

---

1. के० ए० निजामी, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन दि थर्टीन्थ सेंचुरी, पृ० 315

की संख्या नगरों में अधिक हो जायेगी। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ से ही हिन्दू मुस्लिम राज्य में सुरक्षित नहीं थे और वे सताये जाते रहे। खलीफा ने मुहम्मद बिन कासिम को निर्देश दिया था कि वह सिन्ध में तोड़े गये मन्दिरों के पुनर्निर्माण में योगदान दे। यद्यपि महमूद गजनवी की सेना में कई प्रमुख हिन्दू सेनापति और अधिकारी थे फिर भी उसने अपने आक्रमण के समय अनेक हिन्दू मन्दिरों को गिराया और इस्लाम धर्म के प्रसार का श्रेय प्राप्त किया। सिन्ध में मुस्लिम प्रशासन ने ब्राह्मणों को जजिया वसूलने और राजकोष में जमा करने के लिए नियुक्त किया।[1]

आरम्भ से ही मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं पर इस्लामी कानून लादने और उनके सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया। परन्तु इसके अनेक कठिनाइयाँ उनके समक्ष आईं। राज्य प्रशासन में उलेमा का एकाधिकार था जिसके संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण के कारण हिन्दुओं का जीवन कष्टमय था। यद्यपि अलाउद्दीन खिल्जी ने धर्म को राजनीति से पृथक् रखा और उलेमा को राज्य प्रशासन में हस्तक्षेप करने का अनुमति नहीं दी फिर भी उसके शासन काल में हिन्दुओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मुहम्मद तुगलक ने कानून की दृष्टि में हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं रखा। लोदी वंश के सुल्तानों के समय में हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच सामंजस्य का स्वरूप दिखाई देता है जिसका प्रमुख कारण इनकी उदारता की अपेक्षा सूफी सन्तों और हिन्दू सन्तों का प्रभाव था।

हिन्दुओं पर जजिया कर लगाना

इस्लामी कानून के अन्तर्गत 'गैर मुस्लिम' अनिवार्य सैनिक सेवा के बदले राज्य को जजिया कर देते थे। इसके बदले इस्लामी प्रशासन उनके जान माल की रक्षा करता था। प्रोफेसर निजामी के अनुसार जजिया कर का लगाया जाना कोई नयी बात नहीं थी। इस प्रकार का कर भारत में 'तुरुष्क दण्ड', फ्रान्स में 'होस्ट', जर्मनी में 'कामन पेनी', इंगलैण्ड में 'स्कूरेज' के नाम से वसूल किया जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि जजिया कर न केवल राज्य की आय का एक स्रोत था। बल्कि गैर मुसलमानों को निम्न स्तर पर लाने के लिये एक साधन था।[3] प्रोफेसर निजामी के

---

1. चचनामा, इलियट, 1, पृ० 184-86
2. के० ए० निजामी, पृ० 310
3. मकलाते शिबली, जिल्द 1, पृ० 205; निजामी, पृ० 311 मीराते अहमती, जिल्द 1, कलकत्ता, 1928, पृ० 296-97।

इसी सन्दर्भ में ईमाम नूरी ने कहा है कि जजिया द्वारा गैर मुस्लिम को

अनुसार इस कर की वसूली प्रत्येक गाँव के आधार पर की जाती थी। गाँव के लोग मिलकर अपने गाँव के निर्धारित कर को अदा करते थे।[1] यदि धर्म परिवर्तन गाँव छोड़ने या बीमारी आदि कारणों से जनसंख्या में कमी हो जाती थी, उस समय भी गाँव के लिये निर्धारित कर में कोई कमी नहीं की जाती थी।[2] इस प्रकार लोगों पर इस कर से आर्थिक बोझ बहुत बढ़ जाता था।

भारत में सबसे पहले मुहम्मद बिन कासिम ने हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया। 'चचनामा' के अनुसार इस कर की वसूली ब्राह्मणों के द्वारा की जाती थी। इस सेवा के बदले उन्हें जजिया से मुक्त रखा गया।[3] जजिया कर वसूल करने वाले ब्राह्मण हिन्दुओं पर दबाव डालते थे कि वे नियमित रूप से यह कर अदा करें और यदि वे ऐसा करने में असमर्थ हों तो वे अपना देश छोड़कर अन्यत्र किसी दूसरे हिन्दू राज्य में चले जाएँ।[4] कुछ विद्वानों का मत है कि चूँकि जजिया कर राज्य की आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था इसलिए मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए विवश नहीं किया क्योंकि इससे राज्य की आय कम हो जाती।[5] इस्लामी नियम के अनुसार गैर मुसलमानों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। जजिया कर देकर वे मात्र अपने जीवन की सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त कर सकते थे।[6]

सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि कुरान (9, 29) के अन्तर्गत गैर-मुसलमानों से जजिया कर वसूल करके उन्हें अपमानित करने की व्यवस्था है।[7] प्रोफेसर मुहम्मद हबीब इस मत से सहमत नहीं है कि दिल्ली के सुल्तान जजिया कर द्वारा हिन्दुओं को अपमानित करते थे। उनका कहना है कि समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। परन्तु यदि अलाउद्दीन खल्जी और काजी मुगीसुद्दीन के जजिया कर सम्बन्धी वार्त्तालाप का विश्लेषण किया जाय

अपमानित करना इस्लाम धर्म के प्रतिकूल है। (आर० पी० त्रिपाठी, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 340-41)

1. निजामी, पृ० 313
2. वही, पृ० 313
3. इलियट, जिल्द 1, पृ० 184-87
4. वही।
5. के० एस० लाल, हिस्ट्री ऑफ खल्जीज, पृ० 250
6. एन० पी० अगनीदस, मुहम्मडन थ्योरी ऑफ फाईनेन्स, पृ० 399, 528
7. हिन्दुस्थान स्टैण्डर्ड, पूजा अंक, 1950

18

तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं को उनकी हीनता का आभास कराना मुस्लिम प्रशासन का मुख्य ध्येय रहा होगा।[1]

धनी, मध्यम और निर्धन वर्ग के हिन्दुओं को क्रमशः 48, 24 और 12 टंका प्रति वयस्क की दर से जजिया कर का भुगतान करना पड़ता था, स्त्रियाँ, बच्चे और अपंग इस कर से मुक्त थे।[2] प्रोफेसर निजामी का विचार है कि जजिया कर वसूल नहीं किया जाता था, क्योंकि दिल्ली के सुल्तानों के पास प्रशासनिक अधिकारियों की कमी थी।[3] परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि जो अधिकारी भूमि कर व अन्य करों की वसूली लोगों से करते थे, वे ही अधिकारी जजिया भी वसूल करते रहे होंगे।

ऐसा कहा जाता है कि अलाउद्दीन खल्जी ने हिन्दुओं पर जजिया नहीं लगाया और न ही उन्हें 'जिम्मी' की श्रेणी में रखा। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इस्लामी कानून के अन्तर्गत वह जो न मुसलमान हो और न 'जिम्मी' हो, मुस्लिम प्रदेश में रहने के योग्य नहीं थे।[4] अलाउद्दीन के समय में हिन्दुओं पर करों का

---

1. काजी मुगीसुद्दीन ने सुल्तान के समक्ष अपना विचार प्रस्तुत किया, हिन्दुओं को अत्यन्त विनीत भाव से जजिया वसूल करने वाले अधिकारी के पास जाना चाहिए। यदि वह अधिकारी चाँदी की माँग करे तो उन्हें विनम्रता पूर्वक तुरन्त सोना देना चाहिए। यदि वह अधिकारी किसी हिन्दू के मुँह में धूल फेंकना चाहे तो तुरन्त उसे अपना मुँह फैलाकर उसे ग्रहण करना चाहिए। हिन्दुओं का यह आत्मसमर्पण उनके इस विनीत भाव से जजिया कर के देने और उनके मुँह में धूल फेंकने से प्रदर्शित किया जाता है (बर्नी, तारीखे फिरोजशाही, पृ० 290-91)।
2. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, अप्रैल 1963, पृ० 285; अफीफ के अनुसार जजिया की दर 40, 20, 10 टंका थी।

   अरबों के शासनकाल में सिन्ध में 48, 24 और 12 दिरहम लिया जाता था (इलियट, जिल्द 1, पृ० 182)।

   भारत के बाहर गैर मुसलमानों से जजिया की दर 1, 2, 4 दिरहम निर्धनों, मध्यम और धनी वर्ग से लिया जाता था (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, जिल्द 1, पृ० 105)।
3. निजामी, पृ० 313
4. आर० लेवी, एन इण्ट्रोडक्शन टु दि सोशियोलाजी ऑफ इस्लाम, जिल्द 2, लंदन 1933, पृ० 263

   जिम्मी वह गैर मुस्लिम है जो इस्लामी राज्य में रहने के लिये मुस्लिम

अधिक बोझ था। उपज का पचास प्रतिशत भूमि कर के अतिरिक्त चरागाहों और सम्पत्ति पर कर लिया जाता था। हिन्दुओं की आर्थिक दशा गिर गई। हिन्दू सरकारी कर्मचारियों—खुत, मुकद्दम और चौधरी जो उस समय तक करों से मुक्त थे, कर देने के लिए विवश किया गया। इसका वर्णन समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने किया है। उनका कहना है कि हिन्दू इतने निर्धन हो गये कि उनकी स्त्रियाँ जीविकोपार्जन के लिए मुसलमानों के घर जाकर नौकरी करने लगीं।[1] बर्नी के इस कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है परन्तु इससे हिन्दुओं की उस समय की आर्थिक स्थिति का पता चलता है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद प्रशासनिक नियमों में कुछ उदारता आई और मुबारक शाह खल्जी के समय में उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। बर्नी का कहना है कि "जो हिन्दू अलाउद्दीन के समय में अन्न और वस्त्र-विहीन थे, अब बढ़िया रेशमी वस्त्र पहन कर घुड़सवारी करने लगे।"[2]

तुगलुक सुल्तानों में मुहम्मद तुगलुक धार्मिक क्षेत्र में सबसे उदार शासक था। सम्भवतः जजिया के सम्बन्ध में उसने अपने विचार नहीं बदले। जब चीन के सम्राट् ने हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र सम्भल में एक बुद्ध मन्दिर बनवाने की अनुमति माँगी तो सुल्तान ने जजिया की माँग की।[3] फिरोज तुगलुक ने ब्राह्मणों से भी जजिया वसूल किया जो उस समय तक इस कर से मुक्त थे। डॉ० मोइनुल हक ने सुल्तान के इस कार्य को न्यायोचित कहा है। उनका कहना है कि यदि सुल्तान ने ब्राह्मणों से जजिया वसूल किया तो उसने मुसलमानों से 'जकात' वसूल किया।[4] परन्तु यह विचार तर्क संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि जकात मुसलमानों से स्वेच्छापूर्वक लिया जाता था जबकि जजिया कर हिन्दुओं के लिए अनिवार्य था। फिरोज तुगलुक की अपेक्षा अरबों का प्रशासन सिन्ध में काफी उदार था। जब हिन्दुओं ने मुहम्मद कासिम से तोड़े गये मन्दिरों को फिर से बनवाने की अनुमति माँगी तो उसने खलीफा से निर्देश प्राप्त कर उन्हें धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की।[5] बर्नी ने हिन्दुओं को—

शासक से समझौता करता है (देखिये, हेमिल्टन, हिदाया, जिल्द 2, पृष्ठ 219; गिब और बीवेन, जिल्द 2, पृ० 209)

1. बर्नी, पृ० 385
2. वही, इलियट, जिल्द 3, पृ० 213
3. इब्नबतूता, रेहला, अनुवाद मेहदी हसन, पृ० 150
4. बार्नीस हिस्ट्री ऑफ तुगलक्स, पृ० 92
5. चचनामा, इलियट, जिल्द 1, पृ० 186

धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता देने का विरोध किया। उसका कहना था कि जजिया के रूप में कुछ टंका देने से उन्हें मूर्ति पूजा तथा मन्त्रों के उच्चारण की अनुमति नहीं दी जा सकती।[1] कुछ विद्वानों का कहना है कि ब्राह्मणों पर जजिया कर लगाने में फीरोज का दृष्टिकोण धार्मिक न होकर आर्थिक था।[2] डॉ० जे० एम० बनर्जी ने लिखा है कि सुल्तान को ब्राह्मणों की निर्धनता पर तरस आया और मानवता के आधार पर उसने उन पर जजिया के दर में कमी कर दिया।[3]

सैय्यद सुल्तानों के समय में अराजकता की स्थिति रही। लगान की वसूली के लिए सेना का प्रयोग किया जाता था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दुओं से जजिया वसूल करना सम्भव नहीं रहा होगा।[4] सैय्यद सुल्तान हिन्दुओं के समर्थन से अपनी शक्ति सुदृढ़ करना चाहते थे इसीलिए उन्होंने हिन्दुओं को इस कर से मुक्त रखा होगा।[5] बहलोल लोदी उदार शासक था। उसके समय में हिन्दू जज़िया कर से मुक्त थे। परन्तु उसका पुत्र सिकन्दर लोदी धार्मिक क्षेत्र में अनुदार था।

ऐसा प्रतीत होता है कि असामान्य परिस्थितियों के कारण दिल्ली के अनेक सुल्तान हिन्दुओं से जजिया वसूल करने में सफल नहीं हुए होंगे। इब्राहीम लोदी को अपने अमीरों से संघर्ष करना पड़ा इसीलिए उसने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति चलाई। आगे चलकर मुगल सम्राट् अकबर ने 1564 ई० में विधिवत जजिया कर को समाप्त किया। स्पष्ट है कि जजिया कर की व्यवस्था पूरे सल्तनत काल में बनी रही। परन्तु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण फिरोज तुगलुक की मृत्यु (1388) के बाद उसकी वसूली नहीं की जा सकी।

राज्य की प्रशासनिक सेवाओं में हिन्दुओं की नियुक्ति

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के समय से ही मुस्लिम सम्प्रदाय और शासन के अन्दर हिन्दुओं के प्रति घृणा और दुराव की भावना थी, जिसे समकालीन लेखकों ने अपनी पुस्तकों में व्यक्त किया है। ऐसी परिस्थिति में प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर हिन्दुओं का लिया जाना एक असम्भव बात थी। इस्लामी राजतन्त्र में गैर मुस्लिमों के लिए कोई स्थान नहीं था। इस तरह का एक आदेश खलीफा उमर

---

1. दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्या भवन, पृ० 620-21; देखिये रेहला, पृ० 261
2. आगा मेहदी हुसेन, तुगलक डायनेस्टी, पृ० 546
3. जे० एम० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ फीरोजशाह तुगलक, पृ० 124
4. मोरलैण्ड, अग्रेरियन सिस्टम ऑफ मोस्लिम इण्डिया, पृ० 60-67
5. के० एस० लाल—ट्वाइलाइट, पृ० 190

द्वितीय ने भेजा था।[1] परन्तु मुहम्मद बिन कासिम बिना हिन्दुओं के समर्थन के एक कुशल प्रशासकीय व्यवस्था का गठन करने में असमर्थ था। इसको ध्यान में रख कर उसने ब्राह्मणों को राजस्व विभाग में हिन्दुओं से जजिया नामक कर वसूल करने के लिए रखा था।[2] इस प्रकार मुहम्मद कासिम ने अपनी आवश्यकता के अनुसार इस्लामी कानून में समयानुसार परिवर्तन करके हिन्दुओं को प्रशासन में सम्मिलित किया। ऐसा कहा जाता है कि अरबों के समय में राज्य का प्रशासन हिन्दुओं के हाथ में था और गैर-मुसलमानों से सम्बन्धित कानूनों को हिन्दुओं के लिए प्रयोग में नहीं लाया जाता था।[3] परन्तु तथ्यों को देखते हुए यह विचार असंगत प्रतीत होता है। हिन्दुओं को प्रारम्भ से ही मुस्लिम शासकों ने सताया और उत्पीड़ित किया। यह बात और है कि—मुस्लिम प्रशासन में कहीं-कहीं कुछ दृष्टान्त ऐसे मिलते हैं जिससे पता चलता है कि मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं की नियुक्ति की। हिंन्दुओं को अधिकतर साधारण सैनिकों के रूप में सेना में नियुक्त किया जाता था। हिन्दुओं में केवल तिलक नामक ऐसा हिन्दू था जिसे महमूद गजनवी ने सेनापति के पद पर नियुक्त किया था।[4] समकालीन इतिहासकारों ने कुछ हिन्दू सेनाधिकारियों का विवरण दिया है।[5] परन्तु हिन्दुओं की ये नियुक्तियाँ मुस्लिम शासकों की हिन्दुओं के प्रति उदार भावना का परिचायक नहीं है। बल्कि अपने प्रशासनिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने का एक कूटनीतिक आधार था। वस्तुतः मुस्लिम शासकों ने ये नियुक्तियाँ

---

1. खुदाबख्श—ओरियण्ट अण्डर दि केलिफ़स-अंग्रेजो अनुवाद, पृ० 211
2. चचनामा, इलियट, जिल्द 1, पृ० 184, ऐसा समझा जाता है कि मुहम्मद बिन कासिम ने राजा दाहिर के मन्त्री सिस्कर को अपना सलाहकार नियुक्त किया जब कि उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। राजस्व विभाग में अधिकतर हिन्दू और परिवर्तित मुसलमान थे—(देखिये—अजीज अहमद—स्टडीज, पृ० 101)
3. वाहेद हुसेन—एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस ड्यूरिंग मुस्लिम रूल, देखिये—एलफ़िन्सटन—हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 302-303
4. तारीखे बेहाकी के अनुसार तिलक हिन्दू समाज में निम्न वर्ग का शायद वह नाई था। उसकी पदोन्नति हिन्दी और फारसी भाषाओं में पारंगत होने के कारण हुई। देखिये, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, जिल्द 5, पृ० 400-402
5. सोन्दी, राय हिन्द और हजरन कुछ हिन्दू सैनिक अधिकारी थे, जिनका उल्लेख तारीखे बेहाकी में मिलता है (पृ० 400-402)। देखिये, यूसुफ हुसेन, इण्डो इस्लामिक पालटी, पृ० 48

अधिकतर अपने मुस्लिम प्रतिद्वन्द्वियों को कुचलने और उत्तराधिकार के संघर्ष में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए की थी क्योंकि वे अपने मुस्लिम सेनापतियों पर पूर्णतः विश्वास नहीं कर सकते थे।

मसूद के समय में (1030-40) हिन्दू सेनापति तिलक को अहमद नियाल्तीगीन के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया था। उसने दूसरे हिन्दू सैनिक अधिकारी सेवन्द राय को अपने विरोधियों की शक्ति का दमन करने के उद्देश्य से भेजा जो उसके गद्दी के लिए उसके भाई का समर्थन कर रहे थे।[1] उसने एक दूसरी हिन्दू सेना सेल्जुक तुर्कोमन के विरुद्ध भेजी जो उसका विरोध कर रहे थे।[2] गजनवी सेना के हिन्दू सैनिक जो अधिक संख्या में थे, अपने मालिक के प्रति सदैव स्वामिभक्त रहे।[3] अजीज अहमद ने लिखा है कि उसने राज्य प्रशासन में व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और धर्म को राजनीति से अलग रखा।[4] उसकी सेना में तीन टुकड़ियाँ, हिन्दू सेनापतियों–सुन्दर नाथ और तिलक—के अधीन थीं।[5]

मुइजुद्दीन के भारत विजय के बाद परिस्थितियाँ बदल गईं। मुस्लिम शासक हिन्दुओं के समर्थन से ही प्रशासन का कार्य सुचारु रूप से चला सकते थे। इसीलिए हिन्दू सैनिकों की नियुक्ति सुल्तान की सेना में की गई। डॉ० ताराचन्द ने लिखा है कि जब कुत्बुद्दीन ऐबक ने भारत में रहने का निश्चय किया तब उसने राज्य प्रशासन में हिन्दू कर्मचारियों को बनाये रखने का निश्चय किया। न्याय विभाग में ब्राह्मणों की नियुक्ति हिन्दू कानून की व्याख्या करने के लिए की जाती थी।[6] भारत में मुस्लिम शासकों को क्षेत्रीय हिन्दू सरकारी कर्मचारियों पर आश्रित रहना पड़ा, क्योंकि वे विदेशी थे और उन्हें क्षेत्रीय परिस्थितियों की जानकारी नहीं थी। इससे पता चलता है कि मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं की नियुक्ति प्रशासन में करके अपनी

---

1. इलियट, जिल्द 2, पृ० 60
2. वही।
3. किरमन के युद्ध में हिन्दू घुड़सवारों की संख्या 2 हजार थी जब कि दूसरे वर्गों में 1 हजार तुर्क और 1 हजार कुर्द और अरब थे—वही, पृ० 131। कुछ हिन्दू सैनिक अधिकारियों ने आत्महत्या कर ली। जब सुल्तान मसूद ने उन्हें डाँटा (कुरेशी—एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ देहली सल्तनत, पृ० 145)।
4. स्टडीज, पृ० 101
5. निजामुलमुल्क—सियासतनामा—सम्पादित शेफर—पृ० 92-93
6. इनफ्लुयेन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० 137

उदारता का परिचय नहीं दिया बल्कि राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रख कर हिन्दू कर्मचारियों की सेवाएँ बनाई रखी गयीं और ये नियुक्तियाँ केवल निम्न स्तर के पदों पर की गई।

प्रोफेसर के० ए० निजामी ने लिखा है कि भारत में तुर्की राज्य में हिन्दू कर्मचारियों को प्रशासन से अलग नहीं रखा जा सकता था क्योंकि ऐसा करने से प्रशासनिक व्यवस्था ही समाप्त हो सकती थी और देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती।[1] हिन्दुओं को प्रशासन में ऊँचे पदों पर कुत्बुद्दीन ऐबक ने नहीं रखा परन्तु मंगोलों से संघर्ष के लिए हिन्दुओं को अपनी सेना में रखा।[2] ऐसा अनुमान किया जाता है कि बलबन ने बंगाल में तुगरिल खाँ के विद्रोह को दबाने के सैनिक अभियान में 2 लाख व्यक्तियों को सेना में भरती किया था जिसमें हिन्दुओं की संख्या कम नहीं रही होगी।[3] दिल्ली के ममलूक सुल्तानों ने भी अपनी सेना में हिन्दुओं को नियुक्त किया था। रजिया और अल्तुनिया ने पंजाब के जाट और खोखरों की सहायता से दिल्ली पर फिर से अधिकार करने का प्रयास किया था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सेना में हिन्दुओं को केवल निम्न स्तर के कार्य करने के लिए रखा गया था। राजस्व विभाग में प्रशासन द्वारा कुछ हिन्दू कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। ये लोग 'चौधरी' और 'मुकद्दम' कहे जाते थे। इनका काम किसानों से कर वसूल करके राजकोष में जमा करना था। डॉ० हबीबुल्ला का मत है कि हिन्दू सरदार 'मुफ्ती' के अन्तर्गत होते थे जब कि दूसरे लोग कर सीधे दीवाने वजारत को अदा करते थे।[5] ऐसा विश्वास किया जाता है कि मुस्लिम शासक हिन्दू सरदारों का समर्थन करते थे और आवश्यकता पड़ने पर उनकी हिन्दू सेना का उपयोग करते थे।[6] ज्यों-ज्यों समय

---

1. आपसिट, पृ० 322
2. बर्नी के अनुसार हिन्दुओं में कई जातियों जैसे, धानुक, कहार को मुस्लिम सेना में रखा गया (पृ० 86)। देखिये कुरेशी, आपसिट, पृ० 145; निजामी, आपसिट, पृ० 323; तारीखे फखरुद्दीन मुबारकशाह, सम्पादित डेनिसन रास, पृ० 33
3. हबीबुल्ला, पृ० 265
4. वही। जाटों को इसके पहले गजनवी सुल्तानों ने अपनी सेना में रखा था और उन्हें मुस्लिम तुर्कमन की शक्ति को कुचलने में लगाया था। (तारीखे—बेहाकी, पृ० 409, 423, 433-442)
5. हबीबुल्ला, पृ० 257
6. टाइटस, पृ० 152

बीतता गया, हिन्दुओं के प्रति मुस्लिम शासकों की कट्टरता शिथिल होती गई और दोनों में सहयोग की भावना बढ़ती गई। कालांतर में दोनों वर्ग एक दूसरे की सेना में स्वतन्त्रतापूर्वक सम्मिलित होने लगे।[1]

जिस समय मालवा के शासक ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया उसकी सेना में 12 हजार अफगान और राजपूत थे। विजयनगर के राजा देवराज ने अपने राज्य में मुसलमानों को नियुक्त किया और उनको प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें जागीरें दीं तथा राजधानी में एक मस्जिद का भी निर्माण कराया। अजीज अहमद ने कहा है कि हिन्दू सेनापति[2] तो नहीं, बल्कि जो हिन्दू, इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेते थे उन्हें सैनिक सेवाओं में ऊँचा पद दिया जाता था। उन्हीं के सहयोग से दिल्ली सल्तनत को स्थायित्व मिला और उसकी सीमा का विस्तार हुआ। स्मिथ का कहना है कि बलबन[3] ने हिन्दुओं को प्रशासन में रखने से अस्वीकार कर दिया था परन्तु आगा मेहदी हुसेन ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि जिया-उद्दीन बर्नी ने दो बार हिन्दू सैनिकों की प्रशंसा की है[4] जो तुगरिल के विद्रोह को दबाने में जो सैनिकों की कार्यकुशलता के विषय में है उसमें बर्नी के अनुसार हिन्दू किसानों पर कर निर्धारण और उनसे लगान वसूल करने का कार्य करते थे। वे स्थानीय प्रशासन की देख रेख भी करते थे।[5] इस्लामी कानून के अन्तर्गत हनाफी विचार मानने वाले विद्वान् न्याय विभाग में गैर मुस्लिमों की नियुक्ति का समर्थन करते हैं।[6] विद्वान् हिन्दू पण्डित काजी की सहायता के लिए न्यायालयों में रखे जाते थे जो

---

1. टाइटस, पृ० 152
2. एलफ़िन्सटन-हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 415; जब अलाउद्दीन खल्जी ने 1296 में देवगिरी पर आक्रमण के लिए प्रस्थान किया तो रास्ते में उत्सुक लोगों ने उसके इरादों के विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाही। अलाउद्दीन ने उत्तर दिया कि वह एक विद्रोही अमीर है और राजमुन्दरी से (वही, पृ० 388) हिन्दू राजा के यहाँ नौकरी की तलाश में जा रहा है।
3. स्टडीज, पृ० 102
4. तुगलक डायनेस्टी, पृ० 10; बर्नी, पृ० 106, 108
5. तुगलक डायनेस्टी, पृ० 10-11
6. अल मविदा—अहकाम उस सुल्तानियाँ, पृ० 62; हबीबुल्ला–आपसिट, पृ० 272 फुटनोट।

हिन्दुओं के आपसी झगड़ों का फैसला करते थे ।[1] राजस्व विभाग में कार्य करने वाले हिन्दू कर्मचारी 'मुकद्दम' को भी न्याय सम्बन्धी अधिकार मिले हुए थे ।[2] ऐसा समझा जाता है कि 1193 ई० में असनी पर अधिकार करने के बाद कुत्बुद्दीन ऐबक ने राज्य में भिन्न-भिन्न स्थानों पर राजाओं की नियुक्ति की जो प्रशासन का कार्य चलाते थे । परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि राजाओं का अधिकार उनके क्षेत्र में रहने वाले मुसलमानों पर था या नहीं । न्याय विभाग में कार्य करने वाले हिन्दू पण्डितों के भी अधिकार क्षेत्र सीमित रहे होंगे, क्योंकि इस्लामी कानून के अन्तर्गत गैर मुस्लिम काजी के पद पर काम करने के सर्वथा अयोग्य है ।[3] न्याय विभाग में हिन्दू पण्डितों की नियुक्ति सबसे पहले इल्तुतमिश ने की ।[4] हबीबुल्ला ने लिखा है कि ममलूक सुल्तान साम्प्रदायिक भावना से ओतप्रोत थे । वे केवल तुर्कों को ही प्रशासन में प्रमुख पदों पर रखते थे । ऐसी परिस्थिति में राज्य की प्रशासनिक सेवाओं में हिन्दुओं की नियुक्ति की कोई सम्भावना नहीं थी, फिर भी समकालीन इतिहास में कुछ हिन्दुओं के नाम मिलते हैं, जैसे, रजनी, हाथिया और बीरनाथन आदि ।[5]

खल्जी सुल्तानों को इस्लामी कानून की पूरी जानकारी नहीं थी । वे उलेमा और अन्य विद्वानों से उसका ज्ञान प्राप्त करते थे ।[6] उलेमा जो कानून की व्याख्या करते थे वे दो वर्गों में विभाजित थे—उदार और कट्टर । खल्जी सुल्तानों का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार किसी धार्मिक नियम या सहिष्णुता की नीति पर आधारित नहीं था ।[7] जलालुद्दीन खल्जी हिन्दुओं से घृणा करता था । वह उनकी सामाजिक अथवा

---

1. वाहेद हुसेन, आपसिट, पृ० 15; मुहम्मद बशीर अहमद—एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 115
2. हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 272
3. काजी के पद पर कार्य करने के लिए इस्लामी कानून के अनुसार उसे प्रत्यक्षदर्शी स्वीकार किये जाने की योग्यता होनी चाहिए जो कि केवल एक मुसलमान ही हो सकता है अब्दुर रहीम—मोहमडन जूरीस प्रूडेंस, 389
4. मोहम्मद बशीर अहमद, आपसिट, पृ० 127; देखिये, अमीर अली, हिस्ट्री ऑफ सारासेन्स, पृ० 188, 422; परन्तु डॉ० आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव इस विचार से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि यह केवल कल्पना मात्र है और वास्तविक नहीं है ।
5. हबीबुल्ला, आपसिट, पृ० 329
6. के० एस० लाल—स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 202
7. वही ।

धार्मिक स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं था। परन्तु वह हिन्दुओं के विरुद्ध कड़ा कदम उठाने में भी असमर्थ था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दुओं को उसके समय में प्रशासन में रखा जाना सम्भव नहीं जान पड़ता। फरिश्ता ने लिखा है कि उसके शासन के आरम्भ में बहुत से हिन्दू राजा और सरदार थे जो बहुत बड़े क्षेत्र के स्वामी थे।[1] जब तक वे नियमित रूप से कर की अदायगी करते थे, उनके कार्यों में सरकार की तरफ से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था।[2]

मालिक छज्जू के विद्रोह (1292) के समय हिन्दू घुड़सवारों ने सुल्तान की सहायता की थी।[3] कभी-कभी हिन्दू विद्रोहियों का साथ देते थे और कभी वे सुल्तान की सहायता आवश्यकता पड़ने पर करते थे।[4] जियाउद्दीन बर्नी ने ऐसे हिन्दू सैनिक अधिकारियों के लिए 'रावत' शब्द का प्रयोग किया है जिन्होंने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोहियों का साथ दिया।[5] अलाउद्दीन खल्जी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इस्लामी कानून (शरियत) के अन्तर्गत हिन्दुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि काजी मुगीसुद्दीन से उसकी वार्ता से पता चलता है।[6] अलाउद्दीन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हिन्दुओं को दबाना मुश्किल काम है। इसलिए उनपर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए हिन्दू सरकारी कर्मचारियों-खुत मुकद्दम और चौधरी के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया। इन लोगों को करों से छूट थी। अलाउद्दीन ने खुत, मुकद्दम और चौधरी को साधारण जनता की तरह कर देने पर विवश किया और उनके ऊपर भूमि-कर, चरागाहों पर कर, गृह-कर और जानवरों पर कर लगाया।[7] इनके पास काफी जमीन थी, जिसको सुल्तान ने जप्त कर लिया जो उनके लिए आवश्यक थी।[8] इसके परिणाम स्वरूप उनके पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त सम्पत्ति नहीं रही। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी गिर गई कि उनके परिवार की स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में काम करके अपने घर का खर्च चलाने के लिए विवश होना

---

1. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 154
2. आगा मेहदी हुसेन, तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 11
3. बर्नी, पृ० 182
4. आगा मेहदी हुसेन, पृ० 11
5. वही।
6. बर्नी, पृ० 290-91
7. वही, पृ० 288
8. वही, पृ० 297-98

पड़ा था।[1] अलाउद्दीन का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार धार्मिक विचारों पर आधारित नहीं था।[2] वह विश्व विजेता बनने का स्वप्न देख रहा था और इसलिए वह एक साथ मंगोलों और हिन्दुओं के साथ संघर्ष करने की स्थिति में नहीं था। अलाउद्दीन धर्मान्ध नहीं था। वह हिन्दुओं के धार्मिक उत्पीड़न को निरर्थक समझता था, और इसलिए वह हिन्दुओं के साथ बुरा व्यवहार करने के पक्ष में नहीं था।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशासन में हिन्दुओं को ऊँचा पद दिया जाता था।[4] अमीर खुसरो ने लिखा है कि देवचन्द नाम के एक हिन्दू कर्मचारी ने राजस्व विभाग में धन का गबन किया।[5] दूसरा हिन्दू अधिकारी मालिक नायक, जो सुल्तान का निजी सहायक (अखुर बेक) था, उसे मंगोलों के विरुद्ध युद्ध में 30 हजार घुड़सवारों के साथ भेजा गया[6] इकत खाँ के विद्रोह के समय अलाउद्दीन की जान हिन्दू सिपाहियों ने बचाई। ऐसा समझा जाता है कि जब मंगोलों ने दिल्ली को घेर लिया था तो कोतवाल अला-उलमुल्क ने रक्षा की दृष्टि से सुल्तान को महल के बाहर न निकलने के लिए प्रार्थना की क्योंकि उस समय राजधानी में हिन्दू सिपाहियों की संख्या अधिक थी।[7] परन्तु अलाउद्दीन ने कोतवाल की यह सलाह नहीं मानी और वह मंगोलों के नेता कुतलुग ख्वाजा के विरुद्ध सैनिक अभियान के संचालन के लिए आगे आया। यह अनुमान लगाया जाता है कि अलाउद्दीन की सेना में हिन्दू अधिक संख्या में थे इसलिए वह

---

1. बर्नी, पृ० 297-98 बर्नी का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योंकि ये स्त्रियाँ ग्रामीण क्षेत्रों की थीं और मुसलमान अमीर नगरों में रहते थे। यह असम्भव है कि स्त्रियाँ प्रतिदिन गाँवों से नगरों को मजदूरी करने के लिए जाती रही होंगी। परन्तु बर्नी हिन्दुओं की असाध्य स्थिति पर कितना प्रसन्न होता है यह समकालीन मुसलमानों की हिन्दुओं के प्रति सामान्य विचारधारा को प्रकट करता है (देखिये, यू० न० डे, सम एस्पेक्ट्स ऑफ मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 104)।
2. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 205
3. वही।
4. ए० रशीद, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 228
5. इजाजे खुसरवी, जिल्द 2, पृ० 46
6. खजायनुल फुतूह, अनुवाद प्रो० हबीब, पृ० 26; देवलरानी, पृ० 320; स्टडीज पृ० 206
7. बर्नी, पृ० 255-57

उनके प्रति व्यवहार में आक्रामक रुख नहीं अपना सकता था।[1] के० एस० लाल ने ठीक ही कहा है कि बिना हिन्दुओं के सहयोग के अलाउद्दीन इतने बड़े साम्राज्य का निर्माण नहीं कर सकता था।[2] प्रोफेसर हबीब ने लिखा है कि अलाउद्दीन को अपने आर्थिक सुधारों को सफल बनाने के लिए हिन्दू नायक और सुल्तान के हिन्दू सौदागरों पर गल्ले और कपड़े की पूर्ति के लिए निर्भर रहना पड़ा।[3] कुछ विद्वानों की गलत धारणा है कि अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के साथ धार्मिक पक्षपात और उत्पीड़न किया यद्यपि बर्नी, इसामी और वासफ जैसे समकालीन इतिहासकारों के विवरणों से पता चलता है कि विदेशी मुसलमानों (जैसे शम्शुद्दीन तुर्क) को हिन्दुओं के कष्टमय और दुखद जीवन से प्रसन्नता होती थी।[4] फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन लेखकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि अलाउद्दीन का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार का आधार राजनीतिक था ओर उसका सम्बन्ध धर्म से नहीं था।

कुत्बुद्दीन मुबारक खल्जी के समय में हिन्दुओं की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। अलाउद्दीन द्वारा बनाये गये कड़े नियम समाप्त हो गये। लोगों की स्थिति में सुधार होने लगा। लोगों के जेबों में पैसे की खनखनाहट सुनाई पड़ने लगी। ऐसा समझा जाता है कि मुबारक खल्जी हिन्दुओं के प्रति इसलिये उदार था कि हिन्दू सैनिकों के समर्थन से उसे गद्दी प्राप्त हुई थी। ये सैनिक दरबार में इतने प्रभावशाली हो गये कि सुल्तान को उन्हें नियन्त्रित करने में कठिनाई हुई।[5] परन्तु अपने पिता अलाउद्दीन की तरह वह हिन्दू राजाओं के प्रति उदार नहीं था। उनके साथ निर्दयता का व्यवहार करता था।[6] अन्ततोगत्वा एक परिवर्तित मुसलमान खुसरो खाँ ने उसकी हत्या करके शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। इस कार्य में खुसरो की सहायता बरवारी

---

1. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 206; देखिये, एस० एम० जाफर, सम कल्चरल ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० 31-32; दि अलीगढ़ मैगजीन, अक्टूबर, दिसम्बर, 1931, पृ० 4-5
2. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 206
3. सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन थर्टीन्थ सेन्चुरी, इण्ट्रोडक्शन, पृ० xxi
4. फतहुस्सलातीन, पृ० 569-70, तारीफे वासफ, जिल्द 4, पृ० 449; जिल्द 5, पृ० 646-47
5. के० एस० लाल 8, स्टडीज, पृ० 208
6. बर्नी, पृ० 599

बनिया और गुजरात के दूसरे वर्ग के हिन्दुओं ने की।[1] खुसरो खाँ ने प्रशासन के प्रमुख पदों पर अपने हिन्दू समर्थकों की नियुक्ति की। बर्नी के अनुसार दिल्ली में हिन्दुओं का राज्य स्थापित हो गया और मुसलमानों को अपमानित किया गया और कुरान और मसजिदों का अनादर किया गया।[2] खुसरो खाँ के विरुद्ध मुस्लिम अमीरों ने दीपालपुर के गवर्नर गाजी मलिक के नेतृत्व में एक मोर्चा गठित किया और अन्त में गाजी मलिक की विजय हुई। अमीर खुसरो ने लिखा है कि हिन्दू सैनिकों ने इस युद्ध में दोनों तरफ से भाग लिया।[3] जिन हिन्दू सेनाधिकारियों ने इस युद्ध में भाग लिया उनके नाम हैं—अहरदेव, अमरदेव, नसिया, पसिया हरमर, परमार और खुसरो खाँ के चाचा रायरायन रण्डोल।[4] इसामी ने लिखा है कि गाजी मलिक की सेना में गुलचन्द्र जैसे हिन्दू सेनापति थे।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि खल्जी सुल्तानों के युग में हिन्दू कर्मचारी बहुत प्रभावशाली थे। अलाउद्दीन के समय में जो आर्थिक कठिनाइयाँ उन्हें उठानी पड़ीं वे अस्थायी थीं।[6] वास्तव में मुसलमानों के द्वारा जो कष्ट हिन्दुओं को भोगना पड़ा, उसका बदला उन्होंने मुसलमानों से नासिरुद्दीन खुसरो शाह के अल्प शासन काल में ले लिया।[7]

जियाउद्दीन बर्नी ने तुगलुक सुल्तानों द्वारा हिन्दुओं को प्रशासनिक सेवाओं में लिये जाने का विरोध किया।[8] गयासुद्दीन तुगलुक ने हिन्दू और मुसलमानों की मिली-जुली सेना को मंगोलों के विरुद्ध युद्ध में भेजा।[9] गयासुद्दीन ने हिन्दू सरकारी

---

1. खुसरो खाँ गुजरात का रहने वाला बरवारी बनिया था। उसकी प्रतिभा से मुबारक खल्जी प्रभावित हुआ और उसने उसको अपना वजीर बनाया। वजीर बनने पर हजारों बरवारियों को उसने राजमहल में सुल्तान के अंग रक्षक के पद पर नियुक्त किया।
2. बर्नी, पृ० 504-5; देखिये, के० एस० लाल का लेख 'नासिरुद्दीन खुसरो शाह', जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, दिसम्बर 1944
3. तुगलुक नामा, पृ० 128, 131
4. वही, देखिये, कुरेशी, आपसिट, पृ० 145
5. फुतुहुस्सलातीन, पृ० 378; कुरेशी, आपसिट, पृ० 145
6. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 209
7. वही, पृ० 210
8. बर्नी, आपसिट, पृ० 504-5
9. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 73

कर्मचारियों को वे सभी सुविधाएँ फिर से प्रदान कीं जिन्हें अलाउद्दीन ने समाप्त कर दिया था। गयासुद्दीन तुगलुक का कहना था कि हिन्दू कर्मचारियों पर कार्य का अधिक बोझ है इसलिये उनको करों में पूर्ववत छूट मिलनी चाहिये।[1] मुहम्मद तुगलुक ने एक हिन्दू श्री राज को नाजिर के पद पर नियुक्त किया।[2] बर्नी के अनुसार करनाल के प्रशासनिक अधिकारी के पद पर किसी मेहता की नियुक्ति की गई।[3] इब्नबतूता ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलुक ने बहुत से हिन्दुओं को प्रशासन में सम्मिलित किया। सेह्वान (सिंध) में प्रशासन का कार्य चलाने के लिये रतन को भेजा गया जिसका विरोध मुसलमानों ने किया। अन्त में रतन की हत्या दो मुस्लिम अधिकारियों, बुनर और कैसरेरूमी ने मिलकर कर दी।[4] आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है कि रतन को गवर्नर पद दिया गया था। उनके अनुसार रतन को कौन सा पद दिया गया था इसकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं है।[5] फरिश्ता के अनुसार भीरन राय को गुलबर्गा के किले का फौजदार नियुक्त किया गया।[6] इसी प्रकार धराधर को देवगिरी के नायब वजीर पद पर रखा गया।[7] गार्डनर ब्राउन ने मुहम्मद तुगलुक की हिन्दुओं के प्रति उदार नीति की सराहना की है और इस सन्दर्भ में लिखा है कि अकबर ने आगे चलकर हिन्दुओं को प्रशासन में ऊँचा पद देने पर मुहम्मद तुगलुक की नीति का अनुसरण किया।[8] मुहम्मद तुगलुक ने जाहर और करौली में हिन्दू राज्य की फिर से स्थापना की।[9] आगा मेहदी हुसेन का कहना है कि मुस्लिम गवर्नरों (वाली) और प्रशासनिक अधिकारियों का कार्य क्षेत्र नगरों तक सीमित था जबकि हिन्दू अधिकारियों का प्रभाव क्षेत्र काफी विस्तृत था और उसी के माध्यम से जनता का सम्पर्क प्रान्तीय गवर्नर से होता था।[10] तारीखे मासूमी

1. बर्नी, पृ० 429-30
2. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1836, पृ० 342-45; ए० रशीद, आपसिट, पृ० 228
3. बर्नी, पृ० 523
4. रेहला, जिल्द 3, पृ० 105-6; आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 223-24
5. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द vii, भाग 1, क्रम सं० 121, पृ० 588-89
6. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 522
7. बर्नी, पृ० 501
8. अलीगढ़ विश्वविद्यालय मैगजीन 1925; तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 113-14
9. इम्पिरियल गैजेटीयर, जिल्द 14, पृ० 88; गैजेटियर ऑफ करोली, पृ० 26
10. तुगलक डायनेस्टी, पृ० 12

ने लिखा है कि सिन्ध में उस समय सुमेरा जाति के लोगों का अधिकार था। बर्नी का कहना है कि हिन्दू प्रशासनिक अधिकारी समाना, कैथल सुनम और दोआब में अधिक संख्या में थे।[1]

ऐसा अनुमान है कि बिहार पर मुसलमानों के अधिकार हो जाने के बाद भी प्रशासन का कार्य हिन्दू अधिकारियों के हाथ में था। मिथिला, दरभंगा आदि रियासतें संवैधानिक रूप से दिल्ली सुल्तान के अन्तर्गत थीं फिर भी इन रियासतों को हिन्दुओं को सौंप दिया गया।[2] विद्यापति ठाकुर ने 'पुरुष परीक्षा' में लिखा है कि काफूर नामक एक हिन्दू राजा के विद्रोह के दबाने में मुहम्मद का समर्थन कर्नाटकुल के नरसिंह देव और चौहानकुल के चरचिक देव ने की।[3] बेतिया गढ़ अभिलेख (1328 ई०, 1385 वि० स०) से पता चलता है कि मुस्लिम शासक हिन्दुओं को सरकारी सेवाओं में स्थान देते थे। इसी अभिलेख से पता चलता है कि एक मुस्लिम सेनापति ने बेतिया गढ़ में हिन्दू सेनाओं का संचालन किया था।[4] खुरासान विजय के लिये जो सेना मुहम्मद तुगलुक ने तैयार की थी उसमें हिन्दुओं की भी भर्ती की गई थी। बाद में उन्हें सेवा से मुक्त कर दिया गया क्योंकि यह योजना विफल हो गई। आगा मेहदी हुसेन का कहना है कि दरबार में सुल्तान हिन्दू राजाओं और सरदारों को सम्मानित करता था, फिर भी यह सत्य है कि हिन्दुओं को प्रशासन के प्रमुख पद इतनी अधिक संख्या में नहीं मिले, जितने मुगल सम्राटों के समय में मिले।[5]

कुरेशी ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलुक के शासनकाल में हिन्दुओं को अधिक सम्मान मिला जिसको देखकर अन्य दरबारियों को ईर्ष्या होने लगी।[6] इसामी ने हिन्दुओं के प्रति सुल्तान की उदार नीति की निन्दा की है। उसने लिखा है कि "सुल्तान हिन्दुओं को संरक्षण प्रदान करने के अपने प्रयास में मुसलमानों को नष्ट कर रहा है"।[7] सुल्तान ने जैनियों का अधिक सम्मान किया। दुसाजु जिसके पिता जैन

1. बर्नी, पृ० 480, 483
2. ग्रियर्सन का लेख 'विद्यापति एण्ड हिस कन्टेम्परेरीज' इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द 14, जुलाई 1885
3. बी० महेश्वर प्रसाद, पुरुष परीक्षा ऑफ विद्यापति, पृ० 20
4. इपीग्राफिया इण्डिया, जिल्द 12, पृ० 44-45
5. तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 12
6. कुरेशी, आपसिट, पृ० 195
7. फुतुहुस्सनमतीम, पृ० 44

जलालुद्दीन खल्जी के समय में एक सरकारी अधिकारी थे, उसका सम्मान गयासुद्दीन तुगलुक और मुहम्मद तुगलुक ने किया।[1] समरसिंह जैन जिसने कुत्बुद्दीन मुबारक शाह खल्जी के समय में ऊँचा पद प्राप्त किया था उसे मुहम्मद तुगलुक ने तेलांगाना का गवर्नर बनाकर भेजा था।[2] मुहम्मद तुगलुक ने दूसरे अन्य जैन विद्वानों के प्रति उदारता दिखलाई, जैसे राजशेखर, भीम, मन्त्री मनका, महेन्द्र सूरी, भट्टकि सिंह कीर्त्ती, सोमप्रभा सूरी, सोम तिलक सूरी, सेन सूरी और जिन प्रभा सूरी।[3] जिन प्रभा सूरी का स्थान दरबार में ऊँचा था। वह फारसी और सस्कृत के दोहे दरबार में सुनाता था।[4] एक दूसरा हिन्दू दरबारी जिसका नाम राघव चैतन्य था और जो मन्त्रों के उच्चारण में प्रवीण था। उसने जिन प्रभा सूरी का दरबार में सम्मान गिराने का प्रयास किया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली।[5]

आगा मेंहदी हुसेन का मत है कि मुहम्मद तुगलुक की मृत्यु के बाद भी जैनियों का सम्मान दरबार में बना रहा। फीरोज तुगलुक के कट्टर धार्मिक विचारधारा के बावजूद तीन जैन विद्वानों—गुण भद्र सूरी, मुनि भद्र सूरी और महेन्द्र सूरी को सुल्तान का संरक्षण प्राप्त हुआ।[6] बर्नी ने अपनी पुस्तक फतवाये जहाँदारी में हिन्दुओं के ऐश्वर्य का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि "हिन्दू शानदार रेशमी वस्त्र पहनते हैं, वे सुसज्जित घोड़े की सवारी करते हैं। सुल्तान उन्हें प्रशासन के सम्मानित पदों पर नियुक्त करते हैं। वे अपने मकान, आलीशान महल की तरह बनाते हैं उनके पास बड़े आदमियों के सारे साधन हैं। वे मुसलमानों को अपने यहाँ नौकर रखते हैं। वे अपने धार्मिक सिद्धान्तों का खुलेआम प्रचार करते हैं....।"[7]

फीरोज तुगलुक हिन्दुओं को निम्न स्तर के पदों पर नियुक्त करता था।[8]

1. तुगलुक डायनेस्टी, पृ० 315
2. वही, पृ० 316
3. सी० बी० शेठ—जैनिस्म इन गुजरात, पृ० 181; प्रोसीडींग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 1941, पृ० 301-2
4. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ० 322
5. वही।
6. वही, पृ० 323
7. आगा मेहदी हुसेन—तुगलक डायनेस्टी, पृ० 323, देखिये, रेहला, पृ० 261; रिजवी तुगलक कालीन भारत, जिल्द 2, पृ० 303
8. बर्नी, पृ० 572, 575; रियाजुल इस्लाम, लेख 'ए रिव्यू ऑफ दि रेन ऑफ फिरोजशाह' इण्डियन कल्चर, जिल्द 23, पृ० 258, डॉ० जे० एम० बैनर्जी ने

अजीज अहमद का विचार है कि फिरोज तुगलुक की कट्टर धार्मिक नीति के बावजूद वित्त विभाग में निम्न स्तर के पदों पर हिन्दुओं की सेवायें बनाये रखी गईं और वे कदाचित् ही ऊँचे पद प्राप्त करने में सफल हुए हों।[1] फिरोज ने अपनी माँ के एक सम्बन्धी राय भीरु भट्टी को अंग रक्षकों का प्रधान नियुक्त किया।[2] फीरोज ने शिक्षा विभाग में विद्वान् हिन्दुओं की नियुक्ति की। संस्कृत के अनुवाद में और पत्थर खुदे अभिलेखों की जानकारी में अधिक रुचि थी। यही कारण था कि उसने इस कार्य में ब्राह्मणों की सेवायें लीं। बदाँयुनी के अनुसार एक मुस्लिम मदरसे में एक ब्राह्मण को शिक्षक के पद पर रखा गया।[3] समकालीन लेखकों के विवरण से पता चलता है कि हिन्दू सरदार सुल्तान से निकटतम सम्पर्क रखते थे और राजनीति में भाग लेते थे।[4] ऐसा समझा जाता है कि फीरोज के शासन काल में प्रान्तीय अधिकारियों या दूसरे अधिकारियों द्वारा अनाथ हिन्दू बच्चों को जो इधर-उधर घूमते-फिरते थे, पकड़ कर सुल्तान के पास भेज दिया जाता था। जो उनको शिक्षित करके सम्मानित अमीरों के पद पर बैठा देता था।[5] परन्तु यह असंगत प्रतीत होता है। जो सुल्तान हिन्दुओं के प्रति इतना कट्टर था उनको वह ऊँचा पद कैसे दे सकता था। डॉ॰ कुरेशी ने लिखा है कि ग्रामीण जीवन में हिन्दू सरदारों के कार्यों को देखने से पता चलता है कि हिन्दू वास्तव में प्रशासक थे और दिल्ली का सुल्तान केवल नाम मात्र का शासक था।[6] मेहदी हुसेन और कुरेशी के अनुसार तुगलुक सुल्तानों के समय हिन्दुओं को प्रशासन में ऊँचे पद पर रखा जाता था। परन्तु तथ्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि हिन्दुओं की केवल साधारण पदों पर नियुक्ति की जाती थी। तुगलुक सुल्तानों की यह राजनीतिक चाल थी कि कभी-कभी हिन्दुओं के विद्रोह को दबाने के लिये दूसरे हिन्दू

हिन्दुओं को प्रशासन से अलग रखने की फीरोज तुगलुक की नीति को न्यायोचित बतलाया है क्योंकि वे अविश्वसनीय और विद्रोही थे। (आपसिट, पृ॰ 171)

1. अजीज अहमद—स्टडीज, पृ॰ 102
2. बर्नी, पृ॰ 587, 595; अफीफ पृ॰ 62, 103, 128

   फिरोज ने एक हिन्दू जमींदार जिया राम को उसके बंगाल सैनिक अभियान में सहायता देने पर सम्मानित किया (अफीफ, पृ॰ 111)।
3. बदायुँनी, जिल्द 1, पृ॰ 323
4. बर्नी, पृ॰ 587-88; अफीफ, पृ॰ 103
5. आगा मेहदी हुसेन, आपसिट, पृ॰ 434-35
6. कुरेशी, आपसिट, पृ॰ 198

सरदारों को प्रलोभन देकर उनका समर्थन प्राप्त किया जाता था। इससे पता चलता है कि तुगलुक सुल्तान कितने सूक्ष्मदर्शी थे। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए और सन्तुलन बनाये रखने के लिए वे हिन्दू सरदारों को आपस में लड़वाया करते थे। इसी प्रकार फीरोज ने भी जैन गुरुओं का समर्थन हिन्दुओं के प्रति अपनी अवास्तविक उदार नीति का प्रदर्शन करके किया। समकालीन लेखकों के उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि मुसलमान हिन्दुओं को प्रशासन में ऊँचे पद पर बने रहना देख नहीं सकते थे और वे उनसे ईर्ष्या करते थे। ऐसी परिस्थिति में हिन्दुओं को सम्मान पूर्वक प्रशासन में पदों पर बने रहना असम्भव दिखाई पड़ता था। निम्न स्तर के पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति राज्य आवश्यकता के आधार पर की गई क्योंकि क्षेत्रीय जानकारी के अभाव में मुसलमान इन पदों पर कार्य नहीं कर सकते थे। जहाँ तक कुछ ब्राह्मणों की शिक्षा विभाग में नियुक्ति का प्रश्न है यह फीरोज ने व्यक्तिगत आधार पर किया क्योंकि उसकी रुचि संस्कृत की पुस्तकों को जानकारी प्राप्त करनी थी। वस्तुतः इस संदर्भ में राज्य की कोई उदार नीति नहीं थी। जहाँ तक कुरेशी का यह कथन है कि गाँवों में हिन्दू सरदारों की प्रधानता दिल्ली के सुल्तानों की उदार नीति के कारण थी[1], यह असंगत प्रतीत होती है क्योंकि उस समय मुसलमान गाँवों में प्रवेश करने की स्थिति में नहीं थे।

सैय्यद सुल्तानों का शासनकाल अराजकता का काल कहा जाता है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दुओं को प्रशासन में कोई स्थान नहीं मिला होगा। लोदी सुल्तानों के समय में प्रशासन के प्रमुख पदों पर अफगानों की नियुक्ति हुई। ऐसा अनुमान किया जाता है कि हिन्दू निम्न स्तर के पदों पर बने रहे और अफगानों ने उन्हें प्रशासनिक सेवा में बनाये रखा। बहलोल लोदी ने अभिजात वर्ग के विशेष अधिकारों और राजकीय चिह्नों को एक हिन्दू सरदार बीर सिंह नामक को दिया और इस सम्बन्ध में दरिया खाँ लोदी के दावे को स्वीकार नहीं किया।[2] एस० आर० शर्मा ने लिखा है कि राजस्व विभाग के कागजात राजधानी में छोड़कर भारतीय भाषाओं में लिखे जाते थे।[3] सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं को फारसी भाषा सीखने में प्रोत्साहन दिया और उसके निर्देश पर बहुत से फारसी सीखे हुए हिन्दुओं को प्रशासन में सम्मिलित किया गया।[4] ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस काल में हिन्दुओं में

1. कुरेशी, आपसिट, पृ० 198
2. ए० बी० पाण्डे—फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इण्डिया, पृ० 246
3. एस० आर० शर्मा—दि रिलीजस पालिसी ऑफ मुगल एम्पायरर्स, पृ० 27,
4. वही।

विशेषकर कायस्थ वर्ग ने फारसी भाषा का अध्ययन किया और प्रशासनिक सेवाओं को अधिकतर रूप से प्राप्त किया।[1] आगे चलकर अकबर के समय सरकारी कार्यालयों में लिपिक पदों पर इसी वर्ग का एकाधिकार हो गया।[2] कुरेशी ने लिखा है कि लोदी और सूर अफगानों के शासन काल में हिन्दुओं को न मित्र समझा जाता था और न शत्रु। उन्हें प्रमुख पद दिये जाते थे।[3] बाबर ने लिखा है कि भारत पर अधिकार करने के समय राजस्व विभाग का कार्य भार हिन्दुओं को सौंपा गया।[4] ए० बी० पाण्डेय का विचार है कि लोदी सुल्तानों का व्यवहार हिन्दुओं के साथ बहुत अच्छा था। इस युग में हिन्दू मुस्लिम एकता का बीजारोपण हुआ जो आगे चलकर मुगलों के समय में प्रभाव का सिद्ध हुआ और जिससे मुगल साम्राज्य की नींव मजबूत हुई।[5] सिकन्दर लोदी के समय में राजा मान सिंह तोमर दरबार में इतना ऊँचा स्थान रखता था कि कोई भी मुसलमान उसके ऊपर अपना प्रभाव नहीं जमा सकता था[6] इसी प्रकार इब्राहीम लोदी के समय में राजा मानसिंह के पुत्र विक्रमादित्य को भी दरबार में उचित सम्मान प्राप्त था।[7] विक्रमादित्य इब्राहीम लोदी का इतना स्वामी भक्त निकला कि पानीपत के मैदान में बाबर के विरुद्ध युद्ध करते हुए इब्राहीम लोदी के साथ जान से मारा गया।[8]

उपर्युक्त तथ्यों से पता चलता है कि दिल्ली के सुल्तानों ने उदारता वश या मानवतावादी दृष्टिकोण से हिन्दुओं को प्रशासन में नियुक्त नहीं किया था, बल्कि इसलिए कि वे जानते थे कि हिन्दुओं के सहयोग के बिना भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकेंगे। ऐसी परिस्थिति में मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं को निम्न श्रेणी के पदों पर बनाये रखा जिससे प्रशासनिक कार्य सुगमता से चल सके

1. एम० अब्दुल्ला—आदाबियाते फारसी में हिन्दुओं का हिस्सा, पृ० 233
2. अजीज अहमद, स्टडीज, पृ० 106; ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द 9, i, पृ० 45
3. कुरेशी, आपसिट, पृ० 210; तबकाते अकबरी, जिल्द 2, पृ० 119
4. बाबर–तुजुक (लीडेन एण्ड अर्सकीन), जिल्द 2, पृ० 24
5. ए० बी० पाण्डे, आपसिट, पृ० 293
6. के० एस० लाल—ट्वाईलाइट, पृ० 193
7. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 205; बाबरनामा—अनुवाद मिसेज बेवरीज जिल्द 2, पृ० 477
8. वही।

और उसमें कोई व्यवधान न पड़े। ए० एल० श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है कि विद्वानों ने यह दिखाने का विफल प्रयास किया है कि मुस्लिम प्रशासन में हिन्दुओं के लिए दरवाजे खुले थे, परन्तु इतनी लम्बी अवधि के बाद भी एक भी हिन्दू ऐसा नहीं मिला जो गवर्नर या मंत्री के पद पर रहा हो या किसी जिले या परगना का अधिकारी रहा हो।

हिन्दुओं की व्यक्तिगत स्वतंत्रता

साधारणतः हिन्दुओं को अपने सामाजिक और धार्मिक कृत्यों को करने की स्वतंत्रता थी। एलफिन्सटन ने लिखा है कि हिन्दुओं को जजिया कर देना पड़ता था। उनके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध थे। उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था लेकिन उनके विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाही नहीं की जाती थी।[1] हिन्दू धार्मिक केन्द्रों पर एकत्रित होते थे तथा ग्रहण-मेलों में परम्परागत पूजा-पाठ करते थे। यद्यपि इस्लामी कानून के अन्तर्गत नये मन्दिरों का निर्माण नहीं किया जा सकता था फिर भी गया, बृन्दावन, मथुरा आदि स्थानों में मन्दिरों का निर्माण हुआ।[2] मुस्लिम बस्तियों के समीप धार्मिक ग्रन्थों से मंत्रों का उच्चारण वर्जित था, तथापि हिन्दू ऊँचे स्वर में मन्त्रों का उच्चारण करते रहे होंगे। जैसा कि जलालुद्दीन खल्जी के विचार से पता चलता है कि वह सुल्तान होते हुए हिन्दुओं और उनके धर्म को नष्ट नहीं कर सका[3]। हबीबुल्ला का कहना है कि न्याय के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था।[4] हिन्दुओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मुईनुद्दीन ने सिक्कों पर लक्ष्मी की मूर्ति खुदवाई थी। ये सिक्के बलबन के समय तक चलते रहे। सामाजिक क्षेत्र में भी सती की प्रथा बनी रही।

गाँवों में रहने वाले लोग नगरों में रहने वाले लोगों के प्रति उदासीन रहते थे। वे गाँवों में बिना मुस्लिम शासक के हस्तक्षेप के शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। हिन्दुओं को अपनी शिक्षण संस्थाओं को व्यवस्थित करने का अधिकार था।

हिन्दू व्यापारियों और महाजनों की स्थिति कैकूबाद के समय में बहुत अच्छी थी। वे अच्छे वस्त्र पहनते थे और घोड़ों की सवारी करते थे परन्तु अलाउद्दीन खल्जी ने उनके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगाये और उन्हें निर्धन बनाने का प्रयास किया।

---

1. एलफिन्सटन—हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 422
2. मेहदी हुसेन-लेख-दि हिन्दूज इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 712-725
3. बर्नी, पृ० 217
4. हबीबुल्ला, आर्पसिट, पृ० 326

धार्मिक क्षेत्र में योगियों और मुस्लिम सन्तों ने मिल जुलकर अपना कार्य किया और धार्मिक चर्चा में विशेष रूप से भाग लिया यद्यपि मोहम्मद तुगलुक के समय में हिन्दुओं को धार्मिक स्वतंत्रता थी लेकिन फीरोज तुगलुक ने इसको समाप्त किया और अपनी कट्टरता का परिचय दिया।[1]

बर्नी ने लिखा है कि इस्लामी कानून सही ढंग से और सख्ती से हिन्दुओं को पद-दलित करने के उद्देश्य से नहीं किया गया। राजधानी में हिन्दुओं के स्वच्छंद विचरण से बर्नी को बड़ी ईर्ष्या हुई जिसे उसने व्यंग्यात्मक ढंग से अपनी पुस्तक में लिखा है।[2] हिन्दुओं की यह व्यक्तिगत धार्मिक स्वतंत्रता मुस्लिम प्रशासन की उदार नीति का परिचायक नहीं है। यह स्वतंत्रता हिन्दुओं की विशाल संख्या ग्रामों में मुस्लिम शासन की कठोरता की न्यूनता के कारण संभव हुई थी।

मुगल काल

बाबर ने खनवा के युद्ध के समय जिहाद के लिए अपने सिपाहियों को प्रेरित किया। मुसलमानों को तमगा से छूट दिया और हिन्दुओं पर आर्थिक बोझ बनाये रखा।[3] इस प्रकार बाबर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के सल्तनत काल से चले आ रहे भेदभाव को बढ़ा दिया।[4] उसके एक सैनिक अधिकारी हिन्दू बेग ने संभल में एक मन्दिर को गिराकर मसजिद बनवाया।[5] उसके सद्र शेख जैन ने चन्देरी में मन्दिरों को गिराया।[6] बाबर के आदेश से मीर बाकी ने अयोध्या में राम के मंदिर को गिरवाकर एक मसजिद बनवाया।[7] ग्वालियर के समीप उर्व में बाबर ने जैन-

---

1. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 13, कलकत्ता, 1932, पृ० 302-405
2. फतवाये जहाँदारी—एडवर्ड्स 11; देखिये रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, जिल्द 2, पृ० 302
3. तुजुके बाबरी, अनुवाद अर्सकीन लीडेन, जिल्द 2, पृ० 281
4. श्रीराम शर्मा, दि रिलीजस पालिसी ऑफ दि मुगल एम्परर्स बम्बई, 1962, पृ० 9
5. आर्कीयोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, xii, 26-7
6. तारीखे बाबरी (पाण्डु लिपि), पृ० 145, उद्धृत श्रीराम शर्मा आपसिट, पृ० 9
7. मसजिद के अभिलेख की विस्तृत जानकारी के लिए देखिये एस० के० बैनर्जी का लेख 'बाबर एण्ड दि हिन्दूज' जर्नल ऑफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, 1936, इलाहाबाद, पृ० 70-96

मंदिरों को गिरवाया।[1] इस प्रकार बाबर ने दिल्ली के सुल्तानों की कट्टर धार्मिक नीति का अनुसरण किया तथा हिन्दुओं के प्रति कोई उदारता नहीं दिखाई।[2]

श्रीराम शर्मा का कथन है कि बाबर के जो वसीयतनामे का पता चला है और जिसमें उसने अपने पुत्र हुमायूँ को हिन्दुओं के साथ उदारता का व्यवहार करने को कहा था[3] उसके प्रमाणिक होने में सन्देह है।[4]

हिन्दुओं के प्रति हुमायूँ की नीति अधिकतर संघर्ष से दूर रही। उसकी धार्मिक भावनाओं का पता बहादुर शाह के विरुद्ध उसके सैनिक अभियान से चलता है। उसने बहादुर शाह के ऊपर उस समय तक आक्रमण नहीं किया जब तक कि बहादुर शाह चित्तौड़ पर अधिकार करने में व्यस्त था[5] परन्तु बैरम खाँ ने जो एक शिया था और हुमायूँ का साथ ईरान तक दिया था उसने हुमायूँ के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया। वह न केवल शिया वर्ग के प्रति उदार हो गया बल्कि हिन्दू धर्म के प्रति भी उदार हुआ।[6] ऐसा कहा जाता है कि हुमायूँ ने बनारस के जंगमबाड़ी मठ के लिए मिर्जापुर जिले में 300 एकड़ भूमि दान में दी थी।[7]

डॉ० कानूनगो ने लिखा है कि शेरशाह ने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति अपनाई।[8] उसने अलाउद्दीन खल्जी, फीरोज तुगलुक और सिकन्दर लोदी की तरह हिन्दुओं का धार्मिक उत्पीड़न नहीं किया। यह भी कहा जाता है कि उसकी सेना में हिन्दू सिपाही थे और उसने सरायों में हिन्दू यात्रियों के ठहरने और भोजन बनाने की अलग व्यवस्था की।[9] परन्तु प्रो० श्रीराम शर्मा इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि शेरशाह ने न तो जजिया और यात्रा कर समाप्त किया और न हिन्दुओं

1. तुजुके बाबरी, जिल्द 2, पृ० 346
2. श्रीराम शर्मा – आपसिट, पृ० 9
3. देखिये ट्वेन्टियथ सेन्चुरी, इलाहाबाद, जनवरी 1936
4. श्रीराम शर्मा, पृ० 9
5. इस्लामिक कानून के अन्तर्गत एक मुस्लिम शासक को दूसरे मुस्लिम शासक पर आक्रमण नहीं करना चाहिए जब कि वह एक हिन्दू राज्य के विरुद्ध युद्ध कर रहा हो (फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 328)।
6. वही, पृ० 362
7. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 10
8. कानूनगो, शेरशाह, पृ० 417
9. वही।

पर लगे दूसरे प्रतिबन्धों को समाप्त किया ।[1] जहाँ तक सरायों में हिन्दू यात्रियों के टिकने का प्रश्न है यह व्यवस्था शेरशाह ने इसीलिए किया कि अधिकतर डाक ले जाने वाले (हरकारा) हिन्दू होते थे और उनके ठहरने के लिए उचित प्रबन्ध करना आवश्यक था ।[2] जहाँ तक हिन्दू सैनिकों की नियुक्ति की बात है यह कोई नयी घटना नहीं है। महमूद गजनवी के समय से मुस्लिम शासकों की सेना में हिन्दू सिपाही होते थे ।[3]

यह कहना तथ्यपूर्ण नहीं है कि शेरशाह ने हिन्दू मन्दिरों को नहीं गिरवाया। उसने जोधपुर के किले का मन्दिर गिरवाकर मसजिद बनवाई ।[4] तारीखे दाऊदी के लेखक अब्दुल्ला के अनुसार शेरशाह ने धर्मांधता के कारण जोधपुर पर आक्रमण किया। पूरनमल के साथ शेरशाह ने जो निर्दयता पूर्वक[5] व्यवहार किया इसकी योजना पहले से बना ली गई थी। उसका उद्देश्य केवल धार्मिक यश प्राप्त करना था ।[6] उसके उत्तराधिकारी इस्लाम शाह ने राज्य को मुल्लाओं के प्रभाव क्षेत्र में कमी कर दिया था। सिकन्दर शाह के सत्तारूढ़ होने के बाद जो गृह युद्ध हुआ उसमें एक हिन्दू, हेमू को आदिल शाह का सेनापति और प्रधान मन्त्री बनने में सफलता मिली और इस प्रकार धार्मिक कट्टरता कुछ सीमा तक कम हो गई ।[7]

इन्हीं धार्मिक परिस्थितियों के बीच अकबर 1556 ई० में सिंहासन पर बैठा। अकबर ने जजिया कर को अपमान जनक समझा, और 1564 ई० में उसे समाप्त कर दिया ।[8] इस कर के समाप्त हो जाने के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों की स्थिति समान हो गई ।[9] अकबर ने हिन्दुओं पर धार्मिक कृत्यों के करने के लिए लगाये गये प्रतिबन्धों को उठा लिया। उसने धार्मिक तीर्थों पर यात्रियों से कर लिये जाने को समाप्त

1. श्रीराम शर्मा, पृ० 11
2. वही ।
3. वही ।
4. शेरशाह की बनवाई हुई मसजिद अब भी मौजूद है जिसका वहाँ की स्थानीय परम्पराओं से पता चलता है ।
5. तारीखे दाऊदी, फोलियो 236, उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 11
6. वही । डॉ० कानूनगो इसे स्वीकार नहीं करते । देखिये—शेरशाह, पृ० 294-6
7. श्रीराम शर्मा, पृ० 12
8. अबुलफज्ल, अकबरनामा, जिल्द 2, पृ० 203-4
9. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 19

दिया।[1] उसने नये मन्दिरों के निर्माण के लिए अनुमति दी।[2] जिसके कारण साम्राज्य में विभिन्न स्थानों पर अनेक मन्दिर बनाये गये। मानसिंह ने 5 लाख रुपये की लागत से वृन्दावन में एक मन्दिर बनवाया[3] जिसकी सराहना मुस्लिम यात्रियों ने की है।[4] अकबर ने ईसाइयों को आगरा, लाहौर, कैम्बे और थट्टा में गिरजाघर बनवाने की अनुमति दी। ऐसा समझा जाता है कि अकबर ने पंजाब के कांगड़ा जिले में बने हुए ज्वालामुखी मन्दिर में अग्नि देवी को प्रतिमा को एक स्वर्ण छत्र दान दिया[5] उज्जैन और सत्रुन्जय में बहुत से जैन मन्दिर बनाये गये।

बहुत से उलेमा वर्ग के लोग जो अकबर द्वारा[6] स्थापित धर्म निरपेक्ष राज्य के विरोधी थे उन्होंने जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही उस पर दबाव डाला कि वह हिन्दुओं के प्रति उदार नीति को त्याग दे और शरीयत के अनुसार प्रशासन का कार्य चलावें।[7] जहाँगीर ने इस सम्बन्ध में शेख फरीद को आदेश दिया कि उसके पास चार विधि-वेत्ताओं के नाम भेजे जायँ जो देखें कि इस्लामी नियम के प्रतिकूल कोई कार्य न हो। मुल्ला अहमद ने शेख फरीद से विरोध प्रकट किया कि यह व्यवस्था ठीक नहीं रहेगी, क्योंकि चार विद्वान् कभी भी एक मत के नहीं होंगे इसीलिए उसने एक विद्वान् को यह कार्य सौंपने के लिए सुझाव दिया,[8] परन्तु इस पर कोई सहमति न हो सकी। जहाँगीर अकबर की अपेक्षा हिन्दुओं की तरफ कम उदार था। सम्राट् ने मुसलमानों से कहा कि वे निरन्तर प्रचार करें, जिससे उसके ऊपर हिन्दू परम्पराओं और रीति रिवाजों का प्रभाव न पड़े।[9]

---

1. अकबरनामा, जिल्द 2, पृ० 190
2. डू जरिक—अकबर एण्ड दि जेसूइट्स—अनुवाद पेन, पृ० 75
3. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 20
4. ट्रेवेल्स ऑफ अब्दुल लतीफ फ्राम गुजरात टू बंगाल ड्यूरिंग दि इयर्स 1607 एण्ड 1608, पृ० 33-34, 50-51 उद्धृत, वही।
5. श्रीराम शर्मा, पृ० 51, फुटनोट सं० 54
6. जय सोम, बायग्राफी ऑफ करमचन्द, ए जैन कोर्टियर ऑफ अकबर, पृ० 6
7. मुल्ला शाह अहमद ने जो उस समय के बड़े धार्मिक नेता थे साम्राज्य में सभी प्रभावशाली व्यक्तियों का आवाहन किया कि वे सब मिलकर प्रयास करें कि हिन्दुओं का प्रभाव प्रशासन से समाप्त हो जाय। (श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 61)
8. वही।
9. वही।

इन परिस्थितियों में जहाँगीर हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु नहीं हो सकता था। परन्तु उसने हिन्दुओं के विरुद्ध धार्मिक उत्पीड़न की नीति चलाये बिना या हिन्दुओं की नयी स्थिति को हानि पहुँचाये बिना इस्लाम के हित में कार्य करना प्रारम्भ किया उसने हिन्दुओं को तीर्थयात्रा और नये मन्दिरों के निर्माण की अनुमति देने में अपने पिता की नीति का अनुसरण किया।[1]

शाहजहाँ के धार्मिक विचार कट्टर थे। वह अपने दरबार को एक आदर्श मुस्लिम दरबार बनाना चाहता था। शाहजहाँ ने जजिया कर हिन्दुओं पर नहीं लगाया, परन्तु उसने तीर्थ यात्रा कर फिर से लगा दिया।[2] इस आर्थिक बोझ के कारण बहुत से हिन्दू जो धार्मिक कृत्य करना चाहते थे उनके मार्ग में रुकावट आ गई। ऐसा कहा जाता है कि बनारस के एक विद्वान् कविन्द्राचार्य के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल सम्राट् से मिला। इस पर शाहजहाँ ने यह कर समाप्त कर दिया।[3]

शाहजहाँ ने मन्दिरों के निर्माण के विषय में अकबर की उदार नीति को समाप्त कर दिया। उसने नये मन्दिरों के निर्माण और पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[4] इसके अतिरिक्त उसने हिन्दू मन्दिरों को गिरवाने का निश्चय किया। गुजरात में 3 मन्दिर, बनारस में 72 मन्दिर और इलाहाबाद में 4 मन्दिर गिराये गये।[5] कश्मीर में कुछ मन्दिर ध्वस्त किये गये। इच्छाबल के हिन्दू मन्दिर को गिराकर मसजिद बनाई गयी।[6] बीरसिंह बुन्देला द्वारा ओरछा में बनाया हुआ मन्दिर जुझेर सिंह के विरुद्ध सैनिक अभियान के दौरान गिराया गया।[7] शाहजहाँ ने विद्रोहियों के क्षेत्र के अनेक मन्दिरों को गिरवाकर मसजिद बनवा दी।[8] शायद दारा

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 61
2. वही, पृ० 86
3. वही।
4. लाहौरी 1, i, 452; काजविनी, 405 उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 86
5. लाहौरी, 1, i, 452, खाफीखाँ, 1, 472, उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 86
6. लाहौरी, 2, 53
7. लाहौरी, 1, ii, 121; श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 87
8. वही। 1644 ई० में इलाहाबाद में कई मन्दिर गिराये गये। जब वहाँ हिन्दू सरदार अबदाल ने विद्रोह किया। औरंगजेब के गुजरात के गवर्नर के पद पर रहने के समय (1645-47) बहुत से मन्दिर गिराये गये। इसके अलावा

के बढ़ते हुए प्रभाव से शाहजहाँ ने अपनी इस नीति को कालान्तर में त्याग दिया ।[2] दारा के प्रभाव के कारण 1647 ई० के बाद बहुत से ध्वस्त हुए मन्दिरों को फिर से निर्माण का अधिकार हिन्दुओं को मिला ।

औरंगजेब ने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति नहीं अपनाई । उसने गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद घोषणा किया (28 फरवरी, 1659) कि उसके साम्राज्य में प्राचीन हिन्दू मन्दिरों को पूर्ववत बने रहने दिया जायगा परन्तु कोई नये मन्दिर नहीं बनेंगे ।[2] परन्तु सैनिक अभियानों के दौरान बहुत से प्राचीन मन्दिर पालामऊ और कूच बिहार में तोड़े गये और उनके स्थान पर मसजिदों का निर्माण हुआ ।[3]

ये मन्दिर लड़ाई के समय में गिरवाये गये और ऐसा इसके पहले जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी हुआ था । औरंगजेब ने आदेश दिया (20 नवम्बर, 1665) कि वे मन्दिर जिसको उसने अपने गवर्नर के पद पर रहते हुए गिरवा दिया था और जो बाद में फिर से बनाये गये उन्हें गिरा दिया जाय ।[4] ऐसा समझा जाता है कि गुजरात में मन्दिरों के गिराने का क्रम इसलिए सबसे पहले प्रारम्भ किया गया था जिससे कि औरंगजेब सबको समझा सके कि वह कोई नीति नहीं चला रहा है बल्कि शाहजहाँ के समय के बनाये गये नियमों का पालन कर रहा था ।[5] 1669 में उसने उड़ीसा के नये मन्दिरों को गिरवाने के लिए आदेश दिया जिसके अन्तर्गत उसके शासन काल में 10 या 12 वर्षों के भीतर वहाँ के सभी मन्दिर गिरा दिये गये ।[6] सम्राट् के ये आदेश सभी गवर्नरों, फौजदारों, सैनिक अधिकारियों और जिला

अहमदाबाद और महाराष्ट्र के कई स्थानों पर मन्दिर गिराये गये जिसमें प्रमुख सतारा का खण्डेराय का मन्दिर और सरशपुर का चिन्तामणि का मन्दिर है ।

1. दारा ने मथुरा के केशवराम मन्दिर में एक पत्थर का एक जंगला बनवाने के लिए अनुदान दिया । 1634-35 में दारा ने जयसिंह को एक पत्र लिखा जिसमें मानसिंह द्वारा बृन्दावन में बनवाये गये मन्दिर में पुरोहित को नियुक्त करने के लिए इन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी गई । जयपुर रेकार्डस-पत्र दिनांक 7 अगस्त 1639; श्रीराम शर्मा, पृ० 87
2. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1911, पृ० 1789; ट्वेंटियथ सेन्चुरी, जिल्द 2, पृ० 2
3. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 136, 152
4. अब्दुल हई, मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 259-60
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 130
6. वही ।

अधिकारियों को आवश्यक कार्यवाही के लिए भेज दिये गये। औरंगजेब ने मथुरा के केशवराम मन्दिर का वह भाग गिरवाया जिसके निर्माण के लिए दारा ने अनुदान दिया था (14 अक्टूबर, 1666)[1]। जयसिंह की मृत्यु के बाद दिल्ली के समीप लालता मन्दिर को गिराया गया। जिस समय औरंगजेब को सूचना मिली (9 अप्रैल, 1669) कि हिन्दुओं ने सिन्ध, मुल्तान और बनारस में मन्दिरों से संलग्न स्कूल खोले हैं और उसकी शैक्षणिक वातावरण से प्रभावित होकर दूर-दूर से बहुत से मुसलमान शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे, उसने इन स्कूलों और मन्दिरों को नष्ट करने के लिए आदेश दिया।[2] यही नहीं, सारे साम्राज्य में गवर्नरों और फौजदारों को आदेश दिया गया कि सभी हिन्दू स्कूलों को नष्ट कर दिया जाय।[3] सन् 1669 ई० में जयपुर और बनारस के मन्दिरों को गिराने के लिए आदेश दिये गये[4] बनारस में गोपी नाथ और जंगमबाड़ी का शिव मन्दिर नष्ट किया गया। इसके बाद मथुरा में केशव राम का मन्दिर गिराया गया।[5]

गुजरात के सूरत जिले के लोगों ने काजी को घूस देकर मन्दिरों को गिरने से बचाया। काजियों के अधिक धन की माँग से वहाँ के व्यापारिक वर्ग पर अधिक आर्थिक बोझ पड़ा।[6] बंगाल प्रान्त में 1670-72 तक अनेक मन्दिर गिरवाये गये। जसवन्त सिंह की मृत्यु के बाद (10 दिसम्बर, 1678) औरंगजेब ने जोधपुर में मन्दिरों को गिराने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से 1679 ई० में उसने इस सम्बन्ध में आदेश दिया।[7] जोधपुर से गाड़ियों पर टूटी हुई मूर्तियाँ लादकर लाई गई और जामा मसजिद के चारों तरफ फेंक दी गईं।[8] औरंगजेब की इस कार्यवाही से राजस्थान में

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 130
2. जहाँगीर एक मुसलमान को हिन्दू योगी से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करना सहन नहीं कर सकता था। यह स्वाभाविक है कि औरंगजेब ने इसका तीव्र विरोध किया। इस सम्बन्ध में जहाँगीर ने दो मुसलमानों को दण्डित भी किया था।
3. मुस्तईद खाँ, मासिरे आलमगीरी, पृ० 81
4. वही, पृ० 94
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 133। केशव राय के मन्दिर की टूटी हुई मूर्तियाँ जहाँआरा के कब्र के पास गाड़ दी गईं।
6. इंगलिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया, xiii, 141
7. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 135
8. मासिरे आलमगीरी, पृ० 175

युद्ध छिड़ गया। जिसमें उदयपुर ने भी भाग लिया। औरंगजेब ने उदयपुर में 172 से भी अधिक मन्दिर गिरवाये (जनवरी, 1680)। चित्तौड़ में उसने 63 मन्दिर गिरवाये (22 फरवरी, 1680)।[1] औरंगजेब ने मित्र रियासत जयपुर में भी मन्दिर गिरवाये। यहाँ पर राजपूतों ने डट कर विरोध किया बहुत से राजपूत मारे गये। आमेर में 66 मन्दिर गिराये गये[2] (10 अगस्त, 1680)।

औरंगजेब ने अजमेर से दक्षिण जाते समय रास्ते में अनेक हिन्दू मन्दिरों को गिरवाया।[3] उसने लखेरी में मन्दिरों को गिराने का आदेश दिया।[4] औरंगजेब उदयपुर से रवाना हुआ (27-9-1681)। आस-पास के सभी मन्दिरों के द्वार बन्द-कर वहाँ से पुरोहित भाग गये। उसको अमीरों ने सुझाव दिया कि इन मन्दिरों को गिराया जाय, परन्तु औरंगजेब ने कहा कि उनके बन्द हो जाने से ही उसको सन्तोष है और उनको गिराने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन क्षेत्रों में कोई मुसलमान नहीं रहता था।[5]

गोलकुण्डा का अधिकार करने के उपरान्त औरंगजेब ने हैदराबाद में मन्दिरों जो गिरवाकर मस्जिदें बनवाई।[6] बीजापुर पर अधिकार होने के कई वर्ष बाद (1698) वहाँ भी हिन्दू मन्दिरों को गिरवा दिया गया।[7] रसुल पुर के मन्दिरों के गिराने का आदेश वहाँ के अधिकारियों को दिया गया (1692)[8] गुजरात में बाड़ नगर के मन्दिर को भी गिरवाने का आदेश दिया गया (1693)।[9] शिवगाँव (1693) और अजमेर (1694) में मन्दिर गिराये गये। गुजरात के सोरठ जिले में कई मन्दिर ध्वस्त कर दिये गये।[10] पुरंधर और वाकेन्खेरा किलों के मन्दिर ढहा दिये

---

1. मासिरे आलमगीरी, पृ० 186, 188-89
2. वही, पृ० 194
3. न्यूज लेटर, दिनांक 21-5-1681; श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 137
4. वही, दिनांक, 27-6-1681
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 137
6. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 343
7. वही, पृ० 359
8. वही, पृ० 385
9. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 137
10. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 354

गये (1705)।[1] बुन्देलखण्ड के इटाच नामक स्थान पर गिराये हुए हिन्दू मन्दिरों के सामान से जामा मसजिद बनवाई गई।[2] उदयपुर के शिव मन्दिर को मसजिद में परिवर्तित किया गया। भिलसा के समीप गयासपुर और गुजरात में खौण्दे राव का मन्दिर ध्वस्त किया गया।[3]

सरहिन्द के सिख मन्दिर को गिरवाया उसके स्थान पर मसजिद का निर्माण किया गया इसके अतिरिक्त कई सिख मन्दिर नष्ट किये गये।[4] औरंगजेब ने महाराष्ट्र में मन्दिरों को गिराने के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति किया जिसको वहाँ के मन्दिरों को गिराने का आदेश दिया गया।[5] उसने द्वारका के हिन्दू मन्दिर में पूजा-पाठ करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[6] कर्नाटक पर अधिकार करने के बाद उसने वहाँ के प्रमुख मन्दिर तिरुपति को इसलिए बना रहने दिया कि उस मन्दिर के तीर्थयात्रियों से राज्य को अधिकतम आय होती थी। इसके अलावा मन्दिर गिराने के कारण वहाँ विद्रोह हो जाता तो उसे दबाने में बहुत कठिनाई होती।[7] औरंगजेब ने हरद्वार और अयोध्या में मन्दिर गिरवाये।[8]

औरंगजेब ने सिखों के प्रति कड़ी नीति अपनायी। गुरु तेग बहादुर को मृत्यु दण्ड दिया (11 दिसम्बर, 1675)। 20 हजार सिख मुगल सैनिकों के द्वारा मार डाले गये जब कि वे शरण लेने के लिए बरकजाई अफगानियों के पास जा रहे थे।[9] औरंगजेब ने हिन्दुओं पर कई सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्ध भी लगाये। हिन्दुओं

---

1. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 139
2. आर्कीयोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 17, पृ० 31-34
3. वही, पृ० 85-86, 93; श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 138
4. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 651-52

   उड़ीसा में केदारपुर के मन्दिर को गिराकर मसजिद बनवायी गयी (1670)। अलूव नाम के परगने में एक राजपूत देवीसिंह का घर, मन्दिर बन गया था उसे भी औरंगजेब ने गिरवा कर उसी स्थान पर मसजिद बनवायी। (जयपुर रेकार्ड्स, जिल्द 10, पृ० 42)
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 1238
6. मीराते अहमदी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 121
7. मनूची, जिल्द 2, पृ० 144
8. वही, जिल्द 3, 245
9. अहकामे आलमगिरी, फोलियो 2 ए, उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 141

पर यात्रा कर फिर से लगाया गया।[1] बर्नियर ने लिखा है कि सूर्य ग्रहण के अवसर पर राज्य को तीस लाख रुपये की अतिरिक्त आय हुई।[2] पुष्कर (अजमेर) में यात्रियों को धार्मिक कृत्य करने के लिए रुपा ब्राह्मण ने 1 हजार रुपये की एक मुश्त धनराशि कर के रूप में देने का प्रस्ताव किया, जो स्वीकार कर लिया गया।[3] होली और दीवाली के त्योहारों के मनाने में कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया (20 नवम्बर 1665)। इन प्रतिबन्धों को पूरे साम्राज्य में लागू करने के लिये व्यापक व्यवस्था की गई।[4] 1703 ई० में अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे शवदाह पर रोक लगाई गई।[5] इसके पहले इसी तरह का आदेश दिल्ली में जमुना नदी के लिये भी लागू किया गया था।[6] मुस्तफाबाद के जागीरदार को आदेश दिया गया कि वह पानी के सोते को जनता के उपयोग के लिए बन्द कर दे, क्योंकि वहाँ हिन्दू पूजा-पाठ करते थे और पक्षाघात से पीड़ित मुसलमान वहाँ स्वास्थ्य लाभ के लिए जाते थे।[7]

सभी तरह की आतिशबाजी पर रोक लगा दी गई।[8] 1694 ई० में आदेश दिया गया कि हिन्दू लोग मुसलमानों की तरह वस्त्र न पहनें और न घोड़े, हाथी और पालकी की सवारी करें। हिन्दुओं को शस्त्र लेकर चलने की मनाही कर दी गई।[9] 1702 ई० में शाही आदेश के द्वारा हिन्दुओं को अँगूठियों पर हिन्दू देवी-देवताओं के नाम अंकित करने पर रोक लगा दी गई।[10] इसके अतिरिक्त औरंगजेब ने हिन्दू और मुसलमान सौदागरों के बीच भेदभाव किया हिन्दुओं से 5% और मुसलमानों से $2\frac{1}{2}$% चुंगी ली गई। और बाद में उन्हें चुंगी से मुक्त कर दिया गया इससे राज्य सरकार को हानि हुई क्योंकि चुंगी चौकियों पर मुसलमान व्यापारी हिन्दुओं के माल

1. मनूची, जिल्द 2, पृ० 82। यह कर $6\frac{1}{4}$ रु० प्रति व्यक्ति लिया जाता था।
2. बर्नियर, आपसिट, पृ० 303
3. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 142, वही।
4. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, जिल्द 3, पृ० 280, फुटनोट; मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 261
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 142
6. वही।
7. वही, पृ० 143
8. अहकामे आलमगीरी (रामपुर) फो० 68 ए, वही।
9. मासिरे आलमगीरी (उर्दू), पृ० 262-63
10. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 143

को अपना माल कहकर चुंगी छोड़वा देते थे।[1] इसके बदले में हिन्दुओं से इस लाभ का थोड़ा भाग ले लेते थे। बगीचे की उपज का हिन्दुओं से 20% और मुसलमानों से 16.6% लिया जाता था।[2] करारोपण में भी हिन्दुओं और मुसलमानों में अन्तर किया गया।[3] जानवरों पर हिन्दुओं से 5% कर और मुसलमानों से $2\frac{1}{2}$% लिया जाता था (1669-90)। सिक्के ढलवाने का शुल्क हिन्दुओं से 5% और मुसलमानों $2\frac{1}{2}$% लिया जाता था (1682)।[4]

राज्य की प्रशासनिक सेवाओं में हिन्दुओं की नियुक्ति

मुगल सम्राटों ने एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य से हिन्दुओं को राज्य की सेवाओं में भिन्न-भिन्न पदों पर नियुक्त किया था। हिन्दुओं की नियुक्तियों के तीन प्रमुख कारण थे[5]—प्रथम सम्राट् के सम्बन्धियों को लाभान्वित करना, द्वितीय एक विश्वसनीय सेना का गठन करना और वित्त और न्याय विभागों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। जो लोग सम्राट् के घनिष्ठ थे उन्हें ऊँचे पद दिये गये।[6]

न्याय विभाग में अधिकतर उलेमा की प्रधानता थी। कुछ मामलों में जहाँ मुकदमा लड़ने वाले हिन्दू होते थे वहाँ न्याय विभाग में हिन्दू कानून की व्याख्या करने के लिये पण्डितों की नियुक्ति की गई।[7] बाबर और हुमायूँ के समय में इस सम्बन्ध में किसी स्पष्ट नीति का विकास नहीं हुआ था। अकबर के समय इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया गया।

अकबर ने पदोन्नति योग्यता के आधार पर की थी। इसी आधार पर भगवान दास, मानसिंह, रामसिंह और टोडरमल गवर्नर के पद पर पहुँचने में सफल हुए थे।

---

1. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 158, 259; इस प्रकार की शिकायत मिलने पर औरंगजेब ने मुसलमानों पर फिर $2\frac{1}{2}$% चुंगी लगा दी।
2. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 243
3. मीराते अहमदी, जिल्द 1, पृ० 275
4. वहीं, पृ० 304
5. एम० एल० राय चौधरी, दि स्टेट एण्ड रिलीजन इन मुगल इण्डिया, पृ० 265
6. पोल्सर्ट ने लिखा है कि एक राजपूत अनूप राय ने जहाँगीर को शेर के चंगुल से बचा लिया और स्वयं बुरी तरह घायल हो गया, उसे बाद में 3000 के मनसब का दर्जा दिया गया (रिमान्सट्रेन्टी, पृ० 53; तुजुके जहाँगीरी, अनुवाद, जिल्द 1; पृ० 185-87)
7. बदायुँनी, जिल्द 2, पृ० 356-57

1594-95 तक बारह वित्तमंत्री हुये, जिनमें आठ हिन्दू थे।[1] अकबर की नीति को सफल बनाने के लिए टोडर मल ने अपने अधीन वित्त विभाग के कर्मचारियों को सारा हिसाब किताब फारसी भाषा में तैयार करने का आदेश दिया था।[2] इस प्रकार हिन्दुओं ने अपने हित में फारसी भाषा सीखी, जिससे उनकी पदोन्नति हुई।[3]

जहाँगीर ने भी राज्य की सेवाओं में हिन्दुओं की नियुक्ति की। इस सम्बन्ध में उसने अपने पिता अकबर की नीति का अनुसरण किया। 47 मनसबदारों में जिनका दर्जा 3 हजार या इससे ऊपर था, 6 हिन्दू मनसबदार थे।[4] जहाँगीर के समय में हिन्दुओं की स्थिति कुछ गिर गई थी, क्योंकि मानसिंह ने जहाँगीर के विरोध में खुसरो का समर्थन मुगल सम्राट् बनाने के लिये किया था। इससे जहाँगीर राजपूतों से नाराज हो गया था।[5] बीकानेर के शासक राजा रायसिंह के विद्रोह करने से हिन्दुओं की दशा पहले से खराब हो गई।[6] फिर भी उसके शासन काल में तीन हिन्दू गवर्नर के पद पर थे—बंगाल में मानसिंह, उड़ीसा में टोडर मल के पुत्र राजा कल्याण[7] और गुजरात के गवर्नर राजा विक्रमाजीत।[8] उसके शासन के तीसरे वर्ष में मोहन दास ने दीवान के पद पर काम किया।[9] विलियम हाकिन्स का कहना है कि जहाँगीर ने राजपूत सेनापतियों को नौकरी से निकाल दिया और उनके स्थान पर मुसलमानों को रखा। फलस्वरूप उसका अधिकार दक्षिण की रियासतों पर समाप्त हो गया जिन पर उसके पिता अकबर ने विजय प्राप्त की थी।[10] नूरजहाँ के हाथ में

1. अकबर नामा (टेक्सट), जिल्द 3, पृ० 670
2. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 23; एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 266
3. वही।
4. हाकिन्स, आपसिट, पृ० 98-99, उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 70; देखिए मुहम्मद यासीन, ए सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया, पृ० 45
5. एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 266-67
6. वही।
7. हाकिन्स, आपसिट, पृ० 99; श्रीराम शर्मा लेख बंगाल अण्डर जहाँगीर जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 13, भाग 2, पृ० 69
8. तुजुके जहाँगीरी, पृ० 24
9. वही, पृ० 75; एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 267
10. अर्ली ट्रेवेल्स इन इण्डिया (1583-1619) सम्पादित विलियम फोस्टर, पृ० 106-7

सत्ता आ जाने से राज्य की सेवाओं में विदेशियों को अधिक स्थान मिला।[1]

शाहजहाँ का आदेश था कि राज्य की सेवाओं में सारी नियुक्तियाँ मुसलमानों की की जाएँगी।[2] शायद उसके इस आदेश का पूरी तरह पालन नहीं हुआ, क्योंकि उसके समय में राजा टोडर मल, राय काशी दास और राय बहार मल ऊँचे पदों पर आसीन थे।[3] 'चहार चमन' के लेखक राय चन्द्रभान 'दारुल इन्शा' के प्रधान थे। राजा रघुनाथ ने कुछ समय तक वित्त मन्त्री के पद पर रहकर कार्य किया।[4] विभागों के प्रधान प्रायः हिन्दू होते थे। दीवाने तन और दीवाने बयूतात के प्रधान राय मुकुन्द दास थे।[5] बिहार में प्रान्तीय दीवान के पद पर बेनी दास थे। दक्षिण में राय दयानत राम[6] और लाहौर में सोभाचन्द दीवान थे।[7] शाहजहाँ के समय में जयसिंह और जसवन्तसिंह प्रमुख अमीर थे और प्रान्तीय गवर्नरों के पद पर काम कर रहे थे। मुसलमान अधिकतर विभागीय हिसाब किताब के कामों में रुचि नहीं लेते थे, क्योंकि वे उन्हें नीरस लगते थे।[8] जिसके कारण बहुत से हिन्दुओं और परिवर्तित मुसलमान इन पदों पर रखे गये। मुसलमान और राजपूत केवल सेना में ही कार्य करने में रुचि दिखलाते थे।[9] ऐसी परिस्थिति में प्रायः अन्य हिन्दुओं ने दूसरे विभागीय रिक्त स्थानों पर कार्य करना शुरू किया।[10] शाहजहाँ के समय में 241 मनसबदारों में, जिनका दर्जा 1 हजार और इससे अधिक था, 51 मनसबदार हिन्दू थे।[11]

शाहजहाँ के समय में सबसे महत्वपूर्ण नियुक्ति शाहजी भोंसले की थी, जिसको

---

1. पी० डेलावले, जिल्द 1, पृ० 54; मुहम्मद यासीन, आपसिट, पृ० 45
2. खाफी खाँ मुन्तखब बुललुबाब, जिल्द 1, पृ० 399
3. एम० एल० रायचौधरी, पृ० 267; श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 82
4. शाहजहाँ हिन्दुओं को ऊँचे पदों पर स्थाई नहीं करता था। वह हिन्दुओं की अपेक्षा परिवर्तित मुसलमानों को पसन्द करता था, जैसा कि सादुल्ला खाँ की नियुक्ति से पता चलता है।
5. लाहौरी, जिल्द 1, पृ० 210
6. वही, जिल्द 2, पृ० 408
7. वही, पृ० 132-34
8. वही, पृ० 279
9. एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 268
10. वही।
11. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 118

6 हजार की मनसब दिया गया था। उसका मनसब सभी हिन्दू मनसबदारों से अधिक था। उत्तराधिकार के संघर्ष के समय जसवन्तसिंह साम्राज्य के सबसे प्रमुख अमीर थे। उनको 6 हजार का मनसब मिला हुआ था।[1] जिस समय औरंगजेब दक्षिण का वाइसराय था, शाहजहाँ ने उसकी राजपूत विरोधी नीति की भर्त्सना की।[2] औरंगजेब ने राय माया दास के स्थान पर एक मुस्लिम की नियुक्ति की।[3] श्रीराम शर्मा का विचार है कि राज्य की सेवाओं से हिन्दुओं को बहुत अधिक संख्या में निकाला नहीं गया।[4]

औरंगजेब के शासन के प्रारम्भ में जसवन्तसिंह और जयसिंह प्रमुख अमीर थे। दारा के साथ विश्वासघात करने पर उनकी पदोन्नति हो गई।[5] ऐसा विश्वास किया जाता है कि औरंगजेब की मृत्यु के समय हिन्दू मनसबदारों की संख्या 50 थी, जब कि शाहजहाँ के शासन के अन्तिम समय में यह संख्या 51 थी।[6] औरंगजेब के अन्तिम समय में पूरे साम्राज्य में कोई हिन्दू गवर्नर के पद पर नहीं था और हिन्दू दीवान राजा रघुनाथ का स्थान ग्रहण करने के लिए कोई हिन्दू उस समय नहीं था।[7] औरंगजेब ने एक फरमान जारी किया कि सूबेदार के पद पर किसी राजपूत की नियुक्ति नहीं की जायेगी।[8] हिन्दुओं को, जो पहले से नौकरी कर रहे थे, पदोन्नति देना रोक दिया गया।[9] अखबारात से पता चलता है कि 10 मई, 1703 को औरंगजेब ने अपने पुत्र की भर्त्सना की, जिसने जयसिंह द्वितीय को नायब गवर्नर के पद पर नियुक्त करने के लिए सिफारिश की थी।[10]

---

1. खाफी खाँ, जिल्द 1, पृ० 379
2. आदबे आलमगीरी, पृ० 55, उद्धृत श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 85
3. समकालीन लेखकों का विचार है कि वृद्धावस्था के कारण राय माया दास को हटा दिया गया (लाहौरी, जिल्द 1, पृ० 446)
4. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 85
5. आलमगरिनामा (टेक्सट), जिल्द 1, पृ० 61
6. श्रीरामशर्मा, आपसिट, पृ० 119
7. एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 268
8. वही।
9. वही।
10. वही।

कुछ प्रमाण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि औरंगजेब ने हिन्दुओं को सरकारी पद पर रखने पर रोक लगा दी थी। 'मासिरे आलमगीरी' के अनुसार औरंगजेब ने एक आदेश के अन्तर्गत वित्त विभाग में हिन्दुओं की नियुक्ति की मनाही कर दी थी।[1] कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने औरंगजेब के इस कार्य का समर्थन किया है। उनके अनुसार हिन्दू कर्मचारियों को चोरी, घूसखोरी और भ्रष्टाचार के कारण वित्त विभाग से निकाला गया।[2] हिन्दुओं के अभाव में सरकारी कार्य में गतिरोध उत्पन्न हो जाने के कारण उसने अपने इस आदेश में संशोधन कर दिया और कहा कि वित्त विभाग में पचास प्रतिशत हिन्दू और पचास प्रतिशत मुसलमान होने चाहिए।[3] उसने हिन्दू सैनिक अधिकारियों को अपने व्यक्तिगत सेवा में रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कुछ विद्वानों का विचार है कि औरंगजेब ने राज्य की सेवाओं में नियुक्ति करते समय हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं किया।[4] परन्तु उनके यह विचार ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। औरंगजेब ने गैर मुसलमानों और गैर सुन्नियों को आवश्यक बुराई समझकर बनाये रखा।[5] बर्नियर ने लिखा है कि राजपूत वीर और स्वामिभक्त होते थे। युद्ध स्थल को छोड़कर भागने की अपेक्षा वे अपने प्राणों की आहुति देना श्रेयस्कर समझते थे। यही कारण था कि मुगल सम्राटों ने राजपूतों को अपनी सेना में बनाये रखा।[6] राजपूतों का उपयोग विद्रोही राजपूत राजाओं के विरुद्ध किया जाता था। इसके अतिरिक्त उन्हें पठानों और विद्रोही मुगल अमीरों के विरुद्ध और दक्षिण के युद्धों में लड़ने के लिये भेजा गया।[7]

---

1. मासिरे आलमगीरी, पृ० 528; खाफी खाँ, मुन्तखबुललुबाब, जिल्द 2, पृ० 249
2. फारुकी, औरंगजेब एण्ड हिस टाइम्स, पृ० 190-91
3. एम० एल० रायचौधरी, आपसिट, पृ० 269; मनूची, पृ० 194-5; यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, जिल्द 3, पृ० 277
4. फारुकी, आपसिट, पृ० 201
5. मुहम्मद यासीन, आपसिट, पृ० 46-47
6. बर्नियर, पृ० 40; मुहम्मद यासीन, आपसिट, पृ० 48
7. वही, पृ० 210-11

खालसा भूमि के कुछ हिन्दू 'करोंड़ियों' (लगान वसूल करने वाले कर्मचारी) के स्थान पर मुसलमानों की नियुक्ति हुई ।[1] कुछ हिन्दुओं ने अपने पदों पर बने रहने के लिए इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया ।[2] औरंगजेब ने यथा सम्भव मुसलमानों को अधिक संख्या में हिन्दुओं के स्थान पर रखने का प्रयास किया, लेकिन इस कार्य में उसे अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि मुसलमान प्रशासन के छोटे पदों पर कार्य करने के लिये तैयार नहीं थे। 27 जुलाई, 1703 को 20 हिन्दू बन्दूकचियों को नौकरी से निकाल दिया गया और उनके स्थान पर मुसलमानों को रखा गया ।[3] अपने शासन के 16वें वर्ष में उसने हिन्दुओं को दिये गये सभी अनुदान को वापस ले लिया ।[4] औरंगजेब की इस कार्यवाही से मुसलमानों के अन्दर दम्भ की भावना आ गई। 1704 ई० में एक सैय्यद अमीर की नियुक्ति गुजरात में एक पद पर की गई। बाद में जब गुजरात के गवर्नर को पता चला कि उस अमीर को दुर्गादास के अधीन काम करना पड़ेगा, गवर्नर से उस अमीर को कार्य भार नहीं सौंपा, क्योंकि उसके विचार में एक मुसलमान को एक हिन्दू के अंतर्गत काम करना अपमान-जनक था ।[5]

इस प्रकार औरंगजेब के शासन काल में हिन्दुओं की स्थिति बिगड़ गई। प्रशासन में ऊँचे पदों पर वे नहीं रखे जाते थे जबकि मुसलमानों की खुलेआम नियुक्ति की जाती थी। उसने वित्त विभाग से सभी हिन्दुओं को निकाल देने का आदेश दिया था लेकिन कार्य में गतिरोध उत्पन्न हो जाने के कारण उसे अपने आदेश में संशोधन करना पड़ा।

मुगल सेना में हिन्दुओं की स्थिति की तुलनात्मक तालिका[6] अगले पृष्ठ पर दी गई है।

---

1. खाफी खाँ, जिल्द 2, पृ० 252
2. वही।
3. न्यूज लेटर, दिनांक 27 जुलाई, 1703
4. मीराते अहमदी, पृ० 11
5. श्रीराम शर्मा, आपसिट, पृ० 122
6. एम० एल० राय चौधरी, आपसिट, पृ० 271

मनसब की श्रेणी	अकबर	जहाँगीर	शाहजहाँ	औरंगजेब
7000	1	×	×	2
6000	×	1	1	4
5000	5	9	9	5
4000	4	4	10	5
3500	1	1	×	4
3000	3	5	24	13
2500	×	3	5	5
2000	8	13	22	16
1500	5	5	31	27
1000	8	4	33	15
900	×	1	2	1
800	×	3	20	×
700	4	×	15	3
600	×	1	11	2
500	7	5	44	2
कुल योग	41	55	227	104

500 से 7000 मनसब के श्रेणी के मनसबदारों की तालिका जिसका विस्तृत विवरण समकालीन इतिहासकारों और अन्य विद्वानों ने दिया है[1]:—

		अबुलफज्ल	डेलीट	केवलराम	लाहौरी	योग
अकबर—	मुस्लिम	215	×	214	×	247
	हिन्दू	32	×	37	×	
जहाँगीर—	मुस्लिम	×	383	×	×	438
	हिन्दू	×	55	55	×	
शाहजहाँ—	मुस्लिम	×	×	437	453	664
	हिन्दू	×	×	227	110	
औरंगजेब—	मुस्लिम	×	×	435	435	539
		×	×	104	104	

1. एम० एल० राय चौधरी, आपसिट, पृ० 271-272

हिन्दुओं की व्यक्तिगत स्वतंत्रता

अकबर के सम्राट् बनने के पहले हिन्दुओं को सामाजिक और धार्मिक स्वतंत्रता नहीं थी। सिकन्दर लोदी द्वारा लगाये गये धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण हिन्दू लोग धार्मिक कृत्य नहीं कर सकते थे, जैसे तीर्थ यात्रा, जुलूस निकालना, ग्रहण आदि हिन्दू पर्वों पर नदियों के किनारे स्नान तथा धार्मिक मेलों में एक स्थान पर एकत्रित होना। यही व्यवस्था बाबर के भारत आगमन के समय में भी थी। बाबर ने हिन्दुओं की दशा सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत उसने हिन्दुओं के विरुद्ध 'जिहाद' का नारा दिया और इस्लाम के प्रसार के लिए अपने सैनिकों को प्रोत्साहित किया। हुमायूँ राजनैतिक समस्याओं में इतना उलझा रहा कि उसे हिन्दुओं की स्थिति को ठीक करने का समय ही नहीं मिला।

अकबर ने हिन्दू और मुस्लिम वर्गों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का अथक प्रयत्न किया। धर्म के नाम पर जो अत्याचार किया जाता था, उसे उसने समाप्त कर दिया। उसने न केवल हिन्दुओं को बल्कि ईसाइयों को भी धार्मिक क्षेत्र में स्वतंत्रता प्रदान की। उसने तीर्थ स्थानों पर लिये जाने वाले कर और जजिया कर को समाप्त कर दिया। हिन्दुओं को उनके धार्मिक कृत्य करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वे अपने त्योहारों को सार्वजनिक रूप से मना सकते थे। नये मन्दिरों के निर्माण के लिए अकबर ने ईसाइयों को भी गिरजाघर बनाने की अनुमति दी। यही नहीं, अकबर ने हिन्दुओं और ईसाइयों को धर्म परिवर्तन करने की स्वतंत्रता प्रदान की। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने धर्म का परित्याग करके दूसरा धर्म ग्रहण कर सकता था।

जहाँगीर हिन्दुओं के प्रति अपने पिता के समान उदार नहीं था। अपने शासन के प्रारम्भ में उसने कुछ धार्मिक कट्टरता दिखलाई, लेकिन उसने अपने पिता की नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया और हिन्दुओं को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्ववत बनी रही। परन्तु जहाँगीर ने धर्म परिवर्तन की स्वतंत्रता नहीं दी। कोई भी इस्लाम का त्याग कर हिन्दू या ईसाई धर्म ग्रहण नहीं कर सकता था। राजौरी के हिन्दुओं को, मुस्लिम स्त्रियों को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर के विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

शाहजहाँ कट्टर धार्मिक विचारों का था। उसने नये मन्दिरों के निर्माण पर रोक लगा दी और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने की मनाही कर दी। उसने नये मन्दिरों को ध्वस्त भी किया। परंतु दारा के प्रभाव के कारण 1647 के बाद उसके

नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना तथा प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं, जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति के नहीं बल्कि जिनकी समता मध्य युग के यूरोपियन भक्त बनार्ड ऑफ क्लेयर बाक्स, टामस ए० केम्पिन और सेंट थिरेसा से हैं"।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों में समय-समय में परिवर्तन होता रहा है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि धार्मिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ।

भक्ति का उद्भव

पाश्चात्य विद्वान् वेबर के अनुसार मोक्ष का साधन भक्ति विदेशी प्रभाव की देन है। भारतवर्ष में इसका प्रवेश ईसाई धर्म के साथ हुआ। क्योंकि ईसाई धर्म का स्पष्ट प्रभाव पुराणों तथा महाकाव्यों पर दिखाई देता है।[2] डॉ० ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में लिखा है कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता"।[3] यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिंदू-मंदिरों को नष्ट करने लगे तो निराश होकर हिंदू लोग भजन-भाव में जुट गये। डॉ० ग्रियर्सन की बात अचानक बिजली के समान फैल जाना तर्क संगत नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि भक्ति आंदोलन अचानक बिजली की चमक के समान भारतीय क्षितिज पर नहीं आया, बल्कि सैकड़ों वर्ष से उसके मेघ-मण्डल में एकत्र हो रहे थे।

पाश्चात्य विद्वान् बार्थ ने वेबर तथा ग्रियर्सन के तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि भक्ति भावना पूर्णरूप से भारतीय है। क्या यह कहना उचित है कि ईसाई धर्म के आगमन तक भारत भक्ति भावना के प्रादुर्भाव तथा विकास की प्रतीक्षा करता रहा। शिव तथा कृष्ण की उपासना की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। भक्ति का उद्भव तथा विकास पूर्णरूप से भारतीय परिवेश में होना ध्रुव सत्य है।[4] सेनार्ट के अनुसार भक्ति का प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ है। वैदिक साहित्य में इसकी पुष्टि के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। आर्य लोग शिव, विष्णु की उपासना करते थे। इस पर विदेशी

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, बम्बई-4, पृ० 38
2. डॉ० युसुफ हुसेन, मेडिवल इण्डियन कल्चर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृ० 4
3. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 38
4. डॉ० युसुफ हुसेन, पृ० 4-5

अध्याय 6

भक्ति आन्दोलन

धर्म आदिशक्ति के सम्बन्ध में आध्यात्मिक अनुसन्धान है। इसके माध्यम से मनुष्य आदिशक्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर उसका रहस्योद्‌घाटन करता है। धर्म, ईश्वर के विषय में अनुभव है, जिसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती है। उपनिषद् में भी धर्म को ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान माना गया है। ईश्वर सभी का स्वामी, सर्वज्ञाता, सभी की आत्मा, सबका स्रोत, प्राणिमात्र का जनक एवं विनाशक है। विश्व के सभी धर्मों का मूल उद्देश्य ईश्वर के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है। अनुभव तथा दृष्टिकोण में विभिन्नता के कारण एक ही ईश्वर को सगुण, निर्गुण, साकार तथा निराकार कहा गया है। सभी धर्म एकेश्वर तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं।

सभी धर्मों का अपना-अपना दर्शन है। दर्शन का मूल उद्देश्य सांसारिक दुःख तथा अज्ञानता का अन्त करना है। ईश्वरीय ज्ञान की अज्ञानता मनुष्य के दुखों का मूल स्रोत है। धार्मिक दर्शन के माध्यम से मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है। जन्म-पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होना ही सुख की चरम सीमा माना गया है। इस्लाम, ईसाई, हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों में मोक्ष (परम सुख) प्राप्ति के लिए अलग-अलग साधनों की विस्तृत चर्चा की गई है। दर्शन का मूल विषय ईश्वर, सृष्टि, आत्मा तथा जीव है तथा मूल उद्देश्य ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त कर सुख के अन्तिम लक्ष्य तथा मोक्ष को प्राप्त करना है। बाइबिल, कुरान, वेद, उपनिषद्, गीता तथा रामायण में इन्हीं विषयों का विस्तृत उल्लेख है। गौतम बुद्ध, महाबीर तथा भक्ति आन्दोलन के महान् समाज सुधारकों ने मनुष्य के दुःख को दूर कर मोक्ष के साधन को अपने-अपने ढंग से बताया है। समय तथा परिस्थितियों का प्रभाव धर्म के परिवर्तित विचारों पर पड़ा है। भक्ति आन्दोलन के समय धर्म के स्वरूप के विषय में डॉ॰ ग्रियर्सन ने लिखा है "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नई) धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं विशाल हैं, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान

परन्तु कुछ ने भक्ति मूल स्रोत वेद नहीं बल्कि सिंधु सभ्यता की शिव आराधना में माना है, यह स्वीकार करते हुए अनेकों प्रमाण दिये हैं। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ मूर्तियों के अवशेष मिले हैं, जिमसे इस बात की पुष्टि होती है कि उस युग में शिव तथा देवी की आराधना की जाती थी। इस प्रकार भक्ति का उद्भव स्थल सिंधु का होना नितांत सत्य है। बाद में आर्येतर जातियों की भक्ति भावना और उपासना पद्धति को वैदिक आर्यों ने अपनाया। इस प्रकार विष्णु की भक्ति भावना का विकास उत्तर तथा दक्षिण भारत में आर्यों तथा द्रविड़ों ने समान रूप से अपनाया।

भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव

डॉ० युसुफ हुसेन के अनुसार भक्ति आन्दोलन रूढ़िवादी, सामाजिक तथा धार्मिक विचारों के विरुद्ध हृदय की प्रतिक्रिया तथा भावों का उद्गार है। भारतीय परिवेश में भक्ति आन्दोलन का विकास इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है :—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्॥

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति कर्म तथा गुण के आधार पर की गई। समाज में ब्राह्मण वर्ण की प्रधानता थी। इस वर्ण ने धर्म तथा समाज के क्षेत्र में अन्य वर्णों को समान अधिकार नहीं दिया। अलबरूनी के अनुसार— "समाज पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। वेद अध्ययन, धार्मिक पूजा, आराधना, यज्ञ, अन्य लोगों के लिए वर्जित था। जब शूद्र तथा वैश्य ने वेद अध्ययन तथा आराधना, यज्ञ का प्रयास किया तो समकालीन शासकों ने ब्राह्मणों के प्रभाव में आकर उनकी जिह्वा कटवा लिया।"[1] मनु के अनुसार भोजन करते हुए ब्राह्मण को अन्य लोग नहीं दे सकते थे। समाज में ब्राह्मणों की प्रभुता अन्य लोगों के लिए असह्य हो गई। गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी द्वारा चलाया गया बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ब्राह्मणों

गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ 18-65
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ 18-66

1. सखाऊ, अलबरूनी का भारत, खण्ड II, पृ० 137-38

प्रभाव की पुष्टि करना उपहास का विषय होगा।[1] डॉ० युसुफ हुसेन ने बार्थ तथा सेनार्ट के विचारों को स्वीकार करते हुए भक्ति को भारतीय वातावरण की उपज स्वीकार किया है।[2]

भक्ति शब्द भज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है सेवा, परंतु वास्तव में ईश्वर के चरणों में पूर्णरूप से आत्म समर्पण कर देने एवं ईश्वर में पूर्णरूप से अनुरक्त हो जाना भक्ति कहलाता है। वेद में स्पष्ट लिखा है—

मित्र स्याहं चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्॥[3]

भक्ति की व्याख्या श्रीमद्भागवत् में इस प्रकार की गई है—उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने वाली इंद्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान् में लग जाय।[4]

सर्वं पुसां परो धर्मो यती भक्तिरधोक्षजे।
अहंतक्य प्रतिहता यतात्मा संप्रसीदति॥[5]

अर्थात् भगवान् में हेतुरहित निष्काम, एकनिष्ठा युक्त अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है, इसी से आत्मा प्रसन्न होती है।

कुछ विद्वानों ने भक्ति का उद्भव वेद से माना है वेद, उपनिषद्, भगवद्-गीता, महाभारत, पुराण, नारद पंचरात्र तथा पुराण की शाखा-प्रशाखाओं में भक्ति के सिद्धान्त भरे पड़े हैं। इस प्रकार का साधन हमारे देश में बहुत प्राचीन है। इसी उपासना को भक्ति कहते हैं। भवित का लक्षण शाण्डिल्य सूत्र में इस प्रकार दिया गया है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे"[6] अर्थात् ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भागवत पुराण के अनुसार—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥[7]

---

1. डॉ० युसुफ हुसेन, पृ० 5
2. वही।
3. ऋग्वेद संग्रह, पृ० 40
4. श्रीमद्भागवत, 3-25-32-33
5. वही, 1-2-6
6. देवर्षि नारद, भक्ति सूत्र, 82
7. श्रीमद्भागवत, स्कंध 7, अध्याय 5, श्लोक 23

द्वितीय चरण तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक है। इस्लाम तथा हिन्दू धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों के फलस्वरूप नवीन विचारों का उद्गार हुआ। ऐतिहासिक तथा सामाजिक समस्याओं पर लोगों ने गम्भीरता से विचार करना प्रारम्भ किया। वेद के उपदेशों पर तर्क तथा समाज पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विषय में अनेक प्रश्नों को उठाया गया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में जाति विचार अत्यन्त जटिल अवस्था में था। क्षितिमोहन सेन के अनुसार—"इन जाति विचार शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरूवेल्लुअर प्रभृति भक्ति शास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक मनुष्य अलग-अलग भोजन करेगा। क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति भोजन में ही उठता है।"[1]

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन की चिनगारी दक्षिण भारत में सुलग रही थी, जिसकी प्रज्ज्वलित लपटें थोड़े समय में सम्पूर्ण भारत में फैल गईं। आलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की चीज था जो क्रमशः शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह समाज सुधार के लिए जन आन्दोलन था। इसे ब्राह्मण धर्म तथा समाज में ब्राह्मणों के विरुद्ध आन्दोलन कहना अनुचित नहीं होगा।

शंकराचार्य

भक्ति आन्दोलन की पृष्ठ भूमि शंकराचार्य ने तैयार की थी। उन्होंने वेदान्त सूत्र की व्याख्या करके सभी धार्मिक समस्याओं का समाधान तर्क के आधार पर किया। वे वेदान्त तथा उपनिषद् के प्रबल समर्थक थे। ब्राह्मण धर्म को पुनर्जीवित करने में उनका महान् योगदान था। बौद्धधर्म के सिद्धान्तों, विशेषरूप से निर्वाण का खण्डन करके ज्ञान को ही ईश्वर अनुभूति तथा मोक्ष का साधन बताया। ब्रह्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद का था। अद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर अपरिवर्तनीय, निराकर तथा सत्य है। सारा संसार माया से पूर्ण है। केवल ज्ञान से माया के अन्धकार को दूर करके ब्रह्म के विषय में जान सकते हैं। उनके सिद्धान्त में भक्ति के लिए कोई स्थान न था। क्योंकि भक्ति में उपासक का सम्बन्ध आराध्य ब्रह्म के साथ व्यक्तिगत होता है। उनके अद्वैतवाद तथा मायावाद में जीव तथा ब्रह्म का एकता असम्भव थी।

---

1. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 39

के विरुद्ध एक आन्दोलन था। इन धर्मों का मुख्य उद्देश्य सभी जातियों को समाज में समान अधिकार दिलाकर सभी के लिए मोक्ष (निर्वाण) दिलाना था। कई वर्षों तक भारतवर्ष में यह आन्दोलन चलता रहा। परन्तु ब्राह्मण चुपचाप नहीं बैठे थे। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त का खण्डन किया। दुर्भाग्यवश बौद्ध धर्म भी उस समय पतन के मार्ग पर था। शंकराचार्य के अथक प्रयास के फलस्वरूप बुद्ध की जन्म भूमि से बौद्ध धर्म का लोप हो गया।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म आन्दोलनों का उद्देश्य समाज सुधार कर पद-दलित वर्ग को ऊँचा उठाना था। सुधार सम्बन्धी कुछ तत्व पहले से ही विद्यमान था। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी को मेरी आराधना में समान रूप से अधिकार है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥[1]

अलबरूनी ने वासुदेव के शब्दों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि "ईश्वर निष्पक्ष भाव से न्याय करता है। यदि कोई ईश्वर को भूलकर सत्कर्म करता है तो वह उसकी दृष्टि में बुरा है। यदि कोई बुरा कर्म करते हुए भी ईश्वर का स्मरण करता है, तो वह उसकी दृष्टि में अच्छा है।[2] इस प्रकार भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने तथा समाज में समानता का अधिकार पाने के तत्व प्राचीन साहित्यों में विद्यमान थे, जिसे भक्ति आन्दोलन के समाज तथा धर्म सुधारकों ने खुलकर समाज के समक्ष रखा।

भक्ति आन्दोलन को हम दो चरणों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम चरण का प्रारम्भ भगवद्गीता काल से तेरहवीं सदी तक, जब इस्लाम का प्रवेश भारतवर्ष में हो चुका था। इस काल में भक्ति का सम्बन्ध व्यक्तिगत भाव से था। गीता का उपदेश उन लोगों के लिए नैतिक सन्तोष था जो बौद्धिक ज्ञान के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ थे। इन लोगों के लिए वेद तथा उपनिषद् की शिक्षा दुरूह थी। गीता के उपदेश का मूल उद्देश्य भक्ति भावना के साथ एक नवीन आध्यात्मिक मार्ग का प्रचलन नहीं, बल्कि विभिन्न दार्शनिक विचारों के बीच समन्वय स्थापित करना था। गीता में न केवल उपनिषदों के दर्शन बल्कि योग तथा सांख्ययोग के सिद्धान्तों का समावेश है, और उसमें एकेश्वरवाद की पुष्टि है। भक्ति को सभी के लिए मोक्ष का साधन बताया गया है।

---

1. गीता, अध्याय 9, श्लोक 29
2. सखाऊ I, पृ० 104

देव ने दीक्षा दी थी। चैतन्य सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त जीव गोस्वामी के साथ हिन्दी की अमर कवयित्री मीराबाई का सम्बन्ध है। मीराबाई ने पहले जीव स्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी। बाद में रैदास ने दीक्षा दी थी।

रुद्र सम्प्रदाय

रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे। आज भी यह सम्प्रदाय बल्लभाचार्य प्रवर्तित सम्प्रदाय के रूप में जीवित है। बल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई बिट्ठलनाथ बाद में आचार्य पद के अधिकारी हुए थे। पिता-पुत्र के चार-चार शिष्य हिन्दी साहित्य के आदियुग के उन्नायक हैं। गोसाई बिट्ठलनाथ ने इन आठ को लेकर अष्ट छाप की प्रतिष्ठा की थी। इन आठ शिष्यों के नाम हैं--सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छोत स्वामो, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास।

गोसाईं बिट्ठलनाथ के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी ने "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, चौरासी वैष्णवों की वार्ता" नामक ग्रन्थ लिखा। उस शृंखला में पीयूषवर्षी कवि रसखान हुए, जो अपनी सरस रचना से तथा तन्मय उपासना के कारण भक्तों की दुनिया में अमर हो गये।

सनकादि सम्प्रदाय

निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय अब केवल उत्तर भारत में ही प्रचलित है। इस सम्प्रदाय की एक नाम मात्र शाखा राधावल्लभ है; जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हित हरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधिका के माध्यम से ही भक्त अपने को भगवान के पास निवेदित करता है।

रामानुजाचार्य

रामानुजाचार्य का जन्म मद्रास के समीप तिरुपति अथवा पेरुम्बर नामक स्थान में 1016 में हुआ था। उनके पिता केशव हरीत परिवार के द्रविड़ ब्राह्मण थे तथा इनकी माता का नाम कांतिमती था।[1] वे शंकराचार्य के अनुयायी तथा कांजीवरम् के निवासी यादव प्रकाश के प्रथम शिष्य थे। गुरु से मतभेद होने के कारण उन्हें निष्कासित कर दिया गया। यमुनामुनि ने उन्हें आमंत्रित कर श्रीरंगम् में शिक्षा दी। गुरु की मृत्यु के बाद वे उत्तराधिकारी हुए। शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद इन्होंने अपना सन्देश जनता तक पहुँचाने का निश्चय किया। उन्होंने वेदान्त संग्रह, वेदान्तसूत्र, वादरायण का भाष्य तथा भगवद्गीता की व्याख्या लिखी।[2]

---

1. रंगाचार्य, लाइफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ रामानुज, के० एस० आयंगर, रामानुज, राजगोपालाचारी—रामानुज।
2. डॉ० ताराचंद, इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० 99-100

सम्प्रदायों का उदय

बारहवीं सदी के आस पास दक्षिण में शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। उनके विरोधी आचार्यों ने उनके सिद्धान्त को मायावाद कहा है। प्राचीन भागवत धर्म में जीव तथा ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त मानी गई। क्योंकि भक्ति के लिए जीव तथा ब्रह्म की उपस्थिति आवश्यक है। दक्षिण के आलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं सदी में जब भागवत धर्म ने नया स्वरूप ग्रहण किया, तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवाद के विरोध में आविर्भूत हुए, जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय तथा निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। उन चार सम्प्रदायों के दार्शनिक मतों में भेद है, परन्तु एक बात में वे सहमत हैं—मायावाद का विरोध। दूसरी बात जो इन सब में एक है वह भगवान का अवतार धारण करना है। जीवात्मा सबके मत से भिन्न-भिन्न है। वह अद्वैतवादियों की धारणा के अनुसार भगवान में लीन कभी नहीं होता।

श्रीसम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक—रामानुजाचार्य शेषनाग के अवतार समझे जाते हैं। वे आलवार भक्तों की शिष्य परम्परा में थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा कांची में हुई थी। लक्ष्मी ने इन्हें जिस मत का उपदेश दिया था, उसी के आधार पर इन्होंने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। इसीलिए उस सम्प्रदाय को श्रीसम्प्रदाय कहते हैं। रामानुजाचार्य मर्यादा के बड़े समर्थक थे। इस सम्प्रदाय में खान-पान, आचार-विचार पर बड़ा जोर दिया जाता है। उस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्तों का विस्तृत वर्णन बाद में किया जायगा।

ब्राह्म सम्प्रदाय

ब्राह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य पहले शैव थे; बाद में वे वैष्णव हो गये। चैतन्य देव इस सम्प्रदाय में पहले दीक्षित हुए थे, यद्यपि बाद में परिवर्तित गौडीय वैष्णव मतवाद रुद्र सम्प्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य रखता है। चैतन्यदेव के एकमात्र दीक्षा प्राप्त शिष्य गोपाल भट्ट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ हिन्दी साहित्य के लेखकों ने गोपाल भट्ट को चैतन्यदेव का गुरु लिखा है। चैतन्य चरितामृत आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है कि गोपाल भट्ट एकमात्र ऐसे महात्मा थे जिन्हें चैतन्य

के विचारों पर आधारित था। यदि उत्तर भारत के भागवतवाद तथा दक्षिण में आलवार के रहस्यवाद का सम्मिश्रण कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यह वेदांत के ध्यान तथा भक्ति का मिश्रण है।[1]

गुण एवं स्वभाव से ब्रह्म, सृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति है। वह सृष्टि की आत्मा तथा पुरुषोत्तम है वह अद्वैत है फिर भी प्रकृति तथा जीव का आधार है। वह कारण तथा कार्य का स्रोत है।[2] वह प्रकाश का भी प्रकाशक है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर सत्य, ज्ञान तथा अनंत का मिश्रण है।[3] ब्रह्म सच्चिदानन्द है। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ध्यान तथा आराधना करने पर ब्रह्म पाँच स्वरूपों में दिखाई देता है—

(i) **परा**—ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इसमें ब्रह्म बैकुण्ठ में रहता है। देवतागण तथा मोक्ष प्राप्त आत्माएँ उसकी सेवा करती हैं।

(ii) **व्यूह**—इस अवस्था में ब्रह्म का स्वरूप वासुदेव, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में रहता है।

(iii) **विभव**—इसमें ब्रह्म का अवतार नारायण के रूप में होता है।

(iv) **अंतरयामी**—इसमें ब्रह्म यौगिक ध्यान में प्रकट होता है।

(v) **अर्चा**—ब्रह्म इस अवस्था में मूर्ति में रहता है।[4]

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सत्य है तथा जगत मिथ्या अथवा माया से पूर्ण है। परन्तु रामानुज ने इस तर्क का खंडन करते हुए कहा है कि जगत तथा जीव विशेष हैं तथा ब्रह्म-विशिष्ट है। यही उनके विशिष्टाद्वैत का सिद्धांत था। ब्रह्म ने अपने स्वरूप से ही सृष्टि तथा जीव की रचना की है। वह जगत के कण कण में विद्यमान है। कल्प अथवा चक्र के पूर्ण हो जाने पर प्रलय होता है तथा पुनः ब्रह्म सृष्टि और जीव की रचना करता है। वह सृष्टि का आधार तथा विधेय का नियंत्री है।

ब्रह्म की भाँति आत्मा भी सत्य तथा अमर है। कर्म के अनुसार ब्रह्म जीव को दण्डित तथा पुरस्कृत करता है। प्रपत्ति (आत्मसमर्पण) के माध्यम से जीव ब्रह्म की कृपा प्राप्त करता है। रामानुज ने शंकर के ज्ञान का खण्डन किया। ब्रह्म की[5]

---

1. राधाकमल मुकर्जी, पृ० 315
2. ताराचंद, पृ० 100-101
3. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, 562
4. ताराचंद, पृ० 101
5. दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 563

रामानुज न केवल महान् दार्शनिक, आध्यात्मिक गुरु बल्कि एक महान् समाज सुधारक थे। शंकराचार्य की भाँति उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा अपने शिष्यों के साथ की। बनारस, अयोध्या, द्वारका, जगन्नाथ तथा बदरीनाथ की यात्रा की। वाराणसी तथा जगन्नाथ में बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करके बौद्ध मत का खण्डन किया। श्रीरंगम् लौटने के बाद अपने विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने दक्षिण भारत को चौहत्तर भागों में बाँट कर प्रत्येक जगह आचार्य की नियुक्ति की।[1] चोल सम्राट कुलोतुंग प्रथम शैव धर्म का प्रबल समर्थक था। उसके शैव धर्म स्वीकार न करने पर रामानुज को दण्ड देने की धमकी दी। भयभीत होकर उन्होंने अपने जीवन के बीस वर्ष होयसल राज्य में व्यतीत किये। 1118 में कुलोतुंग प्रथम की मृत्यु के बाद बल्लालदेव चोल साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तब रामानुज श्रीरंगम् लौट आये।[2] यहाँ पर इन्होंने सिंचाई के लिए अनेक तालाब, धर्मशालाओं तथा मंदिरों का निर्माण कराया। श्रीरंगपट्टम में दक्षिण बद्रिकाश्रम का विशाल मन्दिर रामानुज की अमर कृति है। 1137 में उनकी मृत्यु हो गई।[3] सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार रामानुज का एकेश्वरवाद तथा शाश्वत जीवन ईसाई प्रभाव की देन है। सम्भवतः रामानुज मेलापोर में ईसाई पादरियों के सम्पर्क में आए तथा उनसे प्रभावित हुए।[4] डॉ० युसुफ हुसेन ने उपरोक्त मत को अस्वीकार करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यद्यपि रामानुज पर इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव नहीं था, परन्तु मध्ययुगीन ऐतिहासिक घटनाओं तथा परिवर्तित परिस्थितियों ने उस महापुरुष को समयानुकूल दृष्टिकोण अपनाने के लिए विवश कर दिया।[5] यह तर्क उपयुक्त प्रतीत होता है।

धार्मिक दृष्टिकाण

महान् दार्शनिक रामानुज ने शंकराचार्य के केवल अद्वैत की दीक्षा कांची में ग्रहण की थी। कुछ समय के बाद शंकर का सिद्धान्त उनके लिए ग्राह्य न हुआ। अतः उन्होंने शंकराचार्य के एकेश्वरवाद तथा मायावाद का खण्डन करना अपनी शिक्षा का उद्देश्य बनाया। यही नहीं बल्कि उन्होंने वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत भक्ति सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका दृष्टिकोण टंक, द्रविड़, गुहदेव, कपायध्मि तथा भारुचि

1.—डॉ० राधाकमल मुकर्जी, दि कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया, पृ० 116
2. डॉ० ताराचंद, पृ० 100
3. ताराचंद, पृ० 100; राधाकमल मुकर्जी, पृ० 314
4. डॉ० युसुफ हुसेन, पृ० 11
5. वही, पृ० 13

अपना शिष्य बना कर रामानुज ने भावी समाज सुधारकों का पथ प्रदर्शन किया।[1] वर्ष में एक बार शूद्रों को मंदिर में ले जाकर उन्हें भगवत्‌दर्शन का अवसर दिया।[2] समाज सुधार के क्षेत्र में रामानुज रूढ़िवादी होते हुए भी क्रांतिकारी थे। मंदिर-पर्व को प्रारम्भ कर तथा ब्राह्मणेतर लोगों को मंदिरों में आराधना का अधिकार देकर उन्होंने दक्षिण भारत में समाज-सुधार आन्दोलन की शंखध्वनि की।

अपनी अमर कृति श्रीभाष्य में उन्होंने ब्रह्म आराधना तथा भक्ति के सात साधनों को बताया—विवेक (सोचनीय शक्ति), विभोक (विरक्ति), अभ्यास (ध्यान), क्रिया (सेवा), कल्याण (मानव समाज का सुधार), अनवसाद (आशावादिता), अनुद्धर्ष इत्यादि[3]। ये सभी के लिए ग्राह्य थे।

भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत समाज सुधार आन्दोलन रामानुज की देन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को भक्ति के रंगमंच पर एक साथ लाकर उन्होंने हिन्दू समाज की प्रशंसनीय सेवा की है। एक ओर प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को यथावत रखकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया तथा दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में शूद्रों को भगवन् दर्शन तथा मोक्ष का अधिकार देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। रामानुज ने समाज सुधार आन्दोलन का बीज बोया जो आगे चलकर कबीर, नानक, चैतन्य, राजा राममोहन राय और गांधी जी के हाथों में पल्लवित तथा फलित हुआ।

युगद्रष्टा रामानन्द

भारतीय इतिहास में तेरहवीं सदी हिन्दू सभ्यता का अंधकार युग माना जाता है। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद खिल्जी शासन काल में मलिक काफूर के नेतृत्व में दक्षिण भारत में मुस्लिम साम्राज्य का विस्तार, देवगिरि के यादव राज्य, मैसूर के होयसल राज्य का पतन, मालाबार तथा कोरमंडल की लूट, मंदिरों का ध्वंस, स्वर्ण-जवाहरातों की लूट की घटनाएँ घटीं। 1326 में आदम पुल पर मस्जिद का निर्माण हुआ, जहाँ सैकड़ों वैष्णव भक्त रहते थे और जिसे रामानुज ने शिक्षा और दीक्षा का केन्द्र बनाया था। वह मुस्लिम सेना के विनाशकारी प्रभाव से न बच सका। मुसलमानों के अत्याचारों से बचने के लिए दक्षिण के दार्शनिकों, लोकाचार्यों को बाध्य होकर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी! इन परिस्थितियों में इस्लाम के प्रसार तथा मुस्लिम

1. राधाकमल मुकर्जी, पृ० 317
2. ताराचन्द, पृ० 102
3. राधाकमल मुकर्जी, पृ० 316

जानकारी के लिए भक्ति योग तथा ज्ञान योग आवश्यक है। आत्मा ब्रह्म का स्वरूप है, जिसे पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) **नित्य**—जन्म तथा मृत्यु के बंधन से मुक्त।

(ii) **मुक्त**—बंधन मुक्त हो ब्रह्म की सेवा में रत।

(iii) **केवल**—आत्म शुद्धि के बाद जन्म तथा मृत्यु के बंधन से मुक्त।

(iv) **मुमुक्ष**—मोक्ष की इच्छा से लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील।

(v) **बाध**—सभी प्रकार के बंधन से बँधा हुआ।[1]

रामानुज के अनुसार भक्ति, ज्ञान तथा कर्म से ही जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

समाज सुधार

रामानुज महान् दार्शनिक के साथ ही एक महान् समाज सुधारक थे। डॉ० युसुफ हुसेन के अनुसार वे इस्लाम से प्रभावित हुए अथवा नहीं विवाद का विषय है, परन्तु यह नितांत सत्य है कि भारतवर्ष की ऐतिहासिक घटनाओं तथा परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव उनके ऊपर अवश्य पड़ा।[2] वे भारतीय जाति व्यवस्था तथा समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व और शुद्रों की पोड़ित अवस्था से अवगत थे। इस्लाम की उदारवादी सामाजिक व्यवस्था पददलित शूद्रों को धर्म परिवर्तन तथा स्वतंत्र वातावरण की ओर आकृष्ट कर रही थी। धर्म परिवर्तन से शूद्रों की रक्षा करना उन्होंने समाज सुधार का लक्ष्य बनाया। परन्तु वे प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने के पक्ष में नहीं थे। फिर भा उन्होंने इस जटिल समस्या का सन्तोषजनक समाधान निकालने का प्रयास किया।

रामानुज ने समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ब्राह्मणों को वेद अध्ययन तथा भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन बताया। शूद्रों के लिए प्रपत्ति (आत्मसमर्पण) तथा आचार्याभिमानयोग को मोक्ष का साधन बताया। उपनयन संस्कार के अभाव में उनके लिए वेद का अध्ययन सम्भव नहीं था। गुरु के समक्ष आत्मसमर्पण से उनके लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है। परम्परा के अनुसार रामानुज एक मुस्लिम वधू तथा शूद्रों के साथ कृष्ण को मूर्ति दिल्ली से मैलकोट ले आये।[3] इससे उनका उदार दृष्टिकोण तथा सामाजिक न्याय स्पष्ट होता जाता है। पिल्लई तथा उरंगविलिदास आदि शूद्रों को

---

1. ताराचन्द, पृ० 101
2. युसुफ हुसेन, पृ० 13
3. राधा कमल मुकर्जी, पृ० 317

खंडन करके सभी जातियों तथा स्त्रियों को समाज में समान अधिकार दिया। बासव का सिद्धांत शैववाद तथा इस्लाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। जाति-विहीन समाज सुधार आन्दोलन रामानन्द के नेतृत्व में क्रांतिकारी युग में प्रविष्ट हुआ। तमिल देश के तिरुमूलर एक जाति तथा एकेश्वर का नारा लगा रहे थे। नम्मलवर के अनुसार जन्म-जाति से कोई ऊँच-नीच नहीं है; भक्ति तथा ब्रह्म ज्ञान से मनुष्य समाज में ऊँच तथा नीच स्थान प्राप्त करता है। दक्षिण भारत में शैव संत पट्टकिरियार ने समाज में भ्रातृत्ववाद की आवाज उठाई। अतः रामानन्द का उदारवादी दृष्टिकोण इस्लामी प्रभाव का परिणाम नहीं, बल्कि दक्षिण के समाज सुधारक सन्तों के प्रभाव का परिणाम था।

धर्म तथा समाज सुधार

रामानन्द ने शंकराचार्य के मायावाद तथा ज्ञानवाद को अस्वीकार करके रामानुज की भाँति भक्ति को मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया। वे विष्णु की उपासना के स्थान पर एक ऐसे आराध्य देव को चाहते थे जो हिन्दू समाज के सभी जातियों को सन्तुष्ट कर सके। इसीलिए उन्होंने विष्णु की उपासना को न अपनाकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा सीता की आराधना समाज के समक्ष रखी। उनका मूल उद्देश्य धर्म तथा भक्ति के माध्यम से समाज सुधार करना था। उनके आराध्य देव राम भारतीय समाज के सभी जातियों के प्रिय थे। जाति-भेद की भावना का परित्याग करके 'मानहु एक भगत कै नाता' का दृष्टिकोण अपनाया। क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम राम उन्मुक्त कण्ठ तथा समान प्रेमभाव से वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, निषाद और शबरी से ही नहीं बल्कि बन्दरों के स्वामी सुग्रीव, रीछपति जामवंत एवं राक्षस विभीषण से मिले। सर्वगुण सम्पन्न, सभी जातियों के प्रिय राम की उपासना तथा उनके आदर्शों को समाज के समक्ष रख कर सुधार करना सम्भव था

रामानन्द धर्म के बाह्य-आडम्बर तथा संस्कार के विरोधी थे। एक बार उन्हें मंदिर में विष्णु की आराधना के लिए बुलाया गया तो उन्होंने कहा था कि मैं घर में सन्तुष्ट हूँ। मेरी कुंठित आत्मा मेरे साथ नहीं जायगी। जब मैं अर्चना के लिए मन्दिर में जाने लगा तो मेरे आध्यात्मिक गुरु ने हृदय में ही ईश्वर को दिखाया। मैंने वेद, पुराण का अध्ययन कर के ईश्वर को सर्वव्यापी पाया।[1] रामानन्द का अटूट विश्वास भक्ति तथा ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध में था। उन्होंने ईश्वर के औपचारिक विश्वास में नहीं बल्कि भक्ति के माध्यम से ईश्वर की अनुभूति पर जोर दिया।

1. मैकालिफ—दि सिख, vi–पृ० 105-6

साम्राज्य विस्तार के विरुद्ध विजयनगर राज्य (1336) का उदय एक प्रतिक्रिया थी। दक्षिण भारत में धर्म तथा समाज सुधार आंदोलन मुसलमानों के अत्याचार के विरुद्ध एक न्यायोचित उत्तर था।

हिन्दू सभ्यता के अंधकार युग में महान् धर्म तथा समाज सुधारक रामानंद का जन्म 1299 में[1] प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी शिक्षा प्रयाग तथा वाराणसी में हुई। इनके प्रारम्भिक गुरु एकेश्वरवादी वेदांत दार्शनिक थे। आगे चलकर राघवानंद को इन्होंने अपना गुरु बनाया। राघवानंद श्री सम्प्रदाय के महान् संत थे। किसी अनुशासन संबंधी विषय पर गुरु से मतभेद होने के कारण रामानंद ने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आए। इतनी बड़ी सम्पत्ति का जो सहज ही त्याग कर सकता था, उस आदमी की स्वतंत्र चिंतनशक्ति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिंता के गुरु रामानंद ही थे"।[2] इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय तीर्थयात्रा तथा भ्रमण में व्यतीत किया। युगांतकारी रामानंद ने अपने नश्वर शरीर का त्याग 1456 ई० के लगभग किया।[3]

मैकालिफ के अनुसार वाराणसी तथा प्रयाग में रामानंद मुसलमान संतों के सम्पर्क में आए और उनसे प्रभावित हुए।[4] युसुफ हुसेन ने लिखा है कि भ्रमण यात्रा के समय निश्चित रूप से वे मुसलमानों के सम्पर्क में आये। उन्होंने इस्लामी विचारों का ज्ञान प्राप्त किया। सम्भव है कि इस्लामी सिद्धांतों का ज्ञान न प्राप्त किया हो, परन्तु प्रभाव स्पष्ट है।[5] उनके विचारों के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है कि वे इस्लाम से प्रभावित थे। उनके उदारवादी दृष्टिकोण पर निस्संदेह दक्षिण के संतों का प्रभाव पड़ा। दक्षिण भारत में जैन सम्राट् के प्रधान मंत्री वासव ने वीर-शैववाद का प्रतिपादन किया। इसमें जाति-प्रथा का

---

1. भंडारकर, शैविज्म तथा वैष्णविज्म; ग्रियर्सन, जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1920; मैकालिफ, दि सिख, खण्ड vi
2. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 40
3. भंडारकर के अनुसार मृत्यु की तिथि 1411, फरकुहार, 1470 कहा है जो तर्क संगत नहीं है। मिश्रबंधु विनोद (रामानन्द) के अनुसार मृत्यु तिथि 1456 है। ताराचन्द ने इसे स्वीकार किया है, पृ० 144
4. मैकालिफ—दि सिख—खण्ड vi
5. युसुफ हुसेन, पृ० 13

करने में उन्हें असमर्थ बना दिया। आनन्द भाष्य में उन्होंने शूद्रों के वेद अध्ययन के अधिकार को स्वीकार नहीं किया।[1] पी० डी० बड़थ्वाल के अनुसार रामानन्द ने एक मुसलमान तथा शूद्र को ब्राह्मण के समान तथा उससे बढ़कर स्वीकार नहीं किया।[2] दक्षिण के अन्य आचार्यों की भाँति वे उदारवादी होते हुए भी सामाजिक समानता के पक्षपाती नहीं थे।[3] खान-पान में उन्होंने अलग रहने तथा छुआ-छूत को कायम रखा। तब भी उन्होंने भक्ति के स्तर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों तथा मुसलमानों को समान अधिकार देकर समाज सुधार आंदोलन को एक नवीन दिशा दी। यह उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान है। उनके अनुसार गुरु को आकाश धर्मा होना चाहिए जो पौधे को बढ़ने के लिए उन्मुक्तता दे, न कि शिला धर्मी, जो पौधे को अपने गुरुत्व से दबाकर उसका विकास ही रोक दे।

रामानन्द की लोकप्रियता का कारण यह था कि उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से किया। संस्कृत भाषा के माध्यम से उनका प्रचार केवल सीमित क्षेत्र में ही हो सकता था। क्षेत्रीय भाषा द्वारा अपने विचारों को समाज के सभी शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष तक पहुँचाना चाहते थे।

समीक्षा

डॉ० ताराचन्द के अनुसार रामानन्द पर्वतीय निरन्तर प्रवाहित जल स्रोत के समान थे, जिसमें मधुर सुख के रूप में जल बुद्बुदा रहा था, जो सांसारिक दुःख से संतप्त हृदय की तृष्णा को शांत करने में समर्थ था।[4] निस्संदेह रामानन्द ने मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद दुःख संतप्त हिन्दू समाज की तृष्णा को शांत किया। समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ब्राह्मणों को भी असंतुष्ट नहीं किया तथा शूद्रों को समान अधिकार देकर जाति-पाति की भावना को शिथिल कर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। कबीर को अपना शिष्य बनाकर हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया। उनके विचारों से प्रभावित होकर उत्तर भारत में कबीर, महाराष्ट्र में नामदेव तथा उनके उत्तराधिकारी, पंजाब में नानक तथा बंगाल में चैतन्य ने समाज तथा धर्म सुधार आंदोलन प्रारम्भ किया। क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से रामानन्द ने अपने विचारों का प्रचार किया। परिणामस्वरूप उनके अनुयायियों ने गुजराती, मराठी, बंगाली

1. अब्दुर रशीद, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 243
2. पी० डी० बड़थ्वाल, निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोइट्री, पृ० 14
3. युसुफ हुसेन, पृ० 14
4. ताराचंद, पृ० 145

समाज सुधार के क्षेत्र में रामानन्द क्रांतिकारी तथा रूढ़िवादी विचारों के समन्वयवादी थे। 1875 में लिखी गई रामानुज हरिवर दास की हरि भक्ति प्रकाशिका के अनुसार "रामानन्द ने देखा कि भगवान् के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद्भक्त को खान पान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।"[1] रामानन्द संस्कृत के पण्डित, उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे। परन्तु उन्होंने सबका परित्याग कर दिया। ब्राह्मण से चांडाल तक सभी को राम नाम का उपदेश दिया। वे अपने शिष्यों को अवधूत कहते थे।[2]

रामानन्द के शिष्यों में रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट किसान), सेना (नाई), पीपा (राजपूत), भवानन्द, सुखानंद, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द तथा श्री आनन्द थे। सभी जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनाकर उन्होंने भ्रातृत्ववाद का प्रतिपादन किया। कबीर को अपना शिष्य बना कर हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया। रामानन्द ने जातिप्रथा की आलोचना कर उसे अनावश्यक बताया। पददलित शूद्रों में एक नवीन चेतना जागृत की। भविष्य पुराण के अनुसार अनेक धर्म परिवर्तित हिन्दुओं को उन्होंने पुनः हिन्दू समाज में स्वीकार किया। उन्हें संयोगी कहा जाता था।[3]

भविष्य पुराण में पुनः लिखा है कि रामानन्द के प्रभाव के कारण बहुत से मुसलमान वैष्णव होकर गले में तुलसी की माला, जिह्वा पर राम नाम तथा मस्तक पर वैष्णव चिह्न लगाते थे। अयोध्या के पास इन संयोगियों की बस्ती है। एकेश्वरवाद के रंगमंच पर हिन्दू-मुसलमानों को एक साथ लाकर उन्होंने समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

कुछ लेखकों का मत है कि रामानन्द पूर्णरूप से जाति व्यवस्था समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। इसकी कठोरता के स्थान पर लोचकता लाना चाहते थे। पी० डी० बड़थ्वाल के अनुसार उनकी रूढ़िवादी शिक्षा-दीक्षा ने शूद्रों की इच्छाओं को पूर्ण

1. रामानुज हरिवरदास, हरिभक्ति प्रकाशिका, पृ० 81-82
2. पी० डी० बड़थ्वाल, निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री, पृ० 13
3. राधाकमल मुकर्जी, पृ० 322

रामानंद रहे जगस्वामी । ध्यावत निशिदिन अंतर्यामी ।।
तिनके ढिग विधवा इक नारी । सेवा करै बड़ो श्रमधारी ।।
प्रभु इक दिन रह ध्यान लगाई । विधवा तिय तिनके ढिग आई ।।
प्रभुहि कियो बदन बिन दोषा । प्रभु कह पुत्रवती भरि धोषा ।।

× × ×

सो सुत लै तिय फेंक्यो दूरी । कढ़ी जुलाहिन तहँ यकरूरी ।।[1]

जुलाहा नूरी तथा उसकी पत्नी नीमा इस नवजात शिशु को अपने घर ले आये । बच्चे के अभाव में दम्पति ने अपनी संतान समझकर इनका पालन-पोषण किया । इस बालक का नाम कबीर रखा । यह शब्द अरबी भाषा का है, जिसका अर्थ महान् होता है ।[2] जनश्रुति के अनुसार जब काजी ने कबीर का नाम रखने के लिए किताब खोली तो कबीर शब्द सबसे पहले दिखाई पड़ा, अतः उसने बालक का नाम कबीर रख दिया ।[3] इस प्रकार कबीर का प्रारम्भिक जीवन एक मुस्लिम परिवार में व्यतीत हुआ । डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीर ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, किन्तु मुसलमान एक बार भी नहीं कहा । वे अपने को न हिन्दू मानते थे और न मुसलमान, बल्कि इन दोनों से परे अपने को योगी कहते थे, जो जुगी जाति का पर्याय है ।[4]

गुरु तथा शिक्षा-दीक्षा

डॉ० मोहन सिंह का मत है कि कबीर के कोई मानव गुरु नहीं थे ।[5] पाश्चात्य विद्वान् वेस्काट तथा डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी का भी यही मत है ।[6] परन्तु यह मत न तो तर्क सम्मत है और न समीचीन । इतना तो सत्य है कि कबीर की शिक्षा दीक्षा किसी शिक्षा संस्था में नहीं हुई । उन्होंने कई स्थानों पर इस बात को दुहराया है—

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ ।

× × ×

विधा न परउ वाद नहिं जानउ ।

---

1. रघुराज सिंह, भक्त माला, पृ० 722-24
2. गोविन्द लाल छाबड़ा, क्रांतिकारी कबीर, पृ० 30
3. युसुफ हुसेन, पृ० 17
4. रामकुमार वर्मा, संत कबीर, पृ० 69
5. कबीर हिज बायोग्राफी, पृ० 22-24
6. कबीर एण्ड दि कबीर पंथ, पृ० 55

तथा हिन्दी के माध्यम से समाज सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रचार करके सम्पूर्ण भारत वर्ष की जनता में नवीन क्रांतिकारी चेतना जागृत की। उनका उद्देश्य पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना करना, समाज तथा व्यक्ति का शुद्धीकरण करना था। वे जाति विहीन समाज, रूढ़िवादिता का परित्याग, परिवार में एक विवाह प्रवृत्ति तथा भक्ति द्वारा शरीर को शुद्ध करके मोक्ष दिलाना चाहते थे। कबीर, नानक तथा चैतन्य के सुधारों की पृष्ठभूमि तैयार करके समाज सुधार आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका तैयार की थी। यही नहीं बल्कि आधुनिक भारत के महान् समाज सुधारक राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी तथा नेहरू का मार्ग दर्शन करके समाज सुधार आंदोलन के इतिहास में रामानन्द ने एक अमर स्थान को प्राप्त किया है।

क्रांतिकारी कबीर

कवि अनिवार्यतया देश और काल में बँधे जीवन की उपज होता है। यह उसका बन्धन भी है और साथ ही उसका मोक्ष भी। अपने वातावरण के अणु-अणु का स्पन्दन पहचानना और अपने काल के क्षण-क्षण की धड़कन को जानना कवि के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि भविष्य का आख्याता होना अथवा वर्तमान की क्षुद्रता का निराकरण करके मानव के आगामी क्षितिजों का चित्रकार होना। एक प्रकार से कवि की साधना देश और काल की ही साधना है। कविवर दिनकर ने उचित ही कहा है कि हर कवि अपने युग का ही कवि होता है। क्रांतिकारी कबीर का आविर्भाव भारतीय समाज में उस समय हुआ जब सम्पूर्ण भारतवर्ष पर मुस्लिम प्रशासन की स्थापना हो चुकी थी। हिन्दुओं को इतना दबा दिया गया था कि वे न घोड़ा रख सकते थे और न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे। उनके घरों में सोने-चाँदी के निशान तक न रह गये थे। निर्धनता के कारण उनकी बहू-बेटियाँ मुसलमानों के घरों में काम करके आजीविका कमाती थीं। हिन्दू समाज का मानसिक तथा नैतिक ह्रास होने लगा था। कबीर के शब्दों में—

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाय।
राज दुवारा यौं फिरे ज्यूँ हरिहाई गाय॥

निराशा तथा हतोत्साह के व्याप्त वातावरण में क्रांतिकारी कबीर का जन्म 1425 में एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। लोक लज्जा के भय से उसने नवजात शिशु को वाराणसी में लहरतारा के पास एक तालाब के समीप छोड़ दिया। महाराज रघुराज सिंह के अनुसार—

की दार्शनिक अभिव्यक्ति की। इस अनपढ़ का प्रभाव पढ़े-लिखे व्यक्तियों से कहीं अधिक था। स्वयं सुल्तान सिकन्दर लोदी ने उनके प्रभाव को स्वीकार किया था। रामरसिकावली में लिखा है—

जानि प्रभात्र सिकंदर साहा। काशी को आयो सउछाहा ।।

कबीर ने जो कुछ भी प्राप्त किया वह सब उन्होंने समाज को अर्पित कर दिया। कबीर की भाषा से यह निष्कर्ष सरलता से निकल सकता है कि उन्होंने खूब पर्यटन किया होगा। उनकी भाषा में खड़ी बोली, पूर्वी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी, आदि बोलियों तथा भाषाओं के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। वैसे भी एक निरक्षर व्यक्ति का, ज्ञान की इतनी बातें कहना पर्यटनशीलता एव संगति के अभाव में सम्भव प्रतीत नहीं होता।

मृत्यु तिथि

कबीर की मृत्यु एक सौ बीस वर्ष की आयु में हुई। डॉ० श्याम सुन्दर दास तथा भंडारकर के अनुसार कबीर की मृत्यु तिथि सं० 1575 है।[1] महाराज रघुराज सिंह के अनुसार—

संवत पंद्रह सौ पछत्तरा, किया मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादसी, रल पवन में पवन ।।[2]

मगहर गे यक समय कबीरा। लीला कीन्हों तजन शरीरा ।।
अतिशय पुष्प तुरंत मँगाई। तामे निज तनु दियो दुराई ।।
हिन्दू यमन शिष्य रह दोऊ। आपसु में भाखे सब कोऊ ।।
यमन कह्यो माटी हम देहैं। हिन्दू कहैं अनल में लेहैं ।।

× × ×

आधे आधे ले दोउ सुमना। दाह्यो हिन्दू गाड्यो यमना ।।[3]

---

1. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 36
2. रामरसिकावली (भक्त माला), पृ० 738
3. पंद्रह सौ औ पाँच में मगहर किन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिल्यो पौन में पौन ।।

× × ×

पंद्रह सौ उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पौन में पौन ।।

कबीर ने जो कुछ पाया वह उनके जीवन का गहरा अनुभव था। मुस्लिम परिवार में जन्म लेकर वाराणसी के वातावरण में हिन्दू धर्म, दर्शन तथा संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला। एक हिन्दू सन्त गोसाईं अष्ठानंद से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।[1] एक सच्चे गुरु की तलाश में वे भ्रमण पर निकले। इलाहाबाद के पास शबानुल मिलत के पुत्र तथा सुहरावर्दी सूफी सिलसिला के संत शेख तकी से भेंट करके उनसे भी दीक्षा ली।[2] कुछ लोगों ने उन्हें कबीर का गुरु स्वीकार किया है। परन्तु कबीर ने कहीं भी शेख तकी के प्रति श्रद्धा नहीं व्यक्त की है। सम्भव है कि शेख तकी कबीर के प्रतिद्वन्द्वी रहे हों और उनके शिष्यों ने कबीर को शेख तकी से निम्न सिद्ध करने के लिए उनको शेख साहब का मुरीद कहना शुरू कर दिया।[3] किन्तु सत्य यही है कि कबीर शेख तकी के मुरीद नहीं थे।

दबिस्तान मुहासीन फनी के अनुसार कबीर अपने आध्यात्मिक गुरु की तलाश में अनेक हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पास गये, परन्तु कोई उनकी ज्ञान तृष्णा को संतुष्ट न कर सका।[4] इसी उद्देश्य से वे जौनपुर, मानिकपुर तथा इलाहाबाद के समीप झूसी में भी कुछ दिनों तक भ्रमण करते रहे।[5] अंत में किसी ने उन्हें रामानंद से मिलने का सुझाव दिया। कहा जाता है कि कबीर ने रामानंद की अनुपस्थिति में दीक्षा ले ली थी और रामानंद ने उनकी श्रद्धा भक्ति देखकर उनको अपना शिष्य बना लिया। कबीर अपने गुरु रामानंद की विचार धारा से पूर्णतः प्रभावित हुए। उन्होंने भी लिखा है—

कबीर गुरु बसे बनारसी, सिष समदा नीर।
बिसराया नहीं बीसरे, जे गुण होय सरीर॥

डॉ० रामकुमार वर्मा तथा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस मत के समर्थक हैं। रामानंद ने राम भक्ति का मंत्र दिया। हिन्दू धर्म तथा दर्शन संबंधी शिक्षा दी। कबीर की शिक्षा देशाटन, सत्संगति तथा विभिन्न सम्प्रदायों के साथ सम्पर्क का परिणाम थी। उन्होंने अपने विवेक, अन्तर्ज्ञान तथा सारग्रही बुद्धि से अपनी विचारधारा

1. युसुफ हुसेन, पृ० 17
2. वही, पृ० 19
3. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 32
4. दबिस्तान-ए मजहिब, पृ० 186
5. ताराचंद, पृ० 148

दुई जगदीस कहाँ ते आये, कहु कौने भरमाया।
अल्लाह, राम, करीमा, केसो, हरि हजरत नाम धराया॥

पहली बार कबीर ने धर्म को अकर्मण्यता से हटाकर कर्म योग की भूमि पर टिकाया था और उसे सहज बनाकर सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य बनाया। उन्होंने किसी भी धार्मिक विश्वास लोक तथा वेद के अन्धानुकरण को स्वीकार नहीं किया, बल्कि विवेक से उन धर्मों, विश्वासों अथवा पाखण्डों को अपनी ध्वंसात्मक भूमिका से तहस-नहस करके ही दम लिया। हिन्दू धर्म के आचार बाहुल्य अर्थात् उनकी पूजा, उत्सव, वेदपाठ, तीर्थयात्रा, व्रत, छुआछूत, अवतारोपासना तथा कर्मकाण्ड पर कबीर ने कस-कसकर व्यंग्य किया।

कबीर बाह्याडम्बर का सम्बन्ध सूर्य तथा अन्धकार का सा मानते थे, जो दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए उनके खंडन में भी अनन्य सच्चाई है, जो न तो सिद्ध योगियों की उक्तियों में और न वेदान्तियों के तर्क वितर्क में मिलती है। कबीर के अनुसार यदि विचार शुद्ध और पवित्र नहीं है तो धर्म भी पवित्र और शुद्ध नहीं हो सकता। कबीर ने धर्म के क्षेत्र में आचरण पर विशेष बल दिया किन्तु आचारों के बाह्य-रूप से उन्हें घृणा थी। उनके धर्म में शील, क्षमा, दया, दान, धैर्य, सन्तोष, काम, क्रोध, लोभ, निषेद आदि मानवीय गुणों का विशेष स्थान है। उनका अद्वैत दर्शन अनुभूति पर आधारित है। उनका धार्मिक विश्वास बुद्धिवाद पर खड़ा है।

समन्वयवादी

कबीर के युग में परस्पर दो धर्मों, संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का संघर्ष था। कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करके एवं पारस्परिक विरोध को समाप्त करके उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण सापेक्ष नहीं निरपेक्ष है। इसलिए उन्होंने अपने युग की गलत विचार-धाराओं की निःसंकोच आलोचना की तथा निर्भय होकर निराकार ब्रह्म की उपासना की, जिसमें किसी भी साँचे में ढले हुए धर्म जाति अथवा सम्प्रदाय का साझा नहीं है। डॉ० विजयेन्द्र के अनुसार "कबीर ने अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्ट को स्वीकार किया था। उनका जीवन जनता के उद्बोधन में ही व्यतीत हुआ। वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए रोते तथा विलाप करते रहे। उन्होंने साईं के सब जीवों के लिए अपना अस्तित्व समर्पित कर दिया था। संसार के लिए उन्होंने अपने आपको मिटा दिया।"[1]

1. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, कबीर, पृ० 232

क्रान्तिकारी कबीर का धर्म

कबीर का जन्म ऐसी परिस्थिति में हुआ था जब विषमताएँ, नैराश्य, विश्वासघात, नृशंसता अपना ढोल पीट पीट कर हिन्दुओं के दुर्बल मन को भयभीत कर रहा था। समाज में कुत्सित विचार एवं वाह्याडम्बरों का प्राबल्य था। धर्म के ठेकेदार मठाधीश बनकर अनाचार का जीवन व्यतीत कर रहे थे।

सामाजिक विषमताओं से तंग आकर निम्न जाति के लोग जाति परिवर्तन पर उतारू हो गये थे। आर्थिक संकट से सामान्य जनता की रीढ़ ही टूट गई थी। भावुक कबीर से समाज की यह विषम दशा देखी न गई। इस विकट स्थिति के विरुद्ध उनके मानस जगत में इतनी प्रचण्ड प्रतिक्रिया हुई कि उनकी वाणी तत्कालीन सभी क्षेत्रों को आवृत्त कर सकी। बाह्याडंबर, असत्य, अनाचार, व्यभिचार, वर्ण भेद के प्रति उद्भूत यही प्रतिक्रिया ही कबीर की वास्तविक क्रान्ति की भावना थी। कबीर अहिंसक क्रान्ति भावना द्वारा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में क्रान्ति पैदा करना चाहते थे।[1] उन्होंने उसे मानव कल्याण के लिए उपयुक्त बताया। उनके पास क्रांति का अस्त्र व्यंग्य था। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ।"[2]

कबीर ने धर्म को जनसाधारण रूप देने के लिए उसकी सहजता पर बल दिया। कबीर के मत में साधन सहज होना चाहिए। प्रतिदिन के जीवन के साथ धर्म साधना का कोई विरोध नहीं होना चाहिए। साधना के नित्य तथा दैविक लक्ष्य में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। कबीर ने इस सत्य को खूब समझा था। यही कारण है कि वे संन्यासियों के शिरोमणि होकर भी गृहस्थ बने रहे। धर्म की सहजता के कारण कबीर का दर्शन भी सहज हो गया। दर्शन में तर्क को वे मोटी बुद्धि का प्रतीक मानते हैं।

कहत कबीर तरक दुई साधे तिनकी मति है मोटी।

कबीर का अद्वैतवाद न हिन्दुओं के ईश्वर से मिलता है और न मुसलमानों के अल्लाह से और न योगियों के योग से :—

सुमंत पन्द्रासौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चके उठि हसो ज्याई॥

(गोविंद लाल छाबड़ा, पृ० 35)

1. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 43
2. कबीर, पृ० 164

कबीर का उपास्य ऐसा ब्रह्म है जो जाति तथा वर्ण व्यवस्था की चिंता नहीं करता। कबीर की भक्ति सभी के लिए प्राप्य थी और उसके उपास्य सभी के उपास्य देव हो सकते थे। उसकी प्राप्ति के लिए न मंदिर की आवश्यकता थी और न मस्जिद की, न गिरजाघर और न किसी तीर्थस्थान की। वह सब में विद्यमान है, सभी उसे सद्व्यवहार तथा गुरु की कृपा से प्राप्त कर सकते हैं।

कबीर ने अपनी भक्ति में गुरु को बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कबीर की दृष्टि में गुरु वह साधु है जिसे ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त है। उन्होंने ठीक ही कहा है—

कबिरा ते नर अंध है गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रुठे नहि ठौर॥

× × ×

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काको लागे पाय।
बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो बताय॥

दर्शन

सम्पूर्ण ब्रह्मांड के कण-कण में जो मूल तत्व एक रस होकर व्याप्त है, उसे ब्रह्म की संज्ञा दी गई है यह तत्व सर्व गुण सम्पन्न, स्वयं ज्योति स्वरूप, सच्चिदानन्द, विलक्षण तथा सम्पूर्ण चराचर का नियंता है। दार्शनिक विचार श्रृंखला के अनुसार ब्रह्म विश्व का मूल तत्व, सृष्टि का कर्ता धर्ता और संहारक है। निर्गुण वादी कबीर ईश्वर के सगुण रूप को भले ही न मानते किंतु कण-कण में उस मूल तत्व की व्याप्ति को एवं उसकी कृपा के प्रसाद को कभी नहीं नकारते हैं।

मानव शरीर जिस तत्व से चलायमान है वह आत्मा है। गीता के अनुसार यही आत्मा-रूपी तत्व सनातन, शाश्वत, अजर, अमर, अनिवार्य, निर्विकार, अचिंत्य, अव्यक्त स्वयं जोतिस्वरूप, स्वयं हो ब्रह्म स्वानुभूत और सर्वग्राह्य है।[1]

जगत् वस्तुतः मिथ्या है। क्षणभंगुर तथा असार है। माया से परिपूर्ण है। माया के आवरण हट जाने पर जगत् की वास्तविकता को मनुष्य जान लेता है। यह कोरा इन्द्रजाल है, इसमें जो फँस गया वह आवागमन के बन्धन में बँध जायेगा।

कबीर ने परम ब्रह्म को मूल तत्व की संज्ञा दी है। यही अद्वैत तत्व है। आत्मा सर्वव्यापी है। निराकार, निर्विकार एवं अनंत है। कबीर के आत्मा संबंधी विचार गीता पर आधारित हैं।

---

1. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (गीता 2-23)

कबीर का समन्वयवाद न तो किसी प्रकार का समझौता है और न विभिन्न वादों से चुनी गई अच्छाइयों का समुच्चय मात्र। वास्तव में यह कोई वाद भी नहीं, बल्कि एक प्रकार का सुझाव है, जिसे कबीर ने स्वयं अमल किया और जिस पर निरपेक्ष होकर विचार करने के लिए सभी स्वतंत्र हैं।[1]

भक्ति भावना

कबीर की भक्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है :

भक्ति द्रविड़ उपजी, लाये रामानंद।
परगट किया कबीर ने सात नदी नौ खंड ॥[2]

कबीर ने भक्ति मार्ग को कर्म मार्ग तथा ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठ बताते हुए कहा है कि जब तक आराध्य के प्रति भक्ति भाव नहीं है तब तक जप, तप, संयम, स्नान, ध्यान आदि सब व्यर्थ हैं।

झूठा जप-तप झूठा ज्ञान।
राम नाम बिन झूठा ध्यान ॥

कबीर की भक्ति साधना में वेद शास्त्र, ज्ञान, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा, आदि की कोई आवश्यकता नहीं। उसमें घर छोड़कर संन्यास लेना और तरह-तरह का भेष बनाना व्यर्थ है। कबीर की भक्ति भाव भक्ति है। भाव, प्रेम, परमात्मा से मिलने की उत्कट इच्छा, उसके विरह की तीव्र अनुभूति होनी चाहिए।[3] भक्ति में प्रेम तत्व को जागृत करने के उपादान हैं—विषय-त्याग, कुसंग-त्याग, अखण्ड-भजन भगवान का गुण कीर्तन तथा ईश्वर और संतों की कृपा।[4]

कबीर ने रामानंद से राम का गुरु मंत्र पाया था, किन्तु उनके राम दशरथ के राम नहीं थे। उनके आराध्य तो निर्गुण ब्रह्म हैं जिनका निवास शून्य मंडल में है। वह निराकार है और उसे प्रेम तथा प्रीति से प्रसन्न किया जा सकता है—

परम ज्योति पुरुषोत्तम जाके रेख न रूप।
× × ×
निराकार निज रूप है प्रेम प्रीति से सेव ॥

---

1. कबीर साहित्य की परख, पृ० 112
2. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 40
3. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० 140
4. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 116

कबीर ने साम्प्रदायिकता का मूल हिन्दुओं के मन्दिर और मुसलमानों के मस्जिद में देखा। उन्होंने इन दोनों को समाप्त कर ईश्वर भजन की एक विधि बताई तथा मन्दिर और मस्जिद की खुलेआम निंदा की।

पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़।
याते तो चक्की भली, पीस खाय संसार॥

× × ×

कांकर पत्थर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दै, बहरा हुआ खुदाय॥

कबीर ने बाह्याचार का खण्डन किया। इससे भेद-विभेद की खाई उत्पन्न हो जाती है, समाज में कलह, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या का बोलबाला हो जाता है। कबीर ने सती प्रथा[1], पर्दा प्रथा[2] की खुली आलोचना की और हिन्दू मुस्लिम समन्वयवाद का नारा लगाया।[3]

मानवतावादी

कबीर मानवतावादी विचारधारा के प्रति आस्थावान थे। भारतीय मानव समाज की जो कल्पना उन्होंने की थी, वह इतनी मजबूत निकली कि आज भी वह हमारे साथ है और हम उसी कल्पना को साकार देने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।[4] कबीर की दृष्टि में धर्म तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव समाज से था। मानव धर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जो कुछ कल्याणकारी मिला उसे ग्रहण किया और शेष को अस्वीकार किये। कबीर वर्ग संघर्ष के विरोधी थे। समाज के बीच शोषक-शोषित का भेद मिटाकर साम्य स्थापित करना चाहते थे। जीवन पर्यन्त कबीर हिन्दू समाज को समझाते रहे कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं।

एक बूँद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति से सब उत्पन्ना को बाभन को सूदा॥

जिस व्यक्ति ने अपने कर्मों को पवित्र बना लिया, षड्विकारों से जो ऊपर उठ गया, उसकी जाति के सम्बन्ध में प्रश्न उठाना तो और भी अनुचित है।

---

1. मैकालिफ, vi, पृ० 163
2. वही, पृ० 213-14
3. ए० रशीद, पृ० 248
4. दिनकर, वट पीपल, पृ० 93

समाज सुधार

कबीर एक महान् समाज सुधारक थे। हिन्दू समाज की जाति प्रथा, नारी वर्ग का नैतिक अवमूल्यन, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, उनके लिए सहानुभूति का विषय बन गया था। निम्न जातियों पर उच्च वर्ग का घोर अत्याचार, शिक्षा के अभाव में जादू, टोना, शकुन-अपशकुन, जीवहिंसा, मांस भक्षण, वेश्यागमन आदि अंधविश्वास तथा कुरीतियाँ समाज की जड़ें खोखली कर रही थीं। पाखंड तथा आडंबर इतने फैले थे कि उन पर काबू पाना किसी के वश की बात नहीं रह गई थी। कबीर ने तटस्थ होकर सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं को निहारा था और अपने प्रबल व्यक्तित्व से इन्हें मिटाकर एकत्व स्थापना का निश्चय किया।

मध्यकालीन समाज सुधारकों में कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज के आर्थिक ढाँचे को समझने का प्रयास किया। धन ऐसा साधन है जो समाज को छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त करता है, भाई-भाई में वैमनस्य और असद् व्यवहार उत्पन्न करता है। कबीर ने समाज में धन की निस्सारता का उद्घोष किया। असारता को लक्ष्य करके उन्होंने कहा कि जब निर्मोही यमराज पकड़ कर ले जायेगा तो विलासी जीवन, वैभवशाली महल, करोड़ों हाथी तथा घोड़े, महल सभी खाली पड़ जायेंगे और इनमें काग बोलते नजर आयेंगे—

कोटि धन साह हस्ती बंध राजा।
क्रिपन को धन कौने काजा॥
कबीर माया मोह को भई अंधारी लोई।
जे सूते ते मुस लिये, रहे बसत कूं रोई॥
× × ×
सातौं सबद जु बाजते, घटि-घटि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैंसण लागे काग॥

कबीर ने जन समाज के लिए धन को अनिवार्य तत्व माना और आवश्यकता के अनुकूल अर्जित करके उसके उपभोग का संदेश दिया। धन को आवश्यकता से अधिक संचय करने को पाप तथा लोक हितार्थ धनोपार्जन को श्रेयस्कर बताया।[1] गरीब तथा अमीर दोनों को भाई-भाई माना। कबीर ने कहा कि यदि हम सर्वभूतको एक मानें तो सारा विवाद ही समाप्त हो सकता है।

निरधन सरधन दोनों भाई, प्रभु की कला न मेटी जाई।
कह कबीर निरधन है सोई, जाके हिरदय नाम न होई॥

---

1. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 61

रूढ़ियों की कटु आलोचना करके उन्होंने जीवन को सात्विक बनाने का परामर्श दिया। उन्होंने समाज को धार्मिक दृष्टि का परिशोधन कर सहिष्णुता की भावना को पुनर्जीवित किया। समाज, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में की गई उनकी कृतियाँ मूल्यवान एवं अविस्मरणीय हैं।

कबीर के व्यक्तित्व का मानवतावादी स्वर सर्वत्र अनुगुंजित है। अजस्र अखण्ड रूप में प्रवाहित होने वाली उनकी काव्य पयस्वनी आज भी भावुक भक्तों, सहृदय पाठकों-श्रोताओं, चिन्तनशील विचारकों, नीर क्षीर विवेकी समीक्षकों और सुधी आलोचकों तथा पण्डितों को आह्लादित, आकर्षित करने में सक्षम है। उनका कृतित्व उनके श्रद्धालुओं और कटु आलोचकों दोनों में समान रूप से आदरणीय है। शास्त्रीय साहित्यिकता एवं काव्य-विलास के चकाचौंध से असम्पृक्त उनकी सहज-सरल वाणी सभी धर्मों एवं सभी सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए समान रूप से पूज्यनीय है।

कुछ आलोचकों के अनुसार कबीर ने हिन्दू-मुसलमान धर्म के ठेकेदारों की आलोचना में शब्दाली के सभी कटु शब्दों का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों में वे किसी के भी लोकप्रिय न हो सके और अपने विचारों के प्रचार में उन्हें उनका सहयोग और सहानुभूति न प्राप्त हो सकी। उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी के लिए भी ग्राह्य नहीं थी। हिन्दू उन्हें मुसलमान के रूप में देख कर घृणा करता था और मुसलमान उन्हें हिन्दू के रूप में देखकर उनके उपदेशों का उपहास करता था। इस प्रकार कबीर को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता न मिल सकी।

इस विचार को स्वीकार करने का तात्पर्य महान् समाज सुधारक कबीर की उपलब्धियों का अवमूल्यन करना है। विषम परिस्थितियों में कबीर का जन्म उन्हें हिन्दू मुसलमानों की समान रूप से आलोचना करने में समर्थ बनाया था। उनकी भक्ति पद्धति ने इस्लाम की प्रचण्ड आँधी में उखड़ने वाले हिन्दू धर्म को पैर जमाने की शक्ति तथा सामर्थ्य प्रदान की। उन्होंने साम्प्रदायिकता के उस विषधर सर्प के एक-एक फन पर नाच कर उसे शक्तिहीन कर दिया। उन्होंने घूम-घूम कर यही उपदेश दिया कि हिन्दुओं के राम तथा मुसलमानों के खुदा सब एक ही परमतत्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं।[1] उनकी शिष्य-परम्परा में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी दीक्षित होने लगे और उनके शिष्यों ने कबीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मुक्त कंठ से प्रचार किया। कबीर ने युग-युग से प्रताड़ित, पीड़ित समाज के निम्न वर्ग को अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा ऊपर उठाया तथा उनमें आत्म सम्मान जगा कर एक नई आशा और विश्वास पैदा किया।

1. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 173

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजियो ज्ञान ।
मोल करो तरवारि का, चढ़ी रहन दो म्यान ॥

कबीर ने कर्म के आधार पर अपने जुलाहे के कर्म को भी महत्वपूर्ण समझा। जाति प्रथा का विरोध करके मानव जाति को एक दूसरे के समीप लाने में कबीर का महत्वपूर्ण योगदान है। कबीर ने मानवता को समीप लाने के लिए बार-बार कहा कि परमात्मा एक है, इसको पाने के लिए अनेक पन्थ क्यों बनाते हो। ज्ञान, तर्क अथवा बुद्धि से मनुष्य का उद्धार होने वाला नहीं है, उसका उद्धार मानव मात्र के प्रति ममत्व और प्रेम से होगा। कबीर ने सहज धर्म को अपनाया। यह धर्म मानवतावाद का सबसे सुखद और सुलभ मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले सभी मानव मात्र को बाह्याचारों का परित्याग कर सरल जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसे अपने-पराये, हिन्दू, मुसलमान, राम-रहीम सभी को समदृष्टि से देखना पड़ता है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार "दोनों जातियाँ उन्हें कठोर कर्कश जानते हुए भी प्यार से अपनाना चाहती थीं। यही कबीर की सबसे बड़ी विजय थी। इसे मानवतावाद की विजय समझनी चाहिए"।[1]

कबीर के ये ही मानव धर्मी विचार उर्मियाँ सम्पूर्ण मानव जाति को प्रकाश स्तम्भ की भाँति भव सागर में भटकते हुए जीव पोतों को दिशा निर्देश प्रदान करके उन्हें सुगम मार्ग पर लाते रहेंगे।[2] क्रांतिकारी कबीर का यही मानव धर्म क्षेत्र, जाति धर्म की सीमा का अतिक्रमण कर लोक मंगलकारी सिद्ध होगा।

समीक्षा

मध्ययुगीन समाज सुधारकों में कबीर का स्थान अग्रगण्य है। इतिहास में उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अप्रतिभ है। वे अपने समय के सर्वाधिक प्रखर आलोचक, कटु उपदेशक तथा स्पष्ट वक्ता थे। वे मात्र भक्त ही नहीं थे, भविष्य द्रष्टा, युग स्रष्टा, समाज धर्म सुधारक महात्मा, एक महान् उच्च गुणों से सम्पन्न महा-मानव भी थे। विषम परिस्थितियों में अवतरित इस महापुरुष को समाज सुधार सम्बन्धी देन अविस्मरणीय हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों और कुप्रथाओं का उन्होंने डटकर विरोध किया था। समाज को उसकी बुराइयों से अवगत कराकर उससे छुटकारा पाने का उनका सद् परामर्श तत्कालीन समाज को स्वच्छ बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। बाह्याचार मूलक अन्ध-विश्वासों, दकियानूसी एवं अमानवीय मान्यताओं और सड़ी-गली

---

1. कबीर, पृ० 247
2. गोविन्द लाल छाबड़ा, पृ० 123

उनकी बहन की शादी सुल्तानपुर में कपूरथला के पास एक जागीरदार जयराम से हुई थी। वे दौलत खाँ लोदी के दीवान थे। बहन के प्रयास के फलस्वरूप नबाव के यहाँ नौकरी मिल गई। परन्तु इस कार्य में भी उनका मन नहीं लगता था।

अठारह वर्ष की अवस्था में इनकी शादी सुलाखिन से हुई। इन्हें दो पुत्र—श्रीहन्द तथा लक्ष्मीदास हुए थे। गृहस्थ जीवन में भी इन्हें किसी आनन्द का अनुभव नहीं हुआ। कुछ समय के बाद वे गृहस्थ जीवन का परित्याग करके घर से निकल पड़े। संसार के बहु-जीवों के कल्याणार्थ इन्होंने विविध यात्राएँ कीं। कहते हैं कि गुरु नानक देव ने चीन, ब्रह्मा, लंका, अरब, मिस्र, तुर्कीस्तान, रूसी तुर्कीस्तान एवं अफगानिस्तान की यात्राएँ कीं।[1] इन्होंने पानीपत के शेख शराफ, मुल्तान के पीर तथा पाकपट्टन में बाबा फरीद के उत्तराधिकारी शेख इब्राहीम से गम्भीर आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार विमर्श किया।[2] परन्तु कहीं भी इन्हें वह संतुष्टि नहीं प्राप्त हुई, जिसकी तलाश में भ्रमण करते हुए उन्होंने घोर कष्ट उठाया।

गुरुनानक का व्यक्तित्व असाधारण था। इनकी संकल्प-शक्ति में अद्वितीय बल था। इनमें विचार शक्ति और क्रियाशक्ति का अपूर्व सामंजस्य और विनोद प्रियता कूट-कूट कर भरी थी। विस्तृत भ्रमण के परिणामस्वरूप वे अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर करतारपुर में बस गए। 1539 में गुरुनानक अपनी जीवन लीला समाप्त कर इस युग से विदा हुए।[3] इनके हिन्दूमुस्लिम शिष्यों में अन्त्येष्टि क्रिया के सम्बन्ध में विवाद हो गया। अन्त में इनके शिष्यों को भौतिक शरीर के बजाय कुछ पुष्पों के अवशेष ही प्राप्त हुए। हिन्दुओं ने एक मंदिर तथा मुसलमानों ने एक मकबरा का निर्माण किया। रावी नदी की बाढ़ में दोनों अवशेष प्रवाहित हो गए।[4]

तत्कालीन परिस्थितियाँ

जिस समय नानक ने अपना सन्देश जनता तक पहुँचाने का निश्चय किया उस-समय सर्वत्र आतंक व्याप्त था। ऐसा कोई नेता न था जो राष्ट्र की समस्त बिखरी शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर अत्याचार का सामना कर सके। सुप्रसिद्ध इतिहासकार जे० डी० कनिंघम के अनुसार "इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दू मस्तिष्क प्रगतिहीन और अस्थिर न रह सका। मुसलमानों के संसर्ग से वह उद्वेलित होकर

1. जयराम मिश्र, पृ० 22
2. ताराचंद, पृ० 167
3. जयराम मिश्र, पृ० 20
4. ताराचंद, पृ० 168

डॉ० ताराचंद के अनुसार कबीर के शिष्यों की संख्या उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि उनका प्रभाव जो पंजाब, गुजरात, बंगाल तक विस्तृत है। अकबर के दीन-इलाही का उद्‌घोष तथा राज्य द्वारा सभी प्रजा के लिए एक धर्म की मान्यता अप्रत्यक्ष रूप से कबीर की ही देन है।[1] परिस्थितियाँ बाधक थीं, परन्तु लक्ष्य अपने आप अग्रसित होता रहा। अकबर तथा दाराशिकोह की सुलेहकुल का सिद्धान्त कबीर की उपलब्धियों की ही देन है।[2]

कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य की पृष्ठभूमि प्रदान करके महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी तथा जवाहर लाल नेहरू का पथ-प्रदर्शन किया, जिन्होंने भारत की नैया का खिवैया बनकर देश को साम्प्रदायिकता की विभीषिका से बचाया। कबीर की उपलब्धियों का यही सच्चा मूल्यांकन है।

मधुर भाषी गुरुनानक

क्रांतिदर्शी, प्रचण्ड रूढ़िवाद विरोधी एवं अद्‌भुत युग पुरुष गुरुनानक का आविर्भाव उस समय हुआ जब देश में मुसलमानों का राज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था। तत्कालीन समाज, शासन की धर्मान्धता, संकीर्णता, असहिष्णुता और क्रूरता के कारण विकृत हो चुका था। पंजाब पर इस्लाम का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो चुका था। पानीपत, सरहिंद, पाकपट्टन, मुल्तान तथा उच्छ मुसलमान सूफी सन्तों तथा फकीरों से आच्छादित था। सभ्यता के ऐसे अन्धकार युग में पंजाब के गुजरानवाला जिले में रावी नदी के किनारे तालवंदी ग्राम में गुरुनानक का जन्म कार्तिक पूर्णिमा (नवम्बर, 1469) को एक खत्री परिवार में हुआ था।[3] इनके पिता का नाम मेहता कालूचन्द था। बाल्यावस्था में पिता ने इन्हें हिन्दी, संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा दी, क्योंकि कालूचंद इन्हें सरकारी नौकरी दिलाना चाहते थे। परन्तु नानक अध्ययन के प्रति उदासीन थे। अतः इन्हें कृषि, पशुपालन तथा व्यापार का कार्य सुपुर्द किया गया, परन्तु ये सभी व्यवसाय उन्हें आकृष्ट न कर सके। बाल्यकाल से ही इनमें अपूर्व साधु वृत्ति थी। वे जन्मजात विरागी, भक्त एवं ज्ञानी थे।[4]

नानक अपने परिवार, व्यवसाय तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं के प्रति इतने अधिक उदासीन थे कि सारा समय गम्भीर विषयों के चिंतन में ही व्यतीत करते थे।

---

1. ताराचंद, पृ० 165
2. ए० रशीद, पृ० 249
3. ताराचंद, पृ० 166
4. डॉ० जयराम मिश्र : श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृ० 22

मध्ययुग में भारत में अनेक धर्म सुधारक हुए पर उन्हें वह सफलता नहीं प्राप्त हुई जो गुरुनानक को मिली। कनिंघम के अनुसार "यह सुधार गुरुनानक के लिए अवशिष्ट था। उन्होंने व्यक्तिगत आधार पर अपने सच्चे सिद्धान्तों का सूक्ष्मता से साक्षात्कार किया और ऐसे व्यापक सुधार पर अपने धर्म की नींव डाली जिसके द्वारा गुरु गोविन्द सिंह ने अपने देशवासियों का मस्तिष्क नवीन राष्ट्रीयता से उत्तेजित कर दिया और उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया। छोटी-बड़ी जाति तथा उनके धर्म समान हैं। इसी प्रकार राजनीतिक सुविधाओं की प्राप्ति में सभी की समानता है"।[1]

इस प्रकार मध्ययुगीन धर्म सुधारकों में गुरुनानक का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने युग की नाड़ी पहचान कर उसके निदान का सुलभ मार्ग अपनाया।

गुरुनानक का उद्देश्य

गुरुनानक के धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों की पृष्ठभूमि रामानन्द तथा कबीर ने पहले ही तैयार कर दी थी। कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना करके दोनों को असन्तुष्ट कर दिया था। नानक इन परिस्थितियों से अवगत थे। अतः कटु आलोचना के स्थान पर उन्होंने प्रेम तथा सहानुभूति पूर्ण शब्दों द्वारा दोनों सम्प्रदायों को समझाने की चेष्टा की। वे जानते थे कि मुसलमानों के अस्तित्व को पूर्णरूप से समाप्त करना असम्भव था। अतः उनको एक रंगमंच पर लाकर सामंजस्य का मार्ग दिखाया। साथ ही पद दलित वर्ग को हिन्दू समाज में समानता का स्थान देकर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। धर्म तथा समाज सुधार के साथ नानक का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक चेतना को जागृत करना था। भारत भूमि की स्वतन्त्रता नानक का स्वप्न था, यद्यपि उनके जीवन काल में यह सार्थक न हो सका।

धार्मिक दृष्टिकोण

डॉ० एस० राधाकृष्णन के अनुसार—प्रत्येक मौलिक धर्म संस्थापक अपनी व्यक्तिगत, समाजगत तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप ही अपना धार्मिक सन्देश देता है।[2] गुरु नानक द्वारा संस्थापित धर्म में हम इस कथन को अक्षरशः सत्य पाते हैं। भारतवर्ष में राजनीति तथा समाज का मेरुदण्ड धर्म ही रहा है। यहाँ का राजनीतिक एवं सामाजिक संगठन कभी भी धर्म-निरपेक्ष नहीं रहा है। गुरुनानक के समय में राजनीतिक एवं सामाजिक संकीर्णता तथा अत्याचारों और अनाचारों का

1. जे० डी० कनिंघम, पृ० 39
2. एस० राधाकृष्णन, दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० 25।

परिवर्तित हो उठा तथा नवीन प्रगति के लिए उत्तेजित हो उठा। रामानन्द और गोरख ने धार्मिक एकता का उपदेश दिया। कबीर, चैतन्य ने समाज, मूर्तिपूजा तथा बहुदेव की स्थूलता को प्रदर्शित किया। उन लोगों ने वैराग्यवान् तथा शांत पुरुषों का संगठन तो किया, परन्तु आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया। पर अपने भाइयों को सामाजिक और धार्मिक बंधनों को तोड़ने का उपदेश न दे सके, जिससे ऐसे समाज का निर्माण हो और जो रूढ़ियों एवं आडम्बरों से विहीन हो। उन्होंने अपने मतों में तर्क-वितर्क, वाद-विवाद पर तो विशेष बल दिया पर ऐसे उपदेश नहीं दिये जो राष्ट्र निर्माण में बीजारोपण का कार्य कर सके। यही कारण है कि उनके सम्प्रदाय विकसित नहीं हुए और जहाँ के तहाँ ही रह गये।"[1]

गुरुनानक के पूर्व जितने भी धर्म सुधार सम्बन्धी आन्दोलन हुए थे, वे प्रायः सभी साम्प्रदायिक थे और पारस्परिक वाद-विवाद में रत थे। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक अहमन्यता बढ़ी। रामानन्द के अनुयायी रूढ़ियों और बाह्याचारों के बन्धन से मुक्त न थे। रामानन्द द्वारा प्रचारित मत विकसित होने के बजाय संकीर्ण होता गया। इन आंदोलनों में राष्ट्रीय उत्थान के अभाव का कारण यह था कि सभी सुधारक त्याग और वैराग्य के जीवन को अपना चरम लक्ष्य समझते थे।[2] कबीर यद्यपि विवाहित थे, गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे, फिर भी वैराग्य पर जोर देते थे। सन्तों के त्याग के इस आदर्श ने लोगों में किंकर्तव्य-विमूढ़ता की भावना भर दी। लोक संग्रह के निमित्त कर्म करने का आदर्श लोग भूल गये। लोग हाथ पर हाथ रखकर भाग्यवादी बन गये और काल, कर्म तथा भाग्य पर मिथ्या दोष आरोपित करने लगे। इस प्रकार अकर्मण्यता से हमारे समाज का कर्म पंगु हो गया, ज्ञान दिखावा मात्र रह गया और भक्ति आडम्बरयुक्त रह गई।[3]

क्रांतिदर्शी गुरुनानक ने इन परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उनके हृदय में वैराग्य तथा भक्ति की मंदाकिनी सदैव प्रवाहित होती रही तथा मस्तिष्क में विवेक तथा ज्ञान का प्रचण्ड मार्तण्ड अहर्निश प्रकाशित रहता था। उन्होंने अपनी अपूर्व दूरदर्शिता से यह समझने का प्रयास किया कि वर्तमान परिस्थितियों में कौन सा धर्म भारत के लिए विशेष रूप से पंजाब के लिए श्रेयस्कर होगा। इसी विचार से उन्होंने खूब सोच विचारकर सिक्ख धर्म की स्थापना की। यद्यपि

1. जे० डी० कनिंघम, हिस्ट्री ऑफ दि सिख, पृ० 38
2. जयराम मिश्र, पृ० 52
5. वही, पृ० 52

हिन्दू मस्तिष्क मुसलमानों की संस्कृति से इतना पराभूत है कि उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुसलमानों के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया है।[1] मुसलमानों द्वारा बलात धर्म परिवर्तन एवं हिन्दुओं की मानसिक कमजोरी के कारण हिन्दुओं में बाह्याडंबर बढ़ गया था। मुसलमानों में भी अनेक वेश चल पड़े हैं। कोई पीर है, कोई पैगम्बर तथा कोई औलिया। ठाकुरद्वारों को गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। गऊ तथा गरीबों की हत्या करते हैं। इस भाँति पृथ्वी के ऊपर पाप का विस्तार हो रहा है।[2]

हिन्दुओं की दशा का चित्रण करते हुए गुरुनानक ने कहा कि संन्यासियों के दस सम्प्रदाय हैं और योगियों के बारह पन्थ। जगम और दिगम्बर आदि परस्पर कलह करते हैं। ब्राह्मणों में अनेक वर्ग हैं। शास्त्रों, वेदों और पुराणों में परस्पर संघर्ष चलता रहा है। तन्त्र, मन्त्र, रसायन और करामात का बोलबाला है। इस प्रकार सभी तमोगुण में विरत हैं।[3]

उस समय की राजनीतिक स्थिति की भयंकरता, सामाजिक अव्यवस्था एवं धार्मिक बाह्याडंबर तथा रूढ़ियों के कारण देश विषमावस्था में था। शासकों की अहमन्यता चरम सीमा पर पहुँच गई थी। धर्म का वास्तविक स्वरूप लुप्त सा हो गया था।

गुरुनानक के धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह निवृत्ति मूलक नहीं बल्कि प्रवृत्ति मूलक है। उन्होंने हिन्दू-ब्राह्मण, जैनी, योगी, मुल्लाओं के पाखण्डों एवं बाह्याडंबरों का खण्डन किया। सिख धर्म की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। 'उन्होंने धर्म के मूल सिद्धान्तों को पकड़ रखा, किन्तु बाह्याचारों अथवा धर्म के बाह्यरूपों में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया। इसी से यह धर्म इतना शक्तिशाली हो गया। यदि परिस्थितियों के अनुकूल इस धर्म के बाह्य रूप में परिवर्तन न होता तो यह भी कबीर पन्थ, दादू पन्थ तथा रैदास पन्थ की भाँति एक सीमा में केन्द्रीभूत होता।

आध्यात्मिक विचारधारा

भक्ति आन्दोलन के अन्य सन्तों की भाँति गुरुनानक ने भी ब्रह्म, जगत, आत्मा

---

1. नील वस्त्र ले कपड़े पहिरे तुरक पठाणी अमल कीआ।

   (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा दी वार महला 1, पृ० 470)

2. वार्शं भाई गुरु दास जी, वार 1, पौडी 20

3. जयराम मिश्र, पृ० 49

मूल कारण धार्मिक संकीर्णता थी। उस समय के हिन्दू एवं मुसलमान अपने-अपने धर्म की उदार और सार्वभौमिक मान्यताओं को भूलकर साम्प्रदायिकता के गड्ढे में पड़े हुए थे। गुरुनानक ने उसका सजीव चित्रण किया है—"अरे लालों, लज्जा एवं धर्म दोनों ही संसार से बिदा हो चुके हैं, चारों ओर झूठ का साम्राज्य है। काजियों और ब्राह्मणों ने अपने कर्तव्य त्याग दिये हैं और अब विवाह शैतान करवाता है। मुसलमान हिन्दू तथा अन्य ऊँच-नीच स्त्रियाँ कष्ट में पड़कर परमात्मा का नाम ले रही हैं। वे सब खूनी गीत गा रही हैं और केशर के स्थान पर रक्त पड़ रहा है"।[1]

धर्म का वास्तविक रूप लोग भूल गये थे। बाह्याडम्बरों का बोलबाला था। बहुत से लोग भय से मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए कुरान इत्यादि पढ़ते थे।[2] गुरुनानक के अनुसार "हे समृद्धशाली हिन्दुओं, एक ओर तो मुसलमानों का शासन सुदृढ़ बनाने के लिए गौओं और ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और दूसरी ओर गौ के गोबर के बल पर मुक्ति पाना चाहते हो। भला यह कैसे सम्भव हो सकता है? धोती पहनते हो, टीका लगाते हो, गले में जप की माला धारण किये हो किन्तु धान्य तो म्लेच्छों का ही खाते हो। भीतर-भीतर पूजा करते हो, बाहर कुरान पढ़ते हो और सारे आचरण तुर्कों के समान करते तो हो, इस पाखण्ड को छोड़ो, इसमें कोई लाभ नहीं"।[3]

सारी धार्मिक रीति रिवाज, संस्कार दिखावा मात्र के लिए थीं। धर्म प्रदर्शन मात्र था। गुरुनानक ने ऐसे प्रदर्शनों का स्थान-स्थान पर संकेत किया है। पुस्तक पढ़ तथा सन्ध्या करके वे सन्ध्या के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते। पाषाण की पूजा करते हैं और बगुले की भाँति झूठी समाधि लगाते हैं। सच्ची समाधि के आनन्द से बहुत दूर हैं दिखावा मात्र समाधि का दम्भ भरते हैं। मुख से झूठ बोलकर लोहे के गहने को सोने का बतलाते हैं।[4]

---

1. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, तिलंग, महला 1, पृ० 722-23
2. जयराम मिश्र, पृ० 47
3. गऊ बिराहमण कउ करू लावहु गोबर तरणु न जाई।
   धोती टीका तै जपमाली धानु मलेछाँ खाई॥
   अंतरि पूजा पढ़हिं कतेबा संजमु तुरका भाई।
   छोड़ीले पाखण्ड।
   (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा दी वार महला 1, पृ० 471),
4. पढ़ि पुस्तक सन्धिया वादं। सिल पुजसि बगुल समाधं॥ मुख झूठि विभूखण सारं।
   (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा दी वार महला 1, पृ० 470)

और न आकाश था, न दिन था और न रात। चन्द्रमा सूर्य भी नहीं थे। केवल शून्य मात्र था। वेद, पुराण, स्मृति शास्त्र कुछ भी नहीं थे। पाठ, पुराण, सूर्योदय, सूर्यास्त भी न थे। वह अलख, अगोचर स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था। सृष्टि की रचना ईश्वर की कृपा का परिणाम है। अन्त में वह उसी में विलीन हो जाता है। श्रीमद्-भगवद्गीता में भी इसी भाँति विचार व्यक्त किया गया है—

अव्यक्ता व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥[1]

शंकराचार्य की भाँति गुरुनानक जगत को माया से परिपूर्ण नहीं बल्कि जगत के कण-कण में ईश्वरी शक्ति को देखते थे। वे माया को भ्रम की दीवार तथा ज्ञान का जंगल मानते थे। एक स्थान पर उन्होंने माया को सास का रूपक दिया है। यह ऐसी बुरी सास है जो जीवरूपी वधू को अपने घर में अर्थात् आत्म-सुख में रहने नहीं देती। यह जीव-रूपी वधू को परमात्मा-रूपी प्रियतम से मिलने नहीं देती।[2]

जीव तथा आत्मा

जीव परमात्मा से उत्पन्न होता है। उसके अंतर्गत परमात्मा का निवास स्थान है। गुरुनानक ने वेदांत ग्रंथों तथा श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर आत्मा की अमरता का प्रतिपादन किया है। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता। वह न तो मरा है और न मरने योग्य है। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर। गुरु द्वारा भ्रम समाप्त होने पर ही वास्तविक आत्म तत्व की प्रतीति होती है। आत्मोपलब्धि के लिए भगवत कृपा की आवश्यकता होती है। अन्य सारी युक्तियाँ व्यर्थ हैं। आत्म-ज्ञान से मनुष्य को सम्पूर्ण चराचर प्रकाशमान दिखाई देता है। सारी वस्तुएँ आत्मा में स्थित हैं। यह सब परमात्मा की लीला है।

भक्ति साधना

भक्ति की अबाध मंदाकिनी गुरु नानक के प्रत्येक पद तथा उपदेश में प्रवाहित है। ज्ञान-मार्ग, योग-मार्ग तथा कर्म-मार्ग सर्वसाधारण के लिए कठिन था, अत. उन्होंने अन्य भक्ति आन्दोलन के संतों की भाँति भक्ति को मोक्ष का सरल साधन स्वीकार किया। परंतु उन्होंने वैधी भक्ति के समस्त विधि विधान, तिलक, माला, चंदन, आसन, पादुका, प्रतिमा पूजन, पंचामृत, वस्त्र, यज्ञोपवीत, पुष्प, नैवेद्य, ताम्बूल, धूप, दीप

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 8, श्लोक 18
2. सासु बुरी घरि वासु न देवे पिर सिउ मिलण न देई बुरी।
(गुरु ग्रंथ साहिब आसा, महला 1, पृ० 355)

तथा माया के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया और आप सभी के लिए मोक्ष का साधन बताया।

ब्रह्म

कबीर की भाँति नानक एकेश्वरवाद के प्रबल समर्थक थे।[1] उन्होंने ऐसे इष्ट देव की कल्पना की जो अकाल मूर्ति, अजन्मा तथा स्वयंभू है।[2] तात्पर्य यह कि परमात्मा न तो स्थापित किया जा सकता है और न निर्मित। वह तो स्वयंभू है, वह अलख, अपार, अगम तथा इन्द्रियों से परे है न तो उसका कोई काल है, न कर्म और वह जाति-अजाति से भी परे है।[3]

गुरुनानक के परमात्मा निर्गुण, सगुण[4], सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान दाता, भक्त वत्सल, पतित पावन, परम कृपालु, सर्व प्रेरक, शीलवन्त, सखा सहायक, माता-पिता, स्वामी, शरण दाता आदि विशेषणों से विभूषित है।

गुरुनानक अवतारवाद के विरोधी थे। उन्होंने रामावतार तथा कृष्णावतार का खण्डन किया है। उनके अनुसार परमात्मा सर्वथा स्वतन्त्र है। क्योंकि राम भाग्य रेखा नहीं मेंट सके।

जगत

गुरुनानक के अनुसार अगणित युगों तक महान् अन्धकार था। न तो पृथ्वी

---

1. साहब मेरा एकु है अबरू नहीं भाई। (आसा काफी महला 1, पृ० 420)
   साहब मेरा एको है, एको है भाई एको है।
   (आसा, वार सलोका महला 2, पृ० 469)
2. जयराम मिश्र, पृ० 55
   जाति, अजाति अजोनी समऊ। (सोरठि, महला 1, पृ० 597)
3. अलख अपार अगम अगोचर ना तिसु काल न करमा।
   जाति-अजाति अजोनी समऊ न भाउ न भरमा॥
   न तिसु मात-पिता सुत बंधव ना तिसु काम व नारी।
   अकुल निरंजन अपर परं परु सगली ज्योति तुमारी॥
   (सारंग, महला 5, पृ० 599)
4. अविगतो निरमाइलु उपजे निरगुण ते सरगुण थीआ।
   (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ० 940)

   तू निरगुन तू सरगुनी।
   निरंकार आकार आपि निरगुन सरगुन एक।

रहन-सहन, उठना-बैठना, हर्ष-विषाद, सुख-दुख, यहाँ तक कि उनके जीवन के समस्त क्रिया कलाप भक्ति के दिव्य रंग में रंगे हैं।[1]

भक्ति के रंगमंच पर मनुष्य तथा परमात्मा का संबंध माता-पिता, पुत्र तथा स्वामी सेवक के रूप में रहता है। यही नहीं, यह संबंध दाता तथा भिखारी और पति-पत्नी के रूप में परिणत हो जाता है।

नानक के अनुसार भक्ति भावना को जागृत करने के लिए सत्संग तथा साधु संग आवश्यक है। साधुओं में से किसी एक गुरु का चयन करना चाहिए। गुरुओं द्वारा निरूपित कर्मयोग, योगमार्ग तथा ज्ञानमार्ग में सत्संग पर अत्यधिक बल दिया गया है। भक्ति मार्ग का यही सर्वस्व है। प्रत्येक सिख नित्य परमात्मा से माँग करता है—"साध दा संग गुरुमुख दा मेल" अर्थात् साधु का साथ और गुरुमुख का मेल।" गुरु अर्जुन देव ने साधु संग प्राप्ति के लिए प्रार्थना की :—

> करहु कृपा करुणायते तेरे हरि गुण गाउ।
> नानक की प्रभु बेनती साध संग समाउ॥[2]

समाज सुधार

सिख धर्म संस्थापक गुरु नानक एक महान् समाज सुधारक थे। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से राजनीतिक धर्मान्धता का सामाजिक संगठन पर प्रभाव का अध्ययन किया। मुसलमान शासकों के धर्म परिवर्तन की नीति, तीर्थ यात्रा कर, धार्मिक मेलों, उत्सवों, जुलूसों पर कठोर प्रतिबंध, नये मंदिरों के निर्माण तथा जीर्ण मंदिरों के पुनरुद्धार पर रोक, हिन्दू धर्म एवं समाज के नेताओं का दमन, मुसलमान होने पर पुरस्कार वितरण के कारण हिन्दू समाज विकृत हो गया था।[3]

इन अत्याचारों का प्रभाव तत्कालीन जनता पर बहुत अधिक पड़ा। हिन्दुओं का अनुदार वर्ग और भी अधिक अनुदार हो गया। वे अपनी सामाजिक स्थिति की रक्षा के प्रति और भी अधिक सचेष्ट हो गये। हिन्दुओं का एक वर्ग असहिष्णु, अनुदार और संकीर्ण हुआ। अपने को विधर्मी प्रभावों से बचना उसका उद्देश्य हो गया। युग धर्म, लोक धर्म से पराङ्मुख होकर बाह्याचारों, रूढ़ियों के कवच से अपने को सुरक्षित रखना उनका प्रमुख उद्देश्य था। उनकी यह पराङ्मुखता अन्य धर्मावलंबियों तक सीमित नहीं रही, बल्कि अपने सह-धर्मियों के साथ भी व्यापक रूप में परिलक्षित

1. जयराम मिश्र, पृ० 289
2. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब महला 5, पृ० 745
3. इन्दुभूषण बैनर्जी, इवोल्यूशन ऑफ द खालसा, पृ० 43-44

आदि की निस्सारता स्थान-स्थान पर व्यक्त की। नानक की भक्ति साधना में उपर्युक्त विधियाँ अनावश्यक हैं।

गुरु-नानक का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने भक्ति मार्ग को उसके दोषों से बचा रखा। भक्ति मार्ग के मुख्यतः तीन दोष थे—

(i) इष्टदेव के नाम भेद के कारण पारस्परिक झगड़े होते हैं।[1]

(ii) अंध श्रद्धा के कारण लोग प्रायः इष्टदेव की दया पर इतने अधिक निर्भर हो जाते है कि व्यवहार में भी स्वावलम्बी बनना छोड़ कर एकदम आलसी तथा निकम्मे हो जाते हैं तथा अपनी आपत्तियों और कमजोरियों का दोष अपने-अपने इष्टदेव के मत्थे मढ़ कर चुप हो जाया करते हैं।[2]

(iii) अंधविश्वास कभी-कभी इतना अधिक हो जाता है कि लोग दम्भियों के चक्कर में पड़कर दुख उठाते हैं।[3]

नानक ने उपर्युक्त तीनों दोषों को अत्यंत सतर्कता से दूर किया। पहले दोष को मिटाने के लिए उन्होंने परमात्मा को रूप और आकार की सीमा से परे माना। दूसरे दोष को दूर करने के लिए उन्होंने निवृत्ति मार्ग को त्याग कर प्रवृत्ति मार्ग स्वीकार किया। तभी तो बाबर के आक्रमण की भयंकरता को देख कर और करुणा से अभिभूत होकर कर्ता से गुरु नानक प्रश्न करते हैं :—

एती मार पई करलाणै तैं की दरद न आइयाँ। (1|5|39)

अर्थात् ऐ कर्ता भारतवर्ष पर इतनी मार पड़ी पर तुम्हारा हृदय जरा भी द्रवीभूत नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने अपने मोक्ष तथा लोक कल्याण के निमित्त सेवा धर्म पर बल दिया। गुरुनानक का प्रेम मौखिक न होकर सेवा भावना से ओत-प्रोत है। तीसरे दोप के परिहार के लिए उन्होंने वाह्याडंबरों के त्याग और प्रेम भक्ति पर अधिक बल दिया।[4]

परमात्मा की प्रेम भक्ति ही कर्म योग को निष्काम कर्म योग बनाती हैं, ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान का रूप देती है और योग को सहज योग में परिणित करती है। इसीलिए गुरुओं के अनुसार किसी भी मार्ग की साधना बिना भक्ति के निष्प्राण और निस्तत्व है। सिख गुरुओं का समस्त जीवन प्रेम भक्ति से ओत-प्रोत है। उनका आचार-विचार,

---

1. बलदेव प्रसाद मिश्र, तुलसी दर्शन, पृ० 79-80
2. वही, पृ० 80
3. वही, पृ० 80
4. जयराम मिश्र, पृ० 55-56

जानता है। कोई जन्म से ब्राह्मण नहीं, बल्कि कर्म से ब्राह्मण होता है।[1] मैकालिफ के अनुसार—नानक ने स्पष्ट कहा था कि मेरा सम्बन्ध किसी जाति से नहीं है।[2] यात्रा के समय वे शूद्रों के साथ रहने में संतोष तथा आनन्द का अनुभव करते थे। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए उन्होंने अपने सभी शिष्यों के लिए एक भोजनालय की व्यवस्था की थी जिसे गुरु का लंगर कहते थे।[3] उन्होंने अपने सभी शिष्यों को एक साथ भोजन करने पर जोर दिया।[4] उन्होंने छुआछूत के भेदभाव को मिटाकर भ्रातृत्व का स्वर उठाया।

समन्वयवाद

चिश्ती सिलसिला के संतों तथा कबीर की भाँति नानक का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों में समन्वय की स्थापना था।[5] उन्होंने इसका अनुभव किया कि समाज के घाव को भरने के लिए धार्मिक मतभेद को दूर करना आवश्यक है। उनके अनुसार हिन्दू तथा इस्लाम धर्म एकेश्वर तक पहुँचाने के दो मार्ग हैं।[6] अतः नानक ईश्वर को राम, गोबिन्द, हरी, मुरारी, रब तथा रहीम के नाम से पुकारते थे।[7] वे अपने को ईश्वर का देवदूत अथवा पैगम्बर कहते थे। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन हिन्दू मुस्लिम समन्वय तथा एकेश्वर के सिद्धान्त के प्रतिपादन में व्यतीत किया। बिना जाति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव के हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें एक साथ भोजन करने पर जोर दिया।[8] नानक के अनुसार उस एकेश्वर की आराधना अनेक मुहम्मद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा राम करते हैं।[9] हिन्दू-मुस्लिम संत परवर दीगार के दीवान हैं।[10] नानक ने पुनः कहा है—

---

1. जाति गरबु न करीअहु भाई।
   ब्रह्मु बिन्दे सो ब्राह्मण होई॥
2. मैकालिफ, पृ० 133
3. कुसवंत सिंह, पृ० 43
4. ए० रशीद, पृ० 251
5. ताराचन्द, पृ० 168
6. ए० रशीद, पृ० 250
7. वही, पृ० 250
8. वही, पृ० 250
9. ताराचन्द, पृ० 169
10. वही, पृ० 171

हुई। इसी कारण सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठी।

हिन्दुओं का वर्णाश्रम धर्म कहने मात्र को रह गया। ब्राह्मण अपनी दैवी सम्पदा को त्याग कर पाखण्ड पूर्ण धर्म में रत हो गये। क्षत्रिय अपने स्वाभाविक शौर्य, भाषा तथा संस्कृति को त्यागकर उदर पोषण के निमित्त अरबी-फारसी के अध्ययन में रत हो गए।[1]

जाति प्रथा का विरोध

हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के हिन्दुओं का अत्याचार शूद्रों पर अधिक था। उन्हें सभी अधिकारों से वंचित कर दिया था। वेद तथा शास्त्र का अध्ययन उनके लिए त्याज्य बताया गया। मंदिरों में भगवत दर्शन की उन्हें अनुमति नहीं थी। उनके छाया के स्पर्श मात्र से उच्चवर्ण के हिन्दुओं का शरीर अपवित्र हो जाता था।

कबीर की भाँति नानक ने इसका विरोध तथा खंडन किया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मनुष्य मात्र में स्थिति परमात्मा की ज्योति को समझने की चेष्टा करो। जाति-पाँति के बखेड़े में मत पड़ो। यह समझ लो कि आगे (वर्ण व्यवस्था के पूर्व) कोई भी जाति-पाँत नहीं था।

जाणहु ज्योति न पूछहु जाति आगे जातिन है।[2] गुरुनानक के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में चारों वर्णों का समन्वित रूप होना चाहिए।[3] जिस व्यक्ति ने इस समन्वित रूप को अपने में स्थापित कर लिया है वही परमात्मा का वास्तविक रहस्य

---

1. अरबी त मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसारू।
आंट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिनि लोअ।
मगर पाछै कछु न सुझै एहु पदमु अलोअ॥
खत्रीआत धरमु छोड़िया मलेछ भाखिया गही।
सृसटि सम इक बरन होई धरम की गति रही॥
(गुरू ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ० 662-63)
2. श्री गुरू ग्रन्थ साहिब, आसा, महला 1, पृ० 349
3. जोग सबदं गिआन सबदं वेद सबदं ब्राह्मणाह।
खत्री सबदं सूर सबदं सूद्र सबदं पराकृतह॥
सरब सबदं एक सबदं जे को जाणे भेउ।
नानक ताका दास है सोई निरंजन देउ॥
(श्री गुरू ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ० 463)

था। गुरुनानक ने स्पष्ट लिखा है कि लोगों की दृष्टि में स्त्रियों का स्थान गिरा हुआ था। अतः उन्होंने हिन्दू जाति में उपेक्षित नारी को गौरव के आसन पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। नानक के अनुसार "स्त्री द्वारा हम गर्भ में धारण किये जाते हैं, और उसी से जन्म लेते हैं। उसी से हमारी जीवन पर्यन्त मैत्री है। उसी से सृष्टि कर्म चलता है। स्त्री हमें सामाजिक बन्धन में रखती है। फिर हम उस स्त्री को मंद क्यों कहें जिससे महान् पुरुष जन्म लेते हैं।"[1]

गुरुनानक ने अपने धर्म में स्त्रियों के खोये हुए अधिकारों को वापस दिया। आध्यात्मिक साधनाओं और जीवन के अन्य क्षेत्रों में उनकी समानता पर बल दिया।

नानक ने स्त्रियों को ईश्वर की आराधना तथा पति के प्रति प्रेम-भक्ति भावना पर जोर दिया। उन्होंने बताया कि गुणवती स्त्रियों में एक प्रकाश रहता है। एक सुशील स्त्री का गुण उसके शरीर को सुसज्जित करना नहीं बल्कि उसके पति के प्रति स्नेह तथा प्रेम को प्रदर्शित करना है।[2] ऐसी स्त्रियों के गुणों की प्रशंसा करते हुए नानक ने उन विधवा स्त्रियों की कटु आलोचना की है जो धन के लालच में अपने सतीत्व को बेच देती हैं।[3]

आर्थिक दृष्टिकोण

धन सम्बन्धी अहंकार मनुष्य को वैभवांध बना देता है। उसकी बुद्धि ऐहिक भोगों को छोड़कर परमार्थिक विषयों में रमती ही नहीं। मनुष्य अनेक प्रकार का अत्याचार तथा क्रूरता इसलिए करता है कि उसके भौतिक सुख पर जरा भी आँच न आये। धनी मनुष्य अहंकार के वशीभूत होकर राक्षसी कर्म करता है। ऐसे मनुष्य के लिए सम्पति के अतिरिक्त कोई आदर्श नहीं रहता। उसे सदैव सरदार, राजा, बादशाह कहलाने की इच्छा रहती है। इस अभिमान में वह अपने को जला डालता है। ऐसे मनुष्य की दशा वही होती है जो दावाग्नि में पड़कर तृण समूह की।[4]

1. भंडि जंमोए निभीए भंडि भगणु विआहु।
   भंडहु होवे दोसती भंडहु चले राहु॥
   भंडु मुआ भंडु भालिए भंडि होवे बंधानु।
   सो किउ मंदा आखिए जितु जंमहि राजानु॥
   (श्री गुरु ग्रंथ साहिब, महला 1, पृ० 473)
2. ए० रशीद, पृ० 254
3. मैकालिफ, पृ० 298
4. सुइना रूप सचीए मालु जालु जंजाल।
   × × ×

पारब्रह्म प्रभु एकु है, दुजा नहीं कोई ।[1]

इस प्रकार नानक ने साम्प्रदायिक भेदभाव को समाप्त कर हिन्दू मुसलमानों के बीच समन्वयवाद का सिद्धान्त अपनाने का प्रयास किया। उनका मूल उद्देश्य दोनों धर्मों, समानताओं तथा संस्कृतियों के संघर्ष को समाप्त कर देश में शान्ति की स्थापना करना था। वे हिन्दू-मुस्लिम पारस्परिक विरोध को समाप्त कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। नानक जानते थे कि हिन्दू मुसलमानों के मनोमालिन्य को दूर करने के लिए सहज मार्ग यही है कि उन दोनों की आन्तरिक अच्छाइयों को ग्रहण करके उनके बाह्याडम्बर को दूर करने की चेष्टा की जाय। कदाचित पंजाब में हिन्दू मुस्लिम संघर्ष सबसे अधिक था। इसीलिए उन्होंने जहाँ एक ओर सच्चे मुसलमान बनने की विधि बताई, वहीं दूसरी ओर यह बताया कि सच्चा ब्राह्मण कौन है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट कह दिया। जो व्यक्ति हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों की एकता को समझता है, वही मर्मज्ञ है। उनकी आलोचना का आशय यह था कि हिन्दू मुसलमान अपनी कमजोरियों को समझें तथा उसे दूर कर अपने धर्मों का ठीक पालन करें।

कबीर तथा नानक के समन्वयवादी दृष्टिकोण में समानता होते हुए भी लक्ष्य प्राप्ति के साधनों में विभिन्नता है। कबीर डाँट फटकार कर दोनों सम्प्रदाय के सदस्यों को एक समाज के रंगमंच पर लाना चाहते थे। परिणामस्वरूप उनका उपदेश किसी के लिए भी अधिक ग्राह्य सिद्ध नहीं हुआ। नानक ने प्रेम भाव से हिन्दू तथा मुसलमानों को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने इसके लिए मधुर से मधुर शब्दों का प्रयोग किया। उनके अथक प्रयास का ही परिणाम था कि हिन्दू तथा मुसलमानों ने उनके उपदेश को समझकर उसे कार्यान्वित किया। नानक की यह सबसे बड़ी सफलता है।

स्त्रियों के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण

मुस्लिम शासन काल में भारतीय नारियों के ऊपर अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। उनका सम्मान उनके परिवार में ही समाप्त हो गया था। अमरत्व की साधना के सारे अधिकारों से वे वंचित कर दी गई थीं। वे आध्यात्मिक उत्तरदायित्व से हीन थीं। वेद शास्त्र के अध्ययन से वंचित होकर उन्हें गृह परिचर्या में ही सन्तोष करना पड़ता था।[2] संत महात्माओं की दृष्टि में उन्हें हेय समझा जाता

1. श्री गुरू ग्रन्थ साहिब महला 5, पृ० 45
2. तेजासिंह, एसेज इन सिखिज्म, पृ० 12-13

मुख कुत्ते के समान हो गया है। वे मुर्दा भक्षण करते हैं। झूठ बोलने में वे सदैव भूँकते हैं, धर्म के सम्बन्ध में उनके सारे विचार समाप्त हो गये हैं। जिनमें जीवित रहते हुए भी प्रतिष्ठा नहीं है, मरने के पश्चात् उनकी बुरी दशा होगी। जो कुछ भाग्य में लिखा है वही होता है, जो परमात्मा करता है वही होता है।"[1] उन्होंने पुनः लिखा है कि "राजा लोग सिंह हो गये हैं उनके कर्मचारी कुत्ते के रूप में परिणित हो गये हैं, वे सब मनुष्यों के रक्त चाटते हैं, उनका मांस भक्षण करते हैं।"[2]

उपर्युक्त कथन मुस्लिम शासन प्रणाली का नग्न चित्रण है। बाबर के आक्रमण के भयावह परिणामों का रोमांचकारी चित्रण करते हुए नानक ने कहा कि जिन स्त्रियों की सुन्दर केश राशि थी, जिनकी माँगें सिन्दूर से अनुरंजित रहा करती थीं, सिर के वे ही बाल कैंचियों से कतर दिये गये हैं और धूल उड़ कर गले तक आ रही है जो सुन्दर महलों में भी निवास करती थीं उन्हीं को आज साधारण स्थानों में बैठने की जगह नहीं मिल रही है। जो स्त्रियाँ गरी, छुहारे खाती थीं और पलंग पर आनन्द लेती थीं उन्हीं के गले में रस्सियाँ पड़ी हुई हैं, उनकी मुक्त मालायें टूट-टूट कर गिर रही हैं।[3] इससे बढ़कर तत्कालीन राजनीतिक चित्रण क्या हो सकता है।

गुरुनानक बाबर के आक्रमण और भारतवर्ष की दुर्दशा से अत्यन्त द्रवीभूत हुए। इन क्रूरताओं का कारण उन्होंने परमात्मा की इच्छा कहा है। गुरुनानक प्रारब्ध की आड़ में सारी बुराइयाँ और अच्छाइयाँ परमात्मा पर थोप कर अपने नैतिक कर्तव्य से मुक्ति नहीं पाना चाहते थे। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद हिन्दू समाज में घोर निराशा का वातावरण था। गुरुनानक ने जनता की निराशावादिता को दूर कर उनमें आशा, विश्वास तथा पौरुष की भावना को जागृत किया। गुरु नानक मध्ययुगीन राष्ट्रीय नेता हैं जो भारतवर्ष की दुर्दशा से द्रवीभूत होकर अपने आराध्य देव से यह प्रश्न करने का साहस किया—

खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ।
ऐती मार पई करलाणै तैं की दरद न आइआ।।[4]

अर्थात् हे ईश्वर! जिसने खुरासान जीतकर हिन्दुस्तान को भयभीत किया, तथा भारतवर्ष पर इतनी मार पड़ी, परन्तु आप का हृदय जरा भी द्रवित नहीं हुआ।

1. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ० 1242
2. वही, पृ० 145
3. वही, पृ० 417
4. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, रागु आसा, महला 1, पृ० 360

उन्होंने कहा कि जो लोग सोने-चाँदी, रुपये-पैसों, हाथी, घोड़ों को अपना समझते हैं वे सचमुच मूर्ख हैं। सारी ऐश्वर्य युक्त वस्तुएँ परमात्मा द्वारा निर्मित हैं इसलिए वे ही परमात्मा हैं।[1] नानक ने अर्थ संग्रह की अपेक्षा उसके समुचित वितरण पर जोर दिया।

मानवतावाद

गुरुनानक का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानव समाज का उत्थान था। इसीलिए उन्होंने मोक्ष तथा लोक कल्याण के निमित्त सेवा धर्म पर अधिक बल दिया। गुरु नानक का प्रेम मौखिक न होकर सेवा भावना से ओतप्रोत है। जिस प्रेम में सेवा भावना न होगी वह वास्तविक प्रेम न होकर सहानुभूति मात्र रह जायगा। उन्होंने बाह्याडम्बरों के त्याग तथा प्रेम भक्ति पर जोर दिया। मुसलमानों के भाईचारा तथा एकता का सिद्धान्त जितना सिख धर्म में दिखाई देता है उतना भारत के अन्य किसी धर्म में नहीं है। वैष्णवों की सेवा भावना को नानक ने अपने धर्म का प्रधान अंग बनाया। गोरखनाथ और कबीर के जाति प्रथा सम्बन्धी क्रांतिकारी विचारों से भी सिख धर्म ओतप्रोत है।

राजनीतिक विचारधारा

गुरुनानक भक्ति आन्दोलन के प्रथम सन्त हैं जो राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित थे। इस आन्दोलन के द्वारा वे राष्ट्रीय उत्थान चाहते थे। उनके समय के धर्म तथा समाज सुधारक त्याग तथा वैराग्य के जीवन को चरम लक्ष्य मानते थे। परन्तु नानक भारतीय जनता के हृदय में राष्ट्रीयता की प्रबल भावना भरना चाहते थे। राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा कि "कलियुग में मनुष्य का

महर मलूक कहाईए राजा राउ की खानि।
× × ×
मन मुखि नाम बिसारिआ जिउ उवि दधाकानु।
दउमै करिजारि जाइसी जो आइआ जग माहि॥
सब जगु का जल कोठड़ी तनु मनु देह सुआहि।
(श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 2, पृ० 63-64)

1. सुइना रूपा फुनि नहि दाम।
हैवर गैवर आपन नहि काम॥
गुरु नानक जो गुरि बरवसि मिलाइआ।
तिस का समु कछु जिसका हरि राइआ॥
(श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 5, पृ० 187)

अपने मतों में तर्क वितर्क, वाद विवाद पर तो विशेष बल दिया पर उन्होंने ऐसे उपदेश नहीं दिये जो राष्ट्र निर्माण में बीजारोपण का कार्य कर सकें।"[1] कनिंघम का यह तर्क सही प्रतीत होता है कि सभी सुधारकों के त्याग तथा वैराग्य के जीवन ने जनता के हृदय में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की भावना भर दी थी। लोग हाथों पर हाथ रखकर भाग्यवादी बन गये। नानक ने जनता की निराशा को दूर करके उसमें आशा, विश्वास तथा पौरुष की भावना जागृत की। गुरुनानक की शिक्षाओं का ही प्रभाव था कि उनके अनुयायियों ने राष्ट्र के निर्माण तथा राष्ट्र सेवा में अनुपम योगदान दिया। इसी कारण नानक को मध्ययुगीन समाज-धर्म सुधारकों में उच्च स्थान प्राप्त है।

समन्वयवादी महाप्रभु चैतन्य

उत्तर भारत में पन्द्रहवीं सदी सुधार का युग माना जाता है। भक्ति आंदोलन की लपटें दक्षिण भारत, गुजरात, पंजाब तथा उत्तर भारत को प्रज्वलित कर रही थीं। केवल बंगाल अभी तक अप्रभावित था। भाग्यवश—बंगाल में महाप्रभु चैतन्य इसी समय अवतरित हुए। उन्होंने अपने सुधारवादी आंदोलन से बंगाल तथा उड़ीसा में एक नयी चेतना जागृत की। चैतन्य का जन्म फाल्गुन पूर्णिमा, शक सं० 1407[2], (18 फरवरी, सन् 1486)[3] में नादिया (नवद्वीप) जिले के मायापुर[4] गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र तथा माता का नाम शची देवी था।[5] इनका प्रारम्भिक नाम गौरांग तथा निमाई रखा गया। परम्परा के अनुसार एक बार गौरांग ज्वर से अधिक पीड़ित थे। लोगों के कहने के अनुसार इन्हें नीम वृक्ष के नीचे रखा गया। भाग्यवश वे शीघ्र नीरोग हो गये। तभी से इनका नाम निमाई रखा गया।[6]

बाल्यावस्था से ही निमाई बहुत चंचल स्वभाव के बालक थे। लड़कियों के साथ छेड़खानी करते थे। पूजा करते हुए लोगों पर पानी छिड़क देते थे। लोगों को केला बाँटा करते थे। कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद इन्हें पाठशाला भेजा गया।

---

1. कनिंघम, पृ० 38
2. ए० के० मजुमदार, चैतन्य हिज लाइफ एण्ड डाक्ट्रीन, पृ० 108
3. डी० सी० सेन, चैतन्य एण्ड हिज एज, पृ० 109
4. श्री ठाकुरभक्ति विनोद डे, श्री चैतन्य महाप्रभु, पृ० 1
5. डी० सी० सेन, पृ० 99
6. वही, पृ० 110

मूल्यांकन

अपूर्व दूरदर्शी, महान् धर्म-समाज सुधारक तथा प्रगतिवादी क्रांतिकारी गुरु नानक मध्ययुगीन समाज सुधारकों में अग्रगण्य हैं। मध्ययुगीन परिस्थितियों का गंभीर अध्ययन करके समस्याओं के संतोषजनक समाधान के लिए उन्होंने सिख धर्म की स्थापना की। धर्म संस्थापक के रूप में उन्होंने परिस्थितियों के अनुरूप अपना संदेश दिया। युग की नाड़ी को पहचान कर उसका निदान किया। उनके पूर्व सभी समाज सुधारक साम्प्रदायिक तथा पारस्परिक वाद-विवाद में रत थे। परिणामस्वरूप उनके द्वारा प्रचारित मत विकसित होने की अपेक्षा संकीर्ण होता गया। गुरुनानक उन दोषों से भली-भाँति परिचित थे। अतः उन्होंने बाह्याचारों अथवा धर्म के बाह्यरूपों में परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन किया। इसी से सिख धर्म इतना शक्तिशाली हुआ। यदि नानक परिस्थितियों को ध्यान में न रखकर परिवर्तन करते तो उनका धर्म कबीर पंथ, दादू पंथ तथा रैदास पंथ की भाँति एक सीमा में केन्द्रीभूत हो गया होता।

एक समाज सुधारक के रूप में उन्होंने जाति प्रथा का खंडन किया, हिन्दू-मुस्लिम समन्वय पर बल दिया, और हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। स्त्रियों को आध्यात्मिक साधना का तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार दिया। भक्ति के दोषों को दूर करके परमात्मा को रूप, आकार तथा जन्म की सीमा से परे रखा। उन्होंने किसी धर्म को बुरा नहीं कहा, बल्कि उसमें फैली हुई बुराइयों तथा विध्वंसक प्रवृत्तियों की कटु आलोचना की। वे कहते थे, "मनुष्य भक्षक (मुसलमान) नमाज पढ़ते हैं और जुल्म की छुरी चलाने वाले (हिन्दू) जनेऊ धारण करते हैं।"[1] उनकी आलोचना का यह आशय था कि हिन्दू-मुसलमान अपनी कमजोरियों को समझ कर उनके निराकरण का प्रयास करें।

सिख धर्म मे सभी धर्मों के प्रबल व्यावहारिक पक्ष अत्यन्त उदारता से संगृहीत हैं। मुस्लिम समाज की समानता के सिद्धांत तथा बौद्धों के आदि संगठन की भावना से यह धर्म व्याप्त है। वैष्णवों की सेवा भावना भी इस धर्म का प्रधान अंग है। गोरखनाथ तथा कबीर के जाति प्रथा संबंधी क्रांतिकारी विचारों से भी यह धर्म ओत-प्रोत है। गुरुनानक के सिख धर्म का व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक पक्ष दोनों ही उदारवादिता की भावना से पूर्ण हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने लिखा है "मध्ययुगीन समाज सुधारकों ने

---

1. माणस खाणे करहिं निवाज। छुरा बगाइन ति गलिं ताग ॥

(श्री गुरु ग्रंथ साहिब, महल 1, पृ० 471)

उपासना से बड़े प्रभावित हुए। कहा जाता है कि उन्होंने पुरी के माधवेन्द्र के साथ भी मथुरा की यात्रा की थी।[1] नादिया लौटने के बाद उन्होंने कीर्तन जुलूसों का आयोजन किया। गलियों में घूम-घूम कर कीर्तन करते थे। परम्परा के अनुसार कुछ लोगों ने रात्रि में कीर्तन जुलूस का विरोध नादिया के काजी से किया। काजी ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। परंतु चैतन्य के अनुयायियों के उग्र विरोध के कारण उसने इस प्रतिबंध को हटा लिया।[2] इस प्रकार थोड़े ही समय में चैतन्य की लोकप्रियता बढ़ गई। डॉ० ताराचन्द के अनुसार भ्रमण करते समय उन्होंने अनेक मुसलमान सन्तों तथा फकीरों से भेंट की और वे उनसे प्रभावित हुए।[3] 1515 से 1533 तक पुरी में रहे। 1533 में उन्होंने नश्वर शरीर का त्याग किया।[4]

तत्कालीन परिस्थितियाँ

जिस समय चैतन्य अपना उपदेश लेकर समाज के रंगमंच पर आये उस समय बंगाल में गोरखपंथी विचार का अधिक प्रभाव था। बौद्ध धर्म पतन की ओर अग्रसित हो रहा था। नानक सम्प्रदाय का उद्देश्य बौद्ध तथा शैव धर्मों के बीच समन्वय स्थापित कर जनता के नैतिक स्तर को उठाना था।[5] तांत्रिक शव, सुरा तथा सुन्दरी द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति में रत थे।[6] इस प्रकार चारों तरफ सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक पतन का वातावरण व्याप्त था।

बंगाल पूर्णरूप से मुस्लिम-प्रशासन का अभिन्न अंग बन चुका था। लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये जाते थे। इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था ने पददलित वर्ग के हृदय में सामाजिक समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए एक नवीन चेतना जागृत कर दी थी। इस प्रकार राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में चारों ओर अव्यवस्था तथा अराजकता व्याप्त थी।

दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार जाजपुर तथा मालदा के सोलह सौ वैदिक ब्राह्मणों ने सत्धर्मी (बौद्धों) की हत्या इसलिए कर दी थी कि उन्होंने धार्मिक कर देना

---

1 सुकुमार सेन, पृ० 83
2. भक्तविनोद डे, पृ० 6-7
3. ताराचंद, पृ० 219
4. वही, पृ० 219
5. डी० सी० सेन, पृ० 4
6. सुकुमार सेन, पृ० 84

गुरु सुदर्शन की दीक्षा के अनुसार कुछ ही समय में संस्कृत व्याकरण में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली।[1] अध्ययन में उनका इतना मन लगता था कि ये सदैव पुस्तकों को पढ़ा करते थे। यहाँ तक कि भोजन, स्नान तथा सोते समय पुस्तक इनके हाथों में रहती थी।[2] थोड़े समय में व्याकरण, स्मृति, न्याय दर्शन में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली।

शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद निमाई की शादी नादिया के वल्लभाचार्य की पुत्री लक्ष्मो से कर दी गई।[3] साँप काटने से लक्ष्मी की मृत्यु हो गयी।[4] कुछ समय के बाद इन्होंने नादिया के सम्पन्न परिवार की लड़की विष्णुप्रिया से दूसरी शादी कर ली।[5] पारिवारिक जीवन के निर्वाह के लिए इन्होंने एक पाठशाला चलायी। तभी से इन्हें निमाई पण्डित कहा जाने लगा।[6] परन्तु इनका ध्यान संन्यास, वैराग्य तथा आध्यात्म में था। कुछ समय के बाद इन्होंने सब त्याग कर संन्यासी जीवन बिताने का निश्चय किया। पिता की मृत्यु के परिणामस्वरूप वैराग्य के प्रति इनका झुकाव बढ़ गया।

भ्रमण

फरवरी, 1509 में संन्यासी को गये। कुछ समय के बाद पुरी में आकर रहने लगे। उन्होंने गया की यात्रा अपने पिता के श्राद्ध के संबंध में की।[7] मयूरभंज तथा झारखंड के जंगली रास्ते से होकर बनारस, प्रयाग तथा मथुरा की भी तीर्थ यात्राएँ कीं। उतने से संतुष्ट न होकर वे दक्षिण भारत गये, जहाँ ट्रावनकोर के राजा रुद्रपति ने इनका भव्य स्वागत किया।[8] गुजरात का भ्रमण करते हुए वे पुनः पुरी लौट आए। इस प्रकार दक्षिण तथा उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए।[9] उन्होंने पुरी में माधवेन्द्र से भेंट की तथा कृष्ण को

---

1. ताराचंद, पृ० 218
2. डी० सी० सेन, पृ० 113
3. सुकुमार सेन, हिस्ट्री ऑफ बंगाली लिट्रेचर, पृ० 35
4. डी० सी० सेन, पृ० 127
5. भक्ति विनोद डे, पृ० 5
6. डी० सी० सेन, पृ० 13
7. भक्तिविनोद डे, पृ० 5, डी० सी० सेन, 129
8. डी० सी० सेन, पृ० 210
9. सुकुमार सेन, पृ० 83

बनाना चाहते थे ।[1] चैतन्य की भक्ति साधना के नौ प्रमुख सिद्धान्त हैं—

(i) **एकेश्वरवाद**—चैतन्य का विश्वास एकेश्वरवाद में था। हरि के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने अपने अलग-अलग गुणों को अद्वैत हरि से प्राप्त किया है। बैकुण्ठ के नारायण देवों के देव हैं। एकेश्वर के दो स्वरूप हैं—नारायण तथा कृष्ण और राधा ।[2]

(ii) **आदि शक्ति**—चैतन्य अपने इष्टदेव हरि को आदि शक्ति मानते थे। वेद में इसी को माया शक्ति, शास्त्रों में जीव शक्ति, आत्म शक्ति, चित्त शक्ति, परा शक्ति तथा अचिन्त्य भेदाभेद प्रकाश कहा गया है।

(iii) **रस-सागर**—कृष्ण रस के समुद्र हैं। रस का तात्पर्य भक्त तथा आराध्यदेव का प्रेम है। इसके कई भेद हैं—स्थायी भाव, विभव, अनुभव, सात्विक। स्थायी भाव को रति कहते हैं। इसी से अनुभव की उत्पत्ति होती है। सात्विक भाव में भक्त हर्ष तथा विषाद को जानता है।

(iv) **जीव-आत्मा**—आत्मा के आवागमन में चैतन्य का विश्वास था। यह परमात्मा का अंश है। इसका स्थान चित-जगत तथा माया जगत है। आत्मा माया के कर्म चक्र में बँधा हुआ है।

(v) **प्रकृति में बँधा हुआ**—प्रकृति, ईश्वरीय माया, प्रधान प्रपंच, अविद्या में फँसा हुआ आत्मा है। माया के तीन गुण हैं—सत्व, रजस तथा तमस। कर्म, अकर्म तथा विकर्म के कारण आत्मा का पतन होता है।[3]

(vi) **प्रकृति के बन्धन से मुक्त**—धर्म, योग, वैराग्य, हरिभक्ति रस, कृष्ण भक्ति रस से आत्मा प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता है।

(vii) **हरि का अचिन्त्य भेदाभेद प्रकाश**—परमात्मा आत्मा से भिन्न है, फिर भी दोनों का अंश एक है। ईश्वर अपरिवर्तनीय है तथा जीव उसी की कृति है। चित शक्ति (आत्मा) का जीव के रूप में प्रवेश चित जगत में होता है।

(viii) **भक्ति**—चैतन्य के अनुसार मोक्ष के लिए कर्म तथा ज्ञान मार्ग अत्यन्त कठिन है। अतः उन्होंने भक्ति की प्रधानता को मोक्ष के लिए एकमात्र साधन बताया। उनके अनुसार भक्ति मार्ग स्वतंत्र साधन है, जबकि कर्म तथा ज्ञान एक दूसरे पर आश्रित हैं। भक्ति तीन प्रकार का है—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेम भक्ति।

---

1. भक्तिविनोद डे, पृ० 15
2. वही, पृ० 17
3. वही, पृ० 27

अस्वीकार कर दिया था।[1] समाज में ब्राह्मणों के अत्याचार से सभी वर्ग क्षुब्ध तथा असन्तुष्ट थे। इस समय शाक्त तथा वैष्णव धर्म का बोलबाला था। शैव धर्म का धीरे-धीरे लोप हो रहा था।

डी० सी० सेन के अनुसार सभ्यता के इस अन्धकार युग में एक ऐसे सुधारक की आवश्यकता थी जो यह बता सके कि कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति मोक्ष का सरल साधन है और जो भ्रातृत्व की भावना के आधार पर सबको सामाजिक एकता के एक सूत्र में बाँध सके।[2] भाग्यवश चैतन्य जैसे सुधारक में ये सभी गुण विद्यमान थे।

उद्देश्य

कबीर तथा नानक की भाँति चैतन्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक असमानता को दूर कर पद दलित वर्ग को ऊँचा उठाना था। साथ ही वे शूद्रों को समानता का अधिकार देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोकना चाहते थे। इस प्रकार वे सामाजिक कुरीतियों को दूर करके ब्राह्मणों के प्रभुत्व को समाप्त करना चाहते थे। चैतन्य हिन्दू मुसलमानों में साम्प्रदायिक तथा ऊँच-नीच की भावनाओं को समाप्त कर समाज में सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे।

हम कह सकते हैं कि चैतन्य के सुधारों की पृष्ठभूमि रामानन्द, कबीर तथा गुरुनानक ने तैयार की थी। इसके साथ ही चैतन्य ज्ञान तथा कर्म सम्बन्धी मोक्ष के दुरूह साधनों की अपेक्षा भक्ति जैसे सरल साधन सभी के लिए सुलभ बनाना चाहते थे।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण

दक्षिण तथा उत्तर भारत का भ्रमण करते समय चैतन्य, विष्णु तथा राम की उपासना से अवगत थे। उन्होंने न तो विष्णु की उपासना को अपनाया और न राम की। चैतन्य ने कृष्ण को अपना आराध्यदेव स्वीकार किया। क्योंकि जयदेव, चण्डी दास तथा विद्यापति ने कृष्ण की आराधना के गीत गाकर उन्हें बंगाल तथा उड़ीसा में इतना लोकप्रिय बना दिया था कि इस वातावरण में राम अथवा विष्णु की भक्ति साधना का प्रचार चैतन्य के लिए बहुत ही कठिन कार्य होता।[3] ऐसी परिस्थिति में उन्होंने सभी वर्गों के प्रिय कृष्ण को ही अपना आराध्यदेव स्वीकार दिया। ज्ञान तथा कर्म मार्गों की कठिनाइयों को समझकर वे भक्ति साधना को सभी के लिए सुलभ

---

1. डी० सी० सेन, हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिट्रेचर, पृ० 10
2. डी० सी० सेन, पृ० 14
3. वही, पृ० 143

आत्म-समर्पण ही मोक्ष का सुलभ साधन है। बिना गुरु की कृपा के मोक्ष सम्भव नहीं है। यदि जीव कृष्ण की आराधना कर गुरु की सेवा करता है तो सांसारिक माया से मुक्त होकर कृष्ण के चरणों तक पहुँचने में समर्थ हो सकता है।[1] उन्होंने ब्राह्मणों के धार्मिक संस्कारों की कटु आलोचना की।

समाज सुधार

चैतन्य न केवल धर्मसुधारक बल्कि एक मध्ययुगीन समाज सुधारक भी थे। वे तत्कालीन परिस्थितियों से पूर्ण अवगत थे। समाज में कुलीन वर्ग के अत्याचार के कारण पद दलित वर्ग के लोग इस्लाम धर्म स्वीकार करके समानता का अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। डी० सी० सेन ने तत्कालीन समाज का बड़ा ही मार्मिक चित्रण करते हुए कहा है : "ब्राह्मणों की शक्ति से लोग पीड़ित थे। जाति प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच जाति प्रथा ने एक बड़ी खाई पैदा कर दी थी। उच्च वर्ग की प्रभुता के कारण निम्न वर्ग पीड़ित था, उनके लिए देवालय तथा शिक्षा संस्थाओं का द्वार बन्द था। पौराणिक धर्म पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। ऐसा प्रतीत होता था कि धर्म बाजार की वस्तु है"।[2] उन्होंने अन्य समाज सुधारकों की भाँति जाति प्रथा की आलोचना की। उनके शिष्यों में सभी जाति के लोग थे। संकीर्तन में सभी जाति के व्यक्ति भाग लेते थे। वे चमार तथा चाण्डाल से मिलकर आनन्द का अनुभव करते थे। कहा जाता है कि पददलित वर्ग के लोगों से गले मिल कर उनकी दुर्दशा पर आँसू बहाते थे।[3]

समन्वयवादी

इस्लाम का प्रभाव सम्पूर्ण बंगाल पर था। किसी भी समाज सुधारक के सामने यह जटिल समस्या थी कि हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच किस प्रकार सौहार्द पूर्ण वातावरण पैदा किया जाय। इसीलिए उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया।[4] हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद की पृष्ठभूमि बंगाल के हुसेन शाही शासकों ने पहले से प्रारम्भ की थी। उन लोगों ने रामायण तथा महाभारत का अनुवाद कराया तथा हिन्दुओं को दरबार में नियुक्त किया।[5] एकेश्वर की आराधना पर जोर दिया।

---

1. यदुनाथ सरकार : चैतन्याज पिलग्रिमेज एण्ड टीचिंग्स, पृ० 278
2. डी० सी० सेन, हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिट्रेचर, पृ० 413-14
3. वही, पृ० 283
4. के० एस० लाल, पृ० 310
5. ताराचन्द, पृ० 214

साधन भक्ति में भाव का विकास नहीं होता है, भाव भक्ति में भावनाओं का विकास होता है, प्रेम भक्ति में भक्ति भावना का स्वरूप क्रियान्वित होता है। वैधी भक्ति में भाव अविकसित रहता है, राग कृष्ण भक्ति का प्रधान है। भक्ति के साधन—

(i) हरि के नाम, स्वरूप तथा गुण को सुनना।
(ii) उनके नाम तथा गुणों का गीत गाना।
(iii) उनके नाम तथा गुणों का ध्यान करना।
(iv) उनके चरणों की सेवा करना।
(v) उनकी आराधना तथा पूजा करना।
(vi) उन्हें आत्म-समर्पण करना।
(vii) कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए सभी उपाय करना।
(viii) मैत्री भाव
(ix) संसार से वैराग्य लेकर उनके चरणों में पूर्ण रूप से समर्पण करना।[1]

चैतन्य ने अपना भक्ति भाव प्रकट करते हुए कहा था :—

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मीश्वरे भवताद्भक्ति रहैतुकी त्वयि॥

तथा

नयनं गलदश्रु धारया बदनं गग्ददरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति॥[2]

मोक्ष के लिए कृष्ण के प्रति भक्ति तथा प्रेम एवं बाल लीला का ध्यान ही मोक्ष का एक मात्र साधन है। उसके लिए शांति, दास्य, साख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव आवश्यक हैं।[3]

यद्यपि चैतन्य स्वयं संन्यासी थे, परन्तु वे नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य गार्हस्थ्य का परित्याग करके मोक्ष के लिए संन्यासी बनें। उन्होंने अपने शिष्य नित्यानन्द को संन्यास छोड़कर शादी तथा गृहस्थ जीवन के लिए प्रोत्साहित किया।[4]

रामानुज, कबीर तथा नानक की भाँति चैतन्य ने मोक्ष के लिए गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया। सभी के लिए उन्होंने प्रपत्ति मार्ग बताया। गुरु के समक्ष

---

1. श्री भक्तिविनोद डे, पृ० 34
2. वही, अपेंडिक्स, पृ० II
3. के० एस० लाल, पृ० 309
4. वही, पृ० 310

है। कबोर तथा गुरुनानक की भाँति चैतन्य ने भी धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करके समय की आवश्यकता के अनुसार सुधार का नारा लगाया। धार्मिक कुरीतियों का खण्डन करके मोक्ष के लिए भक्ति को सुलभ साधन बताया। शूद्रों को समाज में समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। नानक तथा कबीर की भाँति चैतन्य ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर बंगाल में साम्प्रदायिक भेद-भाव को समाप्त करने का सफल प्रयास किया। उनकी मानव समाज सेवा स्तुत्य है। इस प्रकार मध्य युगीन सुधारकों में चैतन्य का स्थान बहुत ऊँचा है।

आध्यात्मिक समाज सुधारक श्रीमद्वल्लभाचार्य

भारतोय सभ्यता के अंधकार युग में हिन्दू संस्कृति के दीपक श्रीमद्वल्लभाचार्य का जन्म 1479 में चम्पारण्य में हुआ था।[1] इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम यल्लमगरु था। ये लोग वाराणसी में रहते थे। मुस्लिम प्रशासन के आतंक से भयभीत होकर लक्ष्मण भट्ट अपनी गर्भवती पत्नी के साथ दक्षिण की ओर चले गये। चम्पारण्य पहुँचने पर समय से दो मास पूर्व लक्ष्मण भट्ट की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। नवजात शिशु के बचने की आशा न देख कर दम्पती ने उसे उसी स्थान पर छोड़ दिया। रात्रि के स्वप्न में ईश्वर ने आदेश दिया कि बालक जीवित है, घर ले आओ। दूसरे दिन इनकी माँ उस स्थान पर गईं और शिशु को जीवित देख कर घर ले आईं। बच्चे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण माता-पिता ने इनका नाम वल्लभ रखा। कुछ समय के वाद लक्ष्मण भट्ट सपरिवार वाराणसी लौट आए।[2]

लक्ष्मण भट्ट स्वयं विद्वान् थे। सात वर्ष की अवस्था में वल्लभ की शिक्षा वाराणसी के प्रकांड विद्वानों के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई। थोड़े समय में चारों वेद, भारतीय दर्शन की सोलह विधियों के अतिरिक्त, उन्होंने शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा निम्बार्क के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया। बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि धर्म और दर्शन में थी। लक्ष्मण भट्ट अपने पुत्र को प्रकांड विद्वान् बनाना चाहते थे। परन्तु उनको आकस्मिक मृत्यु ने ग्यारह वर्षीय वल्लभ के लिए

---

1. जे० सी० शाह, श्रीमद्वल्लभाचार्य, हिज फिलासफी एंड रेलिजन, पृ० 4 के० एस० लाल, (पृ० 305) ने इनका जन्म वाराणसी में माना है। परन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

2. वही, पृ० 4

ऐसे लोगों को सत्य पीर कहा जाता था।[1] इस प्रकार गौड़ के शासकों ने अकबर की उदारवादी नीति का पथ प्रदर्शन किया। अनेक उदाहरणों से इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि चैतन्य के हृदय में मुसलमानों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वे इस्लाम के आदर्शों से प्रभावित थे।[2]

हरिदास ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, परन्तु चैतन्य ने उन्हें अपना शिष्य बनाया।[3] चैतन्य ने कहा था कि तुम्हारे स्पर्श से मेरा शरीर पवित्र हो जाता है।[4] सनातन, जग्गी तथा माधाई जैसे धर्म परिवर्तित मुसलमानों को अपना शिष्य बनाकर उन्होंने सौहार्दपूर्ण वातावरण का सृजन किया। कर्नाटक के रूप तथा सनातन ब्राह्मणों को हुसेन शाह ने दबीर-ए-खास तथा सरकार मलिक के पदों पर नियुक्त किया था।[5] चैतन्य ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया था।

मानवतावाद

चैतन्य मानवतावादी थे। उन्होंने पददलित लोगों की सेवा को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया था।[6] पीड़ित जन समुदाय के कष्टों को दूर करके उसका जीवन सुखमय बनाना चाहते थे। उसकी दुर्दशा देखकर और उसके कष्टों का अनुभव कर चैतन्य आँसू बहाते थे। वे नहाने वालों का कपड़ा धोते थे। पंगु को अपने कन्धे पर बिठाकर स्नान के लिए ले जाते थे।[7] मानव सेवा के माध्यम से उन्होंने प्रेम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मूल्यांकन

श्रीमती बेवरिज के अनुसार चैतन्य मार्टिन लूथर की भाँति धर्म में मूल परिवर्तन नहीं बल्कि जार्ज नाक्स की तरह धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों को समाप्त कर सुधार करना चाहते थे।[8] डॉ मैकनिकल तथा अण्डरउड ने चैतन्य को एक महान् सुधारक माना है। डॉ॰ एण्डरसन तथा कारपेण्टर ने भी उनके सुधारों की प्रशंसा की

---

1. ताराचन्द, पृ॰ 217
2. वही, पृ॰ 218-219
3. सुकुमार सेन, पृ॰ 87
4. डी॰ सी॰ सेन, पृ॰ 281
5. भक्तिविनोद डे, पृ॰ 12
6. डी॰ सी॰ सेन, पृ॰ 276
7. वही, पृ॰ 140
8. वही, पृ॰ 267

इस समय आचार्यश्री वल्लभाचार्य की अवस्था 52 वर्ष की हो चुकी थी। अपने जीवन का अन्तिम समय जान कर उन्होंने अपने परिवार तथा शिष्यों से विदा माँगी। वाराणसी में हनुमान घाट पर गंगा में स्नान करते हुए दिव्य ज्योति में विलीन होकर भौतिक जगत सदैव के लिए त्याग कर दिया।[1]

आध्यात्मिक दृष्टिकोण

वल्लभाचार्य न केवल दार्शनिक बल्कि एक महान् धर्म-चिन्तक भी थे। अपने समय के सभी धर्मों का अध्ययन करके उन्होंने अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण निश्चित किया जिसे हम बौद्धिक धर्म नहीं अपितु हृदय धर्म की संज्ञा दे सकते हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा निम्बार्क की भाँति वल्लभाचार्य भी दार्शनिक धर्म चिन्तक थे। उनकी दृष्टि में धर्म के अभाव में दर्शन उजाड़ है तथा दर्शन के अभाव में धर्म अन्धा है। ईश्वर के सम्बन्ध में दर्शन विचार है तथा धर्म अनुभव है।

मोक्ष के तीन साधन हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। प्रथम दो साधन सभी के लिए दुरूह हैं। अतः वल्लभाचार्य ने भक्ति साधना पर विशेष जोर दिया। भक्ति ही मोक्ष का साधन तथा उद्देश्य है। उन्होंने भक्ति वर्धिनी नामक पुस्तक में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। उनके सुपुत्र विट्ठलेशजी ने अपनी रचना 'भक्ति हेतु' तथा 'भक्ति हंस' में इस विषय पर चर्चा की है। योगी गोपाश्वर ने भक्ति मार्तण्ड में वल्लभाचार्य के विचारों की पुष्टि की है।

वल्लभाचार्य के भक्ति मार्ग को पुष्टि मार्ग कहते हैं। पुष्टि मार्ग का लक्ष्य ईश्वरी अनुभूति को प्राप्त करना है। मर्यादा भक्ति का लक्ष्य, जीव का प्रकृति से स्वतन्त्रता है। मर्यादा भक्ति मनुष्य के प्रयासों पर निर्भर है, जबकि पुष्टिमार्ग स्वयं ईश्वर पर निर्भर है।

भक्ति की दो शाखायें हैं—(1) साधन रूप अथवा मर्यादा भक्ति—इसके 9 स्वरूप हैं—

(i) कृष्ण के कार्यों का अध्ययन तथा श्रवण।
(ii) ईश्वर के नाम का भजन अथवा कीर्तन।
(iii) कृष्ण लीला का स्मरण।
(iv) कृष्ण की वंदना।
(v) अर्चना।
(vi) पाद सेवन।

---

1. जे० सी० शाह, पृ० 49-50

कठिनाइयाँ पैदा कर दीं। परन्तु माँ ने पुत्र की शिक्षा में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने दी।[1]

अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद वल्लभाचार्य ने भारतवर्ष की यात्रा की। पुनः वाराणसी लौटने पर माता के परामर्श से देवमभट्ट की पुत्री महालक्ष्मी से शादी कर ली। इन्हें दो पुत्र हुए। गोपीनाथ का जन्म 1511 तथा विट्ठलनाथ का जन्म 1516 में हुआ।[2]

भ्रमण

वल्लभाचार्य की रुचि भ्रमण में थी। इसे वह शिक्षा का अंग मानते थे। चित्रकूट की यात्रा समाप्त कर वे दक्षिण भारत में विजयनगर हिन्दू राज्य में पहुँचे। कृष्णदेव राय ने धार्मिक चर्चा के लिए आमंत्रित किया। धार्मिक चर्चा में इन्होंने शंकराचार्य के शिष्यों को परास्त किया। कृष्णदेव राय ने वल्लभाचार्य को आचार्यश्री की उपाधि से विभूषित किया।[3] विजयनगर राज्य के धर्म प्रधान इन्हें मध्वा सम्प्रदाय का प्रधान बनाना चाहते थे। परन्तु वल्लभाचार्य ने इस प्रतिष्ठा को अस्वीकार कर दिया। इन्होंने पंपा सरोवर, ऋष्यमूक पर्वत, श्रीशैल, रामेश्वरम्, धनुषकोटि, श्री वैकुंठ क्षेत्र की भी यात्राएँ कीं। कुछ समय के बाद जनार्दन क्षेत्र, श्रीरंगपट्टम का भ्रमण कर उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। मथुरा तथा ब्रजभूमि वल्लभाचार्य का सब से प्रिय स्थान था। मथुरा से आचार्यश्री ने पुष्कर होते हुए आबू पर्वत के अम्बिका वन का भ्रमण किया। सिंध में रोहारी, प्रह्लाद पर्वत होते हुए कुरुक्षेत्र पहुँचे। इन्होंने अयोध्या, प्रयाग, विंध्य क्षेत्र, हरिहर क्षेत्र,. गया, गंगा सागर तथा जगन्नाथपुरी की भी यात्राएँ कीं।

भारतवर्ष का विस्तृत भ्रमण के पश्चात् इन्होंने वाराणसी में अपना शेष जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। यहाँ पर वल्लभाचार्य ने पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा की व्याख्या लिखी। वाराणसी के पण्डितों के उग्र विरोध के कारण उन्होंने प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम के समीप अरैल नामक स्थान पर रहने का निश्चय किया। यहाँ उन्होंने पूर्व मीमांसा सूत्र की व्याख्या लिखना प्रारम्भ किया, परन्तु उसे पूर्ण न कर सके। तीन भाग में तत्व दीप निबन्ध की रचना उनकी अमर कृति है। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या उन्होंने अनुभाष्य में की। भागवतर्थ प्रकाश तथा सुबोधिनी व्याख्या की भी उन्होंने रचना की।

---

1. वही, पृ० 5
2. वही, पृ० 47
3. वही, पृ० 11-18

शाह के अनुसार—वल्लभाचार्य आध्यात्मिक समाज सुधारक थे।[1] उनका सामाजिक दर्शन सार्वभौम धर्म पर आधारित था।

जाति प्रथा का खण्डन

मध्ययुगीन अन्य समाज सुधारकों की भाँति वल्लभाचार्य ने जाति प्रथा का विरोध किया। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की व्यवस्था की गई। इसका आधार कर्म था, जन्म नहीं। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।[2] वल्लभाचार्य के अनुसार चातुर्वर्ण्य का तात्पर्य एक वचन है न कि चतुर्वर्ण बहुवचन।[3] मनुष्य की जाति का आधार गुण तथा कर्म है न कि जन्म।[4] उनकी दृष्टि में मध्ययुगीन जाति व्यवस्था को स्वीकार करने का तात्पर्य वैदिक कालीन व्यवस्था का विरोध करना है। उनकी दृष्टि में समाज के हितों को ध्यान में रखकर वर्ण व्यवस्था की गई थी। परन्तु तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था वर्तमान समाज के लिए अहितकर थी।

वैदिक काल से ही शूद्रों की स्थिति दयनीय रही है। उन्हें देवालय में दर्शन करने तथा वेद का अध्ययन करने की अनुमति नहीं थी। वल्लभाचार्य की दृष्टि में शूद्र निम्न नहीं हैं, अन्य वर्गों की सेवा करके वे ईश्वर की सेवा करते हैं।[5] वे शूद्रों को इसी आधार पर उच्च जाति का मानते थे। उन्हें भक्त के रूप में ईश्वर की आराधना करने का अधिकार अन्य लोगों के समान है। इस अधिकार को प्राप्त कर उन्हें सामाजिक व्यवस्था का विरोध नहीं करना चाहिए।[6] वल्लभाचार्य समाज में यथा स्थिति के प्रबल समर्थक थे।

समन्वयवादी

राजनीति से अलग रहकर वल्लभाचार्य धर्म तथा संस्कृति के माध्यम से हिंदू-मुसलमानों के बीच सामंजस्य चाहते थे। उनका द्वार शूद्रों, अछूतों तथा मुसलमानों के लिए सदैव खुला रहता था।[7] उनके पुत्र विट्ठलेश तो इस दृष्टि से अपने पिता से

---

1. जे० सी० शाह, पृ० 264-65
2. गीता, 4-13
3. जे० सी० शाह, पृ० 267
4. वही, पृ० 267
5. वही, पृ० 270
6. वही, पृ० 270
7. वही, पृ० 270

(vii) दास्य।
(viii) साख्य।
(xi) आत्म निवेदन।[1]

भक्ति का उद्देश्य प्राप्ति के रूप में दूसरा स्वरूप प्रेम लक्षणा भक्ति है। इस अवस्था में भक्त कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित करता है। इसी को पुष्टि मार्ग कहते हैं।[2]

ब्रह्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण शुद्धाद्वैतवाद था। वह सृष्टि का कर्त्ता है, संसार के कण-कण में विद्यमान है। संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ उस एकेश्वर के गुण हैं। संसार माया से पूर्ण नहीं अपितु ईश्वरी गुणों से पूर्ण है। आत्मा ब्रह्म का अंश है। प्रकृति के सम्बन्ध के कारण आत्मा संघर्षरत है।[3]

वल्लभाचार्य की दृष्टि में मोक्ष के लिए गुरु का अनुग्रह आवश्यक है। बिना गुरु की कृपा से मनुष्य सांसारिक बन्धन से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। उन्होंने प्रपत्ति मार्ग का अनुमोदन किया। गुरु के समक्ष समर्पण तथा गुरु के द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

समाज सुधार

डॉ० एस० राधाकृष्णन् के अनुसार आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल हिन्दू धर्म के आधार पर समाज सुधार होना चाहिए।[4] सामाजिक सुधार के क्षेत्र में वल्लभाचार्य की उपलब्धियों की समीक्षा इन्हीं शब्दों पर आधारित है। तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं का अध्ययन करके हिन्दू धर्म के आधार पर उन्होंने समाज सुधार करने का निश्चय किया। वल्लभाचार्य पहले सुधारक हैं जिन्होंने सम्पूर्ण भारत वर्ष की विस्तृत यात्रा की तथा समाज के सभी वर्गों से मिलकर अनुभव प्राप्त किया था। इस्लाम के प्रभाव के कारण सनातन धर्म का अस्तित्व खतरे में था। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था का पुनरुज्जीवन असम्भव प्रतीत होता था। वल्लभाचार्य रूढ़िवादी थे, परन्तु धर्म की आधार शिला पर तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार समाज में परिवर्तन भी करना चाहते थे। प्रो० जे० सी०

1. जे० सी० शाह, पृ० 165
2. वही, पृ० 165
3. वही, पृ० 125
4. डॉ० एस० राधाकृष्णन्, रिलिजन एण्ड साइन्स, पृ० 115

विकास सम्भव है। उन वेश्याओं के प्रति उनकी सहानुभूति थी जो भक्ति भावना को अपनाना चाहती थीं।[1] प्रेम विवाह में जाति प्रथा बाधक नहीं थी। वल्लभाचार्य तथा उनके सुपुत्र विट्ठलेश ने अन्तरजातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया। शूद्र कन्याओं का राजपूतों से उन्होंने विवाह कराया।[2]

आर्थिक दृष्टिकोण

वल्लभाचार्य धन संग्रह के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में धनी तथा गरीब में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर गरीबों के सेवा-भाव को अधिक चाहता है। धन ईश्वर का है, अतः मनुष्य को इस पर गर्व नहीं करना चाहिए। इनके अनुयायियों में अनेक धनी लोग जैसे राजा अक्षरण, राजा टोडरमल तथा वाराणसी के सेठ पुरुषोत्तम थे। परन्तु उनकी विशेष सहानुभूति गरीबों के प्रति थी। उन्होंने ईमानदारी से धनोपार्जन पर जोर दिया।

मानवतावाद

समाज सेवा वल्लभाचार्य का लक्ष्य था। समाज के प्रति प्रेम का तात्पर्य ईश्वर के प्रति प्रेम करना है। समाज सेवा भक्ति भावना की चरम सीमा है। सामाजिक विज्ञान तथा सामाजिक दर्शन के ज्ञान द्वारा समाज सुधार असम्भव है। धर्म के परिवेश में समाज सेवा द्वारा सुधार करना उनकी दृष्टि में उपयोगी होगा। समाज सेवा को उन्होंने ईश्वर सेवा के रूप में स्वीकार किया। मानवता के प्रति प्रेम बिना ईश्वर में विश्वास व्यर्थ है। उन्होंने कहा था कि सभी मनुष्यों के प्रति अच्छा और प्रेमी बनो, क्योंकि वे ईश्वर की संतान हैं।[3]

समीक्षा

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार हिन्दू धर्म का स्वरूप प्रगतिवादी नहीं अपितु रूढ़िवादी है। अतः परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है। प्रो० जे० सी० शाह की दृष्टि में हिन्दू धर्म में सबसे अधिक लोच तथा प्रगतिवादिता है। इसी कारण समय-समय पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विद्वानों ने व्यवस्थाएँ दीं हैं।[4] डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार "एक सजीव समाज की विशेषता निरंतरता तथा परिवर्तनशीलता की शक्ति है। एक जंगली समाज में शायद ही एक वंश के बाद

---

1. जे० सी० शाह, पृ० 274
2. वही, पृ० 275
3. वही, पृ० 294
4. वही, पृ० 349

भी आगे थे। उनके उदारवादी विचारों से प्रभावित होकर अकबर ने उन्हें गोस्वामी की उपाधि से विभूषित किया।[1] जहाँगीर भी इस विचार धारा से इतना प्रभावित था कि उसने वल्लभाचार्य के अनुयायियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनाई।[2]

मथुरा (ब्रज) के अधिकारी अली खाँ पठान का विश्वास पुष्टि मार्ग में था। वह कृष्ण के मन्दिर में दर्शन करता था। उसने ब्रज में फूल तथा पत्तों के तोड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसकी पुत्री खानजादी कृष्ण के विरह में अविवाहित हो रह गई।[3] मुगल दरबार के नवरत्न तानसेन का सम्बन्ध वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय से था। वे विट्ठलेश के शिष्य थे। एक मुस्लिम स्त्री कुंजरी की प्राण रक्षा विट्ठलेश ने की थी। बागी खाँ तथा रसखान भी विट्ठलेश के शिष्य थे।[4] वल्लभाचार्य ने उन सभी मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया जो उनकी भक्ति साधना को स्वीकार करने के लिए तैयार थे।[5] उन्होंने अंतरसाम्प्रदायिक हिन्दू मुसलमानों के विवाह तथा एक साथ भोजन करने को स्वीकृति नहीं दी, परन्तु हिन्दू मुसलमानों के बीच प्रेम विवाह के विरुद्ध नहीं थे।[6]

स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण

वल्लभाचार्य का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण वैदिककालीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित था। धार्मिक जीवन में इनका स्थान पुरुषों के बराबर था। आराधना तथा यज्ञ में वे अपने पति के साथ भाग ले सकती थीं। उन्हें वेद अध्ययन तथा उपनयन धारण करने की अनुमति थी।[7] स्त्रियों के दो वर्ग थे। अविवाहित स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी कहते थे, जिन्हें ब्रह्म विद्याध्ययन का अधिकार था। और दूसरा वर्ग सद्योवादिनी विवाहित स्त्रियों का था। मुस्लिम प्रशासन में स्त्रियों की दशा अधिक गिर गई थी। धर्म के क्षेत्र में वल्लभाचार्य ने उनकी गिरी हुई दशा में सुधार करने का प्रयास किया। वल्लभाचार्य की दृष्टि में स्त्री पुरुष में कोई भेद नहीं है, क्योंकि उनकी आत्मा समान है। गुणवती स्त्रियों के माध्यम से पुरुषों में भक्ति भावना का

1. जे० सी० शाह, पृ० 270
2. वही, पृ० 271
3. वही, पृ० 271
4. वही, पृ० 271
5. वही, पृ० 272
6. वही, पृ० 272
7. वही, पृ० 273

समर्थक थे। तत्कालीन परिस्थितियों में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए मुसलमानों का अस्तित्व समाप्त करना सम्भव नहीं था। उनके सहयोग तथा सहानुभूति को प्राप्त करके ही हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा सम्भव थी। हिन्दू समाज, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए ही उन्होंने समन्वयवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने एक ऐसा औषधि तैयार किया जो मृतप्राय हिन्दू संस्कृति को नव जीवन प्रदान कर सके।

प्रो० जे० सी० शाह के शब्दों में मुस्लिम प्रशासन में हतोत्साहित हिन्दुओं के लिए गौरव का उपदेश लेकर वे समाज के समक्ष आये। विश्व क्षितिज पर दार्शनिकों के बीच वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनका सिद्धान्त सार्वभौमिक प्रेम, सत्यं शिवम् सुन्दरम् तथा मानव जीवन की एकता पर आधारित था।[1]

लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास

भक्त शिरोमणि, हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक गोस्वामी तुलसीदास का जन्म उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में राजापुर गाँव में एक सरयूपारी ब्राह्मण परिवार में सं० 1554 में हुआ था। जन्म के समय नवजात शिशु के कुछ अद्भुत लक्षण थे। इनके मुख में कुछ दाँत थे, और उन्होंने 'राम' शब्द कहा। इन अशुभ लक्षणों के कारण माता-पिता इनके प्रति उदासीन थे। दासी मुनिया ने इस बच्चे का पालन-पोषण किया। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर उसकी भी मृत्यु हो गई। परिवार से परित्यक्त होने के बाद तुलसीदास इधर-उधर भटकते रहे। वैष्णव सम्प्रदाय के एक साधु तथा रामानन्द के शिष्य नरहरिदास से भाग्यवश इनकी भेंट हो गई। उन्होंने तुलसीदास को धार्मिक शिक्षा दी। अपने साथ नरहरिदास इन्हें अयोध्या ले आये और राम नाम का मंत्र दिया। दस महीने के बाद गोंडा जिले में सरयू नदी के किनारे सूकर खेत ले गये। यहाँ पाँच वर्ष तक रहकर नरहरिदास ने इन्हें राम की कथा का ज्ञान कराया।[2] तुलसीदास ने रामचरित मानस में स्वीकार किया है कि यहीं उन्होंने अपने इष्टदेव राम की कथा का श्रवण किया। गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए तुलसीदास जी ने एक स्थल पर कहा है कि मनुष्य (नर) के रूप में ईश्वर (हरि) थे।[3] शेष सनातन-जी तुलसी की प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नरहरिदास जी से निवेदन किया कि तुलसी की शिक्षा का उत्तरदायित्व कुछ समय के लिए उन्हें दे दें। नरहरिदास ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

---

1. वही, पृ० 374
2. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 395
3. वही पृ० 396

दूसरे वंश मे प्रगति होती है। परिवर्तन को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, समाज की सारी शक्तियाँ यथास्थिति को कायम रखने में लगाई जाती हैं। सभ्य समाज में प्रगति तथा परिवर्तन कार्यों की आत्मा हैं। हिन्दू धर्म में परिवर्तन का द्वार सदैव खुला है।"[1]

पन्द्रहवीं सदी में इस्लाम के प्रभाव तथा हिन्दुओं के जीवन को ध्यान में रख कर महान् समाज एवं धर्म सुधारक, प्रकांड विद्वान्, दार्शनिक एवं हिन्दू संस्कृति के प्राण श्रीमद्वल्लभाचार्य के कार्यों का मूल्यांकन करना चाहिए। उन्होंने अनुभव किया कि मुस्लिम प्रशासन में हिन्दू धर्म का अस्तित्व खतरे में है। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल हिन्दू धर्म में सुधार करना चाहिए। मार्टिन लूथर की भाँति वे क्रांतिकारी होकर धर्म में आमूल परिवर्तन नहीं बल्कि एक सुधारक के रूप में प्राचीन तथा आधुनिक धार्मिक स्वरूपों के बीच समन्वय चाहते थे। प्राचीन धर्म को त्यागकर नया धर्म चलाना उनका उद्देश्य नहीं था। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप वे धर्म में परिवर्तन चाहते थे। उनका हिन्दू धर्म नवीन होते हुए वैदिक धर्म पर आधारित था। प्रो॰ जे॰ सी॰ शाह के शब्दों में मुस्लिम प्रशासन में हिन्दू धर्म की रक्षा का एकमात्र श्रेय वल्लभाचार्य को है।[2]

मध्ययुगीन समाज सुधारकों की भाँति उन्होंने भी जाति प्रथा की आलोचना करके शूद्रों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। उन्हें सामाजिक समानता का अधिकार देकर समाज का सर्वश्रेष्ठ वर्ग स्वीकार किया, क्योंकि वे मानव समाज की सेवा कर ईश्वर की सेवा करते हैं। इतना करते हुए भी उन्होंने ब्राह्मणों को असन्तुष्ट नहीं किया। उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग को संतुष्ट करके समाज सुधार करना उनके अद्भुत मस्तिष्क की उपज थी। नानक तथा कबीर के समाज सुधार से उच्च वर्ग अप्रसन्न था। परन्तु उन्होंने दोनों को यथा शक्ति प्रसन्न रखने का प्रयास किया।

कर्म तथा ज्ञान की दुरूहता को देखकर वल्लभाचार्य ने भक्ति को सभी के लिए सुलभ साधन बताया। समाज का शिक्षित तथा अशिक्षित वर्ग इसी से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गुरु के महत्व को बताकर प्रपत्ति मार्ग का अनुमोदन किया। मानवतावाद के सिद्धांत के आधार पर समाज के पीड़ित वर्ग की सेवा पर बल दिया। इसे ईश्वर की सेवा का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया।

कबीर तथा नानक की भाँति वल्लभाचार्य हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद के प्रबल

---

1. डॉ॰ राधाकृष्णन्, सोसाइटी एण्ड रिलिजन, पृ॰ 113
2. जे॰ सी॰ शाह, पृ॰ 351

नौकरी स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था। तुलसीदास जी ने कहा है—

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिं ॥

गोस्वामी जी के तीन मुख्य उद्देश्य थे—(i) प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की रक्षा, (ii) शूद्रों को अधिकार देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोकना और (iii) भक्ति के माध्यम से मोक्ष का सरल साधना बताना।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण

गोस्वामी तुलसीदास एक ऐसे इष्टदेव को स्वीकार करना चाहते थे जो समाज के सभी वर्गों को लोकप्रिय हो। शिव, विष्णु तथा कृष्ण की उपासना का अधिक प्रचलन था, परन्तु गोस्वामी जी ने राम को ही अपना आराध्य देव अपनाया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने समान भाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से मिलकर अपनी लोकप्रियता का परिचय दिया था। उनकी दृष्टि में महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम, अत्रि, निषाद, सेवरी, राक्षस विभीषण, रीछपति जामवन्त तथा कपिपति सुग्रीव में कोई अन्तर नहीं था। उनके उपास्य देव राम सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। जहाँ उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग में संघर्ष था, राम की आराधना से ही समस्या का समाधान सम्भव था। 'मानहु एक भगत कै नाता' के सिद्धांत से गोस्वामी जी हिन्दू समाज के संघर्ष को समाप्त करना चाहते थे।

भक्ति मार्ग

कर्म तथा ज्ञान की कठिनाइयों को देखकर उन्होंने भक्ति साधना पर विशेष जोर दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में मोक्ष प्राप्त करने का सबसे सरल साधन भक्ति ही है। गोस्वामी जी की दृष्टि में भक्ति के नौ प्रकार हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथी भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥35
मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहुकरमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक कर लेखा ॥
आंठव जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहि देखहुँ परिदोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मय भरोस हिय हरश न दीना ॥

तुलसीदासजी ने सनातन जी के साथ पन्द्रह वर्ष तक रहकर वेद, वेदान्त तथा पाणिनि के व्याकरण का अध्ययन किया। शिक्षा समाप्त कर राजापुर लौट आये। उन्होंने रत्नावली नामक कन्या से शादी की, परन्तु वैवाहिक जीवन से क्षुब्ध होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर दिया। एक संन्यासी के रूप में रामेश्वर, द्वारिका, पुरी तथा बद्रिकाश्रम की तीर्थयात्रा की। अन्त में उन्होंने वाराणसी में स्थायी रूप से रहने का निश्चय किया। यहाँ से कभी-कभी वे अयोध्या तथा चित्रकूट की यात्रा करते थे।[1]

तत्कालीन परिस्थितियाँ

जिस समय गोस्वामी तुलसीदास ने अपना सन्देश दिया उस समय भारतवर्ष पर मुस्लिम शासन की स्थापना हो चुकी थी। अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम आक्रमणों तथा इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव से हतोत्साहित हो चुके थे। हिन्दू संस्कृति की रक्षा की साहस टूट चुकी थी। मध्ययुगीन धर्म तथा समाज सुधारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अनेक मतों का प्रतिपादन किया था। हिन्दू समाज में चतुर्दिक निराशा, अव्यवस्था तथा अराजकता थी। मुस्लिम समाज में समानता के अधिकार से आकृष्ट होकर पददलित वर्ग के लोग इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार थे। तुलसीदास जी ने तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए कहा है—

कलिमल ग्रसे धरम सब, लुप्त भये सद् ग्रंथ।
दंभिन्ह निज मत कलप करि; प्रकट किये बहु पंथ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे कबीर, दादू, रैदास, नानक, चैतन्य के विचारों से सन्तुष्ट नहीं थे। क्योंकि उन्होंने हिन्दू संस्कृति स्रोत वेद आदि की उपेक्षा की थी।

उद्देश्य

गोस्वामी तुलसीदास तत्कालीन परिस्थितियों में जिन उद्देश्यों के साथ समाज के समक्ष उपस्थित हुए, उनकी पूर्ति करना सरल कार्य नहीं था। वल्लभाचार्य की भाँति उनका सामाजिक दृष्टिकोण रूढ़िवादी था। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन न करके वे यथास्थिति के प्रबल समर्थक थे। कबीर, नानक और चैतन्य ने शूद्रों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए जो आन्दोलन किया उससे हिन्दू समाज में अशांति की स्थिति आ गई थी। ऐसी परिस्थिति में गोस्वामी जी का मुख्य उद्देश्य शूद्रों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोकना तथा हिन्दू समाज में यथास्थिति कायम रखना था। हिन्दुओं की आर्थिक परिस्थितियों ने मुगल प्रशासन में

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 396

नहीं है। निर्गुण, निराकार तथा अदृष्ट ब्रह्म भक्ति से सगुण हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म सगुण में उसी तरह दिखाई देता है जैसे जल में हिम तथा ओला दिखाई देता है। गोस्वामी जी का विश्वास सगुण सथा निर्गुण ब्रह्म में था :—

जगत प्रकाश्य, प्रकाशक रामू ॥

अद्वैत ब्रह्म राम के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत प्रकाशित है। यहाँ पर उनका मत शंकराचार्य के अद्वैत मत से मिलता है। 'एकों सद् विप्रा बहुधा बदंति।' राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में गोस्वामी जी देखते हैं।

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।

उनके राम अविगत, अलख, अनादि तथा निराकार हैं। वही, निर्गुण, निराकार राम सगुण भी हैं।

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। राजा राम स्वबस भगवानू ॥

यहाँ पर तुलसी दास जी ने नाना पुराण, निगमागम, वेद भागवत तथा गीता का अनुकरण किया है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि :—

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्।
नान्यत त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम् ॥

आत्मा

तुलसीदास आत्मा को शाश्वत, सत्य तथा ईश्वर का अंश स्वीकार करते हैं।

ईश्वर अंस जीव अबिनासी।

परन्तु मनुष्य के शरीर में अज्ञानता तथा माया के कारण वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करमु स्वभाव गुन घेरा ॥

भक्ति के माध्यम से वह ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है तथा आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। तुलसीदास जी ने कहा है—

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बध्यो कीर मरकट की नाईं ॥[1]

ईश्वर, माया तथा आत्मा के सम्ब्रन्ध गोस्वामी जी ने कहा है—

एतना मन आनत खग राया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥

× × ×

1. उत्तरकाण्ड, 116, 1, 2

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ।।
सो अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।।[1]

साधु संगत मेरी जीवन-कथा के प्रति प्रेम, गुरु सेवा, शुद्ध हृदय से मेरे कार्यों का संकीर्तन, मन्त्र का जप, अच्छा आचरण, सद् मार्ग पर चलना, मुझसे बढ़कर गुरु को समझना, सन्तोष, सबके साथ सद्व्यवहार, मुझमें विश्वास आदि भक्ति के नौ प्रकार हैं। उत्तर काण्ड में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने भक्ति की तुलना चिंतामणि से की है, जिसके प्रकाश से अन्धकार रूपी अज्ञानता दूर होती है। भक्ति भावना से प्रकाशित हृदय को काम, क्रोध, मद, लोभ दूषित नहीं कर सकते हैं।

ब्रह्म

शंकराचार्य के अद्वैत तथा निराकार ब्रह्म की अपेक्षा साकार ब्रह्म को तुलसीदास जी ने अधिक लोकप्रिय बना दिया। गोस्वामी जी की सबसे बड़ी देन यह है कि उनके ब्रह्म पृथ्वी पर अवतार लेकर मनुष्यों के बीच आते हैं और उनसे मिलकर उनके दुःखों की अनुभूति करते हैं। उनका विश्वास न तो निर्गुण ब्रह्म में था और न वे जंगल की गुफा में तपस्या करके ब्रह्म की प्राप्ति में। उनके ब्रह्म मनुष्य की भाँति रहकर, दुःख, सुख का अनुभव कर, दुःख संतप्त आत्मा को शान्ति प्रदान करते हैं।

शिव पार्वती सम्बाद के माध्यम से उन्होंने सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म की जटिल समस्या पर प्रकाश डाला है—

प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादि ।।
सेस सारदा वेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना ।।
रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई ।।

सो नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति मोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।108।।[2]

शिव ने पार्वती की शंका का समाधान करते हुए कहा—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भरत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे। जलु हिम उपल विलग नहिं जैसे ।।[3]

वेद, पुराण तथा महर्षियों के अनुसार सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद

1. अरण्य काण्ड, 34-4; 35-4
2. बालकाण्ड, 107, 3-4, 108
3. वही, 115, 1, 2

स्त्री मर गई, उसे संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा. और वह चट संन्यासी हो गया। सारा देश नाना सम्प्रदाय के साधुओं से भर गया था। अलख की आवाज गर्म थी, हालांकि अलख के लखने वाले कुछ भी नहीं लख सकते थे। शिक्षा और संस्कृति के अभाव में आत्म विश्वास ने गर्व का रूप धारण कर लिया था। आध्यात्मिक साधना से दूर पड़े हुए ये गर्वमूढ़ पण्डितों और ब्राह्मणों की बराबरी करते थे। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थीं। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पण्डितों और ज्ञानियों का समाज के साथ कोई सम्पर्क नहीं था। सारा देश विशृंखल आदर्श-हीन, और लक्ष्यहीन हो रहा था। एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर विभ्रष्ट टुकड़ों में योग सूत्र स्थापित करे। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे समय में ही हुआ।[1]

कबीर, नानक तथा चैतन्य के समाज सुधार के कारण हिन्दू समाज का वातावरण अशान्तमय हो गया था। शूद्र समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिये संघर्ष कर रहे थे। तुलसीदास के शब्दों में—

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुमते कछु घाटि।
जानई ब्रह्म सो बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि ॥[2]

गोस्वामी जी शूद्रों के इस संघर्ष से सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी दृष्टि में जाति विहीन समाज मानव के लिए घातक होगा। सामाजिक नियम मनुष्य के विकास के लिए अत्यावश्यक हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसीदास जी शूद्रों को समानता का अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। वे आध्यात्मिक अथवा भक्ति के रंग-मंच पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को समानता का अधिकार देना चाहते थे। यदि इस स्तर पर उन्हें समानता का अधिकार मिल जाता है तो सामाजिक व्यवस्था तोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। भक्ति के रंगमंच पर गोस्वामी जी 'मानहु एक भगत कै नाता' का सिद्धान्त मानते थे। काक भुशुंडि शूद्र थे और शिव के मन्दिर में आराधना करते थे—

तें हि कलिजुग कौसलपुर जाई। जनमत भयेउ सूद्र तनु पाई ॥
× × × ×
एक बार हरि मन्दिर, जपत रहेउ शिव नाम।[3]

---

1. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 84
2. उत्तर कांड, 99ख
3. वही, 106क

ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर ॥
जौं सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥
माया बस्य जीव अभिमानो। ईस बस्य माया गुन खानी ॥[1]

× × ×

जगत

शंकराचार्य की दृष्टि में जगत मिथ्या तथा माया से परिपूर्ण है। कबीर की दृष्टि में जगत माया से परिपूर्ण है। तुलसीदास जी को सम्पूर्ण जगत के कण कण में राम तथा सीता दिखाई देते हैं—

सिया राम मय सब जग जानी।

हिन्दू संस्कारों के समर्थक

मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के प्रगतिवादी सुधारकों ने रीतिरिवाज तथा संस्कारों की कटु आलोचना की थी। परन्तु तुलसीदास, प्राचीन हिन्दू संस्कारों के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने तीर्थ स्थानों में रहने का महत्व बताया—

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अध हानिकर।
जहँ बस संभु भवानी सो कासी सेइअ कस न ॥[2]

उन्होंने मूर्ति पूजा का समर्थन किया। उनके इष्टदेव राम को स्वयं शिव की आराधना करते हुए दिखाया गया है। कबीर की भाँति गोस्वामी जी ने साधु संगत पर जोर दिया—

सठ सुधरहि सत संगत पाई।

गुरु का महत्व

गोस्वामी जी की दृष्टि में गुरु का बहुत महत्व है। स्वयं रामचन्द्र जी ने कहा है कि मुझसे भी अधिक गुरु को महत्व देना चाहिए। बिना गुरु की कृपा से कोई इस भवसागर को पार नहीं कर सकता है—

गुरु बिनु भवनिधि तरई न कोई। जौ बिरंचि संकर सम होई ॥

समाज सुधार

जिस युग में तुलसीदास का जन्म हुआ था उस युग में समाज का कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री, दरिद्र, अशिक्षित और रोग ग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की सम्पत्ति नष्ट हो गई थी, या

---

1. उत्तरकाण्ड, 77, 3
2. किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 1

के सब से निकृष्ट आसक्ति के शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और संस्कृतिविहीन जनता में रह चुके थे। नाना पुराण निगमागम का अभ्यास उन्होंने किया, लोकप्रिय साहित्य तथा साधना की नाड़ी उन्होंने पहचानी थी।

तुलसी का सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय—रामचरित मानस आदि से अन्त तक समन्वय का काव्य है।[1]

स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण

कुछ आलोचकों के अनुसार गोस्वामी जी का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति सहानुभूति पूर्ण नहीं था। उन्होंने एक स्थल पर कहा है—

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
पुनः
नारि विस्व माया प्रगट ॥
× × ×
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

तुलसीदास जी ने स्त्रियों की आलोचना में परम्परा नाना पुराण निगमागम का अनुकरण किया है। स्त्रियों के सम्पर्क वाले मनुष्य से अलग रहना चाहिए। भागवत में एक स्थान पर लिखा है—

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित।
विषयोंद्रिय संयोग्मन्मनः क्षम्यसि नान्यथा ॥

नारद पञ्चरात्र के एक अध्याय में स्त्रियों की स्वतन्त्रता का विरोध किया गया है। किसी भी अवस्था में उनकी स्वतन्त्रता का अनुमोदन नहीं किया गया है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वातंत्रताम् ॥

महात्मा गांधी ने धर्म पथ में लिखा है कि गोस्वामी जी ने स्त्रियों के प्रति अन्याय किया है। महात्मा गांधी की आलोचना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि तुलसीदास जी ने केवल उन्हीं स्त्रियों की आलोचना की है जो पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादा को तोड़ना चाहती थीं। अन्यथा स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण रहा है—

---

1. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 84-5

यहाँ तक कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम को सेवरी अधम स्त्री का जूठा बेर खाने में संकोच नहीं हुआ। इससे बढ़कर शूद्रों को क्या अधिकार दिया जा सकता था? महर्षि वसिष्ठ तथा शूद्र निषाद की भेंट ब्राह्मण तथा शूद्रों के प्रेम भाव को प्रदर्शित करती है—

राम सखा रिषि बरबस भेटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

गोस्वामी जी की कल्पना एक आदर्श समाज की थी, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र संघर्ष त्याग कर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें। वे नाना पुराण-निगमागम परम्परा के आधार पर जाति व्यवस्था की रक्षा करके ब्राह्मणों को श्रेष्ठ स्थान देने के प्रबल समर्थक थे। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है—

ततो राष्ट्रस्य शान्तिहि भूतानामिव वासवात।
जायतां ब्रह्म वर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने रामानन्द का अनुकरण किया। वे भी शूद्रों को आध्यात्मिकता के क्षेत्र में समानता का अधिकार समाज में देना चाहते थे। शूद्रों को भक्ति में समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। इस प्रकार रूढ़िवादी होते हुए भी वे प्रगतिवादी थे। समय की आवश्यकता तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उन्होंने हिन्दू समाज की अमूल्य सेवा की। गोस्वामी जी ने उन शूद्रों की कटु आलोचना की जो सामाजिक व्यवस्था तथा बन्धन को तोड़ना चाहते थे—

ढोल गँवार सूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥[1]

इस आलोचना का मुख्य कारण था कि वे समाज में अनुशासनहीनता नहीं चाहते थे।

समन्वयवादी

निःसन्देह तुलसी ने हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच समन्वय का कोई प्रयास नहीं किया। फिर भी वे एक महान समन्वयवादी थे। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्ध देव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है, तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। वे स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण वंश में जन्म, दरिद्र होने के कारण दर-दर भटकना पड़ा था, गृहस्थ जीवन

1. सुन्दरकाण्ड, 58, 6-3

को जानकर उन्होंने अपना सन्देश दिया। डॉ० ताराचन्द के अनुसार तुलसीदास जी निरंतर प्रवाहित पर्वतीय जल स्रोत हैं, वे अपनी कृतियों से दुःख संतप्त मानव समाज की तृष्णा को शांत करते हैं।

कुछ आलोचकों के अनुसार गोस्वामी जी समय तथा परिस्थितियों के विपरीत समाज में जाति प्रथा के समर्थक थे। यह तर्क उचित नहीं है। उनकी दृष्टि में भक्ति के रंगमंच पर समानता का अधिकार प्राप्त कर शूद्रों को सामाजिक व्यवस्था तथा जाति प्रथा को नहीं तोड़ना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने शूद्रों को समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। हिन्दू समाज के लिए तुलसी दास जी की यह अमूल्य देन है।

कबीर, नानक, चैतन्य उच्च वर्गों की आलोचना करके उनकी सहानुभूति तथा सहयोग न प्राप्त कर सके, जिससे उनको अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी। गोस्वामी तुलसीदास समाज के सभी वर्गों के लोकप्रिय थे। मध्ययुगीन धर्म तथा समाज सुधारकों में तुलसीदास जैसी सफलता किसी को प्राप्त न थी। हिन्दू समाज का शिक्षित, अशिक्षित, उच्च तथा निम्न वर्ग के लोग मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा को गीत गाते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने कहा है कि बुद्ध के बाद सबसे बड़े लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास थे।[1]

अन्य सन्त

भक्ति आन्दोलन सम्बन्धी विचार धारा कुछ ही धर्म सुधारकों तक सीमित न थी। इन महानुभावों से अनुप्राणित होकर उनके शिष्यों ने भी भक्ति आन्दोलन की ज्योति प्रज्वलित रखी तथा समाज सुधार का प्रयास किया।

धन्ना

धन्ना का जन्म 1415 में एक जाट परिवार में हुआ था। राजपुताना से वे वाराणसी आये और रामानन्द के शिष्य हो गये।[2] वे एक साधारण किसान थे और उन्होंने साधारण गीतों के माध्यम से समाज सुधार का प्रयास किया।[3] कबीर तथा अन्य लोगों की कथाओं से प्रभावित होकर उन्होंने भी भक्ति साधना का मार्ग ग्रहण किया। उनके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, जिनके अनुसार इन्होंने भगवान की मूर्ति को हठात भोजन कराया था। सिखों के आदि ग्रन्थ में इनके संगृहीत पदों से

1. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 84
2. ताराचंद, पृ० 178
3. के० एस० लाल, पृ० 299

राम भगति रत नर अरू नारी । सकल परमगति के अधिकारी ।।

× × × ×

विनु स्रम नारि परम गति लहहीं ।

उन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर पति के अनुसार चलने वाली स्त्रियों की प्रशंसा की है। गृहणी के सुझाव को उपेक्षा करने वाले बालि जैसे पुरुषों की भी आलोचना की है—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करेसि न काना ।।[1]

कालिदास ने भी कहा है—

गृहणी सचिवः सखी मिथः ।
प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ ।।

गोस्वामी जी का हृदय स्त्रियों की दशा पर द्रवित हो उठा था—

कत विधि सृजी नारी जग माहीं । पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।।

उन्होंने पार्वती, सीता, अनसूया, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यहाँ तक कि बन्दर जाति की स्त्री तारा तथा राक्षस रावण की पत्नि मन्दोदरी की प्रशंसा में कुछ उठा नहीं रखा। उन्होंने स्त्री जाति की नहीं अपितु स्त्रियों की अनाधिकृत स्वतन्त्रता की आलोचना की, जिससे पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन होने की सम्भावना थी। परम्परा में आस्थावान गोस्वामी जी के लिए यह असह्य था।

मूल्यांकन

पाश्चात्य विद्वान ग्रियर्सन ने लिखा है कि गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव को देखकर हम उनकी गणना एशिया के प्रसिद्ध तीन या चार साहित्यकारों में कर सकते हैं। गंगाघाटी में तो उनका स्थान निःसन्देह अद्वितीय है। उनका रामचरित मानस तो उतना ही लोकप्रिय है जितना इंग्लैण्ड में बाइबिल ।[2]

अब्दुर्रहीम खानखाना के अनुसार रामचरित मानस हिन्दू समाज का प्राण, हिन्दुओं के वेद और मुसलमानों के कुरान की भाँति है। गोस्वामी जी एक उच्च दार्शनिक, समाज सुधारक तथा कुशल मनोवैज्ञानिक थे। मनुष्यों के विचारों के समझने की उनके पास अद्भुत शक्ति थी। शिक्षित एवं अशिक्षित मानव जाति की भावनाओं

---

1. किष्किधा कांड, 7-8
2. ग्रियर्सन : तुलसीदास पोयट एण्ड रिलिजस रिफार्मर : रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1903, पृ० 266

हृदयग्राही है। भक्ति भावना तो प्रेम रंग से अनुप्राणित है।[1] एकांतनिष्ठा, सात्विक जीवन, विश्व प्रेम, दृढ़ विश्वास और आत्म समर्पण के भाव उनकी रचनाओं की विशेषता है। उनकी भाषा कहीं-कहीं फारसी से प्रभावित है।

दादू

कबीर के सर्वश्रेष्ठ अनुयायी दादू दयाल का जन्म फाल्गुन सुदी 2, बृहस्पतिवार सं० 1601 (1554 ई०) में, अहमदाबाद में हुआ था।[2] इनका सम्बन्ध धुनिया जाति से था।[3] उनकी मृत्यु 1603 ई० में राजस्थान के नराणा गाँव में हुई थी।[4] प्रारम्भ से ही ये भक्ति भावना से प्रभावित होकर तीर्थ यात्रा, सत्संग, चिंतन, मनन एवं साधनाओं में लगे रहे। साँभर में आकर इन्होंने ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। वे गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश कर चुके थे। इनके दो पुत्र थे—गरीबदास तथा मिस्कीन दास। साधारण गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए धुनियागिरी से जीविकोपार्जन करते थे।[5] इनका अधिक समय भ्रमण सत्संग तथा सर्व साधारण को उपदेश देने में ही व्यतीत हुआ। अकबर ने धार्मिक चर्चा के लिए इन्हें एक बार फतेहपुरसिकरी में बुलवाया था।

उनकी नम्रता, क्षमाशीलता एवं कोमल हृदयता के कारण इन्हें दादू दयाल कहा जाता था। सर्व व्यापक परमात्मतत्व के प्रति उनकी अविच्छिन्न विरहा सक्ति ने इन्हें प्रेमोन्मत्त सा बना दिया। इनके असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव लोगों पर बहुत अधिक पड़ा। अजमेर तथा अहमदाबाद सूफी संतों का केन्द्र था। दादू सूफी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का प्रबल समर्थन किया।[6] उन्होंने हिंदू तथा मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया।[7]

उन्होंने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को सारयुक्त बताया। उनके अनुसार अल्ला तथा हिन्दू देवताओं में कोई अन्तर नहीं है। एकेश्वर को ही अनेक लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी, अपरिवर्तनीय, काल तथा कर्म के परिधि से बाहर,

1. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 184
2. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 384
3. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 550
4. ताराचंद, पृ० 182
5. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 251
6. ताराचंद, पृ० 185
7. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 385

इनके आध्यात्मिक एवं गार्हस्थ्य जीवन के आदर्शों की एक झलक मिलती है। इन्हें भगवान की दया पर पूर्ण विश्वास था। इनकी भाषा भी इनके भावों का अनुसरण करती है। कथा शैली सीधी एवं स्पष्ट है।[1]

सेना

संत सेना नाई के विषय में भिन्न-भिन्न मत है। एक के अनुसार वे बीदर के राजा के यहाँ नियुक्त थे और प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के शिष्य थे।[2] डॉ० ताराचंद के अनुसार वे बाँधवगढ़ के राजा के यहाँ सेवक थे। बाद में बाँधवगढ़ के राजा के गुरु हो गए।[3] आज भी राजा का परिवार इन्हें अपना वंशगुरु मानता है।[4]

पीपा

संत पीपा का जन्म 1425 ई० में राजस्थान के गागरौनगढ़ के राजवंश में हुआ था।[5] वे ऐश्वर्य सम्पन्न थे, किन्तु उनमें साधु सेवा की लगन थी। पहले वे भवानी के उपासक थे, परन्तु बाद में रामानंद के शिष्य हो गये। इनकी पत्नी का भी इनके साथ तीर्थ में द्वारका तक जाना तथा वहाँ से लौट कर किसी मंदिर में निवास करना प्रसिद्ध है।[6] परम तत्व की अनुभूति के लिए सद्गुरु की सहायता को इन्होंने आवश्यक बताया।

रैदास जी

रैदास जी का जन्म चमार परिवार में वाराणसी में हुआ था। इनके पिता का नाम रघ्घू तथा माता का नाम घुरबिनिया था।[7] माता-पिता द्वारा निष्कासित रैदास जी जूता बना कर जीविकोपार्जन करते थे। वे एक निस्पृह उदार एवं संतोषी व्यक्ति थे। आगे चलकर ये बहुत बड़े महात्मा हुए। कहा जाता है कि मेवाड़ की झाली रानी ने इनसे प्रभावित होकर इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। मीराबाई ने भी इन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। उनकी रचनाओं में उनकी सरल हृदयता तथा गूढ़ भगवत प्रेम की भावना पायी जाती है। उनका आत्म निवेदन सुन्दर, स्पष्ट तथा

1. परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य, पृ० 199-200
2. वही, पृ० 133
3. ताराचंद, पृ० 179
4. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 380
5. वही, पृ० 380
6. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 182
7. ताराचंद, पृ० 179

बड़े होने पर माता-पिता ने इन्हें कम्बल बेचने का कार्य सुपुर्द किया। इन्होंने मुरारी स्वामी से दीक्षा ग्रहण की। अपना अधिक समय देशाटन तथा सत्संग में व्यतीत किया। इन्होंने बाह्य संस्कारों, मूर्तिपूजा की कटु आलोचना की। मनुष्य का धन स्वाभिमान उसके कष्ट का मूल कारण है। उनकी रचनाओं में अटल विश्वास, प्रगाढ़ भक्ति एवं विश्व प्रेम की झलक सर्वत्र लक्षित होती है। इनके प्रत्येक कथन के पीछे स्वानुभूति एवं निर्द्वन्द्वता की शक्ति काम करती है। ये स्वभावतः निर्भीक तथा निश्चिन्त थे। इन्होंने सर्वसाधारण की भाषा में अपने उपदेशों का प्रचार किया।[1] इनका विश्वास एकेश्वर-वाद में था। उनकी दृष्टि में राम, रहीम, अल्ला में कोई अन्तर नहीं है। मलूकदास जी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के समर्थक थे।[2]

रज्जब

संत रज्जब दादू दयाल के सर्वप्रधान शिष्य थे। इनका जन्म सं० 1624 में सांगानेर के एक पठान परिवार में हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने दादू जी से दीक्षा प्राप्त की। रज्जब की गुरु भक्ति ईश्वर भक्ति से किंचितमात्र कम नहीं है। इनका अनुभव बहुत व्यापक था। वे सूफी विचारधारा से विशेष प्रभावित थे। जन श्रुति के अनुसार इनका देहावसान 1746 में हुआ।[3]

उनके अनुसार ईश्वर का स्थान मनुष्य की आत्मा है। घर छोड़कर ईश्वर अनुभूति के लिए जंगल में जाकर तपस्या करने की आवश्यकता नहीं।[4] मनुष्य का जीवन मंदिर तथा मस्जिद है। इसी में ईश्वर की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। उन्होंने पंडितों तथा मुल्लाओं की कटु आलोचना की। भक्त का हृदय धर्म ज्ञान का पृष्ठ है, जिस पर सब कुछ लिखा है। रज्जब निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन तथा मुसलमानीपन अधिक है। शास्त्रीय काव्य गुण का अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। उनका वक्तव्य विषय वही है जो साधारणतः निर्गुण भावापन्न साधकों के लिए होते हैं, पर साफ और सहज अधिक।[5]

---

1. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 316
2. ताराचंद, पृ० 190
3. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 331
4. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 385
5. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 90

अमर है । मनुष्य अपने कर्म तथा स्वभाव के कारण ईश्वर की कृपा प्राप्त करने में असमर्थ है । उनका विश्वास जन्म-पुनर्जन्म में था । दादू के अनुसार भगवत कृपा प्राप्त करने के लिए गुरु की कृपा अत्यावश्यक है ।

दादू कहते हैं, "साधु की रुचि है राम जपने को और राम को रुचि है साधु जपने की ।" दोनों ही एक भाव के भावुक हैं, दोनों के आरम्भ समान हैं, कामनाएँ समान हैं । दादू कहते हैं—प्रेम ही भगवान् की जाति है, प्रेम ही भगवान् की देह है, प्रेम ही भगवान् की सत्ता है, प्रेम ही भगवान् का रंग है । विरह का मार्ग खोजकर प्रेम का रास्ता पकड़ो, लौ के रास्ता जाओ, दूसरे रास्ते पर पैर न रखना—

इश्क अलह की जाति है इश्क अलह का अंग ।
इश्क अलह मौजूद है इश्क अलह का रंग ।।
बाट विरह की सोधि करि पंथ प्रेम का लेहु ।
लवके मारग जाइये दूसर पाँव न देहु ।।

दादू ने उच्च जातियों तथा सामाजिक कुरीतियों[1] पर उस तीव्रता से प्रहार नहीं किया जैसा कबीर ने । उनके स्वभाव में विनय मिश्रित मधुरता अधिक थी । अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्रता तथा प्रीति दिखाते हैं । उन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया कि भक्त होने के लिए विनम्र, शीलवान, सफलकांक्षी और वीर होना चाहिए । दादू जिन पाठकों को ध्यान में रखकर लिखते हैं वे अशिक्षित लोग हैं । उनके योग्य भाषा लिखने में उन्हें सफलता मिली । वे स्वयं पंडित नहीं थे, अनुभव के बल पर उन्होंने कुछ कहा है । वे जन्म से मुसलमान थे । मुस्लिम उपासना पद्धति के संसर्ग में वे आ चुके थे, फिर भी उनका मत बहुत कुछ हिन्दू भावापन्न था । जीवन में कभी भी दादू कबीर के महत्व को न भूल सके और पद-पद में कबीर का उदाहरण देकर साधन पद्धति का निर्देश करते रहे ।[2]

मलूकदास

सन्त मलूकदास का जन्म वैशाख बदी 5, सं० 1631 (1574 ई०) में इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में हुआ था ।[3] उनके पूर्वज खत्री जाति के कक्कड़ थे । इनका बचपन का नाम मल्लू था । मल्लू बचपन से कोमल हृदय के व्यक्ति थे । खेलते समय मार्ग अथवा गली के कंकड़ों को साफ कर देते थे, जिससे दूसरों को कष्ट न हो ।

1. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 75
2. वही, पृ० 88
3. ताराचंद, पृ० 189

नामदेव

संत नामदेव जाति के छीपी थे और उनका जन्म कार्तिक सुदी 11, सं० 1326 में सहारा जिले के नरसी वमनी गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय की ओर वे कभी भी आकृष्ट नहीं हुए। बचपन से ही साधु सेवा तथा सत्संग में अपना समय व्यतीत करते रहे। संत विमोवा खेचर को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति उनकी प्रगाढ़ निष्ठा थी। ज्ञानेश्वर के साथ उन्होंने देश का भ्रमण किया तथा कई संतों से परिचय प्राप्त किया। संत ज्ञानेश्वर की मृत्यु के बाद वे पंजाब में रहने लगे और उसी को उन्होंने अपने मत प्रचार का केन्द्र बनाया। इनकी मृत्यु सं० 1407 में हो गई।

संत नामदेव सरल हृदय के व्यक्ति थे। उनकी भावुकता का परिचय उनकी पंक्तियों में सर्वत्र मिलता है। परमात्मा ही सब कुछ है। वही सबके भीतर तथा बाहर व्याप्त है। उसी के प्रति एकांतनिष्ठ होकर रहना चाहिए। इसी को वे अपना धर्म मानते थे। उसी प्रकार के भावों से उनका हृदय सदैव परिपूरित रहता था। इसी कारण सारे जगत् को वे उदार चेता प्रेमी के रूप में देखा करते थे। वे निर्गुणोपासक थे, परन्तु सगुणोपासना में भी उनका विश्वास था। उनके लिए जगत के सभी पदार्थ तथा प्राणी भगवतस्वरूप थे।

संत नामदेव को कबीर साहब एक आदर्श भक्त मानते थे। उन्होंने उनकी कई बार प्रशंसा की है। उनकी अधिकांश कृतियाँ मराठी भाषा में हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर सर्वव्यापी, एकेश्वर, सब में विद्यमान अंतर्यामी है।[1] उनका विश्वास एकांत निष्ठा में था। उन्होंने भक्ति मार्ग का समर्थन किया, क्योंकि मोक्ष का यही एक मात्र साधन है।[2] वे प्रार्थना, भ्रमण, तीर्थयात्रा, सत्संग तथा गुरु की सेवा पर विशेष जोर देते थे। वे राम के उपासक थे। समाज सुधार में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था।

भक्ति आन्दोलन तथा स्त्री समाज

भक्ति आन्दोलन के प्रसार में स्त्रियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। धर्म तथा समाज सुधार के क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। कश्मीर की लल्ला, पीपा की रानी सीता, महाराष्ट्र की जनबाई तथा राजस्थान की महारानी मीराबाई ने भक्ति आंदोलन के विकास में प्रशंसनीय कार्य किया। शैव योगिनी लल्ला अथवा लाल देव संन्यासी वस्त्र धारण करके नृत्य तथा भजन करती थी। उसकी सबसे

1. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 124
2. वही, पृ० 127

बूला साहब

संत बूला साहब का नाम बुलाकीराम था। जाति के कुर्मी थे। इनका जन्म गाजीपुर के भुरकुड़ा गाँव में हुआ था। वहाँ एक जमींदार के यहाँ हल चलाते थे। एक बार किसी मुकदमें के सिलसिले में इन्हें अपने मालिक के साथ दिल्ली जाना पड़ा। यहाँ इन्होंने यारी साहब से भेंट की। उनसे उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने अपने मालिक का साथ छोड़ दिया। कुछ समय तक भ्रमण करने के पश्चात् ये अपने गाँव भुरकुड़ा पहुँचे। मालिक के यहाँ पुनः हल चलाने लगे। एक बार हलवाही करते समय अचानक मेंड़ पर ध्यानस्थ हो गये। मालिक ने इन्हें लात मारा, बाद में वह बूला साहब का शिष्य हो गया। बूला साहब एक उच्चकोटि के साधक थे।[1]

बुल्लेशाह

बुल्लेशाह का जन्म कान्स्टेंटिनोपुल में 1703 में एक सैय्यद परिवार में हुआ था। वे भारतवर्ष के कसौर में आकर बस गए। ये यारी साहब के शिष्य थे। उन्होंने कुरान तथा हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों की कटु आलोचना की। हिन्दू तथा मुसलमान धार्मिक विषय की चर्चा में इनके सामने टिक नहीं पाते थे। उनके मतानुसार गंगा तथा काबा में मोक्ष नहीं मिल सकता है, बल्कि गर्व के परित्याग में मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है। मनुष्य के हृदय में ही अल्ला तथा ईश्वर का निवास स्थान है।[2]

दाराशिकोह

मध्ययुगीन इतिहास में दाराशिकोह एक राजकुमार के रूप में नहीं बल्कि एक रहस्यवादी तथा उदारवादी दार्शनिक और समाज सुधारक के रूप में प्रसिद्ध है। दारा तत्कालीन भक्ति आन्दोलन के संतों तथा सूफीवाद के उदार विचारों से प्रभावित था। उसके जीवन का स्वप्न सभी धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करना था परन्तु राजकुमार की असामयिक मृत्यु ने उस स्वप्न को अधूरा छोड़ दिया। उदारवादी दृष्टिकोण में दारा अपने पूर्वज सम्राट् अकबर से भी आगे था। राजकुमार की मृत्यु के बाद समन्वय-वाद का प्रयास सदैव के लिए समाप्त हो गया। दारा के शिष्य तथा अनुयायी सरमद का वध सम्राट् औरंगजेब ने इसलिए करा दिया कि वह उदारवादी विचारधारा का बड़ा समर्थक था। अपने जीवन के अंत तक सरमद ने अपने विचारों का परित्याग नहीं किया। औरंगजेब का पुत्र राजकुमार आजम वैष्णव आध्यात्मिक विचारधारा का प्रशंसक था।[3]

---

1. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 366
2. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 392
3. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 387

निष्कर्ष

मध्ययुगीन संतों का जो परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट है कि धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उनकी सेवाएँ महत्वपूर्ण हैं। मुसलमानों के शासन काल में देश में एक ऐसा वातावरण आया जिसमें एक नई स्फूर्ति, आत्मविश्वास तथा आशा के संचार की आवश्यकता थी इन सन्तों ने अपने ढंग से इन समस्याओं पर विचार किया। यद्यपि उनके आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचारों में विभिन्नताएँ भी थीं। उनके उद्देश्यों की समानताएँ स्पष्ट हैं। सभी समाज की विषमताओं के प्रति जागरूक थे। वे विभिन्न सम्प्रदायों तथा जातियों में समन्वय के लिए सचेष्ट थे। इनकी भक्ति मूलक रचनाएँ साहित्य की ऐसी निधि हैं जो आज भी प्रेरणा की स्रोत हैं।

महत्वपूर्ण उपलब्धि हिन्दू-मुस्लिम समन्वय है।[1] समाज एवं धर्म सुधारक संत पीपा की सबसे छोटी पत्नी महारानी सीता ने अपने पति के साथ भक्ति आन्दोलन में भाग लिया। उसकी उपलब्धियों के अनेक उदाहरण संत साहित्य में प्राप्त हैं। कबीर की पत्नी तथा उनकी माँ भी भक्त थीं।

सहजो बाई हरिप्रसाद की पुत्री थीं। उनका जन्म वैश्य कुल में हुआ था। वे चरण दास की शिष्या थीं। सहज प्रकाश नामक पुस्तक में उन्होंने आत्म परिचय दिया है। वे आजन्म कुँवारी एवं ब्रह्मचारिणी रह गईं। अपने गुरु के समीप रह कर उनके सत्संग से लाभ उठाती रहीं। गुरु के प्रति प्रगाढ़ भक्ति, संसार से विरक्ति, साधना, मानव जीवन, प्रेम, निर्गुण-सगुण भेद आदि विषयों पर सहजो बाई ने प्रकाश डाला है।[2] सगुण रूप के वर्णन में सगुणोपासक कृष्ण भक्तों की शैली सर्वत्र लक्षित है।

संत दया बाई संत चरण दास की शिष्या थीं। अपनी गुरु बहन सहजो बाई की भाँति इनका भी जन्म वैश्य कुल में हुआ था। दया बाई अपने गुरु चरण दास के साथ दिल्ली में रहती थीं। दया बाई की रचनाओं गुरु भक्ति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, अजपा जाप आदि विषयों का वर्णन मिलता है। उनकी एकांतनिष्ठा, आत्म-निवेदन, दैन्यपन में हृदय की सच्ची भावनाओं का उद्गार है। इनके आत्मसमर्पण में एक निराश्रित की शक्तिहीनता के साथ-साथ अपने इष्ट के प्रति दृढ़ विश्वास का सहारा भी लक्षित होता है।[3]

मीरा बाई राजा रतन सिंह की पुत्री एवं मेवाड़ के महाराणा सांगा की वधू थीं। प्रारम्भ से उनकी कृष्ण भक्ति में अत्यन्त आस्था थी। अपने प्रति राजा भोजराज के साथ उनका नौ वर्ष का गृहस्थ जीवन बड़ा ही दुखद था। विधवा हो जाने पर उनके जीवन का कष्ट और भी बढ़ गया। अपने पति के भाई द्वारा तिरस्कृत एवं अपमानित होने पर उन्होंने अपने पिता के यहाँ शरण ली। अन्त में भौतिक जीवन का परित्याग कर के संन्यासिनी होने का निश्चय कर लिया। वह रैदास की शिष्या थीं। मीराबाई के व्यक्तिगत जीवन के विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता है। स्त्री भक्तों में मीरा का स्थान अग्रगण्य है। आज भी गिरधर गोपाल की प्रशंसा में मीरा बाई का भजन लोकप्रिय है।

1. ए० रशीद, पृ० 256
2. परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 449
3. वही, पृ० 452

की उत्पत्ति पर जोर दिया।[1] व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द ठीक तथा शुद्ध है। सूफी वह धार्मिक साधक है जो ऊनी चोंगे का व्यवहार करता है, परम प्रियतम के रूप में परमात्मा की उपासना करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिए सूफी शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सूफी मत का आविर्भाव

सूफी मत के आविर्भाव के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। विचारों की विभिन्नता का कारण यह है कि सूफी मत विश्व के धर्मों—इसाई, इस्लाम, हिन्दू-धर्म जैन तथा बौद्ध धर्म की भाँति प्राचीन नहीं है। निश्चित रूप से इसका धर्म के रूप में विकास ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ है। इसका तत्व न केवल इस्लाम से लिया गया है। बल्कि इसमें अन्य धर्मों तथा दर्शकों का समावेश है।

डॉ० युसुफ हुसेन के अनुसार रहस्यवाद धर्म की उपज होता है। सूफीवाद की उत्पत्ति इस्लाम धर्म से है।[2] निःसन्देह परमसत्ता की उपलब्धि से सम्बन्धित रहस्यवाद को सूफी सन्तों ने इस्लाम से ग्रहण किया है। रोजा, पाँच बार नमाज, हज आदि धार्मिक कृत्य और आचार पर इस्लाम धर्म में काफी महत्व है। इस्लाम में अध्यात्मवाद और रहस्यवाद की भी प्रवृत्तियाँ हैं। प्रो० निजामी ने सूफी मत के आविर्भाव पर अन्य धर्मों के प्रभावों को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट कहा है कि सूफी मत का मूल स्रोत कुरान तथा पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी है।[3] परन्तु यह पूर्ण रूप से स्वीकार करना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है कि सूफी मत का स्रोत केवल इस्लाम है।

सूफी मत पर अन्य धर्मों तथा दर्शनों का प्रभाव पड़ा है। एडलबर्ट मर्क्स के अनुसार सूफी मत का आविर्भाव यूनानी दर्शन से हुआ है, नव शेखाँ के शासन काल में नव अफलातून दर्शन की परम्परा के सात दार्शनिक भाग कर ईरान आये। निकोल्सन के अनुसार ईरान तथा यूनान के सम्बन्ध प्राचीन काल से थे। सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक क्षेत्रों में विचारों का आदान-प्रदान हुआ था।[4] ब्राउन के अनुसार इस प्रभाव के कारण इस्लाम के संन्यासी जीवन में रहस्यवादी प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ।[5] निकोल्सन ने सूफी मत के आविर्भाव में यूनानी प्रभाव का प्रमुख स्थान दिया है।

---

1. तिवारी, पृ० 171
2. युसुफ हुसेन, पृ० 33
3. के० ए० निजामी, रिलिजन एण्ड पालिटिक्स इन थर्टीयथ सेंचुरी, पृ० 50
4. आर० ए० निकोल्सन, आइडिया ऑफ पर्सनालटी इन सूफिज्म, पृ० 388
5. ब्राउन, पृ० 131-2; कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 593

अध्याय 7

सूफीवाद

सूफी शब्द का उद्भव

इस्लाम के रहस्यवादी सूफी नाम से परिचित हैं और इस्लाम का रहस्यवाद अथवा सूफियों का दर्शन ही तसव्वुफ है। प्रमुख सूफी, मुस्लिम साधकों तथा अनेक विद्वानों ने सूफी शब्द की उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं।

अबू नसर अल सराज ने 'किताब अल लुमा' में सूफी शब्द के विषय में लिखा है कि सूफी शब्द अरबी के सूफ शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'ऊन'।[1] अरब देश में पैगम्बर मुहम्मद तथा अन्य सन्त सात्विकता का प्रतीक ऊन धारण करते थे। इस्लाम के प्रथम दो शताब्दियों में ऐसे सन्तों को सूफी कहा जाता था। पाश्चात्य विद्वान् ब्राउन ने इस मत को स्वीकार करते हुए लिखा है कि ईरान में इन रहस्यवादी साधकों को पश्मिनापूश (ऊन पहनने वाला) कहा जाता था।[2] ईरान के ये सन्त ऊनी वस्त्र को जीवन की सादगी तथा विलासिता से दूर रहने का प्रतीक मानकर एकांत जीवन पर जोर देते थे।

कुछ विद्वानों ने सफा से सूफी की उत्पत्ति मानी है। व्याकरण की दृष्टि से सफा से सफवी शब्द हो सकता है, सूफी नहीं। कुछ लोगों ने मदीना में मस्जिद के समीप रहने वाले 'अह्ल सुफ्फाह' के सुफ्फाह से सूफी शब्द की उत्पत्ति मानी है। परन्तु सुफ्फाह से सुफ्फी हो सकता है, सूफी नहीं। बानू सूफा नामक भ्रमणकारी जाति से सूफा शब्द को स्वीकार किया जाता है। इसी तरह ग्रीक शब्द सोफिस्ता से सूफी और थियोसोफिया से तसव्वुफ की व्युत्पत्ति मानी जाती है।

ऊनी वस्त्र को साधकों, संसार त्यागियों तथा परमात्मा के प्रेम में मग्न रहने वालों का पहनावा मान लिया गया। त्रिवेन्द्रम में 1945 के दिसम्बर में अखिल भारतीय फिलासफी कांग्रेस के इस्लामिक फिलासफी के अध्यक्ष पद से भाषण में मीर वल्लीउद्दीन ने सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए सूफ से सूफी शब्द

1. राम पूजन तिवारी—सूफी मत, साधना और साहित्य, पृ० 169
2. ई० जी० ब्राउन, लिट्रेरी हिस्ट्री ऑफ पर्सिया, पृ० 417

होना, नवागंतुकों को जला देना, सिर मुड़ाना, सभा (संकीर्तन का आयोजन) आदि बातें पूर्णरूप से हिंदू प्रमाणों को स्पष्ट करती हैं ।[1]

इस प्रकार सूफी धर्म विश्व के प्राचीन धर्मों की श्रेणी में नहीं है, बल्कि अनेक धर्मों के प्रभावों की उपज है । डा० ताराचंद ने ठीक ही कहा है कि सूफी मत स्रोत है जिसमें अनेक देशों की नदियों का समावेश है । कुरान तथा पैगम्बर मुहम्मद का जीवन इसके मुख्य स्रोत हैं । ईसाई धर्म तथा नव अफलातून दर्शन के प्रभाव से इसका विकास हुआ। हिंदू और बौद्ध सिद्धांतों तथा नास्तिक मतों ने इसे काफी प्रभावित किया ।[2] इस प्रकार हम निःसन्देह कह सकते हैं कि सूफी मत के आविर्भाव में इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन, नास्तिक मत, वेदांत तथा हिंदू आदि धर्मों का योगदान है । लेकिन यह प्रभाव नकल के रूप में नहीं रहा, बल्कि उन बाहरी विचारधाराओं को सूफी साधकों एवं तत्व चिन्तकों ने अपने ढंग से अपनाया और सूफी मत का विकास इस्लाम धर्म को ध्यान में रखते हुए ही हुआ है ।[3]

सूफीवाद की परिभाषा

सूफीवाद की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं । प्रो० के० ए० निजामी के अनुसार—सूफीवाद उच्च स्तर के स्वतंत्र विचार का स्वरूप है ।[4] विचारों की विभिन्नता का मूल कारण यह है कि सूफीवाद न तो प्रारम्भिक धर्म है और न तो इसके सम्बन्ध में स्पष्ट नियम हैं । हुजविरी के अनुसार सूफीवाद का सिद्धांत सूफी संतों के लिए सूर्य की भाँति स्पष्ट है । अतः इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं ।[5] मारूक अल करखी (815 ई०) खलीफा हारूं अर्रशीद के समकालीन साधक परमात्मा के पीछे पागल थे । उनके अनुसार परमात्मा सम्बन्धी सत्य को जानना और मानवीय वस्तुओं का त्याग ही सूफी धर्म है ।[6] अबुल हुसेन अननूरी की दृष्टि में संसार से घृणा तथा परमात्मा के प्रति प्रेम ही सूफीवाद है ।[7]

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 76
2. ताराचंद, पृ० 63-4
3. तिवारी, पृ० 196
4. निजामी, पृ० 52
5. तिवारी, पृ० 167-8
6. वही, पृ० 168
7. वही, पृ० 168

कुछ विद्वानों के अनुसार सूफीमत का उदय आर्य जाति के धार्मिक विकास के फलस्वरूप हुआ। इन लोगों ने इसके आविर्भाव को सेमेटिक (शामी) धर्म की विजय के विरुद्ध आर्यों की प्रतिक्रिया माना है।[1] ब्राउन महोदय ने सूफीमत पर बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रभाव स्वीकार किया है।[2] सूफीमत सम्बन्धी शान्ति तथा अहिंसा के तत्व पूर्णरूप से बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों से मिलते हैं।[3] अनेक बौद्ध भिक्षुक बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पश्चिमी एशिया के देशों में गए थे। अतः सूफी साधकों के ऊपर उनका प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है। निकोल्सन ने इस तर्क को स्वीकार किया है।[4]

सूफी मत पर ईसाई धर्म का भी प्रभाव पड़ा था। ईसाई विचारधारा के प्रभाव में आकर सूफी साधक व्यक्तिगत स्वार्थ में कोई रुचि नहीं रखते थे। उनके हृदय में मानव सेवा का भाव भी ईसाई प्रभाव की देन है। ईश्वर पर पूर्णरूप से आश्रित (तवक्कुल), भौतिक पदार्थों के प्रति अरुचि (फक्र) भी ईसाई प्रभाव की देन हैं। अबू अब्दुल्ला अल मुहासिबी नामक सूफी संत ने अपने संदेश में बाइबिल के कुछ विषयों का उल्लेख किया था।[5]

सूफियों के यौगिक (जिक्र) क्रियाओं में हिन्दू योगियों के क्रियाकलापों को ढूंढ़ा जा सकता है। सूफियों में भावाविष्ठावस्था को उत्पन्न करने वाली कुछ क्रियायें तथा प्राणायाम जैसी विधियाँ निःसन्देह हिंदू धर्म की देन हैं।[6] सूफी मत का अध्ययन करने वाले प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि सूफी मत के विकास में भारतीय विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष तथा पश्चिमी एशिया के देशों के बीच के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप गणित, ज्योतिष, खगोल आदि विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। सूफी मत का विकास काल नवीं सदी से माना जाता है, जबकि अरबों का भारतवर्ष पर पहला आक्रमण 636 ई० में हुआ था। सूफी साधकों का चिल्ला-ए-मा-कुस (शरीर को यातना देना), खानका के प्रधान के समक्ष नतमस्तक

1. तिवारी, पृ० 183; कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 593
2. ब्राउन, पृ० 132
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 76; कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 593
4. निकोल्सन, पृ० 11
5. तिवारी, पृ० 283
6. टाइटस, पृ० 150

प्रो० निजामी के अनुसार मंगोल नेता हलाकू द्वारा बगदाद पर आक्रमण के परिणामस्वरूप मुस्लिम सामाजिक जीवन का विनाश तथा नैतिकता का पतन होने लगा। ऐसी परिस्थिति में सूफी मत का विकास मानव संस्कृति, मुस्लिम समाज, नैतिकता तथा आध्यात्मिक सिद्धांतों की रक्षा के लिए हुआ।[1] जिस समय मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। चारों ओर अव्यवस्था, अराजकता तथा आतंक का वातावरण था, ऐसी परिस्थिति में मुस्लिम समाज मे नवजीवन की प्रेरणा देने के लिए सूफी सन्तों ने संगठित होकर प्रयास करने का निश्चय किया।

यह स्पष्ट हो चुका है कि सूफी मत की गणना विश्व के प्राचीन धर्मों में नहीं की जाती है। नवीं सदी में यह धर्म के रूप में विश्व के समक्ष उपस्थित हुआ। इसके विकास को हम चार अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम चरण

इस अवस्था में फकीरी जीवन बिताने की प्रवृत्ति मुख्य रूप से क्रियाशील थी। सूफी साधक सांसारिक विषयों से अलग रहकर गरीबी में अपना जीवन व्यतीत करते हुए विनम्र थे। परमात्मा के दण्ड का भय उनमें बढ़ गया था। परिणामस्वरूप वे पहाड़ों में जाकर संन्यासी जीवन व्यतीत करते थे। धन, स्त्री, संसार की सभी वस्तुओं का त्याग करके एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करते थे।[2] संन्यास को इस प्रवृत्ति को तत्कालीन राजनीतिक और धार्मिक अवस्था ने पूरा प्रोत्साहन दिया। उस काल में अधार्मिकता का राज्य था। शासन व्यवस्था उच्छृंखल थी और अत्याचारपूर्ण खून खराबी और गृह-कलह जोरों में चल रहा था। संन्यास की लहर समस्त पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देशों में फैल चुकी थी। आठवीं सदी में खुरासान राजनीतिक तथा धार्मिक आन्दोलन का केन्द्र बन गया था।[3]

इस काल में सूफी मत का आधार व्यक्तिगत था।[4] सूफी साधक एकान्त जीवन में प्रायश्चित करते थे। उनमें प्रेम साधना की भावना का बिलकुल अभाव था। इस अवस्था के प्रमुख साधकों में इमाम हसन बसरी (728), इब्राहीम बिन आधम (777), अबू हाशिम (777) तथा रबिया बसरी 776) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

1. निजामी, पृ० 57
2. तिवारी, पृ० 198
3. वही, पृ० 80
4. निजामी, पृ० 53

कुजविनी के मतानुसार सुन्दर व्यवहार ही सूफीवाद है। विशर अलहाफी की दृष्टि में परमात्मा के सहारे अपने हृदय को पवित्र रखना ही सूफी धर्म है। अबू सईद फजलुल्ला ने कहा है कि एकाग्र चित्त से परमात्मा में ध्यान लगाना ही सूफी मत है। जून नून मिस्री की दृष्टि में वचन और कर्म में सामंजस्य रखना तथा सामाजिक बन्धनों से दूर रहना ही सूफीवाद है। अबुल हुसेन अननूरी ने लिखा है कि सभी सुखों के परित्याग को सूफी धर्म कहते हैं।[1]

सूफी वह है जो न किसी वस्तु का अधिकारी है और न वह स्वयं किसी के अधिकार में है। सूफियों की विशेषता है कि उनका हृदय तथा कर्तव्य पवित्र है।

इन सभी परिभाषाओं में इस बात पर जोर दिया गया है कि बाहरी और भीतरी शुद्धि तथा पवित्रता बनाये रखना सूफी साधक का कर्तव्य है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी समस्त इच्छाओं, वासनाओं को मिटाकर परमात्मा की इच्छा पर अपने को छोड़ दे। सूफी मत की विशद व्याख्या करने वाले अल कुशैरी ने बाह्य तथा आभ्यन्तरिक जीवन की पवित्रता को ही सूफी धर्म माना है।[2]

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रख कर डॉ० ताराचंद ने लिखा है कि सूफीवाद प्रगाढ़ भक्ति का धर्म है, प्रेम इसका भाव है, कविता, संगीत तथा नृत्य इसकी आराधना के साधन हैं, तथा परमात्मा में विलीन हो जाना इसका आदर्श है।[3] डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार सूफी साधकों का मूल लक्ष्य न केवल ईश्वर के साथ बौद्धिक तथा भावुक संबंधों की स्थापना बल्कि मानवता की सेवा करना है।[4]

सूफी मत का विकास

इस्लाम धर्म और समाज को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए सूफी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।[5] प्रो० हबीब के अनुसार इस्लामी संस्कृति को चुनौतियों का सामना करना पड़ा, सूफी तथा रहस्यवादी विचार ने इस्लाम की रक्षा की और उसे शक्ति दी। परिणामस्वरूप किसी भी चुनौती को इस्लाम धर्म को नष्ट करने में सफलता नहीं मिली।[6]

1. तिवारी, पृ० 169
2. वही, पृ० 169
3. ताराचंद, पृ० 83
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 77
5. निज़ामी, पृ० 50
6. इस्लामिक कल्चर, जुलाई 1942, पृ० 264

अद्वैत जैसा हो गया।[1] पहले जो परमात्मा मनुष्य के पहुँच के बाहर था अब वह 'अल हक्क' से प्रकट होने लगा। इस काल के साधक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परम सत्ता के दर्शन पाने लगे। अपने अहं को खोकर बेखुदी की हालत में परम प्रियतम का साक्षात्कार करने लगे।[2]

तृतीय चरण

सूफीवाद के विकास में सूफी सिलसिला का उदय बारहवीं तथा तेरहवीं सदी की देन है। मुस्लिम समाज में अराजकता, अव्यवस्था, नैतिक पतन का सामना करने तथा उसमें नव-जीवन प्रदान करने के लिए सूफी सन्तों के खानकाह के रूप में संगठित होने का निश्चय किया।[3] खानकाह की स्थापना के सम्बन्ध में शेख इज्जुद्दीन महमूद ने लिखा है कि "इसकी अनेक उपयोगिताएँ थीं। गृह विहीन यह सूफी साधकों के लिए शरण स्थान था। इसने एक साथ मिलकर विचारों के आदान-प्रदान का अवसर दिया और एक-दूसरे की आलोचना करके उसमें सुधार करने का भी अवसर प्रदान किया"।[4]

डॉ० रामपूजन तिवारी के अनुसार सूफी साधकों का सम्प्रदाय के रूप में संगठन कुरान शरीफ की व्याख्या को लेकर हुआ।[5] सनातन पन्थी इस्लाम के साथ सूफी मत के विरोध को दूर करने तथा दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का श्रेय गजाली को है। सूफी साधकों की प्रसिद्धि से आकर्षित होकर लोग उनके शिष्य बन कर संगठित होने लगे। इस प्रकार साधकों और सन्तों ने अपनी-अपनी शिष्य-परम्परा निकाली।[6] प्रमुख रूप से प्रारम्भिक काल में दो सम्प्रदाय थे—(i) इलहामिया, (ii) इत्तिहादिया। इस काल में निम्नलिखित छः बातों पर विशेष जोर दिया जाता था—

(i) कुरान में पूर्ण आस्था।
(ii) हजरत मुहम्मद के जीवन को आदर्श बनाना।
(iii) धर्म सम्मत भोजन ग्रहण करना।
(iv) हराम की वस्तुओं का त्याग करना।

---

1. निजामी, पृ० 56
2. तिवारी, पृ० 202-3
3. निजामी, पृ० 57
4. वही, पृ० 59-60
5. तिवारी, पृ० 205
6. वही, पृ० 206

इस काल में रिजा अथवा सन्तोष को प्रधानता देकर एकान्त जीवन पर विशेष जोर दिया जाता था। सूफी साधक धर्म के सूक्ष्म तत्व विवेचन की ओर अधिक ध्यान न देकर धर्म के व्यावहारिक रूप पर विशेष जोर दे रहे थे। तत्वचिन्तन की प्रवृत्ति भीतर ही भीतर काम रही थी। ईशा के आठवीं सदी के अन्तिम वर्षों में सूफी साधक का मानसिक बल प्रबल होता गया और सूफी साधकों ने परम सत्ता की सर्वव्यापकता तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परम सत्ता के दर्शन करने के सिद्धान्त को अधिक अपनाया।[1]

द्वितीय चरण

इस अवस्था में रहस्यवादी प्रवृत्तियों के उदय तथा उत्तरोत्तर विकास, सैद्धांतिक और दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता रही है।[2] हसन बसरी के अनुसार संसार अपने आप में एक नीरस वस्तु तथा नकारात्मक है, परन्तु जब इसमें आध्यात्मिक भावनाएँ क्रियाशील हो जाती हैं तब इसका रूप बदल जाता है। सभी कष्ट आनन्द में बदल जाते हैं। हृदय तथा मस्तिष्क का उस समय सुन्दर संयोग देखने को मिलता है।[3]

परम सत्ता के साथ एकत्व का बोध सूफी साधना के क्रमिक विकास के फलस्वरूप हुआ। खलीफा मामून के समय में सूफियों में दार्शनिक तत्वों के विवेचन की प्रवृत्ति अधिक से अधिक दीख पड़ती है। इस समय सूफी साधकों ने परम सत्ता को प्रियतम के रूप में देखना प्रारम्भ किया। उसका प्रेम पाना ही सूफी साधकों का अभीष्ट था। उसका प्रेम प्राप्त करने की विह्वलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उनके सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य प्रियतम को प्राप्त करना हो गया।[4] उनके अनुसार ध्यान, स्मरण क्रियाओं द्वारा अहं को भुलाकर परम सत्ता के मार्ग सम्बन्धी व्यवधान को समाप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी साधकों का विश्वास था कि इस अवस्था में भगवत् कृपा से सब कुछ प्राप्त करना सम्भव है। पहले जहाँ साधकों का आदर्श एकान्तिक जीवन, फकीरी, दीनता, विनम्रता था। वहाँ परमात्मा को प्रेम द्वारा प्राप्त करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। तौहीद का अर्थ एकेश्वरवाद अथवा

---

1. तिवारी, पृ० 200
2. वही, पृ० 53
3. तिवारी, पृ० 201
4. वही, पृ० 202

धार्मिक विचारों में परिवर्तन हो गया और उसने नये मन्दिरों को बनवाने की अनुमति दे दी।

औरंगजेब के शासन काल में हिन्दुओं की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। उसने फिर से हिन्दुओं पर जजिया लगाया। कुछ त्योहारों, जैसे होली, दीवाली को सार्वजनिक रूप से मनाने पर रोक लगा दी गई। तीर्थ-स्थानों और मन्दिरों में[1] धार्मिक कृत्य करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। नये मन्दिरों को गिरवाया गया और पुराने मन्दिरों के जीर्णोद्धार की मनाही कर दी गई। हिन्दुओं को मुसलमानों की तरह वस्त्र पहनने पर रोक लगा दी गई। हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट कर दिया गया। संगीत पर प्रतिबन्ध लगाया। मादक वस्तुओं के क्रय और विक्रय पर रोक लगा दी गई। लगान विभाग में हिन्दुओं की संख्या कम करने का आदेश दे दिया गया और उनके स्थान पर मुसलमानों की भरती का आदेश दिया गया। बहुत से हिन्दू जो अपने पद का त्याग नहीं करना चाहते थे उन्हें अपने पदों पर बने रहने के लिये विवश होकर इस्लाम धर्म स्वीकार करना पड़ा। वैसे, औरंगजेब के आदेश के विपरीत परोक्ष रूप से कुछ प्रान्तों में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हुआ[2]। किन्तु ऐसे निर्माण-कार्य बहुत कम हुए।

ऊपर के सर्वेक्षण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मुस्लिम प्रशासन में हिन्दुओं की स्थिति साधारणतः अच्छी नहीं थी। उन्हें धार्मिक मामलों में अनेक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत काम करना पड़ता था। उनके साथ सम्यता का व्यवहार नहीं किया जाता था। अधिकांश मुसलमान शासक संकीर्ण विचार के थे। उनकी धार्मिक नीति इसी संकीर्णता से प्रभावित थी।

●

---

1. औरंगजेब ने द्वारका के मन्दिर में धार्मिक कृत्य पर रोक लगा दी, मीराते अहमदी, सप्लीमेन्ट अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 121
2. बंगाल के विशालपुर नामक स्थान में 1681 और 1690 में दो मन्दिर बना। आर्कियोलॉजीकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 8, पृ० 204-5, 244

(v) दूसरों द्वारा कष्ट पहुँचाने पर कष्ट का अनुभव न करना।

(vi) नियम का निष्ठापूर्वक पालन करना।[1]

खानकाह की स्थापना भी कुरान के आधार पर हुई। इसके कुछ नियम थे जिसका पालन करना सभी के लिए अनिवार्य था—

(i) खानकाह में अच्छे सम्बन्ध की स्थापना करना।

(ii) प्रार्थना तथा ध्यान के माध्यम से ईश्वर चिन्तन करना।

(iii) जीविकोपार्जन के साधनों का त्याग करके परमात्मा में लीन होना।

(iv) आन्तरिक शुद्धता पर जोर देना।

(v) बुराइयों से उत्पन्न वस्तुओं का त्याग करना।

(vi) समय की उपयोगिता का महत्व प्राप्त करना।

(vii) आलस्य का त्याग करना।[2]

खानकाह के लोग दो वर्गों में विभक्त थे—मुकीम (स्थायी रूप से निवासी) मुसफिरीन (भ्रमणकारी)।

चतुर्थ चरण

यद्यपि इसका संबंध विकास से नहीं है, फिर भी यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस युग में सूफी सन्तों का पतन होने लगा। इस अवस्था में सूफी सन्त अपने आदर्शों को भूल गये। सूफियों का सम्मान नवाबों और बादशाहों के दरबार में बढ़ गया। बादशाहों और सुल्तानों ने सूफी मत को प्रश्रय दिया। इन सब बातों के होते हुए भी कालक्रम से सूफी मत की शक्ति क्षीण होती गई।[3]

सूफी अनुयायियों में अनाचार की वृद्धि होने लगी, जो उनके पतन का कारण बनी। उच्च आदर्श, आध्यात्मिक प्रेम, श्रेष्ठ साधना का स्थान, करामात दिखाने वाले आडम्बर तथा ढोंग ने ले लिया। जनता में उच्च सिद्धान्तों के स्थान पर चमत्कार और अन्धविश्वास आदि की प्रधानता हो गई। जिसमें ढोंग तथा जनता को भरमाने की शक्ति थी, उनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। जनता के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा कम हो गई। जब उन लोगों ने धार्मिक अथवा शासन-बन्धन को अस्वीकार कर दिया, तो शासकों की वक्र दृष्टि उन पर पड़ी। जादू, टोना, मंत्र-तंत्र की प्रधानता उनमें

1. तिवारी, पृ० 207
2. निजामी, पृ० 60
3. तिवारी; पृ० 210

बढ़ गई। वैज्ञानिक दृष्टि के विकास ने उनके पतन में योगदान दिया।[1] जनता ने पुरानी मान्यताओं को त्याग कर नवीन मान्यताओं को स्वीकार करना प्रारम्भ किया। तर्कसंगत बातें स्वीकार की जाने लगीं।[2]

आर्थिक जगत में नवीन हलचल पैदा हुई। पुरानी आर्थिक पद्धति के प्रति लोगों में विद्रोह की भावना पैदा हुई। इन सब कारणों से समाज का पुराना ढाँचा बदल गया। परिणामस्वरूप लोगों ने सूफी साधकों की बातों पर ध्यान देना छोड़ दिया। लोगों में इसके प्रति केवल उदासीनता की भावना नहीं थी, बल्कि तीव्र विरोध भी था। इस प्रकार से सूफी मत की शक्ति का ह्रास हुआ और आज की दुनिया में उसकी शक्ति नगण्य हो गई है।

सूफीवाद का सिद्धांत

नवीं सदी में जब सूफी मत का धर्म के रूप में आविर्भाव हुआ तो इसके लिए कुछ नियमों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। धीरे-धीरे सूफी साधकों में रहस्यवादी प्रवृत्ति और तत्त्व-चिन्तन का प्रवेश हुआ। आगे चलकर तत्त्व-चिन्तकों और दार्शनिकों ने सूफी सिद्धान्तों की विवेचना की और सूफी दर्शन को एक रूप दिया। सूफी साधकों ने परमात्मा, आत्मा, सृष्टि आदि की विवेचना की। साथ ही उन्होंने सूफियों के चरम लक्ष्य तथा गुरु के महत्व की भी विशद व्याख्या की।

परमात्मा

सनातन पंथी इस्लाम के अनुसार परमात्मा एक है, वह काल और स्थान की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है।[3] वह अपने आप में पूर्ण है। वह सर्वज्ञाता, सर्व-शक्तिमान तथा सर्वव्यापी है।[4] उसका ज्ञान, कर्म तथा स्वभाव जीव से बिलकुल भिन्न है। वह परमात्मा आकाश तथा पृथ्वी की ज्योति (नूर) है।[5] आले में रखे हुए दीपक की तरह उसका प्रकाश है, परमात्मा जिसे चाहता है उसे प्रकाश की ओर अग्रसित करता है।[6]

सूफी साधकों के अनुसार वह अद्वितीय पदार्थ जो निरपेक्ष है, अगोचर है,

1. तिवारी, पृ० 211
2. वही, पृ० 211
3. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 595
4. तिवारी, पृ० 248
5. निजामी, पृ० 51
6. ताराचंद, पृ० 72

अपरमित है और नानात्व से परे है वही परम सत्य (अल हक) है। परम सत्य के अतिरिक्त वह परम कल्याण है, परम कल्याण के रूप में वह परम सुन्दर है। इस प्रकार सूफी सन्तों का सिद्धांत सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम पर आधारित था।[1]

मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी ने 'वहदतुल वुजूद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार वास्तविक सत्ता एक है। उस सत्ता के सिवा किसी सत्ता का अस्तित्व नहीं है। वह एकमात्र सत्ता परमात्मा की है।[2] वह नानात्व के पीछे एकत्व है।[3]

आत्मा

आत्मा को सूफी साधकों ने ईश्वर अंश स्वीकार किया है। वह सत्य-प्रकाश का अभिन्न अंग है, परन्तु मनुष्य के शरीर में अपने अस्तित्व को खो बैठता है।[4] आत्मा में पाँच बाह्य तथा पाँच आन्तरिक तत्व हैं, जिनका सम्बन्ध शाश्वत ज्योति से है।[5]

मनुष्य के भीतर जो ईश्वरीय अंश है, वह विशुद्ध सत्ता की एक चिनगारी की भाँति है, उसका सतत प्रयास अपने उद्गम स्थल में मिल जाना है।[6] इस शरीर के पूर्व जो आत्मा की सत्ता थी, वह शरीर में कैद है। इसीलिए सूफी साधक मृत्यु का स्वागत करते हैं। उनका विश्वास है कि मृत्यु के द्वारा वे परमात्मा के पास फिर पहुँच सकते हैं, परन्तु सूफी साधक यह भी स्वीकार करते हैं कि बिना परमात्मा की कृपा से परमात्मा के साथ मिलना सम्भव नहीं है। सूफी का मुख्य कर्तव्य है कि वह दानिया (परमात्मा के एकत्व का ध्यान), जिक्र (परमात्मा का स्मरण), तरीका (सूफी मार्ग) में लगा रहे, तभी परमात्मा के साथ एकमेव होना सम्भव है।[7]

डॉ० ताराचन्द के अनुसार आत्मा में तीन प्रधान तत्व हैं—सत्व, रजस् तथा तमस्। इन तीनों का समन्वय श्रेष्ठ अवस्था माना जाता है।[8] सूफी साधकों की दृष्टि में आत्मा में दो गुण प्रधान होते हैं, नफ्स तथा रुह। नफ्स सभी अवगुणों, गर्व, अज्ञानता, क्रोध, काम, मद का स्रोत है। रुह ईश्वर के निवास का स्थान है। इन

---

1. तिवारी, पृ० 251
2. वही, पृ० 256
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 77
4. ताराचंद, पृ० 76
5. वही, पृ० 72
6. तिवारी, पृ० 255
7. वही, पृ० 255
8. ताराचंद, पृ० 73

दोनों में सदैव संघर्ष होता है। रुह अथवा नफ्स को शक्ति के कारण मनुष्य अच्छे तथा बुरे कर्मों की ओर अग्रसित होता है।[1]

जगत

परमात्मा को जब सृष्टि द्वारा अभिव्यक्ति करने की इच्छा हुई तो उन्होंने एक ज्योति का निर्माण किया। यह ज्योति नूरे मुहम्मद तथा नूरे अहमद कही जाती है। इस ज्योति के लिए परमात्मा ने सृष्टि की रचना की।[2] सूफी साधकों का विश्वास है कि परमात्मा ने हकीकतुलमुहम्मदिया पर दृष्टि डाली, तब वह गलकर सूर्य, चन्द्र, बुद्ध, शुक्र, मंगल, वृहस्पति, शनि तथा नक्षत्र गण के रूप में उत्पन्न हुई।[3] नूरुल मुहम्मदिया पर दृष्टि डालने से अग्नि, हवा, जल और पृथ्वी का निर्माण हुआ।[4] तथा विश्व में वृक्ष, पशु, पक्षी, जीव जंतु तथा मनुष्य का निर्माण हुआ।

सूफी साधक जगत को माया से पूर्ण नहीं देखते थे। ईश्वर सृष्टि को शीशा समझकर अपनी छाया को देखा है।[5]

मनुष्य

जीव जगत में अनन्यतम मानव है। मनुष्यों में उच्चतम पूर्ण मानव है। सभी प्राणी जान अथवा अनजान में पूर्ण मानव के स्तर तक पहुँचने के लिए सचेष्ट रहते हैं। क्योंकि यहीं पहुँच कर वह प्रथम ज्ञान में प्रवेश करता है। उसी अवस्था में आत्मा उस परम ऐश्वर्य में प्रवेश करता है।[6] सूफी साधकों के अनुसार मनुष्य परमात्मा के सभी गुणों को अभिव्यक्त करता है।[7] इस प्रकार मनुष्य उन सभी गुणों को जो ब्रह्माण्ड में अभिव्यक्त हो रहे हैं, अपने में ग्रहण करता है, और उन गुणों के समाहार को अभिव्यक्त करता है। परमात्मा के सभी गुण मनुष्य के हृदय को जानना, परमात्मा को जानना है।[8]

सृष्टि में मनुष्य, परमात्मा की अनन्यतम अभिव्यक्ति है। मनुष्य का चरमोत्कर्ष

---

1. तिवारी, पृ० 283
2. वही, पृ० 263
3. वही, पृ० 268-9
4. वही, पृ० 269
5. ताराचन्द, पृ० 76
6. तिवारी, पृ० 270
7. ताराचन्द, पृ० 76
8. वही, पृ० 76

पूर्णमानव है। वह मानव जाति तथा परमात्मा के बीच कड़ी है। परमात्मा उसी में अपने को प्रदर्शित करता है।[1] पूर्ण मानव वह है जो परमात्मा के साथ एकत्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर चुका है। उसका निर्माण परमात्मा के अनुरूप ही हुआ है। आदम से मुहम्मद तक सभी पैगम्बर, औलिया, संत पूर्ण मानव की कोटि में हैं।[2]

गुरु (मुर्शीद)

सूफी साधक पूर्ण मानव को अपना गुरु मानता है, बिना आध्यात्मिक गुरु के वह कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता है। निकोल्सन के अनुसार यदि सूफी साधक गुरु विहीन है तो सैटन उसका इमाम है।[3] आध्यात्मिक गुरु पीर, अथवा शेख पर ही सारा सूफी सिद्धान्त आधारित हैं।[4] मुरीद अपने मुर्शीद को ईश्वर की भाँति सदैव स्मरण करता है। डॉ० ताराचन्द के अनुसार पैगम्बर मुहम्मद ने इस्लाम (अल्ला के समक्ष आत्मसमर्पण) की शिक्षा दी तथा सूफीवाद ने मुर्शीद अथवा आध्यात्मिक गुरु के समक्ष आत्ससमर्पण पर विशेष बल दिया।[5]

लक्ष्य की प्राप्ति

अल हक्क के साथ एकत्व प्राप्त करना सूफी साधना का चरम लक्ष्य है। सूफी साधकों को जब यह अनुभूति होती है कि समस्त क्रियाओं और अस्तित्वों का एकमात्र कारण परमात्मा की शक्ति है, तो वह उस रहस्य को जानना चाहता है।[6] इस लक्ष्य को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं—जिक्र (जिक्र-ए-जली, जिक्र-ए-खफी) अल्ला के नाम को जोर से तथा हृदय से स्मरण करना।[7] भावाविष्ठावस्था के संबंध में सूफियों ने वज्द (भाव), सभा (संकीर्तन), जौक (स्वाद), शर्ब (पीना), गैबत (अलं से बेखर होना), जज्बात तथा हाल आदि साधनों का प्रतिपादन किया है।[8] मुर्शीद (गुरु का मार्ग निर्देशन) को सूफी साधकों ने लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक अंग माना है।

भावाविष्ठावस्था (वज्द) के द्वारा सूफी साधक उस अवस्था तक पहुँच जाता

1. तिवारी, पृ० 273
2. वही, पृ० 274
3. निकोल्सन, पृ० 184
4. ताराचंद, पृ० 81
5. वही, पृ० 82
6. तिवारी, पृ० 290
7. ताराचंद, पृ० 78
8. तिवारी, पृ० 292

हं जहाँ वह परम सत्य का साक्षात्कार करता है, जहाँ वह परमात्मा के साथ एकमेक हो जाता है। साधकों को इस स्तर तक पहुँचने में स्त्री पुरुष का भेद कोई अर्थ नहीं रखता।

सूफी साधक परमात्मा में पूर्ण लय हो जाने को फना की अवस्था मानते हैं। कुछ संतों के अनुसार सूफी साधना का यही चरम लक्ष्य है। इस अवस्था में साधक जागतिक प्रपंचों से अलग होकर अपने अस्तित्व को लय कर देता है।[1]

कुछ सूफी साधकों के अनुसार फना सूफीवाद की अन्तिम अवस्था नहीं है। वास्तविक अस्तित्व का प्रारम्भ तो फना के बाद होता है। अहं को मिटाकर साधक को फना की अवस्था प्राप्त होती है और उसके बाद बका की अवस्था आती है जिसमें वह परमात्मा के साथ एकमेक होकर रहने लगता है।[2] सूफीवाद का यही परम लक्ष्य है।

प्रेम

प्रायः सभी धर्मों में परमात्मा के प्रति प्रेम को बड़ा स्थान दिया गया है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन है। प्रेम से ही मनुष्य के हृदय में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है। सूफी इसी से परमात्मा को प्राप्त करने की आशा रखते हैं। अबू तालिब ने कहा है कि प्रेम से परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का भेदन होता है।[3] तथा उसका ज्ञान प्राप्त होता है। प्रेम एक उत्प्रेरक शक्ति है, जो साधकों को आध्यात्मिक मार्ग पर लगा देती है। यह एक ऐसी वासना है, जो समस्त वासनाओं को हृदय से दूर करती है। अलशिबली का कहना है कि प्रेम हृदय में अग्नि के समान है, जो परमात्मा की इच्छा के सिवाय सभी वस्तुओं को जला कर भस्म कर देती है।[4] प्रेम से प्रियतम के सभी गुण आ जाते हैं। प्रेमी की अहं भावना दूर हो जाती है और वह प्रियतम हो जाता है। सूफी परमात्मा को प्रियतम मानता है। परमात्मा उस साधक का प्रियपात्र अथवा माशूक है, जिसके प्रेम में वह व्याकुल रहता है। प्रेम से वह अनन्त सौन्दर्य का रसास्वादन करता है। क्योंकि जहाँ सौन्दर्य नहीं, प्रेम का होना कठिन है। अतः परमात्मा की अनुभूति के लिए प्रेम ही एकमात्र साधन है।

भारतवर्ष में सूफीमत का विकास उदारवादी विचारधारा काल

भारतीय परिपार्श्व में सूफीमत का विकास मुस्लिम शासन की स्थापना के

---

1. तिवारी, पृ॰ 297
2. वही, पृ॰ 298
3. वही, पृ॰ 310
4. वही पृ॰ 310

साथ होता है।[1] थोड़े ही समय में सूफी सिलसिला तथा खानकाह का विस्तार तथा मुल्तान से लखनौती तथा पंजाब से देवगिरि तक हो गया।[2] इतनी शीघ्र सफलता का कारण था कि सूफी साधकों ने भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण के अनुकूल अपने को ढालने का निश्चय किया।[3] उन लोगों ने अपने विचारों द्वारा जनता की समस्याओं का संतोषजनक समाधान निकालने का प्रयास किया। भक्ति आन्दोलन के सुधारकों ने जिन समस्याओं पर विचार किया, सूफी साधकों ने उसी वातावरण के अनुकूल अपने को बनाया, तथा अनेक हिन्दू संस्कारों और रीतिरिवाजों को अपनाया। शेख के समक्ष नतमस्तक होना, अतिथि को जल देना, जनबिल का आपस में घुमाना, नये शिष्य का सिर मुड़ाना, समा (संकीर्तन) का आयोजन चिल्लाह्-ए-मा-अकुस (भारतीय प्राणायाम) आदि रीतियों तथा सिद्धान्तों को हिन्दू और बौद्ध धर्मों से ग्रहण करके उन्होंने हिन्दू जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया।[4]

सूफी साधकों का दार्शनिक वर्ग के वेदांत से इतना प्रभावित था कि उनकी दृष्टि में धर्म तथा देश में अन्तर निरर्थक था। उन लोगों ने धर्म परिवर्तन को अनावश्यक समझा।[5] सूफी साधकों का दूसरा वर्ग अशिक्षित था। इन लोगों ने तंत्र-मंत्र तथा धार्मिक विश्वासों को अपनाया। उनकी चत्मकारिक क्रियाओं से बहुत से हिन्दू आकृष्ट हुए।[6]

इस काल में सूफी संतों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जब दिल्ली के अधिकांश सुल्तान धर्मांध तथा रुढ़िवादी थे, तो सूफी साधकों ने अत्यन्त उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। जिस समय वे शक्ति, लोभ और नौकरी के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य कर रहे थे, उस समय सूफी साधकों ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। सम्भवतः वे भक्ति आंदोलन के उदारवादी और समन्वयवादी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित थे। इस प्रकार सूफी मत के विकास का प्रारम्भिक स्वरूप अत्यन्त उदारवादी था।

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 596
2. निजामी, पृ० 175
3. वही, पृ० 178
4. वही, पृ० 179
5. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 597
6. वही, पृ० 597

चिश्ती सिलसिला

भारतवर्ष में सबसे लोकप्रिय चिश्ती सिलसिला के प्रवर्तक ख्वाजा इसहाक शामी चिश्ती माने जाते हैं।[1] कुछ विद्वान् ख्वाजा अबू अब्दाल को इसका संस्थापक मानते हैं।[2] भारतवर्ष में इस सिलसिला की स्थापना का श्रेय ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती को ही है।[3]

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म 1141 ई० में ईरान के सिस्तान नामक नगर में हुआ था।[4] इनके पिता सैय्यद गयासुद्दीन एक धार्मिक स्वभाव के व्यक्ति थे। पिता की मृत्यु के बाद एक बार शेख मुइनुद्दीन अपने बगीचे में बैठे हुए थे। भाग्यवश शेख इब्राहीमकुंदुजी वहाँ पधारे और उन्होंने बालक को आध्यात्मिक दीक्षा दी। प्रो० निजामी के अनुसार सिस्तान पर कराखिता के आक्रमण के फलस्वरूप इनके जीवन में आध्यात्मिक विचारों का उद्गार हुआ।[5] उन्होंने अपना सब कुछ बेचकर गरीबों को बाँट दिया और वे एक आध्यात्मिक गुरु की खोज में निकल पड़े। बाद में ख्वाजा उस्मान से उनकी भेंट हुई।[6] ख्वाजा उस्मान हारूनी का शिष्य होकर वे कई वर्षों तक उनके साथ रहे। उन्होंने स्वयं कहा है कि वे अपने गुरु की सेवा में सारा समय लगाते थे, और एक क्षण भी आराम नहीं करते थे। रात की यात्रा के समय उनका सभी सामान ढोते थे।[7]

शेख उस्मान के आदेशानुसार वे लाहौर नगर में आये।[8] अन्त में अजमेर में स्थायीरूप से रहने लगे। अजमेर के हिन्दुओं ने इनका विरोध किया। पृथ्वीराज चौहान ने धर्म गुरु रामदेव को शेख को अजमेर से निष्कासित करने के उद्देश्य से भेजा, परन्तु रामदेव उनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने शेख का शिष्य होना स्वीकार कर लिया।[9] अजमेर में मुइनुद्दीन चिश्ती ने अपना शेष जीवन व्यतीत करते

---

1. तिवारी, पृ० 443
2. युसुफ हुसेन, पृ० 36
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 80
4. निजामी, पृ० 182
5. वही, पृ० 183
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 80
7. निजामी, पृ० 183
8. युसुफ हुसेन, पृ० 36
9. वही, पृ० 37

हुए नश्वर शरीर का त्याग 1236 में किया।[1] आज भी अजमेर में उनकी दरगाह लाखों संतों का तीर्थस्थल है।

बहुत दिनों तक शेख साहब अविवाहित ही रहे। अंत में उन्होंने दो शादियाँ कीं। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार इनकी पत्नियों में एक हिंदू थी।[2] पहली पत्नी उम्मतुल्ला से एक कन्या बीबी हाफिज जमाल पैदा हुई। दूसरी पत्नी उस्मतुल्ला से तीन पुत्र—हिसामुद्दीन, फखरुद्दीन तथा अबूसईद हुए।[3] शेख मुइनुद्दीन चिश्ती अपने जीवनकाल में इतने लोकप्रिय हो गए थे कि इन्हें मुहम्मद गोरी ने सुल्तान-उल-हिन्द अर्थात् हिन्द का आध्यात्मिक गुरु की उपाधि से विभूषित किया था।[4]

हमीदुद्दीन नागौरी

शेख हमीदुद्दीन का जन्म 1274 ई० में हुआ था।[5] सम्भवतः ये प्रथम मुस्लिम संत हैं जिनका जन्म मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद दिल्ली में हुआ।[6] कुछ समय के बाद ये मुइनुद्दीन चिश्ती के शिष्य हो गये। इनके आध्यात्मिक गुणों से प्रभावित होकर शेख साहब ने इन्हें सुल्तान उत-तरींकीन (असहायों के बादशाह) की उपाधि से विभूषित किया।[7]

शेख हमीदुद्दीन अपनी पत्नी के साथ नागौर के सुवल गाँव में रहते थे। इनके पास केवल एक बीघा जमीन थी। उसी से अपना तथा पत्नी का जीवन निर्वाह करते थे। अपने हाथों से बुनकर कपड़ा पहनते थे। मिट्टी तथा फूस का एक झोपड़ा बना कर रहते थे। इनके पास एक गाय थी।[8] कहा जाता है कि वे स्वयं मांस नहीं खाते और इसके लिए अपने शिष्यों को भी मना करते थे।[9] वे समन्वयवादी थे। गैर मुसलमानों के आध्यात्मिक गुणों की प्रशंसा करते थे।[10]

---

1. तिवारी, पृ० 450
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 80
3. तिवारी, पृ० 453
4. युसुफ हुसेन, पृ० 36
5. निजामी, पृ० 185
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 81
7. निजामी, पृ० 186
8. वही, पृ० 186
9. वही, पृ० 186-87
10. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 81

शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी

शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी का जन्म 1235 में फरगाना के गौस नामक स्थान में हुआ था ।[1] बख्तियार (भाग्य बन्धु) नाम मुइनुद्दीन का दिया हुआ था ।[2] काकी (रोटियों वाला) रोटी बाँटने की कहानी के साथ जुड़ा हुआ है ।[3] इन्होंने अपना अधिकांश समय भ्रमण में व्यतीत किया । जब वे दिल्ली आये तो सुल्तान इल्तुतमिश और दिल्ली की जनता ने उनका भव्य स्वागत किया ।

इल्तुतमिश चिश्ती सम्प्रदाय से बहुत प्रभावित था । उसने शेख कुतुबुद्दीन को शेखउल इस्लाम के पद पर नियुक्त करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु शेख ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । सुल्तान ने नज्मुद्दीन सुगरा को नियुक्त किया । वह शेख की लोकप्रियता को देखकर ईर्ष्या करता था । मुइनुद्दीन चिश्ती के दिल्ली आने पर कुतुबुद्दीन के सम्बन्ध में शिकायत की । मुइनुद्दीन चिश्ती जब अपने प्रिय शिष्य को लेकर दिल्ली से जाने लगे तो दिल्ली की रोती हुई जनता तथा सुल्तान इल्तुतमिश ने उनका पीछा किया । अन्त में अपने गुरु के कहने से वे दिल्ली रुक गये ।[4] इनकी मृत्यु नवम्बर सन् 1235 में हो गई ।[5]

फरीदुद्दीन मंसूद शकरगंज

फरीदुद्दीन मंसूद शकरगंज का जन्म मुल्तान जिले के कठवाल शहर में 1175 में हुआ था ।[6] चंगेज खाँ के आक्रमण के समय इनके पितामह काबुल से भाग कर पंजाब चले आए थे । इनका परिवार कठवाल में रहता था । शेख कुतुबुद्दीन बाबा फरीद के नाम से प्रसिद्ध है । इनके नाम के साथ शकरगंज शब्द भी जुड़ा हुआ है । बचपन में माँ नमाज पढ़ने के लिए दरी के नीचे कुछ मिठाइयाँ प्रलोभन के रूप में रख देती थीं । एक दिन वह मिठाई रखना भूल गई । जब उन्होंने दरी उठाई तो मिठाइयों का ढेर था । उसी समय से इन्हें शकरगंज कहा जाने लगा ।[7]

उन्होंने बुढ़ापे में शादी की थी । उनके छः लड़के और चार लड़कियाँ थीं ।

---

1. निजामी, पृ० 188
2. तिवारी, पृ० 455
3. वही, पृ० 455
4. युसुफ हुसेन, पृ० 38
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 82
6. तिवारी, पृ० 459
7. वही, पृ० 459-60

इनकी तीन पत्नियाँ थीं। पहली पत्नी दिल्ली के बादशाह बलबन की पुत्री थी। उसका नाम हुजैरा था।[1] हुजैरा के साथ दो दासियाँ आई थीं। बाबा फरीद ने उन दोनों से भी शादी कर ली।[2] बलबन ने हुजैरा को खूब धन दिया था और एक महल भी बनवा दिया, परन्तु शेख ने सभी धन को गरीबों में बँटवा दिया। हुजैरा अपने पति की तरह गरीबी का जीवन व्यतीत करती थी।[3]

बाबा फरीद, शेख कुतुबुद्दीन के शिष्य थे। पहले हाँसी में रहते थे, बाद में अजोधन (पाकपट्टन) में रहने लगे। सम्भवतः बाबा फरीद प्रथम तथा अन्तिम सूफी साधक हैं जिन्होंने चिल्लाह्-ए-मा-अकुस की साधना की।[4] मुहम्मद गौसी के अनुसार भारतवर्ष के सभी सूफी सन्तों में तपस्या और भक्ति की दृष्टि से उनका स्थान अग्रगण्य है।[5] 93 वर्ष की अवस्था में उनका देहांत 1265 ई० में हो गया और उन्हें अजोधन में दफनाया गया।[6]

शेख बहुत ही लोकप्रिय थे। सुबह से शाम तक वे दर्शकों से घिरे रहते थे। शुक्रवार के दिन जब वे नमाज पढ़ने के लिए मस्जिद जाते थे तो हजारों की संख्या में लोग उनका हाथ चूमते थे।[7] 1252 में जब सुल्तान नासिरुद्दीन ने मुल्तान और उच्छ की यात्रा की तो उनके सैनिकों ने इस अवसर का लाभ उठाकर शेख का दर्शन करने का निश्चय किया। उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि शेख के लिए सभी से मिलना कठिन हो गया। अन्त में उनका कुर्ता पेड़ पर टाँग दिया गया, लोग उसे स्पर्श कर के चले जाते थे।[8] उपरोक्त उदाहरणों में से उनकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

निजामुद्दीन औलिया

शेख निजामुद्दीन औलिया का वास्तविक नाम मुहम्मद बिन अहमद बिन

---

1. तिवारी, पृ० 460
2. वही, पृ० 460
3. वही, पृ० 460
4. निजामी, पृ० 191
5. निजामी, पृ० 191
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 82
7. निजामी, पृ० 191
8. वही पृ० 192

दानियल अल बुखारी था।[1] इनका जन्म बदायूँ में 1236 में हुआ था।[2] पाँच वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु के बाद माँ ने इनका पालन-पोषण किया।[3] इनकी माता का नाम जुलैखा था। शेख औलिया अत्यन्त मातृ-भक्त थे। उनके जीवन पर उनकी माँ का अधिक प्रभाव पड़ा।

निजामुद्दीन बाबा फरीद की ख्याति को सुनकर अजोधन चले गये और उनके शिष्य हो गये। कहा जाता है कि बाबा फरीद इनके आध्यात्मिक गुण से इतने प्रभावित थे कि बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने इनको अपना खलीफा बनाकर दिल्ली भेजा।[4] वे स्थायी रूप से गियासपुर (दिल्ली के निकट) रहने लगे।

उन्होंने अपने जीवनकाल में दिल्ली के सात सुल्तानों का शासन देखा था। दुर्भाग्यवश इनका सम्बन्ध किसी भी शासक के साथ अच्छा नहीं था। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक तो इनकी लोकप्रियता से इतनी ईर्ष्या रखता था कि इनके संगीत समारोहों के कारण उसने इनके विरुद्ध मुकदमा चलवाया।[5] इन्होंने अलाउद्दीन खिलजी तथा कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी से भी मिलना अस्वीकार कर दिया।[6] 1325 में शेख निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हो गई।[7] गियासपुर में इन्हें दफनाया गया।

इनके शिष्यों में अमीर खुसरो और अमीर हसन देहलवी प्रमुख थे। बर्नी के अनुसार निजामुद्दीन औलिया के समय में चिश्ती सिलसिला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।[8] चिश्ती सिलसिला के सूफी साधकों में ये सब से लोकप्रिय थे।

सिद्धान्त

(i) चिश्ती सिलसिला में चिल्ल का प्रचलन था। चिल्ल का तात्पर्य है कि साधक चालीस दिनों तक किसी मस्जिद अथवा बन्द कमरे में अपना समय व्यतीत करता था। उस समय वह अल्प भोजन करता था। अपना सारा समय प्रार्थना तथा ध्यान में लगाता था। वह बातचीत कम करता था। वह

---

1. तिवारी, पृ० 460
2. वही, पृ० 460
3. युसुफ हुसेन, पृ० 39
4. तिवारी, पृ० 461
5. युसुफ हुसेन, पृ० 41
6. वही, पृ० 41-42
7. तिवारी पृ० 461
8. निजामी, पृ० 195

इल्ला-ल्लाहु पर खूब जोर देता था। जोर से चिल्लाते हुए शरीर के ऊपरी भाग तथा सिर को हिलाता था। वह रंगीन वस्त्र धारण करता था। उसके सिर पर बड़े-बड़े बाल होते थे। अली को परमात्मा और मुहम्मद के बराबर मानता है।[1]

(ii) चिश्ती सिलसिला में दीक्षित होने वाले मुरीद को सबसे पहले नमाज के दो रुका कहना पड़ता था। इसके बाद मुर्शीद (गुरु) कुछ नियम बताता था, जिसका पालन करना शिष्य के लिए आवश्यक होता था। अल्लाह के नाम में वह भोजन करता है, उसे समस्त जीवन परमात्मा का ध्यान करते हुए बिताना होगा और उसकी निद्रा मृत्यु के साथ है।[2]

(iii) उससे कहा जाता है कि तुम फकीर हो, तुम्हें इन उपदेशों का ध्यान रखना होगा। फकीर शब्द फारसी के फे, काफ, ये, रे से बना है। फे का मतलब फाका (उपवास), काफ का मतलब कन्नत (संतुष्टि), या का तात्पर्य यादे इलाही (परमात्मा का स्मरण), तथा रे का तात्पर्य रियाजत (प्रायश्चित) है। इन चारों का पालन करने के लिए शिष्य से कहा जाता था।[3]

(iv) इसके बाद शिष्य से मुर्शीद का ध्यान रखने के लिए कहा जाता था। विशेष रूप से वह इस नाम को प्रतिदिन स्मरण करता था।

(v) मुर्शीद अपने शिष्य को कोई पवित्र नाम बताता था, जिसे वह किसी दरगाह में जाकर जपता था। चालीस दिनों तक उपवास करते हुए उसे इस नाम का जप करना पड़ता था। इस अवस्था में वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान को देखता है। सभी जगत उसके लिए प्रत्यक्ष हो जाता है। भावाविष्ठावस्था में सर्वव्यापिनी शक्ति का वह साक्षात्कार करता है। इसी अवस्था में उसे नाज तथा नयाज का रहस्य प्रकट होता है। इसके बाद इस्मे जात (सत्ता के नाम) का चरम रहस्य अपने को उस पर प्रकट करता है।[4]

(vi) इस सम्प्रदाय में संगीत को प्रधानता दी गई। साधक संगीत सुनकर भावा-विष्ठावस्था को प्राप्त होता है।[5] संगीत से प्रेम भावना उत्पन्न होती है। सूफी

---

1. तिवारी, पृ० 446
2. वही, पृ० 446
3. वही, पृ० 446-7
4. वही पृ० 447
5. युसुफ हुसेन, पृ० 46

संतों ने इस्लाम विरोधी संगीत के औचित्य को सिद्ध किया।[1] शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के अनुसार संगीत आत्मा का भोजन है।[2]

अतः उन लोगों ने गाना तथा संगीत आयोजन को आवश्यक माना। सनातन पन्थी इस्लाम में संगीत वर्जित है। जब उलेमा ने इसका विरोध किया तो इल्तुतमिश ने इसे बन्द कराने का आदेश निकाला।[3] शेख निजामुद्दीन औलिया के समय में जब संगीत समारोहों के आयोजन में वृद्धि हुई तो गयासुद्दीन तुगलक ने शेख पर मुकदमा चलाया। परन्तु अधिकांश न्यायाधीशों ने न्याय शेख के पक्ष में दिया।[4] बंगाल अभियान से लौटते हुए गयासुद्दीन तुगलक ने अपने पुत्र उलुग खाँ को आदेश दिया कि वह शेख को राजधानी से निष्कासित कर दे ताकि संगीत की आवाज उसके कानों तक नहीं पहुँच सके।[5] शेख को जब इसकी सूचना मिली तो उन्होंने इतना ही कहा कि दिल्ली आपके लिए बहुत दूर है। दुर्भाग्यवश सुल्तान कभी भी दिल्ली न पहुँच सका और उसकी मृत्यु हो गई।[6]

राजनीति के प्रति दृष्टिकोण

चिश्ती सिलसिला के सूफी साधक सदैव राजनीतिक गतिविधियों के प्रति उदासीन थे। प्रो० निजामी के शब्दों में दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक संस्थानों के निर्माण कार्यों में उन साधकों ने शासक तथा अमीर वर्ग को कोई सहयोग नहीं दिया, बल्कि सांस्कृतिक कार्यों के केन्द्रों तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया था।[7] राजनीति से अलग रहकर भी उनके हृदय में दिल्ली नगर के प्रति आकर्षण था।[8] शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के प्रति इल्तुतमिश के हृदय में इतनी श्रद्धा थी कि वह चाहता था कि शेख उसके दरबार में रहें। परन्तु शेख कुतुबुद्दीन सुल्तान की संगति को अपने अध्यात्मिक मार्ग में अवरोध मानते थे।[9]

1. युसुफ हुसेन, पृ० 46
2. तिवारी, पृ० 449
3. वही, पृ० 446
4. युसुफ हुसेन, पृ० 41
5. वही, पृ० 41
6. वही, पृ० 41
7. निजामी, पृ० 189
8. वही, पृ० 190
9. युसुफ हुसेन, पृ० 38

उन्होंने सुल्तान द्वारा प्रस्तावित शेख-उल इस्लाम के पद को अस्वीकार कर दिया।[1]

बाबा फरीद राजधानी से दूर एकान्त जीवन व्यतीत करना चाहते थे।[2] वे न तो शासक वर्ग और न अमीरों की संगति पसन्द करते थे। उनके शिष्य सीदी मौला जब अजोधन छोड़कर दिल्ली जाने लगे तो बाबा फरीद ने कहा था कि "मेरे एक सुझाव पर ध्यान रखना। बादशाहों और अमीरों को मित्र न बनाना। अपने निवास स्थान पर उनका आगमन घातक समझना। उन दरवेशों का जिन्होंने बादशाह तथा अमीरों को अपना मित्र बनाया, अन्त दुखद हुआ।"[3]

अपने शिष्य निजामुद्दीन औलिया को उपदेश देते हुए बाबा फरीद ने कहा था कि "सूफीवाद का लक्ष्य जीवन की निषिद्ध वस्तुओं तथा शासकों की संगति का परित्याग करके हृदय में परमशक्ति का ध्यान करना है।"[4] बलबन की बाबा फरीद के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तथा भक्ति थी। फिर भी शेख ने कोई लाभ नहीं उठाया। उन्होंने बलबन से स्पष्ट कह दिया था कि यदि आप मुझे कुछ देते हैं तो देनेवाला अल्लाह है, आप तो उसके प्रतिनिधि के रूप में देते हैं। आप धन्यवाद के पात्र हैं।

बाबा फरीद के शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया था। जब बलबन के उत्तराधिकारी कैकुबाद ने किलोघरी को अपनी राजधानी बनाई तो शेख ने गयासपुर छोड़ने का निश्चय कर लिया था।[6] सुल्तान जलाउद्दीन खलजी ने अमीर खुसरो के माध्यम से शेख का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु शेख ने सुल्तान के सभी प्रयासों को विफल कर दिया।[7] अलाउद्दीन खलजी ने भी शेख का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। शेख ने कहा कि मेरे निवास स्थान में दो दरवाजे हैं। यदि सुल्तान एक द्वार से प्रवेश करेगा तो मैं दूसरे द्वार से बाहर निकल जाऊँगा।[8] कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खलजी ने कहा कि शेख निजामुद्दीन

---

1. युसुफ हुसेन, पृ० 38
2. वही, पृ० 38
3. वही, पृ० 39
4. वही, पृ० 39
5. वही, पृ० 39
6. वही, पृ० 40
7. वही, पृ० 40
8. वही, पृ० 40

औलिया को अन्य उलेमा की भाँति उसके दरबार में उपस्थित होना चाहिए। शेख ने कहा कि मैं अवकाश प्राप्त एकांत जीवन व्यतीत करता हूँ, और कहीं भी नहीं जाता। अतः मुझे दरबार में उपस्थित होने से क्षमा किया जाय।[1] शेख निजामुद्दीन औलिया और गयासुद्दीन तुगलक का सम्बन्ध तो कभी भी अच्छा नहीं रहा। इसी नाराजगी के कारण सुल्तान ने शेख को दण्ड देने के लिए मुकदमा चलवाया तथा बंगाल अभियान से लौटते समय आदेश दिया था कि उसके राजधानी में प्रवेश के पहले ही शेख राजधानी छोड़ दे।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफी संतों तथा शासक वर्ग का सम्बन्ध कभी सामान्य नहीं रहा।

मानवतावाद

चिश्ती सिलसिला के सूफी साधकों का सिद्धांत मानव समाज की सेवा था। मनुष्य परमात्मा की सबसे बड़ी कृति है। अतः मनुष्य की सेवा का तात्पर्य ईश्वर की सेवा है। चिश्ती सिलसिला के प्रवर्तक शेख मुइनुद्दीन चिश्ती ने कहा था कि गरीबों के कष्ट को दूर करना, असहायों की सहायता करना, भूखे को भोजन देना सूफी साधकों का परम कर्तव्य है।[3] मीर खुर्द की सहानुभूति दुख संतप्त मानव समाज के प्रति विशेष थी। वे बहुत बड़े मानवतावादी थे।[4] उन्होंने कहा था कि सभी को आराम देना और एक टूटे हुए हाथ तक रोटी के टुकड़े को पहुँचाना एक सूफी साधक का कर्तव्य है।[5] निजामुद्दीन औलिया ने मानवता के प्रति प्रेम अपने शिष्यों को सिखाया। उनकी दृष्टि में मानवता के प्रति प्रेम का तात्पर्य परमात्मा के प्रति प्रेम है।[6] नूर कुत्ब-ए आलम ने अपना सारा जीवन गरीबों के बीच व्यतीत किया।[7] मानव समाज के प्रति श्रद्धा तथा सहानुभूति इस्लाम धर्म का प्रमुख सिद्धांत है।[8] इन साधकों ने शासक वर्ग से कहा कि उसका कर्तव्य है प्रजा की सेवा करना। यदि कोई स्त्री भूखे तथा नंगे सोती है तो शासक को कयामत के दिन अल्लाह के समक्ष उत्तर

---

1. युसुफ हुसेन, पृ० 40
2. वही, पृ० 41
3. निजामी, पृ० 185
4. वही, पृ० 184
5. युसुफ हुसेन, पृ० 42-3
6. वही, पृ० 43
7. वही, पृ० 44
8. वही, पृ० 45

देना पड़ेगा।[1] शेख कुतुबुद्दीन ने इल्तुतमिश को सुझाव देते हुए कहा था कि हे दिल्ली के शासक, गरीब, असहाय जनता तथा दरवेश के प्रति उदार हो। सभी मनुष्यों के प्रति उदार हो और उनके कल्याण के लिए प्रयत्न करो। अपनी प्रजा के प्रति इस प्रकार व्यवहार करने वाले के प्रति ईश्वर की कृपा होती है, उसके शत्रु भी मित्र हो जाते हैं।[2]

समन्वयवाद

चिश्ती सिलसिला के सूफी साधक इस्लाम की रूढ़िवादी विचारधारा को त्यागकर हिन्दू-मुसलमानों को समन्वयवाद के रंगमंच पर लाना चाहते थे। भारतीय समाज को यह उनकी सबसे बड़ी देन है। चिश्ती सम्प्रदाय के प्रवर्तक शेख मुइनुद्दीन चिश्ती ने एक हिन्दू राजा की पुत्री से शादी करके अपने उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया तथा हिन्दू-मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया।[3] इन साधकों से खानकाह में हिन्दू संगीतज्ञों को प्रश्रय मिला। उनका रहस्यवादी दृष्टिकोण हिन्दू धर्म तथा वेदान्त दर्शन पर आधारित था।[4] शेख हमीदुद्दीन हिन्दुओं के आध्यात्मिक गुणों की बड़ी प्रशंसा करते थे।[5] एक आगन्तुक ने शेख निजामुद्दीन औलिया से पूछा कि यदि कोई हिन्दू नमाज पढ़ता है तो आपका दृष्टिकोण क्या होगा। शेख ने केवल इतना ही कहा है कि यह ईश्वर का कर्तव्य है कि उसे दण्ड अथवा पुरस्कृत करे।[6] इस सिलसिला के सूफी साधकों ने मुस्लिम शासकों की धर्म परिवर्तन की नीति का विरोध किया और इसे अनावश्यक बताया।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

अधिकांश चिश्ती साधक फकीर जैसा जीवन व्यतीत करने पर जोर देते थे। वे धन को आध्यात्मिक विकास में अवरोध मानते थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती तथा शेख कुतुबुद्दीन ने कभी भी अपने रहने के लिए घर तक नहीं बनवाया। बाबा फरीद के पास केवल एक कच्चा मकान था। एक बार बाबा फरीद के शिष्य ने पक्का मकान बनाने को कहा तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया।[7] शेख हमीदुद्दीन नागौरी के पास एक बीघा

1. युसुफ हुसेन, पृ० 45
2. निजामी, पृ० 189
3. वही, पृ० 203
4. वही, पृ० 184
5. वही, पृ० 187
6. वही, पृ० 179
7. वही, पृ० 199

जमीन और एक कच्चा मकान था। एक बार राज्य की ओर से कुछ जमीन देने की बात आई तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे तथा उनकी पत्नी स्वयं कपड़ा बुन कर आवश्यक कपड़े तैयार करते थे।[1] सूफी साधक फुतुह (बिना माँगे हुए धन) से जीवन निर्वाह करते थे।[2] वे कर्ज लेने की अपेक्षा भूख से मरना अधिक श्रेयष्कर समझते थे।[3] शेख मुइनुद्दीन चिश्ती तथा बाबा फरीद फटे कपड़ों में आनन्द का अनुभव करते थे।[4]

शेख कुतुबुद्दीन जीवन के प्रति इतने उदासीन थे कि लड़के की मृत्यु के बाद उन्हें बीमारी का पता चला।[5] बाद में उन्होंने कहा कि यदि मुझे पहले पता चलता तो मैं परमात्मा से प्रार्थना कर उसकी प्राण रक्षा कर सकता था।[6] केवल शेख निजामुद्दीन औलिया को छोड़कर सभी साधकों ने शादी की और गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया।[7]

सुहरावर्दी सिलसिला

मंगोल तथा गजनवी तुर्कों के आक्रमण और उनके विनाशकारी प्रभाव के कारण शेख शिहाबुद्दीन के शिष्य भाग कर भारतवर्ष में शरण लिए।[8] शिहाबुद्दीन स्वयं भारत में कभी नहीं आए।[9] भारतवर्ष में सुहरावर्दी सिलसिला के प्रवर्तक शेख बहाउद्दीन जकारिया थे। इनका जन्म मुल्तान के कोट अरोर नामक स्थान पर 1182 ई० में हुआ था।[10] बचपन से ये मृदु स्वभाव के थे। इसलिए इनका नाम बहाउद्दीन अथवा देवदूत रखा गया।[11] इनके आध्यात्मिक गुणों से प्रभावित होकर बाबा फरीद इन्हें शेख-उल-इस्लाम के नाम से पुकारते थे।[12] कहा जाता है कि इल्तुतमिश के

1. निजामी, पृ० 186
2. वही, पृ० 199
3. वही, पृ० 200
4. वही, पृ० 201
5. वही, पृ० 203
6. वही, पृ० 203
7. वही, पृ० 202
8. वही, पृ० 220
9. तिवारी, पृ० 466
10. निजामी, पृ० 221
11. तिवारी, पृ० 467
12. वही, पृ 467

शासन काल में जब नासिरुद्दीन कुबाचा ने विद्रोह करने का विचार किया तो शेख जकारिया ने इसकी सूचना सुल्तान को दे दी। कुबाचा ने जब इन्हें बुलवाया तो इन्होंने स्वीकार किया कि परमात्मा के आदेश से इन्होंने पत्र लिखा था। इनकी बातों को सुनकर कुबाचा घबड़ाया और उसने क्षमा मागी।[1]

इनकी अधिकांश शिक्षा खुरासान, बुखारा तथा मदीना में हुई।[2] पैगम्बर मुहम्मद के मकबरे में रहकर उन्होंने कई वर्ष ध्यान तथा आराधना में व्यतीत किये। कई साल के बाद वे बगदाद में जाकर शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य हो गये और उन्हीं के आदेशानुसार भारतवर्ष में आकर उन्होंने सुहरावर्दी सिलसिला की स्थापना की।[3] इनका विश्वास सन्तुलित जीवन में था। वे सम्पत्तिशाली थे और उन्होंने अपने जीवन में काफी धन संग्रह किया। उन्होंने सारी सम्पत्ति अपने सात पुत्रों में बाँट दी। इनकी मृत्यु 1268 ई० में हो गई।[4] इनका मृत्यु-स्थान अनेक सूफी साधकों का तीर्थस्थान बन गया है।

शेख सद्रउद्दीन आरिफ

सुहरावर्दी सिलसिला की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें उत्तराधिकार का नियम वंशानुगत था। इसी के अनुसार बहाउद्दीन जकारिया की मृत्यु के बाद उनका ज्येष्ठ पुत्र सद्रउद्दीन इस सिलसिला का उत्तराधिकारी हुआ।[5] इन्हें जो सम्पत्ति मिली थी उसे उन्होंने गरीबों में बाँट दी।[6] उनके विषय में कहा जाता है कि एक बार बलबन के ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद शाह ने शराब के नशे में अपनी पत्नी को तलाक दे दिया। उसे वह पुनः स्वीकार नहीं कर सकता था। लोगों ने सुझाव दिया कि यदि शेख सद्रउद्दीन उसे स्वीकार करके तलाक दे दें तब वह पुनः अपना सकता है। परन्तु शेख ने तलाक देना अस्वीकार कर दिया। बदला लेने के पहले ही राजकुमार की मृत्यु हो गई।[7] इनकी मृत्यु 1285 ई० में हो गई।[8]

---

1. तिवारी, पृ० 467-68
2. निजामी, पृ० 222
3. वही, पृ० 222
4. तिवारी, पृ० 468
5. निजामी, पृ० 224
6. वही, पृ० 469
7. तिवारी, पृ० 468-69
8. निजामी, पृ० 225

शेख रुक्नुद्दीन अबुल फतह

शेख सद्रउद्दीन की मृत्यु के बाद सुहरावर्दी सिलसिला का उत्तराधिकारी उनका पुत्र रुक्नुद्दीन अबुलफतह हुआ।[1] इस सिलसिला में उनका वही स्थान है जो चिश्ती सिलसिला में शेख निजामुद्दीन औलिया को प्राप्त है। आठवीं शताब्दी तक इन्होंने इस सम्प्रदाय के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। बर्नी ने इनकी प्रशंसा में लिखा है कि सिन्ध में इनके विचारों का इतना अधिक प्रचार हुआ कि अनेक उलेमा ने इनका शिष्य होना स्वीकार कर लिया।[2]

शेख जलालुद्दीन सुर्ख

शेख जलालुद्दीन सुर्ख बुखारा के निवासी थे। शेख बहाउद्दीन जकारिया के प्रभाव में आकर इन्होंने उनका शिष्य होना स्वीकार कर लिया। सुहरावर्दी सिलसिला के सिद्धान्तों का प्रचार उच्छ में किया। वहाँ के कबायली जातियों को उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कराया।[3] इनके तीन लड़कों सैय्यद अहमद कबीर, सैय्यद बहाउद्दीन तथा सैय्यद मुहम्मद ने सूफी सिद्धांत का प्रचार किया।[4]

सिद्धान्त

सुहरावर्दी सिलसिला में दीक्षित होने वाले मुरीद (शिष्य) को मुर्शीद के आदेश से अपने छोटे-छोटे पापों के लिए पश्चाताप करना पड़ता था।

इसके बाद पाँच कलमा पढ़ने के लिए कहा जाता था। उसके साथ वह धर्म पर पूरा इमान रखता था। उसे नमाज तथा रोजा रखने पर जोर दिया जाता था। इस सम्प्रदाय के सूफीसाधक अपने को नाना प्रकार के वस्त्रों से ढँके रखते थे। इससे बराबर स्मरण होता है कि मनुष्य नंगा है, कहीं परमात्मा देख न लें। उनके रंग-बिरंगे कपड़ों का यह अर्थ लगाया जाता है कि परमात्मा ने अनेक प्रकार के जीव-जंतु बनाए हैं।[5] जलाली शाखा के सुहरावर्दी सूफी साधक अनेक रंगों के हार पहनते थे। वे गुलबंद तथा लंगोटी धारण करते थे।[6] वे हाथ में सोंटा, सिर में काला तागा, तथा

---

1. निजामी।
2. वही।
3. वही, पृ० 224
4. वही, पृ० 224-5
5. तिवारी, पृ० 470
6. वही, पृ० 471

हाथ में तावीज धारण करते थे।[1] वे सींगा लेकर चलते थे। भावाविष्ठावस्था में उसे बजाते थे।[2] इस सम्प्रदाय के सूफी साधक दाहिने हाथ के उपरी हिस्से में जलते हुए कपड़े से छाप लगाते थे। बड़े चिह्न आजन्म बना रहता था। वे भाँग खाते थे। साँप-बिच्छू खाने की परम्परा उनमें थी।[3] वे अपना सर, मूँछ, आँख की भ्रुवों को मुड़वा देते थे। दाहिनी ओर एक चोटी छोड़ देते थे।[4] वे कहीं स्थायी रूप से नहीं रहते थे, सदैव भ्रमण किया करते थे।[5]

राजनीति के प्रति दृष्टिकोण

शेख बहाउद्दीन जकारिया का दृष्टिकोण राजनीति के प्रति चिश्ती साधकों से बिलकुल भिन्न था। वे शासक वर्ग से मिलकर उनसे सम्पर्क रखते थे।[6] प्रो० निजामी के अनुसार शेख जकारिया बराबर सुल्तानों से मिलते थे।[7] सुहरावर्दी खानकाहों में शासक तथा अमीर वर्ग के लिए अलग सुसज्जित स्थान बना हुआ था।[8] उनमें साधारण जनता का प्रवेश नहीं था। वह सुसज्जित रहता था कि उसकी तुलना हम महल से कर सकते हैं। शेख जकारिया कहते थे कि साधारण जनता में उनका विश्वास नहीं है। बड़े लोग अपनी योग्यता के अनुसार उनकी कृपा प्राप्त करते थे। उनके खानकाह में कलंदर तथा साधारण वर्ग का प्रवेश नहीं था, बल्कि शासक तथा उच्च वर्ग के लिए उनका द्वार सदैव खुला रहता था।

धन के प्रति दृष्टिकोण

शेख बहाउद्दीन जकारिया धन को आध्यात्मिक विकास में बाधक नहीं मानते थे। उनके पास काफी धन था। प्रो० निजामी के शब्दों में शेख जकारिया मध्ययुगीन सूफी साधकों में सबसे अधिक सम्पत्तिशाली थे।[9] उनका विश्वास धन के वितरण में नहीं बल्कि संग्रह में था। उनके पास खजाना तथा स्वर्ण से भरे हुए

---

1. तिवारी, पृ० 471
2. वही, पृ० 471
3. वही, पृ० 471
4. वही, पृ० 471
5. वही, पृ० 471
6. निजामी, पृ० 225
7. वही, पृ० 226
8. वही, पृ० 227
9. वही, पृ० 226

अनेक संदूक थे।[1] संकट के समय मुल्तान के शासक उनसे कर्ज लेते थे। एक बार हमीदुद्दीन सुवलो ने उनसे धन संग्रह के औचित्य पर प्रश्न पूछा तो शेख जकारिया ने उत्तर दिया कि धन शरीर में काले तिल की भाँति है, जो कुदृष्टि से शरीर की रक्षा करता है।[2] उन्होंने पुनः कहा कि धन हृदय में रोग है, परन्तु हाथ में औषधि।[3] वे बड़ी शान-शौकत से एक शासक की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। धन संग्रह के विषय में उन्होंने एक बार कहा था कि धन संग्रह बुरा नहीं है, बल्कि उसका दुरुपयोग बुरा है।[4]

उनके उत्तराधिकारी शेख सद्रउद्दीन का दृष्टिकोण पिता से बिल्कुल विपरीत था। उन्हें पिता की सम्पत्ति का 7 लाख टंक मिला था, परन्तु सभी को उन्होंने गरीबों में बाँट दिया।[5] वे कहते थे कि कर्ज देने की अपेक्षा कर्जदार होना अच्छा है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी साधक फकीरी जीवन पर जोर देते थे, जब कि सुहरावर्दी सूफी साधक सुखमय जीवन पर। जीवन में उपवास तथा भूखे रह कर आध्यात्मिक साधना को उन लोगों ने अनावश्यक बताया।[6] इस सम्प्रदाय में सूफी संत परिवार के सदस्यों की सुख-सुविधा के प्रति सचेष्ट रहते थे। शेख जकारिया ने अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा-दीक्षा दी।[7] इसके विपरीत चिश्ती सूफी संत सदैव परिवार की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन रहते थे। पुत्र की मृत्यु के बाद शेख कुतुबुद्दीन को उसकी अस्वस्थता तथा मृत्यु की सूचना दी गई।

चिश्ती सन्तों ने सदैव अपने मुर्शीद के समक्ष झुककर आदर प्रकट किया। इस संस्कार को सुहरावर्दी साधक अनावश्यक समझते थे। ये केवल 'असल्लाम वाले कुम' कह कर श्रद्धा प्रकट करते थे। इस प्रकार चिश्ती तथा सुहरावर्दी सिलसिले में अन्तर था।

---

1. निजामी, पृ० 226
2. वही, पृ० 228
3. वही, पृ० 229
4. वही, पृ० 223
5. वही, पृ० 224
6. वही, पृ० 222
7. वही, पृ० 225-26

सामाजिक दृष्टिकोण

इस सम्प्रदाय की उप शाखा के संत शाहदौला का दृष्टिकोण अत्यंत उदारवादी था। वे गरीबों के प्रति बड़े कृपालु थे। उनकी उदारता ने उन्हें अधिक लोकप्रिय बना दिया था। हिन्दू, मुसलमान सभी उनका सम्मान करते थे। उनके शिष्यों में हिन्दू मुसलमान दोनों थे।[1] इस प्रकार चिश्ती साधकों में शाहदौला बहुत बड़े समाज सुधारक तथा समन्वयवादी थे। उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दू-मुसलमानों के बीच सामंजस्य स्थापित करना तथा उदारवादी वातावरण का सृजन करना था।

परमात्मा

इन साधकों में शेख सर्फुद्दीन मनायरी का परमात्मा के प्रति दृष्टिकोण इस्लामी सिद्धांतों पर आधारित था। परमात्मा जगत का प्रकाश है। उसका मनुष्य के साथ संबंध, ज्ञान और आत्मशक्ति से सम्भव है। कुरान में कहा है—वा हुआ मा अकुम (ईश्वर तुम्हारे साथ है। केवल ज्ञान दृष्टि वाले उसे समझ सकते हैं।)

मानवतावाद

शेख मनायरी ने मानव सेवा पर विशेष जोर दिया और कहा कि बादशाह अमीर तथा साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए परमात्मा तक पहुँचने का सुगम साधन गरीब, दुखियों एवं पददलित वर्ग की सहायता करना है।[2] किसी के संकेत करने पर कि एक शासक दिन में रोजा रहता है तथा रात भर प्रार्थना करता है, शेख मनायरी ने कहा कि तब वह अपना कर्तव्य छोड़ कर दूसरों का कार्य कर रहा है। शासक का कार्य है प्रजा को भोजन, वस्त्र तथा रहने के लिए स्थान की व्यवस्था करना तथा गरीब दुखियों की सहायता करना। प्रार्थना, व्रत, पूजापाठ तो दरवेश का कार्य है।[3]

भारतीय समाज में सुहरावर्दी सूफी संतों का योगदान महत्वपूर्ण है। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद उन्होंने मुस्लिम समाज में आध्यात्मिकता तथा नैतिकता को सजीव रखा। उन्होंने शासक तथा प्रजा के बीच दूरी कम करने का प्रयास किया। इस कार्य में हिन्दू भक्तों ने भी इनका साथ दिया।

प्रतिक्रियावादी आन्दोलन

सूफीमत के विकास काल को हमने दो भागों में विभक्त किया है, उदारवादी तथा रूढ़िवादी। प्रथम काल में प्रमुख चिश्ती तथा सुहरावर्दी सिलसिले आते हैं, यद्यपि

---

1. तिवारी, पृ० 227
2. युसुफ हुसेन, पृ० 52
3. वही, पृ० 52

सुहरावर्दी सिलसिला का दृष्टिकोण चिश्ती साधकों की तुलना में अधिक उदारवादी नहीं था। कादिरी तथा नक्शबन्दी सिलसिले के सूफी साधक तो पूर्णरूप से रूढ़िवादी तथा इस्लामी सिद्धांतों से अधिक प्रभावित थे। वे कुरान तथा पैगम्बर मुहम्मद को ही जीवन के सिद्धांतों का आधार मानते थे।[1] भारतवर्ष में इन दो सिलसिलों के संतों का मुख्य उद्देश्य इस्लाम की प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित करना था। यदि कादिरी तथा नक्शबंदी सिलसिलों को पुनरुज्जीवक आन्दोलन कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

आश्चर्य की बात है कि जब दिल्ली के अधिकांश शासक रूढ़िवादी थे तो सूफी संतों का दृष्टिकोण उदारवादी था। मुगल काल में जब शासकों का दृष्टिकोण उदारवादी था तो सूफी संतों का विचार रूढ़िवादी था। अकबर तथा दाराशिकोह जैसे उदारवादी शासक एवं राजकुमार का प्रभाव इन पर नहीं पड़ा। इस समय एक ओर भक्ति आन्दोलन के संत समाज तथा धर्म सुधार के लिए प्रयत्नशील थे। उनका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों की सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों को समाप्त करके समन्वय की स्थापना करना था। दूसरी ओर उनके सारे प्रयासों को विफल कर इस्लाम की रूढ़िवादिता को पुनर्स्थापित करना कादिरी तथा नक्शबंदी सूफी साधकों का मूल उद्देश्य था। मुगल सम्राट् शाहजहाँ तथा औरंगजेब की कट्टर तथा रूढ़िवादी धार्मिक नीति को प्रोत्साहित करने में इनका विशेष सहयोग था। इन सिलसिलों के सूफी संत खुले रूप से सरकारी नौकरियों को स्वीकार करते थे और शासक वर्ग को अपनी रूढ़िवादी नीति से प्रभावित करने की चेष्टा करते थे।

कादिरी सिलसिला

कादिरी सिलसिला के प्रवर्तक अबुल कादिर अल जीलानी थे। इनका जन्म 1078 ई० में फारस के जीलान नामक स्थान में हुआ था।[2] वे इस्लामी जगत के सबसे अधिक ख्याति प्राप्त संत माने जाते हैं।[3] कादिरी सिलसिला के साधक सनातन पंथी इस्लाम के समर्थक थे। पश्चिमी अफ्रीका तथा मध्य एशिया में इस्लाम के प्रचार में इस सिलसिला ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।[4] इस मुस्लिम समाज में इन संतों के प्रति विशेष सम्मान था।[5] इनकी मृत्यु 1166 ई० में हो गई।[6]

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ० 597
2. तिवारी, पृ० 477
3. युसुफ हुसेन, पृ० 53
4. वही, पृ० 53
5. तिवारी, पृ० 477
6. वही, पृ० 478

भारत में कादिरी सिलसिला के प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। वे अब्दुल कादिर जीलानी के वंशज थे। भारत आने पर इनके शिष्यों की संख्या अधिक बढ़ गई और इनका खूब सम्मान हुआ। दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी ने अपनी लड़की की शादी उनसे कर दी। मुहम्मद गौस 1428 में भारतवर्ष आये थे और उच्छ में बस गए। 1517 में इनकी मृत्यु हो गई।[1]

मुहम्मद गौस के उत्तराधिकारी उनके पुत्र अब्दुल कादिर द्वितीय हुए। बचपन से ये सुख में पले थे और नाना व्यसनों के शिकार हो गये। परन्तु मुहम्मद गौस की मृत्यु के बाद जब वे खलीफा हुए तो उनके जीवन में महान् परिवर्तन हो गया। इन्होंने सांसारिक सुखों का त्याग कर दिया।[2] बादशाह से प्राप्त होने वाले धन का इन्होंने परित्याग कर दिया। इनका जीवन गरीबी से बीतने लगा।[3] अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुए भी वे आध्यात्मिक पथ पर दृढ़ रहे। इनके तीन भाई सरकारी नौकरी करते थे, इनकी नियुक्तियाँ ऊँचे पदों पर हुई थीं।[4] परन्तु अब्दुल कादिर द्वितीय बादशाह के बुलाने पर भी कभी उनके दरबार में नहीं गए।[5] सम्राट् अकबर ने इनके भाई शेख मूसा को आगरा में पाँच सौ का मनसब दिया था।[6]

इस सिलसिला के सूफी साधकों में शेख दाउद किरमानी तथा शेख अबुल मा अली के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[7] राजकुमार दारा कादिरी सिलसिला के मुल्ला शाह बदखंशी का शिष्य था। यद्यपि कादिरी सूफी साधक रूढ़िवादी थे, परन्तु दारा शिकोह बड़ा ही उदारवादी था। वह इस्लाम तथा हिन्दू धर्मों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता था।[8] उसने अपने नेतृत्व में उपनिषद्, भगवद्गीता तथा योग वशिष्ठ का अनुवाद कराया।

सिद्धान्त

(i) कादिरी सिलसिला के सूफी साधक अपनी टोपी में गुलाब का फूल लगाते थे।

---

1. तिवारी, पृ० 479
2. वही, पृ० 480
3. वही, पृ० 480
4. वही, पृ० 480
5. वही, पृ० 480; युसुफ हुसेन, पृ० 54
6. युसुफ हुसेन, पृ० 53
7. वही, पृ० 54
8. वही, पृ० 54

क्योंकि गुलाब का फूल पैगम्बर का प्रतीक माना जाता था।[1]

(ii) इस सम्प्रदाय में संगीत के लिए स्थान नहीं था। संगीत इस्लाम के विरुद्ध माना जाता है। इसलिए रूढ़िवादी सूफी साधकों ने संगीत को इस सिलसिला में कोई स्थान नहीं दिया।[2]

(iii) इस सिलसिला में जिक्र-ए जली तथा जिक्र-ए खफी, दोनों प्रकार के जिक्र प्रचलित थे।

(iv) इस सम्प्रदाय में परमात्मा के स्मरण के चार तरीके थे, यक जरबी, दू जरबी, सेह जरबी तथा चहार जरबी।

साधक की आवाज ऐसी होनी चाहिए कि सोने वाले की नींद में बाधा न पड़े। यक जरबी में साधक अपने हृदय और गले से अल्लाह शब्द का उच्चारण करता था।[3] जिक्रदू जरबी में नमाज पढ़ते समय जैसे बैठता है वैसे ही बैठा रह जाता है।[4] अल्लाह का नाम सिर की दाहिनी ओर घुमाकर फिर हृदय की ओर घुमाता है।[5] सेह जरबी जिक्र में पलथी लगाकर बैठता है। एक बार दाएँ, फिर बाएँ और बाद में हृदय की ओर सिर करके अल्लाह शब्द जोर से चिल्लाता है।[6] चहार जरबी में सेह जरबी की तरह अभ्यास करता हुआ हृदय की ओर फिर सामने मुँह करके अल्लाह का नाम लेता है—

(i) **ला इल्लाही इल्ल अल्लाह्**—इसका जप एक लाख बार करना चाहिए।

(ii) **अल्ला जो इस्मे जल्लील**—इसका जप 78 हजार बार करने पर परमात्मा का सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है। इसका रंग पीला है।

(iii) इसमें इ का जप 48 हजार बार करने पर परमात्मा का रंग लाल दिखाई देता है।

(iv) **इस्मे हई**—परमात्मा के नाम का अन्त नहीं है। इसका जप 32 हजार नौ सौ दो बार करने पर परमात्मा का स्वरूप सफेद दिखाई देता है।

(v) **वाहिद**—परमात्मा एक है। इसका जप 93 हजार 4 सौ बीस बार करने पर परमात्मा हरे रंग में दिखाई देता है।

---

1. तिवारी, पृ० 480-81
2. वही, पृ० 481
3. वही, पृ० 481
4. वही, पृ० 481
5. वही, पृ० 481
6. वही, पृ० 481

(vi) **अजीज**—ईश्वर का प्रिय। इसका जप 74 हजार 6 सौ 40 बार करने पर ईश्वर का रंग काला दिखाई देता है।

(vii) **वदूद (परमात्मा का प्रेमी)**—इसका जप 32 हजार 2 सौ दो बार करने पर उसका कोई रंग नहीं दिखाई देता है।

(viii) **अतबारे सबा का प्रचलन है**—इसके अनुसार जिक्र के समय अल्लाह के सात नामों का उच्चारण करना चाहिए।[1]

इस सिलसिला का मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार करना था। ये लोग धर्म परिवर्तन के प्रबल समर्थक थे। कादिरी सिद्धांत में कहीं भी उदारवादिता का स्थान नहीं है। रूढ़िवादी दृष्टिकोण के कारण ही इन लोगों ने संगीत को कोई स्थान नहीं दिया। उदारवादी दृष्टिकोण इनके लिए असह्य था। औरंगजेब के शासनकाल में उलेमा परिषद के अध्यक्ष पद से अब्दुल नबी ने सरमद को उदारवादी विचार के कारण उसको मृत्यु की सजा दी और उसका वध करा दिया।[2] ये लोग अपने को खलीफा का शिष्य कहते थे। इन लोगों को इस्लाम का सुधारक मुजद्दीद माना गया है। ये लोग शिया सम्प्रदाय वालों के विरुद्ध थे। सुन्नी सम्प्रदाय को इन्होंने पुनः प्रतिष्ठा का स्थान दिया। अकबर के चलाये हुए दीन इलाही के प्रभावों को इन लोगों ने इस्लाम से दूर किया। सर्वत्र सनातन पंथी इस्लाम के अनुयायियों ने इन लोगों को अपना अगुआ माना।[3]

नक्शबंदी सिलसिला

सूफीमत की शाखाओं में नक्शबंदी सिलसिला का प्रमुख स्थान है। रशहात ऐन अल हयात के अनुसार इसके प्रवर्तक ख्वाजा उबैदुल्ला थे।[4] कुछ लोगों ने ख्वाजा बहाउद्दीन को इसका संस्थापक माना है। ये तरह-तरह के नक्शे आध्यात्मिक तत्वों के सम्बन्ध में बनाते थे और अनेक रंगों से भरते थे। इसीलिए उनके अनुयायी नक्श-बन्दी कहलाये।[5] भारत में इस सिलसिला का प्रचार ख्वाजा बाकीबिल्लाह के शिष्य शेख अहमद फारूकी सरहिन्दी ने किया।[6]

---

1. तिवारी, पृ० 481-82
2. युसुफ हुसेन, पृ० 55
3. तिवारी, पृ० 498
4. वही, पृ० 492
5. वही, पृ० 492-3
6. वही, पृ० 495

अहमद फारूकी का जन्म सरहिंद में 1563 में हुआ था। जन्म के समय हजरत मुहम्मद ने अन्य सभी पैगम्बरों के साथ आकर इनके कान में अजा दुहरायी, तथा सभी मृत सन्तों ने दर्शन दिया।[1] ये बाकीबिल्लाह के सम्पर्क में आये और उनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने मक्का जाने का विचार त्याग दिया। दो महीने तक बाकीबिल्लाह के साथ रहकर उनके प्रतिनिधि के रूप में सरहिन्द लौट आये। इनके विचारों का प्रचार इतनी तीव्र गति से हुआ कि सम्राट् जहाँगीर भी उनका शिष्य हो गया। इनकी मृत्यु 1625 में हुई।[2] मुस्लिम समाज ने इनको प्रतिष्ठा का स्थान दिया। वे अपने को कयूम कहते थे। अल कयूम परमात्मा का नाम है। कयूम का शाब्दिक अर्थ है अविनाशी। शेख सरहिंदी इन्सानुल कामिल (पूर्णमानव) से भी बढ़कर अपने को समझते थे। परमात्मा ने उन्हें तथा उनके प्रथम तीन शिष्यों को कयूम का स्थान दिया है। उनके पास इतनी शक्ति थी कि स्वयं काबा उनका दर्शन करने के लिए आया।[3]

इस सिलसिला के दूसरे कयूम अहमद सरहिंदी के तृतीय पुत्र मुहम्मद मासूम थे। इनका जन्म 1593 में हुआ था।[4] इनके जन्म के समय भी हजरत मुहम्मद ने सभी पैगम्बरों के साथ आकर कान में अजा की। धर्म सम्बन्धी विचार इन्होंने अपने पिता से प्राप्त किये थे। औरंगजेब ने मुहम्मद मासूम का शिष्य होना स्वीकार कर लिया था।

ख्वाजा नक्शबंद हुजतुल्ला इस सिलसिला के तीसरे कयूम माने जाते हैं। इनका जन्म 1624 में हुआ था। जिस वर्ष इनका जन्म हुआ उस वर्ष को साल-ए-मुतलक कहते हैं। उसी वर्ष कयूम प्रथम की मृत्यु हुई, कयूम द्वितीय उत्तराधिकारी हुए और तृतीय कयूम का जन्म हुआ।[5]

कयूम जुबैर चौथे कयूम थे। ये अबुल अली के पुत्र और तृतीय कयूम के पौत्र थे।

शाहवली उल्ला भी इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त माने जाते हैं। इनका जन्म 1702 में हुआ था और मृत्यु 1762 में हुई। ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने धार्मिक

---

1. तिवारी, पृ० 495-6
2. वही, पृ० 500
3. वही, पृ० 503
4. वही, पृ० 504
5. वही, पृ० 505

गन्थों का अध्ययन किया था। इनके ऊपर सनातन पंथी इस्लाम का प्रभाव पड़ा था।[1] वे इस्लाम धर्म को तर्क की परिधि में सीमित नहीं करना चाहते थे। उनका विश्वास कुरान, शरियत तथा हदीस पर आधारित था।

ख्वाजा मीर दर्द का इस सिलसिला में प्रमुख स्थान है। ख्वाजा मीर जजांन की भाँति ये बहुत रूढ़िवादी नहीं थे।

सिद्धांत

(i) इस सिलसिला के सूफी साधक कादिरी सम्प्रदाय वालों की तरह वस्त्र धारण करते थे। उन्हे बेनवा कहा जाता था। बेनवा का तात्पर्य है दीन अपाहिज।[2]

(ii) इस सम्प्रदाय में जो लोग अपना बाल काट देते थे; उन्हें मुल्हिनुना कहा जाता था। वे धार्मिक नियमों की पाबन्दी नहीं स्वीकार करते थे।[3]

(iii) जो लोग बाल नहीं कटाते थे और केवल दाहिनी कनपटी के पास बालों को काटते थे, उन्हें रसूलनुमा कहा जाता था।[4]

(iv) इस सम्प्रदाय में दोक्षित होने वाले शिष्य के बाल को मुर्शीद काट देता था। इसीलिए वे दाहिनी कनपटी के पास बालों को काटते थे।[5]

(v) ये चमत्कारिक शक्ति की प्राप्ति के लिए साधना करते थे, जिसके अनुसार साधक जिक्र, खलवत (एकाग्रचित्त से उपासना के लिए एकांत सेवन), तवज्जह (परमात्मा का ध्यान करना), मुराकबा (भयपूर्वक परमात्मा का ध्यान), तसर्रुफ तथा तसव्वुफ का आश्रय लेता है।[6]

इस्लामी सिद्धांत का अनुमोदन

इस सिलसिला के सूफी साधकों का मुख्य उद्देश्य इस्लाम की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना था। इन लोगों ने कुरान, शरियत तथा हदीस के नियमों के पालन पर जोर दिया। इस सम्प्रदाय ने इस्लाम धर्म की विचारधारा में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।[7] ये लोग अपने को खलीफा का शिष्य मानते थे। हजरत मुहम्मद

---

1. युसुफ हुसेन, पृ० 62-3
2. तिवारी, पृ० 506
3. वही, पृ० 506
4. वही, पृ० 506
5. वही, पृ० 506
6. वही, पृ० 493
7. वही, पृ० 494

के बाद इन्हें लोग इस्लाम का सुधारक मजद्दीद मानते हैं । इस्लाम में आई हुई बुराइयों को इन लोगों ने दूर करने का प्रयास किया ।[1] ये शिया सम्प्रदाय वालों के विरुद्ध थे । सुन्नी सम्प्रदाय को इन्होंने पुनः प्रतिष्ठा का स्थान दिया ।[2] अकबर के दीन इलाही से प्रचलित बुराइयों को दूर करके इस्लाम को पुनः प्रतिष्ठा का स्थान दिया ।[3] इन्होंने सम्राट् जहाँगीर को इतना आतंकित किया कि बाध्य होकर उसे सेना में धार्मिक सुधार करना पड़ा ।[4] जहाँगीर ने अकबर के समय की प्रचलित बहुत सी उदारवादी प्रथाओं को समाप्त कर दिया ।[5] अकबर ने गो मांस निषेध कर दिया था। जहाँगीर ने इस प्रतिबन्ध को हटा दिया ।[6] इन्हीं के प्रभाव में आकर सम्राट् ने दीवान-ए-आम के निकट एक मस्जिद का निर्माण किया ।

इन साधकों ने कट्टरता को प्रश्रय दिया । इन्होंने सूफी सिद्धांत को इस्लाम के सनातन पंथी सिद्धांतों की आधारशिला बनाई ।[7] वे सूफियों की उदारवादिता वहीं तक सहन करने के लिए तैयार थे जहाँ तक वह कुरान तथा सुन्ना के नियमों से मिलता था ।[8] संगीत को इस्लाम धर्म के विरुद्ध बताया । भावाविष्ठावस्था में नाच उठने को इस्लाम के विरुद्ध कहा । साधकों एवं संतों की मजार पर दीप जलाने को धर्म के विरुद्ध कहा ।[9] औरंगजेब मुहम्मद मासूम का शिष्य था । उन्हीं के प्रभाव से औरंगजेब ने जजिया कर लगाया और संगीत पर रोक लगा दी । चिश्ती सिलसिला के सभा पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ।[10] सम्राट् औरंगजेब पर तृतीय कयूम ख्वाजा नक्शबन्द हुज तुल्ला का सबसे अधिक प्रभाव था । इन साधकों की कट्टरता का तत्कालीन राजनीति पर पूरा प्रभाव पड़ा । मुगल साम्राज्य के पतन के लिए इन सूफी साधकों का विशेष उत्तरदायित्व है ।[11]

1. तिवारी, पृ० 498
2. वही, पृ० 498
3. वही, पृ० 498
4. वही, पृ० 499
5. वही, पृ० 501
6. वही, पृ० 500
7. वही, पृ० 500
8. वही, पृ० 500
9. वही, पृ० 500
10. वही, पृ० 504
11. वही, पृ० 505

परमात्मा, जगत, मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण

शेख अहमद सरहिंदी ने वहदतुलवुजूद के सिद्धांत की आलोचना की, जिसके अनुसार वास्तविक सत्ता एक है, जिसे हम परमात्मा की सत्ता कहते हैं। यह दृश्यमान जगत उसी सत्ता की अभिव्यक्ति है। परम सत्ता एक है, पदार्थ उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। सम्पूर्ण सृष्टि का वही उद्गम स्थल है और उसी में वह लय हो जाती है।[1] इस प्रकार शेख सरहिंदी ने वहदतुलवुजूद के स्थान पर वहद-उस सुदूत के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।[2] इस सिद्धांत के अनुसार परमात्मा इतना महान् है कि उसके सामने सृष्टि के पदार्थ नहीं के बराबर हैं। परमात्मा का स्वरूप विद्यमान है, गुण बराबर अव्यक्त रहता है।[3] सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णता के कारण हैं, सृष्टि बर्फ के समान है, तेज स्वरूप परमात्मा जल के समान है, जो बर्फ का मूल है। उस जमी हुई वस्तु का नामकरण बर्फ हुआ, फर जल ही उसका असली नाम है।[4]

शेख सरहिंदी के अनुसार ईश्वर तथा मनुष्य का सम्बन्ध मालिक तथा गुलाम का है, प्रेमी और प्रेमिका का नहीं।[5] उनके अनुसार शुहूदिया विचारधारा को साधक के लिए अन्तिम मार्गदर्शक बताया। उनके अनुसार दोनों में केवल इतना अन्तर है कि साधन की प्रथमावस्था में साधक वुजूदी रहता है और अपने को परमात्मा से भिन्न मानता है, परन्तु शुदूदी अवस्था में वह पूर्णता को प्राप्त करता है और उसे ज्ञान होता है कि परमात्मा और वह अभिन्न नहीं है।

शाह वल्लीउल्ला ने दोनों सिद्धान्तों के बीच समन्वय का प्रयास किया जिसकी आधारशिला इस्लामी कानून थे।[6] ख्वाजा मीर दर्द का झुकाव इस्लाम की ओर था। उन्होंने इल्मे इल्लाही मुहम्मदी सिद्धांत का प्रतिपादन किया।[7] मुहम्मद के उपदेश के आधार पर परमात्मा का ज्ञान।[8] परमात्मा के रहस्यों का जानने का एक

1. तिवारी, पृ० 256
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 93
3. तिवारी, पृ० 258-59
4. वही, पृ० 259
5. युसुफ हुसेन, पृ० 58
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 94
7. युसुफ हुसेन, पृ० 59
8. वही, पृ० 95

मात्र साधन शरियत के नियमों का पालन करता है।[1] ख्वाजा मीर दर्द अपने को अल्लाह का गुलाम तथा प्रेमी कहते थे।[2] वे प्रेम को भी शरियत के मार्ग पर लाना चाहते थे। नियम के कानून पर चलकर ही प्रेम की भावना का विकास सम्भव है।[3]

राजनीति के प्रति दृष्टिकोण

इस सिलसिला के सूफी साधक राजनीति में न केवल भाग लेते थे, बल्कि प्रशासनिक नीति को भी प्रभावित करने का प्रयास करते थे। अकबर के काल से ही इनका प्रभाव बढ़ने लगा था, परन्तु अकबर की उदारवादी नीति को वे कभी भी प्रभावित न कर सके।[4] सम्राट् जहाँगीर के समय में तो इनके प्रभाव ने आतंक का रूप ग्रहण कर लिया। सेना में सुधार करने के लिए अहमद फारुकी ने बहाउद्दीन को नियुक्त किया।[5] सम्राट् के कई उच्च पदाधिकारी इनके शिष्य थे। जहाँगीर ने इन पदाधिकारियों के बढ़ते हुए प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए उन्हें दूर-दूर स्थानों पर स्थानान्तरित कर दिया। खानखाना को दक्षिण भारत, सद्रजहाँ को बंगाल, महावत खाँ को काबुल तथा खान-ए-जहाँ को मालवा भेजा। अहमद फारुकी सरहिंदी शिया सम्प्रदाय का विरोधी था। आसफ खाँ की राय से सम्राट् ने अहमद खाँ फारुकी के शिष्यों को इधर-उधर स्थानान्तरित कर दिया।[6]

आसफ खाँ के सुझाव के अनुसार जब सम्राट् ने फारुकी सरहिंदी के शिष्यों को कैद कर लिया तो अहमद के अनुयायी विद्रोह करने को तैयार हो गये। महावत खाँ इतना अधिक उत्तेजित हो गया कि वह सेना के साथ दिल्ली पर आक्रमण करने की बात सोचने लगा। परन्तु अहमद फारुकी सरहिंदी ने सभी को शान्त कर दिया।[7]

कहा जाता है कि सम्राट् जहाँगीर ने स्वयं नक्शबन्दी सिलसिला का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इनके प्रभाव में आकर जहाँगीर ने अकबर के समय की बहुत सी प्रथाओं को समाप्त कर दिया। उसने गोमांस निषेध को भी समाप्त कर दिया।

औरंगजेब मासूम का शिष्य था। उत्तराधिकार के युद्ध में मासूम ने औरंगजेब

---

1. युसुफ हुसेन, पृ० 59
2. वही, पृ० 66
3. वही, पृ० 766
4. तिवारी, पृ० 499
5. वही, पृ० 499
6. वही, पृ० 499
7. वही, पृ० 499

की पूरी सहायता की थी। इन्हीं के प्रभाव में आकर सम्राट् ने जजिया कर पुनः लगाया और संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यहाँ तक कि चिश्ती सम्प्रदाय की सभा पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।[1] औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ तो चतुर्थ रूपक जुबैर ने खुलकर इसमें भाग लिया। मुअज्जम की विजय इन्हीं की सहायता का परिणाम थी।[2]

इस प्रकार नक्शबन्दो सिलसिला के अधिकांश साधक राजनीति में भाग लेते थे। चिश्ती सम्प्रदाय के सन्त तथा सम्राट् अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसे विकसित करने की अपेक्षा इन लोगों ने उलट दिया। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की खाई चौड़ी होती गई, जिसके भयंकर परिणाम हुए। कुछ हद तक मुगल साम्राज्य के पतन का उत्तरदायित्व इन्हीं रूढ़िवादी, प्रतिक्रियावादी सूफी साधकों पर है।

समाज में सूफी सन्तों की भूमिका

मध्ययुगीन भारतीय समाज में सूफी सन्तों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों में समन्वय की भावना पैदा करना था। उन लोगों ने सामाजिक सेवा का रूप सैद्धांतिक नहीं बल्कि व्यावहारिक दिया और उसे परमात्मा की सेवा का एकमात्र साधन बताया। वेदांत, योग, क्रिया, निर्वाण, आदि सिद्धांतों को अपनाकर अनेक हिन्दुओं तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों को आकृष्ट किया और उन्होंने बताया कि सूफीवाद न केवल इस्लाम पर आधारित है बल्कि उसमें हिन्दू तथा बौद्ध सिद्धांतों का भी समावेश है।

सूफी सन्तों ने अपने शिष्यों में समाज सेवा, सद्व्यवहार और क्षमा आदि गुणों पर जोर दिया।[3] उन लोगों ने जनता के चरित्र तथा उनके दृष्टिकोण को सुधारने का प्रयास किया।[4] बर्नी ने स्पष्ट लिखा है कि निजामुद्दीन औलिया के प्रभाव के परिणामस्वरूप जनता के सामाजिक तथा नैतिक जीवन में बड़ा परिवर्तन हुआ।

दिल्ली के सुल्तानों के रूढ़िवादी इस्लामी विचार उन्हें ग्राह्य नहीं थे। उन्होंने शक्ति, प्रलोभन तथा तलवार द्वारा धर्म परिवर्तन की नीति का अनुमोदन नहीं किया।

1. तिवारी, पृ० 504
2. वही, पृ० 505
3. ए० रशीद, पृ० 108
4. वही पृ० 108

वे राजनीति से अलग रहे। उन्हें लोगों ने स्पष्ट कहा कि इस अन्धकार युग में प्रत्येक का कर्तव्य है कि लेखनी, वाणी, धन तथा पद से दुख संतप्त प्रजा की सेवा करें। प्रार्थना, उपवास तथा आराधना दरवेश का कार्य है न कि शासक का कर्तव्य।[1] इस प्रकार शासकों के हृदय में उन्होंने प्रजा की भलाई की भावना पैदा की। प्रो० रशीद के अनुसार ये सन्त प्रजा तथा शासक वर्ग के बीच कड़ी थे।[2]

इन लोगों ने साधारण जीवन व्यतीत कर जनता के बीच रहने तथा उनकी समस्याओं को समझने की चेष्टा की। समयानुकूल उनके जीवन में सुधार करने का प्रयास किया। शेख हमीद नागौरी एक बीघा में खेती करके स्वयं कपड़ा बुनकर अपना जीवन निर्वाह करते थे।[3] शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी तो विस्तरे का भी प्रयोग नहीं करते थे।[4] वे फटा कपड़ा पहनते थे। सम्भवतः उन्हें इसी में आनन्द का अनुभव होता था।[5] शेख निजामुद्दीन औलिया उपहारों का वितरण दर्शकों में कर देते थे।[6] वे सामाजिक न्याय की ज्योति अपने हाथों में लेकर चलते थे।

उनकी निष्ठा एकेश्वरवाद में थी। एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके उन्होंने पारस्परिक मतभेदों को दूर करने की चेष्टा की। ईश्वर एक है, अनेक धर्म उस एकेश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। अतः धर्म को लेकर वाद विवाद तथा संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं। इनका सबसे अधिक प्रभाव भक्ति आन्दोलन के समाज तथा धर्म सुधारक रामानन्द, कबीर, नानक तथा चैतन्य पर पड़ा। इन लोगों ने भी एकेश्वर वाद के सिद्धान्त द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समन्वय स्थापित करने तथा पारस्परिक मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया।

खड़ी बोली अथवा हिन्दुस्तानी जो सर्वसाधारण की भाषा थी, उसके विकास में सूफी सन्तों का महत्वपूर्ण योगदान था।[7] उन लोगों ने खत, ठाकुर, डोला, लंगोटी, पालकी, जोलाहा, चूना, सोपारी आदि हिन्दुस्तानी शब्दों का खूब प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने पंजाबी, गुजराती आदि क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में भी

1. युसुफ हुसेन, पृ० 52
2. ए० रशीद, पृ० 184
3. वही, पृ० 185
4. वही, पृ० 186
5. वही, पृ० 186
6. वही, पृ० 187
7. वही, पृ० 196

योगदान दिया।[1] जायसी की रचनाओं में वेदान्त, योग तथा नाथ सम्प्रदाय सम्बन्धी विचारों तथा हिन्दू, देवी-देवताओं का विस्तृत वर्णन है।[2] 'मृगावत' में परीक्षित के पुत्र जन्मेजय, सुदामा, भोज, भर्तृहरि आदि महापुरुषों का वर्णन है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें हिन्दू धर्म तथा साहित्य का विशद् ज्ञान था। प्रो० रशीद के शब्दों में राष्ट्रीय संगठन की भावना को जागृत करने में सूफी सन्तों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है।[4]

डॉ० आशीर्वादी लाल के अनुसार प्रारम्भ में केवल पददलित वर्ग और अठारहवीं सदी में उच्च वर्ग इनके सम्पर्क में आये।[5] भक्ति आन्दोलन तथा सूफी दर्शन ने शासक तथा प्रजा को एक दूसरे के समीप लाने की चेष्टा की।[6]

सूफीवाद तथा भक्ति आन्दोलन

सूफीवाद तथा भक्ति आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति था। परन्तु इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति में सूफी सन्तों तथा भक्तों ने विभिन्न साधनों का प्रयोग किया।

सूफी साधक कुछ कठिन नियमों का पालन करते थे। परन्तु भक्तों के लिए कठिन नियमों का पालन अनिवार्य नहीं था। इस प्रकार सूफी साधकों की तुलना में भक्तों को काफी स्वतंत्रता थी। भक्तों ने सूफी सन्तों की तरह शरीर को यातना देने पर बल नहीं दिया।

भक्ति में फना तथा बका जैसी कोई अवस्था नहीं थी। चैतन्य के सिद्धान्तों में भावाविष्ठावस्था के लिए महत्वपूर्ण स्थान था। इस प्रकार भक्ति परम ब्रह्म के ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त करने का सरल मार्ग था, जबकि सूफीवाद दुरुह तथा अत्यन्त कठिन साधन था। परन्तु ईश्वर प्राप्ति के लिए दोनों ने प्रेम मार्ग को ही प्रधानता दी।

सूफी साधकों का विश्वास एकेश्वरवाद में तथा भक्तों का विश्वास बहुदेवत्व में था। वे राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति में विश्वास करते थे। सूफी साधक व्यक्तिगत सम्बन्ध में विश्वास नहीं करते थे। भक्त अपने उपास्य देव राम, कृष्ण के साथ भ्रमण,

---

1. रसीद, पृ० 200
2. वही, पृ० 203
3. वही, पृ० 204
4. वही, पृ० 204
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 95
6. वही, पृ० 96

बातचीत करते हुए व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करते थे। चैतन्य तथा मीराबाई के लिए ईश्वर के साथ आहार विहार, सम्भव था, परन्तु सूफियों के लिए नहीं। कबीर की दृष्टि में परमात्मा के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए स्थान नहीं था, जबकि तुलसी के राम भक्तों के बीच विचरण करते थे।

कुछ सूफी साधकों की दृष्टि में जगत के कण-कण में परमात्मा विद्यमान है। तुलसीदास भी "सीयराम मय सब जग जानी" का सिद्धान्त मानते थे। अनेक भक्त तथा सूफी साधक जगत को माया से परिपूर्ण मानते थे। सूफी साधकों की भाँति भक्त भी आत्मा को परमात्मा का अंश तथा उसे अविनाशी जीव मानते थे।

अधिकांश भक्ति आन्दोलन के सन्त तथा सूफी सन्तों का मुख्य उद्देश्य सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों को समाप्त करना था। कबीर, नानक आदि ने सामाजिक कुरीतियों का खण्डन किया, परन्तु सूफी सन्तों ने बाह्याडम्बर और मूर्तिपूजा के खण्डन में रुचि नहीं ली। सूफी सन्तों ने अपने सिद्धान्तों पर जोर दिया, दूसरों के प्रति वे उदासीन थे।

मानवतावाद में भक्त तथा सूफी सन्त दोनों का विश्वास था। भक्तों ने दुख संतप्त प्राणियों को केवल उपदेश दिया; सूफी सन्तों ने उपदेश पर बल न देकर समाज सेवा के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया। टूटे हुए हाथ तक रोटी के टुकड़े को पहुँचाने का तात्पर्य मानव समाज की सेवा को व्यावहारिक रूप देना था। सूफी साधक समाज सेवा को ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते थे; भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने इस पक्ष पर इतना बल नहीं दिया।

सभी भक्त राजनीति के प्रति उदासीन थे। उन लोगों ने कभी भी शासकों के सम्पर्क में आने का प्रयास नहीं किया। परन्तु अधिकांश सूफी साधकों को शासक वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। सुहरावर्दी, कादिरी तथा नक्शबंदी सिलसिलों के सूफी सन्त खुले रूप से राजनीति में भाग लेते थे। कादिरी तथा नक्शबंदी सिलसिले के सूफी सन्त सरकारी नौकरियों को स्वीकार करते थे। राज्य की धार्मिक नीति के निर्धारण में उनका विशेष हाथ रहता था।

भक्तों के पास सूफियों जैसा खानकाह नहीं था। न तो इनके पास धन था और न तो मुफ्त भोजन देने की व्यवस्था थी। तात्पर्य यह है कि सूफी सन्त सिलसिले के माध्यम से सुसंगठित थे; भक्तों का इस प्रकार का कोई संगठन नहीं था।

सूफी सन्तों की साहित्यिक देन

साहित्य के क्षेत्र में भी सूफी सन्तों का महत्वपूर्ण योगदान है। सूफी काव्य का प्राण प्रेम है। सूफी साधक आत्मा और परमात्मा का मिलन प्रेम द्वारा ही सम्भव

मानते हैं। परमात्मा को पाने के लिए आत्मा जिस बेचैनी और आतुरता का अनुभव करता है उसका वर्णन वह सांसारिक प्रेम की विभिन्न मनोदशाओं जैसा करता है। प्रेमी और प्रियतम के लौकिक प्रेम द्वारा उस अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रयास है।

प्रारम्भिक काल के सूफी साधकों ने तत्कालीन कवियों की भाषा को अपनाया। इसलिए उनकी कविताओं में साकी, शराब, प्याला, माशूक, जुल्फ, लब आदि शब्द देखने को मिलते हैं। लौकिक प्रेम सम्बन्धी गान की भाषा का प्रयोग सूफी कवियों ने अपने ढंग से किया और उन शब्दों के सांकेतिक अर्थ को बाद में समझने की चेष्टा की।

मुहसीन फैज कशानी ने 'रिसाल-यी-मिशवक' में इस तरह के कुछ शब्दों और उनके सांकेतिक अर्थ दिये हैं :—

(i) **रुख**—चेहरा, कपोल, (परम सौंदर्य के ऐश्वर्य, दयालुता, परम सत्य की अभिव्यक्ति)।

(ii) **जुल्फ**—परम ऐश्वर्य के सर्व शक्तिमान स्वरूप की अभिव्यक्ति अर्थात सर्वग्रासी, महाकाल, परम सत्य को छिपाने वाला दृश्यमान जगतस्वरूप पर्दा।

(iii) **खाल**—तिल, वास्तविक एकत्व का केन्द्र बिंदु, जो काले रंग द्वारा प्रकट किया जाता है।

(iv) **खत**—कपोल में बननेवाला गड्ढा (आध्यात्मिक स्वरूपों में परम सत्य की अभिव्यक्ति)।

(v) **चश्म**—आँखें (परमात्मा का अपने दासों और उनकी रुझान को देखना)।

(vi) **अबरू**—भौंह (परमात्मा के सिफत जो उसके जात को छिपाये है)।

(vii) **लब**—होठ—(जिलाने वाली परमात्मा की शक्ति)।

(viii) **शराब**—प्रियतम के दर्शन से भावाविष्ठावस्था का उत्पन्न होना।

(ix) **साकी**—सत्य जो अपने को सभी व्यक्त रूपों में अभिव्यक्त करना पसन्द करता है।

(x) **खुम**—परमात्मा के गुणों को प्रकट करता है।

(xi) **खुमखाना**—समस्त दृश्य और अदृश्य जगत जो परमात्मा के प्रेम और सत्ता की शराब को अपने में लिए हुए है।

(xii) **पैमाना**—जगत के प्रत्येक अणु—जो अपनी शक्ति के मुताबिक उस प्रेम की शराब को पाता है।

(xiii) **बुत**—कभी परम सौन्दर्य, कभी का मिल (पूर्ण मानव) के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

सूफी कवियों की अधिकांश रचनाएँ फारसी साहित्य से प्रभावित हुई हैं। उन्होंने विशेष रूप से मसनवियों, रुबाइयों एवं गजलों का सहारा लिया है।

मसनवी का व्यवहार बड़े काव्य के लिए किया जाता है। इसका प्रत्येक छन्द अपने आपमें पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है और वे तुकांत होते हैं। आकार में बड़ा होने के कारण कवि पूरी स्वतन्त्रता से भाव व्यक्त करता है। प्रेमाख्यान, धार्मिक तथा उपदेशात्मक काव्य के लिए मसनवी का ही सहारा लिया जाता है। इस तरह रचे हुए काव्यों को साकीनामा की संज्ञा दी जाती है। कभी-कभी नामकरण नायक तथा नायिका के नाम पर भी होता है—'यूसुफ जुलेखा', "खुशरोशीरी" मसनवी सर्गबद्ध होता है। प्रथम सर्ग में परमात्मा, दूसरे में पैगम्बर, तीसरे में पैगम्बर के 'मीराज' की चर्चा कर के काव्य विषय में प्रवेश किया जाता है।

रुबाई फारसी साहित्य का पुराना छन्द है। यह चार पदों की एक छोटी कविता है, जिसमें किसी विषय की चर्चा हो सकती है। छोटे आकार के कारण कवि को प्रभावोत्पादक भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। एक-एक रुबाई अपने आप में पूर्ण होती है।

सूफी काव्यों में रुबाइयों तथा मसनवियों का काफी प्रयोग हुआ है। गजल के माध्यम से भाव को व्यक्त करने में कवि को किसी नियम का पालन नहीं करना पड़ता है। अपनी भावों को मनोरंजक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए वह किसी का सहारा ले सकता है।

हमारे देश के इतिहास में जिस समय सूफी मत का आविर्भाव हुआ वह सूफी काव्य का स्वर्ण युग माना जाता है। सूफी साधकों की साहित्यिक विचारधारा ने एक बड़े जन समुदाय को प्रभावित किया। अरबी, फारसी तथा उर्दू साहित्य में तो इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं पर भी इनका प्रभाव पड़ा, जहाँ सूफी साधना क्रियाशील रही है। इस प्रकार सूफी सन्तों ने साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली अन्य विचारधाराओं के समान सूफी विचारधारा भी आज अंतःसलिला हो कर बह रही है।

●

अध्याय 8

आर्थिक जीवन

ग्रामीण समाज

सल्तनत काल

एक भारतीय गाँव में कुछ झोपड़ियाँ, एक कुआँ एक तालाब और थोड़ी खुली जगह बगीचे के लिए होती थी।[1] कौटिल्य के अनुसार किसी गाँव में सौ परिवार से कम या पाँच सौ परिवार से अधिक नहीं होने चाहिए और उसकी एक प्राकृतिक सीमा पेड़ों, नदियों, पहाड़ियों और झाड़ियों से घिरी हुई होनी चाहिए।[2] गाँव में का मुख्य साधन खेत था। वहाँ शूद्रों का रहना आवश्यक था।[3] गाँव में जिस भूमि पर खेती नहीं की जा सकती थी उसका प्रयोग चारागाह की तरह होती थी। गाँवों में अधिक लोग रहते थे, जैसा आजकल भी है।

मिनहाजुससिराज ने लिखा है कि गोंडवाना में लगभग 70 हजार गाँव थे।[4] ऐसा अनुमान किया जाता है कि मध्ययुग के भारत की आबादी 10 से 14 करोड़ थी[5], डॉ० ए० एल० बाशम इस आँकड़े को ठीक समझते हैं, यद्यपि यह प्रमाण तर्क संगत नहीं प्रतीत होती है।[6] सल्तनत काल में ग्रामीण जीवन में मुसलमानों के

---

1. ए० एल० बाशम, दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० 190
2. अर्थशास्त्र, पुस्तक 2, अध्याय 1
3. वही।
4. तबकाते नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद रेवर्टी, पृ० 587 फुटनोट, रसीदुद्दीन के अनुसार गुजरात, में 80 हजार गाँव थे सिबलिया में 1 लाख 25 हजार नगर और गाँव थे और मालवा में 18 लाख 93 हजार नगर और गाँव थे।

   (इलियट, जिल्द 1, पृ० 67-68)
5. प्राणनाथ, ए स्टडी ऑफ दि इकनामिक कन्डीशन ऑफ इण्डिया, पृ० 122
6. ए० एल० बाशम, आपसिट, पृ० 18

आगमन से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।[1] गाँव के लोग सदा से भूस्वामी की दया पर आश्रित थे। राजा हर्ष के बाद यह पद्धति रही कि भूमि, सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारियों को दी जाने लगी।[2] इन जागीरदारों के अधिकार असीमित थे। वे खेतिहर दासों और श्रमिकों से बेगार लेते थे।[3] प्राचीन भारत में किसानों को एक स्थान से दूसरे स्थान जाने की स्वतन्त्रता रहती थी, जब कि यूरोप में ठीक इसके विपरीत स्थिति थी। वहाँ जमीन के मालिक खेतिहर दासों को खेतों में कार्य करने के लिए विवश करते थे।[4] बाबर के अनुसार भारत में मध्ययुगीन भारत में गाँवों की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बाबर ने लिखा है, "हिन्दुस्तान में गाँव और पुरवा और नगर एक क्षण में वीरान हो जाते हैं और फिर बस जाते हैं। यदि किसी बड़े नगर में से लोग भागते हैं तो वे इस प्रकार जाते हैं कि एक या डेढ़ दिन में वहाँ उनका रहने का कोई चिह्न भी नहीं रहता।"[5] मध्ययुग में राजा केवल युद्ध करता है पर शासन नहीं करता। वास्तविक शासन तो जागीरदार और जमींदार करते हैं, जो एक प्रशासनिक अधिकारी की तरह नहीं बल्कि स्वतन्त्र शासक की तरह आचरण करते हैं।[6] डॉ॰ लल्लन जी गोपाल के अनुसार मध्ययुग में उत्तर भारत के कुछ स्थानों में खेतिहर दासों और जागीरदारी प्रथा थी।[7] डॉ॰ आर॰ एस॰ शर्मा के अनुसार उस समय गाँवों को उसमें रहने वाली आबादी के साथ जागीरदारों को दिया जाता था।[8] जागीरदारों का कृषकों के साथ सम्बन्ध की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृषकों की वही स्थिति रही होगी जो

---

1. डॉ॰ बृजनारायण शर्मा का कहना है कि कौटिल्य के 9 सौ वर्ष बाद भी गाँव की बहुत सी विशेषतायें पहले की तरह ही हैं जिसमें गाँव के जीवन में एकरूपता रही है (सोशल लाइफ इन नार्दन इन्डिया, पृ॰ 305)
2. बुद्ध-प्रकाश, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन कल्चर आन दि इव ऑफ मुस्लिम इनवेजन, पृ॰ 5
3. वही।
4. एल॰ गोपाल, इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ॰ 18
5. बाबरनामा, अनुवाद, ए॰ एस॰ बेवरिज, जिल्द 2, पृ॰ 488
6. आर्नोल्ड हैंसर, ए॰ सोशल हिस्ट्री ऑफ आर्ट, जिल्द 1, पृ॰ 183
7. आपसिट, पृ॰ 19

जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 39, पृ॰ 310

बारहवीं और तेरहवीं सदी में यूरोप के खेतिहर दासों की थी ।[1]

कभी-कभी क्षेत्रीय और राजवंशीय संघर्ष भयंकर युद्ध में बदल जाते थे, जिससे कि दोनों दल क्षत-विक्षत की नीति का अनुसरण करते थे, जिसके कारण गाँव और नगर नष्ट हो जाते थे ।[2] कल्हण ने कश्मीर में इस तरह के युद्धों का विवरण दिया है ।[3] ऐसी परिस्थिति में जागीरदार क्रूर और भ्रष्ट हो जाते थे । प्राचीन भारत में राजा को श्रमिकों से बेगार लेने का अधिकार था ।[4] डॉ० आर० एस० शर्मा ने लिखा है कि उड़ीसा में श्रमिकों की कमी के कारण वहाँ के रहने वाले लोगों से बेगार ली जाती थी ।[5] कौटिल्य के अनुसार राजा को राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति से राज्य की भलाई के लिए बेगार लेने का अधिकार था ।[6] परन्तु उत्तरी भारत के सभी क्षेत्रों में जागीरदारी और खेतिहर दासों की प्रथा प्रचलित नहीं थी । राजस्थान, आसाम और उड़ीसा में कहीं-कहीं कुछ दृष्टान्त मिलते हैं जिससे पता चलता है कि खेतिहर दास कृषि-कार्य के लिए होते थे ।[7] भारत के दूसरे भागों में जागीरदारी की प्रथा इसलिये नहीं थी कि राजा की शक्ति का पूर्णतः ह्रास नहीं हुआ था और भारत का दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा ।[8] कश्मीर में बेगार को रुद्यभारोधि कहा जाता था जिससे नकद या वस्तु के रूप में सरकार को भुगतान करने पर मुक्ति मिल जाती थी ।[9]

निर्धन व्यक्तियों का शोषण जागीरदार, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी और महाजन करते थे ।[10] व्यापारियों का बाह्य व्यवहार निर्धनों के प्रति मृदु था, परन्तु वास्तव में उनकी सारी सम्पत्ति छीन लेना चाहते थे ।[11] जब भी अकाल, बाढ़ या

---

1. ए० लेनपूल, ओब्लीगेशंस ऑफ सोसाइटी इन दि ट्वेल्फ्थ एण्ड थर्टीन्थ सेन्चुरीज, पृ० 13
2. बुद्ध प्रकाश, आपसिट, पृ० 9-10
3. राजतरंगिणी, viii, 1166, 1183, 1209-12
4. गौतम, x पृ० 31-32; मनु vii, पृ० 138
5. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 30, पृ० 310
6. अर्थशास्त्र, जिल्द 3, पृ० 35
7. एल० गोपाल, आपसिट, पृ० 30
8. वही ।
9. राजतरंगिणी, v, 172
10. वही, viii, पृ० 133-34
11. क्षेमेन्द्र, कला विलास, ii, पृ० 12-13

अन्य दैवी आपदाएँ आती थीं तो व्यापारी अधिक से अधिक निर्धनों का शोषण करके लाभ उठाने का प्रयास करते थे।[1] ये व्यापारी नाप तौल में भ्रष्ट तरीके अपनाते थे। आवश्यक वस्तुओं की जमाखोरी करते थे।[2] ब्राह्मण भी भ्रष्ट होते थे और लोगों को धोखा देते थे।[3]

अलबरूनी के विवरण से यह नहीं पता चलता कि हिन्दुओं की आर्थिक दशा खराब थी। दूसरे समकालीन लेखक जैसे इब्नबतूता, शिहाबुद्दीन, अब्बास अहमद (मसालिकुल आबसार के लेखक) अमीर खुसरो, शम्शसिराज अफीफ और जियाउद्दीन बर्नी कहते हैं कि हिन्दू सम्पन्न थे।[4] इब्नबतूता ने विस्तार से लिखा है कि किसान एक फसल काटने के बाद उसी खेत में दूसरी फसल बो देते थे, क्योंकि उनकी भूमि बड़ी उपजाऊ थी। चावल की उपज वर्ष में तीन बार होती थी।[5] शम्शसिराज अफीफ ने उड़ीसा के लोगों की समृद्धि का विवरण दिया है। उसने लिखा है कि वहाँ अनाज और फल बहुतायत में होता था, जानवरों की संख्या इतनी अधिक थी कि कोई उसे लेना नहीं चाहता था।[6] जियाउद्दीन बर्नी अपनी इस प्रसन्नता को छिपाने की कोशिश नहीं करता कि अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बनाने के लिए कई नियम बनाये थे।[7] मुसलमानों के आक्रमण के कारण बहुत से नगरों के लोग सुरक्षार्थ भाग कर गाँवों में आ गये, जहाँ उन्हें मुसलमानों के अत्याचार से मुक्ति मिली।[8] वे लोग भी जिनकी उपस्थिति नगरों में उनके उद्यमों के विचार से आवश्यक थी, भागकर

---

1. क्षेमेन्द्र, दशोपदेश, ii, पृ० 34
2. उतमितभव प्रपंचकथा, पृ० 88, 427, 500, 554
3. राजतरंगिणी, vi, पृ० 11
4. शिहाबुद्दीन ने लिखा है कि "भारतवासियों का साधारण भोजन गो-मांस और बकरे का मांस है। यह केवल आदत की बात है, क्योंकि भारत के गाँवों में भेड़ें अधिक संख्या में थीं" (इलियट, जिल्द 3, पृ० 583)।
5. रेहला, पृ० 19
6. अफीफ, आपसिट, पृ० 165-66
7. बर्नी, पृ० 233-38; दक्षिण भारत की समृद्धि के लिये देखिये किनकेड और परसनीस ए हिस्ट्री ऑफ दि मराठा, पीपुल, जिल्द 1, पृ० 37; मूल सेरमार्को पोल, जिल्द 2, पृ० 323; वासफ, पृ० 521-31, अब्दुरज्जाक, मतलाउस सदाचन, इलियट, जिल्द 4, पृ० 105-6
8. पुष्पा नियोगी, कन्ट्रीब्यूशन टु दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया फ्राम टेन्थ टु टवेल्फथ सेन्चुरी ए० डी०, पृ० 18

पड़ोस के गाँव में चले गये।[1] प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में भू-राजस्व राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। इस युग में ग्रामीण समाज उन वस्तुओं की उत्पत्ति करता था जिनकी आवश्यकता क्षेत्रीय लोगों को अधिक थी। डॉ० के० एम० अशरफ का कहना है कि "मध्ययुग में अधिक उत्पत्ति के लिये तरीकों में सुधार करना या समान वितरण की नीति राज्य सरकार की नहीं थी। राज्य का उद्देश्य था कि लोगों का जीवन स्तर रहे और वे आर्थिक संकट में फंसे रहे। यही कारण था कि मुस्लिम शासकों को प्रशासनिक कार्यों में बड़ी सुविधा हुई"।[2]

सल्तनत काल में मुस्लिम शासकों ने ग्रामीण लोगों की समृद्धि के लिये कोई कार्य नहीं किया। अलाउद्दीन ने दक्षिण को विजय कर वहाँ का धन लूटा, गाँवों में काम करने वाले सरकारी कर्मचारी खुत, मुकद्दम और चौधरी के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और उनके ऊपर कर लगाये। उसके इस कार्य से गाँवों के लोगों को अनेक आर्थिक जीवन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिसका उल्लेख विदेशियों ने अपने विवरण में किया है।[3] गयासुद्दीन तुगलुक के समय में भी गाँव के लोगों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। सुल्तान का निर्देश था कि गाँव वालों के पास केवल इतनी सम्पत्ति होनी चाहिये जिससे वे किसी प्रकार अपना जीवन निर्वाह कर सकें और वे अभिमानी न बन जायें और न इतने निर्धन हो जायें कि गाँव में खेती करना छोड़कर अन्यत्र कहीं चले जायें।[4] मुहम्मद तुगलुक ने किसानों पर बहुत कर लगाये, जिसको वे अदा न कर सके और जंगलों में भाग गये, जहाँ उनका शिकार जंगली जानवरों की तरह किया गया।[5] उसने अधिक उपज के लिये किसानों को सरकारी सुविधा

---

1. वही।
2. के० एम० अशरफ—लाइफ एण्ड कन्डीशंस ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० 85-86
3. मोरलैण्ड—इण्डिया ऐट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 268-69, जहाँगीर के शासनकाल में फ्रेंसिसको पेलर्सट आया था। उसने गाँव के लोगों की दयनीय दशा का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि गाँव के मकान मिट्टी और फूस के बने होते थे, उसमें बैठने के लिये कुर्सी आदि नहीं रहती थी। मकान में केवल मिट्टी के बर्तन खाना बनाने के लिये और पानी पीने के लिये होते थे।
   (देखिये—जहाँगीर इण्डिया—अनुवाद मोरलैण्ड और पी० गोल, पृ० 60-61)
4. बर्नी, पृ० 430; के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 90-91
5. ईश्वरी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ करौना टर्क्स, पृ० 67-74

प्रदान करने के उद्देश्य से एक पृथक विभाग दीवाने अमीरे को ही खोला। इस विभाग का यह भी काम था कि बन्जर भूमि को खेती योग्य बनाया जाय।[1] परन्तु अनुकूल परिस्थितियाँ न होने के कारण सुल्तान को इस कार्य में सफलता नहीं मिली।

फीरोज तुगलुक किसानों के प्रति उदार था, उसने खेती की उपज बढ़ाने के लिये कार्य किया।[2] तैमूर के आक्रमण में भू-राजस्व व्यवस्था पूर्णतया समाप्त हो गई और उसके चले जाने के बाद करों का निर्धारण मनमानो ढंग से किया गया, जिससे ग्रामीण समाज को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।[3] फलस्वरूप किसान इक्तादार या हिन्दू सरदार की दया पर निर्भर रहने लगे।[4]

भारतीय ग्रामीण समाज की जानकारी बाबरनामा और बर्नी, अफीफ और अब्दुल्ला के विवरणों से मिलती है। बाबरनामा के अनुसार गाँवों के लोग चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में आराम का जीवन व्यतीत करते थे, क्योंकि उनकी उपजाऊ भूमि में काफी उपज होती थी।[5] देश में वर्षा अधिक होती थी। इसके अतिरिक्त लोग सिंचाई के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग करते थे।[6] बर्नी, अफीफ और अब्दुल्ला ने तुगलुक काल में वस्तुओं के मूल्य में गिरावट के विषय में लिखा है। गाँवों के लोग अपनी इच्छानुसार आसानी से एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान चले जा सकते थे।[7] वे विपत्ति के समय घने जंगलों में सुरक्षित रूप से रह सकते थे।[8] डॉ० के० एस० लाल ने लिखा है कि यही कारण था कि मुस्लिम आक्रमणकारी गाँवों में अपना शासन स्थापित नहीं कर सके और ग्रामीण समाज पर मुस्लिम प्रशासन का कोई

1. कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ देहली सल्तनत, पृ० 122
2. डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड, दि अग्रेरियन सिस्टम ऑफ मोस्लेम इण्डिया, पृ० 59
3. के० एस० लाल, ट्वाइलाइट ऑफ दि देल्ही सल्तनत, पृ० 258
4. डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड, अग्रेरियन सिस्टम, पृ० 60-67
5. बाबरनामा, अनुवाद बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 519
6. वही, पृ० 486 87; के० एस० लाल, ट्वाइलाइट, पृ० 258
   तेरहवीं सदी में भारत और समरकन्द में इरानी चर्खी का प्रयोग सिंचाई के लिये किया जाता था। (देखिये, किताबुररेहला, जिल्द 2, कैरो 187-71, पृ० 145; ई० ब्रेशनीदर, मेडिवल रिसर्चेज फ्राम ईस्टर्न सोर्सेस, जिल्द 1, पृ० 76)
7. बर्नी, पृ० 318-19; तारीखे दाऊदी, पृ० 223-24 उद्धृत, के० एस० लाल, ट्वाइलाइट, पृ० 258; अलकल्लाशन्दी, सुभुल आशा, पृ० 56-57
8. बाबरनामा, अनुवाद बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 487-88

विशेष प्रभाव नहीं पड़ा ।[1] यदि कभी मुस्लिम आक्रमण का कोई खतरा गाँवों पर आता था तो ग्रामीण लोग भागकर दूसरे स्थानों को चले जाते थे और खतरा टल जाने पर फिर वह अपने पुराने स्थान पर आ जाते थे ।[2]

समकालीन लेखकों ने ग्रामीण जनता की समृद्धि के विषय में जो अपना विवरण दिया है वह ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाता । गाँवों के लोग अपने भू-स्वामी की दया पर आश्रित रहते थे । उनका जीवन ऐसी परिस्थिति में बहुत ही कष्ट का रहा होगा । किसानों को अपनी उपज का अधिक भाग अपने भू-स्वामी को दे देना पड़ता था और उनके पास उनकी आवश्यकता से अधिक अनाज नहीं रहने दिया जाता था, ऐसी परिस्थिति में किसानों को अपने श्रम का कोई लाभ नहीं मिला । अलाउद्दीन खल्जी के बाजार नियन्त्रण के विषय में बर्नी व्यंगात्मक ढंग से कहता है कि वस्तुओं का मूल्य इतना कम था कि 'ऊँट एक दाम में मिलता था लेकिन प्रश्न यह था कि दाम कहाँ से आवे ।'

मुगल काल

मुगलों के आने के बाद गाँवों की स्थिति खराब होने लगी । डॉ० इरफान हबीब ने लिखा है कि इसका एक मात्र कारण यह था कि मुगल प्रशासन ने करों में फिर उत्तरोत्तर वृद्धि करने की नीति अपनाई ।[3] मुगल काल में थट्टा (सिंध) के किसानों को अपनी उपज का आधा भाग कर के रूप में दे देना पड़ता था ।[4] अकबर के समय में कश्मीर में भूमि कर की दर 1/3 थी, लेकिन वास्तविक रूप में उपज का 2/3 भाग वसूल किया जाता था । सन् 1629 में गुजरात के किसानों से उपज का 3/4 भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था ।[5] दक्षिण में किसानों की स्थिति बहुत खराब थी । नूनिज के अनुसार वहाँ किसानों को केवल उपज का 1/10 भाग उनके पास रहने दिया जाता था और शेष राज्य को दे देना पड़ता था ।[6] यही कारण

1. वही, रेहला, पृ० 125
2. के० एस० लाल, हिस्ट्री ऑफ खल्जी 2, पृ० 272; ई० बी० हेवेल, दि हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया, पृ० 407-9
3. दि अग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया, पृ० 249
4. वही पृ० 191
5. के० एस० लाल स्टडीज, पृ० 191, मोरलैण्ड जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 4, पृ० 78-79 और जिल्द 14, पृ० 64
6. आर० सीवेल, ए फारगाटेन एम्पायर, पृ० 379, फुटनोट 2

था कि दक्षिण के किसान राज्य द्वारा किये गये अत्याचारों से अब ऊब कर अपने घरों को छोड़कर पड़ोसी राज्य में चले जाते थे।[1] औरंगजेब के समय में जागीरदारों को निर्देश दिया गया कि किसानों से उपज का आधा भाग वसूल किया जाय, परन्तु वास्तव में इससे अधिक वसूली की गई। इस प्रकार मुगलों के समय ग्रामीण समाज की स्थिति खराब हो गई।[2] सत्रहवीं सदी के किसानों की स्थिति के विषय में डॉ० ताराचन्द ने लिखा है कि मुगल राज्य का उद्देश्य 'आर्थिक कर' वसूल करना था, जिससे किसानों के पास उनकी आवश्यकता से अधिक कुछ भी न बचे।[3]

सल्तनत काल में करों की वसूली बड़ी कड़ाई के साथ की जाती थी। अला-उद्दीन ने बकाया कर की पूर्ण रकम वसूल करने के लिए एक पृथक विभाग खोला, जिसका नाम दीवाने मुस्तखराज था। यदि सरकारी कर्मचारी अमिल कर्किन किसानों से कर की वसूली में उदारता दिखाते तो उनको दण्डित किया जाता था। इब्नबतूता ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलुक करों की वसूली सख्ती से करता था।[4] मुगल शासकों ने भी करों की वसूली कड़ाई से की। यह प्रचलित पद्धति थी कि जो किसान भाग जाते थे उनकी बकाया रकम उनके पड़ोसियों से वसूल की जाती थी।[5] यह भी कहा जाता है कि मुस्लिम शासकों ने अधिक अन्न की उपज के लिये उपाय किये, क्योंकि यह राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था।[6] मुस्लिम शासकों ने वस्तुओं के मूल्य कम करने के लिये जो नियम बनाये उससे ग्रामीण समाज को अधिक हानि हुई। कृषकों का अधिक अनाज पैदा करने का उत्साह समाप्त हो गया।[7] इससे उनका जीवन स्तर गिर गया और वे जीवन के प्रति नीरस और उदासीन हो गये।[8] वस्तुओं के मूल्य में गिरावट फीरोज तुगलुक और सिकन्दर लोदी के समय में भी बनी रही।[9] मुगल काल

1. एन० वी० रमनैय्या, दि थर्ड डायनेस्टी ऑफ विजयनगर, पृ० 244
2. औरंगजेब का निर्देश था कि किसानों के पास उतना अनाज रहने दिया जाय कि दूसरी फसल होने तक उसकी आवश्यकता पूरी हो सके।
   (देखिये सर जान स्ट्रैची, इंडिया इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस, पृ० 126)
3. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 121
4. इब्नबतूता, डेफ और सेंग, जिल्द 3, पृ० 295; देखिये बर्नी, पृ० 470
5. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 249-50
6. वही, पृ० 241, 251
7. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 194
8. के० एस० लाल, हिस्ट्री ऑफ खल्जीज़, पृ० 290-01
9. अफीफ, पृ०294, तबकातेअकबरी, जिल्द !, पृ० 338, फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 187

में चीजों की कीमत बढ़ गई, इससे भी ग्रामीण समाज को क्षति पहुँची।[1]

इसके अतिरिक्त मध्य युग में गाँव के लोगों को मुस्लिम शासकों के निर्देश पर सैनिकों ने लूटा।[2] चूँकि उस समय सेना में खाद्यान्न की पूर्ति और वितरण की समुचित व्यवस्था नहीं थी, इसीलिए सिपाहियों को अपने लिये खाने और घोड़ों के लिये चारे की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ती थी इससे गाँव के लोगों की बड़ी क्षति हुई। जब भी राज्य सरकार जागीरदारों पर अधिक कर लगाती थी वे इसे किसानों से अतिरिक्त कर के रूप में वसूल कर लेते थे। इस प्रकार किसानों पर कर का अधिक बोझ था।[3] बर्नियर ने लिखा है कि मुगल प्रशासन ने इस भय से कि कहीं किसानों का समर्थन राज्य को न मिले, उनकी स्थिति सुधारने का प्रयास किया और करों में वृद्धि की।[4] सल्तनत काल में भी इसी तरह की व्यवस्था रही होगी। बाबर ने किसानों की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए 'लंगोटी' और 'खिचड़ी' शब्दों का उल्लेख किया है, जिसका प्रयोग गाँव के लोग करते थे।[5]

गाँव के लोगों को निर्धन बनाने की नीति अलाउद्दीन खल्जी ने प्रारम्भ की और बाद के मुस्लिम शासकों ने इसको अपनाया।[6] देश में दालें, गेहूँ, बाजरा, जौ, चावल, मटर, गन्ना, तेल के बीज और रूई प्रमुख फसलें थीं।[7] अनाज भण्डार गृह (खत्ती) में रखा जाता था।[8] फलों में आम, अंगूर, केला, अनार, खरबूजा, सेव, आड़, सन्तरे मुख्य थे।[9] नारियल समुद्र तट के क्षेत्रों में पाया जाता था। दिल्ली के

---

1. इरफान हबीब, आपसिट, 82-89
2. तैमूर और बाबर ने भारत पर आक्रमण के समय अपने सैनिकों को निर्देश दिया कि अपने खाने और जानवरों की व्यवस्था स्वयं कर लें।
   (देखिये—मलफूजाने तैमूरी, इलियट, जिल्द 3, पृ० 445; इलियट, जिल्द 4, पृ० 263)
3. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 196
4. बर्नियर, ट्रैवेल्स इन दि मोगल एम्पायर, पृ० 288
5. बाबरनामा, जिल्द 2, पृ० 519
6. के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 199
7. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 88
8. वही।
9. वही, पृ० 59

सुल्तान अच्छे फलों की पैदावार बढ़ाने में रुचि लेते थे। फिरोज तुगलुक ने 12 सौ बाग दिल्ली के समीप लगवाये, जिससे राज्य की वार्षिक आय 1 लाख 80 हजार टंका बढ़ गई।[1] सिकन्दर लोदी ने जोधपुर के अनारों की प्रशंसा की। उसका कहना था कि ईरान में भी ऐसे अनार मिलना मुश्किल था।[2] आसाम में चन्दन और अन्य सुगन्धित लकड़ी पैदा की जाती थी। गुजरात वाली मिर्च, अदरक और दूसरे मसालों की उपज के लिए प्रसिद्ध था।[3]

गाँव के लोग खेती नहीं करते थे। वे दूसरे उद्योग-धन्धों में लगे थे। जो अधिकतर खेतों की उपज पर आधारित थे जैसे रस्सी, टोकरी, गुड़, तेल, इत्र बनाना आदि। डॉ० अशरफ का कथन है कि वे उद्योग परम्परागत वंशानुगत थे।[4] उनके औजार और काम करने का तरीका अपरिष्कृत था और उत्पादन बहुत कम था।[5] इन उद्योग धन्धों में का तैयार किया हुआ माल बहुत अच्छा होता था जो कारीगरों की कुशलता और अनुभव का परिचायक था। परन्तु उनको इस अच्छे उत्पादन के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिला।[6] इन कुशल कारीगरों का सामाजिक प्रतिबन्धों और सरकारी कर्मचारियों के अत्याचार का सामना करना पड़ा, जिससे ग्रामीण शिल्पकार की प्रगति न हो सकी।[7] कहा जाता है कि इस्लाम के सम्पर्क में आने से कारीगरों के सामाजिक प्रतिबन्ध बहुत अधिक कम हो गये थे। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह परिवर्तन उनके समाज से विलीन हो गया और वे जाति प्रथा में

---

1. अफीफ, पृ० 295-96; फीरोज तुगलक ने एलोरा बाँध में 80 बाग और चितोड़ में 44 बाग लगाये। के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 89
2. अमीर खुसरो—इजाजे खुशरवी, जिल्द 4, पृ० 330
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 90
4. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द 1, 1935, पृ० 196-203
5. वही, पृ० 96-91
6. वही।
7. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 90-91
अमीर खुसरो के अनुसार दिल्ली के तेल उत्पादकों के विरुद्ध कड़े आदेश लागू किये गये। इजाजे खुतरवी, जिल्द 2, पृ० 19-20; जब बंगाल में पान के पत्ते उगाने वालों के विरुद्ध राज्य द्वारा कार्यवाही की गई तो व्यापारियों को अधिक नुकसान हुआ। (देखिये, जे० एन० दास गुप्ता—बंगाल इन दि सिक्टीन्थ सेन्चूरी, पृ० 158)

विश्वास करने वाले रूढ़िवादी और संकुचित विचारधारा के हो गये।[1] गाँवों के अधिकतर उद्योगों में गुड़, सुगन्धित वस्तुएँ, मदिरा आदि का बनाना था, जो खेतों की उपज पर आधारित था।[2] गाँवों में लोहार, जुलाहे, सुनार, धनुष बनाने वाले और संगीत सम्बन्धी यंत्र बनाने वाले होते थे।[3] कुछ लोग टोकरी, रस्सी, मिट्टी के बर्तन और चमड़े का मोट बनाने का भी काम करते थे। किसान अपने परिवार के साथ अपने खेत में कठिन परिश्रम करता था उसकी उपज का अधिक भाग करों की अदायगी में चला जाता था, जिससे उसका जीवन ऋणों में बीतता था। यही स्थिति गाँव में रहने वाले दूसरे वर्गों की भी थी।[4] मोरलैण्ड का कहना है कि साधारण किसान की स्थिति ब्रिटिशकालीन भारत के किसान की स्थिति बहुत खराब थी।[5] मोरलैण्ड की अंग्रेजी शासन के प्रति निष्ठा के बावजूद उसका कथन बहुत ठीक मालूम पड़ता है।

एक यूरोपीय विद्वान का कहना है कि जहाँगीर के समय में किसानों की स्थिति बहुत खराब थी। उनके घर में केवल दुःखों और विपत्तियों को स्थान था।[6] कश्मीर के लोग मोटा चावल खाते थे।[7] बिहार के ग्रामीण लोग केसारी दाल खाने को बाध्य होते थे, जिससे लोग रोग-ग्रसित हो जाते थे।[8] मालवा के लोगों को गेहूँ के आटे की व्यवस्था करना बहुत कठिन था इसीलिए वे ज्वार के आटे का प्रयोग करते

---

1. मलिक मुहम्मद जायसी पद्मावत सम्पादित ग्रियर्सन, पृ० 19; एम० ए० मैकालिफ, दि सिख रिजीनल, जिल्द 1, पृ० 284
2. जे० सी० रे का लेख हिन्दू मेथड ऑफ मैन्यूफैक्चरिंग स्पिरिट्स, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, 1906
3. अहमद शाह दि बीजक ऑफ कबीर, पृ० 125-69
4. के० एम० अशरफ, पृ० 91-92

   एस० एम० जाफर का कहना है कि मुस्लिम प्रशासन के अन्तर्गत किसानों के जीवन स्तर में अधिक सुधार हुआ और उनकी स्थिति पहले से अच्छी हो गई। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। देखिये, सम कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, 212
5. मोरलैण्ड इण्डिया ऐट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 129
6. फ्रेंसिस्को पेलसर्ट, जहाँगीर्स इण्डिया, अंग्रेजी अनुवाद मोरलैण्ड और जील, पृ० 60
7. तुजुके जहाँगीरी, पृ० 300
8. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 416

थे ।[1] गाँवों के लोग भोजन में अनाज के अलावा सब्जी खाते थे । उड़ीसा, सिंध और कश्मीर में मछली खाई जाती थी ।[2] मांस का सेवन बहुत कम किया जाता था । जिस स्थान पर मुस्लिम गवर्नर होता था वहाँ मांस की दूकानें थीं, परन्तु जहाँ केवल हिन्दू बनियाँ रहते थे, वहाँ मांस की दूकानें नहीं थी ।[3] मुगल काल में घी का प्रयोग अधिक था । आगरा, बंगाल और पश्चिमी भारत में पौष्टिक खाद्य के रूप में यह प्रयोग में लाया जाता था ।[4] ट्रेवर्नियर का कहना है कि छोटे से छोटे गाँवों में शक्कर या शर्बत बहुतायत से देखने को मिलता थी ।[5] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि गाँव के लोग गुड़ का प्रयोग साधारणतः अधिक करते थे ।[6] मोरलैण्ड ने लिखा है कि अकबर के समय में नमक का उपयोग ग्रामवासी कम करते थे, क्योंकि गेहूँ की अपेक्षा वह बहुत महँगा था ।[7] बंगाल और आसाम में नमक की बहुत कमी थी, गाँवों के लोग नमक के स्थान पर एक कड़वी वस्तु, जो केले के छाल से निकाली जाती थी, प्रयोग में लाते थे ।[8] मसाले भी अपेक्षाकृत महँगे थे । गाँव के लोग मादक वस्तुओं जैसे ताड़ी और अफीम का प्रयोग करते थे । इसका प्रयोग समुद्र तट पर रहने वाले लोग अधिक करते थे ।[9]

मुगल काल में ग्रामीण जनता की निर्धनता के विषय में यूरोपीय विद्वानों ने प्रकाश डाला है । आगरा में लोग इतने निर्धन थे कि अधिकतर लोग नंगे रहते थे । वे केवल गुप्तांगों पर एक कपड़े का टुकड़ा लपेटे रहते थे ।[10] फिच ने बनारस के विषय

---

1. एडवर्ड टेरी वायेज टू ईस्ट इण्डिया; रिप्रिण्ट, लन्दन, 1777, पृ० 97-199
2. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 389, 391, 556, 564
3. ट्रेवर्नियर, जिल्द 1, पृ० 38
4. पेलसर्ट आपसिट, 61; बर्नियर, पृ० 438; टेडर्स अलीखलर, पृ० 196
5. ट्रेवर्नियर, जिल्द 1, पृ० 238
6. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 92
7. जर्नल ऑफ रायल ऐसियटिक सोसाइटी, 1918, पृ० 379
8. हफ्त इकलीम, पृ० 95; देखिये–इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 92
9. फिंच, अर्ली ट्रेवेल्स, पृ० 175; बाबर ने लिखा है कि लोग बयाना और धौलपुर में ताड़ी निकालते थे (बाबरनामा, अनुवाद, बेवरिज, जिल्द 2, पृ० 508-9)
10. लेटर्स रिसीव्ड बाई दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी फ्राम इट्स सर्वेण्ट्स इन दि ईस्ट, जिल्द 6, सम्पादित फोस्ट लन्दन, 1896-1902, पृ० 187

29

में लिखा है कि जाड़े में लोग ऊनी कपड़े के स्थान पर रूई की बण्डियाँ पहनते थे।[1] बंगाल के विषय में अबुल फज्ल ने लिखा है कि अधिकांश स्त्री-पुरुष नंगे रहते थे, वे लुंगी के सिवा कोई वस्त्र नहीं पहनते थे।[2] उड़ीसा में स्त्रियाँ केवल गुप्तांगों को पेड़ के पत्तों से ढंके रहती थीं और नंगी रहती थीं।[3] कश्मीर में लोग रूई के कपड़ों का प्रयोग नहीं करते थे। वे ऊनी कपड़े (पट्ट) पहना करते थे जिन्हें वे कभी धोते नहीं थे। उसको तीन या चार वर्षों तक पहनते थे जब तक वे फट न जायँ।[4]

समकालीन लेखकों के विवरणों से पता चलता है कि गाँव के लोग त्योहार के मनाने, धार्मिक कृत्यों, तीर्थयात्राओं, विवाहों और अन्त्येष्टि आदि संस्कारों में बहुत अधिक व्यय करते थे। इस कारण वे सदैव ऋण में रहते थे। एक यूरोपीयन विद्वान् ने गुजरात का दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि अच्छी फसल के बावजूद वहाँ रहने वाले लोगों ने अपना संचित धन त्योहारों के मनाने में खर्च कर दिया, जिसके लिए ईश्वर ने उन्हें भीषण अकाल (1630-32) की स्थिति से दण्डित किया।[5]

डॉ० इरफान हबीब ने लिखा है कि गाँवों की उपज नगरों में भेजी जाती थी, जिससे वहाँ के लोग लाभान्वित होते थे। लेकिन इसके बदले में गाँव के लोगों को नगरों से कोई लाभ नहीं मिलता था।[6] मुगल काल में ग्रामीण जनता को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (i) जमींदार, महाजन और गल्ले के व्यापारी। (ii) धनी कृषक और (iii) खेतिहर किसान, जो अधिक संख्या में होते थे।[7] इसके अतिरिक्त श्रमिक होते थे, जो खेतों में काम करते थे, यद्यपि उनके पास अपने खेत होते थे। हिन्दू समाज के कुछ निम्न वर्ग के लोग जो वंशानुगत उद्योगों में लगे रहते थे। वे खेतों में काम करते थे और अपनी मजदूरी लेते थे, जैसे चमार, धानुक आदि।[8] ये लोग अजमेर में 'थोरी' और दूसरे स्थानों में बालाहार[9] के नाम से

1. राल्फ फिंच नरेटिव—सम्पादित जे० एच० रीले राल्फफिच, इंगलैण्ड्स पायनियर टु इण्डिया एण्ड बर्मा, लन्दन 1899, पृ० 107
2. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 389
3. वही, पृ० 491
4. वही, पृ० 564; तुजुके जहाँगीरी, पृ० 301; पेलसर्ट आपसिट, पृ० 35
5. ट्विस्ट, अनुवाद मोरलैण्ड जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 16, पृ० 66
6. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 118-19
7. वही, पृ० 120
8. चमार, धानुक अधिकतर जमींदारों के खेत जोतने, बोने और फसल काटने का कार्य करते थे।
9. बर्नी ने चौदहवीं सदी में इस शब्द का प्रयोग किया (आपसिट, पृ० 287)

पुकारे जाते थे। इनका काम बोझा ढोना और पथ-दिग्दर्शक का कार्य करना था।[1] यदि किसी किसान के पास अधिक खेत होते थे तो उसे भूमि विहीन श्रमिकों की सहायता लेनी पड़ती थी। ये श्रमिक समाज में दलित वर्ग के होते थे।[2]

डॉ० इरफान हबीब के अनुसार मुगल काल में प्रत्येक गाँव एक आर्थिक और सामाजिक इकाई था। वहाँ एक ही जाति के लोग रहते थे। एक गाँव में किसान एक ही जाति के होते थे, यद्यपि किसानों में कई जातियों के लोग होते थे।[3] दोआब में बहुत से गाँव अलग-अलग जातियों के थे, जैसे ठाकुर, जाट, अहीर, गूजर आदि। एक गाँव में एक ही भाईचारे के लोग रहते थे, जिससे उनका संगठन बहुत शक्तिशाली था।[4] कुछ लोग गाँव के भाईचारे में नहीं थे और न उस गाँवों में रहते थे। परन्तु उस गाँव के खेतों में काम करते थे। ऐसे लोगों को 'पैकारत' कहा जाता था।[5] खेतों पर सामूहिक रूप से किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं था। किसान का अधिकार केवल व्यक्तिगत था।[6] ज्यों-ज्यों अमीर और गरीब किसानों के बीच की खाई बढ़ती गई, गाँवों में भाईचारा और आपसी मेल समाप्त हो गया। ऐसा अनुमान है कि धनी वर्ग के किसान निर्धनों पर अपना प्रभुत्व जमाये थे।[7]

गाँवों का मुखिया उत्तर भारत में 'मुकद्दम' और दक्षिण भारत में 'पटेल' के नाम से जाना जाता था। किसी-किसी गाँव में एक से अधिक मुखिया होते थे। ऐसे दृष्टान्त मिले हैं जहाँ एक गाँव में सात मुखिया थे।[8] गाँव का मुखिया स्वयं एक किसान होता था, लेकिन जब पदों का क्रय-विक्रय होने लगा तो एक नगर का रहने वाला भी गाँव का मुखिया हो सकता था।[9] उसे सरकारी अधिकारी नहीं कहा जा सकता, लेकिन कर्तव्यों के पालन न करने पर उसे हटा दिया जाता था।[10] कालान्तर

1. एच० एम० इलियट, मेमायस, जिल्द 2, लन्दन 1869, पृ० 249
2. देखिये एस० जे० पटेल, एग्रीकल्चरल लेबरर्स, पृ० 63-65
3. इरफान हबीब, आगसिट, पृ० 122
4. मोरलैण्ड, एग्रेरियन सिस्टम, पृ० 160-68
5. वही, पृ० 161
6. इरफान हबीब, आपमिट, पृ० 124
7. वही, पृ० 128
8. वही, पृ० 129
9. इरफान हबीब, आपमिट, पृ० 130; मनूची, जिल्द 2, पृ० 450
10. वही, पृ० 130

में ग्रामवासियों और मुखिया के बीच मतभेद बढ़ गया। मुखिया गाँव पर अपने अधिकार जताने लगा और जमींदार के सदृश अपने अधिकारों का प्रयोग करने लगा।[1] गाँव में पटवारी होता था, जो गाँव की जमीन और लगान वसूली का हिसाब रखता था वह 'हिन्दवी' और क्षेत्रीय भाषा में हिसाब रखता था। अबुल फज्ल के अनुसार पटवारी गाँववालों का कर्मचारी था, लेकिन राज्य सरकार की तरफ से भी उसका कुछ मिलता था।[2] अकबर के समय में उसको गाँव की लगान की वसूली का 1% कमीशन दिया जाता था।[3] ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं कि पटवारी गाँव के लोगों को सताता और आतंकित करता था।[4]

जमींदार

मुगल काल में जमींदार एक अधीन सरदार होता था। उसका केन्द्र द्वारा सीधे शासित प्रदेश में कोई स्थान नहीं था।[5] डॉ० परमात्मा शरण भी इस विचार से सहमत हैं, लेकिन वे यह नहीं मानते कि मुगल साम्राज्य में प्रत्येक स्थान पर जमींदार थे। तथ्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि[6] जमींदार केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश में भी होते थे। 16वीं और 17वीं शताब्दी के सरकारी कागजात से पता चलता है कि पूरे मुगल साम्राज्य में जमींदार होते थे। आगरा, देहली, पंजाब और अजमेर केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश थे। इन प्रान्तों में जमींदार का उल्लेख मिलता है।

जमींदार का शाब्दिक अर्थ है भूमि पर अधिकार रखने वाला। 14वीं सदी में बर्नी और अफीफ ने जमींदार शब्द का प्रयोग अपने विवरणों में किया है।[7] अबुल फज्ल ने जमींदार के लिए 'बूमि' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु धीरे-धीरे जमींदार शब्द का प्रयोग अधिक किया जाने लगा। सत्रहवीं सदी जमींदार के लिए तालुका या तालुकादार शब्द का प्रयोग जमींदारी और जमींदार के लिए किया जाने लगा।[8]

---

1. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 133
2. वही, पृ० 135
3. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 350
4. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 135
5. मोरलैण्ड एग्रेरियन सिस्टम, पृ० 122, 279
6. प्राविंशियल गवर्नमेण्ट, पृ० 111, फुटनोट।
7. देखिये, मोरलैण्ड एग्रेरियन सिस्टम, पृ० 18, फुटनोट।
8. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 139

जमींदार के लिए 'मलिक' शब्द का भी प्रयोग किया जाने लगा और दस्तावेज में मिल्कियत (मलिक के अधिकार) शब्द को इस्तेमाल किया जाने लगा।[1] जमींदारी गाँव से सम्बन्धित थी न कि खेत से। इसका सम्बन्ध मुगल काल में किसानों से पृथक् ग्रामीण वर्ग से था।[2] सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य में 'रैयती' और 'जमींदारी' गाँवों का विभाजन था। दूर के प्रान्त गुजरात में भी भूमि 'रैयती' गाँव और जमींदार के तालुका में बँटी हुई थी।[3] जमींदार अपने गाँव या तालुका की आय, जिसे 'बाँठ' कहते थे, अपने पास रख लेता था और रैयती गाँव की आमदनी राजकोष में जमा करता था। परन्तु कुछ समय बाद जमींदार रैयती गाँव पर भी अतिरिक्त कर (खिराज) लगाने लगे और अपना प्रभुत्व जमाने लगे।[4]

यदि सभी गाँव 'रैयती' हों या 'जमींदारी' हो तो अनुमान लगाया जा सकता है कि जमींदारों और किसानों के अधिकार भूमि पर अलग-अलग रहे होंगे। इससे तात्पर्य यह है कि जहाँ जमींदार के अधिकार होंगे वहाँ किसानों के अधिकार नहीं होंगे और जहाँ किसानों के अधिकार होंगे वहाँ जमींदारों के अधिकार नहीं होंगे। जमींदार का अपनी जमीन पर पूरा अधिकार था। वह अपनी स्वेच्छा से जिसको चाहे खेती करने के लिए दे सकता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि किसानों को बेदखल करने का जमींदार का अधिकार वैधानिक था। परन्तु बहुत सी बंजर भूमि के रहते हुए जमींदार किसानों को अपने खेतों में बनाये रखना चाहते रहे होंगे न कि उन्हें हटाना।[5] यह निश्चित् रूप से कहा नहीं जा सकता कि जमींदारों ने किसानों को बलपूर्वक अपने खेतों पर बनाये रखा होगा। कुछ ऐसे दृष्टान्त मिले हैं कि जमींदारों ने किसनों से बन्धपत्र लिखवाया, जिसके अन्तर्गत उन्हें जमींदारों के खेतों पर काम करना अनिवार्य था।[6] जमींदारी अधिकार का उद्देश्य भूमि रखने वालों को आय का एक स्रोत प्रदान करना था।[7]

---

1. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 139
2. वही, पृ० 141
3. वही, पृ० 142
4. वही, पृ० 143
5. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 144
6. वही।
7. वही, पृ० 145

बंगाल में जमींदार राज्य को पूरे गाँव का निर्धारित कर देते थे और वे अलग-अलग किसानों से परम्परा के अनुसार कर वसूल करते थे। उस समय राज्य सरकार अधिक से अधिक कर किसानों से वसूल करना चाहती थी।[1] जब जमींदारों का अधिकार उस गाँव की आय पर स्वीकार किया गया तो उसे 'मालिकाना' कहा जाता था।[2] 'मालिकाना' उस समय जमींदारों को दिया जाता था। जबकि उस क्षेत्र की लगान वसूली का कार्य राज्य प्रशासन स्वयं करता था और जमींदार के अधिकारों को स्वीकार नहीं किया जाता था। मालिकाना आय का 10% भाग दिया जाता था। साधारणतः यह धन जमींदार को नकद दिया जाता था, परन्तु कभी-कभी इसके बदले भूमि भी दी जाती थी। इस निर्धारित आय के अतिरिक्त जमींदार अपने क्षेत्र में किसानों से तरह-तरह के कर वसूल करते थे, जैसे 'दस्तार शुमारी' (पगड़ियों का गिनना), विवाह और मृत्यु कर, गृह कर (खाना शुमारी) आदि। जमींदार कुछ वर्गों के लोगों से बेगार लेता था।[3] बलाहार थोरी, धानुक और चमार को अपने जमींदार के लिए पथ प्रदर्शक और बोझा ढोने का काम करना पड़ता था। इतना ही नहीं, जमींदार की जाति के जितने भी लोग उस तरफ से गुजरें उनके लिये भी बेगार करनी पड़ेगी।[4] जमींदार की निर्धारित आय और उसकी अतिरिक्त आमदनी का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।[5] अठारहवीं शताब्दी में बंगाल और देहली के आसपास जमींदार को अतिरिक्त लाभ उस क्षेत्र की वार्षिक आय का 1/4 भाग निर्धारित किया गया, जिसे 'सायर चौथ' कहते थे।[6]

जमींदार की आय का भाग स्वेच्छा से बढ़ाया नहीं जा सकता था। भूमि की उपज पर जमींदार का हिस्सा प्रशासकीय आदेश और परम्परा के अनुसार निर्धारित किया जाता था।[7] जमींदार को भले ही 'मालिक' और उसके अधिकार को मिल्कियत कहा जाय, उसे अपनी मर्जी से किसानों से कर वसूल करने का अधिकार नहीं था और न वह अपने अन्तर्गत भूमि का अपने को उसका मालिक समझ सकता था और

---

1. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 145
2. वही, पृ० 146
3. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 150
4. वही।
5. वही, पृ० 151
6. वही।
7. वही, पृ० 190

न उसे वह अपने उपनिवेश की संज्ञा दे सकता था।[1] यह महत्वपूर्ण बात है कि जमींदारी जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह थी। उसके उत्तराधिकारी उसे ग्रहण कर सकते थे लेकिन जमींदारी के अन्तर्गत भूमि जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी।[2]

मुगल साम्राज्य में जमींदारी को वंशानुगत बनाने के लिये एक विधान था।[3] मुगल काल जमींदारों की उत्तराधिकार सम्बन्धी समस्याओं को तय करने के लिये हिन्दू और मुस्लिम कानूनों को आधार माना जाता था।[4] जमींदारी अविभाज्य इकाई नहीं समझी जाती थी। ऐसे दृष्टान्त मिले हैं कि जमींदारी का विभाजन कई दावेदारों के बीच किया गया।[5] इस प्रकार जमींदारी के विभाजन से कभी दावेदार को गाँव की भूमि का केवल एक छोटा भाग ही मिल पाता था। जमींदारी के क्रय और विक्रय का सिद्धान्त 18वीं शताब्दी के मुगल राजस्व विभाग के कागजात से पता चलता है। परन्तु ऐसा पता चलता है कि यह पद्धति अकबर के समय से प्रारम्भ हुई और औरंगजेब के समय में इसका स्वरूप विस्तृत हो गया था।[6] कभी जमींदारी पट्टे (इजारा) पर एक निश्चित् समय के लिये दूसरों को दे दी जाती थी। पट्टेदार को लगान वसूल करने का पूरा अधिकार मिल जाता था, कभी-कभी अवधि पूरी हो जाने के बाद भी पट्टेदार को किसानों से तकावी वसूल करने का अधिकार मिल जाता था।

---

1. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 206
2. वही, पृ० 153-54
3. राजा जसवन्त सिंह की मृत्यु के बाद दावेदारों ने मारवाड़ की जमींदारी के उत्तराधिकार के लिये जोधपुर के काजी की अदालत में मुकदमा पेश किया। काजी ने निर्णय दिया कि उत्तराधिकार के नियम के अनुसार मारवाड़ को जसवंत सिंह के पुत्रों को दे दिया जाय। काजी ने कहा कि जब जसवन्त सिंह के लड़के वहाँ थे तो इन्दर सिंह को मारवाड़ प्रदेश और जमींदारी पर अधिकार करने का कोई प्रयोजन नहीं था। (वाक्याएँ अजमेर, पृ० 245-46, उद्धृत इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 154)
4. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 155
5. सम्भल परगने की जमींदारी कई दावेदारों के बीच बाँटी गई और प्रत्येक उत्तराधिकारी को उसके हिस्से में कई गाँव मिले (दुर्रअलउलूम, फोलियो 431-441, उद्धृत इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 155)।
6. वही, पृ० 157-58

जिसे उसने किसानों को दिया था और उसकी वसूली पट्टे की अवधि तक न हो पाई हो।[1]

बहुत सी जातियों के बीच क्षेत्रीय विभाजन के फलस्वरूप जमींदारी की प्रथा प्रचलित हुई। इस प्रथा का विकास क्रमबद्ध नहीं रहा, एक वर्ग किसी क्षेत्र पर कभी अधिकार कर लेता था लेकिन उस क्षेत्र से उस वर्ग के सभी लोगों को हटाना उसके लिये असम्भव हो जाता था जिनका प्रभुत्व पहले वहाँ था। ऐसी परिस्थिति में प्रथम वर्ग के लोग उस क्षेत्र में पृथक् अपना गढ़ बना लेते थे।[2]

बाबर ने लिखा है कि साल्ट रेंज की जमींदारी तीन जातियों में बँटी हुई थीं जुद, जुन्जुहा और गक्खर, जो वहाँ के किसानों से लगान वसूल करते थे। उनके पास एक जोड़ा बैल और एक घर होता था।[3] जमींदार संगठित होते थे और सेना भी रखते थे। अबुल फज्ल ने आँकड़े प्रस्तुत किये हैं और लिखा है कि मुगल साम्राज्य में जमींदारों की सेना 44 लाख थी।[4] जमींदार अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए किले बनाने लगे। कभी-कभी एक ही गाँव में किले के बनाने और अपहर्त्ता द्वारा उसे नष्ट किये जाने का विवरण मिलता है। इस तरह के झगड़ों के सम्बन्ध में प्रशासन को बराबर शिकायत मिलती थी।[5] इससे पता चलता है कि मुगल प्रशासन जमींदारों को उनकी सुरक्षा के लिए किले बनवाने की अनुमति देता था। ये किले न केवल कुछ प्रान्तों में ही बनाये जाते थे, बल्कि राजधानी के समीप के क्षेत्रों में भी बनाये जाते थे।[6] ये किले जमींदारों की शक्ति के प्रतीक थे। चूँकि जमींदारों के अधिकार में जाति की प्रमुख भूमिका थी इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जमींदार अपनी ही जाति से सेना में विश्वसनीय सैनिकों का चुनाव करता था।

सत्रहवीं सदी के लेखकों ने इस प्रकार के जमींदारों को सेना के लिए 'उलूस' शब्द का प्रयोग किया है। इसकी उत्पत्ति मंगोलिया और सेण्ट्रल एशिया में हुई।[7] भारत में इसका प्रयोग मुगल सम्राटों की केन्द्रीय सेना के लिये नहीं किया गया। इसका

---

1. वही, पृ० 159
2. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 162
3. बाबरनामा, अनुवाद बेवरीज, जिल्द 1, पृ० 379-80, 87
4. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 175
5. इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 164-65
6. वही, पृ० 165
7. देखिये वी, क्यू सुन, दि सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ दि मंगोल डायनेस्टी, अलीगढ़, 1957, पृ० 13-14, 16-17

प्रयोग जमींदारों की सेना के लिए किया गया, जैसे कछवाहा, राठोर, गोंड, बलूच का 'उलूस' ।[1] मारवाड़ क्षेत्र में कहीं सैंधल राजपूतों के 'वलूस' की जमींदारी थी ।[2] इससे पता चलता है कि अशान्त क्षेत्र के जमींदारों के लिए सेना (उलूस) का रखना आवश्यक था । 'उलूस' शब्द के अत्यधिक प्रयोग से 'उलूस' के अन्तर्गत दूसरी जाति के सिपाहियों की सेना में कोई अन्तर नहीं रह गया । डॉ० इरफान हबीब का कहना है कि 44 लाख जमींदारों के सैनिक, जिसका उलूस आइने अकबरी में किया गया है, सभी जमींदारों के जाति के नहीं थे ।[3] ऐसा अनुमान किया जाता है कि जमींदारों की सेना में अधिकतर गाँव के लोग (गँवार) होते थे, जिनका प्रयोग जमींदार क्षेत्रीय संघर्षों या अधिकारियों के विरुद्ध करता था ।[4] फरीद (आगे चलकर शेरशाह) ने अपने पिता की जागीर बिहार में विद्रोही जमींदारों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की । ऐसा समझा जाता है कि जिस गाँव पर फरीद ने आक्रमण किया, उसने वहाँ के सभी लोगों को जान से मार डाला । वहाँ नये किसानों को बसाया । उसने ऐसा इसीलिए किया कि सभी पुराने किसान या तो वहाँ के जमींदार की सेना के सिपाही थे या उन्होंने उसका समर्थन किया ।[5]

एक वर्ग के रूप में जमींदार आपस में विभाजित थे । वे जाति और क्षेत्रीय बन्धनों में बँधे हुए थे । यही कारण था कि वे संगठित न हो सके और मध्ययुगीन भारत में साम्राज्य निर्माण के कार्य में योगदान न दे सके । फलस्वरूप विदेशी भारत पर बार-बार आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित हुए ।[6]

---

1. अकबरनामा, जिल्द 2, पृ० 156; आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 411, 486
2. वाक्याय अजमेर, पृ० 364 उद्धृत इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 166,
3. बैंसवारा के एक परगने का जमींदार बैस (राजपूत) था, जिसने अपनी सेना में एक अफगान को रखा था, जो किला उसने बनवाया था उसका नाम उस अफगान के नाम पर सलीमगढ़ रखा और किला उसे सुपुर्द कर दिया ।
(इरफान हबीब, आपसिट, पृ० 166 फुटनोट)
4. अकबर के समय में जलेसर के परगने एक जमींदार ने अपनी सेना में गँवारों का प्रयोग सम्राट् की सेना के विरुद्ध लड़ाई में किया । (बदाँयुनी, जिल्द 2, पृ० 151)
5. अब्बास खाँ सरवानी तुहफाये अकबरशाही फोलियो—14 बी 15 ए, उद्धृत, इरफान हबीब, आपसिट पृ० 167
6. इरफान हबीब, आपसिट पृ० 169

नागरिक जीवन

भारत सदैव से ग्रामीण प्रधान देश रहा है। कालान्तर में कुछ छोटे-छोटे नगरों का उदय हुआ। प्राचीन काल में पाटिलपुत्र और कन्नौज नगरों का विकास हुआ, जिनका योगदान प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास में रहा। 12वीं सदो के बाद लाहौर और आसपास के क्षेत्रों का विकास हुआ। नगरों के विकास में परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं। मुसलमानों के शक्तिशाली केन्द्रीय शासन व्यवस्था और जनसंख्या के एक स्थान पर केन्द्रित होने से नगरों के विकास में अधिक सहायता मिली। नगरों की समृद्धि के लिये गाँवों का उन्नतिशील होना आवश्यक था। गाँवों की उपज का उपभोग नगरों में रहने वाले करते थे। यदि नगरों में खाद्यान्नों की पूर्ति न होती तो नगरों का विकास सम्भव नहीं था। गाँव बिना नगर के सदियों तक समृद्धिशाली रह सकते थे, लेकिन गाँवों के बिना उन्नति नहीं कर सकते थे। मध्य युग की अर्थव्यवस्था में रुई के उत्पादन का प्रमुख स्थान रहा है जैसा कि आधुनिक युग में स्टील का है।[1]

इस्लामी विधान के अनुसार एक नये नगर का निर्माण केवल एक सैनिक चौकी, एक मसजिद जिसमें 40 नमाजी हों और एक केन्द्रीय बाजार व्यवस्था कर देने से किया जा सकता था।[2] नगर के विकास होने पर उसकी सुरक्षा के लिए एक किला बनवा दिया जाता था जिसमें एक फौजदार या कोतवाल की नियुक्ति की जाती थी।[3] डॉ० हमीदा खातून इस मत से सहमत नहीं हैं कि मुस्लिम प्रशासन का उद्देश्य नगरों की प्रधानता स्थापित करना और गाँवों की अवहेलना करना था।[4]

मध्ययुग में मुस्लिम शासकों ने नगरों की प्रगति के लिए शिक्षण संस्थाएँ मकतब मदरसे खोले। जैसे-जैसे नगरों की उन्नति होती जाती थी उनमें मदरसों की संख्या बढ़ती जाती थी। इन संस्थाओं में अनुभवी शिक्षकों की नियुक्ति की जाती थी। ये संस्थाएँ सरकारी अनुदान (मद्देमाश) द्वारा चलायी जाती थीं।

प्रो० मोहम्मद हबीब ने भारत पर मुसलमानों के अधिकार करने के बाद नगरों में क्रान्ति के एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि नगर में

---

1. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन एण्ड अर्बन सेण्टर्स अण्डर दि ग्रेट मोगल्स 1556-1707, शिमला 1972, पृ० 3
2. हमीदा खातून, पृ० 4
3. वही, पृ० 5
4. एस० सी० मिश्र, दि राईज ऑफ मुस्लिम पावर इन गुजरात पृ० 1

रहने वाले श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वे निम्न वर्ग के थे, इसीलिए उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और वे नगरों के बाहर रखे जाते थे। ऊँची जाति के हिन्दुओं ने उन्हें पददलित कर दिया था।[1] जिस समय मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया, इन श्रमिकों ने मुसलमानों का साथ दिया और इन्हीं के समर्थन से शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की विजय हुई।[2] भारत में मुस्लिम राज्य के स्थापित हो जाने के बाद इन श्रमिकों को स्वतन्त्रता मिली और सामाजिक प्रतिबन्धों से मुक्त हो गये। उन्हें नगरों में रहने की मुस्लिम प्रशासन द्वारा अनुमति मिल गई। प्रो० हबीब ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए अलबरूनी को उद्धृत किया है। अलबरूनी ने लिखा है कि श्रमिक संघ गाँव और नगर के बाहर रहता था। इन श्रमिकों का आपस में खान पान और मेल था।[3] प्रो० निजामी ने भी इसी विचार को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मुसलमानों के राज्य स्थापित होने से प्राचीन नगर की योजना समाप्त हो गई। नगरों के द्वार श्रमिकों, चाण्डालों के लिये खोल दिये गये। नगर की सीमा में सभी वर्गों के लोग रहने लगे।[4] नगर के सभी वर्गों के लोगों को मुस्लिम प्रशासन में लाभ हुआ और उन्हें सभी प्रकार की सुविधायें मिलीं। डॉ० युसुफ हुसेन ने लिखा है कि प्रशासन की[5] आर्थिक नीति का मुख्य आधार सभी लोगों को आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र विकास के लिए अवसर प्रदान करना था।[6]

उपर्युक्त विचार ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाते। डॉ० बुद्ध प्रकाश ने ठीक ही लिखा है कि इन विद्वानों ने भारतीय श्रमिकों की स्थिति पर अपने विचार बिना मूल स्रोतों की जानकारी के प्रकट किये हैं। श्रमिकों की स्थिति और नगरों के

---

1. इलियट, जिल्द 2, अलीगढ़, 1652, इण्ट्रोडक्शन, पृ० 52
2. वही, पृ० 54 नगरों में रहने वाले हिन्दू और मुस्लिम श्रमिकों ने नये मुस्लिम प्रशासन की सहायता की और उसे शक्तिशाली बनाने में 500 वर्षों तक सहायता की। (वही, पृ० 50)
3. केवल 3 जातियों के श्रमिकों में चिड़िया मारने वाले, जूता बनाने वाले और जुलाहे को छोड़कर शेष सभी आपस में मिलकर रहते थे। अलबरूनीज इण्डिया, जिल्द 1, अनुवाद सखाऊ, पृ० 101
4. के० ए० निजामी, आपसिट, पृ० 85
5. वही, प्रो० निजामी ने लिखा है कि राजपूत अपने द्वार पर बड़े अपमानित और लज्जित हुए, परन्तु मजदूर वर्ग ने मुस्लिम शासन का साथ दिया।
6. मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 139

स्वरूप का वर्णन संस्कृत साहित्य में मिलता है ।[1] शिल्पकार और श्रमिकों के नगरों में रहने की व्यवस्था थी ।[2] मुल्तान, सोमनाथ, बनारस और मथुरा जैसे नगरों के कारण हुआ ।[3] प्रमुख मार्गों के किनारे बसे हुए नगर शीघ्र ही व्यापारिक केन्द्र बन गये ।[4]

सल्तनत काल

डॉ० के० एस० लाल के अनुसार मध्यकालीन भारत में नगर बहुत कम थे ।[5] मुस्लिम शासकों द्वारा स्थापित सभी नगर बने नहीं रहे ।[6] कुछ नगरों ने कोई प्रगति नहीं की ।[7] कुछ नगरों की उन्नति के लिए कई शासकों ने प्रयास किया, परन्तु वे विफल हुये । कुछ नगर थोड़े समय तक बने रहे और बाद में वे विलीन हो गये ।[8]

---

1. बुद्ध प्रकाश, आपसिट, पृ० 21
   अग्नि पुराण, गरुड़ पुराण, मत्स्य पुराण और भविष्य पुराण में नगर योजना का उल्लेख मिलता है ।
2. पी० के० आचार्य, इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० 40; डॉ० एन० डी० एन० गुप्त, हिन्दू साइंस आफ आर्किटेक्चर पृ० 168-69, बी० पी० दत्त, टाउन प्लानिंग इन एशियण्ट इण्डिया, पृ० 149, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 185
3. पुष्पा नियोगी-कण्ट्रीब्यूशन्स टु दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम टेण्थ टू ट्वेल्फथ सेन्चुरीज ए० डी०, पृ० 116
4. वही ।
5. ट्वाईलाइट, पृ० 260
6. हमीदा खातून, आपसिट, पृ० 121
7. खानदेश में जहाँगीर पुरा की स्थापना अब्दुर्रहीम खानखाना ने की । इसकी प्रगति नहीं हुई ।
   अब्दुल बाकी नहावंदी, मासिरे रहीम, जिल्द 2, पृ० 606-7 बरार में शाहपुर को सुल्तान मुराद ने बसाया, लेकिन इसकी कोई उन्नति नहीं हुई । (आइने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 207)
8. गुजरात में सुल्तानाबाद को बसाने का कई बार प्रयास किया गया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला । (तबकाते अकबरी, जिल्द 3, पृ० 203-4) गुजरात में मुस्तफाबाद, महमूदाबाद और खानदेश में बहादुरपुर, थोड़े समय तक बने रहे और बाद में समाप्त हो गये । (देखिये, तबकाते अकबरी, जिल्द 2, पृ० 255, मासिरे रहीमी, जिल्द 2, पृ० 193, 469-78, खाफी खाँ जिल्द 1, पृ० 278)

उस समय दिल्ली कई नगरों से मिलकर बनी थी और प्रत्येक नगर का अलग-अलग नाम था।[1] सभी वर्गों के लोगों के लिए अलग स्थान निर्धारित थे, सभी आवश्यक सुविधाएँ, जैसे–स्नानगृह, आटा चक्की, बाजार आदि उपलब्ध थे।[2] मकान अधिकतर पत्थर और ईंट के बनाये जाते थे जिसमें छत लकड़ी के और फर्श संगमरमर के होते थे। अधिकतर इमारतें एक मंजिल की होती थीं। कुछ इमारतें दो मंजिल की भी होती थीं।[3] डॉ० के० एम० अशरफ ने लिखा है कि नगर में दो प्रमुख सड़कें एक-दूसरे को समकोण पर मिलती थीं। सड़कों के दोनों ओर बाजार और दूकानें थी।[4]

नदियों पर उन स्थानों पर पुल बनाये जाते थे जो शहरों के समीप होते थे, जिससे नगरों की सुन्दरता बढ़ जाती थी।[5] राजधानी में मुस्लिम शासक के अतिरिक्त सूफी सन्त, हिन्दू योगी, उलेमा, अभिजात वर्ग और अन्य नागरिक रहते थे।[6]

---

1. वही।
   दिल्ली के मुख्य नगर—सीरी, जिसे अलाउद्दीन खल्जी ने बनवाया था, तुगलकाबाद, जिसे गयासुद्दीन तुगलक ने बसाया था, जहाँपनाह, जिसे मुहम्मद तुगलुक ने बनवाया था और कोयल, जिसका निर्माण फीरोज तुगलक ने किया था।
2. बर्नी, पृ० 318; इलियट जिल्द 3, पृ० 576; के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 166; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 3, पृ० 110 अलकलकशन्दी, सुमुल अशा, पृ० 30
3. इलियट, जिल्द 3, पृ० 575-76
4. के० एम० अशरफ, पृ० 166
   फीरोज तुगलुक ने फीरोजाबाद बनवाया। जिसका व्यास 10 मील था—सैय्यद अहमद खाँ, आसारूस रानादीद, पृ० 24 दिल्ली का एक बाजार 15 गज लम्बा और 30 गज चौड़ा था, जिसका नाम फैज बाजार था। वही, पृ० 521 हुमायूँ ने एक तैरता हुआ बाजार बाजारेखाँ जमुना नदी पर बनवाया, जो सम्राट् के परिवार के सदस्यों के लिए था। (देखिये ख्वान्दमीर हुमायूँनामा, पृ० 139-39, उद्धृत के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 166 फुट नोट। हुमायूँ ने इसी प्रकार तैरता हुआ महल (कसे खाँ), तैरता हुआ बाग (बागेखाँ) जमुना नदी पर बनवाया। देखिए—एस० एम० जाफर कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 210
5. तैमूर ने श्रीनगर के पास झेलम नदी पर 30 पुल बनवाये थे। (मलफूजाते तैमुरी, पृ० 304-305)
6. के० एस० लाल–ट्वाइलाइट।

अभिजात वर्ग के मकान शानदार होते थे और वे राजकीय प्रासादों की तरह होते थे। अभिजात वर्ग के मकानों की बनावट देखने से पता चलता था कि उनकी सुरक्षा मुस्लिम शासक के महल से कहीं अधिक थी।[1] हिन्दू अभिजात वर्ग सुन्दर मकानों में रहते थे, जिसके दरवाजों पर चित्रकारी और सजावट का काम अधिक था।[2] बंगाल में अभिजात वर्ग के मकान में एक तालाब, एक बगीचा, एक छायाकार कुंज और खुली जगह की व्यवस्था रहती थी।[3] उड़ीसा में अभिजात वर्ग के मकान में सुन्दर बाग होते थे, जिसमें फलों से लदे वृक्ष होते थे और खेती करने के लिए भूमि होती थी।[4] गुजरात में नये ढंग के मकान अभिजात वर्ग के लिए बनाये जाते थे। इस काल में कैम्बे, चम्पानेर, अहमदाबाद, प्रमुख नगर बनाये गये, जहाँ धनी लोग रहते थे।[5] मारवाड़ी व्यापारियों ने भी बहुत लम्बे-चौड़े मकान बनवाये जिनमें तालाब, बाग, तरह-तरह के फलों के वृक्ष होते थे।[6] इन मकानों की सुन्दरता के बावजूद फरिश्ता ने इनकी बनावट की कटु आलोचना की है। उसने लिखा है कि नगर नीरस होते थे और मकान बन्दीगृह की तरह दिखलाई देते थे।[7]

मध्ययुग में मध्यम श्रेणी नहीं थी। धनी व्यापारी निर्धन लोगों की तरह रहना पसन्द करते थे। उन्हें डर था कि उनकी शान-शौकत देखकर अभिजात वर्ग के लोग कहीं उनसे रुष्ट न हो जायँ।[8] समकालीन लेखकों ने धनी और निर्धन लोगों के जीवन स्तर का वर्णन किया है। हिन्दुओं का जीवन स्तर मुसलमानों के भारत आगमन के बाद गिर गया। हिन्दू राजा समाप्त हो गये। मन्दिर नष्ट किये गये, जिससे ब्राह्मणों की स्थिति गिर गई। दरबारों में राजगुरु और मन्दिरों में पुरोहित के पद समाप्त हो गये। क्षत्रिय जो हिन्दू राजाओं की सेना में सैनिक होते थे, दूसरे उद्यमों में लग गये।[9] चौदहवीं सदी में क्षत्रियों की स्थिति में सुधार हुआ। तैमूर के

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 171
2. एम० ए० मेकालिफ, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 275
3. जर्नल ऑफ डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय 1927, पृ० 116; दि बुक ऑफ ड्यूरेट बारबोसा जिल्द 2, पृ० 417
4. अफीफ, पृ० 165
5. बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 125
6. बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 113
7. तारीखे फरिश्ता, जिल्द 2, बम्बई, पृ० 787
8. के० एस० लाल, ट्वाईलाइट, पृ० 265
9. वही, पृ० 266

आक्रमण के बाद वे जमींदार और राजा कहे जाने लगे ।[1] वैश्य खेती और व्यापार में लगे रहे ।[2] सिंधियों ने व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया, उन्हें जिया-उद्दीन बर्नी ने मुल्तानी व्यापारी कहा है ।[5] पन्द्रहवीं सदी में व्यापार की वृद्धि हुई, जिससे वैश्यों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और वे धनी हो गये ।[4] हिन्दू समाज में बहुत से निम्न श्रेणी के लोग, शराब बनाने वाले, सोनार, लोहार, बढ़ई, दर्जी, तमोली, माली, नाई, संगीतज्ञ और गड़रिये थे ।[5] समकालीन इतिहासकारों ने श्रमिकों और शिल्पकारों की आर्थिक स्थिति के विषय में प्रकाश नहीं डाला है क्योंकि इस विषय में उनकी रुचि नहीं थी ।[6] पश्चिम के इस्लामी देशों में शिल्पकारों को अधिक प्रोत्साहन दिया जाता था । उनके रहने के लिए अलग मुहल्ला की व्यवस्था की जाती थी ।[7]

17वीं सदी के नागरिक जीवन की कुछ जानकारी बर्नियर के विवरण से मिलती है, जो उसने दिल्ली के विषय में लिखा है । उसके अनुसार दिल्ली में कई बड़े-बड़े कारखाने थे जिनमें शिल्पकार कार्य करते थे । जगह-जगह पर विशाल कक्ष थे जहाँ पच्चीकारी करने वाले, सुनार, चित्रकार, लकड़ी पर वार्निश करने वाले, दर्जी और मोची काम करते थे ।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि ये कारखाने फीरोज तुगलुक और अकबर द्वारा बनवाये गये कारखानों के सदृश थे । यह सम्भव है कि वहाँ दस्तकारी का काम भी होता रहा होगा, यद्यपि समकालीन लेखक इस विषय में मौन हैं ।[9] बर्नियर ने कोलबर्ट को एक पत्र लिखकर अपना मत व्यक्त किया है कि "कोई भी कारीगर मन से कार्य नहीं कर सकता था क्योंकि वह आर्थिक कठिनाइयों में फँसा हुआ था यदि वह धनी भी था तो भी वह निर्धनता का दिखावा करता था । कारीगर का उद्देश्य सुन्दर वस्तुओं का उत्पादन करना नहीं था । वह केवल सस्ते मूल्य की

---

1. के० एस० लाल, ट्वाईलाइट, पृ० 267
2. वही ।
3. वही ।
4. वही, पृ० 267
5. वही, पृ० 268
6. मोरलैण्ड, इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 172-74
7. गिब एण्ड बोवेन, इस्लामिक सोसाइटी एण्ड दि वेस्ट, जिल्द 1, पृ० 272
8. मोरलैण्ड—इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 172-74
9. वही ।

वस्तु के उत्पादन पर ध्यान देता था।"[1] बर्नियर ने लिखा है कि हस्तकला के पतन का मुख्य कारण यह था कि शिल्पकारों से शक्ति के आधार पर कार्य लिया जाता था। उन्हें शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था। शिल्पकार केवल दण्ड के भय से या अत्यन्त आवश्यकता होने पर अपना कार्य करता था। वह जानता था कि यदि वह सुन्दर वस्तु बनायेगा तो इससे उसको कोई लाभ नहीं मिलेगा, बल्कि सारा लाभ व्यापारी को होगा।[2] शायद सल्तनत काल में श्रमिकों की आर्थिक स्थिति उसी तरह रही होगी जैसा बर्नियर ने सत्रहवीं सदी की स्थिति का वर्णन किया है।

दलालों ने शिल्पकारों का आर्थिक शोषण किया। शिल्पकार अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए दलालों पर निर्भर रहते थे, जिसका दलाल अनुचित लाभ उठाते थे। शिल्पकारों को राज्य द्वारा लगाये करों का भुगतान करने में कठिनाई पड़ती थी। इससे उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ा। फीरोज तुगलुक ने व्यापार को बढ़ावा देने के उद्देश्य से करों में कमी की।[3] लेकिन सुल्तान के आदेश पूरे साम्राज्य में लागू हो गये थे। यह स्पष्ट नहीं है कि अबुल फज्ल के अनुसार अकबर ने दस्तकारी की वस्तुओं से कर हटा दिया, जिससे शिल्पकारों को आर्थिक लाभ हो।[4] नगरों में शिल्पकारों की मजदूरी बहुत कम थी, जिसके कारण वे अपने जीवन का निर्वाह बड़ी कठिनाई से कर पाते थे। मोरलैण्ड ने अकबर के समय खेतिहर श्रमिक की स्थिति के विषय में लिखा है कि वह एक प्रकार का दास था। उसको केवल उतनी मजदूरी मिलती थी, जिसके कि वह अपने को और अपने परिवार को किसी प्रकार जीवित रख सके।[5] नगर के श्रमिक वे होते थे जिन्होंने दैवी-विपत्तियों या अनिश्चित् परिस्थितियों के कारण खेती करना छोड़ दिया था।[6]

---

1. बर्नियर, ट्रेवेल्स इन दि मोगल एम्पायर, पृ० 228
2. वही, पृ० 229
3. फीरोज तुगलुक ने 23 करों को हटा लिया। उसने केवल चार तरह के कर (जजिया, जकात, खम्स और खिराज) लिये, जिसकी व्यवस्था में थी। देखिये—फतूहाते फीरोज शाही, पृ० 5-6; इलियट, जिल्द 3, पृ० 377; एस० ए० ए० रिजवी—तुगलुक कालीन भारत, जिल्द 2, पृ० 328-29
4. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 62-67; मोरलैण्ड, इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 176
5. वही, पृ० 177
6. बर्नियर, आपसिट, पृ० 229

सल्तनत काल में कपड़ा, धातु, पत्थर का काम, चीनी, नील और कागज के प्रमुख उद्योग थे।[1] साधारणतः छोटे नगरों के उत्पादनकर्ता बड़े नगरों के व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित करते थे और देश और विदेश में वस्तुओं को भेजने की व्यवस्था करते थे।[2] धनी व्यापारी कभी-कभी उत्पादन की अपनी इकाई स्थापित करते थे और शिल्पकारों से अपने निरीक्षण में माल तैयार करवाते थे।[3] ऐसे कारखाने दिल्ली में राज्य के नियन्त्रण में कार्य करते थे।[4] इन कारखानों में चार हजार रेशम तैयार करने वाले श्रमिक काम करते थे। इन कारखानों में वे सभी चीजें तैयार होती थीं जिनकी खपत राजमहल में होती थी। इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि मुहम्मद तुगलुक प्रतिवर्ष अभिजात वर्ग के लोगों को 4 लाख के बहुमूल्य वस्त्र वितरित करता था, जो अधिकतर चीन, इराक और सिकन्दरिया से मँगाये जाते थे।[5] मुहम्मद तुगलुक के समय में चार हजार शिल्पकार जरी के काम के लिए नियुक्त थे, जो राजमहल और अभिजात वर्ग की स्त्रियों के लिए किमखाब तैयार करते।[6] ये कारखाने, अलाउद्दीन के समय को छोड़ कर स्वतंत्ररूप से कार्य करते थे और राज्य ने इन्हें नियंत्रित करने का कोई प्रयास नहीं किया। अलाउद्दीन ने कारखानों को नियन्त्रित करने के लिये जो नियम बनाये उनका उद्देश्य आर्थिक की अपेक्षा राजनैतिक अधिक था। इस कारण इन कारखानों की वास्तविक स्थिति की सही जानकारी नहीं की जा सकती। कपड़े के उद्योग में रूई, रेशम और ऊन सम्मिलित थे, जिनकी काफी प्रगति हुई।[7]

गुजरात और बंगाल में रूई के कपड़े बनाने के कारखाने थे। गरीब लोग मोटे कपड़े पहनते थे और अमीर लोग रेशम, मलमल, मखमल और किमखाब जैसे बढ़िया कपड़े पहनते थे। अमीर खुसरो ने अच्छे कपड़े बनाने वाले कारीगरों की प्रशंसा की है।[8] बर्नी ने लिखा है कि बढ़िया किस्म के कपड़ों की कमी थी। अलाउद्दीन

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 94
2. वही, पृ० 94
3. वही।
4. वही।
5. वही, पृ० 95
6. वही।
7. वही, पृ० 95
8. वही, पृ० 96

ने उसकी बिक्री पर नियन्त्रण लगाया।[1] दिल्ली और आसपास के नगरों में बढ़िया कपड़ों का अधिक भण्डार था, जैसा मलफूजाते तैमूरी से पता चलता है।[2] बंगाल और गुजरात से कपड़े विदेशों को भेजे जाते थे। कैम्बे सभी तरह के कपड़ों का केन्द्र था। कपड़ों को रँगने की कला में काफी प्रगति हुई। लोग गहरे रंगों के शौकीन थे। वे साड़ियों और मलमल को विविध रंगों में रँगवाते थे।[3] कपड़े के अतिरिक्त तरह-तरह की दरियाँ, गलीचे, कालीन, गद्दे, चादरें आदि भी बनाई जाती थीं।[4]

नगरों में धातु के कारखाने भी थे। कारीगर तलवार और दूसरे शस्त्र प्राचीन काल से बनाते थे। मुहम्मद बिन कासिम ने भारत में मंजनीक्स का प्रयोग पहली बार किया। थोड़े ही समय में यह शस्त्र हिन्दू और मुस्लिम शासकों द्वारा बनवाया जाने लगा। हिन्दू शासकों ने अपनी सेना में इसका प्रयोग करने के लिए मुसलमानों की नियुक्ति की।[5] भारतीय कारीगर धातु की वस्तुएँ, जैसे लोहा, पीतल, चाँदी, जस्ता, अभ्रक और मिश्रित धातु के शस्त्र बनाने में कुशल थे।[6] डॉ० बुद्ध प्रकाश ने लिखा है कि कारीगरों की धातु के कार्य में कुशलता का पता चलता है। 239 लोहे की बीम (जिसकी नाप $17' \times 6'' \times 4''$ अथवा $17' \times 5'' \times 6''$ है) जो पुरी, कोणार्क और भुवनेश्वर के मन्दिरों में लगी हुई हैं, इसमें कारीगरों की आध्यात्मिक कुशलता का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त धर में 50 फीट ऊँचा प्रसिद्ध परमारों का लोह

---

1. बर्नी के अनुसार अलाउद्दीन ने शुस्तरी, भैरना और देवगिरी किस्म के कपड़ों की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाया। (आपसिट, पृ० 311)
   अमीर खुसरो ने देवगिरी और महादेवगिरी किस्म के कपड़ों का विस्तृत वितरण दिया है। (किरान्तुस सदायन, पृ० 32-33)
   अमीर खुसरो ने बंगाल में बने कपड़े के विषय में लिखा है कि 100 गज कपड़ा यदि सिर पर रख दिया जाय तो भी सिर के बाल दिखाई पड़ते थे। उसने लिखा है कि 100 गज देवगिरी कपड़ा सुई की छेद से निकल सकता था और कपड़ा इतना मजबूत था कि उसके अन्दर सुई नहीं घुस सकती थी। (वही)।
2. मलफूजाते तैमूरी, पृ० 289
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 98
4. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 98
5. पुष्पा नियोगी, आपसिट, पृ० 243
6. आइनेअकबरी, जिल्द 5, पृ० 35-36

स्तम्भ है।[1] बंगाल में लोहे के बन्दूक, चाकू, कैंचियाँ, कटारें और प्याले बनाये जाते थे।[2] दिल्ली के सुल्तानों को बहुमूल्य धातु के बर्तनों का बड़ा शौक था। पच्चीकारी के कार्य में दक्ष शिल्पकार साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाते थे।[3] इस उद्योग की प्रगति अकबर के समय में अधिक हुई। शिल्पकारों ने विविध रंगों के दस मन के झाड़फानूस बनाये।[4] इसके अतिरिक्त हजारों कुशल कारीगर ईंट और पत्थर के काम में लगे हुए थे।

अमीर खुसरो ने भारत के राज और पत्थर तराशने वालों की प्रशंसा की है। उसका कहना है कि सम्पूर्ण इस्लामी जगत में ऐसे कारीगरों की बराबरी करने वाले कारीगर नहीं थे।[5] असंख्य भवनों में, मन्दिरों और किलों में, पत्थर की मूर्तियों में यह कला दिखायी देती है। कश्मीर में एक राजा ने हजारों मठ और इमारतें बनवाई थीं।[6] मिनाहाजुससीराज ने मथुरा के मन्दिरों और महलों के पत्थर के काम की प्रशंसा की है। उसने लखनौती में भी इस कला की प्रशंसा की है।[7] उसने कामरूप के विशाल मंदिर का हवाला दिया है, जिसे बख्तियार खल्जी ने देखा था।[8] अलबरूनी ने भारतीय शिल्प और स्थापत्य कला की सराहना की है।[9] अलाउद्दीन खल्जी ने 7 हजार कारीगरों को इमारतों के निर्माण के लिए नियुक्त किया।[10] फिरोज तुगलुक ने 4 हजार गुलामों

---

1. बुद्ध प्रकाश, आपसिट, पृ० 31
2. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 99, जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1895, पृ० 432
3. पृथ्वीराज के पुत्र ने जो अजमेर का गवर्नर था, कुतुबुद्दीन ऐबक को 4 स्वर्ण खरबूजा भेंट किया। उनमें पच्चीकारी का काम था। वे देखने में वास्तविक फल की तरह दिखाई पड़ते थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने उन्हें अपने मालिक मुहम्मद गोरी के पास भेज दिया। (तारीखे फखरुद्दीन मुबारकशाह, पृ० 22-23)
4. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 185-87
5. खजाइनुलफुतूह, पृ० 13
6. राजतरंगिणी, vii, पृ० 608
7. मिनहाज, पृ० 82
8. इलियट, जिल्द 2, पृ० 312
9. अलबरूनीज इण्डिया, अंग्रेजी अनुवाद सखाऊ, जिल्द 2, पृ० 144-45
10. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 101

को अन्य कारीगरों के अलावा इस काम में लगाया।[1] बाबर ने आगरा में 680 और दूसरे स्थानों में 1391 राजगीर इमारतों के बनवाने में लगाया।[2] हिन्दू राजाओं ने भी भवन निर्माण कला को प्रोत्साहन दिया। माउंट आबू का दिलवाड़ा मन्दिर, ग्वालियर और चित्तौड़ की भव्य इमारतें इस कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

बहुत से शिल्पकार मूंगे[3] और हाथी दाँतों[4] के काम में प्रवीण थे। वे कृत्रिम मोती[5] और कृत्रिम पक्षी, पौधे और फूल बनाते थे। लकड़ी के काम में भी दक्ष कारीगर थे जो दरवाजे, कुर्सियाँ, खिलौने, पलंग आदि बनाते थे। इब्नखुर्दादाह बेंत, बाँस और पत्तियों के उद्योगों का विवरण दिया है।[6] शुक्रनीतिसार और युक्ति कल्पतरू में शीशे के उद्योग के विषय में विवरण मिलता है।[7] इसके अतिरिक्त कागज, चीनी और चमड़े के उद्योग थे। बंगाल और गुजरात में कागज के उद्योग की प्रगति हुई। बंगाल का सफेद कागज हिरन के चमड़े की तरह चिकना था।[8] गुजरात में बने कागज की माँग अधिक थी।[9] अमीर खुसरो ने कागज के उद्योग का विस्तृत विवरण दिया है। उसने लिखा है कि दिल्ली में एक नये तरह का कागज, जिसको

---

1. के० एम० अशरफ, आपसिट; पृ० 101
2. बाबरनामा, पृ० 268-69; के० एम० अशरफ, पृ० 101
3. बंगाल और गुजरात मूँगे के काम के लिए प्रसिद्ध थे। (दि बुक ऑफ ड्यूरेट बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 155)
4. हाथी दाँत की चूड़ियाँ, कंगन, शतरंज आदि बनाये जाते। अलूइस्तखारी ने लिखा है कि सुल्तान को हाथी दाँत के कारीगरों का व्यापारिक केन्द्र हिन्दू मन्दिर के समीप था। इसका समर्थन इब्न हौकल ने किया है। (इलियट, जिल्द 1, पृ० 28, 35)
5. सिकन्दर लोदी के समय में मियाँ भुआ, जो वजीर के पद पर रह चुका था, इस कला में प्रवीण था। गुजरात नकली मोती के लिए प्रसिद्ध था।
6. इलियट, जिल्द 1, पृ० 15, (के० एम० अशरफ, पृ० 102, फुटनोट)
7. बी० के० सरकार, दि पाजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू सोश्योलाजी, इलाहाबाद, 1914, पृ० 124; आर० सी० काक, एन्शियण्ट मानुमेन्ट्स ऑफ कश्मीर, लन्दन, 1933, पृ० 139
8. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1895, पृ० 532
9. जान फ्राम्पटन, मार्कोपोलो, पृ० 143

'शमी' कहा जाता था, प्रयोग में लाया जाता था।[1] दिल्ली में पुस्तकों की मण्डी लगती थी। बर्नी ने लिखा है इसके प्रयोग में किफायत की जाती थी।[2]

मध्य युग में अच्छी तरह की चीनी, जिसका नाम काण्ड (खाण्ड) था, उसका उत्पादन किया जाता था। बंगाल में अच्छे किस्म की चीनी बनाई जाती थी। वहाँ से दूसरे देशों को चीनी भेजी जाती थी।[3] चमड़े के उद्योग की भी इस युग में प्रगति हुई। इसका प्रयोग तलवार की म्यान, किताबों के आवरण, जूते, घोड़ों के साज और लगाम एवं बाहर भेजने के लिए चीनी के बोरे बनाने में होता था।[4] चमड़े के उद्योग की जानकारी प्राचीन काल से ही थी। ऋग्वेद में चमड़े के झोले और बर्तनों का उल्लेख मिलता है, जिसमें दूध, दही और मदिरा रखे जाते थे। मुसलमानों के भारत में आने के बाद चमड़े के साज भी बनने लगे।[5] चमार अपने को एक दल के रूप में संगठित किया। सुल्तान मुहम्मद तुगलुक 10 हजार घोड़े प्रतिवर्ष अपने अभिजात वर्ग के लोगों को देता था, जो अधिकतर साज और लगाम से सुरक्षित रहते थे।[6] गुजरात में लाल और नीले रंग के चमड़े की चटाइयाँ बनाई जाती थीं, जिन पर सुन्दर चिड़ियों और जानवरों के चित्र बनाये जाते थे। कारीगर कई तरह के चमड़े प्रयोग में लाते थे जैसे—बकरी, बैल, भैंस और गैंडा के चमड़े। गुजरात में चमड़े का इतना सामान तैयार किया जाता था कि प्रति वर्ष कई जहाज का माल अरब और दूसरे देशों को भेजा जाता था।[7]

डॉ० के० एम० अशरफ ने लिखा है कि औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति ग्रामीण शिल्पकारों के समान थी। उनको भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। औद्योगिक श्रमिक संघ जातिगत और वंशानुगत होता था। उनके यन्त्र और काम करने के तरीके भद्दे होते थे, जिससे अधिक उत्पादन नहीं होता था, यद्यपि उनके

---

1. अमीर खुसरो ने दो दूसरी किस्म के कागज के विषय में लिखा है, जिसे सादा और रेशमी कहते थे। (किशनुस्सदायन, पृ० 173)
2. बर्नी, पृ० 64
3. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1895, पृ० 031
4. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 104
5. देखिये, एन० सी० बन्द्योपाध्याय—इकानामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एशियण्ट इण्डिया, जिल्द 1, दूसरा संस्करण, 1945
6. मसालिकुल आबसार, इलियट, जिल्द 3, पृ० 578
7. सर हेनरी यूल, दि बुक ऑफ सेर मार्कोपोलो, जिल्द 2, पृ० 393-94

द्वारा तैयार किया हुआ माल अच्छा होता था।[1] राजकीय कारखानों को छोड़कर औद्योगिक श्रमिकों को कोई संरक्षण नहीं मिलता था।[2]

कुशल कारीगरों द्वारा तैयार माल बहुत अच्छा होता था।[3] परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनकी कला संकीर्ण दृष्टिकोण और श्रमिक संघों की पद्धति के कारण समाप्त होती गयी।[4]

मुगल काल

मुगल सम्राटों ने अधिक उत्पादन की तरफ विशेष ध्यान दिया। उन्होंने नगरों की प्रगति के लिये गाँवों का समृद्धिशाली होना आवश्यक समझा। उन्होंने किसानों को अधिक उपज के लिये प्रोत्साहन दिया। नागरिक उद्योगों में काम आने वाले कच्चे माल की अधिक उपज के लिये किसानों को विशेष छूट दी गई। अफीम और कपास जैसी बहुमूल्य फसलों की खेती के लिये किसानों को प्रोत्साहन दिया गया, जिसको विदेशों को भेजकर धन प्राप्त किया जा सके और कच्चे माल को उद्योग को दिया जा सके। मुगल काल की यह विशेषता थी कि कृषि क्षेत्र में अधिक उत्पादन को औद्योगिक समृद्धि का आधार बनाया गया।[5] मुगलों के पहले दिल्ली के सुल्तानों बलबन, गयासुद्दीन तुगलुक और मुहम्मद तुगलुक ने भी ऐसा करने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।[6] डॉ० हमीदा खातून के अनुसार मुगल सम्राटों ने साम्राज्य के हित में बहुमूल्य फसलों की उपज के लिये किसानों को सुविधाएँ दीं। मुगल प्रशासन नहीं चाहता था कि अत्यधिक खाद्यान्न उत्पादन से मूल्य में गिरावट आ जाय और किसानों को उनके श्रम का वास्तविक लाभ न मिले। इसीलिये मुगलों की नीति आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने की थी। इसी उद्देश्य से कुछ वर्ग के किसानों को खाद्यान्न के बजाय बहुमूल्य फसलों की खेती करने के लिये कहा गया, जिससे नगर

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 104-5
2. वही, पृ० 105
3. बारबोसा ने कैम्बे के श्रमिकों की प्रशंसा की है। (बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 142) वरथेमा ने भारतीयों को संसार में सबसे कुशल और योग्य कारीगर स्वीकार किया है (दि ट्रैवेल्स ऑफ लुडोविक वर्थेमा, पृ० 286)।
4. बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 146
5. हमीदा खातून, अर्बनाईजेशन, पृ० 37
6. वही।

के कारखानों को कपास और अन्य कच्चा माल आसानी से उपलब्ध हो सके।[1]

इस नीति के कारण प्रमुख फसलों में कपास की खेती देश के विभिन्न भागों में की जाने लगी। पास के गाँवों से नगरों में रूई आने लगी, जिससे कपड़े का उत्पादन बढ़ा। मुगल काल में नगर उद्योगों के मुख्य केन्द्र थे।[2] सल्तनत-काल की तरह मुगल काल में भी कपड़ों को विविध रंगों में रँगने की कला का विकास हुआ। छपाई और चित्रकारी का भी विकास हुआ।[3] रँगाई में काम आने वाली वस्तुओं का भी उत्पादन बढ़ा।[4] रँगाई से किये गये कपड़ों की सुन्दरता बढ़ी और भारत के अतिरिक्त दूसरे देशों के बाजारों में इन कपड़ों की माँग बढ़ी। कपड़े के अलावा रँगाई में काम आने वाली अतिरिक्त नील को दूसरे देशों में भेजा जाता था।[5] सत्रहवीं सदी में नील की उपज आगरा, बयाना, पूर्वी अवध और सरावेज, अहमदाबाद क्षेत्र में अधिक होती थी।[6] गन्ना, अफीम और तेलहन की उपज की गणना प्रमुख फसलों में की जाती थी।[7] यद्यपि इनकी उपज गाँवों में होती थी फिर भी नगर के व्यापारी विभिन्न विधियों द्वारा इनको मंडियों में भेजने लायक बनाते थे और सबसे अधिक लाभ नगरों में रहने वाले व्यापारियों को इन फसलों से होता था।

चीनी विदेशों को भी भेजी जाती थी। इसी तरह 16वीं सदी में अफीम

---

1. किसानों को छूट दी गई कि इस उत्पादन का 2/3 भाग वे अपने पास रख लें। देखिये, आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 47-48; निगारनामाएे मुन्शी, पृ० 174; हमीदा खातून नकवी, अर्बन सेण्टर्स, पृ० 141-48
2. हमीदा खातून नकवी, अर्बन सेण्टर्स, पृ० 137-42
3. वही, लेख डाईंग ऑफ काटन गुड्स इन हिन्दुस्तान (1556-1803); जर्नल ऑफ इण्डियन टेक्सटाइल हिस्ट्री, अहमदाबाद, नम्बर 7, 1967, पृ० 45-56
4. नील, लाख, कत्था आदि की उपज बढ़ी, जिससे रँगाई की कला में विकास हुआ।
5. प्राचीन काल से ही नील भारत से दूसरे देशों को भेजा जाती थी। देखिये—जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 10, 1924, भाग 3, पृ० 263-64
6. देखिये करेसपाण्डेन्स ऑफ कार्नवालिस, सम्पादित सी० एस०, जिल्द 1, पृ० 227
7. तेल के उत्पादन और दिल्ली के तेल के व्यापारियों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिये देखिये एस० हसन असकरी लेख, मेटीरियल, ऑफ हिस्टारिकल इण्टरेस्ट इन इजाजे खुसरवी मेडिवल इण्डिया, ए मिसेलनी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 1969, पृ० 15

गुजरात के बन्दरगाहों से जहाजों द्वारा प्रतिवर्ष बाहर भेजी जाती थी।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि बहुमूल्य वस्तु होने के कारण मुगल राज्य को इसके व्यापार से अधिक आय हुई होगी।

मुगल शासकों ने नगरों के पास बगीचे लगवाया, जिसमें तरह-तरह के फलों के वृक्ष लगाये। इससे राज्य को अधिक आय होती थी, इससे पहले फीरोज तुगलुक ने दिल्ली के समीप 1200 बाग लगवाये थे। जिससे 1,80,000 टंका की सालाना आमदनी हुई। बागों से गाँव और नगर दोनों में रहने वालों को लाभ होता था। बाग लगवाने से सभी भूमि का उपयोग हो जाता। इससे कोई भूमि बेकार नहीं रहती थी।[2] अकबर ने सामान्य रूप से फलों के बाग लगाने के लिये $2\frac{3}{4}$ रुपया प्रति बीघा की दर से कर लगाया।[3] सम्राट् जहाँगीर ने इस नाम मात्र के कर को भी समाप्त कर दिया।[4] बाबर को बागों का बहुत शौक था। अकबर के समय में बहुत से ईरानी और तूरानी बागवानी के जानकार लोगों को भारत में बसाया गया।[5] मुगल काल में बहुत से पश्चिम एशिया के फलों का उत्पादन भारत में किया गया। जैसे—खरबूजे, तरबूज, आड़, बादाम और अनार।[6] अबुल फज्ल ने लिखा है कि अनन्नास भी भारत में पैदा किया जाने लगा। उसकी कीमत चार रुपया प्रति फल था।[7] शाहजहाँ के समय में अच्छी किस्म के खरबूजे पैदा किये गये।[8] कुछ समय बाद अहमदाबाद और थानेश्वर में फलों को सुरक्षित रखने का उद्योग स्थापित किया गया और फलों को बाहर भेजने की व्यवस्था की गई।[9] इसके अतिरिक्त सुगन्धित फूलों के पौधे अधिक

---

1. आर० हकल्यूत, वायेजेज, जिल्द 3, लन्दन 1927, पृ० 206
2. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 280
3. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 171-74
4. तुजुके जहाँगीरी, रोजर्स, पृ० 252
5. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 43
6. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 68; तुजुके जहाँगीरी, रोजर्स, पृ० 43, 283; बादशाहनामा, जिल्द 2, पृ० 214; मासिरे रहीमी, जिल्द 2, पृ० 798, 605, 607 और 609
7. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 70
8. खाफी खाँ, जिल्द 1, पृ० 154
9. डब्ल्यू० फास्टर, दि इंगलिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया, 1618-69, आक्सफोर्ड, 1909-1927; पृ० 1637-41, पृ० 134; 1622-23, पृ० 109

संख्या में बागों में लगाये गये। इनका उपयोग सुगन्धित तेल, इत्र और लैंप के बनाने में किया जाता था। धनी वर्ग के लोग इनका इस्तेमाल करते थे।[1] सुगन्धित तेलों के उद्योग के लिये आगरा, जौनपुर और गाजीपुर प्रसिद्ध केन्द्र थे।[2]

जंगलों का उपयोग मुगल काल में अच्छी लकड़ी बनाने में किया गया, जिसका उपयोग जहाज, नाँव, गाड़ी आदि के बनाने में किया गया। कश्मीर, लाहौर, पश्चिमी समुद्र तट, इलाहाबाद और बंगाल के प्रमुख नगरों में इस उद्योग का विकास हुआ। अबुल फज्ल ने लकड़ी की किस्मों की एक सूची आईने अकबरी में दी है। भिन्न-भिन्न किस्म की लकड़ी, जो आगरा कोट बाजार में जिस मूल्य पर उपलब्ध थीं, उनका विस्तृत विवरण दिया गया है।[3]

रेशम के उद्योग के लिये कश्मीर और बंगाल प्रसिद्ध थे। बंगाल के रेशम की बराबरी ईरान और सीरिया में बने रेशम नहीं कर सकते थे।[4] मिर्जा हैदर दोगलत ने कश्मीर के रेशम की सराहना की है।[5] अकबर यहाँ के रेशम से इतना प्रभावित था कि उसने यहाँ के रेशम पर राज्य का एकाधिकार स्थापित किया।[6] लाहौर में भी रेशम के उद्योग का विकास हुआ।[7] बंगाल के रेशम की कई किस्में थीं, जैसे निस्तरी, देसी, हरायल और चाइनायल।[8] मालदा, राजशाही और मुर्शिदाबाद बढ़िया रेशम के लिए प्रसिद्ध थे।[9] कासिम बाजार में हालैण्ड के व्यापारियों ने रेशम का

---

1. अबुल फज्ल ने सुगन्धित तेलों के विषय में विस्तार से लिखा है आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 79-80; देखिये—बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 112; युसुफ हुसेन, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 133-34
2. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 190; अफताबनामा फोलियो 244ए; हदीकात, फोलियो 125ए; उद्धृत हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 44
3. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 237-39; यहाँ 72 किस्म की लकड़ी का विवरण दिया गया है।
4. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 175
5. तारीखे रशीदी, पृ० 425
6. अकबरनामा, जिल्द, पृ० 725
7. आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 140
8. जे० सी० रे लेख जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 3, भाग 2, 1917, पृ० 212
9. वही।

एक कारखाना खोल रखा था, जिसमें 700-800 कारीगर काम करते थे। इसी प्रकार अंग्रेजों ने भी एक रेशम का कारखाना उसी स्थान पर स्थापित किया।[1] सल्तनत काल की तरह 17वीं सदी में महीन रेशमी धागे का सुन्दर काम किया जाता था।[2] परन्तु बर्नियर ने बंगाल के बने रेशम को घटिया किस्म का रेशम कहा है, इसी कारण दूसरे रेशमों की अपेक्षा उसका मूल्य कम था।[3]

मुगल काल में चमड़े के उद्योग का भी विकास हुआ। चमड़े से कई चीजें बनाई जाती थी, जैसे पानी का थैला,[4] पानी की बालटी,[5] तेल, घी,[6] मदिरा[7] और इत्र रखने के लिए बर्तन। भैंस के खाल की ढाल साधारणतया प्रयोग में लाई जाती थी।[8] गुजरात से अधिक मात्रा में तैयार किया गया चमड़ा विदेशों को भेजा जाता था।[9] कत्थई रंग के चमड़े के जूते बनाये जाते थे और बाहर भेजे जाते थे।[10] बढ़िया किस्म के चमड़े के गद्दे और चटाइयाँ बनाई जाती थीं।[11] इसके लिए सिन्ध बहुत प्रसिद्ध था।[12] डॉ० हमीदा खातून ने लिखा है कि हिन्दू चमड़े को निषिद्ध और हेय वस्तु समझते थे, लेकिन भारत के मुस्लिम शासकों ने इस उद्योग के विकास के लिए अधिक योगदान दिया।[13]

---

1. बर्नियर, आपसिट, पृ० 422
2. एफ० पाइरार्ड, दि वायेज ऑफ पाइरार्ड, अनुवाद ग्रे, दी जिल्द लन्दन, 1887, जिल्द 1, पृ० 329
3. बर्नियर पृ० 422
4. देखिये, अहमद यादगार, पृ० 154; बदाँयुनी, जिल्द 3, पृ० 95, 338
5. बाबरनामा, जिल्द 2, पृ० 487
6. बर्नियर, आपसिट, पृ० 440 फुटनोट।
7. बाबरनामा, जिल्द 1, 253
8. तबकाते अकबरी, जिल्द 2, पृ० 344
9. मार्कोपोलो, ट्रेवेल्स ऑफ मार्कोपोलो, सम्पादित और अनुवाद मस्डिन, लन्दन, 1818, पृ० 991
10. हकल्यूत्स वायेजेज, जिल्द 3, पृ० 286
11. मार्कोपोलो, आपसिट, पृ० 256
12. एच० टी० सोर्ले, शाह अब्दुल लतीफ भट्टी, आक्सफोर्ड, 1941, जिल्द 1, पृ० 98
13. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 50

ऊन का उद्योग प्रमुख तौर से काश्मीर में था। वहाँ भेड़ और बकरी के बाल से ऊन तैयार किया जाता था। काबुल में बड़े-बड़े चारागाह भेंड़ों के लिए होते थे। ऊन की कई किस्में थीं, जिनका विस्तृत विवरण अबुल फज्ल ने आईने अकबरी में दिया है।[1] अकबर के कश्मीर पर अधिकार करने के पहले दुशाला बनाने का काम कश्मीर में होता था। अकबर ने इस उद्योग को प्रोत्साहित किया। उसने दुशाला में नये-नये रंगों के प्रयोग के लिए अपने सुझाव दिये।[2] उसके सुझाव कहाँ तक अमल में लाये गये, इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं है। कश्मीर में लगभग 2 हजार कारखाने दुशाला बनाते थे। इसका प्रमुख केन्द्र श्रीनगर था।[3] जहाँगीर के समय में सर टामस रो भारत में आया था। उसने भारतीय कारीगरों की बड़ी सराहना की।[4] काबुल से भी ऊन के उद्योग का विकास हुआ। यहाँ के बने सस्ते कम्बल आगरा के बाजार में बिकते थे। एक कम्बल की कीमत 10 दाम थी।[5] लाहौर में भी ऊन का कारखाना था, लेकिन यहाँ का बना सामान घटिया किस्म का था।[6] यहाँ 10 कारखाने थे जो नकली रूई और दूसरे सूत मिलाकर नकली दुशाला बनाते थे।[7] अजमेर और नागौर में भी ऊन के कारखाने थे।[8] सिंध में अधिकतर कम्बल चटाइयाँ और सफेद लोई बनती थी।[9] स्पष्ट है कि मुगल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में ऊन के कई कारखाने थे। भारतीय भेड़ों के ऊन अच्छी किस्म के नहीं थे। इसके बने कपड़े घटिया होते थे। कश्मीरी और विदेशी ऊनी कपड़े अच्छी किस्म के होते थे।

मुगल काल में सोने और चाँदी की कमी थी, जो सिक्कों के मुख्य माध्यम थे। अकबर ने लेन-देन में ताँबे के सिक्कों का प्रयोग किया। जिससे व्यापार को क्षति न पहुँचे। परन्तु ताँबे की खानों से ताँबे का उत्पादन आशा से कम था। अकबर ने ताँबे

---

1. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 96; जिल्द 2, पृ० 356; मोतमीद खाँ बख्शी इकबाल नाम ए जहाँगीरी, विद्याखण्ड, कलकत्ता, 1865, पृ० 153
2. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 97-98
3. वही, जिल्द 2, पृ० 356; बर्नियर ट्रेवेल्स, पृ० 258-59, 402-4
4. एलफिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 489
5. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 57, 102
6. वही, जिल्द 1, पृ० 98
7. वही, पृ० 57
8. वही, पृ० 101-2
9. खाफी खाँ, जिल्द 1, पृ० 199-200

के सिक्के को चाँदी के सिक्के से सम्बद्ध किया।[1] सत्रहवीं सदी के मध्य में ताँबे की और कमी हो गई और दूसरे देशों ने ताँबा मँगाने पर भी कमी पूरी नहीं हुई।[2] इसके कारण ताँबे के दाम और चाँदी के रुपये के अनुपात में वृद्धि हुई। साम्राज्य में लोहे का उत्पादन सन्तोषजनक था। देश की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उसे दूसरे देशों को भेजा जाता था।[3]

अच्छे किस्म का नमक सारे मुगल राज्य में उपलब्ध था। यही कारण था कि बंगाल के घटिया किस्म के नमक को लोग प्रयोग में नहीं लाते थे। लाहौर और साँभर झील से नमक राज्य के दूसरे भागों में भेजा जाता था।[4] कश्मीर में नमक नहीं होता था। वहाँ भी लाहौर से नमक भेजा जाता था।[5]

दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सीकरी, राजपूताना और सिंध के क्षेत्रों में लाल, पीले पत्थर और सफेद संगमरमर इमारतों के निर्माण के काम में लाये जाते थे।[6] घटिया किस्म के पत्थर कश्मीर, ग्वालियर, चन्देरी, अहमदाबाद और आगरा में काम में लाये जाते थे।[7] साधारण और आलीशान मकानों में अन्तर का पता पत्थरों के इस्तेमाल से लगाया जा सकता था।[8] पत्थर की इमारतें बहुत टिकाऊ और मजबूत

---

1. अकबर ने ताँबे के दाम का मूल्य बढ़ा दिया (40 दाम = 1 रुपया) आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ॰ 33
2. पुर्तगाल, इंगलैण्ड और हालैण्ड के व्यापारी जापान से बहुत ताँबा भारत को लाने लगे। बर्नियर, आपसिट, पृ॰ 303, डब्ल्यू॰ बोल्ट्स, कन्सीडरेशन्स आन इण्डियन अफेयर्स, लन्दन, 1772, पृ॰ 70
3. बारबोसा, जिल्द 1, पृ॰ 40, रानाडे ऐसेज आन इण्डियन इकनामिक्स, पृ॰ 171
4. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ॰ 135; आर॰ फिंच॰ इंगलैण्डस् पायनियर टु इण्डिया, रीली, लन्दन, 1899, पृ॰ 100
5. तुजुके जहाँगीरी जिल्द 2, पृ॰ 147, एच॰ के॰ नकवी अर्बन सेण्टर्स, पृ॰ 220-222, 233-38, 238-43
6. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ॰ 54
7. वही देखिये, तारीखे रशीदी, पृ॰ 426, 428 इकबालनामा जहाँगीरी, पृ॰ 155, बाबरनामा, जिल्द 2, पृ॰ 326; बारबोसा, जिल्द 1, पृ॰ 125
8. शानदार इमारतों में पत्थर को काट कर और पालिश करके लगाते थे, परन्तु साधारण मकानों में मामूली पत्थर लगाये जाते थे। हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ॰ 54

होती थीं। बहुत से किलों, नगरों की दीवारों, मदरसों, मसजिदों, स्नानागारों और जन-कल्याण सम्बन्धी इमारतों के बनवाने में पहले पत्थर की किस्म के विषय में निर्णय लिया जाता था।[1] कश्मीर[2] और अहमदाबाद की सड़कों को पक्की करने में पत्थरों का प्रयोग किया गया।[3] मध्य युग में नगरों के विकास से यह आवश्यक था कि मजबूत इमारतें बनाई जाँय, जिससे बार-बार मरम्मत की आवश्यकता न पड़े।[4] मुगल काल में न केवल पत्थर के बल्कि ईंट, लकड़ी और लोहे से भी मकान बनवाये जाते थे। नगरों के विकास के कारण बहुत सी इमारतें बनीं।[5] मध्य युग की इमारतों की विशेषता यह थी कि इनमें पत्थर और ईंट का प्रयोग किया गया था, जब कि प्राचीन काल में प्रायः मकान मिट्टी और फूस के बनते थे।[6]

व्यापार और वाणिज्य

सल्तनत काल

प्राचीन काल से ही भारत का अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार काफी विकसित था। खाद्यान्न मंडियों में लाया जाता था और वहाँ से देश के एक भाग से दूसरे भाग को ले जाया जाता था। यातायात मजदूरों, बैलगाड़ियों, घोड़ों और डोलियों के द्वारा होता था।[7] नदियों के द्वारा उत्तर भारत में माल भेजना सुरक्षित समझा जाता था।[8] राज तरंगिणी में नदी द्वारा यातायात का उल्लेख मिलता है।[9] आसाम में भी नदियों के द्वारा माल भेजा जाता था।[10]

---

1. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 55
2. तारीखे रशीदी, पृ० 425
3. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 55
4. वही।
5. वही, पृ० 56
6. वही।
7. फीरोज तुगलुक के समय में एक बैलगाड़ी का किराया 4 से 6 जीतल और घोड़े का किराया 12 जीतल था।
   देखिये—के० एस० लाल, स्टडीज, पृ० 279
8. एल० गोपाल, आपसिट, पृ० 100
9. राजतरंगिणी, v 84; vii 347, 714, 1628
10. पी० सी० चौधरी, दि हिस्ट्री ऑफ दि सिविलाइजेशन ऑफ दि पीपुल ऑफ आसाम टु दि ट्वेल्फथ सेन्चुरी ए० डी०, पृ० 379

सड़कों के द्वारा दूर-दूर के नगरों और गाँवों से सम्पर्क स्थापित होता था। इन सड़कों की देखभाल राज्य सरकार करती थी।[1] समुद्र के द्वारा माल भेजना असुरक्षित समझा जाता था। रास्ते में समुद्री डाकुओं और तूफान का भय था। इसके अतिरिक्त भूमि के मार्गों में ही विद्रोही अमीर माल को लूट लेते थे।[2] इसके बावजूद यदि व्यापारी एक जहाज माल विदेश से सफलतापूर्वक मँगा लेते थे तो उनका पहले का नुकसान पूरा हो जाता था।[3] सुल्तान और अभिजात वर्ग के लोग विलास की वस्तुओं का अधिक उपभोग करते थे। ये वस्तुएँ अधिकतर विदेशों से मँगाई जाती थीं :

देश का भीतरी व्यापार उत्तर भारत में गुजराती (या मारवाड़ी) और दक्षिण में चेट्टी व्यापारियों के हाथ में था।[4] इसके अतिरिक्त भ्रमण करने वाले गल्ला व्यापारी थे, जिन्हें बंजारा कहा जाता था। किसी-किसी बंजारे के काफिले में 4 हजार बैल थे।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण देश व्यापारिक केन्द्रों और मंडियों से भरा हुआ था।[6] जैसे पौंद्रवर्धन, शेरगढ़, अनहिलवाड़, बनारस आदि। प्राय: बाजार मन्दिरों के समीप होते थे [7] छोटे दूकानदार अपना व्यापार घोड़े पर और चलती-फिरती गाड़ी द्वारा करते थे।[8] मुल्तान, लाहौर, दिल्ली एवं और प्रान्तों की राजधानियाँ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थीं जहाँ व्यापारी नया माल खरीदते थे।[9] इन

1. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 105
2. इलियट, जिल्द 2, पृ० 380; इलियट, जिल्द 2, अलीगढ़, पृ० 73
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 106
4. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 106
5. टाड, आपसिट, जिल्द 2, पृ० 1117
6. पुष्पा नियोगी, आपसिट, पृ० 158; एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द 23, पृ० 131, इलियट, जिल्द 2, पृ० 122-25
   अनहिलवाड़ में किसी विशेष वस्तु के 84 बाजार थे। टाड-ट्रेवेल्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० 156; जे० बर्जेस, आरकीटेक्चरल एण्टीक्वीटीज ऑफ नार्दन गुजरात, पृ० 34
7. तुंगेश्वर का बाजार मन्दिर के नजदीक था—राजतरंगिणी VI, 251 नोट 190
   मुल्तान का मन्दिर बाजार के बीच में स्थित था—इलियट, जिल्द 1, पृ० 28, 35, 82
8. के० एफ० अशरफ, आपसिट, पृ० 106
9. वही।

स्थायी बाजारों के अलावा कुछ सामयिक बाजार भी थे जहाँ छोटे छोटे फुटकर माल के विक्रेता सामान खरीदते थे। इन बाजारों में काफी भीड़ दिखाई देती थी। जानवरों के वार्षिक मेले प्रमुख केन्द्रों में लगते थे, जहाँ सभी तरह के जानवर—बैल, ऊँट, गाय, भैंस, घोड़े आदि बेचे और खरीदे जाते थे।[1] डॉ० के० एम० अशरफ ने लिखा है कि व्यापारिक प्रतिष्ठानों के संचालन के लिए कोई सैद्धान्तिक नियमावली नहीं थी।[2] मुल्तानी और गुजराती व्यापारियों के हाथ में प्रमुख बाजार था।[3] विदेशी व्यापारियों में खुरासानी बहुत प्रभावशाली थे, जो सम्पूर्ण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को नियंत्रित करते थे। समुद्र तट पर कुछ मुस्लिम व्यापारी थे।[4] बंजारे स्वतंत्र रूप से व्यापार नहीं करते थे। वे केवल माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में व्यापारियों की सहायता करते थे। कारण यह था कि उन्हें सभी मार्गों की जानकारी थी।[5] राजस्थान के भाट व्यापारियों को खतरनाक सड़कों को पार करने में सहायता प्रदान करते थे।[6]

दलाल बड़े-बड़े व्यापारियों और निर्माताओं से सम्पर्क स्थापित कराते थे। अपनी सेवाओं के बदले वे दोनों से कमीशन लेते थे। कभी-कभी छोटे निर्माताओं और व्यापारियों का शोषण करते थे। अलाउद्दीन खल्जी ने दलाल वर्ग को समाप्त कर दिया, जिससे उसे बाजार-नियंत्रण में बड़ी सहायता मिली। परन्तु फीरोज तुगलुक के समय में दलालों का फिर से प्रभुत्व स्थापित हो गया और उनकी कार्रवाइयों को प्रशासन द्वारा मान्यता दी गई।[7] बड़े-बड़े व्यापारी प्रमुख केन्द्रों पर अपने प्रतिनिधि

1. टाड, आपसिट, जिल्द 2, पृ० 1111-12
2. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 106
3. वही, पृ० 107
4. वही, पृ० 107; समुद्र तट के राज्य उन व्यापारियों को अनेक सुविधायें देते थे, क्योंकि राज्य को इन व्यापारियों से कर के रूप में काफी आय होती थी। ऐसा समझा जाता है कि एक दक्षिण भारतीय शासक ने इन व्यापारियों की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था की और उन्हें 'अभय शासन' का एक अधिकार पत्र दिया। (एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द 12, पृ० 188)
5. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 107
6. टाड, आपसिट, जिल्द 2, पृ० 1111-12
7. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 108। यदि दोनों पक्षों के बीच समझौता भंग हो जाय और उसमें दलाल का कोई दोष न हो तो दलाल को कमीशन लौटाना नहीं पड़ता था।

रखते थे, जो उनके हितों की देखभाल करते थे।[1] महाजन या साहू व्यापारियों को ऋण देते थे। ऐसा विचार है कि वे आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के समान कार्य करते थे।[2] प्रशासन की तरफ से महाजनों के ब्याज सम्बन्धी कागजात के निरीक्षण की व्यवस्था थी।[3] अमीर खुसरो के अनुसार ब्याज की दर 10 प्रतिशत से 20 प्रतिशत प्रति वर्ष कम और अधिक धन पर थी।[4] महाजन उच्चवर्ग के लोगों को भी ऋण देते थे, जो विलास की वस्तुओं का उपभोग करते थे।[5] व्यापारी उपभोक्ताओं को मिलावट का सामान बेचकर और कम तौलकर धोखा देते थे। बर्नी ने लिखा है कि अलाउद्दीन के समय से हिन्दू व्यापारियों ने सारे व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था और वे समृद्धिशाली हो गये थे।[6] अफीफ ने भी इस मत का समर्थन किया है। उसके अनुसार ये व्यापारी इतने धनी थे कि लड़की के विवाह में दहेज की व्यवस्था करना उनके लिए कोई समस्या नहीं थी।[7] अलाउद्दीन खल्जी ने भ्रष्ट व्यापारियों की कार्रवाइयों पर प्रतिबन्ध लगाया। उसने शहना मण्डी और गुप्तचरों के माध्यम से बाजार की अनियमितताओं को दूर किया। शमशुद्दीन, जो एक बड़ा विधि वेत्ता था, ने अलाउद्दीन के इस्लाम धर्म के प्रसार में योगदान न देने की निन्दा की, परन्तु व्यापार में भ्रष्ट तरीकों को समाप्त करने के लिये उसने सुल्तान की सराहना की।[8] हिन्दू व्यापारी विदेशी व्यापारियों के प्रति अपने व्यवहारों में ईमानदार थे।[9] पन्द्रहवीं सदी में व्यापार की प्रगति[10]

---

1. वाक़याते मुश्ताकी, फालियो–31 बी, उद्धृत, वही।
2. एनसाइक्लोपाडिया ब्रिटानिका, 1929 संस्करण, जिल्द 3, पृ० 44
3. तारीखे फरिश्ता, ब्रिग्स, जिल्द 1, पृ० 166
4. अमीर खुसरो, कुल्लीयाते खुसरो, पृ० 104– उद्धृत के० एम० अशरफ आपसिट, पृ० 109
5. सतीश चन्द्र, लेख—'कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री इन दि मेडिवल पीरियड रीडींग्स इन इण्डियन इकनामिक हिस्ट्री, पृ० 57
6. बर्नी, आपसिट, पृ० 316-18
7. अफीफ, आपसिट, पृ० 180-295
8. बर्नी, आपसिट, पृ० 298
9. दि ट्रेवेल्स ऑफ लूडोविक वर्थेमा, पृ० 163
10. 1908 में गढ़ और मदन महल के बीच एक खजाना मिला, जिसमें दिल्ली, कश्मीर, गुजरात, मालवा बहमनी राज्य और जौनपुर के शासकों के सिक्के (1311-

के साथ-साथ अन्तरदेशीय व्यापार की भी काफी प्रगति हुई ।[1]

भारतीय व्यापारियों की समृद्धि के विषय में निकोलो कोण्टी ने लिखा है कि कोई व्यापारी इतने धनी थे कि उनके पास 40 जहाज थे। जैन व्यापारी इतने धनी थे कि उन्होंने माउण्ट आबू (दिलवाड़ा) में जैन मन्दिर बनवाये और बहुत सा धन व्यय किया ।[2]

भारत का भूमध्य सागर के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध प्राचीन काल से था। इस्लाम के आगमन से भारत के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। केवल हिन्दू व्यापारियों का स्थान मुस्लिम व्यापारियों ने ले लिया ।[3] विद्वानों का विचार है कि इस्लामी राज्य के प्रसार से यूरोपीय व्यापार की क्षति हुई। ऐसा ही ईरान में हुआ। अरब व्यापारी प्रभावशाली हो गये और ईरानी व्यापारियों के हाथ से व्यापार चला गया ।[4] इब्न असीर के अनुसार बनारस में सबुक्तगीन के समय से ही बहुत से मुसलमान व्यापारी थे ।[5] अरब व्यापारी भारतीय माल को पूर्वी अफ्रीका, मलायाद्वीप, चीन और प्रशान्त महासागर के देशों को ले जाते थे ।[6] भूमि के रास्ते से खैबर दर्रे के द्वारा भारत का व्यापार मध्य एशिया, अफगानिस्तान और ईरान से होता था। कभी-कभी अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण व्यापारी मध्य एशिया के मार्ग को उपयुक्त नहीं समझते थे और वे अपना व्यापार आसाम, बर्मा और सिक्किम के रास्ते ले जाते थे ।[7] दसवीं सदी में चीन से 300 धर्म प्रचारक इस मार्ग से भारत आये ।[8] 16वीं सदी के बौद्ध भिक्षु बुद्धगुप्त का कहना है कि उसने

1553) मिले। इससे पता चलता है कि सम्पूर्ण देश में एक भाग का दूसरे भाग से व्यापारिक सम्पर्क था। देखिये डिस्ट्रिक्ट गैजेटीयर, जबलपुर, पृ० 74

1. अफीफ, आपसिट, पृ० 136
2. एल० सी० जैन, इण्डीजेनस बैंकिंग इन इण्डिया, पृ० 10
3. एल० गोपाल, आपसिट, पृ० 116
4. देखिये—एच० पीरेन-इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ मेडिवल यूरोप, पृ० 1-3; जी० एफ० ईरानी; अरब सीफेयरिंग इन दि इण्डियन ओशन इन ऐन्शियण्ट एण्ड अर्ली मेडिवल टाइम्स, पृ० 53-55
5. कामिलुत, तवारीख, इलियट, जिल्द 2, पृ० 254
6. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 111
7. एल० गोपाल, आपसिट, पृ० 108-109
8. आर० सी० मजुमदार, हिन्दू कालोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० 226

स्वयं यह मार्ग अपनाया था।[1] 8वीं सदी में अलमंसूर (754-775) और हारून अलरशीद (786-809) के समय में भारत और बगदाद का निकट सम्बन्ध था। भारतीय विद्वान् बगदाद आमंत्रित किये जाते थे।[2] अलमसूदी ने लिखा है कि खुरासान जाने वाले काफिले का केन्द्र मुल्तान था।[3] अल इदरीसी के अनुसार काबुल के बने कपड़े चीन, खुरासान और सिंध भेजे जाते थे।[4] नेहरवाला का रहने वाला एक हिन्दू व्यापारी, वसा अमीर का गजनी में अच्छा व्यापार था। उसने वहाँ अपने प्रतिनिधि रखे थे जो उसके हितों की देख-भाल करते थे। मुइज़ुद्दीन मुहम्मद गोरी से लोगों ने प्रार्थना की कि उस हिन्दू व्यापारी की सम्पत्ति जब्त कर ली जाय, लेकिन उसने न्याय के आधार पर ऐसा नहीं किया।[5]

मंगोलों के आक्रमण के कारण मध्य एशिया का रास्ता असुरक्षित समझा जाता था। इसीलिए व्यापारी 16वीं सदी के मध्य तक समुद्र के मार्ग द्वारा अपना माल भेजते थे।[6] लेकिन पुर्तगालियों के आगमन से समुद्र का मार्ग भी असुरक्षित हो गया। मुहम्मद तुगलुक के समय में विलास की वस्तुयें, जैसे रेशम, मखमल आदि विदेशों से भारत में आती थीं, जिनका उपभोग अभिजात वर्ग के लोग करते थे। गुजरात में बहुमूल्य वस्तुओं का भण्डार था, जिसे यूरोपीय देशों से मँगाया जाता था।[7] ताँबा, चाँदी, तूतिया और सोना भी बाहर के देशों से भारत में मँगाये जाते थे। दक्षिण और राजस्थान में घोड़ों की बड़ी माँग थी, क्योंकि हिन्दू शासक अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाना चाहते थे। इसीलिए घोड़ों के व्यापारियों को भारत से बहुत लाभ मिलता था।[8] मिनहाजुससीराज के अनुसार व्यापारी कामरूप और तिब्बत के मार्ग से होकर बंगाल में घोड़े का व्यापार करते थे। ऐसा अनुमान है कि लखनौती (बंगाल) पहुँचने तक घोड़ा को 35 पहाड़ी दर्रों से होकर गुजरना पड़ता था। मिनहाज का

1. इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, जिल्द 8, पृ० 683-71
2. दि एज० ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० 448-52
3. इलियट, जिल्द 1, पृ० 21
4. इलियट, जिल्द 1, पृ० 92
5. वही, जिल्द 2, पृ० 201
6. एल० गोपाल—आपसिट, पृ० 112
7. तबकाते अकबरी, जिल्द 1, पृ० 98 (लखनऊ संस्करण)
8. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 113; सर हेनरी यूल, दि बुक ऑफ सेर मार्को पोलो, जिल्द 1, पृ० 83-84; जिल्द 2, पृ० 340

कहना है कि कम से कम 1500 घोड़े प्रतिदिन बाजार में बेचे जाते थे।[1] घोड़े समुद्र और भूमि दोनों मार्गों से यमन, किस, हेमिज, अदन और ईरान से भारत में लाये जाते थे।[2]

(1) समुद्री व्यापार

भारत से अनाज और कपड़ा दूसरे देशों को भेजा जाता था। फारस की खाड़ी के देश भारत द्वारा भेजे हुए अनाज पर निर्भर रहते थे।[3] प्रशान्त महासागर के देश, मलाया द्वीप और पूर्वी अफ्रीका के बाजार भारतीय माल से भरे रहते थे।[4] फारस की खाड़ी और दूसरे स्थानों में नाविकों की सुविधा के लिये प्रकाश गृह बनाये गये थे।[5] मसूदी ने लिखा है कि समुद्र में नाविकों के पथ दिग्दर्शन के लिये लकड़ी के चिह्न लगाये गये।[6] इन स्थानों में आग जलाई जाती थी, जिससे ओमान, सिराफ आदि स्थानों से आने वाले जहाजों को चेतावनी दी जा सके। अल इदरीसी ने लिखा है कि प्रहरी के रहने के लिये वहाँ छोटा कमरा (केबिन) बनाया जाता था, जो नाँव के द्वारा प्रकाश गृह में जाता था।[7]

गुजरात से रूई, कच्चा चमड़ा, नील और बहुमूल्य पत्थर दूसरे देशों को भेजे जाते थे। बंगाल और गुजरात के बन्दरगाहों के द्वारा बहुत अधिक माल निर्यात और आयात होता था।[8] गुजरात से चावल, बाजरा, गेहूँ, दाल और तेलहन भेजे जाते थे। बंगाल से रूई, अदरख, खाद्यान्न, मांस और चीनी बाहर भेजी जाती थी।[9] भारत के

1. इलियट, जिल्द 2, पृ० 311
2. किताबुर रेहला, जिल्द 1, पृ० 156
3. वही, पृ० 157
4. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 113
5. पुष्पा नियोगी, आपसिट, पृ० 153
6. ए० स्प्रेंजर—अलमसूदीज हिस्टारिकल एनसाइक्लोपीडिया अंग्रेजी अनुवाद 'मेडोज ऑफ गोल्ड एण्ड माईन्स ऑफ जेम्स', जिल्द 1, पृ० 259
7. पुष्पा नियोगी, आपसिट, पृ० 153
8. मोरलैण्ड, दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मोस्लेम इण्डिया, पृ० 69
9. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 113; दि बुक ऑफ ड्यूरेट बारबोसा, जिल्द 1; पृ० 154-56; जिल्द 2, पृ० 145-47; ऐसा अनुमान किया जाता है कि शेरशाह के गद्दी पर बैठने के पहले बंगाल का धन गुजरात और विजयनगर राज्य के सम्मिलित धन से भी कहीं अधिक था (वही, जिल्द 2, एपेण्डिक्स, पृ० 246)।

प्रमुख बंदरगाह सिन्ध में बेबल, कैम्बे, थाना (बम्बई के पास), गुजरात में ब्रोच, बहमनी राज्य में चौल और दामोल और मालाबार में कालीकट, क्लीलोन, केपकमोरिन थे।[1] निकोलो कोण्टी और वर्थेमा के अनुसार इस युग में भारत के बने जहाज यूरोप के बने जहाज से बहुत अच्छे होते थे।[2] जहाज बनाने के कारखाने का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जब महमूद गजनी ने साल्टरेंज के जाटों पर आक्रमण किया तो उसने शस्त्रों से सुसज्जित चौदह हजार जहाजों का प्रयोग किया।[3] ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रतिवर्ष 300 जहाज माल से लदे हुए खम्भात बन्दरगाह पर पहुँचते थे।[4] भारत के बढ़ते हुए व्यापार को देखकर पुर्तगालियों ने पश्चिमी भाग के कुछ स्थानों पर अधिकार कर लिया परन्तु अरब व्यापारियों का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रभुत्व बना रहा।

(2) भूमि के मार्ग से व्यापार

तारीखे फ़खरुद्दीन मुबारकशाही के अनुसार तुर्किस्तान के लोग और मंगोल-लोग ऊँट, घोड़े, कस्तूरी और अस्त्र-शस्त्र का व्यापार करते थे।[5] वे आस-पास के देशों को लूटते थे। मंगोलों के आक्रमण के बाद यह सम्भव है कि भूमि के रास्ते से व्यापार में प्रगति हुई।[6] बाबर और हुमायूं के समय में असाधारण परिस्थितियों के कारण व्यापार को क्षति पहुँची, परन्तु अकबर के समय में शान्ति स्थापित होने के बाद दिल्ली

---

1. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द 21, 1925, पृ० 562
   इस्लामिक कल्चर, जिल्द 7, 1933, पृ० 286
2. वही, पृ० 563; दि ट्रेवेल्स ऑफ लुडोविक वर्थेमा, पृ० 152
3. इलियट, जिल्द 2, 478
   सिकन्दर के आक्रमण के समय जहाज बनाने के उद्योग में काफी प्रगति हुई। कहा जाता है कि भारत सिकन्दर को बड़ी नावें बनाकर भेजता था (बी० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 68, 93; आर० के० मुकर्जी, इण्डियन शिपिंग एण्ड मेरीटाइम एंटीक्विटी, पृ० 100; परन्तु ए० एल० बाशम इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार भारत की जहाज बनाने की कला चीन और अरबों की कला की अपेक्षा काफी गिर गई थी (आर्ट्स एण्ड लेटर्स, जिल्द 23, पृ० 69)।
4. दि ट्रेवेल्स ऑफ लुडेविक वर्थेमा, पृ० 111, 212
5. सम्पादित ई० डेनिसन रास, लन्दन 1927, पृ० 38
6. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 115

मुल्तान और काबुल के बीच व्यापार में वृद्धि हुई।[1] वासफ के अनुसार भारत में प्रति वर्ष दस हजार घोड़े अरेबिया और तुर्किस्तान से भेजे जाते थे।[2] डॉ० के० एम० अशरफ ने लिखा है कि तुर्किस्तान से अजाक के लोग भारत में भेजने के लिये एक विशेष नस्ल के घोड़े तैयार करते थे और रास्ते में घोड़ों की देख-भाल के लिये समुचित व्यवस्था करते थे।[3] इब्नबतूता के अनुसार व्यापारी 6 हजार या इससे अधिक के झुण्डों में घोड़ों को भारत भेजते थे। घोड़ों की निगरानी के लिये एक अधिकारी (कशी) प्रति 50 घोड़े पर होता था।[4] सीमा चौकी पर पहुँचने पर व्यापारियों को 25 प्रतिशत हिसाब से चुंगी देनी पड़ती थी। मुहम्मद तुगलुक व्यापार में वृद्धि करना चाहता था, इसीलिए उसने चुंगी की दर में कमी कर दी। व्यापारियों से कहा गया कि वे सिंध की चौकी पर 7 टंका प्रति घोड़े की दर से चुंगी अदा कर दें और मुल्तान में फिर चुंगी दें।[5] भूमि के मार्ग से कितना व्यापार होता था इसका सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है।

भारत में विदेशी व्यापारी अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये व्यापार में भ्रष्ट तरीके अपनाते थे। उनका उद्देश्य केवल अधिक से अधिक सोना प्राप्त करना था। इसीलिए वे अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक नियमों का उल्लंघन करते थे।[6] बहुत से विदेशी व्यापारी धार्मिक भावनाओं से प्रतीत होकर व्यापार के साथ-साथ इस्लाम के प्रसार में सचेष्ट रहे।[7]

---

1. अकबरनामा, जिल्द 1, पृ० 207, 242, 299; एम० ए० मेकालिफ, आपसिट, जिल्द 1, पृ० 51
2. तारीखे वासफ, पृ० 529
3. के० एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 115
4. किताबुर रेहला, जिल्द 1, पृ० 199-200
5. वही।
6. अमीर खुसरो ने दिल्ली के एक नागरिक की शिकायत का उल्लेख किया है जो उसने राज्य सरकार को विदेशी व्यापारियों द्वारा शोषण के विषय में लिखी थी—इजाजेखुसरवी, लखनऊ 1875, जिल्द 2, पृ० 319
7. वही।

   एक सिख व्यापारी अपने व्यापारिक कार्य के लिये लंका गया था। वहाँ उसने व्यापार के साथ-साथ गुरु नानक के उपदेशों को वहाँ की जनता तक पहुँचाया (एम० ए० मेकालिफ, दि सिख रिलीजन, जिल्द 1, पृ० 146-47)।

मुगल काल

दिल्ली के सुल्तानों ने नगरों के विकास के लिये बहुत कार्य किया। राज्य के दूर-दूर नगरों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये अच्छी सड़कों का होना आवश्यक था। लोदी वंश के सुल्तानों ने सड़कों का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया। सड़कों के किनारे छायेदार वृक्ष लगवाये तथा कुएँ खोदवाये।[1] इस प्रकार नगरों में उद्योग धन्धों का विकास हुआ और व्यापार की वृद्धि हुई। इन शासकों ने करों में कमी की, जिससे व्यापारियों को व्यापार में प्रोत्साहन मिला। मुगल काल में यातायात को बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम शेरशाह ने ध्यान दिया। उसने हजारों मील लम्बी सड़कें बनवाईं, जिससे यात्री और व्यापारी दूर-दूर स्थानों को जा सकते थे।[2] परन्तु मध्ययुग में व्यापार की वृद्धि के लिए केवल सड़कों का होना आवश्यक नहीं था। सड़कों पर लुटेरों से सुरक्षा का प्रबन्ध होना और मार्ग में टिकने और पानी की व्यवस्था होना भी आवश्यक था। शेरशाह ने इस दृष्टि से 17 सौ सराएँ बनवाईं। उनमें हिन्दू और मुसलमानों के भोजन, जानवरों के चारे, पानी के लिए कुएँ और धार्मिक कृत्य के लिए मसजिदों की व्यवस्था की।[3] अकबर ने भी कोतवालों को निर्देश दिया कि वे सराएँ बनवाएँ।[4] सरायों की व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रान्तीय गवर्नरों पर था।[5]

1. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 59
2. कोई व्यक्ति इन सड़कों के द्वारा सोनार गाँव से आगरा, लाहौर, कश्मीर, काबुल, मुल्तान, थट्टा, अहमदाबाद, कैम्बे, सूरत बुरहानपुर, उड़ीसा होते हुए फिर सोनार गाँव वापस आ सकता था। इसके अतिरिक्त आगरा को अन्य नगरों से जैसे सरहिन्द, लाहौर, एटा, इलाहाबाद, बनारस, जोधपुर धौलपुर, माण्डू, ब्रोच, सूरत जोड़ने वाली सड़कें थीं।
3. इसके पहले फीरोज तुगलुक ने भी यात्रियों के लिये 120 खानकाहें दिल्ली में बनवाईं, जहाँ यात्री तीन दिनों तक राजकीय व्यय पर टिक सकते थे (आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनीस्ट्रेशन ऑफ सुल्तानेत ऑफ देहली, पृ० 198-99)।
4. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 44; आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनीस्ट्रेशन ऑफ मुगल एम्पायर, पृ० 228
5. तुजुके जहाँगीरी, जिल्द 1, पृ० 8; औरंगजेब का मुहम्मद हाशिम को फरमान, अनुवाद जे० एन० सरकार जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, जून 1908, पृ० 231; इलियट, जिल्द 4, पृ० 417; पी० सरन, प्राविंशियल गवर्नमेंट अंडर दि मुगल्स, पृ० 410

मुगल सम्राटों ने नदियों पर पुल बनवाये। अकबर ने जौनपुर में गोमती पर और अटक में सिंध नदी पर पुल बनवाया।[1]

अकबर ने व्यापारियों की सुविधा के लिये मार्ग पर लगने वाले सभी करों को समाप्त कर दिया।[2] यातायात का साधन हाथी, ऊँट, घोड़े, बैल, बैल-गाड़ियाँ, खच्चर और पालकियाँ थीं। जेम्स टाड ने हैदराबाद (सिंध), रोरी, भक्कर, शिकारपुर और उच्छ में बोझ से लदे हुए काफिलों का उल्लेख किया।[3] बैलों का प्रयोग साधारणतः सभी करते थे। बनजारे प्रायः इनका प्रयोग करते थे। बैल-गाड़ियाँ अधिकतर उत्तरी भारत में लाई जाती थीं।[4] डोलियों का प्रयोग केवल धनी वर्ग के लोग करते थे।

मुगल राज्य में नदियों द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था।[5] सिन्ध नदी की कई धाराएँ मुल्तान, लाहौर और कश्मीर को एक साथ मिलाती थीं। आगरा में यमुना और चम्बल नदियों द्वारा व्यापार होता था।[6] कभी-कभी आगरा से 180 नावों का बेड़ा माल से लदा दूसरे स्थानों को भेजा जाता था।[7] वहीं से अधिकतर नमक, शीशा, अफीम, लोहा, रूई, कालीन और अच्छे किस्म के कपड़े बंगाल को भेजे जाते थे।[8] मुगल सम्राट् अकबर ने आगरा और बंगाल की परस्पर आर्थिक एवं व्यापारिक निर्भरता को ध्यान में रखकर बंगाल को मुगल साम्राज्य में मिलाने का निश्चय किया।[9]

---

1. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 354; अकबरनामा, जिल्द 3, पृ० 523
2. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ०292
3. जेम्स टाड, आपसिट, पृ० 578; मालवा में काफिलों के लिये देखिये बदायूँनी, जिल्द 2, पृ० 47
4. पीटर मण्डी, जिल्द 2, पृ० 189-93; अकबरनामा, जिल्द 3, पृ० 63; तबकाते अकबरी, जिल्द 2, पृ० 409; बारबोसा, जिल्द 1, पृ० 141; आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 140
5. नदियों के द्वारा सिंध, मुल्तान, लाहौर, कश्मीर, दिल्ली, आगरा, अवध, इलाहाबाद, बिहार और बंगाल सूबों में अधिक व्यापार होता था।
6. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 190
7. आर० फिच रीले, आपसिट, पृ० 100
8. वही।
9. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 76

भारत और विदेशों के बीच व्यापार काबुल के रास्ते होता था। पुर्तगालियों का प्रभुत्व हिन्द महासागर में स्थापित हो जाने के बाद काबुल के मार्ग वाले व्यापार का महत्व बढ़ गया। कई सड़कें काबुल से बदखशाँ, बल्ख, कारागर, कन्धार और ईरान से जोड़ती थीं।[1] ताजे फल फरगाना, बुखारा और बदखशाँ से काबुल मार्ग से भारत में आते थे। रेशम, लाल चमड़ा, गुलाम और घोड़े बुखारा से इस मार्ग से भारत में भेजे जाते थे। ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि प्रतिवर्ष 50 हजार रुपयों के घोड़ों का व्यापार काबुल के रास्ते से होता था।[2] ऐसा अनुमान किया जाता है कि अकबर के समय 56 लाख रुपये की आय बहुमूल्य धातु, सोने, चाँदी और ताँबे के रूप में व्यापार से होती थी।[3] सिन्ध नदी के पश्चिमी किनारे पर बसा थट्टा मुगल काल में एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी मुल्तान, लाहौर और आगरा की मण्डियों से सम्पर्क स्थापित करके माल की खरीद और बिक्री करते थे।

गुजरात की भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ के नगर और बन्दरगाह व्यापार के बड़े केन्द्र थे। यहाँ खेतों में अनाज की कम उपज होती थी, इसीलिए यहाँ के लोग उद्योग-धन्धों में लगे हुए थे। बहुत से बड़े-बड़े व्यापारी, जो अन्तरदेशीय और विदेशों से व्यापार करते थे, यहाँ आलीशान मकानों में रहते थे। प्राचीन समय से यह प्रान्त व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। इसीलिए दिल्ली के सुल्तानों और मुगल सम्राटों ने इसको अपने अधिकार में बनाये रखने का प्रयास किया। प्राचीन समय से यहाँ के नगर पाटन, अनहिलवाड़ा, चम्पानेर, सिरोही और सिन्धपुर, व्यापारिक दृष्टि से प्रसिद्ध थे।[4] यहाँ के प्रमुख बन्दरगाह ब्रोच, सोमनाथ, द्वारका, कैम्बे और ड्यू थे।[5] मुगल काल में अहमदाबाद[6] की प्रगति हुई। सम्भवतः प्रान्तीय राजधानियों में अहमदाबाद

---

1. आईने अकबरी, जिल्द 2, पृ० 405; एफ० मनरिक, ट्रेवेल्स ऑफ एफ० एस० मनरिक, 1629-1643, जिल्द 2, हकल्यूत सोसाइटी, 1967, पृ० 261-64, 340-42
2. जे० बी० ट्रेवर्नियर, ट्रेवेल्स इन इण्डिया, अनुवाद वी० ब्राल दी जिल्द 1, लंदन 1889 जिल्द 1, पृ० 92
3. हमीदा खातून नकवी—अर्बनाइजेशन, पृ० 80
4. हमीदा खातून नकवी—अर्बनाइजेशन, पृ० 88
5. वही, पृ० 89
6. अबुल फज्ल के अनुसार अहमदाबाद नगर में 84 पुरा थे। प्रत्येक पुरा में लगभग 1 लाख लोग रहते थे। इस प्रकार यहाँ की आबादी 8 से 9 लाख थी।

सबसे बड़ा नगर था।[1] यहाँ का व्यापार दो प्रकार का था—क्षेत्रीय व्यापार और विदेशी व्यापार। इस नगर में 20 बड़ी-बड़ी अनाज की मण्डियाँ थीं। पास के गाँवों से अनाज लेकर यहाँ संगृहीत किया जाता था। ऐसा समझा जाता है कि हिन्दू बनिया, जो अहमदाबाद में रहते, अनाज का व्यापार करते थे।[2] यहाँ की साधारण तौल 'मन' थी, लेकिन प्रत्येक स्थान और वस्तु के लिए इसके वास्तविक वजन में अन्तर था।[3] यह नगर नील का प्रमुख बाजार था। ऐसा समझा जाता है कि 16 से 20 हजार मन नील प्रतिवर्ष यहाँ से दूसरे स्थानों को भेजी जाती थी।[4] यहाँ की नील बयाना की नील से घटिया किस्म की होती थी, जिसकी कीमत बढ़ती-घटती रहती थी।[5] नील के व्यापार में आर्मोनिया, ईरान, यूरोप और गुजरात के बोहरा व्यापारी रुचि लेते थे।[6] अहमदाबाद से शोरा और रेशमी कपड़ों का व्यापार बहुत अधिक होता था। यहाँ के कई किस्म के रेशम की आगरा के बाजारों में माँग थी।[7] यहाँ का बना कागज साम्राज्य के दूसरे भागों में भेजा जाता था। इसके अतिरिक्त अरेबिया, तुर्की और ईरान को भी यहाँ से कागज भेजा जाता था।[8] इतिहासकारों का कहना है कि प्रति 20 दिन पर माल से लदा हुआ 200 गाड़ियों का काफिला यहाँ से कैम्बे जाता था।[9] सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में अहमदाबाद में इतना धन आया कि यहाँ के महाजनों ने ऋण पर सूद की दर कम कर दी।[10] यहाँ के दलाल निर्माताओं

1. हमीदा खातून नक्वी—अर्बन सेण्टर्स, पृ० 81-82
2. डब्ल्यू० फास्टर दि इंगलिश फैक्ट्रीज इन इण्डिया, 1618-69 आक्सफोर्ड, 1909-27; 1630-33, पृ० 62
3. मण्डी के अधिकारी के पास एक तालिका रहती थी, जिससे वस्तुओं की तौल की वास्तविक जानकारी होती थी।
4. डब्ल्यू फास्टर—आपसिट, पृ० 125
5. नील की कीमत 7 से 18 रु० प्रति मन तक रहती थी। (वही)
6. वही, पृ० 125
7. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 98-99
8. डब्ल्यू० फास्टर, आपसिट, पृ० 229
9. डे० लीट० दि एम्पायर ऑफ दि ग्रेट मुगल अनुवाद होयलैण्ड बम्बई, 1928, पृ० 19-20
10. डब्ल्यू० फास्टर, आपसिट, पृ० 96, 332, यहाँ आगरा और सूरत की अपेक्षा सूद की दर बहुत कम थी।

और व्यापारियों में सम्पर्क स्थापित कराने में अधिक सक्रिय थे। वे अपने व्यवहारों और कार्यों में ईमानदार थे।[1]

(1) समुद्री व्यापार

अरब भूगोलवेत्ता सिंध में देबल बन्दरगाह से परिचित थे, पर बाद में उसका नाम विलीन हो गया और वह दीवूल सिंध के नाम से जाना जाने लगा लेकिन इसका वास्तविक नाम लारी बन्दरगाह था। यह सिंध नदी के मुहाने पर समुद्र के किनारे स्थित था।[2] इसका थट्टा मुल्तान और लाहौर से सीधा सम्पर्क था।[3] यहाँ से रूई का माल, नील, ईरान और अरेबिया जाता था। अकबर ने थट्टा पर अधिकार कर लिया था। पुर्तगालियों के व्यापारिक प्रतिनिधियों ने मुगल प्रशासकीय अधिकारियों के साथ मित्रता स्थापित की। मोरलैण्ड का कहना है कि मानसून की दृष्टि से इस बन्दरगाह की स्थिति ठीक नहीं थी।[4]

गुजरात के बन्दरगाह पहले की तरह मुगल काल व्यापार के प्रमुख केन्द्र बने रहे। 16वीं सदी के प्रारम्भ में हिन्द महासागर में आने वाले सभी जहाज कैम्बे में रुकते थे। लगभग 300 जहाज यहाँ पर आते थे और यहाँ से जाते थे। 1617-18 के नवम्बर और फरवरी महीनों में 380 जहाज कैम्बे से आते हुए दिखाई पड़े।[5] प्रतिवर्ष 30 से 40 जहाज रेशमी और सूती कपड़े से लदे कैम्बे से दूसरे देशों को जाते थे। नील, कागज, चमड़े का सामान, कच्चा चमड़ा, अफीम, लोहा, चीनी, अदरक, रूई, हींग, बहुमूल्य पत्थर कैम्बे से बाहर भेजे जाते थे। सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में कैम्बे से 10 लाख टन माल प्रतिवर्ष भेजा जाता था।[6] यहाँ साढ़े तीन प्रतिशत माल पर चुंगी ली जाती थी।[7]

---

1. हमीदा खातून नकवी—अर्बनाइजेशन, पृ० 102
2. इब्नबतूता, रेहला, पृ० 10; मासिरे रहीमी, जिल्द 2, पृ० 348
3. मोरलैण्ड, इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 191
4. वही।
5. डब्ल्यू फास्टर, आपसिट, पृ० 31
6. बालकृष्ण-कामर्शियल रिलेशंस बिटविन इण्डिया एण्ड इंगलैण्ड, 1601-1767, लन्दन 1624, पृ० 16
7. एन० डाण्टन, दि वायजेज ऑफ एन० डाण्टन टु दि ईस्ट इण्डीज, 1614-15, सम्पादित डब्ल्यू फास्टर, हकल्यूत सोसाइटी, लन्दन 1939, पृ० 150

सूरत संसार के प्रमुख बन्दरगाहों में से गिना जाता था। सूरत से मुसलमान यात्री हज के लिये जाते थे, इसीलिए मुगल सम्राटों ने यहाँ के विकास में रुचि दिखाई।[1] सूरत से साम्राज्य के उत्तर और दक्षिण भागों में माल आता और भेजा जाता था। यहाँ से अधिक मात्रा में रूई का सामान, गलीचे, नील, अफीम, लोहा, चीनी, मसाले और चन्दन विदेशों को भेजे जाते थे।[2] जो जहाज सूरत को लौटते थे उनमें सोना, चाँदी और ताँबा भरा रहता था। व्यापारिक माल बहुत कम रहता था।[3] अबुल फज्ल के अनुसार चुंगी साढ़े 2 प्रतिशत ली जाती थी। फिंच के अनुसार माल पर साढ़े 2 प्रतिशत, खाद्यान्न पर 3 प्रतिशत और धान पर 2 प्रतिशत चुंगी ली जाती थी।[4] पेल्सर्ट के अनुसार चुंगी साढ़े 3 प्रतिशत ली जाती थी।[5]

कैम्बे और सूरत के बढ़ते हुये व्यापार को देखकर हिन्दू, मुस्लिम व्यापारी इन स्थानों में आकर बस गये। 17वीं सदी में कैम्बे बन्दरगाह की अवनति होने लगी और उसका स्थान सूरत ने ले लिया। सराफ आधुनिक बैंक का कार्य करते थे। मुगल सम्राटों ने इन व्यापारिक केन्द्रों की सुरक्षा के लिए उपाय किए। सूरत का सम्पर्क बुहारनपुर से भी था। आगरा और सूरत के बीच सारा यातायात बुरहानपुर होकर होता था। बुहरानपुर से आगरा को रूई भेजी जाती थी। बुहरानपुर में सभी आवश्यक वस्तुओं का भण्डार था। इस नगर में बन बंजारों का काफिला (कभी-कभी डेढ़ मील लम्बा) सामान पहुँचाता था।[6]

उड़ीसा के समुद्र तटीय प्रांत में अंजेलो और जलेसर दो छोटे बंदरगाह थे। यहाँ अंजेलो में पूर्वी द्वीप समूह और बंगाल से जहाज आकर रुकते थे और वापस जाते समय चावल और कपड़ा ले जाते थे।[7] बंगाल में सतगाँव प्रसिद्ध बंदरगाह था। यहाँ बहुत से बाजार थे और भारतीय और विदेशी व्यापारी रहते थे।[8] सन् 1535

1. अकबरनामा, जिल्द 3, पृ० 205,6, 271-72, 306, 410, 12, 569, 581
2. डब्ल्यू फास्टर 1618-21, आपसिट, 76-84, हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन पृ० 116
3. एफ० पेल्सर्ट, जहाँगीर्स इण्डिया, अनुवाद मोरलैण्ड और जील कैम्ब्रिज 1935, पृ० 40
4. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 117
5. एफ० पेल्सर्ट, आपसिट, पृ० 43
6. पीटर मण्डी, जिल्द 2, पृ० 53-56
7. एफ० पेल्सर्ट, आपसिट, पृ० 8; मनरीक, जिल्द 2, पृ० 99
8. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 137

के बाद सरसौती नदी का बहाव बदल गया। इससे इस बंदरगाह की उपयोगिता समाप्त हो गई।[1] हुगली गंगा नदी के किनारे बसा था। प्रारम्भ में पुर्तगाली इसका उपयोग करते थे। 1579-80 में मुगल सम्राट् के द्वारा उनको व्यापार करने की अनुमति दी गई थी।[2] हुगली से पुर्तगाली जौनपुर के बने मोटे गलीचे, इमरती और कुछ रेशमी कपड़े ले जाते थे। इसके अतिरिक्त यहाँ से सिले हुए गद्दे, शामियाना और खेमा लगाने का सामान ले जाते थे। 1638 में पुर्तगालियों ने 2 लाख रुपया का सामान एक व्यापारी से खरीदा, जिसमें कई रंग के रेशम, चीनी, घी, चावल, नील, काली मिर्च और नमक सम्मिलित थे।[3] पहले दिल्ली के सुल्तानों ने समुद्र तट के नगरों की प्रशासनिक व्यवस्था के लिये एक अलग अधिकारी नियुक्त किया, जिसे 'अमीरे ब्रहर' कहा जाता था।[4] मुगल काल में इस अधिकारी को 'मीरे बहर' कहा जाता था। उसका कार्य जहाजों की निगरानी करना और बंदरगाहों के कार्य को सुचारु रूप से चलाना था। मीरे बहर का काम जहाजों का निर्माण करवाना भी था।[5] मीरे बहर का कार्य अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना था। पुर्तगालियों (फिरंगियों) को शान्तिपूर्वक हिन्द महासागर में व्यापार करने की अनुमति मुगल शासकों ने प्रदान की। पश्चिमी पुर्तगालियों को किले बनाने पर प्रतिबन्ध थे। उनके लिये यह अनिवार्य था कि वे एशियाई व्यापारियों को व्यापारिक सुविधाएँ और सुरक्षा प्रदान करें। यह व्यवस्था बहुत समय तक चलती रही क्योंकि पुर्तगालियों के विरुद्ध एशियाई व्यापारियों को कोई शिकायत मुगल प्रशासन को नहीं मिली। पूर्वी तट पर हुगली के बन्दरगाह को मुगलों ने पुर्तगालियों को व्यापार करने के लिये दे दिया, लेकिन वहाँ किले बनाने की अनुमति नहीं दी।[6]

यह उल्लेखनीय है कि किसी भी भारतीय राज्य ने समुद्र तट पर पुर्तगालियों से संघर्ष नहीं किया, क्योंकि उनकी कोई समुद्री शक्ति नहीं थी, अपने बन्दरगाहों से

---

1. गुलाम हुसेन सलीम, रियजुससल्तानी, पृ० 33
2. मनरीक, जिल्द 1, पृ० 36-37
3. वही, जिल्द 2, पृ० 33-34
4. आई० एच० कुरेशी, दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देहली, पृ० 148
5. कश्मीर, बंगाल और सिंध में जहाज बनाने का कार्य प्रारम्भ किया गया। इलाहाबाद और लाहौर बड़े-बड़े जहाज के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। (आइने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 290)
6. दि वायेज ऑफ एफ पाइरार्ड, अनुवाद ग्रे, जिल्द 1, लन्दन, 1887, पृ० 334

व्यापार द्वारा जो आय प्राप्त करते थे उसी से वे सन्तुष्ट थे। उन्होंने अपने बन्दरगाहों को सुरक्षित रखने का कोई प्रयास नहीं किया।[1] अकबर गुजरात से लाल सागर तक अपने जहाजों को भेजता था लेकिन वे जहाज पुर्तगालियों के अनुमति पत्र (लाइसेन्स) के अन्तर्गत जाते थे।[2] दक्षिण में विजयनगर का सारा व्यापार 1542 ई० के सन्धि के अनुसार पुर्तगालियों के अधिकार में था। बीजापुर राज्य का पुर्तगालियों से संघर्ष भूमि पर होता था, लेकिन बीजापुर को यह आभास था कि पुर्तगालियों को वह समुद्र से भगा नहीं सकता। कालीकट के जमोरिन ने पुर्तगाली डाकुओं से सुरक्षा के लिए कई युद्ध किये। कुछ पुर्तगाली जमोरिन को कर देते थे लेकिन उसे अपनी सामुद्रिक शक्ति की कमजोरी का ज्ञान था। युद्ध में वह पुर्तगालियों की बराबरी नहीं कर सकता था।

(2) भूमि के मार्ग से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार

मुगल काल में, जैसा कि समकालीन इतिहासकारों के विवरण से पता चलता है, व्यापारिक माल बहुत कम भूमि मार्ग से जाता था। ये मार्ग बहुत कम थे। इस काल में दो प्रमुख भूमि मार्ग थे—काबुल और बहराइच।[3] यद्यपि कन्धार के मार्ग से व्यापार की सम्भावना थी, परन्तु सदैव यह मुगलों और ईरानियों में संघर्ष का क्षेत्र रहा।[4] मुगलों का अधिकार कन्धार पर थोड़े समय तक रहा, अतः व्यापारिक दृष्टि से इस मार्ग का कोई महत्व नहीं रहा। मुगल साम्राज्य और पश्चिमी इस्लामी प्रदेश का व्यापारिक बन्धन बहुत प्रगाढ़ था और काबुल के माध्यम से दोनों राज्यों के व्यापारिक माल का आदान-प्रदान होता था।[5] इसका कारण यह था कि पश्चिमी मुस्लिम राज्यों में केवल भारतीय माल की ही खपत नहीं थी, बल्कि इन राज्यों का तैयार किया हुआ काफी माल मुगल राज्य में भेजा जाता था, जहाँ उसकी बहुत अधिक आवश्यकता थी, जैसे बहुमूल्य पत्थर।[6] चूँकि भारतीय समुद्र पर पुर्तगालियों की शत्रुतापूर्ण काररवाइयाँ थीं, यह वैकल्पिक व्यापारिक मार्ग काबुल के दोनों तरफ

1. मोरलैण्ड, इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 190
2. वही।
3. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 21
4. रियाजुल इस्लाम, इण्डो पर्शियन रिलेशंस, ईरानियन कल्चर फाउण्डेशन, तेहरान, 1970, पृ० 2, 3, 15-18, 24, 25, 35, 40-42
5. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 22
6. हमीदा खातून नकवी, अर्बन सेण्टर्स, पृ० 41, 45

इस्लामी राज्यों के लिए वरदान था।[1] यही कारण था कि मुगल काबुल में शान्ति बनाये रखना चाहते थे और यहाँ की व्यापारिक उन्नति के लिए करों में काफी कमी कर दी गई।[2] अकबर ने भी काबुल-लाहौर मार्ग को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अनेक सुविधायें दीं, जिससे दोनों व्यापारिक केन्द्रों के बीच माल का आदान-प्रदान सुगमता से हो सके।[3]

बहराइच का व्यापारिक मार्ग काबुल की तरफ महत्वपूर्ण नहीं था, फिर भी मुगलों ने इस प्राचीन मार्ग का उपयोग पहाड़ी राज्यों और मुगल राज्य के बीच माल के आदान-प्रदान के लिए किया। वास्तव में मुगल शासकों ने सभी सम्भावित व्यापारिक मार्गों के उपयोग करने की कोशिश की, न कि केवल कुछ महत्वपूर्ण मार्गों का उपयोग किया।[4]

उत्तर पूर्व में एक मार्ग चीन जाने के लिए था, लेकिन इसका उपयोग बहुत कम होता था। 1615 ई० में सर टामस रो को बताया गया कि प्रति वर्ष एक काफिला आगरा से चीन को जाता था, परन्तु कुछ वर्ष पहले इस मार्ग का विश्वास के साथ उपयोग नहीं किया जा सकता था।[5] ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मपुत्र की घाटी के रास्ते व्यापार होता था, परन्तु व्यापार बहुत कम था।[6] ब्रह्मपुत्र से खैबर दर्रे को कोई व्यापारिक मार्ग नहीं था। अबुल फज्ल ने लिखा है कि उत्तर से बहुत सा माल भारत आता था, लेकिन सम्भवतः वह माल हिमालय का क्षेत्रीय उत्पादन रहा हो।[7] भारत का तिब्बत से व्यापार बहुत कम होता था। काश्गर से कश्मीर को कोई काफिला नहीं जाता था, परन्तु थोड़ा सा व्यापारिक माल कुलियों द्वारा ढोया जाता था।[8] व्यावहारिक दृष्टि से केवल दो प्रमुख मार्ग थे—लाहौर से काबुल और मुलतान से कन्धार, जिसके विषय में ऊपर लिखा गया है। ●

1. हमीदा खातून नकवी, अर्बनाइजेशन, पृ० 22
2. तुजुके जहाँगीरी, जिल्द 1, पृ० 47
3. हमीदा खातून, अर्बनाइजेशन, पृ० 70
4. हमीदा खातून नकवी–अर्बनाइजेशन, पृ० 22
5. 1598 में फादर जैविर, जो धर्म-प्रचार के लिए चीन जाना चाहते थे, इस मार्ग का उपयोग न करने के लिए निश्चय किया।
   (देखिये–मोरलैण्ड, इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, पृ० 205)
6. वही।
7. वही।
8. वही।

अध्याय 9

शिक्षा

शिक्षा के उद्देश्य

सर्वप्रथम इस्लामी शिक्षा का लक्ष्य मुसलमानों में ज्ञान की वृद्धि करना था। मुहम्मद साहब के अनुसार ज्ञान प्राप्त करना एक कर्तव्य है और बिना उसके मुक्ति नहीं मिल सकती।[1] प्रत्येक मुसलमान पुरुष और स्त्री के लिये ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।'[2]

इस्लामी शिक्षा का दूसरा लक्ष्य इस्लाम का प्रसार करना था। यह एक धार्मिक कर्तव्य समझा जाता था। भारत में इस्लाम का प्रसार शिक्षा के माध्यम से किया गया। मकतबों में बच्चों को प्रारम्भ से कुरान पढ़ायी जाती थी, जिससे उन्हें इस्लाम के मूल सिद्धान्तों के विषय में जानकारी हो सके।[3] मुहम्मद साहब के अनुसार शिक्षा से बढ़कर कोई दूसरा उपहार नहीं है जो माता-पिता अपने बच्चों को दे सकें।[4] उनका कहना था कि 'विद्वान् की स्याही शहीद के रक्त से अधिक पवित्र है।'[5]

शिक्षा का तीसरा लक्ष्य इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार सदाचार की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास करना था।[6]

इसका चौथा लक्ष्य भौतिक सुख प्राप्त करना था। इसका सबसे बड़ा दोष

---

1. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 107; ए० रशीद, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया, कलकत्ता, 1969, पृ० 150
2. पी० एल० रावत, हिस्ट्री आफ इण्डियन एजूकेशन, आगरा, 1956, पृ० 84
3. वही।
4. वही।
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 84
6. वही।

यह था कि यह लोगों को उच्च-पद प्राप्त करने के लिए प्रलोभन देता था। यही कारण था कि मुस्लिम शासक विद्यार्थियों को प्रशासन में सिपहसालार, काजी, वजीर आदि पदों पर नियुक्त करते थे।[1] बहुत से हिन्दुओं ने भी उच्च-पद प्राप्त करने की लालसा में फारसी भाषा का अध्ययन किया और उन्हें ऊँचे पदों पर रखा गया।

अन्त में, इस्लामी शिक्षा का लक्ष्य राजनैतिक उद्देश्यों और स्वार्थों से प्रेरित था। मुस्लिम शासकों के सामने विदेशी भूमि पर अपनी शासन-व्यवस्था, भव्यता और संस्कृति को सुदृढ़ करने की प्रमुख समस्या थी। वे शिक्षा के माध्यम से यह कार्य करना चाहते थे।[2] मध्य युग शैक्षणिक कार्य प्रणाली, धर्माचार्यों और रहस्यवादियों के द्वारा नियन्त्रित की जाती थी। यही कारण था कि शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था।[3] हजरत अब्दुल कुद्दुस गंगोही ने 'ज्ञानार्जन का लक्ष्य जीवन में अपने कर्तव्यों का पालन करना है। बिना ज्ञान के इस्लाम में वास्तविक आस्था नहीं हो सकती। समस्त ज्ञान का लक्ष्य ईश्वर का प्रेम प्राप्त करना है।'[4]

राजकीय संरक्षण और शिक्षा का विकास

मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत के कुछ भाग में बौद्ध शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। देश में कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों के शिक्षा केन्द्र थे। महमूद गजनवी के आक्रमण का कोई प्रभाव शिक्षा व्यवस्था पर नहीं पड़ा क्योंकि उसका उद्देश्य केवल भारत से धन प्राप्त करना था। मुइज्जुद्दीन मुहम्मद गोरी ने 1192 में भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना की। उसने कई स्थानों पर मन्दिरों को गिरवाया और उनके स्थान पर मसजिदें और स्कूल खोलवाये।[5] उसके एक सेनापति मुहम्मद बख्त्यार खल्जी ने बिहार में बौद्ध शिक्षा प्रणाली को नष्ट किया साथ ही कई मदरसों

---

1. एस० एम० जाफर, ऐजूकेशन, पृ० 4
2. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 85
3. ए० एल० रशीद, आपसिट, पृ० 150
4. मकतबाते हजरत अब्दुल कुद्दूस गंगोही, पत्र सं० 68, पृ० 95 (अनुवाद एस० एच० असकरी, हजरत अब्दुल कुद्दूस गंगोही, पटना यूनिवर्सिटी, जर्नल, 19, पृ० 13-14)
5. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 17-18; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 72

का निर्माण कराया ।[1]

इल्तुतमिश और रजिया ने विद्वानों को सरकारी अनुदान देकर प्रोत्साहित किया ।[2] इल्तुतमिश पहला सुल्तान था जिसने दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया और उसका नाम मुइज़ुद्दीन मुहम्मद गोरी के नाम पर 'मदरसे मुइजी' रखा ।[3] बलबन के समय में प्रमुख कवि अमीर खुसरो और अमीर हसन देहलवी थे जिन्होंने फारसी में पुस्तकें लिखीं । दिल्ली के सुल्तानों ने मुसलमानों की शिक्षा के लिये उचित व्यवस्था की । प्रत्येक मुस्लिम बस्ती में दो मकतब थे । इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के लिये मदरसों की व्यवस्था की गई । इल्तुतमिश ने दिल्ली और मुल्तान में एक-एक मदरसे की व्यवस्था की ।[4] नासिरुद्दीन महमूद के समय में नासिरिया मदरसा बहुत प्रसिद्ध था ।[5] जियाउद्दीन बर्नी ने एक सूची में विशिष्ट विद्वानों का उल्लेख किया है जिन्होंने दिल्ली के मदरसों में अध्यापन का कार्य किया था । विद्वानों के अतिरिक्त बहुत से विधि वेत्ता, चिकित्सक, ज्योतिषी, गणितज्ञ आदि थे, जिनको बलबन का संरक्षण प्राप्त था ।[6] मंगोलों के आक्रमण के समय बहुत से विद्वानों और कलाकारों ने दिल्ली में शरण ली और वहाँ के सांस्कृतिक जीवन को गौरवमय बनाया । इस समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे शम्शुद्दीन ख्वारिज्मी, बुरहानुद्दीन बजाज, नज्मुद्दीन दमिश्की और कमालुद्दीन जाहिद ।[7] यह उल्लेखनीय है कि शिक्षण संस्थाएँ केवल विशिष्ट वर्ग के लोगों के लिए थीं । जन साधारण को इन संस्थाओं से कोई लाभ नहीं हुआ ।[8]

---

1. रेवर्टी, तबकाते नासिरी, 552; इलियट, जिल्द 2, पृ० 222-23, मौलवी अबुल हसनत नदवी, हिन्दुस्तान की कादिम इस्लामी (उर्दू), पृ० 17; फरिश्ता (ब्रिग्स), जिल्द 1, पृ० 190
2. एफ० ई० कीय, ए हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० 109; एन० एन० ला०, आपसिट, पृ० 21
3. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 72
4. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 40
5. इस मदरसे के प्राचार्य मिनहाजुस सिराज नियुक्त किये गये । नासिरुद्दीन ने दिल्ली और जलंधर में मदरसे स्थापित किये । एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 25 एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 110
6. बर्नी, पृ० 46
7. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 73
8. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 86

खल्जी सुल्तानों के समय में शिक्षा का विकास नहीं हुआ।[1] अलाउद्दीन ने शिक्षण संस्थाओं के लिए निर्धारित धन को सेना पर खर्च किया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने फिर इस धन को शिक्षा के विकास पर खर्च करने के लिए व्यवस्था कर दी।[2] समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि अलाउद्दीन के समय में विदेशों से कुछ विद्वान् और कलाकार आये और वे राजधानी में रहने लगे। दिल्ली में इन विद्वानों के निवास करने के कारण इसकी तुलना बगदाद, काहिरा और कुस्तुनतुनिया से की जाने लगी। फरिश्ता के अनुसार अलाउद्दीन के समय में 45 विद्वान् भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में थे जो विज्ञान और कलाओं से पारंगत थे। अब्दुल हक हक्की ने लिखा है कि अलाउद्दीन के समय में दिल्ली, विदेशों से आये हुए विद्वानों और महापुरुषों के मिलन का निश्चित स्थान था। उसने हौजे खास से संलग्न एक मदरसा बनवाया।[3]

तुगलुक सुल्तानों ने शिक्षा के प्रसार में अधिक योगदान दिया।[4] गयासुद्दीन और मुहम्मद तुगलुक स्वयं विद्वान् थे और वे विद्वानों को प्रोत्साहन देते थे। मुहम्मद तुगलुक ने बहुत से कवि, दार्शनिक और वैद्य को संरक्षण प्रदान किया। वह समय-समय पर उनके साथ आध्यात्मिक वाद-विवादों में भाग लेता था। दिल्ली उस समय शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। मुहम्मद तुगलुक की राजधानी परिवर्तन की योजना से, शिक्षा के क्षेत्र में उसकी बहुत क्षति हुई।[5] फरिश्ता ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलुक के हरम में बहुत से देशों की स्त्रियाँ थीं जैसे अरेबियन, जार्जियन, तुर्क, यूरोपियन, चीनी, अफगान, राजपूत, बंगाली, गुजराती, तेलंगानी और महाराष्ट्रियन और वह उन सब से उनकी भाषा में बात कर सकता था।[6] इससे पता चलता है कि उसके समय में क्षेत्रीय भाषाओं का भी विकास हुआ होगा। मुहम्मद तुगलुक ने 1346 ई०

---

1. केवल जलालुद्दीन खल्जी ने शिक्षा के प्रसार में थोड़ी रुचि दिखलायी और संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित किया।
   देखिये महमूद शेरामी—पंजाब में उर्दू, लाहौर, 1928, पृ० 115
2. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 110
3. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 46; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 73
4. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 42; एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 110
5. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 42
6. फरिश्ता, जिल्द 2, पृ० 369-70

में दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया, जिसकी प्रशस्ति कवि बद्र चच ने लिखी।[1] मौलाना मुइनुद्दीन उमरानी इस काल के विशिष्ट साहित्यकार थे। फीरोज तुगलुक के शासन काल में दिल्ली शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था। उसने विद्वानों को वजीफा दिया।[2] मुहम्मद तुगलुक ने कई कारखाने स्थापित किये थे जिनमें राजमहल की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ तैयार की जातो थीं। फीरोज तुगलुक ने इन कारखानों को व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं में परिवर्तित कर दिया था। इनमें अधिकतर गुलामों को प्रशिक्षण दिया जाता था।[3]

फीरोज के समय में 1,8,000 गुलामों को शिक्षित किया गया।[4] इससे पता चलता है कि उसके शासन-काल में शिक्षा का बहुत विकास हुआ। जियाउद्दीन बर्नी और शम्श सीराज अफीफ ने उसके संरक्षण में ग्रन्थ लिखे। फिरोज स्वयं एक इतिहास कार था। उसने अपनी आत्मकथा 'फतूहाते फीरोजशाही' लिखी। उसके पास संस्कृत की बहुमूल्य पुस्तकों का भण्डार था जिसमें से उसने कुछ पुस्तकों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया। उसने निर्धन विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए व्यवस्था की।[5]

फीरोज तुगलुक ने उच्चशिक्षा के प्रसार में काफी योगदान दिया। उसने अपने राज्य में 30 मदरसे स्थापित किये।[6] उसका सबसे प्रसिद्ध 'मदरसाये फीरोजशाही' था, जो हौजेखास के समीप बनवाया गया था। मौलाना जमालुद्दीन रुमी को उसका प्राचार्य नियुक्त किया गया था।[7] सीरी का मदरसा भी बहुत प्रसिद्ध था। यह सुन्दर वातावरण में स्थित था। इसकी इमारत बड़ी भव्य थी।[8] इसी तरह के मदरसे फिरोजाबाद और दूसरे नगरों में बनाये गये थे। 'सुभुल अशा' के लेखक अलकलकाशन्दी के अनुसार उसने एक हजार शिक्षण संस्थाएँ और 70 अस्पताल अकेले दिल्ली

---

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 74
2. फरिश्ता (ब्रिग्स), जिल्द 1, पृ० 462; नदवी, आपसिट, पृ० 20; एस० एम० जाफर, आपसिट, पृ० 49-52
3. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 75
4. इन गुलामों में से 12 हजार गुलाम विद्वान्, व्यापारी और कुशल कारीगर बने। एन० एन० ला।
5. बर्नी, पृ० 460
6. फरिश्ता (ब्रिग्स), जिल्द 1, पृ० 464-73
7. बर्नी पृ० 564; याह्या, तारीखे मुबारकशाही, अनुवाद बसु, पृ० 127
8. वही, पृ० 665

में बनवाये ।[1]

सैय्यद सुल्तानों के समय बदायूँ एक प्रसिद्ध शिक्षा का केन्द्र था। विद्वानों को सरकार की तरफ से अनुदान दिया गया।[2] सिकन्दर लोदी ने शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक उपाय किये। उसने आगरा को अपनी राजधानी बनाया (1504), जो थोड़े समय में शिक्षा का केन्द्र बन गया।[3] उसने चिकित्सा शास्त्र पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (तिब्बे सिकन्दर शाही) तैयार कराया, जो भारत और खुरासान के अनुभवी चिकित्सकों के सहयोग से पूरा किया गया।[4] सिकन्दर लोदी ने अपने सैनिक अधिकारियों के लिये साहित्यिक शिक्षा अनिवार्य कर दी।[5] उसने साम्राज्य के दूसरे भागों में मदरसे खोले और योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की। उसने मथुरा और मारवाड़ में मदरसे स्थापित किये, जहाँ सभी वर्गों के लोग बिना भेद भाव के शिक्षा प्राप्त कर सकते थे।[6] उसकी रुचि तर्कशास्त्र में थी। इस विषय को पढ़ाने के लिए उसने उलेमा वर्ग के दो भाइयों शेख अब्दुल्ला और शेख अजीजुल्ला को आमंत्रित किया जो तर्क-शास्त्र (मकूलात) में पारंगत थे। शेख अजीजुल्ला को संभल के मदरसे का प्रधान और शेख अब्दुल्ला को दिल्ली के मदरसे का प्रधान नियुक्त किया। सिकन्दर लोदी इन विद्वानों से बहुत प्रभावित हुआ। वह स्वयं उनके व्याख्यान सुनने जाता था।[7] इन विद्वानों ने इस विषय को लोकप्रिय बनाया। शेख अब्दुल्ला ने 40 शिष्य बनाये जिनमें मियाँ लद्दन, जमाल खाँ देहलवी, ग्वालियर के मियाँ शेख और बदायूं के मियाँ सैय्यद जलाल प्रमुख थे।[8]

---

1. अरबी भाषा में लिखी गई यह पुस्तक एक ज्ञानकोष है। इससे सभी क्षेत्रों का ज्ञान मिलता है। यह साहित्यिक ग्रन्थों और यात्रियों द्वारा दिये गये विवरणों के आधार पर लिखी गयी थी। मध्य भारत के सांस्कृतिक इतिहास को जानने का यह अमूल्य ग्रन्थ है। लेखक की मृत्यु 1418 ई० में काहिरा में हुई। (युसुफ हुसेन, पृ० 75)
2. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 71; नदवी, आपसिट, पृ० 32; एस० एम० जाफिर, एजूकेशन, पृ० 53
3. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 73
4. रिजकुल्ला मुस्ताकी, वाकयोत मुश्ताकी, इलियट 4, पृ० 451 फुटनोट।
5. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 112; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 76
6. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 76
7. बदायुंनी, पृ० 324 उद्धृत युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 76-77
8. वही, पृ० 77

फीरोज तुगलुक की मृत्यु के बाद दिल्ली सल्तनत का विघटन होने लगा और प्रांतीय शासक सफल हो गये। तैमूर के आक्रमण से विद्वान् प्रांतीय राजधानियों में चले गये। दक्षिण भारत में बहमनी राज्य में बहुत से मकतब और मदरसे स्थापित किये गये। अहमदशाह (1422-35) ने गुलबर्गा में एक मदरसा सैय्यद मुहम्मद गेसू दराज के सम्मान में खोला जो उस समय के एक विशिष्ट विद्वान् थे। इस संस्था के खर्च के लिये कई नगर और गाँव की आय निर्धारित की गई।[1] महमूद गवाँ ने जो मुहम्मद शाह (1463-82) का वजीर था एक बड़ा मदरेसा बिदर में बनवाया (1472) जिसके ग्रन्थालय में हजारों बहुमूल्य पुस्तकें थीं। गाँवों में भी मकतब खोले गये।[2] बीजापुर, गोलकुण्डा, मालवा, खानेदश, जौनपुर, मुल्तान, गुजरात और बंगाल शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। जौनपुर साहित्य और कलाओं की उच्च शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था। इब्राहीम शर्की (1402-80) के समय में जौनपुर में बहुत से विद्वान् रहते थे।[3] मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन (1469-1500) ने अपनी हरम की स्त्रियों को पढ़ाने के लिये अध्यापिकाओं की नियुक्ति की।[4] बंगाल में हुसेन शाही शासकों ने हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा के प्रसार में काफी योगदान दिया। उन्होंने शैक्षणिक संस्थाएँ खोलीं और उन्हें सरकार से अनुदान मिला।[5] सुल्तान नासिर शाह (1282-1325) ने महाभारत का बंगाली भाषा में अनुवाद कराया।[6]

बाबर स्वयं एक विद्वान् और कवि था। उसकी आत्मकथा 'बाबरनामा' एक अद्वितीय ग्रन्थ है।[7] लेकिन अपने अल्प शासनकाल में शिक्षा के प्रसार के लिये वह

1. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 86
2. वही, पृ० 89-90; नदवी, आपसिट, पृ० 60; बहमनी सुल्तानों ने अनाथों की शिक्षा के लिये भी संस्थाएँ खोलीं (एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 113; युसुफ हुसेन, पृ० 78)।
3. उसके समय में जौनपुर को शीराजे हिन्द कहा जाता था; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 77; एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 100
4. फरिश्ता, जिल्द 4, पृ० 236-37
5. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 67
6. वही, पृ० 68-69
7. तुर्की भाषा का यह बहुमूल्य ग्रन्थ है। इसकी तुलना सेण्ट आगस्टीन, रूसों, गिबन और न्युटन को आत्म-कथाओं से की जाती है। देखिये, एडवर्ड्स और गैरेट, मुगल रूल इन इण्डिया, पृ० 225; लेनपूल, बाबर, रूलर्स ऑफ इण्डिया सीरिज, पृ० 10

कुछ नहीं कर सका। उसके वजीर मकबर अली ने लिखा है कि मकतबों और मदरसों का निर्माण कार्य 'शुहरते आम' द्वारा किया जाता था।[1] बाबर के दरबार में बहुत से विद्वान् थे, जिनमें ख्वांदमीर और शेख जैन ख्वाफी प्रमुख थे।[2]

हुमायूँ ने दिल्ली में एक बड़ा मदरसा बनवाया[3] और शेख हुसेन को उसका प्राचार्य नियुक्त किया।[4] उसने दिल्ली में एक ग्रन्थालय स्थापित किया और शेरशाह के आरामगाह को ग्रन्थालय में परिवर्तित कर दिया।[5] हुमायूँ के मकबरे में भी एक मदरसा खोला गया। वह स्वयं भूगोल, गणित व ज्योतिष में रुचि रखता था। शेरशाह ने नरनौल में एक मदरसा खोला। उसमें सभी लोग शिक्षा प्राप्त कर सकते थे।[6]

हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर ने शिक्षा[7] के प्रसार के लिये कार्य किया। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था, उसके समय में शिक्षा के सभी क्षेत्र में प्रगति हुई। उसने विद्वानों को सरकार की तरफ से वजीफे और जागीरें दीं। उसने सभी धार्मिक वर्गों के विद्वानों को प्रोत्साहन दिया। उसने अबुल फज्ल की सलाह से शिक्षा के विस्तार के लिये पाठ्यक्रम और नियमावली बनायी। उसने परम्परागत शिक्षा प्रणाली में सुधार किया और इस सम्बन्ध में राजकीय आदेश निकाले।[8]

अकबर की शिक्षा नीति को उस समय के एक बड़े विद्वान् फाथुल्ला शीराजी[9] ने प्रभावित किया।[10] बीजापुर के अली आदिलशाह के निमंत्रण पर वह शीराजी से दक्षिण भारत आया। अली आदिलशाह की मृत्यु के बाद अकबर ने उसे आमन्त्रित किया और सदर के पद पर नियुक्ति की। वह अनेक विषयों का ज्ञाता था, परन्तु उसने

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 88
2. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 121-24
3. एडवर्ड्स और गैरेट, आपसिट, पृ० 225
4. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 88
5. वही।
6. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 134
7. स्मिथ, अकबर, पृ० 22; एडवर्ड्स और गैरेट, आपसिट, पृ० 226
8. एडवर्ड्स एण्ड गैरेट, आपसिट, पृ० 226; आईने अकबरी, ब्लाकमैन, पृ० 278
9. यह शिक्षा के सभी क्षेत्रों में पारंगत था। अबुल फज्ल का कहना था कि यदि प्राचीन पुस्तकें नष्ट हो गई हों तो मीर फाथुल्ला शीराजी उसे फिर से पूर्ववत कर देंगे। (युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 84)
10. वही।

दर्शन शास्त्र और मकूलात में विशेष योग्यता प्राप्त की थी।[1] तकनीकी शिक्षा के विकास में उसका बहुत योगदान था।[2] उसने बड़ी बन्दूक और तोप बनाने में लोहे को पक्का करके उसका उपयोग किया।[3] उसकी रुचि छोटे बालकों को पढ़ाने में थी। अबुल फज्ल का पुत्र उसका शिष्य था। फाथुल्ला शीराजी ने अनुवाद विभाग के कार्य की देखभाल की। उसने भारत के विद्वानों को अल्लामा दीवानी, सद्र शीराजी और मिर्जा जान की कृतियों का परिचय कराया और उन पुस्तकों को मदरसों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया।[4] इस प्रकार सिकन्दर लोदी ने जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, अकबर के समय में उसका अधिक विकास हुआ।[5]

फाथुल्ला शिराजी ने कारखानों में अपना प्रयोग किया और उसके द्वारा कारखानों की उत्पादन क्षमता में विकास हुआ। जेसुइट पादरी मांसरेट ने इन कारखानों की प्रशंसा की है।[6] अकबर ने तकनीकी शिक्षा के विकास में व्यक्तिगत रुचि दिखलाई। शिकार के समय में भी अकबर अपना कुछ समय लोहार के कारखाने में जाकर बन्दूक आदि बनाने की कला का अध्ययन करता था।[7] बर्नियर ने इन कारखानों का बाद में निरीक्षण किया और उनकी सराहना की।[8]

इसने राजधानी में एक बड़े ग्रन्थालय की व्यवस्था की, जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें रखी गयीं।[9] उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी और अन्य स्थानों पर मदरसे बनवाये।[10] उसने बहुत सी संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद फारसी भाषा

1, युसुफ हुसेन आपसिट, पृ० 81
2. वही।
3. वही।
4. वही।
5. वही।
6. फादर मांसरेट अकबर के दरबार में 1580 से 1582 तक रहे।
7. अकबरनामा, जिल्द 3, पृ० 744
8. बर्नियर, ट्रैवेल्स, पृ० 259
9. इस ग्रन्थालय में 24 हजार पुस्तकें थीं जिसका मूल्य 65 लाख रुपया था। इसने सुन्दर शब्दों के लिखने की कला को प्रोत्साहन दिया। उसके दरबार में बहुत से चित्रकार थे। (एन० एन० ला०, आपसिट, पृ० 139; स्मिथ, अकबर, पृ० 423; एडवर्ड्स और गैरट, आपसिट, पृ० 226-27)
10. एडवर्ड्स और गैरट, आपसिट, पृ० 227; एफ० ई० कीय, पृ० 122

में क ाया। उसके समय में हिन्दुओं ने अरबी और फारसी भाषाएँ सीखीं। अकबर ने हिन्दुओं के लिए भी स्कूल खोले।[1]

जहाँगीर स्वयं विद्वान् होकर भी शिक्षा का प्रेमी नहीं था।[2] फिर भी उसने विद्वानों को प्रोत्साहन दिया। उसे पुस्तकों से प्रेम था। उसने चित्रकला के विकास में बहुत योगदान दिया। उसका आदेश था कि यदि किसी धनी व्यक्ति या यात्री की मृत्यु हो जाय और उसका कोई उत्तराधिकारी न हो, तो उसकी सम्पत्ति को राज्य सरकार ले ले और उस धन को मदरसों के निर्माण और शिक्षा के विस्तार पर खर्च किया जाय।[3] गद्दी पर बैठने के बाद जहाँगीर ने उन मदरसों का जीर्णोद्धार कराया, जिसमें पिछले 30 वर्षों से जानवरों और चिड़ियों का निवास था। उसमें उसने योग्य अध्यापकों की नियुक्ति की।[4]

जहाँगीर और शाहजहाँ ने संगीत, चित्रकला, वास्तुकला के विकास में अपना योगदान दिया, जिसकी प्रशंसा सर टामस रो और बर्नियर ने की है।[5] शिक्षा प्रणाली में सुधार करने का अधिक प्रयास शाहजहाँ ने नहीं किया।[6] उसने दिल्ली में जामा मसजिद के समीप एक मदरसा बनवाया,[7] और 'दारुल बाकी' नाम के मदरसे की मरम्मत करवाई।[8] शाहजहाँ स्वयं तुर्की भाषा में पारंगत था। उसके शासनकाल में एक प्रसिद्ध गणितज्ञ ने नक्षत्रों की एक तालिका बनाई और उलुगबेग द्वारा बनाई हुई पहले की तालिका में संशोधन किया। इसका नाम 'जिचे शाहजहाँनी' रखा।[9] शाहजहाँ ने विद्वानों को संरक्षण दिया। उसके कृपापात्र विद्वानों में चन्द्रभान ब्राह्मण प्रमुख था जो एक उच्चकोटि का लेखक था। उसकी लिखी हुई पुस्तक 'मंशाते ब्राह्मण'

---

1. एडवर्ड्स और गैरेट, आपसिट 227; एफ० ई० कीय, पृ० 122
2. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 88
3. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 174; एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 128
4. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 88-69; एडवर्ड्स और गैरट, पृ० 228; एफ० ई० कीय, पृ० 124
5. बर्नियर-ट्रेवेल्स, पृ० 254-55
6. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 122
7. युसुफ हुसेन, आपसिट. पृ० 86
8. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 89
9. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 86

स्कूल के पाठ्यक्रम में बहुत दिनों तक रही।[1] शाहजहाँ ने जिन दूसरे विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया उनके नाम थे अब्दुल हकीम सियालकोटी, मुल्ला मुहम्मद फाजिल और काजी मुहम्मद असलम।[2] शाहजहाँ की पुत्री जहाँनारा बेगम ने आगरा की जामा मसजिद से संलग्न एक मदरसा खोला जो बहुत समय तक प्रख्यात रहा।[3] शाहजहाँ का पुत्र दारा एक विद्वान् था। वह अरबी, फारसी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञाता था। उसने उपनिषद्, भगवद्गीता, योग वाशिष्ठ और रामायण का अनुवाद फारसी में किया। उसने सूफी मत पर एक टीका लिखी।[4] सर विलियम स्लीमन ने लिखा है कि यदि दारा मुगल सम्राट् बना होता तो शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुआ होता और भारत की स्थिति बदल गई होती और उसकी बहुत प्रगति हुई होती।[5]

शाहजहाँ के समय में फ्रांसीसी यात्री बर्नियर भारत आया था। उसने उस समय की शिक्षा प्रणाली के दोषों को विस्तार से लिखा है। उसने लिखा है कि लोग निर्धन थे और अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा देने में असमर्थ थे। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के लिए कोई प्रलोभन नहीं था।[6] बर्नियर की यह टिप्पणी असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि उसने भारत के दूसरे शिक्षा केन्द्रों का निरीक्षण नहीं किया और न उसे उनके विषय की कोई जानकारी थी।

औरंगजेब हिन्दू शिक्षा का कट्टर शत्रु था। उसने बहुत से हिन्दू मन्दिरों और शिक्षण संस्थाओं को ध्वस्त किया और उनके स्थान पर मसजिदें, मकतबों और मदरसों का निर्माण कराया।[7] अकबर के विपरीत उसने केवल इस्लामी शिक्षा का ही विस्तार किया।[8] साम्राज्य में सभी मदरसों को सुव्यवस्थित किया। इमाम, मुअजिन और खुतबा पढ़ने वालों की नियुक्ति मसजिदों में की गई। नगरों और कस्बों में सभी

---

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 86
2. वही।
3. वही।
4. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 184-86
5. स्लीमन, रेम्बल्स एण्ड रिकलेक्शन्स, सम्पादित, स्मिथ, पृ० 511-13
6. बर्नियर, ट्रेवेल्स, पृ० 229; एस० एम० जाफर, पृ० 97-98
7. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 90; एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 125; एडवईस और गैरट, आपसिट, पृ० 230
8. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 125

विद्वानों को उसकी योग्यता के अनुसार वजीफे दिये गये।[1] औरंगजेब धर्मान्ध और संकीर्ण विचारों वाला व्यक्ति था। उसने तुर्की, अरबी और फारसी भाषाएँ सीखी थीं। उसे कुरान और हदीस जबानी याद था।[2] औरंगजेब ने शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से शिक्षा प्रणाली में सुधार किया। उसने पाठ्यक्रम को व्यावहारिक बनाया, बहुत से मकतबों और मदरसों की स्थापना की और उनमें इस्लामी शिक्षा के प्रसार के लिए व्यवस्था की।[3] उसने राज्य के ग्रन्थालय में बहुमूल्य पुस्तकों को रखवाया। बीजापुर से बहुत सी पुस्तकें मँगवायी गईं। उसने केवल मुसलमानों की शिक्षा के लिए व्यवस्था की।[4] उसने प्रान्तीय गवर्नरों को आदेश दिया कि हिन्दू मन्दिरों और शिक्षा संस्थाओं को नष्ट कर के मसजिदों और मदरसों का निर्माण किया जाय।[5] गुजरात और अवध के पिछड़े प्रान्तों में शिक्षा प्रसार के लिए उसने विशेष व्यवस्था की। 1678 ई० में गुजरात के बोहरा सम्प्रदाय को शिक्षा देने के लिए सरकार की तरफ से अध्यापकों की नियुक्ति की गई। उसने इस सम्प्रदाय के लोगों की शिक्षा अनिवार्य कर दी।[6] उसने आदेश दिया कि इस सम्बन्ध में उसे नियमित रूप से सूचित किया जाय कि कितनी प्रगति हुई।[7]

औरंगजेब ने गुजरात में मदरसों की मरम्मत के लिये धन की व्यवस्था की। अली मुहम्मद खाँ की पुस्तक 'मीराते अहमदी' के अनुसार गुजरात के सद्र अकरामुद्दीन खाँ ने एक मदरसा अहमदाबाद में 1,24 हजार रुपया की लागत से बनवाया।[8] औरंगजेब ने इस मदरसे के संचालन हेतु दो गाँव की आय निर्धारित कर दी।[9] निर्धन और योग्य विद्यार्थियों को 2 रु० प्रतिदिन के हिसाब से वजीफा दिया गया।[10] सांस्कृतिक

1. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 125
2. वही, पृ० 126
3. उसके द्वारा स्थापित मदरसा रहीमीया बहुत प्रसिद्ध था। यह शाह अब्दुररहीम की स्मृति में बनवाया गया, जो 'फतवाये आलमगीरी' के सम्पादक मण्डल के एक सदस्य शाह वलीउल्ला के पिता थे। (युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 87)
4. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 90
5. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 87; एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 125
6. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 125
7. वही।
8. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 87
9. ये गाँव थे सोन्द्राह (सनोली परगना) और सबालीह (करी परगना)। (वही)
10. इलियट, जिल्द 1, पृ० 150

क्षेत्र में भी औरंगजेब ने कट्टरता दिखाई। वह पाठयक्रम में किसी ऐसी पुस्तक को नहीं रखना चाहता था जो उसके विचारों के प्रतिकूल हो। उसके समय में शेख मुहीबुल्ला एलाहाबादी की पुस्तकें बहुत प्रचलित थीं। औरंगजेब शेख की पुस्तक 'तसविया' में दिये गये विचारों से सहमत नहीं थे। चूँकि शेख की मृत्यु हो चुकी थी, सम्राट् ने उसके एक शिष्य शेख मुहम्मदी से स्पष्टीकरण माँगा और कहा कि क्यों न यह पुस्तक जला दी जाय।[1] शेख मुहम्मदी निडर और स्वतन्त्र विचारों वाले व्यक्ति थे। उन्होंने जवाब दिया कि वे सम्राट् की इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर सकते।[2] शायद दारा शेख मुहीबुल्ला का बड़ा भक्त था, इसीलिए औरंगजेब ने उसका विरोध किया।[3] औरंगजेब ने संगीत और अन्य ललित कलाओं को संरक्षण नहीं दिया।[4]

औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक कुव्यवस्था हो गई, जिससे मुगलों की केन्द्रीय सरकार शिक्षा के प्रसार के लिए कुछ नहीं कर सकी। बहादुर शाह (1707-12) के समय में दिल्ली में दो या तीन मदरसों की स्थापना हुई थी। नादिरशाह के आक्रमण (1739) से काफी क्षति हुई। वह अपने साथ ग्रन्थालय को खास पुस्तकें ईरान ले गया।[5]

शिक्षा के विस्तार के लिए प्रान्तों में धनी वर्ग के व्यक्तियों ने स्कूल खोले।[6] इस सम्बन्ध में दिल्ली में गाजीउद्दीन का मदरसा उल्लेखनीय है।[7] जो शिक्षण

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 88
2. मासिरुल उमरा, जिल्द 3, पृ० 606
3. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 98
4. संगीत की अर्थी निकाली गई इस पर औरंगजेब ने कटाक्ष करते हुए कहा कि इसको इतने नीचे गाड़ना चाहिए जिससे फिर जीवित न हो जाय। मनूची, जिल्द 2, पृ० 8
5. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 132; एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 198
6. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 89
7. इस मदरसे के अतिरिक्त दूसरे मदरसे थे शर्फुद्दौला का मदरसा, दिल्ली में रोशन-उद्दौला का मदरसा, फरुखाबाद में हसन रजा खाँ का मदरसा और इलाहाबाद, अहमदाबाद, सूरत, अजीमाबाद, मुर्शिदाबाद, औरंगाबाद, हैदराबाद और कुरनूल में अन्य मदरसे खोले गये, (वही)। कभी-कभी एक स्थान पर मसजिद, मदरसों और निर्माणकर्त्ता का मकबरा होता था। (फाँसा, देलही पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, पृ० 64)

संस्थाएँ, मन्दिरों और मसजिदों से संलग्न थीं उन्हें सभी प्रकार की सरकारी सहायता जो पहले उपलब्ध थी, समाप्त हो गई। औरंगजेब के कुछ उत्तराधिकारियों ने नाम मात्र की सहायता शिक्षा के प्रसार के लिए दी। लेकिन उसका कोई प्रभाव 18वीं शताब्दी की शिक्षा व्यवस्था पर नहीं पड़ा।[1]

मध्ययुग में मुस्लिम शासकों द्वारा स्थापित मकतबों और मदरसों में केवल विशिष्ट वर्ग के लोग ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। जन साधारण को इस शिक्षा व्यवस्था से कोई लाभ नहीं पहुँचा। अधिकतर मकतबे और मदरसे उनके स्थापकों की मृत्यु के बाद विलीन हो जाते थे, क्योंकि उनकी देखभाल की उचित व्यवस्था नहीं थी।[2] मुस्लिम शासकों का अधिकतर समय युद्ध में बीता, जिससे वे अपना पूरा ध्यान शिक्षा के प्रसार पर न दे सके। राज्य सरकार के अतिरिक्त धनी वर्ग के लोगों ने स्कूलों को खोलने में अपना व्यक्तिगत धन लगाया।[3] इस प्रकार व्यक्तिगत प्रयासों के द्वारा भी शिक्षा का विकास हुआ। व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाएँ राजकीय संस्थाओं की अपेक्षा अधिक दिनों तक बनी रहीं, क्योंकि शासक बदलने पर राजकीय संस्थाओं का संरक्षण समाप्त हो जाता था।[4] अधिकतर 18वीं सदी में मराठों, मुसलमानों, सिखों, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के आपसी संघर्ष के कारण शिक्षा की अवनति हुई।[5]

शैक्षणिक संगठन

प्रारम्भिक शिक्षा (मकतब)

इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को वर्णमाला और धार्मिक प्रार्थना का ज्ञान कराना था। यह काम मकतबों द्वारा किया जाता था। ये मकतब मसजिदों से संलग्न रहते थे, मकतब प्रारम्भिक शिक्षा का प्रमुख स्थान था, जहाँ बच्चों को पढ़ाया जाता था।[6] धनी वर्ग के लोग अपने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए अलग से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे, लेकिन उस क्षेत्र के जन साधारण मकतब में अपने बच्चों को भेजते थे। इसके अतिरिक्त खानकाह और दरगाहों में भी प्रारम्भिक शिक्षा

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 91-92
2. वही।
3. वही, पृ० 91
4. वही।
5. वही, पृ० 92
6. एस० एम० जाफर, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 76; ए० रशीद, आपसिट, पृ० 158

दी जाती थी।[1] साधारणतया खानकाह के निर्माणकर्त्ता वहाँ एक मौलवी या धर्म उपदेशक नियुक्त कर देते थे, जो बच्चों को पढ़ाता था। जो चढ़ावा इन खानकाहों या दरगाहों पर चढ़ाता था उससे इन संस्थाओं का खर्च चलाया जाता था।

जब बालक 4 वर्ष, 4 महीने और 4 दिन का हो जाता था तो उसे शिक्षा देने की रसम अदा की जाती थी, जिसे 'बिस्मिल्लाह' कहते थे।[2] अच्छे वस्त्र पहनाकर एक कुर्सी पर बैठाकर बच्चे की शिक्षा शुरू की जाती थी। यदि बालक हठी होता था और वर्णमाला सीखने से इनकार करता था तो उससे केवल 'बिस्मिल्लाह' कहलाया जाता था।[3]

राजकीय परिवार की स्त्रियों की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था रहती थी। उन्हें अरबी और फारसी भाषा का ज्ञान कराया जाता था।[4] उन्हें सैनिक और कानून की शिक्षा भी दी जाती थी और अन्त में उन्हें धर्म के सम्बन्ध में ज्ञान दिया जाता था।[5] मकतबों में सभी वर्गों के लोग शिक्षा प्राप्त करते थे। सबसे पहले विद्यार्थियों को लिपि का ज्ञान कराया जाता था जो कुरान के तीसवें अध्याय से जिसमें प्रति दिन की प्रार्थना और 'फातिहा' (दफनाने के समय पढ़ा जाने वाला पद्य) सम्मिलित रहता था, समाप्त होता था। विद्यार्थियों को फारसी भाषा का व्याकरण कण्ठाग्र कराया जाता था। इसके बाद शेख सादी द्वारा रचित 'गुलिस्तान' और बोस्तान का अध्ययन कराया जाता था। विद्यार्थियों को कुछ कविताएँ, जैसे 'युसुफ और जुलेखा', 'लैला और मजनूँ' और 'सिकन्दर नामा' पढ़ायी जाती थी।[6] इसके अतिरिक्त प्राथमिक गणित, बोलचाल का ढंग, पत्र-व्यवहार, आवेदन-पत्र लिखना आदि सिखाया जाता था। वर्णमाला की लिपि फारसी होती थी, फिर भी उर्दू एक प्रमुख विषय था।[7]

उच्च शिक्षा (मदरसा)

मध्ययुग में उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी, जहाँ विद्वान् विद्यार्थियों

---

1. वही, एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पृ० 32
2. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 150
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 93
4. एस० एम० जाफर, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 85
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 93
6. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 151-52; पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 93
7. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 93

को व्याख्यान देते थे।[1] भिन्न-भिन्न विषयों के अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। साधारणतः इनके अध्यापकों की नियुक्ति राज्य सरकार करती थी।[2] जो विद्यार्थी मकतब की पढ़ाई पूरी कर लेते थे उन्हें मदरसे में प्रवेश मिलता था। मदरसे का संचालन एक व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा होता था, जिसमें सम्भ्रान्त व्यक्ति होते थे।[3] कहीं-कहीं पर सरकार विद्यार्थियों के आवास और भोजन की व्यवस्था धर्मनिष्ठ मुस्लिम शासक व्यक्तिगत रूप से करते थे।[4] यहाँ से शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियों को ऊँचे पदों पर रखा जाता था, जिससे मदरसों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये लोगों को प्रोत्साहन मिलता था।

उच्च शिक्षा को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : (i) धर्म-निरपेक्ष और (ii) धार्मिक।

पाठ्यक्रम 10 से 12 वर्षों का होता था। धर्मनिरपेक्ष विषयों में अरबी व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र, ताबीयी रियाजी और इलाही, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, इतिहास, गणित, ज्योतिष, विधि, भूगोल, चिकित्साशास्त्र, कृषि और निबन्ध आदि होते थे।[5] शिक्षा का माध्यम अरबी था, यद्यपि औरंगजेब ने अरबी के स्थान पर मातृ भाषा में शिक्षा देने के लिए बल दिया था। उसके विचार से 10 या 12 वर्ष तक अध्ययन करने के बाद भी विद्यार्थी अरबी और फारसी भाषा में पारंगत नहीं हो सकता था।[6]

धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत गहन अध्ययन, कुरान पर टीका, पैगम्बर मुहम्मद साहब की परम्परा, इस्लामी कानून और कभी-कभी सूफी मत के सिद्धान्त

---

1. मदरसों का संचालन राज्य सरकार के द्वारा होता था जब कि मकतब का प्रबन्ध संस्थाओं द्वारा होता था।
   (देखिये, युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 71)
2. विस्तृत जानकारी के लिये देखिये ए० रशीद, आपसिट, पृ० 154-57
3. पी० एल रावत, आपसिट, पृ० 94
4. वही।
5. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 119
   इलाही विज्ञान से तात्पर्य है वह सभी बातें जो सदाचार से सम्बन्धित हों और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के साधन हों। रियाजी विज्ञान संख्या से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत नक्षत्रशास्त्र, संगीत आदि विषय आते हैं। तिबई विज्ञान शारीरिक विज्ञान से सम्बन्धित है।
6. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 94 (वही)।

आते थे। प्रारम्भ में धर्म-निरपेक्ष शिक्षा पर मुहम्मद साहब ने बल दिया था, लेकिन भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद ऐसे धर्म परिवर्तित मुसलमानों के लिए धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता समझी गई।[1] इसीलिये मदरसों के पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा सम्मिलित की गई। अकबर के शासनकाल में इस पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया गया, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से मदरसों में शिक्षा मिल सके। अकबर का विचार था कि हिन्दुओं को केवल इस्लामी शिक्षा देने से साम्राज्य की सुरक्षा को खतरा हो सकता है।[2] इसीलिए उसने हिन्दुओं को उच्च-शिक्षा देने के लिए मदरसों की स्थापना की, जहाँ उन्हें हिन्दू-धर्म, दर्शन और साहित्य की शिक्षा फारसी भाषा के साथ-साथ दी जाती थी।[3]

हिन्दुओं ने फारसी सीखना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे उन्हें राज्य की नौकरियों का लाभ मिल सके। इस सम्बन्ध में राजा टोडरमल का नाम उल्लेखनीय है। अकबर पाठ्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं था। वह इसे जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए और अधिक व्यावहारिक बनाना चाहते थे।[4] अबुल फज्ल ने लिखा है कि प्रत्येक लड़के को सदाचार, गणित, कृषि, ज्यामिती, नक्षत्रशास्त्र, शरीर विज्ञान, चिकित्साशास्त्र तर्कशास्त्र, इतिहास, विज्ञान और मापनशास्त्र पर पुस्तकें पढ़नी चाहिये।[5] संस्कृत के अध्ययन में विद्यार्थियों को व्याकरण, न्याय वेदान्त और पतंजलि के महाभाष्य पढ़ने की व्यवस्था की गई।[6]

औरंगजेब ने शिक्षा पद्धति के दोषों को दूर करने का प्रयास किया। उसे स्वयं अनुभव था कि उसके गुरु ने उसे उचित शिक्षा नहीं दी। जिन विषयों को उसे पढ़ाना चाहिये था उन्हें नहीं पढ़ाया और जो पढ़ाया गया वह गलत था।[7] इसीलिये वह

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 94
2. वही।
3. वही, पृ० 94-95
4. वही, पृ० 95
5. आईने अकबरी, ब्लॉकमैन, पृ० 278; ग्लेडविन अनुवाद भाग 1, पृ० 223; नदवी, आपसिट, पृ० 117; एस० एम० जाफर (एजूकेशन, पृ० 86; एफ० ई० कीय, पृ० 118-119)
6. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 129, फुटनोट।
7. औरंगजेब ने इस सम्बन्ध में अपने गुरु से जो वार्ता की उसे देखिये, बर्नियर, ट्रेवेल्स, पृ० 155

चाहता था कि विद्यार्थी को जो शिक्षा दी जाय वह उपयोगी हो। वह नहीं चाहता था कि व्याकरण और प्राचीनकाल के सर्वोत्कृष्ट साहित्य पढ़ने में विद्यार्थी अपना बहुमूल्य समय लगावें। औरंगजेब इतिहास, भूगोल, युद्धकला, राजनीति और दर्शन-शास्त्र और कूटनीति आदि विषयों के अध्ययन पर बल देता था।[1] अकबर के भी विचार इसी तरह के थे। ऐसा मालूम होता है कि अकबर की मृत्यु के बाद शिक्षा प्रणाली और पाठ्यक्रम में दोष आ गये थे। यही कारण था कि औरंगजेब ने शिक्षा पद्धति में सुधार करने का प्रयास किया।[2] औरंगजेब का ध्यान राजकीय परिवार के सदस्यों को शिक्षित करने की तरफ अधिक था। उसने जन साधारण की प्रगति और भलाई की तरफ ध्यान नहीं दिया।[3] इसका परिणाम यह हुआ कि पाठ्यक्रम को, लोगों के हितों को ध्यान में रख कर उपयोगी नहीं बनाया गया। मदरसों में अरबी और फारसी भाषाओं की प्रधानता थी।[4] इस युग में किताबी ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता था। शिक्षा केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये थी। वह जीवन के लिये उपयोगी नहीं थी।[5] शिक्षक और शिष्य दार्शनिक विषयों पर विवाद करते थे, जो प्रायः शब्द जाल का रूप ग्रहण कर लेता था। इस युग में इतिहास लिखने पर अधिक जोर दिया गया। कुछ सम्राटों ने ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अपनी जीवन-कथाओं में किया है।[6]

कानून की शिक्षा भी मदरसों में दी जाती थी। इस्लामी शिक्षा का आधार धर्म का और इस्लामी कानून का आधार धार्मिक ग्रन्थ कुरान और परम्पराएँ थीं।[7] चिकित्सा विज्ञान यूनानी पद्धति पर आधारित था। चिकित्सा के क्षेत्र में इस्लामी शिक्षा का स्तर गिरा हुआ था।[8] संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। यह काफी लोकप्रिय थी। बड़े-बड़े नगरों में कुछ संस्थाएँ केवल संगीत की शिक्षा देती थीं।[9]

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 96
2. वही।
3. वही, पृ० 96-97
4. वही, पृ० 97
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 97
6. वही।
7. वही।
8. वही।
9. वही।

राज दरबार में संगीतज्ञों का अधिक सम्मान था। अकबर के समय में तानसेन का स्थान संगीत के क्षेत्र में बहुत ऊँचा था। दस्तकारी और वास्तुकला में मुसलमानों ने प्रचलित भारतीय पद्धति का अनुसरण किया। फिर भी इन कलाओं में तुर्की और ईरान का पर्याप्त प्रभाव था।

शिक्षा प्रणाली

मकतब में शिक्षा बहुत साधारण ढंग की दी जाती थी। यदि बालक ठीक तरह से बोल सकता था तो उसे 'कलमा' याद कराया जाता था। इसके बाद उसे कुरान की कुछ आयतें बतलाई जाती थीं।[1] जब बालक की उम्र सात वर्ष हो जाती थी तब उसे धार्मिक शिक्षा दी जाती थी और उसे पढ़ना-लिखना और साधारण गणित सिखाई जाती थी।[2] मकतब में अधिकतर मौखिक शिक्षा दी जाती थी।[3] अकबर ने शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करना आवश्यक समझा। प्रचलित ढंग की शिक्षा से बालकों को वर्णमाला सीखने में बहुत अधिक समय लगता था। इसीलिए उसने शिक्षा में सुधार किया, जिसकी विस्तृत जानकारी आईने अकबरी से मिलती है।[4] अकबर का कहना था कि प्रत्येक बच्चे को वर्णमाला का ज्ञान कराना चाहिए और उसका अभ्यास कराना चाहिए। इसके बाद उसे कविताओं को याद कराना चाहिए और ईश्वर प्रार्थना के गीत कंठाग्र कराना चाहिए। ऐसा करने से बालक एक महीने में उतना सीख लेगा जितना वह एक वर्ष में पढ़ता है।[5] इस प्रकार अकबर ने वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने की पद्धति का विकास किया।

अकबर द्वारा विकसित यह नयी पद्धति अधिक समय तक न चल सकी और धीरे-धीरे उसका ह्रास होने लगा। यही कारण था कि औरंगजेब ने शिक्षा में नये परिवर्तन की आवश्यकता समझी।[6] औरंगजेब ने भी देखा कि अरबी और फारसी के

1. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 108, 133
2. वही, पृ० 133
3. क्विन क्विनीयल रिव्यू ऑफ एजूकेशन इन इण्डिया, 1907-1912, पृ० 272; विलियम एडम, रिपोर्ट्स आन वर्नाक्यूलर एजूकेशन इन बंगाल, 1835-38 सम्पादित जे० लांग० 1863, पृ० 215
4. आईने अकबरी, जिल्द 2, आइन 25, उद्धृत युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 79
5. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 79-30; नदवी, मुस्लिम थाट एण्ड इट्स कोर्स, पृ० 117
6. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 98

अक्षरों को सीखने में बालकों को अधिक समय लगता था।[1]

उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी, वह भी प्रायः मौखिक होती थी। अध्यापक व्याख्यान देते थे और विद्यार्थियों को किताबों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता था। तिबी, रियाजी और इलाही वैज्ञानिक शिक्षा में प्रयोग करने की सुविधा थी।[2] विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षक व्यक्तिगत ध्यान देता था। कभी-कभी प्रखर बुद्धि वाले विद्यार्थियों की प्रगति रुक जाती थी जबकि उन्हें मन्द बुद्धि के विद्यार्थियों के साथ रहना पड़ता था।[3] यद्यपि मदरसों में योग्य और अनुभवी शिक्षक रखे जाते थे, फिर भी बौद्ध शिक्षा प्रणाली की तरह 'मानीटर' पद्धति प्रचलित थी।[4] इस व्यवस्था से शिक्षक की अनुमति से ऊँची कक्षा के विद्यार्थी निचली कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस व्यवस्था से शिक्षक को कठिन परिश्रम के बाद थोड़ा विश्राम मिल जाता था। पढ़ने और लिखने का कार्य अलग-अलग होता था। एक काम पूरा कर लेने के बाद ही दूसरा काम विद्यार्थी प्रारम्भ कर सकता था।[5]

अकबर इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि इससे बहुत समय नष्ट होता था। उसने इस दोष को दूर करने के लिए प्राचीन भारतीय पद्धति का अनुसरण किया और लिखने-पढ़ने का काम विद्यार्थियों से साथ-साथ लिया जाने लगा।[6] जिन मदरसों में धर्म, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र और राजनीति जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी वहाँ विश्लेषणात्मक तरीकों को प्रयोग में लाया जाता था। महत्वपूर्ण विषयों पर राजदरबारों में विद्वानों के बीच वाद-विवाद होता था।[7] फीरोज तुगलुक और अकबर के दरबार इस प्रकार के वाद-विवाद के लिए प्रसिद्ध थे।[8] मध्यकाल में स्वाध्याय की पद्धति भी प्रचलित थी। विद्यार्थी अकेले अध्ययन करते थे और समय-समय पर अपने शिक्षक से निर्देश प्राप्त करते थे। इस तरीके में तोते की तरह रटने की प्रक्रिया थी।[9]

---

1. वही, एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 131
2. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 20; कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 78; आईने अकबरी (ब्लाकमैन), जिल्द 1, द्वितीय संस्करण, पृ० 289
3. पी० एल० रावत, पृ० 99
4. वही।
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 99
6. वही, एस० एम० जाफर, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 77, 78, 89
7. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 99
8. वही।
9. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 136

मध्य युग में शिक्षा प्रणाली लचीली नहीं थी। यह अधिक कठोर और अनुत्पादक थी। समय-समय पर जो संशोधन शिक्षा प्रणाली में किये गये उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसकी सबसे बड़ी विफलता यह थी कि इसमें समयानुकूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता था।[1]

दण्ड

विद्यार्थियों को अपराध करने पर कठोर शारीरिक दण्ड दिया जाता था।[2] राज्य की तरफ से इस सम्बन्ध में कोई विधान न रहने के कारण शिक्षक दण्ड देने में अपने विवेक से काम लेते थे।[3] अनुशासन, सदाचार और विनम्रता विद्यार्थियों के विशेष गुण समझे जाते थे।[4] इसका उल्लंघन करने पर उन्हें बेंत या कोड़े लगाने का दण्ड दिया जाता था या घूँसों से पीटा जाता था। कभी-कभी अपराधी विद्यार्थी को मुर्गा बनाने की सजा भी दी जाती थी।[5]

पुरस्कार

अनुशासनहीनता के अपराध में विद्यार्थियों को कठोर दण्ड दिया जाता था, लेकिन इसके विपरीत योग्य और प्रखर बुद्धि वाले विद्यार्थियों को पुरस्कार देकर प्रोत्साहित किया जाता था। उन्हें 'सनद' और 'तमगा' सत्र के अन्त में दिया जाता था।[6] राज दरबार से भी विद्यार्थियों को पुरस्कार दिया जाता था। मदरसों से पढ़े हुए विद्यार्थियों को राज्य प्रशासन में ऊँचे पदों पर रखा जाता था।[7] प्रशासन में ये नियुक्तियाँ परीक्षकों की एक समिति द्वारा की जाती थीं, जिन्हें शैक्षणिक जगत में उच्च स्थान प्राप्त थे।[8] जिन विद्यार्थियों का उच्च पदों के लिए चयन हो जाता था उनके सिर पर 'अमामा' पगड़ी बाँधकर उनका विशेष सम्मान किया जाता था।[9]

---

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 97
2. उन पर जुर्माना नहीं किया जाता था। (एस० एम० जाफर, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 81)
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 99; फरिश्ता (ब्रिग्स), जिल्द 4, पृ० 265
4. एस० एम० जाफर, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 80
5. वही, एजूकेशन, पृ० 26
6. वही, कल्चरल ऐस्पेक्ट्स, पृ० 81
7. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 100
8. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 4
9. वही।

मदरसे में परीक्षा पूरी कर लेने के बाद शैक्षणिक विशेषता की सनद दी जाती थी, जिसे 'दस्तरबन्दी' कहते थे।[1] स्नातक के सिर पर एक पगड़ी बाँधी जाती थी। शेख निजामुद्दीन औलिया ने जब अपनी शिक्षा पूरी कर लिया तो उनके गुरु मौलाना अलाउद्दीन उसीली ने औलिया के सिर पर पगड़ी बाँधी। इस अवसर पर एक भोज भी दिया गया।[2] कुछ धनी वर्ग के लोग भी विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने के लिए वजीफे देते थे।

विशेष शिक्षा की व्यवस्था

स्त्री-शिक्षा[3]

इस्लामी समाज में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ मकतबों और मदरसों में अध्ययन के लिए नहीं जा सकती थीं।[4] लड़कियाँ केवल उस क्षेत्र की मसजिद से संलग्न मकतब में जाती थीं जिनका उद्देश्य साधारण ढंग से लिखना और पढ़ना होता था। मध्य युग में स्त्रियों की शिक्षा के लिए विधिवत कोई संस्थाएँ नहीं थीं। कुछ संस्थाएँ केवल नगरों में ही थीं। साधारणतः स्त्री-शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसीलिये मुस्लिम स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ी थीं।

मुगल काल में स्त्री-शिक्षा के लिये संस्थाएँ खोलने का प्रयास किया गया। राज-परिवार और अभिजात वर्ग की स्त्रियों के लिये उनके घरों में पढ़ने की सुविधाएँ थीं। सम्भवतः मध्यम वर्ग के परिवार की लड़कियाँ लड़कों के साथ प्रारम्भिक शिक्षा मकतबों में या घरों में व्यक्तिगत रूप से प्राप्त करती थीं।[5] लड़कियों के लिये पाठ्यक्रम में धार्मिक पुस्तकें और गृह-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी।[6]

राज परिवार की कुछ स्त्रियाँ साहित्य और संगीत में कुशल थीं। इल्तुतमिश की पुत्री रजिया एक विदुषी और रणकुशल महिला थी। बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' लिखा। सलीमा, नूरजहाँ, मुमताज और जहाँनारा बेगम की साहित्य में विशेष रुचि थी। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा अरबी और फारसी भाषाओं में पारंगत

1. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 153
2. हमाद कलन्धर, खैरुल मजलिस, पृ० 190-91। उद्धृत ए० रशीद, पृ० 153
3. देखिये, अध्याय 3
4. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 4
5. पी० एल० रावत०, आपसिट, पृ० 100
6 एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 187-98

थी एवं वह कवयित्री भी थी।[1] उसने दीवाने मखफी नामक की पुस्तक लिखी।

ललित कला तथा दस्तकारी की शिक्षा

मुस्लिम शासकों का अधिकतर समय युद्धों में बीता। शान्ति के समय में उन्होंने साहित्य, कला और वास्तुकला के विकास में अपना योगदान दिया। मुसलमानों ने हिन्दू दस्तकारी को अपनाया। इसमें कुछ प्रकार की दस्तकारी में काफी प्रगति हुई और सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाने लगीं, जैसे हाथी दाँत[2], आभूषण और बेलबूटें।[3] राजदरबार और अभिजात वर्ग द्वारा दस्तकारी की कला को संरक्षण मिला। बहुत से कारखाने देश में थे, जहाँ कारीगरों और कलाकारों को प्रशिक्षण दिया जाता था।[4] मुस्लिम शासक और अभिजात वर्ग के लोग आराम का जीवन व्यतीत करते थे, इसीलिए विलास और कला की वस्तुओं की अधिक माँग थी। संगीत व चित्रकला की अधिक उन्नति हुई। मुगल सम्राटों ने विशेष कर संगीतज्ञों और चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया और उन्हें उचित प्रोत्साहन दिया। संगीत और कला की शिक्षा देने के लिए योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की गई। नृत्य कला को भी मुगल शासकों ने प्रोत्साहित किया। वास्तु कला की अधिक उन्नति हुई। आगरा का ताजमहल वास्तु कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

मध्यकाल में सैनिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया। राज-परिवार के सदस्यों को सैनिक शिक्षा देने के लिए संस्थाएँ स्थापित की गई जहाँ घुड़सवारी, तलवार चलाना, भाला चलाना, घेरा डालना आदि की शिक्षा दी जाती थी। साधारण सैनिकों को भी इसी तरह की शिक्षा दी जाती थी।[5]

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध

इस्लामी शिक्षा पद्धति में गुरु का सम्मान किया जाता था। उसकी ईमानदारी पर कोई सन्देह नहीं कर सकता था। यद्यपि उनको कम वजीफा मिलता था, परन्तु समाज के सभी वर्गों के लोग उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे।[6] गुरु अपने शिष्यों

---

1. एडवर्ड्स एण्ड गैरेट, आपसिट, पृ० 233
2. इलियट, जिल्द 1, पृ० 28, 35
3. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 290
4. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 12-13
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 101-2
6. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 4

को अपने पुत्रों को तरह समझते थे और इस प्रकार इन्होंने प्राचीन भारतीय पद्धति को अपनाया ।[1]

हमीद कलंदर ने लिखा है कि बदायूँ का मौलाना अलाउद्दीन उसूली सभी विद्यार्थियों को जो उनके पास जाते थे निःशुल्क शिक्षा देते थें। गुरु यद्यपि आर्थिक संकट में जीवन व्यतीत करते थे, फिर भी वे अपनी उस समय की आवश्यकता के अनुसार ही अनुदान स्वीकार करते थे ।[2] एक दिन वे क्षुधा से पीड़ित थे और कुछ न रहने पर तेल के बीज की भूसी खा रहे थे। इतने में एक नाई आया, मौलाना के छिपाने पर भी नाई को वास्तविक स्थिति का पता लग गया। उसने एक धनी व्यक्ति से मौलाना की निर्धनता के विषय में बतलाया। उस धनी व्यक्ति ने कई मन आटा, घी और कुछ मुद्रा भेजी परन्तु मौलाना ने उसे स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत मौलाना ने अपनी अप्रसन्नता नाई पर प्रकट की ।[3] ख्वाजा शम्सुद्दीन अपने विद्यार्थियों को छज्जे से पढ़ाते थे, जिससे सभी विद्यार्थी उनके व्याख्यान को सुन सकें। जब भी कोई विद्यार्थी नहीं आता था तो वह बड़े प्रेम से उसके न आने का कारण पूछते थे ।[4] दिल्ली के बड़े विद्वान् बुरहानुद्दीन नसफी ने विद्यार्थियों को तीन शर्तों पर शिक्षा देना स्वीकार किया—प्रथम वह दिन में एक बार भोजन करेगा, द्वितीय उसे नियमित रूप से कक्षा में आना होगा और वह उसके पैर नहीं छूयेगा। अभिवादन के लिए उसे केवल 'उस सलाम वालाये कुम' कहना होगा ।[5] अमीर खुसरो ने अपने एक पुत्र को सलाह दी कि यदि वह जीवन में सुखी रहना चाहता है तो उसे अपने गुरु की तन, मन, धन से सेवा करनी पड़ेगी ।[6] बर्नी ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलुक अपने गुरु कुतलु खाँ का बड़ा सम्मान करता था ।[7] पुराने विद्यार्थी अपने जीवन में स्थिर होने पर अपने गुरुओं को समय-समय पर भेंट भेजते थे। मौलाना बद्रुद्दीन ने अपने गुरु को एक अँगूठी भेजी थी ।[8] कुछ विद्यार्थी प्रतिदिन अपने गुरु को भेंट भेजते थे, चाहे वह

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 103
2. खैरुल मजलिस, पृ० 190
3. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 160
4. वही ।
5. फवादुल फवाद, पृ० 158
6. वाहिद मिर्जा, अमीर खुसरो, पृ० 33
7. बर्नी, पृ० 506
8. ए० रशीद, पृ० 161

भेंट कितनी साधारण क्यों न हो।[1]

मकतबों में पढ़ने वाले विद्यार्थी अपने गुरुओं के सम्पर्क में उस समय आते थे जब वे निर्धारित रूप से मकतबों में दिन के समय जाते थे।

कुछ मदरसों में विद्यार्थियों को छात्रावास में रहने की सुविधा प्राप्त थी। वहाँ गुरु और शिष्य एक ही साथ रहते थे।[2] विद्यार्थी को अपने गुरु के समीप रहने का लाभ मिलता था।[3] गुरु के सामने सबसे बड़ी कठिनाई अनुशासन लागू करने की थी। शिष्य अपने ज्ञान के विकास के लिये गुरु द्वारा अपनाये गये तरीकों को प्रयोग में लाता था।[4] यही सिद्धान्त प्रशैक्षणिक और तकनीकी शिक्षा के लिए माना जाता था।[5] दस्तकारी सीखने के उत्सुक लोग अपने गुरु के साथ सदैव रहते थे, जिससे वे कुशल कारीगर बनने का रहस्य उनसे जान लें।[6] मध्य युग में परीक्षा की कोई नियमित प्रणाली नहीं थी। गुरु अपने शिष्य को उसकी योग्यता के अनुसार अगली कक्षा में प्रवेश दे देता था।[7] शैक्षणिक विशिष्टता के प्रमाणपत्र विद्यार्थियों को उनकी रुचि के अनुसार दिये जाते थे जैसे, तर्क और दर्शन-शास्त्र में पारंगत विद्यार्थियों को फाजिल, धर्म-शास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त करने पर 'आलिम' और साहित्य में ज्ञान प्राप्त करने पर काबिल की उपाधियाँ दी जाती थीं।[8] शिष्य के लिये गुरु की सेवा करना परम कर्तव्य माना जाता था। लोगों का ऐसा विश्वास था कि वास्तविक ज्ञान गुरु के आशीर्वाद से ही प्राप्त हो सकता था।[9] लेकिन शिष्य के अन्दर गुरु के लिये त्याग करने की भावना, धीरे-धीरे विलीन होता जा रही थी। औरंगजेब ने जो अपमानजनक व्यवहार अपने गुरु के साथ किया, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गुरु के प्रति शिष्य का आदर कम हो गया था।[10]

---

1. ए० रशीद, पृ० 161।
2. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 74; हौजे खास के समीप मदरसाये फीरोजशाही में विद्यार्थियों और शिक्षकों के रहने के लिये कमरे बनाये जाते थे; वही।
3. वही, पृ० 91
4. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 91
5. वही।
6. वही।
7. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 162; युसुफ हुसेन, पृ० 92
8. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 92
9. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 103
10. वही, पृ० 103-4

छात्रावास

मकतब के विद्यार्थियों के लिये छात्रावास की सुविधा नहीं थी। छात्रावास केवल मदरसों में ही होते थे। मदरसे और छात्रावास के खर्च के लिये कभी-कभी बड़ी जागीरें सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती थीं। धनी वर्ग के लोग भी मदरसों और छात्रावासों के लिये धन दान करते थे। अल्लामा शिबली ने एक मदरसे के विषय में लिखा है कि उसके अन्दर अस्पताल, छात्रावास और एक तालाब था। उस छात्रावास में 240 विद्यार्थियों को प्रवेश मिला था और उन्हें मदरसे की तरफ से कमरे, दरियाँ, भोजन, कागज, कलम और तेल उपलब्ध होते थे। उनके दैनिक भोजन के साथ फल और मिठाई की भी व्यवस्था थी।[1] उन्हें वजीफे के तौर पर एक सोने की अशर्फी प्रतिमास दी जाती थी। फीरोज तुगलुक ने विशाल मदरसों का निर्माण कराया था, जिसके विस्तृत अहाते में छात्रावास, सुन्दर बाग, झरने और तालाब होते थे और जिसके अन्दर सैकड़ों विद्यार्थी एक साथ शिक्षा प्राप्त कर सकते थे।[2]

इब्नबतूता ने एक ऐसे मदरसे का उल्लेख किया है जिसके अन्दर 300 कमरे थे, जहाँ विद्यार्थीगण प्रतिदिन कुरान का अध्ययन करते थे और उन्हें प्रतिदिन खाने और कपड़े के लिये वार्षिक भत्ता मिलता था।[3] एक मदरसा जहाँ इब्नबतूता ने वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ के विद्यार्थियों को प्रतिदिन स्वादिष्ट—मुर्ग, चपातियाँ, पोलाव, खोर्मा और एक तश्तरी मिठाई दिया जाता था। यात्रा के दौरान वह उन्हीं छात्रावासों में टिकता था।[4]

प्राचीन वैदिक काल के आश्रमों और बौद्ध विहारों की अपेक्षा मध्य युग में छात्रावास का जीवन सुखद और सुविधाजनक था। प्राचीन काल की तरह इस युग में कठोर अनुशासन नहीं था। जो वस्तुएँ जैसे—दरी, कोर्मा, तेल और मिठाई प्राचीन काल में वर्जित थीं, उनका मध्य युग में विद्यार्थीगण उपयोग करते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी उन आश्रमों में विद्या प्राप्त करने जाते थे जो बस्ती से दूर स्थित थे। वहाँ उनको आत्मसंयम और कठोर अनुशासन की शिक्षा दी जाती थी। इसके विपरीत इस्लामी शिक्षा पद्धति में छात्रावास नगरों के किनारे बनाये जाते थे, जहाँ उन्हें सारी सुविधाएँ उपलब्ध थीं।

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 104
2. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 51
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 105
4. वही, पृ० 105

शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

प्रारम्भिक शिक्षा मकतबों में दी जाती थी, जो गाँव, नगर और मुहल्ला के मसजिदों से संलग्न होते थे। देश के सभी भागों में मसजिदों का निर्माण हुआ। उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी, जो अधिकतर नगरों में थे। कोई नगर शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन सकता था, यदि वह मुस्लिम शासक की राजधानी हो या किसी जागीरदार, प्रशासक या विशिष्ट अमीर का निवास स्थान हो। धार्मिक महत्व के स्थान—दरगाह या खानकाह भी शिक्षा के केन्द्र बन गये।[1] इस प्रकार आगरा, इलाहाबाद, फतेहपुरसीकरी, दिल्ली, जौनपुर, लाहौर, अजमेर, पटना, लखनऊ, फिरोजाबाद, जलंधर, मुल्तान, बीजापुर, हैदराबाद, अहमदाबाद इस्लामी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने।[2] कुछ गाँव जैसे सहाली और बिलग्राम जो लखनऊ के समीप थे और अवध के गोपामऊ और खैराबाद ग्राम शिक्षा के प्राचीन केन्द्र थे।[3]

आगरा जिसे सिकंदर लोदी ने बसाया था, शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। सिकंदर लोदी ने वहाँ सैकड़ों मदरसों की स्थापना की। अरब, ईरान और बुखारा से बहुत से विद्वान् यहाँ आये और उन्हें राजकीय संरक्षण मिला।[4] बाबर ने भी यहाँ मदरसे स्थापित किये। अकबर के शासनकाल में आगरा इस्लामी शिक्षा, संस्कृति, कला और दस्तकारी का महत्वपूर्ण केन्द्र बना। देश के भिन्न-भिन्न भागों से विद्वान् और दार्शनिक यहाँ आये। अकबर स्वयं विद्वानों की गोष्ठी में सम्मिलित होता था। अकबर ने कई मदरसे आगरा और फतेहपुरसीकरी[5] में स्थापित किये। यहाँ मध्य एशिया से आये हुए विद्यार्थियों के रहने और भोजन की व्यवस्था थी।[6] अकबर के शासनकाल में आगरा शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र बना। जहाँगीर और शाहजहाँ ने

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 111
2. वही, एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 148
3. एम० के० दास, दि एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दि एन्शियण्ट हिन्दूज, पृ० 381-83; मौलवी अबुल हसनत नदवी, हिन्दुस्तान की कादिम इस्लामी (उर्दू) पृ० 36, 38; एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 17
4. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 57-58
5. अकबर ने फतेहपुरसीकरी का निर्माण किया। यह आगरे से 5 मील की दूरी पर है।
6. अकबर के शासनकाल को आगरा में शिक्षा के विकास का 'सुनहरा युग' कहा जाता है। (पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 111)

भी आगरे में मदरसे स्थापित किये। औरंगजेब ने प्रारम्भिक और धार्मिक शिक्षा का विकास किया। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही आगरे की शिक्षण संस्थाओं का ह्रास होने लगा।

दिल्ली मुस्लिम शासकों की राजधानी रही। मुस्लिम शासकों ने इसे शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बनाने का प्रयास किया। नासिरुद्दीन महमूद ने नासिरिया मदरसे की स्थापना की, जिसका मुतवल्ली (प्राचार्य) 'तबकाते नासिरी' के लेखक मिनहाजुस-सिराज को बनाया।[1] अलाउद्दीन खल्जी के समय में बहुत से विद्वान् और दार्शनिक दिल्ली आये।[2] फरिश्ता ने लिखा है कि 43 प्रख्यात विद्वान् अलाउद्दीन द्वारा स्थापित मदरसों में पढ़ाने के लिए नियुक्त किये गये।[3] फीरोज तुगलुक ने यहाँ 30 मदरसों की स्थापना की।[4] मुगल काल में दिल्ली शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बना। हुमायूँ ने भूगोल और नक्षत्रशास्त्र के अध्ययन के लिए यहाँ एक मदरसा स्थापित किया। अकबर ने भी दिल्ली में कई मदरसे स्थापित किये। सन् 1561 में महाम अंगा ने एक मदरसा खोला।[5] मुंतखवुततवारीख के लेखक अब्दुल कादिर बदायुँनी ने इसी मदरसे में शिक्षा प्राप्त की थी।[6] जहाँगीर ने दिल्ली के सभी पुराने मदरसों की मरम्मत कराई। शाहजहाँ ने जामा मसजिद के समीप एक नये मदरसे का निर्माण कराया। औरंगजेब ने भी शिक्षा के विकास के लिए कार्य किया। मुगल साम्राज्य के पतन और नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों के कारण शिक्षा के क्षेत्र में दिल्ली की ख्याति समाप्त हो गई। दिल्ली दीर्घकाल तक इस्लामी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था।

दिल्ली के सुल्तानों के शासनकाल में जौनपुर इस्लामी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था।[7] फीरोज तुगलुक के समय में यहाँ बहुत से मदरसे स्थापित किये गये। जौनपुर

1. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 25
2. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 110; एस० एम० जाफर, एजूकेशन पृ० 44; एन० एन० ला, पृ० 30-41
3. फरिश्ता, जिल्द 1, पृ० 462
4. वही, 464-65; नदवी, आपसिट, पृ० 20; एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 49-52
5. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 116; नदवी, आपसिट, पृ० 22; एस० एम० जाफर, पृ० 134
6. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 112
7. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 91-113; नदवी, आपसिट, पृ० 40-42

को 'शीराजे हिन्द' कहा जाता था।[1] इब्राहीम शार्की (1402-40) ने शिक्षा के विकास के लिए काफी योगदान दिया। उसने शिक्षा संस्थाओं के लिए बड़ी जागीरों की आय निर्धारित की और योग्य विद्यार्थियों को जागीरें देकर प्रोत्साहित किया।[2] शेरशाह सूर ने यहाँ शिक्षा प्राप्त की।[3] यहाँ राजनीति, इतिहास, दर्शन और सैनिक शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी।[4] मुगल साम्राज्य के पतन के कारण जौनपुर में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई जिससे शिक्षण संस्थाओं का ह्रास हुआ। जौनपुर की तुलना दमिश्क, बगदाद, निशापुर, काहिरा आदि मुस्लिम विश्वविद्यालयों से की जाती थी। जहाँ विद्यार्थियों और शिक्षकों के खर्च के लिए सरकार की तरफ से अतुल धनराशि निर्धारित थी।[5]

बीदर शिक्षा के लिये अधिक प्रसिद्ध था। महमूद गवाँ ने एक मदरसा यहाँ स्थापित किया जिसमें एक विशाल ग्रंथालय की व्यवस्था की गयी थी जिसमें 3 हजार पुस्तकें थीं।[6] औरंगजेब ने बाद में इसे नष्ट कर दिया।[7] बीदर में शिक्षा के विकास के कारण बहमनी राज्य में शिक्षा का स्तर काफी ऊँचा हो गया था। ग्रामीण मकतबों द्वारा यहाँ अरबी और फारसी की शिक्षा का प्रसार किया गया। ऐसा कोई गाँव नहीं था, जहाँ एक मकतब न हो।[8]

मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं में उच्च शिक्षा के लिए शिक्षकों की एक विशिष्ट श्रेणी थी।[9] मध्य काल में जब मुस्लिम शिक्षा की प्रगति अपनी चरम सीमा पर थी, देश में बहुत अनेक प्रख्यात विद्वान् थे।[10] कुछ स्थान विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रसिद्ध थे।[11] उदाहरण के लिए पंजाब नक्षत्र शास्त्र और गणित, दिल्ली इस्लाम की

---

1. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 148
2. वही।
3. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 238; नदवी, आपसिट, पृ० 40
4. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 148
5. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 104-5
6. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 121-26; एफ० ई० कीय, पृ० 159
7. एफ० ई० कीय, पृ० 149
8. जे० एन० सेन, हिस्ट्री आफ एलिमेण्ट्री एजूकेशन इन इण्डिया, पृ० 27
9. नदवी, आपसिट, पृ० 104
10. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 149
11. नदवी, आपसिट, पृ० 104

परम्पराओं, रामपुर तर्क शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र और लखनऊ सदाचार की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे।[1] इस्लाम की उच्च शिक्षा अरबी में और हिन्दू धर्म की संस्कृत में दी जाती थी।[2]

मध्ययुग में हिन्दू शिक्षा व्यवस्था

इस्लामी शिक्षा प्रणाली ने हिन्दुओं को बहुत कम प्रभावित किया। प्राचीन हिन्दू शिक्षा प्रणाली और शिक्षा पद्धति मध्ययुग में साथ-साथ प्रचलित रहीं। भारत की मुस्लिम शिक्षा संस्थाओं को उतनी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति नहीं मिली, जितनी बौद्ध विश्व-विद्यालयों को चीन, जापान, तिब्बत और पूर्वी द्वीप समूह में मिली थी। इस्लामी शिक्षण संस्थाओं का प्रभाव केवल क्षेत्रीय था। निस्सन्देह जौनपुर, आगरा और दिल्ली की शिक्षण संस्थाओं का स्तर बहुत ऊँचा था।

हिन्दुओं का सामाजिक आधार ठोस होने के कारण इस्लामी शिक्षा व्यवस्था प्रभावित न कर सकी।[3] राजनैतिक उथल-पुथल केवल नगरों तक सीमित रहती थी। नगरों में हिन्दू शिक्षा व्यवस्था को इस काल में बड़ा आघात पहुँचा। परन्तु गाँवों और जंगलों में हिन्दू शिक्षण संस्थाएँ बिना किसी व्यवधान के कार्य करती रहीं।[4] इसके अतिरिक्त कुछ सन्त, दार्शनिक और सेनाधिकारियों ने हिन्दू शिक्षा पद्धति और संस्कृति को बनाये रखने के लिए अपनी आवाज उठाई। अराजकता के इस युग में हिन्दुओं ने उच्चकोटि के साहित्य को बनाये रखा।

हिन्दुओं की शिक्षा व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। विद्यार्थियों को वेद, पुराण, स्मृति, उपनिषद, दर्शनशास्त्र और भेषज की शिक्षा अध्यापक अपने-अपने आश्रमों में देते थे। मुसलमानों द्वारा हिन्दू-शिक्षण संस्थाओं को क्षति पहुँचाने के कारण हिन्दुओं की शिक्षा प्रणाली सामूहिक नहीं रह गई। शिक्षा का विकेन्द्रीकरण हो गया और व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दी जाने लगी।[5] विद्यार्थी कठोर अनुशासन में रह कर अपने गुरुओं की सेवा करते थे। ऐसा समझा जाता है कि प्राचीन काल की अपेक्षा

1. एफ० ई० कीय, आपसिट, पृ० 149
2. वही।
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 114
4. वही।
5. वही पृ० 115

मध्ययुग में अनुशासन उतना कठोर नहीं था ।[1]

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि क्षेत्रीय भाषाओं की अधिक प्रगति हुई । हिन्दी, जिसका विकास प्राकृत भाषा से हुआ था, जनसाधारण की भाषा हो गई ।

कबीर, दादू, नानक और तुलसीदास जैसे कुछ संत कवियों ने सभी धर्मों की एकता और समानता पर बल दिया । उन्होंने सभी धर्मों का आदर करने के लिए उपदेश दिये । जिससे विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने में सहायता मिली ।

शिक्षा प्रणाली के उद्देश्य और पाठ्यक्रम को देखने से पता चलता है कि मध्ययुग में हिन्दू शिक्षा पद्धति उसी प्रकार की थी जैसी प्राचीनकाल में थी । बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का ह्रास हो चुका था, और उसका स्थान ब्राह्मण-शिक्षा ने ले लिया था । शिक्षा धर्म निरपेक्ष होते हुए भी प्रधानतः धार्मिक थी ।[2] इस काल में साहित्य की विशेष उन्नति हुई । हिन्दू शिक्षा-केन्द्र उन्हीं स्थानों में थे जो मुसलमानों के प्रभाव से दूर थे ।[3]

हिन्दू शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बनारस, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या, नादिया, मिथिला और कश्मीर में श्रीनगर थे ।[4] बर्नियर ने बनारस की तुलना यूनान की राजधानी एथेन्स से की है । उसने लिखा है कि यहाँ पर नियमित रूप से शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं । विद्यार्थी अपने अध्यापक से शिक्षा प्राप्त करते थे । प्रत्येक गुरु के चार या पाँच शिष्य होते थे । और वे लगभग 10 या 12 वर्षों तक शिक्षा ग्रहण करते थे ।[5] यद्यपि बर्नियर ने बनारस में संस्थाओं को नहीं देखा, परन्तु वहाँ नियमित रूप से संचालित संस्थाएँ थीं जैसा कि दूसरे यूरोपीय यात्री ट्रेवर्नियर ने लिखा है । वह 1665 ई० में बनारस आया । इसने राजा जयसिंह द्वारा स्थापित कालेज की सराहना की है ।[6]

---

1. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ०117; इसके विपरीत मत के लिये देखिये—गिब और बोवेन, इस्लामिक सोसाइटी एण्ड दि वेस्ट, जिल्द 1, भाग 2, पृ० 139
2. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 115
3. वही ।
4. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 110
5. बर्नियर, ट्रेवेल्स, कान्सटेवल, पृ० 334, 341
6. ट्रेवर्नियर, ट्रेवेल्स, जिल्द 2, पृ० 234-35

बंगाल में नादिया शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था, दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने आते थे। यहाँ न्याय दर्शन में विशेष ज्ञान प्राप्त करने लोग आते थे। 16 वीं सदी में वृन्दावन दास ने लिखा है कि नादिया में विख्यात विद्वानों और अध्यापकों का आश्रम था।[1] नादिया में तत्व चिन्तामणि, गीता, भागवत और दूसरे विषय जैसे ज्ञान और भक्ति की शिक्षा दी जाती थी।[2] मिथिला शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था।[3] शाहजहाँ के समय में दो मैथिली विद्वान् हिन्दी और संस्कृत में प्रवीण थे।[4]

यद्यपि हिन्दू शिक्षा व्यवस्था को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था, फिर भी उसका शैक्षणिक स्तर गिरा नहीं था। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों से पीछे नहीं थे। इस युग में संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं की अधिक प्रगति हुई। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दुओं ने मुसलमानों की प्रधानता स्वीकार नहीं की, यद्यपि इस्लाम और इस्लामी शिक्षा-प्रणाली ने हिन्दुओं को अत्यधिक प्रभावित किया।[5] इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में मध्ययुग में धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की असाधारण प्रगति हुई। दर्शनशास्त्र की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गयीं। बौद्ध और जैन विद्वानों ने तर्कशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखीं। देवसूरी प्रसिद्ध जैन विद्वान् था। 12वीं सदी में कल्हण ने राजतरंगिणी लिखी। इन साहित्यिक कृतियों को देखने से पता चलता है कि इस युग में हिन्दुओं की शिक्षा-पद्धति उच्चकोटि की थी।

हिन्दू शिक्षण संस्थाएँ तीन वर्गों में बँटी हुई थीं—

(i) पाठशाला, जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी।

(ii) टोल या कालेज, जहाँ उच्च शिक्षा दी जाती थी।

(iii) व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाएँ।[6]

---

1. वासुदेव सार्वभौम मिथिला से गणेश की तत्व चिन्तामणि ले आये और उन्होंने उसके अध्ययन के लिये नादिया में एक अलग संस्था स्थापित की। रघुनाथ शिरोमणि ने एक टीका तत्व चिन्तामणि पर लिखा और न्याय दर्शन के अध्ययन के लिये अलग संस्था स्थापित की।
2. विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० 461-86
3. आईने अकबरी, प्रथम संस्करण, जिल्द 2, पृ० 162, 354
4. बादशाहनामा, जिल्द 1, पृ० 268-69
5. जे० एच० काजिन्स, एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, ईस्टर्न टाइम्स, दिनांक 7-6-1935
6. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 110

पाठशालाओं में पढ़ना, लिखना और गणित की शिक्षा दी जाती थी और साथ में धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। परन्तु पाठ्यक्रम में कोई विशेष धार्मिक पुस्तकें निर्धारित नहीं थीं क्योंकि धार्मिक क्षेत्र अधिक विस्तृत था, और विभिन्न विचारधाराएँ कुछ धार्मिक पुस्तकों जैसे—वेद, उपनिषद या भगवद्गीता में सीमित नहीं की जा सकती थीं।[1] पाठ्यक्रम में काव्य, व्याकरण, ज्योतिष छन्द, निरुक्त, न्याय दर्शन आदि विषयों के अध्ययन की व्यवस्था थी। अकबर ने संस्कृत पाठशालाओं में विद्यार्थियों को व्याकरण, न्याय, वेदान्त और पातंजलि के अध्ययन पर अधिक बल दिया।[2] कुछ संस्थाओं में पुराण, वेद, दर्शनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की शिक्षाएँ भी दी जाती थीं।[3]

हिन्दी और दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ। विद्यार्थियों ने धार्मिक और सदाचार की पुस्तकों का अध्ययन करने के लिये संस्कृत भाषा सीखी। पाली और प्राकृत का विकास हिन्दी भाषा के रूप में हुआ। राजस्थानी, मराठी, गुजराती और बंगाली भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। इन भाषाओं में उच्च-स्तरीय पुस्तकें भी इस काल में लिखी गईं। हिन्दू शिक्षा केवल उत्तर भारत तक ही नहीं सीमित रही, बल्कि दक्षिण में भी यह प्रचलित थी। विजयनगर दक्षिण में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ के राजा कृष्णदेव राय ने शिक्षा और साहित्य के विकास में अत्यधिक योगदान दिया। उन्होंने विद्वानों को सम्मानित और प्रोत्साहित किया।

कृष्णदेव राय के समय में संगीत, नृत्य, नाटक, व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन-शास्त्र और अन्य विषयों पर बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं। चित्रकला, मूर्तिकला और अन्य ललित कलाओं को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। इस युग में जैन विद्वानों ने तमिल और कन्नड़ भाषाओं में निबन्ध लिखे।[4] दक्षिण में 13वीं और 14वीं सदी में शैव आन्दोलन के कारण बहुत सी साहित्यिक पुस्तकें लिखी गईं। संस्कृत और तेलुगु भाषाओं में अनेक पुस्तकें लिखीं गईं। सायण और उसके भाई माधव विद्यारण्य ने संस्कृत साहित्य पर अनेक पुस्तकें लिखीं। इन दोनों भाइयों ने वेदों

---

1. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 109
2. आईने अकबरी, ब्लाकमैन, पृ० 278
3. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 110
4. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 116

पर टीकाएँ लिखीं और बहुत से दार्शनिक ग्रन्थ तैयार किये ।[1]

अतः स्पष्ट है कि मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू शिक्षण-संस्थाओं को प्रोत्साहन न मिलने पर भी हिन्दू-शिक्षा और साहित्य का विकास हुआ । हिन्दू शिक्षा-पद्धति वेदों पर आधारित थी । शिक्षा के प्राचीन उद्देश्यों और आदर्शों को बनाये रखा गया । यह शिक्षा-प्रणाली भारत में अंग्रेजों के शासनकाल में और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ने के कारण समाप्त हो गई ।

मध्ययुगीन शिक्षा-प्रणाली के गुण तथा दोष

गुण

इस्लामी शिक्षा ने धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक शिक्षा में सामंजस्य स्थापित किया ।[2] इस्लाम दूसरे संसार के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता, इसलिए भौतिक और सांसारिक सुखों पर अधिक महत्व दिया गया । विद्वानों ने धर्म-निरपेक्ष शिक्षा पर बल दिया और साथ ही धार्मिक रूढ़ियों को आवश्यक बताया है । यही कारण था कि शिक्षा को धर्म ने अत्यधिक प्रभावित किया । मुहम्मद साहब ने प्रत्येक सच्चे मुसलमान को जन्म से मृत्यु तक ज्ञान प्राप्त करने पर जोर दिया । फीरोज तुगलुक, अकबर और औरंगजेब ने व्यावहारिक शिक्षा पर अधिक बल दिया । प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता थी । जो विद्यार्थी अपनी पढ़ाई पूरी कर लेते थ उनको योग्यतानुसार इन पदों पर रखा जाता था ।[3] दस्तकारी, कृषि, चिकित्साशास्त्र, वाणिज्य और दूसरे व्यावहारिक उपयोगिता के विषयों की शिक्षा दी जाती थी ।

शिक्षा केवल शिक्षा के विकास के लिए नहीं थी, बल्कि इसका व्यावहारिक पक्ष काफी मजबूत था ।[4] शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना था । औरंगजेब ने राजकुमारों की शिक्षा को व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया । उसके अनुसार प्रशासन, इतिहास, भूगोल, सैनिक शिक्षा और नागरिक शास्त्र की शिक्षा राजकुमारों के लिए शब्दों को रटने की अपेक्षा अधिक उपयोगी थी ।

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 116
2. देखिये, एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 12-15
3. वही, एजूकेशन, पृ० 4
4. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 106

इस्लाम शिक्षा पर बड़ा जोर देता है।[1] कुरान के अनुसार "जो शिक्षा प्राप्त करता है वह ईश्वर का सच्चा भक्त है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति सत्य और असत्य में भेद कर सकता है। यह स्वर्ग के मार्ग को आलोकित करता है। यह रेगिस्तान में हमारा मित्र है·····।"[2] इस प्रकार धार्मिक पृष्ठभूमि ने शिक्षा को विश्वव्यापी और अनिवार्य होने में बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त भौतिक सुख को प्राप्त करने के लिए भी शिक्षा को आवश्यक समझा गया।[3]

इस्लामी शिक्षा की एक और विशेषता यह थी कि साहित्य और इतिहास लेखन को प्रोत्साहन मिला। इस युग में बहुत से ऐतिहासिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। मुसलमानों के भारत में आने के पहले देश का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। केवल कल्हण की राजतरंगिणी इतिहास की श्रेणी में रखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों ने इतिहास को आत्मकथाओं के रूप में लिखा और विशिष्ट इतिहासकारों को संरक्षण प्रदान किया। मुसलमान कला के पारखी थे, अतः उन्होंने इसीलिए गद्य, पद्य, कथा, कविता को पाठ्य सूची में सम्मिलित किया।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की तरह इस्लामी शिक्षा प्रणाली में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध बहुत निकट थे। मकतबों और मदरसों के अध्यापक व्यक्तिगत विद्यार्थियों की शिक्षा पर ध्यान देते थे।[4] यही कारण था कि योग्य और अनुभवी व्यक्ति के लिये अपनी योग्यतानुसार पद प्राप्त करने के अनेक अवसर उपलब्ध थे।

दोष

इस्लामी शिक्षा प्रणाली का मुख्य दोष यह था कि इसमें भौतिकवाद पर अधिक बल दिया गया और अध्यात्मवाद की अवहेलना की गई। यद्यपि कुरान का अध्ययन प्रारम्भिक शिक्षा में अनिवार्य रखा गया, लेकिन शिक्षा में अध्यात्मवाद का स्थान वैसा नहीं था जैसा प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में था। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य पदों को प्राप्त करना था। भौतिक लाभ की लालसा के कारण विद्यार्थियों को गहन अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।[5]

इस शिक्षा प्रणाली का दूसरा दोष यह था कि मकतबों और मदरसों की शिक्षा

---

1. अमीरअली, स्पिरिट ऑफ इस्लाम, 360
2. वही।
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 107
4. एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 9-10
5. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 108

अधिक समय तक सुचारु रूप से नहीं चल सकती थी ज्योंही आर्थिक संकट आता था शिक्षा संस्थाएँ बन्द हो जाती थीं और उन भवनों में जानवरों और चिड़ियों का बसेरा हो जाता था।[1]

इस्लामी शिक्षा संस्थाओं में फारसी और अरबी भषाओं की प्रधानता थो, जिसके कारण क्षेत्रीय भाषाओं का विकास न हो सका। हिन्दुओं ने भी इन संस्थाओं में फारसी और अरबी का अध्ययन किया, जिसमें उन्हें राज्य प्रशासन में नौकरी मिल सके।[2] अकबर ने फारसी के साथ-साथ हिन्दी भाषा के विकास की योजना बनाई, परन्तु वह कार्यान्वित न की जा सकी। औरंगजेब ने फारसी और अरबी भाषा के शब्द रटने और व्याकरण के अध्ययन का विरोध किया, क्योंकि इसमें अधिक समय व्यर्थ में नष्ट होता था। उसने उर्दू भाषा के विकास में विशेष ध्यान दिया लेकिन फिर भी फारसी और अरबी भाषाओं की प्रधानता बनी रह गयी।

इस्लामी शिक्षा कुरान के अनुसार प्रत्येक मुसलमान के लिए अनिवार्य थी। इसके बावजूद इस्लामी शिक्षा केवल नगरों तक सीमित रही। गाँवों में इसका विकास नहीं हुआ। अमीरों और धनी व्यक्तियों ने केवल ख्याति प्राप्त करने के उद्देश्य से संस्थाएँ शहरी क्षेत्रों में खोलीं। मुस्लिम धर्मान्धता के कारण हिन्दू शिक्षण संस्थाओं का विकास नहीं हुआ। औरंगजेब ने तो हिन्दू संस्थाओं को नष्ट करने का आदेश दे दिया था। इस प्रकार मध्य युग की शिक्षा प्रणाली से एक विशेष वर्ग को बहुत लाभ हुआ।[3]

इस शिक्षा प्रणाली में स्त्रियों को अलग रखा गया, क्योंकि पर्दा प्रथा के कारण वे अपने घरों से बाहर नहीं निकल सकती थीं। राज परिवार की महिलाओं के लिए शिक्षा की अलग व्यवस्था रहती थी, लेकिन जन साधारण के स्त्री वर्ग की शिक्षा के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी। एस० एम० जाफर का मत है कि इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली में कोई दोष नहीं था, बल्कि परिस्थितियाँ स्त्री-शिक्षा के अनुकूल नहीं थीं।[4]

इस्लामी शिक्षा में पहले बालक को पढ़ना और बाद में लिखना सिखाया जाता था। इससे वर्णमाला सीखने में अधिक समय लग जाता था और विद्यार्थियों के मस्तिष्क का समुचित विकास नहीं हो पाता था।

---

1. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 108
2. एन० एन० ला, आपसिट, पृ० 187-93; एस० एम० जाफर, एजूकेशन, पृ० 138
3. पी० एल० रावत, आपसिट, पृ० 109
4. एजूकेशन, पृ० 8

इस शिक्षा पद्धति में स्वाध्याय और मौलिकता के लिए कोई स्थान नहीं था।[1] विद्यार्थियों को रटाने का अभ्यास कराया जाता था। शारीरिक दण्ड कठोर था। विद्यार्थियों में विलासमय जीवन व्यतीत करने की आदत थी। इन दोषों के होते हुए भी इस्लामी शिक्षा-प्रणाली ने एक नया रूप उपस्थित किया। जिससे इस्लामी जगत में, मुख्यतः एशिया और मध्य पूर्व के देशों में, भ्रातृत्व की भावना फैलाने में बहुत सहायता मिली।

1. पी० एल० रावत, आपमिट, पृ० 110

अध्याय 10

साहित्य

मध्य काल में फारसी साहित्य के विकास का अध्ययन करने के लिये उसे दो श्रेणियों में विभाजित करना सुविधाजनक होगा—(i) इतिहास लेखन और प्रमुख इतिहासकार एवं (ii) साहित्यकार और उनकी कृतियाँ।

इतिहास लेखन एवं प्रमुख इतिहासकार

सल्तनत काल

जियाउद्दीन बर्नी ने चार विद्वानों को सच्चा इतिहासकार कहा है[1] : 'ताजुल मासिर' के लेखक ख्वाजा सद्र निजामी, 'जवामे उल हिकायत' के लेखक मौलाना सद्रुद्दीन औफी, 'तबकाते नासिरी' के लेखक मिनहाजुससिराज और 'फाथनामा'[2] के लेखक ताजुद्दीन ईराकी के पुत्र कबीरुद्दीन ईराकी। परन्तु इस काल में इनके अतिरिक्त कई ऐतिहासिक ग्रन्थ फारसी में लिखे गये, जैसे—अमीर खुसरो द्वारा रचित ग्रन्थ 'किरानुस्सदायन, मिफ्ताहुल फुतूह, आशिक नहसिपिर, तारीखे देहली, तानुल फुतूह, खजानुल फुतूह और तुगलुक नामा जियाउद्दीन बर्नी है। 'तारीखे फीरोजशाही, लुब्बातुत तारीख, तारीखे बरमका और फतावे जहाँदारी' नामक पुस्तकें लिखीं, जो इस काल के ऐतिहासिक स्रोत हैं।

मिनहाजुससिराज शिक्षा और न्याय विभाग में प्रमुख पद पर पदासीन थे। उन्होंने समकालीन घटनाओं का निकट से निरीक्षण करके अपनी पुस्तक लिखी है। 'ताजुल मासिर' ऐतिहासिक ग्रन्थ की अपेक्षा साहित्यिक अधिक है। इसकी उपयोगिता इसीलिये अधिक है कि जिन घटनाओं का उल्लेख मिनहाजुससिराज ने नहीं किया उनका वर्णन हसन निजामी ने विस्तार से अपनी पुस्तक 'ताजुल मासिर' में किया है।[3]

---

1. तारीखे फीरोजशाही, पृ० 14
2. इस पुस्तक में अलाउद्दीन खल्जी की विजयों का उल्लेख है।
3. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 167

शम्ससीराज अफीफ भी एक प्रसिद्ध इतिहासकार था।[1] उसने 'तारीखे फीरोजशाही, मनाकीबे अलाई, मनाकीबे सुल्तान मुहम्मद और जिक्रेखराबीये देहली' नामक पुस्तकें लिखीं। परन्तु 'तारीखे फीरोजशाही' को छोड़कर उसके अन्य ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।[2] फीरोज तुगलुक के समय में एक अज्ञात लेखक द्वारा लिखी गई पुस्तक 'सीराते फीरोजशाही' है, जिससे समकालीन इतिहास की जानकारी मिलती है। सुल्तान मुबारक शाह सैय्यद के समय में दाह्या बिन अहमद सरहन्दी ने 'तारीखे मुबारक शाही' लिखी। इन इतिहासकारों ने 16वीं और 17वीं सदी के इतिहासकारों के लिये सामग्री उपलब्ध की थी।[3]

ख्वाजा अब्द मलिक इसामी ने पद्य में 'फतूहुस्सलातीन' लिखी। बद्रे चाच ने, जो मुहम्मद तुगलुक का समकालीन था, 'चाच नामा' लिखा। कमाल करीम नागोरी ने अपनी पुस्तक 'मजमुआऐ' दौलताबाद के गवर्नर बहराम खाँ को समर्पित की।[4] मुहम्मद सद्र आला अहमद हसन दाबिर ने 'बसातिनुल उल' लिखा। इससे सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक के तिरहुत अभियान की विस्तृत जानकारी मिलती है। शिहाबुद्दीन अहमद अब्बास ने 'मसालिकुल आबसार' लिखा। वह मुहम्मद तुगलुक का समकालीन था। इससे भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा की जानकारी मिलती है। मुहम्मद बिन मुबारक किरमनी ने 'सियारुल औलिया' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें सूफी सन्त शेख निजामुद्दीन औलिया की जीवनी लिखी गई है। ऐनुलमुल्क मुल्तानी ने 'इन्शाये महरू' (या मुशाले महरू) लिखा, इसमें 133 पत्रों का संग्रह है, जो उस समय के विशिष्ट लोगों को लिखे गये थे। इसके अतिरिक्त इसमें बहुत से सरकारी दस्तावेजों को संग्रहीत किया गया है, जिससे उस समय की दार्शनिक व धार्मिक समस्याओं की जानकारी मिलती है।[5] मुहम्मद बिहामद खानी ने 'तारीखे मुहम्मदी' लिखी। वह 'तारीखे मुबारक शाही' के लेखक याह्या बिन अहमद सरहन्दी का समकालीन था। इस पुस्तक से सूफी सन्तों और दिल्ली के सुल्तानों के इतिहास

---

1. पी० हार्डी, हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ० 40-55
2. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 167
3. वही।
4. बहराम खाँ की नियुक्ति मुहम्मद तुगलुक ने की थी। ए० जी० एलिस का कहना है कि शहकुतलुग खाँ था, जो सुल्तान का गुरु था।
5. बी० एन० लुनिया, सम हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, आगरा, 1969, पृ० 98

जानने में सहायता मिलती है। शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी ने अपनी पुस्तक 'वाकयाते मुश्ताकी' (तारीखे मुश्ताकी) लिखी, जो लोदी सुल्तानों के समय के इतिहास जानने का प्रमुख स्रोत है।[1] अब्दुल हक देहलवी ने अपनी पुस्तक 'तारीखे हक्की' में लोदी सुल्तानों की जानकारी दी है। लोदी सुल्तानों के इतिहास के मुख्य स्रोत अहमद यादगार की पुस्तक तारीखे सलातीने अफगाना (या तारीखे शाही), नियामतउल्ला की पुस्तक 'मखजाने अफगानी' और अब्दुल्ला द्वारा रचित पुस्तक 'तारीखे दाउदी' है। दक्षिण के बहमनी वंश के इतिहास के प्रमुख स्रोत सैय्यद अली तबातबा की पुस्तक 'बुरहानेमासिर' रफीउद्दीन शीराजी की 'तजकीरातुलमुल्क' और मीर आलम की 'हदीकात अल आलम' है।

मुगल काल

मुगल काल में फारसी भाषा में अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये। ख्वान्द मीर[2] एक प्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यकार था। इसने बारह ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रमुख हैं—'मासिरुल मुल्क', 'खुलासत अल अखबार', 'मकारिम अल अखलाक', दस्तूर अल उजरा', 'नामाय नामो' (या इन्शायेनामो), 'रौजतुल सफा', 'हबीबल सियार' हुमायूँनामा (या कानून-ए-हुमायूँ), गुलबदन बेगम[3] का 'हुमायूँनामा', मिर्जा हैदर दगलत[4] की 'तारीखे रशीदी' और जौहर अफताबची[5] की 'तजकिरातुल वाकियात' (या 'तारीखे हुमायूँ' या 'हुमायूँ शविर' या 'जवाहिरे शाही') हुमायूँ के

---

1. वाकायते मुश्ताकी में बाबर, हुमायूँ, शेरशाह और अकबर से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख है। इसमें मालवा और गुजरात प्रान्तों के सुल्तानों की जानकारी मिलती है।
2. यह बाबर के समय में इरान से भारत आया और उसे मुगल सम्राट् का संरक्षण मिला। हुमायूँ ने इसे 'अमीरुल-अखबार' की उपाधि दी।
3. यह बाबर की पुत्री थी, अकबर के कहने पर गुलबदन बेगम ने बाबर और हुमायूँ के समय का इतिहास लिखा। (हुमायूँनामा, पृ० 3)
   गुलबदन के हुमायूँनामा से पता चलता है कि उस समय की मुगल महिलायें फारसी साहित्य में पारंगत होती थीं। (देखिये, के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 150)
4. यह मुगल सम्राट् बाबर का निकटतम सम्बन्धी था।
5. यह 25 वर्षों तक हुमायूँ का व्यक्तिगत नौकर था।

समय का इतिहास जानने के लिए बहुमूल्य स्रोत है। अब्बास खाँ सरवानी[1] की 'तारीखे शेरशाही' या 'तुहफाये अकबर शाही' और नियामतुल्ला[2] की मखजाने अफगाना' सूर वंश के इतिहास जानने के प्रमुख साधन हैं।

अबुल फज्ल द्वारा रचित 'अकबर नामा', 'आइने अकबरी' मकताबाते आल्लामी (या मकताबाते अबुल फज्ल या इंशाये अबुल फज्ल) और रुक्काते अबुल फज्ल ने केवल अकबर के समय की घटनाओं की जानकारी के मूल स्रोत हैं परन्तु ये फारसी भाषा के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं। अकबर के शासनकाल में इतिहास लेखन के सिद्धान्त में मूल रूप से परिवर्तन हुआ। अकबर के पहले फारसी भाषा के इतिहासकार बादशाह और उसके दरबार के विषय में ही लिखते थे, लेकिन अकबर के समय में पहली बार अबुल फज्ल ने अपने ग्रन्थों में साम्राज्य में रहने वाले विभिन्न वर्गों के लोगों के विषय में लिखा।[3]

अब्दुल कादिर बदायुँनी ने कई ऐतिहासिक पुस्तकें लिखीं—'किताबुल अहदीश' और 'मुन्तखबुततवारीख' (या 'तारीखे बदायुँनी')। निजामुद्दीन अहमद की 'तबकाते अकबरी' और मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह फरिश्ता की 'गुलशने इब्राहीमी' (या 'तारीखे फरिश्ता') अकबर के शासनकाल की घटनाओं की विस्तृत जानकारी के लिये अमूल्य ग्रन्थ हैं। अकबर ने इस्लाम के एक हजार वर्ष का इतिहास लिखने का निर्देश दिया। यह कार्य नकीबखाँ, थट्टा के मुल्ला मुहम्मद और जफरबेग को सौंपा गया। इस पुस्तक का नाम 'तारीखे अलफी' रखा गया।[4] इस काल की अन्य कई ऐतिहासिक पुस्तकें बहुत महत्वपूर्ण हैं, जैसे—बयाजीद सुल्तान की 'तारीखे हुमायूँ', नूरुल हक की 'जुब्दउत तवारीख', असम बेग की 'वाकियात' और शेख अल्लहदाद फैजी सरहिन्दी की 'अकबरनामा'।[5]

जहाँगीर की आत्म-कथा 'तुजुके जहाँगीरी, मोतामीद खाँ की इकबाल नामाये

1. अब्बास खाँ ने अकबर के आदेश पर यह पुस्तक लिखी जो 1579 ई० के लगभग लिखी गई।
2. नियामतुल्ला ने मुगल अमीर खाने जहाँ के आदेश से इस ग्रन्थ की रचना की। यह इतिहासकार फरिश्ता का समकालीन था। लोदी वंश के इतिहास के लिए भी यह प्रमुख स्रोत है।
3. के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 127; आइने अकबरी, ब्लाकमैन, पृ० vi
4. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 126
5. वही।

जहाँगीरी और ख्वाजा कामगर गैरत खाँ की 'मासिरे जहाँगीरी'।[1] जहाँगीर के शासन काल की घटनाओं की जानकारी के लिये प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस काल में जुब्दउत तवारीख भी लिखी गई।[2] अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा', इनायत खाँ का 'शाहजहाँनामा', मुहम्मद सालिह कम्बू का 'अमले सालिह', मुहम्मद सादिक खाँ का 'शाहजहाँनामा', मिर्जा मुहम्मद अमीन काजवीनी का 'शाहजहाँनामा' या 'पादशाह नामा' या 'तारीखे शाहजहाँनी दह साला' शाहजहाँ के समय के इतिहास जानने के लिये प्रमुख ग्रन्थ हैं। औरंगजेब के समय का इतिहास जानने के लिये मिर्जा मुहम्मद काजिम द्वारा रचित 'आलमगीरनामा, मुहम्मद साकी मुस्तैद खाँ की 'मासिरे आलम गीरी', आकिल खाँ राजी का 'जफर नामा' (या औरंगनामा' या 'हालाते, आलमगीरी') और मुहम्मद हाशिम खाफी खाँ[3] का 'मुन्तखबउल लुब्बाब' (या 'तारीखे खाफी खाँ') प्रमुख पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर दास नागर की 'मासिरे आलमगीरी', भीम सेन की 'नुसखा या दिलकुशा' और सुजान राय की 'खुलासत उततवारीख' लिखी गई। कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ और लिखे गये, जैसे—गुलाम हुसेन का 'सिजारुल-मुतखरीन', मुहम्मद अली अंसारी का 'तारीखे मुज्जफरी', हरिचरनदास का 'तवारीखे चहारये गुलजारे शुजा', गुलाम अली नकवी का 'इमादुस्सादात', सुल्तान अली सफावी का 'मदन उस्सादात', खैरुद्दीन का 'इब्रातनामा' और मुर्तजाहुसेन बिलग्रामी का 'हदीकातुल अकलीम'।[4]

प्रान्तीय इतिहास पर भी कई पुस्तकें फारसी में लिखी गई जिनमें सिन्ध पर 'तारीखेबहादुरशाही', मीर मुहम्मद मासूम की 'तारीखे सिन्ध' (या तारीखे मासूमी) 'बेग लारनामा', मीरमुहम्मद निस्यानी की 'तारीखे ताहिरी' और अली शेर कानो की 'तुहफातुल किराम' प्रसिद्ध हैं। कश्मीर के इतिहास के लिए मिर्जा हैदर दगलत की

---

1. मासिरे जहाँगीरी शाहजहाँ के निर्देश पर लिखी गई थी। उसमें उन घटनाओं का उल्लेख है जो जहाँगीर की आत्मकथा और मोतामीद खाँ की पुस्तकों में नहीं मिलती है। (देखिये, बी० एन० लुनिया, आपसिट, पृ० 177)
2. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 127
3. ऐसा विश्वास किया जाता है कि औरंगजेब ने राजकीय स्तर पर इतिहास लिखने की मनाही कर दी थी, परन्तु मुहम्मद हाशिम ने छिपा कर इतिहास लिखा और इसीलिए मुहम्मद शाह ने इसे 'खाफी खाँ' की उपाधि दी। खाफी का शाब्दिक अर्थ है छिपाया हुआ। (देखिये, इलियट, जिल्द 7, पृ० 209)
4. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 128-29

'तारीखे रशीदी' और हैदर मलिक की 'तारीखे कश्मीर' प्रमुख साधन हैं। गुजरात के इतिहास के लिए अबू तुरब वली द्वारा रचित ग्रन्थ 'तारीखे गुजरात' (या 'तारीखे सुल्तान बहादुर शाहे गुजरात'), सिकन्दर की 'मीराते सिकन्दरी' और अली मुहम्मद खाँ की 'मीराते अहमदी' मुख्य स्रोत हैं। इसी प्रकार बंगाल के इतिहास की जानकारी के लिए गुलाम हुसेन सलीम याज्दपुरी की पुस्तक 'रियाजुस सलातीन' महत्वपूर्ण है।

फारसी साहित्य

मध्यकाल में फारसी साहित्य के अनेक विद्वान् हुए जिन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे। समकालीन लेखकों ने इन विद्वानों की विस्तृत जानकारी दी है। उन्हें मुस्लिम शासकों ने संरक्षण प्रदान किया। महमूद गजनवी के भारत पर सैनिक अभियानों के समय प्रसिद्ध विद्वान् अबू रेहान मुहम्मद अरूलबनी भारत आया था।[1] उसने यहाँ की सामाजिक और राजनैतिक दशा का वर्णन किया। उसकी पुस्तक 'किताबुल हिन्द' अरबी भाषा में लिखी गयी है। उसे संस्कृत और फारसी का ज्ञान था। उसने भारत के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया।[2] फारसी साहित्य का उस समय लाहौर प्रमुख केन्द्र था।[3] कवि अब्दुल्ला रुज्बेह को मसूद (1030-40) के दरबार में सम्मान प्राप्त था, जिसने फारसी की प्रगति में योगदान दिया। अबुल फराज रूनी और मसूद साद सलमान उच्चकोटि के कवि थे जिन्होंने गजनी वंश के शासनकाल में कसीदे लिखे।[4] भारत पर अधिकार करने के बाद मुहम्मद गोरी ने विद्वानों को फारसी के विकास के लिए प्रोत्साहित किया। उस समय अब्दुल रऊफ हरवी और अबू बक्र खुसखी ने फारसी में कसीदे लिखे।[5]

दिल्ली के सुल्तानों ने फारसी को राज्य भाषा बनाया और इसके विकास के

1. ए० एल० श्रीवास्तव, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 117
2. वही, पृ० 118, महमूद गजनवी ने अरबी भाषा को प्रोत्साहन दिया। यही कारण है कि अलबरूनी ने अपनी पुस्तक अरबी भाषा में लिखी। (देखिये, एम० एल० भगी, मेडिवल इण्डिया कल्चर एण्ड थाट, अम्बाला, 1965, पृ० 387)
3. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 72
4. अजीज अहमद, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दि इण्डियन एनवाइरेनमेण्ट, पृ० 224
5. वही।

लिए संस्थाएँ स्थापित कीं ।[1] दिल्ली के अतिरिक्त अजोधन, दीपालपुर, हाँसी, सियालकोट, अजमेर और मुल्तान आदि स्थानों में फारसी के विकास के लिए संस्थाएँ खोली गईं । कुतुबुद्दीन ऐबक ने विद्वानों और कवियों को उदारता से दान दिया, जिससे उसे 'लाखबख्श' की उपाधि से विभूषित किया गया । इल्तुतमिश ने भी विद्वानों का सम्मान किया । उसके दरबार में बहुत से विद्वान् फारसी भाषा में पारंगत थे, जिनमें ये प्रमुख थे—ख्वाजा आबू नस्र, समरकन्द के अबू बक्र बिन मुहम्मद रुहानी, ताजुद्दीन दाबिर और नूरुद्दीन मुहम्मद औफी । नूरुद्दीन मुहम्मद औफी ने 'लुबाबुल अलबाब' और 'जवामेउल हिकामात वा लवामी उररिवायात' नामक ग्रन्थ लिखे ।[2]

ऐसा अनुमान है कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के समय में भी विद्वानों को सरकारी अनुदान मिलता था । नासिरुद्दीन महमूद स्वयं विद्वान् था । उसके समय में फखरुद्दीन नूनाकी और मिनहाजुससीराज प्रमुख विद्वान् थे ।[3] बलबन के दरबार में मध्य एशिया से बहुत से विद्वान् आये, जिन्हें सुल्तान ने संरक्षण दिया ।[4] बलबन का पुत्र मुहम्मद (खाने शाहिद) विद्वानों का सत्कार करता था । उसने फारसी के दो कवियों, अमीर खुसरो और मीर हसन देहलवी[5] को संरक्षण प्रदान किया । अमीर खुसरो शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था ।[6] खुसरो को बलबन से लेकर गयासुद्दीन तुगलुक तक सभी सुल्तानों ने संरक्षण दिया । उसने बहुत से साहित्यिक ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'खम्स', पंजगंज, 'मतलाउल अनवर', 'शीरीं वा फरहाद', 'लैला वा मजनूँ', 'आइने सिकन्दरी', 'हश्तबिहिश्त', 'रसायेल इजाज', अफजलुल-फवायेद' प्रमुख हैं ।[7] अमीर खुसरो की मृत्यु 1325 ई० मे हुई । अमीर खुसरो पहला

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 72
2. ए० एल० श्रीवास्तव, मोडवल इण्डियन कल्चर, पृ० 118
3. वह इतिहासकार के अतिरिक्त कवि भी था । लइक अहमद, भारतीय मध्य-कालीन संस्कृति, पृ० 66
4. उस समय मंगोलों ने मध्य एशिया के राज्यों को नष्ट कर दिया था, जिससे वहाँ के विद्वानों ने दिल्ली आकर शरण ली ।
5. देहलवी का पूरा नाम ख्वाजा नज्मुद्दीन हसन था ।
6. शेख निजामुद्दीन औलिया ने खुसरो को 'तुर्क अल्लाह' की उपाधि दी थी । (युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 121)
7. अमीर खुसरो भारत में फारसी भाषा का सबसे बड़ा कवि था (हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, दिल्ली सल्तनत, पृ० 501)

लेखक था जिसने अपने लेखों में हिन्दी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया। उसने दोहों और पहेलियों में फारसी और हिन्दी भाषाओं के मिले-जुले शब्दों का प्रयोग किया।[1] अमीर खुसरो संगीतज्ञ भी था। उसने 'सितार' का इजाद किया जो कि भारतीय वीणा ईरानी तम्बूरा का मिश्रण था।[2]

मीर हसन देहलवी अमीर खुसरो का मित्र था। उसने फारसी में उच्चकोटि की गजलें लिखीं, जिसके कारण उसे भारत का 'सादी' कहा जाने लगा। यह भी शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था। उसने शेख के साथ अपनी वार्ता को एक पुस्तक 'फवायदुलफवायद' में लिखा। यह पुस्तक सूफी सिद्धान्तों की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है। जियाउद्दीन बर्नी ने उसकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा की है। उसकी मृत्यु 1327 ई० में दौलताबाद में हो गई। अलाउद्दीन खल्जी के दरबार में बहुत से फारसी के विद्वान् और कवि थे, जिनमें प्रमुख थे सद्रुद्दीन अली, फखरुद्दीन, हमीदुद्दीन रजा, मौलाना आरीफ अब्दुल हकीम और शिहाबुद्दीनसद्र निशीन।

मुहम्मद तुगलुक की उदारता के कारण बहुत से विद्वान् उसके दरबार में थे। जियाउद्दीन बर्नी 17 वर्षों तक राजकीय संरक्षण में रहा। उसने प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'तारीखे फीरोजशाही' के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें 'सनाये मुहम्मदी', 'सलोत कबीर', 'इनायतनामाये इलाही', 'मासिरे सादात' और हसरत-नामा उल्लेखनीय हैं। जियाउद्दीन बर्नी अमीर खुसरो और मीर हसन देहलवी का मित्र और शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था। मुहम्मद तुगलुक के दरबार में फारसी का दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् बद्रुद्दीन मुहम्मद चाच था। उसके दो ग्रन्थ दीवाना[3] और 'शाहनामा' प्रसिद्ध हैं। उस काल में इसामी प्रमुख साहित्यकार और इतिहासकार था। उसने अपनी पुस्तक 'फुतुहुस्सलातीन' को फिरदौसी के 'शाहनामा' की शैली में लिखा और उसे अलाउद्दीन हसन कंगू (1347-58) को समर्पित किया।[4]

फीरोज तुगलुक प्रतिवर्ष विद्वानों को वजीफा देने में 36 लाख टंका खर्च करता था। उसे इतिहास में विशेष रुचि थी। उसके दरबार में फारसी के कई विद्वान्

---

1. राधाकमल मुकर्जी, दि कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया, पृ० 331; ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 119
2. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 120
3. इस पुस्तक में उसने कसीदे, गजलें और रुबाइयाँ लिखी हैं। (ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 121)
4. वही।

थे, जिनमें शम्स सीराज अफीफ प्रमुख था। तुगलुक काल में मुहम्मद बिहामद खानी प्रसिद्ध इतिहासकार और साहित्यकार था। उसका पिता बिहामद खाँ सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक शाह द्वितीय (1386-89) के मंत्री फीरोज खाँ की सेवा में था।[1] बाद के शाह तुगलुक सुल्तानों के समय में याह्या बिन अहमद सरहन्दी फारसी का प्रसिद्ध विद्वान् था।

तुगलुक वंश के पतन के बाद फारसी साहित्य का विकास प्रान्तीय राज्यों में हुआ। सिंध में सैय्यद मोइनुलहक ने अपनी पुस्तक मनबाउल अन्साब में भक्कर के सैय्यदों की एक वंशावली का विवरण दिया है (1426-27)। बिहार में इब्राहीम किवाम फारूकी ने एक शब्द कोश 'फरहंगेइब्राहीमी' या 'शर्फनामाये अहमद मनियारी'[2] तैयार किया। यह ग्रन्थ बंगाल के शासक बारबकशाह (1459-1474) के समय में तैयार हुआ। दक्षिण में बहमनी वंश के शासकों ने भी फारसी के विकास में योगदान दिया। सुल्तान ताजुद्दीन फीरोजशाह (1397-1422) नक्षत्र शास्त्र में प्रवीण था। उसने दौलताबाद में एक वेधशाला बनवाई।[3] बहमनी राज्य का प्रसिद्ध वजीर महमूद गवाँ स्वयं एक कवि और विद्वान् था। उसने फारसी के विख्यात कवि अब्दुल रहमान जामी को दक्षिण में आमन्त्रित किया। महमूद गवाँ ने पत्रों का संग्रह 'रियाजल इन्शा' साहित्यिक कृति 'मनाजिरुल इन्शा' और अपनी कविताओं का संग्रह (दीवान) तैयार किया।[4] उसके संरक्षण में मुल्ला अब्दुल करीम ने गुजरात का इतिहास 'मासिरे महमूदशाही' लिखा। गुजरात में भी फारसी भाषा को उन्नत बनाने का कार्य किया गया।[5] महमूद बेगढ़ (1458-1511) के संरक्षण में फज्लुल्ला जैनुल आबीदीन (सद्रे जहाँ) ने गुजरात का इतिहास लिखा।[6] बीजापुर में महमूद अयाज ने 'मिफ्ताह उस सरुरे आदिल शाही' (1516) नामक पुस्तक लिखी।[7]

---

1. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 122
2. लेखक ने इस पुस्तक का यह नाम इसीलिये रखा कि वह शर्फुद्दीन अहमद मनियारी का शिष्य था। (ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 122)
3. वही।
4. वही।
5. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 391
6. वही।
7. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 392

सैय्यद और लोदी सुल्तानों के सदस्य ने भी फारसी भाषा के विकास के लिए कार्य किया। सिकन्दर लादी स्वयं एक कवि था। उसने 'गुलरुखी' के नाम से फारसी में कविताएँ लिखीं।[1] सिकन्दर लोदी के दरबार में विदेशों से बहुत से विद्वान् आये, जिन्हें सरकार की तरफ से अनुदान दिया गया। उनमें रफीउद्दीन शीराजी, शेख अब्दुल्ला तुलनबी और शेख अजीजुल्ला प्रमुख थे।[2] लोदी काल में सबसे विख्यात कवि दिल्ली के शेख जमालुद्दीन थे जिन्होंने कई देशों का भ्रमण किया था। उन्होंने 'सियारूल अरिफीन' और 'मिहरू माह' नामक पुस्तकें लिखीं। बाबर के पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद जमालुद्दीन बाबर से मिला और उसकी प्रशस्ति में फारसी में कविताएँ लिखीं। शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही एक प्रख्यात विद्वान् था। उसने इब्राहीम लोदी का पतन और मुगलों का उदय देखा था। परन्तु बाबर शेख गंगोही से क्रुद्ध हो गया था, क्योंकि उसने इब्राहीम लोदी का समर्थन किया था। जबकि जमालुद्दीन बाबर का कृपापात्र बन गया था।[3]

14वीं सदी में संस्कृत की कई पुस्तकों का अनुवाद फारसी भाषा में किया गया। इस अनुवाद का कार्य दिल्ली के सुल्तानों ने इन ग्रन्थों की व्यावहारिकता और उपयोगिता को समझ कर किया।[4] चिकित्सा-शास्त्र, संगीत, नक्षत्रशास्त्र से सम्बन्धित कुछ संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद फारसी में किया गया। ऐजुद्दीन खालिद किरमानी ने नक्षत्र-शास्त्र की संस्कृत पुस्तक का अनुवाद फारसी भाषा में किया और उसका नाम 'दलयाले फीरोजशाही' रखा गया।[5] दूसरी संगीत से सम्बन्धित संस्कृत पुस्तक का अनुवाद थानेश्वर के अब्दुल अजीज शम्स ने किया।[6] तुगलुक वंश में पहली बार हिन्दी में 'मसनवी' लिखी गई। इसमें लोरिक और चन्दा की कहानी कही गई थी। दक्षिण में भी मुस्लिम शासकों ने संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद कराया। उदाहरण के लिये दुर्गारासी की पुस्तक 'सालीहोत्र' का अनुवाद फारसी में बहमनी सुल्तान अहमदशाह प्रथम (1422-36) के निर्देश पर अब्दुल्ला बिन सफी ने किया।[7] मालवा के सुल्तान

---

1. बदायूँनी, जिल्द 1, पृ० 323
2. वही, पृ० 323-25
3. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 123
4. वही।
5. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 171; बदायूँनी (रैंकिंग), पृ० 332
6. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 123; लइक अहमद, आपसिट, पृ० 70
7. वही, पृ० 124

गयासुद्दीन 1469-1500) के आदेश पर उसी तरह की संस्कृत की दूसरी पुस्तक का अनुवाद किया गया। इन दोनों पुस्तकों में घोड़ों की किस्म, गुण, दोष और उनके रोगों का वर्णन है। सिकन्दर लोदी के समय में उसके वजीर मियाँ भुआ ने चिकित्सा शास्त्र पर एक संस्कृत की पुस्तक का अनुवाद कराया, जिसका नाम 'मादनुसशाफियाये सिकन्दरी' या 'तिब्बे सिकन्दरी' रखा गया।[1]

इस काल में सूफी साहित्य का भी विकास हुआ। यह साहित्य 'मलफूजात, मकतूबात, इशरत और औरद' के रूप में विकसित हुआ, जिससे उस समय की सामाजिक और धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है।[2] बाबा फरीद ने 'औरिफुल मारीफ' पर एक टीका लिखी।[3] हजरत शर्फुद्दीन मनेरी की 'मकतूबाते सादी' पत्रों का संग्रह है जिसे जैनुद्दीन बद्रे अरबी[4] ने संकलित किया (1346)। जैनुद्दीन बद्रे अरबी ने कई मलफजात संकलित किये, जैसे 'मादनुलमानी, ख्वानेपुर नियामत, मुखुल मानी, तुहफाये गैबी, वफातनामा मुनिसुल मुरीदीन, गंजलायाफना, फवायदुलरुकी' आदि।[5] इज अलमद शर्फुद्दीन याह्या मनियारी के कुछ मलफूजात तैयार किये गये, जैसे—'अजबाबा, मीरातुल महीक्कीकीन'। लेकिन उसकी पुस्तक 'शारहे आदाबुल मुरीदिन' बहुत महत्वपूर्ण है।[6]

सूफी मत पर अनेक सन्तों के ग्रन्थ उपलब्ध थे, जैसे—ख्वाजा जियाउद्दीन आबू नजीब की पुस्तक 'आदाबुलमुरीदीन', शेखुस शेख शिहाबुद्दीन का 'औरीफ', आबू तालीब मक्की का 'कुव्वतुलकुलाब', हुज्जातुल इस्लाम इमाम गज्जाली का ईहयाउल-उलूल' और 'वासया', अबुल कासिम अल कशेरी का 'रिसाला', ऐनुल कुज्जात हम दानी का 'तमहीदात' और 'मकतूबात', शेख आबू नस्र अस सरीस का 'अल्लामा', मोहीउद्दीन इब्नुल अरबी का 'फस्सुल हिकाम' और 'फतूहाते मक्किया', मौलाना जमालुद्दीन रूमी का 'मसनवी', ख्वाजा फरीदुद्दीन अत्तार का 'असगर नामा'[7]

---

1. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 166
2. वही, पृ० 168
3. के० ए० निजामी, दि लाइफ एण्ड टाइम ऑफ शेख फरीदुद्दीन गंजशकर, पृ० 82
4. जैनुद्दीन अरबी, शेख शर्फुद्दीन मनेरी की सेवा करते थे। (ए० रशीद, आपसिट, पृ० 168)
5. वही।
6. ये सभी पुस्तकें फतूह खानकाह लाइब्रेरी, पटना में उपलब्ध हैं।
7. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 169

मौलाना मुजफ्फर शम्स बल्खी की पुस्तक 'शारे मशरिकुल अनवर' उस समय की उच्च कोटि की पुस्तक थी ।[1] मौलाना बल्ख ने 'शारे अकायदे हफीजिया', 'मकतूबात' और दीवान की रचना की। 'दीवान' में आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह है।[2] उनके भतीजे और शिष्य हजरत हुसेन मुईज ने कई पुस्तकें लिखीं, जैसे—'रिसाला ये खैरो शार', 'कजाओ कद्र', 'रिसालाये मोहम्मद', 'औरादाये फसाई', 'रिसालाये तौहीद', गूँजेला याल्फा', 'मकतूबात' और 'दीवान'। उनके पुत्र शेख हसन बलूवी ने 'लताये' फुल मुआनी' का संकलन किया और एक 'दीवान' लिखा।[3] शेख हसन के पुत्र अहमद लंगर दयी ने 'मलफूज' और मुनीसुल कुलाब का संकलन किया।[4]

कुरान पर भी टीका लिखी गई। तातर खाँ ने उलेमा की गोष्ठी बुलाई और कुरान की प्रत्येक आयत पर उनके विचार लिये गये। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाओं का अध्ययन करके एक वृहद् टीका 'तफसीरे-तातरखानी' तैयार की गई।[5] उसने 'फतवा' पर भी एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार कराया, जिसमें विशिष्ट विद्वानों के विचारों का समावेश किया गया। यह पुस्तक 30 जिल्दों में तैयार की गई।[6] फीरोज तुगलुक के शासन काल में दो विशद ग्रन्थ 'फतवाये फीरोजशाही' और 'फव्वादे फीरोजशाही' लिखे गये।[7]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सल्तनत काल (1206-1526) में फारसी साहित्य के विकास में समकालीन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान था। उन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। परन्तु संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों को सरकार की तरफ से उचित प्रोत्साहन नहीं मिला।[8] फारसी के विद्वानों की कृतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(i) ऐतिहासिक, (ii) साहित्यिक और (iii)

1. मौलाना शम्स बलूवी फीरोज तुगलक के मदरसे में अध्यापक थे। वहाँ से त्याग पत्र देकर हजरत शर्फुद्दीन याहूया मनियारी के शिष्य बन गये। (ए० रशीद, आपसिट, पृ० 169)
2. वही।
3. वही, पृ० 170
4. वही।
5. वही।
6. अफीफ, तारीखे फीरोजशाही, पृ० 392
7. ए० रशीद, आपसिट, पृ० 170
8. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 124

धार्मिक। इस युग की एक विशेषता यह रही कि इतिहास लेखन पर अधिक बल दिया गया, जिसके फलस्वरूप सल्तनत काल के इतिहास की प्रचुर उपयुक्त सामग्री उपलब्ध है।[1]

मुगलकालीन फारसी साहित्य

मुगल काल में भी फारसी की उल्लेखनीय प्रगति हुई। बाबर तुर्की और फारसी भाषाओं का विद्वान् था।[2] बाबर के साथ मध्य एशिया से बहुत से विद्वान् और इतिहासकार भारत आये, जिन अबुल वाहिद फारीगी, नादिर समरकन्दी, ताहिर ख्वान्दी, जैनुल आब्दीन ख्वाफी, मिर्जा हैदर दगलत के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[3] हुमायूँ को साहित्य से प्रेम था। उसने विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया, जिन्होंने फारसी भाषा का विकास किया।[4] उसके ग्रन्थालय में उच्चकोटि की साहित्य की पुस्तकें थीं।

अकबर के दरबार में बहुत से विद्वान् और कवि थे, जिन्हें सरकार की तरफ से अनुदान दिया जाता था। अबुल फज्ल ने आइने अकबरी में उनसठ प्रसिद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है, जिनमें शेख अबुल फैजी प्रमुख कवि थे।[5] अकबर फैजी की विद्वत्ता से प्रभावित था, इसीलिए उसने उसे 'मालिक उर-शोअरा' (कविराज) की पदवी दी थी।[6] अबुल फज्ल ने प्रमुख कवियों में ख्वाजा हुसेन सनाई, हूँज्नी, कासीम काही, गजाली, उर्फी शिराजी, मिजाकुली, मेली, जाफर वेगर ख्वाजा हुसेन, हयाती, शिकेबी, अनीसी, नाजिरी, दरवेश बहराम, सरफी, सबूही, मुश्फिकी, सालिही, मजहरी, मध्वी, करारी इताबी, मुल्ला मोहम्मद सूफी, जुदाई, वुकूई, खुसूखी, शेख रहाई, वफाई, शेख साक्री, रफी, गैरती, हालती, सजर, जज्बी, तश्बीही, अश्की असरी फहमी, कैदी पैखी कामी, पयामी, सैय्यद मोहम्मद फिक्री कुदसी, हैदरी, सामरी, फरेबी, फसूनी, नादिरी नवी, बाबा तालिब, सरमदी दरूली, कासिन अर्सलान, गयूरी कासिमी, शेरी तथा राही के नाम लिखे हैं।[7]

---

1. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 124
2. एस० एम० जाफर, मुगल एम्पायर, पृ० 27-28
3. यह बाबर का चचेरा भाई था। इसने 'तारीखे रशीदी' लिखी जिसका अधिक महत्व है।
4. एस० आर० शर्मा, 'भारत में मुगल साम्राज्य', पृ० 99-100
5. आईने अकबरी, जिल्द 1, पृ० 189; के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 135-37
6. आईने अकबरी, अनुवाद ब्लाक मैन, पृ० 618
7. वही, पृ० 618, लइक अहमद, आपसिट, पृ० 71

अकबर के काल में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इनमें से कुछ तो ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं और कुछ कुरान पर टिप्पणियाँ हैं। अकबर निरक्षर नहीं था जैसा कि कुछ इतिहासकारों का कहना है। वह फारसी और हिन्दी में कविताएँ करता था जिनको संग्रहीत किया गया है।[1] अकबर ने हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से संस्कृत और फारसी भाषाओं के विकास की योजना बनायी।[2] उसने एक अनुवाद विभाग खोला। संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद फारसी भाषा में किया गया।[3] फैजी ने गणित पर संस्कृत के ग्रन्थ लीलावती का अनुवाद फारसी में किया। 'तुजुके बाबरी' का अनुवाद फारसी में हुआ। ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तुजक' का भी अनुवाद फारसी में हुआ। बदायुँनी ने महाभारत का अनुवाद फारसी में किया और उसका नाम 'रज्मनामा' रखा गया। अबुल फज्ल ने पंचतंत्र का अनुवाद किया और उसका नाम 'अनधरे साहिली' रखा। बदायुँनी ने अन्य विद्वानों के साथ मिलकर रामायण का अनुवाद फारसी में किया।[4] अकबर ने फारसी को दूसरी भारतीय भाषाओं के समीप लाने का प्रयास किया जिसे इतिहासकार बदायुँनी अकबर की अरबी भाषा विरोधी विचारों का प्रतीक समझता है।[5] अकबर की रुचि पुस्तकों में थी। अपने पिता की तरह उसने हरम में एक ग्रन्थालय की व्यवस्था की, जिसमें गद्य और पद्य की पुस्तकें हिन्दी, फारसी, यूनानी, अरबी और कश्मीरी भाषाओं में उपलब्ध थीं।[6] फारसी के दो ग्रन्थों—मौलाना जमालुद्दीन रूमी की 'मसानवी' और हफीक के 'दीवान' ने अकबर को अत्याधिक प्रभावित किया।[7]

---

1. एम० ए० गनी, ए हिस्ट्री ऑफ पर्शियन लैंगुयेज एण्ड लिटरेचर एट दि मुगल कोर्ट, भाग 3, पृ० 11-24; हादी हसन, मुगल पोइट्री, पृ० 73-76
2. के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 125
3. स्मिथ का कहना है कि अकबर ने फारसी के क्षेत्र का विस्तार किया और वह सभी धर्मों की भाषा हो गई। (अकबर, दि ग्रेट मोगल, पृ० 415)
   संस्कृत के अतिरिक्त अकबर ने हिन्दी, यूनानी, अरबी और कश्मीरी भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद फारसी में कराया। (देखिये, के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 126)
4. आईने अकबरी, ब्लाकमैन, पृ० 110-112; मुन्तखबुततवारीख, जिल्द 2, पृ० 212-213
5. के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 127
6. वही।
7. अकबरनामा, जिल्द 1, पृ० 271

जहाँगीर ने अपने पितामह बाबर की आत्मकथा 'तुजुक ए जहाँगीरी' लिखी।[1] वह उच्चकोटि का विद्वान् था। जहाँगीर ने इसमें 17 वर्षों के शासन की घटनाओं का विवरण दिया है। बाद में अपनी अस्वस्थना के कारण इसे पूरा करने का कार्य उसने मोतमद खाँ को सुपुर्द किया।[2] यह ऐतिहासिक कृति होते हुए भी उच्चकोटि का साहित्यिक ग्रन्थ है। जहाँगीर विद्वानों का सम्मान करता था। उसके समय के प्रमुख विद्वान् और कवि निशापुर के नासिरी गयासबेग, नकीब खाँ, मोतमद खाँ, निआमतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी थे।[3] कुरान पर टीकाएँ भी लिखी गई। बड़ी संख्या में कवियों ने अपनी-अपनी कविताएँ लिखीं। ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर द्वारा स्थापित अनुवाद विभाग का कार्य समाप्त हो चुका था।[4]

शाहजहाँ ने मुगल परम्पराओं के अनुसार विद्वानों को राज्य की तरफ से अनुदान दिया।[5] उसके समय में आबू जालिह (कलीम), हाजी मुहम्मद जान और चन्द्रभान ब्राह्मण प्रमुख विद्वान् थे। फैजी के बाद किसी की भी नियुक्ति राजकवि के पद पर नहीं हुई, लेकिन शाहजहाँ ने अबू सालिब कलीम को राजकवि नियुक्त किया।[6] इस काल में कसीदे की अधिक उन्नति हुई, क्योंकि बादशाह अपनी प्रशस्ति सुनना चाहते थे। इसके काल में फारसी का कवि सौदाई गीलानी था।[7] चन्द्रभान ब्राह्मण ने शाहजहाँ के समय अबुल फज्ल की फारसी की शैली के स्थान पर एक नई शैली का प्रारम्भ किया।[8] चन्द्रभान एक अच्छा गद्य लेखक था। इसकी कृति 'चार चकन' बहुत प्रसिद्ध है। मुल्ला तुगरई ने 'मोरात उल फूतूह', 'फिरदौसिया', 'कजउल मआनी' और 'ताजउलवदाएह' ग्रन्थों की रचना की।[9]

---

1. अकबर ने अपनी आत्मकथा (बाबरनामा) तुर्की में लिखी जबकि 'तुजुके जहाँगीरी' फारसी में लिखी गई।
2. मोतमद खाँ ने जहाँगीर के शासन में 19वें साल तक की घटनाओं का उल्लेख किया। (वेनी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, पृ० 418)
3. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 127
4. वही।
5. बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 246; आबू तलीब कलीम ने 'साकीनामा' लिखा।
6. बनारसी प्रसाद, आपसिट, पृ० 250
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 73
8. बनारसी प्रसाद, आपसिट, पृ० 254
9. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 73

शाहजहाँ का पुत्र दारा फारसी, अरबी और संस्कृत का विद्वान् था। उसने मुस्लिम सन्तों पर पुस्तकें लिखीं। दारा ने उपनिषद्[1], 'भागवत', 'गीता' और 'योग वाशिष्ठ' का फारसी में अनुवाद किया। दारा की पुस्तक 'मज्मउल बहरैन' में दिखाया गया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के लिए दो अलग-अलग मार्ग हैं।[2]

औरंगजेब की रुचि धर्म और विधि में थी। उसने काव्य रचना को प्रोत्साहित नहीं किया। उसके समय में इस्लामी कानून पर एक विशद ग्रन्थ 'फतवाये आलमगीरी' तैयार हुआ। उसके उत्तराधिकारियों ने भी फारसी भाषा और साहित्य के विकास में योगदान दिया। फारसी की प्रगति मुहम्मद शाह (1713-48) तक हुई। इसके बाद इसका ह्रास होने लगा और उर्दू की प्रगति होने लगी। फिर भी 18वीं सदी में सूफी सिद्धान्तों पर हिन्दू और मुसलमान विद्वानों ने पुस्तकें लिखीं।

मुगल काल में दक्षिण में भी फारसी साहित्य की प्रगति हुई। गोलकुण्डा राज्य में फारसी विद्वान् अधिक संख्या में थे। इब्राहीम कुतुबशाह (1550-80) के समय इतने विद्वान् थे कि उन्हें एक नये नगर हैदराबाद में बसाया गया।[3] हैदराबाद को दूसरा इस्फहान कहा जाता था।[4] अली बिन तैफूर बुस्तानी ने 1681 में 'हदायेकुस सलातीन' का संकलन किया, जिसमें फारसी के कवियों की जीवनी लिखी गई है।[5] अब्दुल्ला कुतुबशाह के शासनकाल में एक फारसी का कोश 'बुरहाने कतो' मुहम्मद सेन तबरीजी द्वारा तैयार किया गया (1651)। आबू इमाद ने छः जिल्दों में एक ज्ञानकोष 'खिरकोतुल उलूम' तैयार किया। मीर मुमीन ने एक पुस्तक 'रिसालाये मिकदारिया' लिखी, जिसमें समकालीन तौल और मापदण्ड की जानकारी दी गई है।[6]

---

1. दारा ने 50 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। (निजामी, स्टडीज, पृ० 126)
2. ए० एल० श्रीवास्तव, आपमिट, पृ० 128; के० ए० निजामी, स्टडीज, पृ० 125-126
3. एच० के० शेरवानी, कल्चरल ट्रेण्ड्स इन मेडिवल इण्डिया, 1968, पृ० 95
4. वही।
5. वही।
6. वही।

हिन्दी

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना होने के पूर्व ही हिन्दी भाषा का विकास शुरू हो गया था। 1000 ई० से भारत पर मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ हो गया था। वीरगाथाओं का लिखना प्रारम्भ हो चुका था, जिससे लोगों को बाहरी आक्रमणकारियों से युद्ध करने की प्रेरणा मिलती रहे।[1] अन्त में हिन्दुओं की पराजय हुई। इस काल में हिन्दी कविता का मुख्य विषय युद्ध था। उस समय की प्रमुख कृतियाँ थीं—'खुम्मन रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचन्द प्रकाश', मयंकजस' चन्द्रिका, 'आल्हा' और 'रनगल छन्द'।

दलपत विजय ने 'खुम्मन रासो' लिखा। नरपति नाल्ह ने अजमेर के राजा वीसलदेव की प्रशस्ति 'वीसलदेव रासो' लिखा (1016)। चन्द बरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' लिखा। इस ग्रन्थ में 69 सर्ग हैं। यह पुस्तक समकालीन इतिहास का बहुमूल्य स्रोत है।[2] जयानक ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीभट्ट को पृथ्वीराज के दरबार का कवि बतलाया है।[3] गौरीशंकर हीराशंकर ओझा चन्द को पृथ्वीराज रासो का वास्तविक लेखक बतलाते हैं। भट्ट किदार ने कन्नौज के राजा जयचन्द की प्रशंसा में एक महाकाव्य 'जयचन्द प्रकाश' लिखा। कवि मधुकर ने जयचन्द की प्रशस्ति 'मयंक जस चन्द्रिका' लिखी। जगनिक ने 'आल्हा खण्ड' में आल्हा और ऊदल की वीरता की प्रशंसा की है।

सारंगधर जो चन्द के वंशज कहे जाते हैं, चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में रणथम्भोर के राणा हम्मीर देव के दरबार में एक कवि थे। उन्होंने 'हम्मीर रासो' और 'हमीर काव्य' लिखा। श्रीधर ने राज रनमल की जफर खाँ के विरुद्ध विजय को 'रनमल छन्द' में लिखा है (1369)। हिन्दी साहित्य के इस विकासकाल को वीर गाथाकाल कहा जाता है। इस काल में उपर्युक्त कवियों के नाम विशेष रूप से आते हैं।[4]

मुहम्मद गोरी के भारत में आगमन के बाद बहुत से विदेशी भारत में आकर

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 26
2. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 374
3. वही।
4. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 85

बस गये और कालान्तर में वे सभी अपने को भारतीय कहने लगे। अमीर खुसरो[1] इसी श्रेणी में आता है। वह अपने को 'हिन्दुस्तानी तुर्क' और 'हिन्दुस्तानी तोता' कहता है। प्रारम्भ में अमीर खुसरो एक दरबारी था और बाद में शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य हो गया। अमीर खुसरो फारसी का प्रसिद्ध साहित्यकार तथा इतिहासकार था। इसने फारसी की रचनाओं में प्रचलित हिन्दी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया। फारसी के अलावा खुसरो ने 'हिन्दवी' में भी रचनाएँ कीं। इसकी भाषा ठेठ खड़ी बोली और ब्रज है।[2] इसने इस भाषा का प्रयोग पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों[3] में किया है। अमीर खुसरो ने हिन्दी और फारसी मिश्रित भाषा में गजलें लिखीं। उसने उस हिन्दी को अपनाया जो दिल्ली और आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी।

विद्यापति ने अपभ्रंश और मैथिली[4] में लिखा। उनका निबन्ध 'विद्यापति की पदावली' उच्च कोटि का ग्रन्थ है। उन्हें मैथिली कोकिल कहा जाता था।

भक्तिकालीन साहित्य

सूफी सन्तों तथा इस्लाम के प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म और समाज में समयानुकूल सुधार लाने का प्रयास किया गया। इस्लाम के प्रभाव के कारण लोगों का झुकाव 'एकेश्वरवाद' की तरफ हो गया और हिन्दू धर्म के बाहरी आडम्बरों को समाप्त करने के लिए धर्म-सुधारकों ने प्रयत्न किया, जिसका मूर्त्त रूप भक्ति मार्ग था। भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने भक्ति के दो रूपों को अपनाया—(i) निर्गुण तथा (ii) सगुण।[5] निर्गुण शाखा के सन्तों ने ज्ञान और प्रेम पर अधिक बल दिया और एकेश्वरवाद की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। सगुण भक्ति शाखा में भक्तों ने अपने इष्टदेवों की आराधना पर विशेष बल दिया। सगुण भक्ति शाखा के सन्तों ने राम और कृष्ण की भक्ति की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। भक्ति आंदोलन के इस काल को हिन्दी जगत में भक्तिकाल के नाम से कहा गया है और इसके विकास का काल 1643 ई० तक कहा गया है।

---

1. खुसरो का जन्म 1253 ई० में उत्तर प्रदेश के एटा जिले में पटियाली नामक ग्राम में हुआ था। इसकी मृत्यु 1325 ई० में हुई। (युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 121)
2. रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 56
3. इसका एक पद फारसी तथा दूसरा 'हिन्दवी' में है।
4. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 375
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 87

भक्तिकाल के निर्गुण शाखा के कवियों में कबीर, नानक, रैदास, दादू दयाल तथा मलूक दास प्रमुख थे। कबीर का जन्म 1399 ई० माना जाता है। यह बाल्य-काल से ही भक्ति भावना से ओतप्रोत थे। इन्होंने रामानन्द का शिष्य होना स्वीकार कर लिया। कबीर दलित वर्ग के थे, इसलिए वे इस वर्ग के प्रति अपमानजनक व्यवहार को भूल न सके।[1] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "वे शास्त्र के दाँव पेंच से अनभिज्ञ थे। इसलिए पद-पद पर दार्शनिक की भाँति ननु लगाकर अपर पक्ष की सम्भावना की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसीलिए उनकी उक्तियाँ तीर की भाँति सीधे हृदय में चुभ जाती थीं।"[2] हिन्दी साहित्य में कबीर का प्रमुख स्थान है।[3] उन्होंने 'साखी' और 'पद' लिखे, जिनमें राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली और ब्रजभाषा के मिले जुले शब्द हैं, वे पढ़े लिखे नहीं थे। उनकी कृतियों में 'रस', 'गुण' और अलंकार का अभाव है। उन्होंने 61 पुस्तकें लिखीं, जिनमें प्रमुख हैं—'अनुराग सागर', 'अमर मूल', 'उग्र गीत', 'साखी','निर्भय ज्ञान', 'बीजक', 'रेखता', 'शब्दावली', 'ज्ञान सागर'। "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया।"[4] कबीर की समता का हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई दूसरा लेखक नहीं हुआ।

नानक का जन्म (1469-1539) में गुजरानवाला जिले के तालवण्डी नामक गाँव में हुआ था।[5] नानक एकेश्वरवादी थे। उन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध किया और निर्गुण ईश्वर की आराधना पर बल दिया। 'गुरु ग्रन्थ साहब' गुरु नानक द्वारा रचा गया। उन्होंने कुछ भजन पंजाबी में लिखे और उनकी कुछ कविताएँ हिन्दी में हैं। उनमें ब्रज भाषा, खड़ी बोली और पंजाबी के शब्द मिलते हैं।[6]

रैदास, कबीर के समकालीन थे। यह चर्मकार थे। इन्होंने भी निराकार ईश्वर की भक्ति पर बल दिया।[7] इन्होंने ऊँच-नीच का विरोध किया, इनका कोई ग्रन्थ

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, बम्बई, 1963, पृ० 78
2. वही, पृ० 79
3. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 375
4. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० 216-17
5. ताराचन्द्र, इनफ्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० 166
6. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 89
7. ताराचन्द्र, आपसिट, पृ० 179

उपलब्ध नहीं है। केवल कुछ पद ही 'बानी' के नाम से 'सन्तबानी सीरोज' में मिलते हैं। 'गुरु ग्रन्थ साहब' में इनके 40 पद संग्रहीत हैं।[1] इन पदों की भाषा सरल है, इसीलिये लोगों ने आसानी से इन्हें ग्रहण किया। धरमदास (1490-1530) कबीर के शिष्य थे। इन्होंने सहज भाषा में कविताएँ लिखीं। दादू दयाल (1546-1603) का जन्म अहमदाबाद में हुआ था। इनके जन्म और जाति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'कबीर पन्थी' होने के कारण इनकी 'बानी' में कई स्थानों पर कबीर का नाम आया है।[2] इन्होंने 'दादू पन्थ' की स्थापना की और दोहे लिखे। इन्होंने पंजाबी और गुजराती में पद्य लिखे। इनकी भाषा मिली-जुली पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें राजस्थानी की प्रधानता है।[3] इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्द मिलते हैं।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्या चारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखाते हैं"।[4] आगे उन्होंने लिखा है "कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं, स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था पर दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम"।[5]

दादू के शिष्यों में सुन्दरदास सबसे अधिक ज्ञानी थे। उनका अनुभव विस्तृत था। वे एक मात्र ऐसे निर्गुणियाँ साधक थे जिन्होंने सुशिक्षित होने के कारण लोक धर्म की उपेक्षा नहीं की है।[6] रज्जब, दादू के प्रमुख शिष्य थे। उनकी भाषा मे राजस्थानी की प्रधानता है। जो दूसरे कवि कई पद में कहते हैं, रज्जब उसे संक्षेप में आसानी से छोटे दोहे में कह देते हैं।[7] इनके विषय भी वही है जिन्हें साधारणतः निर्गुण शाखा के कवियों ने अपनाया है परन्तु वे अधिक स्पष्ट और सरल हैं। मलूक दास का जन्म 1574 ई० में इलाहाबाद के कड़ा नामक स्थान में हुआ था। इनकी

---

1. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 90
2. वही।
3. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 376
4. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 88-89
5. वही, पृ० 89
6. वही।
7. वही, पृ० 90

दो पुस्तकें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्द मिलते हैं। इन्होंने कुछ पद्य खड़ी बोली में भी लिखे हैं।

प्रेम-मार्गी शाखा

सूफी सम्प्रदाय

सूफी का शाब्दिक अर्थ सफेद ऊन है। ये लोग साधारण जीवन व्यतीत करने के कारण मोटे ऊन के बने कपड़े पहनते थे।[1] सूफी लोग गुरु (पीर) की महत्ता पर अधिक बल देते थे। ये लोग ईश्वर और जीवात्मा का सम्बन्ध प्रेम का मानते थे। उनका झुकाव 'सर्वेश्वरवाद' की तरफ था और वे संगीत से प्रेम करते थे।[2]

इस शाखा की मुख्य विशेषता यह है कि सूफी कवियों ने अपनी रचनाएँ फारसी के मसनवी ढंग पर लिखी हैं, जिसमें ईश्वर की आराधना और बादशाह की प्रशस्ति के साथ कथा प्रारम्भ होती है। रचनाएँ अवधी भाषा में लिखी गई हैं परन्तु लिपि उर्दू है।[3] दोहा और चौपाइयों में रचना की गई है।

कुतबन चिश्ती सम्प्रदाय के शेख बुरहान के शिष्य थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'मृगावती' लिखी (1558)।[4] इस ग्रन्थ में चन्द्रनगर के राजा गनपति देव के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेम कथा का वर्णन किया गया है। इसमें रहस्यवाद भी दिखलाया गया है।[5]

मंझन ने 'मधुमालती' लिखा। इसकी कथा मृगावती से अधिक सुन्दर है। इसमें विरह भावना दिखाई गई है। इसमें प्रति पाँच चौपाई के बाद एक दोहा लिखा गया है। इस ग्रंथ में कल्पना की उड़ान सब से अधिक है।[6] मंझन ने महारस की राजकुमारी मधुमालती तथा कनेसर के राजकुमार मनोहर के प्रेम द्वारा ईश्वर प्रेम का स्वरूप दिखाया है।[7]

---

1. गुलाबराय, आपसिट 2, पृ० 31
2. वही।
3. वही, पृ० 32
4. इनको जौनपुर के शर्की सुल्तान हुसेन शाह की संरक्षता प्राप्त थी। अजीज अहमद, आपसिट, पृ० 241)
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 91–92
6. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 376
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 92

मलिक मुहम्मद (1493-1542) अवध में स्थित जायस ग्राम में पैदा हुए थे। इसीलिए जायसी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे—'पद्मावत',[1] 'अखरावट' और 'आखीरी कलाम'। 'पद्मावत' का हिन्दी साहित्य में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी रचना 947 हिजरी अर्थात् 1540 ई० में पूरी हुई। इस ग्रन्थ में शेरशाह की प्रशस्ति लिखी गई है। जायसी के पहले सूफी साहित्यकारों ने केवल कल्पना के सहारे ग्रन्थ लिखे, परन्तु जायसी ने कल्पना के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख किया। 'जायसी' ने प्रेम काव्य के द्वारा सम्पूर्ण सूफीवादी दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें कवि ने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुरु की महत्ता तथा सूफीवाद की शिक्षाओं पर प्रकाश डाला।[2] इनकी भाषा अवधी है। कहीं-कहीं पर कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इनकी शैली सहज है। इन्होंने विरहग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ सारे संसार की सहानुभूति दिखलाई है और सब चराचर पशु-पक्षी आदि को विरह-वेदना से व्याप्त बतलाया है।[3] जायसी मुसलमान होते हुए भी हिन्दू धर्म में रुचि रखते थे। 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि का ग्रन्थ है। जायसी की गणना शीर्षस्थ कवियों में की जाती है।[4]

उसमान का प्रेम काव्य 'चित्रावली' काल्पनिक भावनाओं से भरा हुआ है। इसकी रचना 1613 ई० में हुई। इसमें उसमान ने सुजान कुमार और चित्रावली की प्रेम गाथाओं का वर्णन किया है। इन्होंने इसमें पैगम्बर साहब, चार खलीफाओं, जहाँगीर और सूफी सन्तों की प्रशंसा की है।[5] ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परम्परा में थे।[6] ये गाजीपुर के रहने वाले थे और सम्राट् जहाँगीर के समकालीन थे।

प्रेममार्गी कवियों ने हृदय को स्पर्श करने वाले प्रेम का सहारा लिया है। इन कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक आडम्बर पर कबीर की तरह से प्रहार नहीं किया। इस प्रकार इनकी कविताएँ लोकप्रिय हो सकती थीं, परन्तु सगुण भक्ति मार्ग के कवियों के आगे इन्हें सफलता नहीं मिली। राम और कृष्ण भक्ति के आगे

1. इसमें राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती का वर्णन है। (गुलाबराय, आपसिट, पृ० 34)
2. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 34
3. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 35
4. वही।
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 94
6. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 36

इनके काव्य लोकप्रिय न हो सके। इसलिए भक्ति काव्य ने लोगों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ी। प्रेम-मार्गी कवियों ने अवधी भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु अरबी और फारसी शब्द भी उन ग्रन्थों में मिलता है।[1]

भक्ति मार्ग

सगुण ईश्वर की भक्ति के अन्तर्गत कवियों ने राम और कृष्ण-भक्ति पर ग्रन्थ लिखे। राम-भक्ति की तरफ स्वामी रामानन्द ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने राम-भक्ति धारा को प्रवाहित करने में अद्‌भुत योगदान दिया। आचार्य केशवदास ने 'राम चन्द्रिका' की रचना की, किन्तु उन्होंने यह रचना साहित्यिक दृष्टि से की थी फिर भी केशव को राम का भक्त नहीं कहा जा सकता।[3] तुलसीदास का जन्म (1497-1623) बाँदा के राजापुर नामक गाँव में हुआ था। विवाह के बाद वह सांसारिक भोग-विलास में फँस गये। स्त्री के बुरा-भला कहने पर उन्होंने राम की भक्ति में अपना जीवन लगाया। उन्होंने सगुण राम को दशरथ का पुत्र कह कर आराधना की। उन्होंने इस संसार को 'सियाराम मय' कहा। तुलसीदास जी ने राम को ब्रह्म तथा सीता को प्रकृति की संज्ञा दी। उनकी चौदह रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—रामलला नहछू, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, वैराग्य संदीपनी, रामचरितमानस,[4] सतसई, पार्वती मंगल, कृष्ण गीतावली, बरवै रामायण, विनय पत्रिका, गीतावली,[5] दोहावली, बाहुक और कवितावली। इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में अपनी रचनाएँ कीं। इनकी रचनाएँ भक्ति-भावना से ओत प्रोत हैं। रामचरितमानस प्रत्येक हिन्दू परिवार में बड़ी श्रद्धा से पढ़ा जाता है। तुलसीदास की भाषा में अवधी और ब्रज के अतिरिक्त राजस्थानी और बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग मिलता है। रामचरितमानस मेंपश्चिमी अवधी और बरवै में पूर्वी अवधी का प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत

---

1. गुलाबराय, आपसिट पृ॰ 36-37; गुलाबराय के अनुसार 'दोहा' चौपाई की परम्परा को इन्होंने प्रशस्त किया इसीलिए हिन्दी-संसार इनका कृतज्ञ है।
2. लइक अहमद, आपसिट, पृ॰ 94
3. वही।
4. रामचरितमानस को रामायण (राम की शौर्यपूर्ण कृतियों का सरोवर) के नाम से जाना जाता है।
5. 'गीतावली' की रचना 'सूरसागर' के आधार पर की गयी है। बाल लीला से सम्बन्धित पद्य 'सूरसागर' में उसी प्रकार मिलते हैं। केवल राम और श्याम का अन्तर मिलता है।

'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' ब्रज भाषा में लिखी गई है ।[1]

तुलसीदास के समय में "हिन्दी में छप्पय शैली, सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि भाटों की कविता सवैया पद्धति, सूफी कवियों की दोहा-चौपाई पद्धति तथा नीति कवियों की केवल दोहा-पद्धति आदि प्रचलित थीं। तुलसी ने इन सभी पद्धतियों को अपनाया और इनमें सभी पर अपनी लेखनी चलायी है।"[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "तुलसीदास की भाषा जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उनमें संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है।"[3] उन्होंने आगे लिखा है "तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित सुधारक थे, लोक नायक और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्गदर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।"[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखायी पड़ा[5]।"

केशवदास का जन्म (1555-1617) एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्द्रजीत सिंह, जो ओरछा के राजा रामसिंह के भाई थे, ने इनको आश्रय दिया। केशव, तुलसीदास के समकालीन थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तुलसीदास के अप्रिय व्यवहार से क्रुद्ध होकर इन्होंने 'राम चन्द्रिका' लिखी। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे जैसे 'कवि प्रिया', 'रसिक प्रिया', 'वीरसिंह', 'देव चरित', 'विज्ञान गीत', 'रतन बावनी', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' आदि। इन्होंने संस्कृत काव्य शैली को अपनाया। इनकी भाषा ब्रज है, किन्तु बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है। इनकी भाषा अधिक क्लिष्ट है। इसीलिए इनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है।[6]

---

1. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 96
2. वही।
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 87
4. वही।
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 129
6. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 96; गुलाब राय, आपसिट, पृ० 83

सगुण शाखा के कृष्ण भक्तों में वल्लभाचार्य प्रमुख थे। सूरदास इनके शिष्य थे। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, मीराबाई और रसखान हैं। सूरदास का जन्म 1483 ई० में रूकनता नामक ग्राम में हुआ था। कुछ विद्वान् इन्हें सारस्वत ब्राह्मण और कुछ चंदबरदाई का वंशज कहते हैं।[1] इनके जन्म से अन्धे होने के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। इनकी मृत्यु पारसौली नामक गाँव में 1563 ई० में हुई।[2] इन्होंने 'सूरसारावली', 'साहित्य लहरी' और 'सूरसागर' नामक ग्रन्थ लिखे। इन्होंने श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव चुना। कृष्ण बाल-लीला का बड़ा सुन्दर वर्णन इन्होंने किया है। इनकी काव्य भाषा ब्रज है।[3] जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले भक्त-कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण चरित गान करने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का। वास्तव में ये हिन्दी काव्य गगन के सूर्य और चन्द्र हैं।[4]

मीराबाई का जन्म 1499 ई० में मेड़ता के कुदकी नामक गाँव में हुआ था। यह रत्नसिंह राठौर की पुत्री थी। इसका विवाह उदयपुर के राणा सांगा के पुत्र युवराज भोजराज से हुआ था। विवाह के कुछ समय बाद यह विधवा हो गईं। इन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति में कविताएँ लिखीं। वे श्रीकृष्ण की भक्ति पति के रूप में करती थीं। इनकी भाषा राजस्थानी है, परन्तु इन्होंने कुछ पद साहित्यिक भाषा में लिखे हैं।[5] इनकी मुख्य रचनाएँ हैं—'नरसी जी का मायरा', 'गीत गोविन्द टीका', 'राग गोविन्द' और 'राग सोरठ' के पद।

रसखान दिल्ली के पठान राज वंश से सम्बन्धित थे।[6] यह वैष्णव सम्प्रदाय के थे। श्रीकृष्ण के चित्र को देखकर मंत्रमुग्ध हो गये थे। इनकी 'प्रेम बाटिका' और 'सुजान रसखान' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनकी भाषा विशुद्ध ब्रज भाषा है। इनकी रचनाएँ हृदयग्राही, सरस और मधुर हैं। इन्होंने अरबी और फारसी के शब्दों का

1, वही, पृ० 97
2. वही।
3. वही, आपसिट, पृ० 98
4. रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 163
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 98
6. इनका वास्तविक नाम इब्राहीम था। जन्म 1573 ई० में हुआ था।

भी प्रयोग किया है। इन्होंने 'दोहा', 'कविता' और 'सवैया' की शैली अपने पदों में अपनाई है।[1] ऐसा समझा जाता है कि 'दसों बैष्णव की वार्ता' नाम की ग्रंथ की रचना रसखान ने की है।[2]

नन्ददास का जन्म 1528 ई० में हुआ था। वे तुलसीदास के गुरुभाई थे। उन्होंने 16 ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'भ्रमर गीत' सर्वोत्कृष्ट रचना है। उनकी अन्य रचनाएँ हैं, 'पंच अध्यायी', अनेक रथमजरी', 'नाम माला', 'रस पंच अध्यायी', 'रुक्मिणी मंगल' और 'श्याम सगाई'। 'भ्रमर गीत' में उन्होंने निर्गुणवाद और सगुणवाद की व्याख्या की है। कृष्णदास सूरदास के प्रतिद्वन्दी कहे जाते हैं, जिन्होंने 'भ्रमर गीत' 'प्रेम तत्व निरूपण' और 'जुगल मन चरित' लिखा।[3] कन्नौज के परमानन्द दास ने 'परमानन्द सागर' लिखा जिसमें 835 पद हैं।[4]

कुंभनदास परमानन्द के समकालीन थे और एक विख्यात कवि थे। उनके पुत्र चतुर्भुज ने 'भागवत् पुराण' का दसवाँ भाग ब्रज-भाषा में दोहों और चौपाइयों में अनुवाद किया। चित्त स्वामी ने जो बीरबल के परिवार के गुरु थे, श्री कृष्ण की भक्ति पर पद लिखे। गोविन्द स्वामी कवि और गायक थे।[5]

इन 'अष्ट छाप' कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी कृष्ण और राधा की भक्ति में पद लिखे हैं। 'हरिवंश ने राधा सुधि निधि' नामक रचना की, जिसमें 170 पद हैं और 'हित चौरासी' लिखी, जिसमें 84 पद हैं।[6] उन्होंने राधा वल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की। ध्रुव दास ने 40 ग्रन्थ लिखे, जिसमें प्रमुख हैं—बृन्दाबन सत', 'सिगार सत', 'रस रत्नावली बन बिहार', 'रस बिहार', 'नित्य विलास', 'प्रेमावली', 'वामन वृद्ध पुराण की भाषा', 'सभा मंडली', 'दान लीला' और 'भक्त नामावली'। उनकी भाषा सरल है। इस सम्प्रदाय के दूसरे कवि नागरिदास और ध्रुवदास थे। स्वामी हरिदास ने 'हरी दासी' सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने 'साधारण सिद्धान्त' और 'रस का पद' नामक ग्रन्थ लिखे। उनकी हिन्दी कविताओं की क्षमता सूरदास और तुलसीदास के कुछ पदों से की जा सकती है।

---

1. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 99
2. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 381
3. वही, आपसिट, पृ० 380
4. वही।
5. वही।
6. वही।

कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रज. भाषा को परिमार्जित किया और उसका विकास किया। मुगल दरबारों में भी इन कवियों का नाम लिया जाने लगा।[1] अकबर ने इन कवियों को संरक्षण प्रदान किया। इन कवियों ने भक्ति के अतिरिक्त शृंगार और नीति आदि दूसरे विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे। अकबर के दरबार के कवियों में रहीम, गंग, नरहरि, बीरबल और टोडरमल प्रमुख हैं।

रहीम का पूरा नाम अब्दुर्रहीम खान खाना था। वे बैरम खाँ के पुत्र थे। तुलसीदास से इनकी मित्रता थी। वे फारसी, अरबी, हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् थे। इनके दोहे चुभते हुए हैं।[2] गंग और नरहरि की गणना श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इनकी रचनाओं में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। ऐसा समझा जाता है कि गंग को किसी नवाब ने क्रोध में आकर जान से मरवा दिया।[3] नरहरि का मुगल दरबार में उच्च स्थान था। उनका एक छप्पय सुनकर अकबर ने अपने राज्य में गो-हत्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[4] इनके तीन ग्रन्थ हैं—'रुक्मिणी मंगल', 'छप्पय नीति' और 'कवित्त नीति'।

बीरबल और टोडर मल अकबर दरबार के उज्ज्वल रत्न में से थे। बीरबल अपने हाजिर जवाबी के कारण प्रसिद्ध थे। वे कवियों[5] को दान देते थे। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि ये कविता क्षेत्र में प्रवीण थे। टोडरमल के नीति सम्बन्धी कवित्त उल्लेखनीय हैं। बनारसीदास जौनपुर के रहने वाले थे। ये जैन धर्मावलम्बी थे। इनके यहाँ जवाहरता का व्यापार होता था। इन्होंने कुछ शृंगार रस की कविताएँ कीं और बाद में धार्मिक भावनाओं के कारण उसे गोमती में बहा दिया। इन्होंने 'समयसार' नामक नाटक और अपनी आत्मकथा लिखी।[6]

सेनापति का जन्म 1589 ई० में अनूप शहर के कान्यकुब्ज परिवार में हुआ था। ये राजदरबार में कुछ दिन रहे। बाद में उन्हें दरबार से अरुचि हो गई और

1. गुलाबराय, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, आगरा, संवत् 2003, पृ० 73
2. वही, पृ० 74
3. वही, पृ० 75
4. वही।
5. अकबर स्वयं हिन्दी कविताओं में रुचि रखता था और हिन्दी में कविता करता था। (अकबरनामा, जिल्द 1, अंग्रेजी, पृ० 520)
6. इनकी आत्म-कथा रूसो की आत्मस्वीकृतियाँ (Confessions) की तरह हैं। इन्होंने अपनी दुर्बलताओं और कमियों का उल्लेख निःसंकोच किया है।

उन्होंने संन्यास ले लिया, जैसा कि इनकी निम्नलिखित कविता मे प्रतीत होता है—

'चारि बरदान तजि पाँय कमलेच्छन के,
पायक म्लेच्छन के काहे को कहाइये।

इनकी कविता घनाक्षरी में है।[1] यद्यपि ये वृन्दावन में रहते थे, परन्तु इनका हृदय कृष्ण भक्ति के स्थान पर राम भक्ति से भरा हुआ था।[2] मुक्तक काव्य करने वालों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके दो ग्रन्थ हैं—'काव्य कल्पद्रुम' और 'काव्य रत्नाकर' इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा में रचनाएँ की हैं और ऋतु वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। ये केशवदास के समकालीन थे।

नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' इसी काल की रचना है। खण्ड काव्यों में इसका स्थान ऊँचा है। वे शब्द चित्रण अधिक कुशलता से कर सकते थे।[3]

रीति काल

विशेषताएँ

भक्ति काल में निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम और कृष्ण की भक्ति में कविताएँ की गईं। रीति काल में कविता 'स्वान्तः सुखाय' न रह कर राजदरबार की रह गई थी।[4] प्रत्येक कवि अपने प्रतिद्वन्द्वी से आगे बढ़ने का प्रयास करता था और अपने संरक्षक को प्रसन्न रखता था। 'इस प्रकार कविता स्फूर्ति का विषय न बन कर एक आवश्यकता का विषय हो गई थी।'[5] इस काल में पाण्डित्य प्रदर्शन करने की प्रथा आरम्भ हो गई थी, जिसके लिए संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन और उसका अनुकरण कवियों ने किया।[6]

साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त रस और अलंकार आदि पर विवेचना हुई।[7] कविताओं में श्रृंगार रस की प्रधानता इस काल की मुख्य विशेषता है। सवैयों, जिसका सम्बन्ध श्रृंगार और करुण और कवित्त जिसका सम्बन्ध वीर रस से था, की इस

1. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 76
2. वही।
3. वही, पृ० 77
4. वही, पृ० 79
5. वही।
6. वही, पृ० 80
7. देखिये, विश्वनाथ मिश्र—हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग 2, वाराणसी, सं० 2017, पृ० 322-23

काल में प्रधानता रही।[1]

इस काल की भाषा ब्रज भाषा और अवधी का मिश्रण थी। मुसलमानी राज-दरबार के प्रभाव से फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक बढ़ गया। राजा महराजाओं ने भी अपने दरबार में विदेशी सभ्यता अपनाई और फारसी के शब्द प्रयुक्त होने लगे।[2] परन्तु बहुत से कवियों ने हिन्दी भाषा की रोचकता को ध्यान में रखते हुए फारसी शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया।[3] कुछ कवियों ने फारसी शब्दों को तोड़-मरोड़ कर प्रयोग किया है, जिससे उनकी कविता गँवारों की रचना सी लगती है।[4]

कुछ अन्य दोष भी हिन्दी भाषा में आ गये। पद्य में लिखने के कारण संस्कृत पुस्तकों का विवेचन ठीक प्रकार से न हो सका।[5] नाटयशास्त्र का विवेचन भी न हो सका। कवियों ने लीक पर चलने की पुरानी परम्परा अपनायी, जिसके कारण वे अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा दिखाने में असमर्थ रहे। वे कविता स्वतन्त्र ढंग से नहीं बल्कि 'कर्त्तव्य के कठोर बंधन में बँध कर एक प्रकार की परम्परा की पूर्ति के लिए' करते थे।[6]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "श्रृंगार के वर्णनों को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता, राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[7]

रीतिकालीन साहित्य

रीति काल का उदय हिन्दी साहित्य में 1643 ई० से माना जाता है जिसे कुछ विद्वानों ने 'श्रृंगार काल' की संज्ञा दी है।[8] अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य का विकास किया। शाहजहाँ के शासन काल में हिन्दी साहित्य का अधिक विकास हुआ। उसे हिन्दी भाषा से रुचि थी। उसने बहुत से हिन्दी साहित्य-

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, आपमिट, पृ० 223
2. रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 222; हिन्दू राजदरबारों में 'आयुष्मान' के स्थान पर 'उमरदराज' शब्द का प्रयोग होने लगा।
3. वही।
4. वही।
5. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 80
6. वही, पृ० 81
7. आपसिट, पृ० 223
8. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 99

कारों को संरक्षण प्रदान किया। शाहजहाँ के दरबार में सुन्दर दास, चिन्तामणि और कवीन्द्र आचार्य प्रमुख कवि थे।[1]

सुन्दर दास जाति के ब्राह्मण थे और ग्वालियर के रहने वाले थे। इन्हें शाहजहाँ ने 'महा कविराय' की उपाधि से विभूषित किया था।[2] इन्होंने 'सुन्दर शृंगार', 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा' नामक ग्रन्थ लिखे। चिन्तामणि कानपुर के रहने वाले थे। वे अपने तीनों भाइयों में ज्येष्ठ थे। सभी भाई कवि थे।[3] चिन्तामणि ने हिन्दी काव्य को एक नई दिशा दी। वे अपने समय के उच्चकोटि के कवि थे।[4] शाहजहाँ ने इन्हें प्रश्रय दिया। इन्होंने 'छन्द विचार',[5] 'काव्य विवेक', 'कविकुल कल्पतरु' और 'काव्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखे। वे ब्रजभाषा के कवि थे। इनकी 'रामायण' कविता और छन्द की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।

कवीन्द्र आचार्य बनारस के रहने वाले थे। उन्होंने 'कवीन्द्र कल्पलता' शाहजहाँ और उसके पुत्रों की प्रशस्ति में लिखा। इनकी रचनाएँ अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित हैं। ये संस्कृत के भी अच्छे कवि थे। इन्होंने 'योग वशिष्ठ' पर टिप्पणी लिखी।[6]

जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह की रुचि हिन्दी भाषा में थी। उन्होंने ब्रजभाषा में 'भाषा भूषण' नामक ग्रन्थ लिखा।[7] बिहारी लाल का जन्म ग्वालियर के समीप गोविन्दपुर में हुआ था। इन्हें मिर्जा राजा जयसिंह का संरक्षण प्राप्त था, जिन्होंने इनको राजकवि की उपाधि से विभूषित किया था। अपने संरक्षक को विलास में डूबा हुआ देख कर निम्नलिखित दोहा लिख कर उनके पास भेजा :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहिकाल।
अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

---

1. बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 259
2. वही, पृ० 260
3. चिन्तामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर चार भाई थे, रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 243
4. मिश्रबन्धु, विनोद, जिल्द 2, पृ० 457-59, हिन्दी शब्द सागर, जिल्द 4, पृ० 133
5. यह पिंगल भाषा का विशद ग्रन्थ है।
6. मिश्रबन्धु विनोद, जिल्द 2, पृ० 453-54; बनारसी प्रसाद सक्सेना, आपसिट, पृ० 260
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 100

बिहारी ने 'सतसई' की रचना की है, जिसमें दोहे और छन्दों का प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा ब्रज है, परन्तु राजस्थान और बुन्देलखण्ड में रहने के कारण राजस्थानी और बुन्देलखण्डो शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। कहीं-कहीं पर इन्होंने फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है।

बिहारी ने श्रृंगार का सुन्दर वर्णन किया है और संयोग तथा वियोग की सभी अवस्थाओं को कुशलता से दर्शाने का प्रयास किया है। उन्होंने श्रृंगार के सभी प्रसंगों, जैसे नखशिख, नायिका भेद, मान, प्रवास और हाव-भाव को अच्छी तरह से अपनी रचनाओं में दिखाया है। इन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन किया है।[1] पाठक शब्दों के बहाव में बहने लगते हैं। जैसे :—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर॥

बिहारी की विशेषता यह है कि श्रृंगारी कवि होते हुए भी उन्होंने भक्ति सम्बन्धी दोहे लिखे हैं। कहीं-कहीं हास्य रस में भी दोहे लिखे हैं। उर्दू का समावेश इनकी रचना में कहीं-कहीं मिलता है।

मतिराम की गणना केशव, देव, पद्माकर आदि रीतिकाल के प्रमुख कवियों के साथ की जाती है।[2] वे चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। इनका जन्म सन् 1617 ई० को तिकवाँपुर में हुआ था। 'ललितललाम' इनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें 444 पद हैं। इनका रस सम्बन्धी 'रसराज' बहुत प्रसिद्ध है। इनकी अन्य पुस्तकें हैं, 'साहित्य सार', 'लक्षण श्रृंगार', 'मतिराम सतसई'। इनकी भाषा शब्दाडम्बर से मुक्त है।[3] इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। मतिराम की रचना में अर्थ गाम्भीर्य के गुण की विशेषता है।[4]

भूषण (1613–1715) को चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया। तभी से ये भूषण के नाम से प्रसिद्ध हैं।[5] इनके तीन प्रख्यात ग्रन्थ हैं—'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक'। इन

1. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 97
2. वही, पृ० 99
3. रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 233-34
4. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 108
5. इनके वास्तविक नाम को जानकारी नहीं मिलती। रामचन्द्र शुक्ल, आपसिट, पृ० 236.

पुस्तकों पर रीतिकाल का प्रभाव है। इनकी रचित तीन और अन्य पुस्तकें—'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और भूषण हजारा' कही जाती हैं। जिस प्रकार देव और मतिराम ने श्रृंगार रस में अपनी रचनाएँ लिखीं, भूषण ने वीर रस में कविताएँ लिखीं।

भूषण राष्ट्रवादी विचारधारा के कवि कहे जाते हैं।[1] इन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा देश में राष्ट्रीय चेतना जागृति की। औरंगजेब के शासन-काल में हिन्दू सभ्यता और संस्कृति पर गहरा आघात हो रहा था और शिवाजी ने इसकी रक्षा करने का संकल्प लिया, जैसा भूषण के पद से पता चलता है—

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यौ अति रचना सुघर मैं।
हिन्दुअन को चोटी रोटी राखी, राखी है,
सिपाहिन की कन्धे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में॥

कुछ आलोचकों ने भूषण को जातीय कवि कहा है, परन्तु औरंगजेब के अन्याय के विरोध में उन्होंनें आवाज उठाई।[2] मुसलमानों के विरोधी होते तो यह क्यों कहते—

बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये।
हिन्दू और तुरक की कुरान वेद दब की,
और बादशाहन में दूनी चाह हिन्दुन को,
जहाँगीर शाहजहाँ शाख पुरै तन की।

भूषण ने राजा जयसिंह और जसवन्त सिंह की आलोचना की, क्योंकि इनकी सहानुभूति अन्याय के प्रति थी।[3] अन्याय के विरोध में भूषण ने न केवल मुगल सम्राट् औरंगजेब अपितु हिन्दू शासक जयसिंह, जसवन्त सिंह एवं उदयभान की भी कटु आलोचना की। उनकी आवाज व्यक्ति विशेष के विरुद्ध नहीं, अपितु समाज में अन्यायपूर्ण शासन के विरोध में थी।

भूषण की काव्य भाषा ब्रज है, किन्तु उन्होंने अरबी, फारसी, अपभ्रंश, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, मराठी शब्दों का भी खुल कर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।[4]

1. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 104
2. हिन्दू दिग्दर्शन, पृ० 133
3. वही।
4. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 101

भूषण को हिन्दुत्व पर अभिमान था। उन्होंने कविता के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख भी किया है। इनके अलंकारों में अस्पष्टता दिखलाई पड़ती है।[1]

उर्दू साहित्य

उर्दू भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विरोधी मत हैं। डॉ० महमूद शेरानी इस विचार से सहमत नहीं हैं कि उर्दू की उत्पत्ति एक से अधिक भाषाओं से हुई।[2] परन्तु डॉ० मसूद हुसेन के अनुसार उर्दू की उत्पत्ति फारसी और हरियाणी के मेल से हुई।[3] सिंध और सुल्तान पर अरबों के अधिकार हो जाने से देशी और विदेशी भाषाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आईं, जिसके फलस्वरूप एक नई भाषा विकसित हुई।[4]

उर्दू के विकास के प्रथम काल (636-986) में मुसलमानों का आधिपत्य केवल पंजाब और सिंध तक था, लेकिन विकास के दूसरे काल (986-991-2) में मुसलमानों का अधिकार भारत के अन्य कई स्थानों पर हो गया था। इस काल में भारत में अरबी, तुर्की, ईरानी, अफगानी आदि विद्वान् यहाँ आकर बस गये, जिनका व्यापक प्रभाव हिन्दी के विद्वानों पर पड़ा।[5]

डॉ० युसुफ हुसेन ने डॉ० मसूद हुसेन के इस मत से कि फारसी और हरियाणी के संयोग से उर्दू की उत्पत्ति हुई, सहमति प्रकट की है।[6]

चन्दबरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी और फारसी के शब्द मिलते हैं। उर्दू के विकास का तीसरा काल 1192 ई० के बाद माना जाता है, जब पृथ्वीराज की पराजय के बाद भारत पर मुसलमानों का प्रभुत्व हो गया। दिल्ली मुसलमानों की राजधानी हो गई और विद्वान् दूर-दूर से आकर वहाँ बसने लगे। ऐसी परिस्थिति में दिल्ली और आस-पास बोली जाने वाली खड़ी बाली प्रभावित हुई।[7] इस प्रकार उर्दू कई भाषाओं के सहयोग से विकसित हुई, वे जो आगे चल कर एक स्वतंत्र भाषा बन

1. गुलाबराय, आपसिट, पृ० 105
2. महमूद शेरानी, पंजाब में उर्दू, पृ० 21; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 99-100
3. मसूद हुसेन, मुकदमा-ए-तारीखे जबानी उर्दू, उद्धृत युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 101
4. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 75
5. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 101
6. वही, पृ० 102
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 76

गई। अमीर खुसरो ने इसे 'हिन्दवी' या 'देहलवी'[1] कहा।

प्रमुख सूफी सन्त जैसे ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा बख्तयार काकी, हजरत फरीदउद्दीन गंजशकर, हजरत निजामुद्दीन औलिया ने इस नई भाषा के विकास में काफी योगदान दिया। उन्होंने अपने उपदेशों में उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया।[2] अमीर खुसरो ने (1252-1324) में फारसी की कविता में उर्दू के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया। इन्होंने फारसी और उर्दू (अथवा हिन्दवी) की मिश्रित भाषा में गजलें लिखीं। उन्हें अपनी हिन्दवी की कविताओं पर बहुत अभिमान था, जैसा कि उनकी पुस्तक 'गुर्रतुल कलाम' से पता चलता है।[3] खुसरो की रचनाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। 'हिन्दवी' केवल दिल्ली और उसके निकट प्रदेशों तक ही नहीं सीमित रही, बल्कि इसका प्रचार सुदूर प्रदेशों में भी हुआ।[4] उर्दू के प्रख्यात विद्वान् मीर मुहम्मद तुर्का मीर ने अपने ग्रन्थ 'निकातुश शोअसा' में लिखा है कि अमीर खुसरो की रचनाएँ दिल्ली में सर्वाधिक लोकप्रिय थीं।[5]

दिल्ली सूफी मतों का केन्द्र बन गया। कुतुबुद्दीन बख्तयार काकी के बाद हमीदुद्दीन नागोरी ने उसे अपना केन्द्र बनाया। सूफी सन्तों ने जान लिया कि फारसी भाषा के माध्यम से वे साधारण जनता तक अपना सन्देश नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि फारसी जानने वालों की संख्या बहुत कम थी। इसलिए इन सन्तों ने हिन्दवी के माध्यम से लोगों को अपने उपदेश दिये।[6] शेख फरीदउद्दीन गंजशकर ने अपने शिष्यों से बातचीत में 'हिन्दवी' के शब्दों का प्रयोग किया। मीरखुर्द ने 'सयारूल औलिया' में शेख फरीदुद्दीन की हिन्दवी में वार्ता का उल्लेख किया है। शेख निजामुद्दीन औलिया ने भी 'हिन्दावी' के शब्दों का प्रयोग किया, जिसका 'फवायेदुल फुवाद' के लेखक ने विस्तार से वर्णन किया है।

---

1. वही, अबुल फज्ल ने भी इस भाषा को 'देहलवी' कहा है, देखिए—युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 102
2. रफिया सुल्तान, उर्दू नस्र का आगाज और इरतका, पृ० 23
3. अमीर खुसरो ने इस ग्रन्थ में लिखा है—"मैं एक भारतीय तुर्क हूँ और आपको 'हिन्दवी' में उत्तर दे सकता हूँ। मेरे अन्दर मिस्री-शकर नहीं है कि अरबी में बात करूँ। (गुर्रतउलकमाल, पृ० 66)
4. रफिया सुल्तान, आपसिट, पृ० 78
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 78; युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 105
6. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 107

गुजरात और दक्षिण पर अलाउद्दीन खल्जी के अधिकार हो जाने के बाद इन क्षेत्रों में 'हिन्दवी' का विकास किया गया।[1] ख्वाजा सैय्यद मुहम्मद गेसूदराज (मृ० 1432) ने 'मिशजल आशीकीन' लिखी, जो 'हिन्दवी' भाषा की सर्वप्रथम पुस्तक कही जाती है। इसका सम्पादन मौलवी अब्दुल हक साहेब ने किया।[2] ख्वाजा साहब ने हिन्दवी गद्य लेखन परम्परा चलाई, जिसको उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों ने अपनाया और इस प्रकार दक्षिण में 'हिन्दवी' (उर्दू) के विकास के लिए समुचित प्रयास किया गया। दूसरे जिन सूफी सन्तों ने भी उर्दू के विकास के लिए अपना योगदान दिया उनके नाम हैं—शेख हमीदउद्दीन नागोरी, शेख शर्फउद्दीन बू अली कलन्दर, शेख सिराजुद्दीन उस्मान, शेख शर्फुद्दीन याह्या मनियारी, शाह बुरहानुद्दीन गरीब, शेख अब्दुल कुद्दुस गंगोही, शाह मुहम्मद धौस ग्वालियरी, शाह अमीनुद्दीन आला।[3]

सूफी सन्तों के अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने भी 'हिन्दवी' (उर्दू) के माध्यम से लोगों को अपना सन्देश दिया, क्योंकि यह भाषा अधिक प्रचलित थी।[4] कबीर ने अपने पदों में अरबी, फारसी तथा 'हिन्दवी' के शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर ने कुछ गजलें भी लिखी हैं, जो रूपवाद की उर्दू के समान हैं।[5] नानक ने भी अपने उपदेशों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए हिन्दवी के शब्दों का प्रयोग किया।[6] सूरदास और तुलसीदास ने भी उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है।[7]

दक्षिण में उर्दू के विकास में शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य शेख बुरहानुद्दीन गरीब और हजरत बन्दे नवाज गेसूदराज ने अधिक योगदान दिया है। बहमनी राज्य

1. रफिया सुल्ताना, आपसिट, पृ० 46
2. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 107; अब्दुल हक, उर्दू की इब्तेदाईनशोवनुमा, पृ० 16 कुछ विद्वान् शेख ऐनुद्दीन गंजुल इस्लाम (मृ० 1332 ई०) को उर्दू पद्य का सर्वप्रथम लेखक मानते हैं, परन्तु इनकी लिखी पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। (देखिये रघुपति सहाय फिराक, उर्दू भाषा और साहित्य, पृ० 83)
3. वही, पृ० 108
4. वही।
5. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 79
6. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 109-10
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 80

के पतन के बाद दक्षिण में उर्दू के विकास के लिए दो केन्द्र—गोलकुण्डा व बीजापुर बन गये। गोलकुण्डा के शासकों ने न केवल विद्वानों को प्रश्रय दिया, परन्तु वे स्वयं उर्दू में पद लिखते थे।[1] मोहम्मद कुतुबशाह और अब्दुल्ला कुतुबशाह दक्षिणी शैली में कवितायें लिखते थे। गोलकुण्डा राजदरबार में अनेक कवियों और विद्वानों को सम्मान प्राप्त था, उनमें प्रमुख थे 'कुतुब व मुश्तरी' और 'सब रस' के रचयिता वजीही, सैफुल मुलुक का बदय्युल धमाल और 'तूतीनामा' के लेखक इब्ने निशाती।[2]

बीजापुर के आदिलशाही सुल्तान कला और शिक्षा के प्रेमी थे। उनके राज दरबार में 'फाथनामा' के लेखक हशन शौकी, चन्दरभान वा 'मह्यार' कविता के रचयिता मुकीम और मसनवी 'खबरनामा' के लेखक रुस्तामी को संरक्षण प्राप्त था। इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय को भारतीय संगीत में दक्ष होने के कारण 'जगतगुरु' की उपाधि दी गई थी।[3] उसने संगीत पर एक पुस्तक 'नौरस' लिखी और दक्षिणी उर्दू को फारसी के स्थान पर राजभाषा बनाया। अली आदिलशाह के समय में बीजापुर दरबार में मुल्ला नुसरती को सम्मान प्राप्त था। उसने 'अलीनामा' और 'गुलशने इशाक' नामक ग्रन्थों की रचना की।[4]

गुजरात में भी सूफी सन्तों ने उर्दू के विकास में अपना योगदान दिया। इनमें प्रमुख सन्त थे शेख कुतुब आलम और शेख अहमद खत्तू, जो तैमूर के आक्रमण (1398) के बाद गुजरात चले गये थे और जहाँ उन्होंने उर्दू में अपने शिष्यों और जनता को उपदेश दिया। 'मीराते सिकन्दरी' में उनके सिद्धान्तों और उपदेशों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[5] कुछ समय के बाद गुजरात में उर्दू लेखन की एक नयी शैली का आरम्भ हुआ, जिसे गुजराती शैली कहते हैं। 'जवाहरुल असरार' के लेखक शाह अली मुहम्मद जीव 'खूब तरंग' के लेखक खूब मुहम्मद चिश्ती,[6] युसुफ जुलेखा के लेखक अमीन ने गुजराती शैली में ग्रन्थ लिखे। मीरनजी शमशुल उश्शाक और उनके पुत्र बुरहान जानम गुजरात के ही निवासी थे, लेकिन इन दोनों को इब्राहीम

1. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 109
2. वही।
3. वही, पृ० 109-110
4. वही, पृ० 110
5. वही।
6. इन्होंने अरबी और फारसी के शब्दों का गुजराती शैली में रूपान्तर किया। इनकी दूसरी प्रमुख पुस्तक थी 'चन्द चन्दन'। वे अकबर के समकालीन थे।

आदिलशाह ने आमंत्रित किया और वे बीजापुर में बस गये। इन सभी विद्वानों ने अपनी शैली में उर्दू का विकास किया।

बाबर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुक ए बाबरी'[1] में अनेक उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है। उसने अपने 'दीवान' में भी उर्दू शब्दों को स्थान दिया है।[2] उस समय फारसी और उर्दू मिश्रित भाषा में गजलें लिखने की परम्परा शुरू हो गई थी। अकबर के काल में बहुत सी अरबी, फारसी और संस्कृत की पुस्तकों के अनुवाद किये गये थे।

अकबर और राजपूतों के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण उर्दू के विकास में सहायता मिली। अकबर ने सभी भू राजस्व सम्बन्धी कागजातों को हिन्दी में रखने का आदेश दिया, परन्तु बाद में राजा टोडरमल ने यह व्यवस्था की, सरकारी कागजातों में फारसी का उपयोग किया जायेगा। फलतः लोगों ने फारसी सीखने का प्रयत्न किया। इससे उर्दू के प्रसार में भी सहायता मिली।[3] शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में उर्दू का एक स्तर निर्धारित हुआ; और उस काल में रेखता (उर्दू) का पूर्ण रूप से विकास हुआ। इसी समय से उर्दू शायरी की परम्परा आरम्भ हुई।[4]

चन्दर भान ब्राह्मण, मुइजुद्दीन[5] मुसावी खाँ जफर जताली, मिर्जा अब्दुल गनी कश्मीरी और मिर्जा बेंदिल इस काल के प्रमुख कवियों में थे, जिन्होंने उर्दू में शायरी लिखी। इन कवियों की रचनाओं ने उर्दू के विकास में एक नया मोड़ दिया।[6] इससे शम्सुद्दीन वाली (1668-1744) जिन्हें रेखता का जन्मदाता कहा जाता है, को बड़ी प्रेरणा मिली। शम्सुद्दीन वली ने अहमदाबाद में शिक्षा प्राप्त करने के बाद औरंगाबाद में रहकर कविताएँ लिखना प्रारम्भ किया। दिल्ली में उनकी भेंट प्रसिद्ध सूफी सन्त सादुल्ला गुलशन से हो गई (1700) और वे उनके शिष्य हो गये। अपने गुरु की सलाह पर शम्सुद्दीनवली ने रेखता में फारसी विषय और शैली का समावेश किया।

---

1. इसे बाबर ने तुर्की भाषा में लिखा।
2. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 111
3. अकबर के काल में उर्दू को लोग रेखता के नाम से जानने लगे। (लइक अहमद, आपसिट, पृ० 8
4. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 81
5. यह शाहजहाँ के दरबार में मुन्शी थे। इन्हें उर्दू शायरी का बड़ा शौक था। (देखिये, बी० पी० सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 254-55)

46. युसुफ हुसेन, आपसिट, पृ० 14

उन्होंने दीवान लिखना आरम्भ किया ।[1] 1722 ई० में शम्सुद्दीन वली मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह के निमन्त्रण पर दिल्ली गये । जहाँ लोगों ने उनकी रचना की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।[2] इन्होंने अपनी रचनाओं में फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया । शम्सुद्दीन वली के आदेशों का अनुशरण आबरु, आरजू, हातिम जनजानव मजहर ने किया, और उन्होंने उर्दू का स्तर ऊँचा किया ।[3] उर्दू में गजलें, कसीदे, मसनवी, मरसिया और रुबाई आदि की शैली फारसी भाषा से ली गई है ।[4] शम्सुद्दीन वली के बाद उनके शिष्यों ने उनकी परम्परा को बनाये रखा । उनके शिष्यों में प्रमुख थे मीर तकी, मीर ख्वाजा, मीर दर्द, सौदा, मीर सोज, मुशफी और इंशा ।

मीर सोज और सौदा लखनऊ के नवाब सादत अली खाँ के निमन्त्रण पर वहाँ गये और बस गये । नवाब एक पृथक् लखनऊ की उर्दू शायरी का विकास करना चाहता था । आतिश और नासिख की लखनऊ के प्रसिद्ध शायरों में गणना की जाती है ।[5] मीर अनीस और मिर्जादाबिर ने इमाम हुसेन के प्राणोत्सर्ग पर मरसिया लिखे और उर्दू भाषा का स्तर ऊँचा उठाया । दिल्ली में जौक, गालिब और मोमिन ने उर्दू शायरी का स्तर बहुत ऊँचा उठाया । गालिब और मोमीन ने उर्दू शायरी में फारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया ।[6] परन्तु गालिब के शिष्यों ने इस परम्परा को नहीं अपनाया, और उन्होंने सरल उर्दू भाषा में अपनी रचनाएँ कीं ।

इस प्रकार उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास दो संस्कृतियों के समीप आने का परिणाम है । किसी एक संस्कृति को इसकी उत्पत्ति का श्रेय नहीं है और न इसके विकास में किसी वर्ग विशेष का हाथ है । सैय्यद सुलेमान नदवी ने लिखा है, आजकल[7] बाज फाजिलों ने पंजाब में उर्दू और बाज अहल दकन ने दकन उर्दू और बाज अजीजों

---

1. वही, पृ० 115; शम्सुद्दीन वली ने दिल्ली में बोले जाने वाले मुहावरों का प्रयोग किया है । (देखिये, मौलाना अब्दुल सलाम नदवी, शेरूलहिन्द, भाग 1, पृ० 26)
2. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 82
3. युसूफ हुसेन, आपसिट, पृ० 116
4. वही ।
5. वही ।
6. गालिब ने अपनी रचनाओं में तर्क और दर्शन का भी समावेश किया । (वही, पृ० 117)
7. लइक अहमद, आपसिट, पृ० 84

ने गुजरात में उर्दू का नारा बुलन्द किया। लेकिन हकीकत यह मालूम होती है कि हर मुम्ताज सूबे की मुकामी बोली में मुसलमानों की आमद व रफ्त मेजनोल से जो तग्यूरात हुये। उन सब का नाम उर्दू रखा गया है।" सभी भारतवासियों ने इस साहित्य को[1] समृद्ध बनाने में योगदान दिया।

संस्कृत

संस्कृत भारत की सबसे प्राचीन भाषा है। हर्ष की मृत्यु के बाद इस भाषा का विकास नहीं हुआ। जो ग्रन्थ इस युग में इस भाषा में लिखे गये वे लोगों की सामाजिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं थे। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार 1200 ई० के बाद प्राचीन संस्कृत साहित्य का विकास नहीं हुआ, यद्यपि इस भाषा में ग्रन्थ तैयार होते रहे। उनके अनुसार 1200 से 1550 ई० तक का काल उत्तरी भारत के इतिहास का 'अन्धकार' युग है।[2]

मुस्लिम प्रशासन के अन्तर्गत संस्कृत की कोई प्रगति नहीं हुई, क्योंकि राज-भाषा फारसी थी। दिल्ली के सुल्तानों ने संस्कृत के विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। सल्तनतकाल में कुछ संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद फारसी भाषा में हुआ। इसका उद्देश्य संस्कृत पुस्तकों के व्यावहारिक ज्ञान भण्डार को फारसी जानने वाले लोगों तक पहुँचाना था।[3] जो पुस्तकें इस काल में लिखी गई उनमें कोई मौलिकता नहीं थी। विजयनगर, वारंगल और गुजरात के हिन्दू शासकों ने संस्कृत के विकास के लिए अवश्य योगदान दिया।[4] कुछ अंश तक बंगाल और दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के कारण भी संस्कृत का विकास हुआ। संस्कृत साहित्य में प्रायः ग्रन्थ नाटक, काव्य, दर्शन और आलोचना से सम्बन्धित थे। अधिकांश पुस्तकें दक्षिण भारत, बंगाल, मिथिला और पश्चिम भारत में लिखी गयीं।[5] उत्तर प्रदेश और कश्मीर में, मुसलमानी प्रशासन होने के कारण संस्कृत की उल्लेखनीय प्रगति न हो सकी।

मल्लाचार्य (साकल्यमल्ल) ने उदारराघव[6] नामक ग्रन्थ लिखा (1330) जो रामायण की कहानी से सम्बन्धित है। अगस्त्य ने जो वारंगल के राजा प्रताप

---

1. सैय्यद सुलेमान नदवी, मकालालाते उर्दू, पृ० 51
2. उद्धृत, एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 365
3. एम० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 129
4. वही।
5. वही।
6. वही।

रुद्रदेव के दरबारी कवि थे, कई पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें 'कृष्णचरित', 'प्रतापरुद्र यशो भूषण', 'बाल भारत' प्रमुख हैं। विद्या चक्रवर्ती तृतीय ने 'रुक्मिणी कल्याण' लिखा। 15वीं सदी के वामन भट्ट मल्ल बाण ने 'नलअभ्युदय' और 'रघुनाथ चरित' लिखा। लोलिम्बराज ने 'हरिविलास' में कृष्ण के जीवन लीला का वर्णन किया है। विद्यापति ने 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' लिखी, जिसमें 1000 पद हैं। रामचन्द्र ने 'रसिक रंजन' की रचना की (1524)। चियाम्बर ने 'राघव पाण्डव यादवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। विद्यारण्य ने 'शंकर विजय' लिखा।

विजय नगर के शासक कृष्णदेव राय ने दिवाकर को संरक्षण दिया। उसने कई ग्रंथ लिखे, जिनमें 'पारिजातहन', 'देवी स्तुति', 'रसमंजरी' और 'भारत अमृत' प्रमुख हैं।[1] कीर्तिराज ने 'नेमीनाथ महाकाव्य' और जिनप्रभा ने 'द्विआश्रय' काव्य की रचना की। सोमकीर्त्ति ने 'सप्तव्यासन चरित', 'प्रद्युम्न चरित' और 'यशोधरा चरित' लिखा। जोनराज और उसके शिष्य श्रीवर ने द्वितीय और तृतीय 'राजतरंगिणी' लिखी। श्रीवर जैन की 'राजतरंगिणी' में 1459 से 1486 ई० की घटनाओं का वर्णन किया गया है।[2] प्रज्यभाट और उसके शिष्य शुक ने 'राजवली पताका' की रचना की। इसके अतिरिक्त न्याय चन्द्र की 'हम्मीर काव्य', सोम चरित गुञ्ज की 'गुरुगुणरत्नाकर', उदयराज़ की 'राजविनोद', पत्तू भाट की 'प्रसंग रत्नावली', विद्यारण्य की 'राजकाल निर्णय' नामक पुस्तक इस काल में लिखी गई है।[3]

जयदेव की रचना 'गीत गोविन्द' में कृष्ण और राधा के प्रेम की लीला का वर्णन है। भानुदत्त ने 'गीत गौरीश', 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' की रचना की। राजा पुरुषोत्तम देव ने 'अभिनवि गीत गोविन्द', जीव गोस्वामी ने 'स्तव माला' और मिल्हण ने 'शान्ति शतक'[4] लिखे। धनदराज ने तीन शतक 'श्रृंगार', 'नीति' और 'वैराग्य' लिखे (1434)।[5] द्याद्विवेद की 'नीति मंजरी' सयान की 'ऋगवेद भाष्य' पर आधारित है। मदन की 'कृष्ण लीला' में 84 पद हैं।

'मेघदूत' के आधार पर वेंकटानाथ ने 'हम्स सन्देश' लिखा। इसके अतिरिक्त वारद (नारायणाचार्य) ने 'कोकिल सन्देश' और 'शुक सन्देश', वामन भट्ट ने 'हम्स

1. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 366
2. वही।
3. ए० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 130
5. इस पुस्तक की रचना से मिल्हण ने भर्त्तिहरि के ग्रन्थों से सामग्री ली है।
4. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 367

सन्देश', विष्णुदास ने 'हम्सदूता', गोस्वामिन ने 'उधवदूत' की रचना की। सारंगधर ने 'सारंगधार पद्धति' लिखी (1363)। 14वीं शताब्दी में सूर्य कलिंगराज ने अपनी पुस्तक 'सुक्ति रत्नाकर' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पद्धतियों में वर्णन किया है।[1] सायण ने 'सुभाषित सुद्धनिधि' का संकलन 84 पद्धतियों में किया। रूपा गोस्वामी ने अपनी पुस्तक 'पद्यावली' में कृष्ण लीला का वर्णन 386 पदों में किया है। गंगा देवी ने 'मधुर विजय' और अभिराम कामक्षी ने 'अभिनवरामाभ्युदय' नामक ग्रन्थ लिखे। तिरुमलम्ब ने वारदाम्बिका और अच्युतराय के प्रेम और परिणय का वर्णन अपनी पुस्तक 'वारदम्बिका परिणय' में किया है।[2]

इस काल में संस्कृत नाटकों का स्तर गिर गया। मुस्लिम शासक नाटकों से घृणा करते थे। यही कारण था कि संस्कृत नाटककारों को राज्य में कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। संस्कृत नाटककारों को हिन्दू राज्यों में संरक्षण मिला। जयदेव ने रामायण की कथा का वर्णन अपने नाटक 'प्रसन्नराघव' में किया है। इसी प्रकार महादेव ने 'अभदूत दर्पण', रवि वर्मन ने 'प्रद्युम्न अभ्युदय', रूपा गोस्वामी ने 'विदग्ध माधव' और 'ललित माधव', शेष कृष्ण ने 'कंस वध' और राम वर्मन ने 'रुक्मिणी परिणय' लिखे।

क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 11वीं सदी में 'चित्र भरत' कुल शेखर वर्मन की 'सुभद्राधना माज्य' और 'तपती समवरण', वीरू पक्ष की 'नारायण विलास' और 'उन्मत्त राघव', विशालदेव विग्रहराज की 'हरकेली नाटक', वामन भट्ट बाण (1400) का 'पार्वती परिणय' और 'कनकलेखा' और नेपाल की जगज्योतिर्माला (1617-33) की 'हरि गौरी विवाह' पुस्तकें इस काल में लिखी गयीं। चौदहवीं सदी में मणिका ने 'भैरवानन्द' और 15वीं सदी में हरिहर ने 'भर्त्तहरिनिर्वेद' नामक नाटक लिखा। इसके अतिरिक्त जीवराम ने 'मुरारीविजय', कृष्णदेवार्य ने 'जम्बुवती कल्याण' और 'उषा परिणय', प्रताप रुद्रदेव ने 'उषा रागोदम' की रचना की।[3] उपरोक्त नाटक पौराणिक कथाओं पर आधारित थे। कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गये, जैसे 12वीं सदी में सोमदेव का 'ललिता विग्रहराज नाटक', विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्र कल्याण' (1300), और जयसिंह सूरी (1219-1229) का 'हम्मीर माद मर्दन'।[4]

---

1. एम० एल भगी, आपसिट, पृ० 367
2. वही।
3. वही, पृ० 368
4. वही।

गंगाधर ने अपने ग्रंथ 'गंगादास प्रताप विलास' में गुजरात के शासक मुहम्मद शाह द्वितीय (1443-52) और चम्पानेर के युवराज के संघर्ष का वर्णन किया है। वेंकटनाथ का 'संकल्पसूर्योदय', जीन मण्डन का 'कुमारपालप्रबन्ध' और बिल्हण की 'कर्ण सुन्दरी' जो (1080-1090) में लिखा गया, विशेष उल्लेखनीय है। मदन बाला सरस्वती ने 'परिजात मंजरी', मथुरादास ने 'वृषभानुजा', उदण्डनाथ ने 'मल्लिक यारुत', रामाचन्द्र राम ने 'कौमुदी मित्रानन्द', रामाभद्र मुनी ने 'प्रबुद्धरूहीण्य' और गोविन्द चन्द्र ने 'लताकमेलका' की रचना की।

विजयनगर के राजा नरसिंह (1487-1507) के दरबार में ज्योतिश्वर कवि शेखर को सम्मान प्राप्त था। उन्होंने 'धूर्तसमागम' की रचना की। इसके अलावा जगदीश्वर ने 'हास्यार्णव', गोपीनाथ चक्रवर्ती ने 'कौतकासर्वस्व', समराज दीक्षित ने 'धूर्त्त नर्तक', वामन भट्ट बाण ने 'श्रृंगार भूषण', वार्दाचार्य ने 'वसन्तालिका', वत्सराज ने 'समुद्र मंथन', 'कपूर चरित' और 'हास्य चूड़ामणि', विश्वनाथ ने 'सौगन्धीका-हरण (1316), कंचन पण्डित ने 'धनञ्जय विजय', वत्सराज ने 'रुक्मिणी हरण' की रचना की।[1]

इस काल में छाया नाटक पर ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें मेघप्रभाचार्य का 'धर्मा-भ्युदय', सुभट का 'दूतांगदा' प्रमुख रचनाएँ हैं। कुछ महानाटक पर रचनाएँ लिखी गयीं—जैसे हनुमान का 'हनुमान नाटक' और रामकृष्ण की 'गोपालकेलि चन्द्रिका'। बल्हाल सेन ने 'भोज प्रबन्ध' में राजा भोज के दरबार से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख किया है। दसवीं सदी में त्रिविक्रम भट्ट ने 'दमयन्ती कथा' लिखी, सोमप्रभा सूरी ने 'यशस्तिलका' (959) की रचना की। कृष्णदेव राय स्वयं कवि थे। उन्होंने 'पारिजातफरण' नामक पुस्तक लिखी।[2]

मुगल काल में संस्कृत के विकास में सहायता मिली। बाबर और हुमायूँ ने इसके विकास में कोई रुचि नहीं दिखाई। अकबर पहला मुगल सम्राट् था जिसने संस्कृत के विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया। उसके समय में फारसी-संस्कृत शब्दकोष तैयार हुआ। अबुल फज्ल ने अकबर के दरबार में सम्मानित संस्कृत के विद्वानों का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। हिन्दू पण्डितों और जैन आचार्यों ने कई बहुमूल्य ग्रन्थ लिखे।[3]

---

1. एम० एल० भगी, आपसिट, पृ० 369-70
2. वही, पृ० 370
3. एम० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 331

दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय का इतिहास संस्कृत में लिखा, जिसकी पाण्डुलिपि लन्दन के इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। एक जैन विद्वान् पद्मसुन्दर ने 'अकबर शाही श्रृंगार दर्पण' की रचना की। सिद्धिचन्द्र उपाध्याय ने 'भानुचन्द्र चरित्र' लिखा, जिसमें जैन मतावलम्बियों की अकबर के साथ हुई वार्ता का वर्णन किया गया है। देव विमल ने 'हीर सौभाग्यम्' नामक पुस्तक लिखी, जो प्रख्यात विद्वान् हरि विजय सूरी को समर्पित की गई। इस पुस्तक में जैन भिक्षुओं का वृत्तान्त है, जिन्होंने अकबर से सम्पर्क स्थापित किया।[1] हरि विजय सूरी के दूसरे शिष्य ने 'कृपा रस कोष' की रचना की।

जहाँगीर ने अपने पिता अकबर की नीति का अनुसरण किया और संस्कृत के विद्वानों को संरक्षण दिया। यद्यपि शाहजहाँ के धार्मिक विचार कट्टर थे, उसने अपने पूर्वजों की तरह संस्कृत के विद्वानों को दरबार में सम्मानित किया और अनुदान दिया। प्रख्यात जगन्नाथ को जिन्होंने 'रस गंगाधर' और 'गंगालहरी' की रचना की, शाहजहाँ के दरबार में ऊँचा स्थान प्राप्त था।[2] शाहजहाँ के समय में संस्कृत के विद्वान् कवीन्द्र सरस्वती को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त था। समकालीन इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने संस्कृत के कई कवियों का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। औरंगजेब ने धार्मिक कट्टरता के कारण संस्कृत का विरोध किया और संस्कृत के विद्वानों का राजकीय संरक्षण समाप्त हो गया। विवश होकर उन्हें राज-दरबार से चले जाना पड़ा, उन्होंने हिन्दू राज्यों में शरण ली। मुगल काल में राजकीय संरक्षण के मिलने पर भी विद्वानों ने उच्च कोटि के ग्रन्थ नहीं लिखे। उनमें मौलिकता और प्रेरणा का अभाव था।[3]

क्षेत्रीय साहित्य

मराठी

मराठी साहित्य के विकास में चक्रधर भास्कर, भट्ट, नरेन्द्र और मुकुंदीय ने योगदान दिया। नामदेव ने मराठी में पद लिखे। 13वीं सदी में सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता पर अपनी टीका 'ज्ञानेश्वरी' प्राकृत मराठी में लिखी। ज्ञानेश्वर के लगभग 250 वर्ष बाद एकनाथ ने मराठी साहित्य को उन्नत बनाने में अपना योगदान दिया। इन्होंने गीता का अनुवाद मराठी भाषा में किया। 'रुक्मिणी स्वयंवर' और 'भावार्थ

1. एम० एल० श्रीवास्तव, आपसिट, पृ० 331
2. वही, पृ० 132
3. वही।

'रामायण' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। दत्तोपन्त के समकालीन थे। इन्होंने 'गीतारण्व' और 'पदरण्व' नामक ग्रन्थ लिखे। मराठी साहित्य में सन्त तुकाराम के अभंग बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त मुलेश्वर वामन पण्डित, रामदास और मोरो पन्त ने भी अपनी रचनाओं द्वारा मराठी भाषा का विकास किया।

श्रीधर स्वामी की अपनी मराठी की रचनाओं का आधार रामायण और महाभारत थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं 'हरि विजय', 'राम विजय', 'पाण्डव प्रताप' और 'शिव लीलामृत'। मुक्तेश्वर ने रामायण की रचना की। रघुनाथ पंडित ने 'नल दमयन्ती' और 'स्वयंवर ख्यान' नामक पुस्तकें लिखीं। माधवमुनीश्वर और अमृतराय महिपति ने भी मराठी के विकास में अपना योगदान दिया। रामदास एक प्रमुख कवि थे। इन्होंने 'दश बोध' नामक पुस्तक लिखी।

वामन पंडित कृष्णमार्गी कवि थे। इन्होंने महाराष्ट्र में 'भक्ति का मार्ग' दिखलाया। यमकालंकर इनकी प्रमुख रचना है। मोरोपन्त 'राममार्गी' कवि थे। इन्होंने 'केकावाली' नामक ग्रन्थ की रचना की।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मराठा शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस युग में पौवदाइ (वर्णनात्मक कृति) की रचना मराठी साहित्य में की गई। कवियों ने उच्च कोटि के 'लावणी' और 'पौवद' रचना की। रामजोशी, अनन्त फन्दी, होनजी बाल, संगन, भान, प्रभाकर, परशराम आदि इस युग के प्रमुख कवि थे।

गुजराती

जैन विद्वानों और भिक्षुओं ने अपनी रचनाओं से गुजराती साहित्य का विकास किया। जैन भिक्षुओं ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को लोगों तक पहुँचाने के लिए अनेक ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखे। बहुत से जैन कवियों ने 'रस' शीर्षक में कविताएँ लिखीं। गुणरत्न सूरी का 'भारत बहुबली रस', विजयभद्र का 'शील रस', उदयवन्त का 'गौतम स्वामी रस' और सुन्दर का 'शान्त रस' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। भक्ति आन्दोलन ने गुजराती साहित्य का बहुत विकास किया। अनेक धार्मिक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। मीरा और नरसी मेहता ने गुजराती साहित्य के विकास में बहुत योगदान दिया। नरसिंह मेहता भगवान् कृष्ण के भक्त थे। उन्होंने एक लाख पद और भक्ति गीत लिखे। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं, 'चतुर षोडशी', 'सामलदास नव विवाह,' 'धन लीला' और 'गोविन्द गमन'। मेहता ने अपने रहस्यवाद की परोक्ष रूप से अपने कृतियों में की है। उनका अनुसरण भलन और भीम जैसे प्रख्यात कवियों ने किया है।

वत्सो का 'सुभद्राहरण' और 'साधु चरित्र', वच्छराज का रस मंजरी, कुशाल लाभ वाचक का 'माधवानल काम कण्डाल रस' और तुलसी, जिन्होंने ध्रुव पर लिखा, सोलहवीं सदी के प्रमुख ग्रन्थ हैं। गुजराती गद्य साहित्य का भी विकास हुआ। 'पंच-तन्त्र', 'रामायण', 'योग वसिष्ठ' और 'गीता' का अनुवाद गुजराती में हुआ।

मुगल काल में गुजराती साहित्य का विकास हुआ। प्रसिद्ध सन्त अरवा अकबर के समकालीन थे। उन्होंने कृष्ण भक्ति की परम्परा को त्याग कर अपने धार्मिक सिद्धान्तों को व्याख्या की और मानव प्रकृति का आलोचनात्मक परीक्षण किया। 'चित्तविचार संवाद', 'शान्त प्रद' और 'केवल्यगीत' उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। उनका अनुसरण कवि भट्ट परमानन्द ने किया और गुजराती साहित्य को समुन्नतशील बनाया। उन्होंने 36 ग्रन्थ लिखे।

सामल भट्ट उच्च कोटि के विद्वान् थे। ये औरंगजेब के समकालीन थे। इन्होंने पौराणिक कथाओं और कहानियों को पद्य में प्रस्तुत किया है। 'मदन मोहन' और 'सामल रलमल' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। गुजराती साहित्य में अरवा, प्रेमानन्द और सामल भट्ट बहुत प्रसिद्ध हैं। सत्रहवीं सदी में कुछ वैष्णव और जैन विद्वानों ने उच्च स्तर के ग्रन्थ लिखे, परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के बाद गुजराती साहित्य में विद्वानों का अभाव रहा। 18वीं सदी में अच्छी पुस्तकों की रचना नहीं हुई, यद्यपि इस युग में 'गरभा' साहित्य का विकास हुआ। देवी अम्बा और काली की स्तुति में लम्बे गीत लिखे गये, जिनका गायन गुजराती स्त्रियाँ करती थीं।

बंगाली साहित्य

मध्ययुग में विद्यापति और चण्डीदास प्रख्यात कवि थे, जिन्होंने बंगाली साहित्य के विकास में अधिक योगदान दिया। विद्यापति के गीतों ने लोगों के हृदय में राधा कृष्ण के प्रति भक्ति भावना का विकास किया। इन्होंने बंगाली के अतिरिक्त संस्कृत और मैथिली में भी रचनायें कीं। इनको तिरहुत के राजा शिव सिंह के दरबार में बड़ा सम्मान प्राप्त था। बंगाल के मुस्लिम शासकों ने भी बंगाली साहित्य के विकास में अपना योगदान दिया। उन्होंने 'रामायण और महाभारत' का अनुवाद संस्कृत भाषा से बंगाली में कराया। गौड़ के सुल्तान नसरत शाह ने महाभारत का अनुवाद बंगाली में कराया और विद्वानों को संरक्षण दिया। विद्वान् कृत्तिवस ने रामायण अनुवाद संस्कृत से बंगाली में किया। मलधर वसु ने गीता का अनुवाद बंगाली में किया। उन्हें इस कार्य के लिए सुल्तान हुसेन शाह ने प्रोत्साहित किया। हुसेन शाह के सेनापति परगल खाँ ने कवीन्द्र परमेश्वर को महाभारत का बंगाली में अनुवाद करने के लिये प्रेरित किया।

चैतन्य ने अपने भजनों और गीता से बंगाली साहित्य की उन्नति की। उनके शिष्यों ने संस्कृत की धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद बंगाली में किया और अनेक भजन और पद लिखे। सोलहवीं सदी में बंगाली साहित्य में शिव और दुर्गा पर अनेक रचनायें लिखी गई।

मुगल काल में वैष्णव साहित्य की उन्नति हुई। कृष्णदास कविराज, बृन्दाबन दास, जयचंद त्रिलोचन दास और नरहरि चक्रवर्त्ती ने चैतन्य महाप्रभु की जीवनी लिखी। इस काल में बहुत सी संस्कृत की पुस्तकों और भागवत का अनुवाद बंगाली में किया गया। चण्डी देवी और मनसा देवी की प्रशस्ति लिखी गई। इस युग के बंगाली भाषा के कवियों में काशीराम दास, मुकुन्द राम चक्रवर्ती और दाना राम के नाम प्रसिद्ध हैं। मुगलों के पतन के बाद भरत चन्द्र और राम प्रसाद ने ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार बहुत से हिन्दू और मुस्लिम कवियों ने बंगाली साहित्य के विकास में योगदान दिया।

दक्षिणी साहित्य

तेरहवीं और चौदहवीं सदी में शैव आन्दोलन की प्रेरणा से दक्षिणी साहित्य का विकास हुआ। शैव सन्तों ने तमिल भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे। तेलगू और कन्नड़ साहित्य के विकास में विजय नगर के राजाओं ने योगदान दिया। राजदरबार में विद्वानों को सम्मानित किया गया। विजय नगर के शासक कृष्णदेव राय ने साहित्य के विकास में रुचि दिखलाई। वे स्वयं एक कवि थे। उन्होंने एक पद्य 'अमुक्त-मल्याद' की रचना की। अल्लसन पेट्टन एक विख्यात कवि थे, जिन्हें राजा द्वारा संरक्षण प्राप्त था। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'स्वरोचिस' मनु चरित्र अधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ 'मारकण्डेय पुराण' पर आधारित है। दूसरे प्रख्यात कवि नन्दी तिम्मन थे, जिन्होंने 'परिजात अपहरण' नामक ग्रन्थ लिखा।

मध्य काल में जैन विद्वानों ने भी धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ लिखे। असधर और हेमचन्द्र सूरी इस युग के प्रसिद्ध लेखक थे। असधर ने जैन धर्म के नैतिक सिद्धांत पर अनेक टीकायें और पुस्तकें लिखी हैं। आधुनिक युग में तुकबन्दी कविता जो क्षेत्रीय भाषाओं में मिलती है उसका समावेश 3 जैन विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य में किया था। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन विद्वानों नें कन्नड़ और तमिल भाषाओं के विकास में योगदान दिया। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र सूरी ने जो श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के थे, संस्कृत में ग्रन्थ लिखे। हेमचन्द्र सूरी ने अपनी कृतियों में आर्य सभ्यता और जैन विचारधारा में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास

किया है। डॉ० के० एम० पणिक्कर ने हेमचंद्र की तुलना वाल्मीकि, व्यास और शंकराचार्य से की है। दूसरे जैन भिक्षुओं ने कई विषयों पर अपभ्रंश और गुजराती में ग्रन्थ लिखे हैं। यह उल्लेखनीय है कि इस्लाम के प्रादुर्भाव के कारण धर्म की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी पण्डितों और विद्वानों का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो गया और साधारण वर्ग के लोग साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने लगे।

अध्याय 11

सल्तनतकालीन स्थापत्य कला

"वास्तुकला मानव जीवन की रीतिरिवाज की कहानी है। यह उस समाज का वर्णन है जिसमें इसका निर्माण हुआ है। जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र अपनी भाषा में अपना इतिहास कहता तथा लिखता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक इमारत अपने निर्माणकर्ता के व्यक्तित्व तथा राष्ट्र की छाप को प्रकट करती है।"[1]

इस प्रकार वास्तुकला उस युग की सभ्यता और समाज का दर्पण है। किसी भी युग के वास्तविक इतिहास का अनुमान उस युग की निर्मित इमारतों से लगाया जा सकता है। स्लीमेंन के अनुसार, "जिस मनुष्य ने मन्दिर, पुल, जलाशय, कारवाँ-सराय तथा अन्य जनोपयोगी इमारतों का निर्माण किया है, वह इतिहास के पृष्ठों में अमर है।"[2] मध्ययुगीन इमारतें तत्कालीन निर्माणकर्ताओं के नाम का आज स्मरण दिलाती हैं और उस समय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक इतिहास का स्पष्ट परिचय देती हैं।

हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला शैली

भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद वास्तुकला शैली का विकास विवाद का विषय बन गया है। प्रसिद्ध भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है कि इस शैली का क्या नामकरण हो।

कुछ विद्वानों ने इसे इण्डो-सारसेनिक शैली कहा है।[3] परन्तु यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि सारसेन शब्द सिरिया सीमा के अरब जाति के लिए प्रयुक्त होती है। भारतवर्ष के मुस्लिम शासन के वास्तविक संस्थापक तुर्क थे, अरब

---

1. अहमदाबाद, रोटरी क्लब के लेखों का संग्रह, पृ० 2
2. गैरेट, पृ० 302
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 3, पृ० 568

नहीं। अतः इसे इण्डो-सारसेनिक शैली कहना उपयुक्त नहीं है।[1] फर्गुसन महोदय ने इसे पठान शैली कहा है।[2] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मत भी तर्क संगत नहीं है।[3] इस नवीन वास्तुकला शैली की नींव पठानों के शासन काल में नहीं रखी गई। महमूद गजनवी तथा मुहम्मद गोरी पठान नहीं थे, बल्कि वे तुर्क मुसलमान थे।

सर जान मार्शल ने इसे भारतीय मुस्लिम शैली की संज्ञा दी है।[4] हिन्दुओं में मूर्तिपूजा थी और मुसलमान इसका विरोध करते थे। हिन्दू सजावट तथा श्रृंगार चाहते थे, इस्लाम सादगी पसंद करता था। इन विरोधी आदर्शों ने मिलकर वास्तुकला की एक ऐसी शैली को जन्म दिया जिसे हम भारतीय मुस्लिम शैली कह सकते हैं।[5] यदि इस मत को मान लिया जाय तो उन लोगों के प्रति अन्याय होगा जिनके अथक परिश्रम से इस शैली का जन्म हुआ। मुसलमानों के नाम से इसे सम्बोधित करना कि वे शासक थे, बिल्कुल अनुचित है और फिर हमें मुस्लिम राज्यों की राजधानी में पली बढ़ी वास्तुकला शैली के पूर्णरूप से मुस्लिम रूप में ही दर्शन भी वहीं होते हैं।

अर्थर उपहम पोप के अनुसार भारतवर्ष ने अपने सम्बन्धों द्वारा पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देशों की वास्तुकला को प्रभावित किया।[6] ईरान के कलाकारों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[7] भारतवर्ष ने जो कुछ दिया था ईरान ने उसे विकसित किया, तथा भारतवर्ष ने उसे नये स्वरूप में पुनः प्राप्त किया। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद पुनः इन शैलियों का उपयुक्त सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ।

भारतीय परिवेश में हिन्दू-मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज में विभिन्नता होते हुए भी दोनों ने एक दूसरे के समीप आने का प्रयास किया। वास्तुकला के क्षेत्र में दोनों में कुछ समानतायें थीं जैसे—चौक, उसके चारों ओर दालान। इन समानताओं के कारण मुस्लिम विजेताओं को हिन्दू जैन मन्दिरों को

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 3, पृ० 563
2. जेम्स फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 3 ii, पृ० 188
3. मार्शल, पृ० 568
4. असगरअली कादिरी, हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य शैली, पृ० 165
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 661
6. मार्शल, पृ० 570
7. कादिरी, पृ० 131

ध्वस्त कर मस्जिदों के निर्माण में सहायता मिली।[1] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मुसलमानों ने वास्तुकला शैली के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। त्रिज्याकार डाट, डाटदार छत तथा गुम्बद का मुसलमानों ने प्रमुख रूप से प्रयोग किया। हिन्दुओं को गुम्बद का ज्ञान था, परन्तु वे चूने का प्रयोग कम करते थे, इसी कारण वे गोल गुम्बद या बड़ी डाटें कम बनाते थे।[2] मुसलमान चौरस पाट की छतें बनाते थे। इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने लम्बी पतली मीनारों और अलंकरण में खंभे का प्रयोग किया। इन सबका सम्मिश्रण इस कुशलता से किया गया कि सभी वस्तुएँ भारतीय होती हुई भी एक नई शैली की तरह प्रतीत होती हैं। सर जान मार्शल ने उचित ही लिखा है कि "हिन्दू-मुस्लिम शैली दोनों स्रोतों के तत्वों को ग्रहण करती है, परन्तु दोनों का अनुपात समान नहीं है।"[3]

हिन्दू-मुस्लिम शैली एक दूसरे को प्रभावित कर समन्वयवादी स्वरूप ग्रहण कर रही थी। डॉ० ताराचंद के अनुसार, "मुस्लिम कला की सरलता तथा कर्कशता कम होने लगी और साथ ही हिन्दू कला की बाहुल्य शक्ति पर भी प्रतिरोध लग गया। शिल्प कौशल, अलंकरण की बहुलता तथा सामान्य पुनर्रचना हिन्दू रही, किन्तु सीधे-सादे गुम्बद तथा सपाट दीवारें, विशाल आँगन तथा डाटदार छतें मुसलमानों की लाई हुई विशेषताएँ थीं।"[4]

हेनरी शार्प का कथन है कि "इस्लाम की एकेश्वरवादी कट्टरता की अभिव्यंजना, सपाट गुम्बदों की सरलता, नोकदार मेहराबों की सरल प्रतीकात्मकता मीनारों के पतलेपन में हुई, इसके विपरीत हिन्दुओं की बहुदेववादी भावनाओं ने रूप की विभिन्नता, जटिलता, उभरे हुए काम द्वारा प्रत्येक भाग की सजावट मानव प्रतिमाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त किया। विजेता उन कला परम्पराओं से न बच सके जो उनकी ओर प्रचलित थीं। सरल इस्लामी रूप हिन्दू अलंकरण से प्रभावित होने लगा। गुम्बद की सरल कर्कशता का स्थान कलश ने ले लिया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने हिन्दुओं से भवनों तथा उनके भागों को उचित अनुपात से बनाने की कला भी सीखा।[5]

---

1. मार्शल, पृ० 570
2. वही।
3. वही, पृ० 568
4. ताराचंद, पृ० 243-4
5. उद्धृत, कादिरी, पृ० 136-7

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न केवल हिन्दू कला के ढाँचे बल्कि सम्पूर्ण भाव एवं कल्पनाएँ इस प्रकार विलीन हो गईं कि शायद ही कोई हिन्दू चित्र या रूप ऐसा हो जिसे मुसलमानों ने न अपनाया हो। इससे भी महत्वपूर्ण देन हिन्दू कला की दृढ़ता एवं सुन्दरता मुस्लिम वास्तुकला को है। सर जान मार्शल के अनुसार, "सौन्दर्य और दृढ़ता का कुछ ऐसा उत्तम संयोग भारतीय वास्तुकला में पाया जाता है जैसा अन्यत्र कहीं नहीं। ये दोनों गुण इस देश की विशेषता हैं और वास्तुकला के अन्य समस्त गुणों में उत्कृष्ट हैं।"[1]

उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए इस नवीन शैली का नाम भारतीय मुस्लिम वास्तुकला शैली न रखकर हिन्दू-मुस्लिम शैली ही रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।[2] मध्ययुगीन नवीन शैली के विकास में दोनों का ही महत्वपूर्ण योगदान है। निःसन्देह इस काल की निर्मित इमारतों का स्वरूप मुस्लिम था, परन्तु इनमें मांस तथा रुधिर भारतीय था।

हिन्दू-मुस्लिम वास्तुशैली की विशेषताएँ

(i) इस शैली की इमारतों में मीनार हैं, जो नीचे से मोटी तथा चौड़ी हैं और ऊपर की ओर पतली, जिसके प्रत्येक भाग में ठीक अनुपात दिखाई देता है।

(ii) इन इमारतों में गुम्बद हैं, जिन पर टाइलों का प्रयोग सजावट के लिए नहीं हुआ है। कलश पीतल के बने हैं, जिन पर सोने का पानी चढ़ाया गया है। इससे सुन्दरता बढ़ गई है। कहीं-कहीं पर उनमें खिड़कियाँ हैं, ताकि वायु प्रवेश कर सके।

(iii) विशाल फाटकों पर कुरान की आयतें लिखी गई हैं और उनके निर्माण की तिथि लिखी गई है, जिससे उनके निर्माता तथा निर्माण-काल का ज्ञान होता है।

(iv) कंकरीट तथा चूने के प्रयोग से इन इमारतों को मजबूत बनाया गया है।

(v) कुर्सी की ऊँचाई अधिक है, इसके निचले भाग में तहखाने हैं, ताकि उनमें छिपकर शत्रुओं से रक्षा की जा सके।

(vi) बुनियादों की दीवारें चौड़ी तथा मजबूत हैं, जिससे इमारत को हानि न पहुँच सके।

(vii) पुश्तों के प्रयोग द्वारा नदी के पानी से इमारतों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है।

---

1. मार्शल, पृ० 571
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 662

(viii) प्रत्येक भाग में समरूपता रखी गई है। इससे पूरी इमारत सुन्दर दिखाई देती है।

(ix) छज्जे का प्रयोग हुआ है।

(x) ताखों की बनावट ऊपर की ओर तथा सरल है।

(xi) छत डाटदार हैं और उन्हें दृढ़ता से पाटा गया है।

(xii) दरवाजे डाटदार हैं। लकड़ी के डाट का प्रयोग नहीं किया गया है।

(xiii) दरवाजे मेहराबदार हैं। उनके चौड़े भाग पर वृत्त बनाकर उसमें अल्लाह, मुहम्मद, अली के नामों को सुन्दर ढंग से लिखा गया है।

(xiv) सजावट का काम हुआ है, परन्तु कम। उसमें किसी प्रकार का भद्दापन नहीं है।

(xv) मस्जिदों में हौज बने हैं, ताकि नमाजी लोग स्नान कर सकें।

(xvi) कुछ मस्जिदों में हम्माम भी हैं, ताकि नमाजियों को सर्दी में गर्म पानी मिल सके।[1]

हिन्दू प्रभाव अधिक होने के कारण

दिल्ली सल्तनत की प्रारम्भिक इमारतों में हिन्दू शैली का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। हैवेल के अनुसार, "शरीर तथा आत्मा दोनों दृष्टियों से इस काल की वास्तुकला शुद्ध रूप से भारतीय और आर्य हैं, परन्तु धीरे-धीरे हिन्दू प्रभाव घटता गया।"[2]

मुसलमान विजेता के रूप में भारतवर्ष में आए थे। उनके साथ कलाकार नहीं थे। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद जब उन्होंने इमारतों के निर्माण का निश्चय किया तो बाध्य होकर हिन्दू कलाकारों को नियुक्त करना पड़ा।[3] अतः हिन्दू कारीगरों ने अपनी शैली के माध्यम से उनके विचारों का अनुवाद निर्माण कार्य में किया। हिन्दुओं के प्रतिरोध तथा विद्रोह, बाह्य आक्रमण और राजनीतिक अस्त-व्यस्तता के कारण भवन-निर्माण की सामग्री उन्हें एकत्रित करना सम्भव नहीं था, इस कारण ध्वस्त इमारतों की सामग्री का प्रयोग उन्हें करना पड़ा। अतः हिन्दू शैली का प्रभाव स्वाभाविक था।[4]

1. कादिरी, पृ० 137-9
2. उद्धृत, कादिरी, पृ० 209
3. एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 412
4. वही, पृ० 413

मुसलमान शासकों ने हिन्दू मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया। इस कार्य में उन्होंने कठिनाई का अनुभव नहीं किया, क्योंकि दोनों में कई समानताएँ थीं। सर जान मार्शल के अनुसार, "हिन्दुओं तथा मुसलमानों की मस्जिदों में एक प्रकार की समानता थी। दोनों में खुला आँगन था, चारों तरफ स्तम्भों की पंक्तियाँ थीं। इस योजना से बने हुए मन्दिर सुगमता से मस्जिद में परिवर्तित किये जा सकते थे।"[1] प्रारम्भ में मुसलमानों ने कार्य खुल कर किया। इसी कारण प्रारम्भिक इमारतों में हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[2]

मुसलमान शासकों ने हिन्दू तथा जैन मन्दिरों में कुछ परिवर्तन किया। मस्जिदों की चौखटें पुराने ढंग की ही रहीं। इस प्रकार हिन्दू शैली का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहा। मुसलमानों ने भी मस्जिदों की सजावट के लिए हिन्दू-जैन मन्दिरों की ध्वस्त सामग्री का प्रयोग किया। सजावट के लिए मुसलमान शासक हिन्दू कलाकारों पर पूर्ण रूप से आश्रित थे।[3]

वास्तुकला का विकास

हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला शैली का विकास मुसलमान शासकों के अनेक वर्षों के अनवरत प्रयास का परिणाम है। दिल्ली की कुतुब मस्जिद तथा कुतुबुमीनार से प्रारम्भ होकर यह शैली चार विभिन्न युगों में होती हुई आगरा तथा फतेहपुरसीकरी में भवनों में उन्नति की चरमसीमा पर पहुँची। यहाँ हम सल्तनत-कालीन वास्तुकला के विकास को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(i) गुलाम तथा खल्जी काल।
(ii) तुगलक शासन काल।
(iii) सैय्यद तथा लोदी काल।

गुलाम तथा खलजी वंश का युग

इस युग को वास्तुकला के विकास का प्रथम चरण माना जाता है। इस काल की इमारतों की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं—

(i) हिन्दू शैली के स्पष्ट प्रभाव के कारण इमारतें आकर्षक तथा सौंदर्यपूर्ण हैं।
(ii) दीवारें चिकनी तथा मजबूत हैं।

---

1. मार्शल, पृ० 570
2. कादिरी, पृ० 211
3. एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 414

(iii) मीनार आठ पहलू के हैं, जिनके ऊपर का भाग नीचे से पतला है। इनके बनाने में अनुपात तथा संतुलन का ध्यान रखा गया है।

(iv) नींव गहरी तथा इमारतों की कुर्सी ऊँची नहीं है।

(v) इस काल में स्तम्भों का प्रयोग भी हुआ है, जो मंदिरों के मालूम पड़ते हैं। मूर्तियों को छेनी से मिटाकर सपाट कर दिया गया है।

(vi) बरामदों में मेहराबदार दरवाजे हैं। हिन्दू कारीगरों को मेहराब बनाने का यह पहला अवसर दिया गया।[1]

मस्जिदों के चारों ओर मीनारें बनाई गई हैं जो मुसलमानों के उच्च विचारों की परिचायक हैं। गुम्बद में सजावट के लिए टाइल का प्रयोग नहीं किया गया है। मस्जिदों में चार विशाल दरवाजे हैं। इन इमारतों का प्रत्येक भाग प्रकाश में दिखाई देता है।[2]

कुव्वात-उल-इस्लाम मस्जिद

पृथ्वीराज चौहान को पराजय के बाद किलेराय पिथौरा को राजधानी में परिवर्तित किया गया। कुतुबुद्दीन ऐबक एक कुशल विजेता के साथ ही कला प्रेमी भी था। दिल्ली विजय के उपलक्ष्य में[3] तथा इस्लाम धर्म को प्रतिष्ठित[4] करने के उद्देश्य से, उसने इस स्थान पर एक मस्जिद बनवाने का कार्य प्रारम्भ किया, जिसे कुत्व अथवा कुव्वातुल इस्लाम मस्जिद कहा जाता है।[5] यह मस्जिद आधुनिक दिल्ली से 12 मील की दूरी पर मेहरौली गाँव में है।[6] अरबों की परम्परा के अनुसार विजित नगर के मध्य में मस्जिद का निर्माण किया गया।

कुव्वातुल इस्लाम मस्जिद हिन्दू-मुस्लिम शैली की प्रथम इमारत है।[7] इस मस्जिद का निर्माण एक ध्वस्त मन्दिर की आधारशिला पर किया गया है। मंदिर के चबूतरे को उसी प्रकार रखकर उसका आसन दुगुना करवा दिया, जो समकोणीय 212 फीट लम्बा, 150 फीट चौड़ा है। इसका प्रांगण स्तम्भयुक्त बरामदों से घिरा

1. कादिरी, पृ० 144
2. वही, पृ० 145
3. मार्शल, पृ० 576
4. पर्सी ब्राउन, पृ० 11
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 665
6. कादिरी, पृ० 211
7. दिल्ली सल्तनत, 5, पृ० 665

है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मंदिर को ध्वस्त करके मस्जिद का निर्माण किया गया। सर जान मार्शल के अनुसार इसके निर्माण में 27 हिन्दू जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष का प्रयोग किया गया है।[2] कुतुबुद्दीन ने मन्दिरों के स्तम्भों की मूर्तियों को मिटवाकर बेल-बूटे बनवाये।[3] जाली, स्तम्भ, दरवाजे आदि मंदिरों के हैं।

पर्सी ब्राउन ने स्पष्ट लिखा है कि कुत्ब मस्जिद का भीतरी भाग मन्दिरों के ध्वंसावशेष का सुन्दर सम्मिश्रण है, इसे वास्तुकला का कार्य नहीं समझा जा सकता।[4] उनके अनुसार इसमें पुरानी सामग्री का सुन्दर संकलन किया गया है; शैली की दृष्टि से यह उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता।[5] इसके स्तम्भ, छत, तोरण आदि ज्यों के त्यों मन्दिरों से लाकर रख दिये गये हैं। इस प्रकार वास्तुकला का यह ठोस नमूना न होकर विभिन्न शैलियों का संग्रहमात्र है। पिछली दीवार के पाँच मेहराबों में शायद ही कहीं मुस्लिम शैली का प्रभाव दिखाई देता हो।[6]

पश्चिम के पूजागृह के बाहर एक मेहराबदार दीवार है।[7] प्रार्थना स्थान को अलग करने के लिए ईंटों की एक पतली दीवार बनाई गई, जिससे नमाज के लिए उपस्थित जन समुदाय इमाम को देख सके।[8] मेहराबों की पंक्तियों का निर्माण पूजा स्थान के स्तम्भों को अलग करने के उद्देश्य से किया गया। विशाल मेहराब के बीच एक रास्ता है, जिसकी ऊँचाई 45 फीट और घुमाव 22 फीट है।[9]

जहाँ तक अलंकरण की बात है, इसमें हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का स्पष्ट सम्मिश्रण है। फूल, पत्तियों से सुसज्जित करने की शैली हिन्दू है। तुगरा शैली में कुरान की आयतों को लिखा गया है। सर जान मार्शल के अनुसार इस कार्य को सुन्दर ढंग से करने का एकमात्र श्रेय हस्त लेखन विशेषज्ञ मुसलमानों को है।[10] परन्तु भारतीय

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 665।
2. मार्शल, पृ० 576
3. कादिरी, पृ० 212
4. पर्सी ब्राउन, पृ० 7
5. वही।
6. मार्शल, पृ० 576
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 666
8. उमाशंकर मेहरा, पृ० 257
9. वही।
10. मार्शल, पृ० 576

मस्तिष्क ने इस कार्य का सुझाव दिया था। अमीर खुसरो के शब्दों में "कुरान शरीफ़ की आयतें पत्थरों पर खुदवाई गईं। एक ओर लेख इतने ऊँचे चढ़ गये थे कि मानों भगवान् का नाम आकाश की ओर जा रहा है, दूसरी ओर लेख इतने नीचे तक आ गये कि मानो कुरान भूमि पर आ रहा हो।"[1] अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य के पीछे मुख्य उद्देश्य लोगों के हृदय में कुरान पढ़ने की आस्था को पैदा करना तथा इस्लाम धर्म की उन्नति करना था।

1230 ई० में इल्तुतमिश ने मस्जिद के प्रांगण को दुगुना कराया। उसका उद्देश्य नमाज के लिए अधिक से अधिक लोगों को एकत्रित करना था।[2] सर जान मार्शल के अनुसार इल्तुतमिश के कार्यों पर इस्लामी शैली का अधिक प्रभाव दिखाई देता है।[3] उनका विचार है कि सम्भवत: यह कार्य हिन्दू प्रभावों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।[4] अलाउद्दीन खज्जी के कुव्वात उल-इस्लाम मस्जिद के विस्तार की एक योजना तैयार की।[5] उसका उद्देश्य पूर्व तथा उत्तर की चहार दीवारों को विस्तृत करना था। पूजा स्थान के उत्तर की ओर एक टट्टी को बनवाया गया।[6] उत्तर की ओर वह एक विस्तृत प्रांगण तथा मीनार बनवाना चाहता था। परन्तु सुल्तान की असामयिक मृत्यु के कारण उसका स्वप्न अधूरा हो रह गया।[7] सर जान मार्शल के अनुसार, "यदि यह योजना पूर्ण हो गई होती तो सुन्दरता की दृष्टि से यह दिल्ली की अन्य इमारतों से बढ़कर होती।"[8] हिन्दू-मुस्लिम शैली की यह प्रथम इमारत है जिस पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

कुतुब मीनार

कुतुब मीनार दिल्ली से 12 मील की दूरी पर मेहरौली गाँव में स्थित है। इसके नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि पृथ्वीराज

1. उद्धृत, कादिरी, पृ० 208
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 658
3. मार्शल, पृ० 577
4. वही।
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 968
6. मार्शल, पृ० 577
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 658
8. मार्शल, पृ० 570

चौहान इसका निर्माण विजय स्तम्भ के रूप में करवाना चाहता था।[1] इस मीनार की आकृति में हिन्दू तत्व स्पष्ट दिखाई देता है। इसका दरवाजा मेहराबदार न होकर चौकोर है। तथा इसमें तोड़ों और पुश्तों का प्रयोग किया गया है। इसकी सजावट भी हिन्दू ढंग से है। यह भी कहा जाता है कि इस मीनार की प्रथम मंजिल में पृथ्वीराज चौहान ने अपनी मूर्ति स्थापित करने का विचार किया था।[2] उसका दूसरा उद्देश्य यह था कि उसकी पुत्री इस मीनार पर चढ़कर यमुना नदी के दृश्यों को भली भाँति देखना चाहती थी।[3] सर जान मार्शल के अनुसार कुतुबुद्दीन का उद्देश्य उसका निर्माण मा-जिना के रूप में करना था, जहाँ से मुअज्जिन नमाज के लिए आवाज दे सके।[4] परन्तु अजान के लिए इतनी ऊँची मीनार की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि अजान नीचे के लोगों को सुनाई नहीं देती।[5] ऐसा भी मत प्रकट किया गया है कि यह कुव्वात-उल-इस्लाम की एक मीनार है। परन्तु यदि यह मस्जिद की मीनार होती तो इतनी ऊँची नहीं होती।[6] कुतुबुद्दीन ऐबक तथा इल्तुतमिश ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के अनुयायी थे। उनकी पुण्य स्मृति में इन्होंने कुतुबमीनार का निर्माण कराया था।[7] सर जान मार्शल का विचार है कि भारतवर्ष की विजय के उपलक्ष्य में कुतुबुद्दीन ऐबक ने चित्तौड़ और माण्डू की भाँति विजय स्तम्भ के रूप में इसे बनवाने का निश्चय किया था।[8] पर्सी ब्राउन के अनुसार इसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य विश्व के समक्ष इस्लाम की शक्ति का उद्घोष करना था। वह न्याय, प्रमुखता तथा धर्म का स्तम्भ स्वरूप प्रतीक था।[9] उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम पर अल्लाह की छाया का प्रतीक माना है।[10]

---

1. कादिरी, पृ• 180
2. वही।
3. वही, पृ० 181
4. मार्शल, पृ० 576
5. कादिरी, पृ० 180
6. वही।
7. वही।
8. मार्शल, पृ० 577
9. ब्राउन, पृ० 11
10. वही।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसका निर्माण कार्य 1206 में प्रारम्भ कराया। उसकी योजना चार मंजिलों की 225 फीट ऊँची मीनार बनवाने की थी।[1] परन्तु ऐबक की अचानक मृत्यु के कारण यह योजना पूर्ण न हो सकी। इसके नीचे की परिधि 48 फीट है, ऊपर तक परिधि कम होती गई है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर पत्थरों पर खुदाई बहुत ही सुन्दर ढंग से की गई है।[2] हर मंजिल के अन्त में चारों ओर घूमने के लिए हाशियानुमा सुन्दर जँगला भी है। इस पर कुछ लिखा है, जो पढ़ा नहीं गया है।[3]

कुतुब मीनार का नीचे का भाग 35 फीट, दूसरा भाग 51 फीट, तीसरी मंजिल 41 फीट, चौथा भाग 26 फीट तथा पाँचवाँ भाग 25 फीट ऊँचा है। चोटी का घेरा 9 फीट है।[4] जिसके चारो ओर 6 फीट ऊँचा पीतल का कटघरा है, ताकि हवा की तेजी के कारण कोई व्यक्ति नीचे न गिर सके।[5] मीनार में कुल 375 सीढ़ियाँ हैं।

इल्तुतमिश के समय में इसका निर्माण-कार्य पूर्ण हुआ। द्वितीय मंजिल के दरवाजे पर इसका वर्णन है। छठी मंजिल पर संगमरमर की बुर्जी तथा सातवीं मंजिल पर खुदाई का काम कलश पर किया गया है। इस पर इस्लामी झण्डा लहराता था।[6] चौदहवीं सदी में इब्नबतूता ने इन सभी सात मंजिलों को देखा था। तूफान के कारण जब मीनार को क्षति पहुँची थी तो फिरोज तुगलुक ने इसकी मरम्मत कराई।[7] 1503 में सिकंदरलोदी ने भी इसकी मरम्मत कराई थी।[8]

कुतुब मीनार की प्रथम तीन मंजिलें पत्थर की हैं, जिनका बाहरी आवरण लाल है। ऊपर की दो मंजिलों में अन्दर लाल पत्थर है। बाहरी आवरण अधिकतर सफेद पत्थर का है। मीनार के पत्थरों पर नागरी लिपि में कुछ लिखा गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण किसी हिन्दू शासक ने

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 668
2. मार्शल, पृ० 578
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 668
4. कादिरी, पृ० 181
5. ब्राउन, पृ० 12
6. कादिरी, पृ० 182
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 668
8. वही।

प्रारम्भ किया था।[1] सर जान मार्शल के अनुसार, "मीनार निर्माण की कल्पना और उसकी सजावट पूर्णरूप से मुस्लिम है न कि हिन्दू। गजनी की मीनार के रूप में इसका निर्माण किया गया। इसका प्रचलन पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में भी था।[2] यह मुसलमानी वास्तुकला का एक उज्ज्वल उदाहरण है। सर जान मार्शल ने इसकी प्रशंसा में लिखा है कि "इस दृढ़ एवं विशाल निर्मित इमारत के अतिरिक्त अन्य कोई मुस्लिम शक्ति का अधिक प्रभावोत्पादक अथवा यथार्थ प्रतीत नहीं हो सकती, न कोई अन्य वस्तु इसके अलंकृत परन्तु संयमित शिल्प से बढ़कर सर्वांग सुन्दर हो सकती है।"[3] पर्सी ब्राउन के शब्दों में कुतुब मीनार मनुष्य के सर्वोच्च प्रयास के कार्य का अनन्त प्रतीक है।[4]

अढ़ाई दिन का झोंपड़ा

इस मस्जिद को कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर में बनवाया था। इसके नाम के विषय में मतभेद है। सर जान मार्शल के अनुसार, "इस मस्जिद का निर्माण ढाई दिन में हुआ था, अतः इसे अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं।"[5] परन्तु पर्सी ब्राउन के अनुसार "यहाँ एक झोंपड़ी के पास अढ़ाई दिन तक मेला लगता था, इस कारण इस स्थान को अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं।"[6] सर जान मार्शल ने फिर लिखा है कि इसके निर्माण में ढाई दिन का समय बहुत कम था, सम्भवतः ढाई वर्ष लगा है।[7] स्थान के नाम के कारण इस मस्जिद को अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं।

विग्रहराज वीसल देव ने इस स्थान पर एक सरस्वती मन्दिर का निर्माण कराया था।[8] कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस मन्दिर को तोड़वाकर मस्जिद बनवाई। इसका निर्माण कुव्वात-उल-इस्लाम मस्जिद की भाँति मन्दिर की आधारशिला पर अन्य ध्वस्त मन्दिरों की सामग्री से हुआ था। दिल्ली की कुतब मस्जिद की तुलना में यह अधिक विस्तृत, भव्य और अत्यन्त आकर्षक है।[9] दिल्ली की मस्जिद में छत का

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 669
2. मार्शल, पृ० 579
3. वही।
4. ब्राउन, पृ० 12
5. मार्शल, पृ० 581
6. ब्राउन, पृ० 12
7. मार्शल, पृ० 581
8. कादिरी, पृ० 183-84
9. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 670

स्तम्भ छोटा तथा सघन है। परन्तु अढ़ाई दिन के झोंपड़ा में दो स्तम्भों के बजाय तीन स्तम्भों पर 20 फीट ऊँची छत बनाई गई है।[1] कुतब मस्जिद की कमी को इसमें दूर करने का प्रयास किया गया है। इसमें समरूपता का ध्यान रखा गया है। मस्जिद को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वस्त मन्दिरों की सामग्री का प्रयोग किया गया है। इसमें पाँच मेहराबदार दरवाजे हैं। मुख्य द्वार ऊँचा और उसके कोने पर चक्राकार, बाँसुरीनुमा मीनार है।[2] मार्शल के शब्दों में सौन्दर्य की दृष्टि से कुछ कमी होते हुए भी, तकनीकी ज्ञान तथा गणित की सूक्ष्मता की दृष्टि से यह मस्जिद उच्चकोटि की है।[3] इल्तुतमिश ने इस मस्जिद के आँगन तथा अन्य कुछ भागों को बढ़ाया, जिससे यह मस्जिद और भी सुन्दर हो गई।

इल्तुतमिश

इल्तुतमिश वास्तुकला का प्रेमी था। इसके शासनकाल में वास्तुकला की सर्वांगीण उन्नति हुई। कुव्वात-उल-इस्लाम, अढ़ाई दिन का झोंपड़ा तथा कुतुब मीनार का विस्तार करके उसने वास्तुकला के प्रति प्रेम का परिचय दिया।

सुल्तानगढ़ी

सुल्तानगढ़ी के निर्माण से वास्तुकला के विकास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ होता है। यदि इल्तुतमिश को मकबरा शैली का जन्मदाता कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद की पुण्य स्मृति में सुल्तान ने कुतुब मीनार से तीन मील की दूरी पर मलकापुर में मकबरा बनाने का निश्चय किया।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार सुल्तानगढ़ी का शाब्दिक अर्थ गुफा का सुल्तान होता है।[5] मार्शल का भी यही मत है।[6] यह स्थान एक गढ़ की भाँति ऊँचे स्थान पर स्थित तथा चहारदिवारी से घिरा हुआ है। इसको देखने से इसका स्वरूप एक दुर्ग की भाँति दिखाई देता है। राजकुमार की कब्र धरातल से काफी नीचे है।[7]

चहार दिवारी के बीच एक 66 फीट का आँगन है। उसके मध्य में एक

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 670
2. वही।
3. मार्शल, पृ० 581
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 670
5. ब्राउन, पृ० 13
6. मार्शल, पृ० 580
7. ब्राउन, पृ० 13

अष्टकोण चबूतरा धरातल में मकबरा की छत का काम करता है।[1] आँगन की योजना अत्यन्त आकर्षक है, कहीं-कहीं भूरे पत्थर के स्थान पर संगमरमर का प्रयोग करके इसे और भी रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।[2] पूरब तरफ चहारदीवारी से ऊँचा एक खम्भा है। इसी के आगे अनेक स्तम्भों का एक बरामदा है। इसी में एक छोटी मस्जिद की व्यवस्था है जहाँ परिवार के लोग उपस्थित होकर नमाज पढ़ सकें।[3] बीच में एक मेहराबदार गुम्बद है। सर जान मार्शल के अनुसार इस मेहराब को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में हिन्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[4] इसके निर्माण में भी हिन्दू इमारतों के ध्वंसावशेष का खूब प्रयोग किया गया है।

इसमें एक तहखाना है जहाँ शाही परिवार के सदस्य एकान्तवास कर सकें।[5] सुल्तानगढ़ी कला की दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम शैली का एक रोचक नमूना है।

सुल्तान इल्तुतमिश ने दिल्ली से 150 मील दक्षिण पूर्व बदायूँ में कुछ इमारतों का निर्माण करके हिन्दू-मुस्लिम शैली के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन इमारतों में हौज-ए-शम्सी, शम्मी ईदगाह तथा जामा मस्जिद हैं। स्थापत्य शैली की दृष्टि से जामा मस्जिद एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। अभी तक की निर्मित मस्जिदों में यह सबसे विस्तृत तथा सुदृढ़ है। आँगन की चौड़ाई 288 फीट है, जिसमें अधिक से अधिक लोग उपस्थित होकर नमाज पढ़ सकें।[6] इसका निर्माण 1223 में हुआ। मेहराबदार पूर्वी दरवाजा कुतुब मस्जिद की भाँति है। एक शताब्दी बाद मुहम्मद तुगलुक तथा 1575 में अकबर ने इसका पुनरुद्धार किया था।[7]

दिल्ली से दक्षिण-पश्चिम जोधपुर राज्य के नागौर में इल्तुतमिश ने एक विशालकाय दरवाजा बनवाया, जिसे अतारिकिन का दरवाजा कहते हैं।[8] इसका निर्माण 1230 में किया गया। इल्तुतमिश ने सम्भवतः अजमेर के उन कारीगरों को इसे सुसज्जित करने का कार्य सुपुर्द किया जिन्होंने अढ़ाई दिन का झोंपड़ा बनाया

1. ब्राउन, पृ० 13
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 671
3. वही।
4. मार्शल, पृ० 580
5. वही, पृ० 14
6. वही।
7. वही।
8. वही।

था। मुहम्मद तुगलुक ने अपने शासनकाल में इसकी मरम्मत करवाई थी। इल्तुतमिश ने अतारिकिन दरवाजा का निर्माण करके अकबर के बुलंद दरवाजे का पथ-प्रदर्शन किया।

इल्ततमिश का मकबरा

कुव्वी मस्जिद के पास दिल्ली में इल्तुतमिश का मकबरा है। इसका निर्माण इल्तुतमिश की मृत्यु के कुछ समय पूर्व 1235 में प्रारम्भ किया गया। यह 42 फीट वर्गाकार इमारत है। पूर्व दक्षिण तथा उत्तर में प्रवेश द्वार बने हैं। तीन मेहराबों को बनाने के उद्देश्य से पश्चिमी प्रवेश द्वार बन्द कर दिया गया, कुछ प्रवेश द्वारों को छोड़ कर, सम्पूर्ण इमारत का बाह्य स्वरूप सादा है। यहीं पर इस्लामी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[1] 30 घन फीट का आन्तरिक कक्ष इतने सुन्दर ढंग से खुदाई द्वारा सुसज्जित किया गया है जिसकी तुलना हम किसी हिन्दू अथवा जैन मन्दिरों से कर सकते हैं।[2] पत्थरों में सफेद संगमरमर के टुकड़ों की मिलावट ने इसे अत्यधिक आकर्षक बना दिया है। उसकी दीवारों पर कुरान की आयतें कुफ्री तुगरा, नश्तलीक शैलियों में रोचक ढंग से लिखी गई हैं।[3]

इसके गुम्बद का निर्माण तो और भी आकर्षक ढंग से किया गया है। घुमावदार पत्थर के टुकड़ों का प्रयोग किया गया है। गुम्बद के निर्माण में इस प्रकार घुमावदार पत्थर के टुकड़ों के प्रयोग ने आनेवाली पीढ़ी की निर्माण सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान कर दिया।[4] गुम्बद के इतिहास में इस शैली को स्क्वीन्च कहते हैं। चौकोर कोने में गोलाई लाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार इल्तुतमिश का शासनकाल वास्तुकला के विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। निर्माण-कार्य में अधिक धन खर्च करने का कारण यह था कि मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मुसलमान शासक भारत को अपना देश समझ कर इसकी सुन्दरता को बढ़ाने में लगे थे। इल्तुतमिश के शासनकाल में धन की कमी नहीं थी।[5] उसके मकबरे के साथ गुलाम वंश में वास्तु कला के विकास का

1. मार्शल, पृ० 14।
2. वही।
3. वही।
4. वही।
5. कादिरी, पृ० 13

अध्याय समाप्त होता है ।[1] किला-ए-राय-पिथौरा के दक्षिण पूर्व में बलबन का मकबरा कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है ।[2] इसी काल में कुश्के लाल तथा कुश्के सब्ज नामक महलों का निर्माण हुआ । कुश्के लाल बेल बूटे से सुसज्जित महल तथा कुश्के सब्ज हरे रंग के पत्थरों से बनाया गया था ।[3]

दरगाह मुइनुद्दीन चिश्ती

यह दरगाह हिन्दू-मुस्लिम वास्तुशैली की एक प्रसिद्ध इमारत है । इल्तुतमिश ने इस खानकाह का निर्माण कराया । अलाउद्दीन खल्जी ने यहाँ की इमारतों का विस्तार किया । मालवा के सुल्तानों ने भी इसके विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया था । एक कवि के शब्दों में—

पियारे हिन्द का जो खास दरबारे सहाना है ।
मुइनुद्दीन ख्वाजा का यह चिश्ती आस्ताना है ।।

खल्जी कालीन वास्तुकला

खल्जी शासन के प्रारम्भ के साथ वास्तुकला का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है । यद्यपि सुल्तान अलाउद्दीन खल्जी का अधिकांश समय युद्धों में व्यतीत हुआ, फिर भी उसने स्थापत्य कला के विकास में विशेष रुचि दिखाई । दिल्ली के पास सीरी नामक गाँव में एक नया नगर बसाया । बर्नी ने इसे शहरे नौ अथवा नया नगर कहा हैं । अमीर खुसरो तथा बर्नी ने इस नगर के अनेक राजप्रासादों का सुन्दर वर्णन किया है । खल्जी वंश के पतन के साथ यह नगर भी उजड़ गया । अलाउद्दीन खल्जी की योजना थी कि इस शहर के बाहर एक सरोवर तथा उसके किनारे भवन का निर्माण कराया जाय ।, इस सरोवर की सीढ़ियों तथा किनारे के कुछ भवन टूटी-फूटी अवस्था में आज भी विद्यमान हैं । यह स्थान 'हौज-ए-खास' या 'हौज-ए-रानी' के नाम से प्रसिद्ध है । यह सरोवर सूख गया । अलाउद्दीन खल्जी के आदेशानुसार सार हौज के चबूतरे के चारों ओर दो-तीन सोते खोदे गये और थोड़े ही दिन में पानी चबूतरे तक पहुँच गया ।[4] अमीर खुसरो ने हौज तथा गुम्बद के विषय में लिखा है—
"पानी के बीच गुम्बद समुद्र की सतह पर बुलबुले के समान हैं ।"

---

1. ब्राउन, पृ० 15
2. वही ।
3. कादिरी, पृ० 215
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 675

सुल्तान ने अनेक भवनों का निर्माण कराया। दिल्ली के भवन निर्माणकला वेत्ता जो अपनी कला में नोमान मुञ्जर को कुछ नहीं समझते थे, पत्थर पर पत्थर जोड़ने में लग गये। अलाउद्दीन खल्जी के शासनकाल में अनेक दुर्गों का निर्माण कराया गया। दिल्ली की रक्षा के लिए किलोघरी का दुर्ग बनवाया। अमीर खुसरो ने इस दुर्ग की प्रशंसा में लिखा है कि--

बादशाह ने शहरे नव में ऐसा हिसार बनवाया,
उसके बुर्ज के पत्थर चाँद तक पहुँचते हैं।[1]

इमारतों की विशेषताएं

(i) नींव शक्तिशाली बनाकर कुर्सी की दीवारों को मजबूत बनाया गया है ताकि इमारतें कमजोर न हों।

(ii) कुर्सी ऊँची नहीं है और न तहखाने बनाए गये हैं।

(iii) इमारतों में मेहराब बनाया गया है, उस पर सजावट भी की गई है।

(iv) दरवाजे डाटदार हैं और उनकी मेहराब सुन्दर दिखाई देती हैं। उन पर बेल-बूटों की सजावट की गई है।

(v) मस्जिदों तथा मकबरों में गुम्बद सुन्दर तथा सजीव हैं।

(vi) इमारतों की छतें धनुषाकार तथा डाटदार हैं, जिनमें सुन्दरता की छाप है।

(vii) इमारतों में ताख भी हैं। ऊपरी भाग पर सजावट की गई है।

(viii) वायु तथा प्रकाश की समुचित व्यवस्था है।

(ix) इन इमारतों में कल्पना की ठीक व्यवस्था है। दुर्ग के चारों ओर फाटक हैं, जिन्हें रात में बंद कर दिया जाता था।

(x) हजरत निजामुद्दीन औलिया की मजार में छज्जा है, जो हिन्दू शैली में निर्मित है। खम्भों पर बेल-बूटे हैं।

(xi) इमारतें नक्शों की सहायता से हिन्दू-मुस्लिम कारीगरों द्वारा बनाई गई हैं। क्योंकि उनमें दोष नहीं दिखाई देता है।

अलाउद्दीन खल्जी की योजनाओं में कुत्ब मस्जिद की विस्तार योजना सबसे महत्वपूर्ण है। परन्तु उसकी मृत्यु ने इस विशाल योजना को अधूरा छोड़ दिया। उसमें 75 फीट ऊँची मीनार को देखकर योजना का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 218

हाथों से हुआ है।[1] अलाउद्दीन खल्जी ने जिस शैली का अपने शासनकाल में विकास किया था, उसका इस मस्जिद में पूर्ण अभाव दिखाई देता है।[2] निजामुद्दीन औलिया की दरगाह का निर्माण खिज्र खाँ ने कराया था। यह इमारतें हिन्दू-मुस्लिम शैली का एक सुन्दर नमूना है। वास्तुकला की दृष्टि से इसका अपना महत्व है। इसमें छज्जों तथा खम्भों का प्रयोग हुआ है। इस दरगाह की जाली बहुत सुन्दर है।[3] एक कवि के शब्दों में—

रहा है सिर निगूँ परचम जहाँ हर बादशाही का।
मुबारक आस्तना है वह महबूबे इलाही का।

तुगलुक वंश में वास्तुकला का विकास

तुगलक वंश की स्थापना के साथ वास्तुकला के विकास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। खल्जी कालीन इमारतों की सजावट के स्थान पर तुगलुक शासनकाल में सादगी और विशालता पर अधिक जोर दिया गया। इसका प्रमुख कारण आर्थिक कठिनाइयाँ तथा खल्जी काल में अपव्ययता के प्रति सर्वसाधारण में प्रतिरोध की भावना थी। गयासुद्दीन तुगलुक ने अपने पूर्वजों की नीति का परित्याग करके सादगी तथा मितव्ययता की नीति अपनाई। इसकी पूर्ण छाप समकालीन वास्तुकला पर दिखाई देती है।[4] मुहम्मद तुगलुक को प्रशासनिक कठिनाइयों तथा फिरोज तुगलुक के रूढ़िवादी दृष्टिकोण और आर्थिक साधनों की कमी के कारण सजावट पर अधिक धन खर्च करने की गुञ्ज़ाइश नहीं थी। सर जान मार्शल के अनुसार राजधानी परिवर्तन के कारण उच्चकोटि के कलाकारों का राजधानी में अभाव हो गया था।[5] परिणामस्वरूप साधारण वर्ग के कारीगरों ने ही इमारतों का निर्माण किया। उन्हें इमारतों की सुन्दरता का ज्ञान नहीं था।

इमारतों की विशेषताएँ

(i) तुगलुक वंश की इमारतों की नींव गहरी तथा दीवारें मोटी हैं।

(ii) नींव की दीवारों को मजबूत बनाने के लिए पुश्तों का प्रयोग किया गया है, परन्तु पुश्तों को जमीन के भीतर छिपा दिया गया है।

---

1. मार्शल, पृ० 583
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 576
3. कादिरी, पृ० 194
4. मार्शल, पृ० 584-5
5. वही, पृ० 585

कराया। यह मस्जिद निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के पास है।[1] सर जान मार्शल के अनुसार इसका निर्माण अलाउद्दीन खल्जी के शासन के अन्तिम वर्षों में हुआ है।[2] इसकी शैली पूर्णरूप से इस्लामी है।[3] यह लाल-पत्थर से बना है। मध्य कक्ष चौकोर तथा दोनों तरफ के कक्ष आयताकार हैं। तीनों कक्षों का प्रवेश द्वार डाटदार हैं।[4] सर जान मार्शल के अनुसार इसकी डाटों के कोहने में कमल का चित्र है और डाटों पर कुरान की आयतें अंकित हैं।[5] पूर्ण इस्लामी शैली के आधार पर निर्मित इस इमारत में कमल पुष्प द्वारा अलंकृत करने का प्रयास हिन्दू शैली के प्रभाव को स्पष्ट करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मध्यकक्ष के दोनों ओर कमरों का निर्माण विभिन्न कालों में हुआ है। परन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।[6] कुहनी-दार डाट की तुलना हम अलाई दरवाजा की शैली से कर सकते हैं। परन्तु मस्जिद में शैली की गम्भीरता का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तीनों कक्षों के ऊपर तीन गुम्बद त्रिकोण प्रारलम्भों पर टिके हैं।[7] मध्य कक्ष का गुम्बद कोनिहाई डाटों पर टिका है।[8] अलाउद्दीन खल्जी के अन्तिम वर्षों के अशांत-मय वातावरण की छाप इस इमारत पर दिखाई देती है।[9]

1303 में चित्तौड़ विजय के बाद सुल्तान ने गम्बेरी नदी के ऊपर किले के पास एक पुल का निर्माण कराया।[10] उसके वर्तमान अवशेषों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वास्तुकला शैली का यह उत्तम प्रमाण है। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खल्जी ने राजपूताना के भरतपुर राज्य में उखा मस्जिद का निर्माण कराया।[11] सम्भवतः यह दिल्ली शैली का प्रांतीय स्वरूप है और इसका निर्माण स्थानीय कारीगरों के

1. कादिरी, पृ० 146
2. मार्शल, पृ० 583
3. वही।
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 675
5. मार्शल, पृ० 583
6. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 676
7. ब्राउन, पृ० 18
8. मार्शल, पृ० 583
9. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 676
10. ब्राउन, पृ० 19
11. वही।

(iii) कुछ इमारतों में नींव की रोक थाम के लिए पुश्तों का सहारा नहीं दिया गया है।

(iv) दीवारें मोटी तथा भद्दी हैं, उनमें मजबूती नहीं है।

(v) इमारतों में मेहराब सरल ढंग से बनाया गया है। उनकी डाटों में भी सरलता है।

(vi) स्तम्भ सादा है, सजावट का काम नहीं हुआ है।

(vii) इसमें मीनारों का निर्माण नहीं हुआ है।

(viii) इन इमारतों के तहखाने भी बनाए गये हैं।

(ix) कला तथा सौन्दर्य की दृष्टि से इमारतें उत्कृष्ट नहीं हैं। सजावट की अपेक्षा सादगी तथा भव्यता अधिक है।

(x) इमारतें सरल, नीरस, शुष्क तथा निराशापूर्ण हैं। इस कारण उन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है।

(xi) इस काल की इमारतें, मस्जिदें तथा दुर्ग की दीवारें मिस्र के पिरामिडों के समान बनी हैं, जो अन्दर की ओर झुकी हुई हैं।

(xii) इमारतें विशाल परन्तु मजबूत नहीं हैं। दीवारों के निर्माण में एक नवीन विधि का प्रयोग किया गया है। तीन-चार फुट की दूरी पर दो समानांतर दीवारों का निर्माण करके उसके बीच खाली स्थान को ईंट, पत्थर तथा मिट्टी से भर दिया गया है। इस प्रकार बनी हुई चौड़ी दीवारों में मजबूती का अभाव है।

(xiii) इन इमारतों का निर्माण सरल विचारों तथा भावों के आधार पर हुआ है।

(xiv) इन इमारतों में मुसलमानी वास्तुकला शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

तुगलुकाबाद

तुगलुक वंश का संस्थापक गयासुद्दीन तुगलुक वास्तुकला का प्रेमी था। उसने दिल्ली के पास ऊँची पहाड़ियों पर एक नगर बसाया तथा एक दुर्ग का निर्माण कराया।[1] यह दिल्ली के सात नगरों में से एक है। उसका निर्माण रोमन शैली के आधार पर नगर तथा दुर्ग रूप में हुआ है। यह दुर्ग छप्पन कोट के नाम से प्रसिद्ध है। मिस्र के पिरामिडों की भाँति उसकी दीवारें भीतर की ओर झुकी हुई हैं।[2]

1. ब्राउन, पृ० 20
2. कादिरी, पृ० 151

दीवारें देखने में दृढ़ प्रतीत होती हैं, परन्तु बहुत ही कमजोर हैं। यही कारण है कि यह नगर काल के कुप्रभाव से बच न सका।[1] इसकी दो मोटी समानांतर दीवारों के बीच खाली स्थान को मिट्टी, ईंट तथा पत्थर से भर दिया गया है।[2] सम्भवतः इस नगर तथा दुर्ग का निर्माण सुरक्षा की दृष्टि से किया गया था। दीवारों के बीच सुराख हैं, जिनका उपयोग आग्नेय अस्त्रों को छोड़ने के लिए किया जाता था।[3] आज केवल उनका अवशेष ही रह गया है।

सुल्तान ने इस किले में एक राजमहल बनवाया था। इब्नबतूता के अनुसार राजमहल की ईंट सूर्य के प्रकाश में इतनी तेज चमकती थीं कि दर्शक अच्छी तरह से देख नहीं सकता था।[4] राजमहल में शाही दरबार, जनानखाना की व्यवस्था थी। इसके अन्दर तहखाना और बरामदा हैं। इसमें प्रवेश तथा बाहर जाने के मार्ग अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।[5] किले में यातायात के साधन की सुव्यवस्था थी। नगर में प्रवेश के लिए 52 द्वार थे। इसके द्वार इतने ऊँचे हैं कि उनमें हाथियों का प्रवेश सुगम था।[6] इस विशाल नगर में सात तालाबों को बनाने की योजना थी।[7] राजमहल में टाइलों का प्रयोग किया है। उनके अवशेषों में आज भी वह चमकता है। दो-तीन चहार दीवारी से इसकी सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी। सर जान मार्शल के अनुसार "इसकी सुदृढ़ता की व्यवस्था धोखा है, क्योंकि इसका निर्माण निम्नकोटि का है। सम्भवतः मंगोल आक्रमण के भय से इसका निर्माण इतना शीघ्र हुआ था। इसमें विशिष्ट शैली तथा कला का अभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है।"[8]

गयासुद्दीन का मकबरा

यह मकबरा तुगलकाबाद के पास एक कृत्रिम झील के मध्य में स्थित है। उस मकबरे की दीवारें चौड़ी तथा मिस्र के पिरामिडों की भाँति अन्दर की ओर झुकी

1. दिल्ली सल्तनत 5, 677
2. वही, पृ० 151
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 677
4. वही।
5. ब्राउन, पृ० 20
6. वही।
7. लइक अहमद, पृ० 115
8. मार्शल, पृ० 586

हैं ।[1] इसका झुकाव 75° के कोण पर आधारित है ।[2] इसका चतुर्भुज आधार 61 फीट और ऊँचाई 81 फीट है । फर्गुसन के अनुसार "मकबरे की ढालू, दीवारें और करीब-करीब मिस्र के ढंग की दृढ़ता, विशाल और सुदृढ़ मीनारें एक योद्धा की समाधि के नमूने का निर्माण कर रही हैं, जिसका कहीं प्रतिद्वन्द्वी नहीं मिलता और उत्तर कालीन शान्त और स्थिर वंश के भक्त और सम्पन्न उपवन मकबरों से बिलकुल भिन्न हैं ।"[3]

इसका निर्माण लाल पत्थर से हुआ है । इमारत की गम्भीरता को कम करने के लिए दीवार उत्तरार्द्ध में सफेद संगमरमर का जड़ाव किया गया है । इससे मकबरे की सुन्दरता में वृद्धि हो गई है । प्रत्येक दीवार के मध्य में लम्बे नुकीले वृत्त खण्ड हैं, तीन दीवारों में दरवाजे हैं, पश्चिम की ओर मेहराब को स्थान देने के लिए दरवाजे की व्यवस्था नहीं है ।[4] बाहरी आवरण का वृत्तखण्ड अलाई दरवाजे की भाँति है । इसमें मेहराबदार रास्ते के आर-पार करधनी लगी है । भारती वास्तुकला के इतिहास में इसका पहली बार प्रयोग किया गया है । इस मक़बरे की सबसे बड़ी विशेषता इसका पंचभुजीय होना है । सर जान मार्शल के अनुसार इस मकबरे की दृढ़ता तथा सादगी के आधार पर हम कह सकते हैं कि उस महान् योद्धा की समाधि के लिए इससे उपयुक्त कोई स्थान नहीं हो सकता था ।[5]

इस मकबरे का सम्पूर्ण गुम्बद सफेद संगमरमर से बना है । गुम्बद की छत चार कोहाई डाटों पर टिकी है । अष्ट तथा सोलह भुजीय कोणों के मध्य में कटे हुए पत्थर के टुकड़े तोड़ों की भाँति लगाये गये हैं । ऊपर आमलक तथा कलश का प्रयोग हिन्दू मन्दिर के समान किया है ।[6] इस प्रकार हिन्दू प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है । इस गुम्बद का घुमाव 55 फीट है ।

दुर्ग की भाँति यह मकबरा सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक के दृढ़ चरित्र तथा व्यक्तित्व को व्यक्त करता है । सर जान मार्शल के अनुसार कुछ त्रुटियों के बावजूद यह मकबरा एक नवीन शैली संकेत करता है । त्रुटियाँ उसकी सुन्दरता को कम नहीं

1. कादिरी, पृ० 184
2. ब्राउन, पृ० 21
3. फर्गुसन, पृ० 215
4. ब्राउन, पृ० 21
5. मार्शल, पृ० 586
6. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 678

कर सकती है ।[1]

आदिलाबाद का किला

मुहम्मद तुगलुक एक महत्वाकांक्षी शासक था। उसने तुगलकाबाद के समीप आदिलाबाद नामक एक किले की स्थापना की। यह किला तुगलकाबाद के उत्तर पूर्व में स्थित है ।[2]

जहाँपनाह नगर

दिल्ली से दौलताबाद राजधानी परिवर्तन के बाद उसने रायपिथौरा और सीरी के मध्य में एक नगर जहाँपनाह बसाया। परन्तु राजधानी परिवर्तन की असफलता के बाद उसने इस नगर को सुसज्जित करने के विचार का परित्याग कर दिया।[3] अभाग्यवश उसकी अन्य योजनाओं की भाँति यह अधूरा रह गया। परन्तु आज भी उस नगर का ध्वसांवशेष मौनरूप से उस महान् व्यक्ति की गाथा गा रहा है। 12 गज मोटी दीवारों से इस नगर को घेर कर सुरक्षा की व्यवस्था की गयी थी ।[4]

नगर के अवशेषों में सतपुल आज भी विद्यमान है। यह सात मेहराबों का एक पुल है। इसके निर्माण का उद्देश्य कृत्रिम झील से नगर तथा आदिलाबाद के किले में पानी पहुँचाना था। उसके दोनों किनारे पर बुर्ज पानी की व्यवस्था के लिए बनाया गया था ।[5]

विजय मंडल अनुमानतः महल का एक भाग था। इसमें अर्ध वृतीय (जूते की नाल की भाँति) मेहराबों की योजना थी।[6] इसके नुकीले वृत्त खण्ड खल्जी कालीन शैली के आधार पर निर्मित हैं। पर्सी ब्राउन के अनुसार इसकी स्थापत्य शैली से स्पष्ट हो जाता है कि इसके कारीगर सुन्दर भवन निर्माण शैली से पूर्ण परिचित थे ।[7]

बारह खम्भा

पर्सी ब्राउन के अनुसार भारत की धर्म निरपेक्ष इमारतों में अधिकांश दुर्ग

---

1. मार्शल, पृ० 586
2. लइक अहमद, पृ० 111
3. मार्शल, पृ० 587
4. ब्राउन, पृ० 22
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 679
6. मार्शल, पृ० 587
7. ब्राउन, पृ० 52

तथा राजमहल है, परन्तु पन्द्रहवीं सदी में व्यक्तिगत निवास का एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्राप्त होता है। बारह खम्भा नामक एक सामंत का निवास स्थान स्थापत्य शैली का अच्छा नमूना है। उसका घिरा हुआ आँगन, मध्य में स्नान की सुविधा, तहखाने से छत पर जाने के लिए सीढ़ी, छत पर हवा के लिए खुला हुआ कमरा दर्शनीय है। आँगन के चारों तरफ नौकरों के लिए छोटे-छोटे कमरे तथा अस्तबल की व्यवस्था है। बाहर बगीचे में हवा तथा बाग के फूल और हरियाली का आनन्द लेने के लिए मध्य में एक चबूतरा है। तीन मंजिलों के ऊपर एक बुर्ज है जहाँ से बाहरी प्राकृतिक दृश्यों को देखा जा सकता है।[1] इस इमारत की सबसे बड़ी विशेषता सुरक्षा तथा गुप्त निवास है।[2]

फिरोज तुगलुक

फरिश्ता के शब्दों में "सुल्तान फिरोज तुगलुक वास्तुकला का महान् प्रेमी था।"[3] शम्स-ए-सिराज ने सुल्तान की इमारतों की एक लम्बी सूची दी है।[4] फिरोज तुगलुक ने स्वयं कहा है कि अल्लाह ने इमारतों के निर्माण की इच्छा उपहार स्वरूप प्रदान की थी।[5] इस समय की शैली युग से बिल्कुल भिन्न है। रूढ़िवादी होने के कारण उसने हिन्दू कारीगरों से सहायता नहीं ली फिर भी भारतवर्ष में उत्पन्न तथा भारतीय वातावरण में पले हुए मुसलमान कारीगरों ने भारतीय शैली से पूर्ण प्रभावित होकर इमारतों में स्थानीय शैली को स्थान दिया है। राजधानी परिवर्तन के कारण अच्छे कारीगरों का अभाव इमारतों पर स्पष्ट दिखायी देता है।[6] मुहम्मद तुगलुक के अनावश्यक खर्च के कारण राजकोष रिक्त था, अतः प्रबल इच्छा रहते हुए भी फिरोज तुगलुक सीमित आर्थिक साधनों के कारण अधिक धन खर्च करने में असमर्थ था।[7] उसने पत्थरों को काट-छाँट करने के बजाय बिना गढ़े हुए पत्थरों का प्रयोग भवन निर्माण में किया। परिणामस्वरूप इमारतों में सुन्दरता का अभाव है, यद्यपि

1. ब्राउन, पृ० २२।
2. वही, पृ० 23
3. जान ब्रिग्स, राइज ऑफ मुहम्मडन पावर इन इण्डिया 31, पृ० 465
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 679
5. इलियट 3, पृ० 382
6. ब्राउन, पृ० 22
7. वही।

इमारतें सुदृढ़ तथा अत्यधिक गम्भीर हैं ।[1] भवन निर्माण में सुल्तान के सहायक मलिक गाजी सहना तथा अब्दुल हक थे ।[2] इन्हीं की सहायता तथा सीमित साधनों से उसने निर्माण योजना को पूर्ण बनाने का प्रयास किया ।

सर जान मार्शल के अनुसार स्थापत्य कला विशेषज्ञ निर्माण सम्बन्धी योजनाओं को स्वीकृति के लिए दीवान-ए-विजारत को सुपुर्द करते थे । इस विभाग द्वारा आर्थिक साधनों को ध्यान में रखकर कटौती की जाती थी ।[3] इस प्रकार सीमित आर्थिक साधनों के कारण फीरोज तुगलुक को अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ।[4] लाल पत्थर तथा संगमरमर के स्थान पर प्लास्टर से काम लिया जाता था । इसलिए प्रारम्भ में अधिक चमकने वाली दीवारें काल के कुप्रभाव से काली पड़ने लगीं । मार्शल ने कहा है कि इस काल की इमारतों का विशेष गुण दृढ़ता और गम्भीरता में है । विचारों की शून्यता और नीरसता इनके प्रमुख दोष हैं ।[5] हिन्दू कारीगरों का असहयोग स्पष्ट मालूम पड़ता है । यदि हिन्दू आदर्शों को प्रमुख स्थान दिया गया होता तो इस काल में हिन्दू-मुस्लिम शैली अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती । इसके बावजूद हिन्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट है ।

सुल्तान फिरोज तुगलुक ने अपने पूर्वजों की भाँति फिरोजाबाद, फतेहाबाद, हिसार, जौनपुर आदि नगरों को बनवाया । उसकी अमर कृति यमुना नहर हैं ।

कोटला फिरोजशाह

सुल्तान फिरोज तुगलक ने पाँचवीं दिल्ली बसाई । उसमें एक महल की स्थापना की, जो कोटला फिरोजशाह के नाम से विख्यात है । इसका क्षेत्रफल शाहजहाँबाद से दुगुना है । यहाँ की प्रमुख इमारतों में सर्वसाधारण के लिए आठ मस्जिदें तथा एक व्यक्तिगत मस्जिद है । इनके अतिरिक्त तीन राजमहल तथा शिकार खेलने (कुश्के-ए-शिकार) के अनेक स्थान बने हैं ।[6] एक विशाल सुदृढ़ मुख्य द्वार है, जहाँ रक्षकों को रहने की व्यवस्था है ।[7] राजमहलों का निर्माण इस ढंग से हुआ है

1. ब्राउन, पृ० 23
2. मार्शल, पृ० 587
3. वही, पृ० 588
4. वही ।
5. वही, पृ० 589
6. लइक अहमद, पृ० 112
7. ब्राउन, पृ० 23

कि यमुना नदी के जल से ठंडी होकर हवा बराबर मिलती रहे। विशाल आँगन के चारों ओर खम्भेदार बरामदें हैं।[1]

यहाँ की इमारतों में जामा मस्जिद प्रसिद्ध है। इसके सामने अशोक का स्तम्भ है। सुल्तान ने इस विशाल स्तम्भ को अम्बाला जिले के तोबरा गाँव से लाकर यहाँ गड़वाया था। एक दूसरे स्तम्भ को मेरठ के समीप से लाकर 'कुश्क-ए-शिकार' महल के सामने गड़वाया।[2] शम्स-ए-सिराज के अनुसार रूई तथा सिल्क के कपड़े में लपेट कर, ऊपर से घास फूस से ढककर, 42 पहियों की गाड़ी में यमुना नदी तक लाया गया और फिर उसे नाव द्वारा दिल्ली लाया गया।[3] इतनी अधिक सावधानी से स्तम्भ का लाया जाना सुल्तान को वास्तुकला के प्रति प्रेम और रुचि का परिचायक है।

शिक्षा के विकास के लिए उसने एक विद्यालय की स्थापना की। इसका आकार पश्चिम में 250 फीट तथा उत्तर में 400 फीट है। यह दो मंजिल की इमारत है। इसमें अनेक कमरों के ऊपर गुम्बद हैं।

फिरोजशाह का मकबरा

यह एक वर्गाकार मकबरा है। इसका मुख्य द्वार दक्षिण की ओर स्थित है। इसका निर्माण सादी रूपरेखा पर आधारित है।[4] इसकी दीवारें सुदृढ़ तथा सुसज्जित हैं। मकबरे की दीवारों को फूल पत्तियों और बेल-बूटों द्वारा सुसज्जित किया गया है। इसमें संगमरमर का सुन्दर उपयोग हुआ है।[5] इसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-मुस्लिम शैली पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी।[6] इसका गुम्बद अष्टकोणीय ड्रम पर बना है। संगमरमर तथा लाल पत्थर का बड़ा ही सुन्दर सम्मिश्रण है।[7]

खान-ए-जहाँ तेलंगानी का मकबरा

यह मकबरा निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के दक्षिण में स्थित है। इसकी योजना अष्टभुजीय है। इसके निर्माण में लाल पत्थर तथा सफेद संगमरमर का बड़ा

1. ब्राउन पृ० 23।
2. मार्शल, पृ० 590
3. वही।
4. वही, पृ० 591
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 680
6. वही।
7. मार्शल, पृ० 591

ही सुन्दर उपयोग हुआ है।[1] यह मकबरा जेरुसलम में उमर की मस्जिद की साम्यता रखता है।[2] इसका गुम्बद तथा डाटदार बरामदा अत्यन्त सुन्दर ढंग से बनाया गया है। इसका प्रमुख दोष छोटे गुम्बद का नीचा और सपाट होना है।[3] इसका निर्माण खान-ए-जहाँ तेलंगानी के लड़के खान-ए-जहाँ जौना शाह ने कराया था।

काली मस्जिद

इसका निर्माण फिरोज शाह तुगलुक के शासन काल में हुआ। इसमें दो मंजिलें हैं। अर्धवृत्तीय मेहराबों का निर्माण बड़ी कुशलता से हुआ है। इस मस्जिद का निर्माण भी जौना शाह ने कराया था।[4] इसके विशाल आँगन को खुला रखने के बजाय चार भागों में विभक्त कर दिया गया है।[5] और चारों भागों को प्रवेश द्वार से मिला दिया गया है।[6]

खिड़की मस्जिद

यह जहाँपनाह में स्थित है। यह मस्जिद आकार में वर्गाकार है। इसके चारों कोनों पर ढालू बुर्जों का निर्माण इसे सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से किया गया है। इसके द्वार, दीवारों की मेहराबों तथा छत को छोटे-छोटे गुम्बदों के द्वारा सुसज्जित किया गया है।[7] इसका निर्माण तहखाना के ऊपर हुआ है। इसी कारण इसका स्वरूप दूर से दुर्ग की भाँति दिखाई देता है। इसकी तुलना हम इल्तुतमिश कालीन सुल्तान गढ़ी से कर सकते हैं।

बेगमपुरी मस्जिद

इसका निर्माण जहाँपनाह में हुआ है। इसके निर्माण में संगमरमर का प्रयोग किया गया है। मस्जिद को गुम्बद तथा मेहराबों द्वारा प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया गया है।

कला मस्जिद

इसका निर्माण शाहजहाँबाद में हुआ है। यह विशाल तथा सुदृढ़ योजना पर

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 681
2. मार्शल, पृ० 592
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 681
4. वही, पृ० 682
5. वही।
6. मार्शल, पृ० 592
7. ब्राउन, पृ० 25

आधारित है। इसकी छत पर गुम्बदी तथा चारों कोनों पर बुर्ज बने हैं। मस्जिद की विशेषता इसकी सुदृढ़ता है।[1] इसका निर्माण खान-ए-जौना शाह ने कराया था।[2] यह मस्जिद भी तहखाना के ऊपर निर्मित है।[3]

कबीरुद्दीन औलिया का मकबरा

इसे लाल गुम्बद भी कहते हैं। इसकी योजना गयासुद्दीन तुगलुक के मकबरे के आधार पर बनाई गई। इस प्रकार फीरोज तुगलुक के शासन के अन्तिम वर्षों में प्राचीन शैली की पुनरावृत्ति का प्रयास किया गया।[4] इस आयताकार इमारत में लाल पत्थर तथा सफेद संगमरमर का सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है।[5] इस इमारत को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन कारीगर फिरोजियन शैली का परित्याग करके इमारत को सुसज्जित करने पर विशेष जोर देने लगे।[6] परन्तु आर्थिक साधनों की कमी के कारण सजावट की शैली की पूर्णरूप से पुनरावृत्ति तो नहीं हुई, परन्तु इस दिशा की ओर यह एक प्रयास था।

सैय्यद तथा लोदी कालीन वास्तुकला

सैय्यद कालीन वास्तुकला

सैय्यद वंश का शासन अशांति, अराजकता तथा अव्यवस्था का काल था। सैय्यद सुल्तान कुशल प्रशासक तथा योद्धा नहीं थे। तैमूर के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप आर्थिक साधन छिन्न-भिन्न हो चुके थे।[7] आर्थिक साधनों तथा वास्तुकला के प्रति रुचि के अभाव के कारण स्थापत्यकला का विकास नहीं हो सका। यदि सैय्यद वंश को स्थापत्य कला के पतन का युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।[8] कुछ इमारतों का निर्माण केवल खल्जी वंश की इमारतों की असफल नकल मात्र है। इस युग में लौकिक शैली प्रचलित नहीं हुई। वास्तुकला की दृष्टि से इस युग का कोई महत्व नहीं है।

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 682
2. मार्शल, पृ० 593
8. ब्राउन, पृ० 24
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 682
5. वही।
6. वही।
7. वही, पृ० 685
8. कादिरी, पृ० 159

विशेषताएँ

(i) इमारतों की नींव गहरी तथा पक्की बनाई गई हैं। इस पर पूरी इमारत का निर्माण हुआ।
(ii) इमारतों में तहखाना नहीं बनाया गया है।
(iii) इन इमारतों में खल्जी वंश की सजावट शैली की असफल नकल है।
(iv) दरवाजे अच्छे तथा सजावटपूर्ण हैं।
(v) इमारतों में भावों की कमी है।
(vi) दीवारों में ताख भी बने हैं।
(vii) इन इमारतों में विशालता की छाप दिखाई देती है।

लोदी कालीन वास्तुकला

लोदी वंश के शासनकाल में जिन इमारतों का निर्माण हुआ उन्हें खल्जी कालीन इमारतों की नकल कहना उपयुक्त प्रतीत होता है। लोदी वंश के शासकों ने खल्जी इमारतों के ओज लालित्य को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। वे अपने को तुगलुक युग के निस्तेज कहलाने वाले प्रभाव से मुक्त न कर सके। इन शासकों ने इस बात का प्रयास किया था कि दिल्ली की कला में पुनः प्राण संचार कर उसे सजीव और सम्पन्न बना दिया जाय, परन्तु उन्हें उल्लेखनीय सफलता न मिली।

विशेषताएँ

(i) नींव की गहरी खुदाई कर उसके बुनियादों को भरकर पक्का तथा मजबूत बनाया गया। यही कारण है कि लोदी वंश की इमारतें आज भी मौजूद हैं।
(ii) इन इमारतों के दरवाजे डाटदार हैं तथा उनके मेहराब सुन्दर एवं सजीव हैं।
(iii) मेहराबों में सुन्दरता की छाप दिखाई देती है।
(iv) दीवारें न तो मोटी हैं और न उन्हें खोखला बनाकर ईंट पत्थरों से भरा गया है
(v) इमारतों में ताखे हैं, जिसका निचला भाग बड़ा तथा ऊपर का भाग छोटा है।
(vi) इनमें तहखाने की कमी है तथा छज्जों का अभाव है।
(vii) विशाल फाटक सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं। उन पर सजावट का काम अच्छा है।
(viii) दीवारें ढालुआँ नहीं हैं, कमरे बड़े तथा गुम्बद अच्छे ढंग से बनाए गये हैं।
(ix) इन इमारतों में समरूपता दिखाई देती है, जिससे पूरी इमारन सुन्दर दिखाई दे।

पर्सी ब्राउन के शब्दों में इस युग को मकबरों का युग कहा जा सकता है। समकालीन जनता मृतकों की समाधि निर्माण में अधिक रुचि लेती थी, सैय्यद तथा

लोदी वंश के शासन में नहीं।[1] निम्न कोटि की सामग्री से निर्मित नगरों के अवशेषों में आज भी असंख्य कब्रें जनता की रुचि को मौन प्रतीक हैं।[2] इन मकबरों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं अठपहला अथवा अष्टभुजीय आकार का मकबरा तथा चौकोर आयताकार मकबरा। इसके अतिरिक्त तुगलुक सुल्तानों की भाँति खिज्र खाँ ने खिज्राबाद तथा मुबारक शाह ने मुबारकाबाद नगर बसाये।[3] आर्थिक साधनों के अभाव में यहाँ की इमारतों का निर्माण कार्य निम्नकोटि की सामग्री से किया गया। परिणामस्वरूप ये नगर समय के कुप्रभावों से न बच सके और आज उनके ध्वंसावशेष ही उपलब्ध हैं।

मुबारक शाह सैय्यद का मकबरा

सैय्यद सुल्तान मुबारक शाह का मकबरा मुबारकपुर गाँव में स्थित है।[4] यद्यपि इसका निर्माण तेलगानी मकबरे की अष्टभुजीय शैली पर निर्मित है। परन्तु कला की दृष्टि से इसमें अत्यधिक परिवर्तन तथा सुधार है।[5] मध्य के गुम्बद को काफी ऊँचा बनाकर सम्पूर्ण इमारत की ऊँचाई में वृद्धि कर दी गई है। चारों तरफ के बरामदे भी काफी ऊँचे हैं।[6] गुम्बद के शिखर को डाटदार दीपक सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।[7] ऊपर की नीरसता को दूर करने के लिए प्रत्येक अष्टकोण के कोने पर एक गुलदस्ता तथा आठ स्तम्भ की एक-एक छतरी बनायी गयी है।[8] सर जान मार्शल के अनुसार इस इमारत का मुख्य दोष यह है कि निर्माणकर्त्ताओं ने इसे इतना ऊँचा बना दिया है कि दर्शक की दृष्टि से अधिक ऊँचाई है।[9]

मुहम्मद शाह का मकबरा

यह मकबरा भी अष्टभुजीय है, परन्तु इसमें काफी सुधार किया गया है। ऊँचाई सम्बन्धी दोष को दूर करने के लिए इसमें गुम्बद की आधार शिला को ऊँचा

1. ब्राउन, पृ० 24
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 683
3. कादिरी, पृ० 195
4. मार्शल, पृ० 594
5. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 683
6. मार्शल, पृ० 594
7. वही।
8. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 683
9. मार्शल, पृ० 594

बनाया गया है।[1] गुम्बद के चारों ओर गुलदस्ता तथा आठ स्तम्भ की छतरी को भी ऊँचा उठाया गया है। इसमें कमल आदि प्रतिरूपों के अतिरिक्त सजावट के लिए चीनी टाइलों का प्रयोग किया गया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार पहले के दोषों को दूर करके इसे अधिक रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।[2]

सिकन्दर लोदी का मकबरा

सुल्तान इब्राहीम लोदी ने 1517 में सिकन्दर लोदी के मकबरे का निर्माण कराया। इसमें दोनों अष्टभुजीय मकबरों के दोषों को सुधार करने का प्रयास किया गया है।[3] गुम्बद के चारों ओर आठ खम्भों की छतरी बनी है।[4] यह मकबरा एक विशाल चहारदीवारी वाले प्रांगण में स्थित है। चारों किनारों पर काफी लम्बी-लम्बी बुर्ज हैं। सर जान मार्शल के अनुसार सम्भवतः इस शैली ने मुगल सम्राटों के विशाल उद्यानयुक्त मकबरे का पथ प्रदर्शन किया।[5] इसमें दुहरे गुम्बद की व्यवस्था है।[6] बाहरी तथा भीतरी वृत्त में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया है। सर जान मार्शल के अनुसार इस इमारत के बाहरी तथा भीतरी भागों को हरे, पीले, गहरे नीले, गहरे भूरे रंग की टाइलों से सुसज्जित किया गया है।[7] मुगल शैली के विकास में इस मकबरे ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

वर्गाकृत मकबरा

सैय्यद तथा लोदी वंशों के शासनकाल में वर्गाकृत मकबरों का निर्माण हुआ। दिल्ली के आस पास कुल सात वर्गाकार मकबरे इस काल में बने। इसमें बरा खाँ गुम्बद, छोटे खाँ का गुम्बद, बरा गुम्बद, शीस गुम्बद, दादी का गुम्बद, पोली का गुम्बद तथा ताज़ खाँ का गुम्बद उल्लेखनीय हैं। इन चौकोर मकबरों को गुम्बद से आच्छादित किया गया है। प्रत्येक दिशा के मध्य को, डाक्टर छज्जों से ढका गया है। इनके दरवाजे लिंटर पर आधारित हैं। दरवाजों में डाट तथा तोड़ हैं।[8] चारों

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 684
2. ब्राउन, पृ० 25
3. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 684
4. वही।
5. मार्शल, पृ० 595
6. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 684
7. मार्शल, पृ० 595
8. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 685

किनारों पर गुलदस्ते बने हैं। गुम्बद का आकार कमल की तरह बना है।[1] इसमें अष्टभुजीय शैली की झलक दिखाई देती है। छत के किनारों पर छतरियाँ हैं।[2] सब कुछ के बावजूद इनमें अष्टभुजीय मकबरों की विशालता, भव्यता का अभाव दिखाई देता है।

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 685
2. वही।

अध्याय 12

मुगलकालीन स्थापत्य कला

मुगल शासन की स्थापना के साथ भारतीय वास्तुकला के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है। दिल्ली सल्तनत के पतन के साथ स्थापत्य कला के एक अध्याय का अन्त हो गया था। पर्सी ब्राउन ने इस युग को भारतीय वास्तुकला का ग्रीष्म ऋतु माना है, जो प्रकाश और उर्वरा का प्रतीक माना जाता है।[1] शासक वर्ग की प्रबल अभिरुचि का प्रतीक वास्तुकला का विकास एक आन्दोलन था, जिसकी शैली मुख्य रूप से शासकीय थी। इस पर क्षेत्रीय प्रभाव कम दिखाई देता है। स्मिथ ने ठीक ही इस वास्तुकला को कला की रानी कहा है।[2] मुगल सम्राटों ने अपने शासन काल में इसे प्रतिष्ठा का स्थान दिया।

इस युग में वास्तुकला के सर्वांगीण विकास का प्रमुख कारण मुगल सम्राटों की व्यक्तिगत अभिरुचि, साम्राज्य का वैभव और धन-धान्य की प्रचुरता थी।[3] प्रत्येक मुगल सम्राट् की बौद्धिक प्रखरता उन लोगों से बहुत आगे थी, जो उनके आस पास थे। शासकों और कलाकारों के बीच सहयोग के कारण ही कला की रानी को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ था।[4]

शैली

सल्तनत कालीन राजनैतिक उथल-पुथल तथा समकालीन शासकों की रुचि के अभाव के कारण कलाकार दिल्ली छोड़ कर प्रान्तों में चले गये। बाबर के आगमन के पश्चात् शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप केन्द्रीय वास्तु-कला का पुनर्जागरण ही नहीं हुआ, अपितु एक नवीन शैली का उदय हुआ, जिसे विद्वानों ने मुगल वास्तुकला शैली, इण्डो सारसेनिक शैली तथा इण्डो-परसियन स्थापत्य शैली की संज्ञा से विभूषित किया है।[5]

1. ब्राउन, पृ० 88
2. स्मिथ, अकबर द ग्रेट मुगल, पृ० 309
3. ब्राउन, पृ० 88
4. वही।
5. लइक अहमद, पृ० 116

पाश्चात्य विद्वान् हैवेल तथा फर्गुसन के अनुसार मुगल शैली का विकास विदेशी तथा भारतीय शैलियों के सम्मिश्रण तथा समन्वय से हुआ है।[1] पर्सी ब्राउन के अनुसार तैमूर अनेक भारतीय कलाकारों को स्वदेश ले गया था। इस प्रकार भारतीय शैली का वहीं बिकास हुआ, पीछे तैमूरी शासकों ने उसी कला को भारत-वर्ष लाकर पुनः बिकसित किया।[2] सर जान मार्शल के अनुसार मुगल शैली के सम्बन्ध में यह निश्चय करना कठिन है कि इस पर किन तत्वों का अधिक प्रभाव पड़ा है। भारत में अनेक विभिन्नताओं के कारण शैली में विभिन्नता रही है। अतः मुगल शैली के आधार पर ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है।[3] डॉ० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार निष्पक्ष भाव से देखने से यह बात ज्ञात हो जाती है कि भारत में अपनी विशालता के कारण वास्तव में कोई एक शैली विशेषरूप से नहीं अपनाई गई। विभिन्न स्थानों पर विभिन्न शैलियों का प्रयोग हुआ है और उन सबके मिश्रण से मुगल शैली का जन्म हुआ।[4]

इतना तो नितांत सत्य है कि मुगल शैली का उद्गम पाश्चात्य संस्कृति से नहीं है। वास्तुकला के क्षेत्र में विदेशी तत्वों को कुछ अंश तक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु उन्हें भारतीय स्थापत्यकला में स्थान प्रदान करने से पूर्व यहाँ के पर्यावरण में ढाल कर उनको भारतीयता का स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है।[5] इस प्रकार मुगल वास्तुकला शैली को अभारतीय कहना भ्रान्तियुक्त प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि मुगल वास्तुकला शैली का जन्म हिन्दू, मुस्लिम, जैन, बौद्ध, राजपूत, ईरानी, अरबी, बगदादी वास्तुकला शैलियों के मुख्य तत्वों के मिलाप के कारण हुआ तो अतिशयोक्ति न होगी। वास्तव में इसी को मुगल शैली कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।

विशेषताएं

(i) इस शैली में समरूपता के सिद्धांत का पालन किया गया है।

(ii) इमारत के बाहरी तरफ बाग के लिए भूमि छोड़ी गई है और बागों से इसकी शोभा में वृद्धि की गई है।

---

1. कादिरी, पृ० 280
2. ब्राउन, पृ० 88
3. कादिरी, पृ० 280
4. वही।
5. लइक अहमद, पृ० 117

(iii) अच्छे बरामदे बनाए गये हैं, जिनमें सुन्दर तोरण हैं।

(iv) अच्छी जालियों का प्रयोग हुआ है, जिसकी सजावट देखने योग्य है।

(v) मेहराब सुन्दर ढंग से नुकीले तथा डाटदार हैं, जिन पर उभरी हुई सजावट है।

(vi) सजावट की इकाइयाँ फूल पत्थर की हैं; जिन्हें अच्छे ढंग से बनाया गया है।

(vii) रंगीन पत्थरों को काट कर फूल पत्ते, बेल-बूटे को सफेद संगमरमर में जड़ा गया है।

(viii) गुम्बद तथा बुर्ज बनाकर उसे कलश से सुसज्जित किया गया है।

बाबर

मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर वास्तुकला का प्रेमी था। अपने चार-पाँच वर्ष के शासनकाल में उसने वास्तुकला के प्रति विशेष रुचि दिखाई। भारतीय इमारतों के पर्यवेक्षण के पश्चात वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसमें अनुरूपता का अभाव था। इनका निर्माण निश्चित एवं नियमित योजना के आधार पर नहीं हुआ था।[1] वह ग्वालियर में मान सिंह तथा विक्रमाजीत की इमारतों से अधिक प्रभावित हुआ।[2] स्मिथ के अनुसार बाबर ने अलबानिया के प्रसिद्ध वास्तुकला विशेषज्ञ सीनान के शिष्यों को भारतवर्ष बुलवाया तथा उनकी सहायता से इमारतों का निर्माण कराया।[3] परन्तु पर्सी ब्राउन ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि मुगलकालीन वास्तुकला पर कहीं भी विदेशी प्रभाव नहीं दिखाई देता है।[4] बाबर की कला प्रियता का परिचय उसकी आत्मकथा तुजुक-ए-बाबरी से मिलता है। वह स्वयं लिखता है, "मैंने आगरा, धौलपुर, बयाना, सीकरी, कोल तथा ग्वालियर आदि स्थानों पर भवन निर्माण में 1491 मजदूरों को लगाया था।"[5] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सार्वजनिक भवनों का निर्माण न करा कर स्नानागार, कुएँ, तालाब तथा फव्वारों का निर्माण कराया था, जो सुदृढ़ता के अभाव के कारण समय के प्रभाव से न बच सके।

---

1. लइक अहमद, पृ० 117
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 164
3. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स, पृ०406
4. ब्राउन, पृ० 89
5. तुजुक-ए-बाबरी II, पृ० 533

उसकी इमारतों में काबुली बाग मस्जिद, पानीपत में और जामा मस्जिद, संभल में हैं ।[1] सम्भवतः इनका निर्माण सैनिकों के नमाज पढ़ने के लिए किया गया था। बाबर ने स्वयं लिखा है कि इसकी शैली पूर्णरूप से भारतीय है । गुलबदन बेगम के अनुसार उसने आगरा में यमुना नदी के इस पार एक पत्थर का भवन तथा दीवानखाना बनवाया । भवन के किनारे एक बावली तथा चार बुर्ज का निर्माण कराया । उसने कहा था कि बावली तैयार हो जाने के बाद उसे शराब से भरूँगा । परन्तु खानवा के युद्ध के समय उसने शराब फेकवा दी और इस बावली को नीबू के रस से भरा ।[2]

बाबर ने एक दूसरी मस्जिद आगरा के किले में बनवाई । वास्तुकला की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है । बाबर ने स्वयं कहा है कि यह उत्तम नहीं है और इसका निर्माण भारतीय शैली के आधार पर हुआ है ।[3] वास्तुकला के प्रति बाबर के प्रेम का मूल्यांकन उसकी उपलब्धियों से नहीं, अपितु उसके उद्देश्यों के आधार पर कर सकते हैं। उसके शासनकाल की अल्प अवधि तथा उसका निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण वह वास्तुकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान न दे सका ।

हुमायूँ

बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ कला का प्रेमी था। दुर्भाग्यवश राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि वह वास्तुकला के विकास में कोई योगदान न दे सका । उसका मुख्य उद्देश्य विद्वानों के आश्रय के लिए दीन पनाह का निर्माण करना तथा उसे बाग और बगीचों से ऐसा सुसज्जित करना था कि वह विश्व के प्रत्येक कोने से दर्शकों को आकृष्ट कर सके ।[4] ख्वान्दमीर के अनुसार एक शुभ अवसर पर सम्राट् ने अपने हाथों से इस इमारत की नींव रखी थी ।[5] परन्तु आज दिल्ली में उसका कुछ भी अवशेष नहीं बचा है । सम्भवतः शेरशाह ने इसे ध्वस्त करा दिया था ।[6] हुमायूँ के शासनकाल में दो मस्जिदों का निर्माण हुआ—एक आगरा और दूसरी हिसार के फिरोजाबाद में । वास्तुकला की दृष्टि से इसका भी कोई महत्व नहीं है । उसने पन्द्रह

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 4, पृ० 524
2. गुलबदन बेगम, हुमायूँनामा (अंग्रेजी अनुवाद), पृ० 12
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 423-4
4. लइक अहमद, पृ० 118
5. इलियट, 5, पृ० 124-6
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 525

वर्ष के निष्कासन काल का अधिकांश भाग फारस में व्यतीत किया। सम्भवतः वह ईरानी शैली से प्रभावित हुआ था। दिल्ली की राजगद्दी पुनः प्राप्त करने के बाद वह वास्तुकला को कोई स्थायी रूप न दे सका।

हुमायूं का मकबरा

दिल्ली में हुमायूँ का मकबरा न केवल भारत में भवन निर्माण कला का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है, वरन मुगल वास्तुकला के विकास का भी परिचय देता है। इसका निर्माण कार्य 1564 में सम्राट् की विधवा पत्नी हाजी बेगम द्वारा प्रारम्भ किया गया।[1] उसने ईरानी वास्तुकला विशेषज्ञ मिरक मिर्जा गयास की देख रेख में इस मकबरे का निर्माण प्रारम्भ कराया।[2] इसी कारण इस इमारत पर ईरानी शैली का विशेष प्रभाव पड़ा है। मकबरे के चारों ओर बाग का आवरण है। चहारदीवारी के चारों ओर दरवाजे तथा पश्चिम में मुख्य दरवाजा है। दरवाजे से प्रवेश करने के पश्चात एक सुन्दर बाग है। मुख्य मकबरा 22 फीट ऊँचे पत्थर के चबूतरे पर बना है। चबूतरे के चारों ओर मेहराबों की पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक वृत्त खण्ड के अन्दर एक छोटा कमरा बना है। मकबरा 156 फीट वर्गाकृत है। गुम्बद की ऊँचाई 140 फीट है। इसके चारों ओर खम्भों के सहारे गुम्बदनुमा छतरियाँ हैं।[3] मकबरे के अन्दर प्रकाश के लिए रोशनदान की व्यवस्था है। बीच के कमरे में सम्राट् की कब्र है।[4] मकबरे की सम्पूर्ण विशेषता गुम्बद में है। यह भारत में उभरी हुई दोहरी गुम्बद का पहला नमूना है।[5] ताजमहल को हम यदि एक वफादार आशिक का खिराज कहते हैं तो हुमायूं के मकबरे को एक वफादार बीबी की महबूबाना पेशकश कहना पड़ेगा।[6]

शेरशाह का मकबरा

शेरशाह ने वास्तुकला के प्रति विशेष अभिरुचि दिखाई। सबसे पहले उसने अपने पिता की स्मृति में हसन खाँ सूर का मकबरा बिहार के सासाराम में बनवाया।

---

1. ब्राउन, पृ० 90
2. वही।
3. मेहरा, पृ० 279
4. ब्राउन, पृ० 90
5. वही।
6. लइक अहमद, पृ० 119

इसकी शैली सैय्यद लोदी काल की अष्टभुजीय थी।[1] मध्य मंजिल किसी दिशा में खुला नहीं है। यह इस इमारत का दोष है। वास्तुकला के विशेषज्ञ अलीवाल खाँ ने अपने मालिक की स्मृति में एक झील के मध्य में समाधि बनाई। सम्भवतः वह गयासुद्दीन तुगलुक के झील में बने मकबरे से प्रभावित था। इस मस्जिद में मीनार नहीं है। मस्जिद का गुम्बद डमरू के आकार का है, जो हिन्दू शैली में भगवान् शंकर का चिह्न माना जाता है। यदि इस मकबरे को दूर से देखा जाय तो वह मन्दिर सा दिखाई देता है।[2] इसका बाहरी भाग मुस्लिम शैली में तथा भीतरी भाग हिन्दू ढंग से बना है। पर्सी ब्राउन के अनुसार यह सम्पूर्ण उत्तर भारत की सर्वोत्तम कृति है।[3] नीले आकाश में इसका चमकता हुआ गुम्बद अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है। नीले, लाल तथा पीले रंग का समन्वय अतीव सुन्दर ढंग से हुआ है। दो मंजिलों के ऊपर खम्भेदार छतरी प्रत्येक कोण पर निर्मित है। उसके ऊपर कमल की आकृति ने इसकी सजावट में और भी वृद्धि की है।

दीन पनाह को ध्वस्त करके शेरशाह ने एक पुराना किला बनवाया। इसमें उसने किला-ए-कुहना मस्जिद बनवाई जिसकी गणना उत्तर भारत की प्रसिद्ध इमारतों में कर सकते हैं।[4] शेरशाह के उत्तराधिकारी किसी महत्वपूर्ण इमारत का निर्माण न कर सके। उनमें वास्तुकला के प्रति रुचि का अभाव था। उनका शासनकाल अशांति, अराजकता तथा अव्यवस्था से पूर्ण था। इन परिस्थितियों में वास्तुकला का विकास सम्भव नहीं था।

अकबर

मुगल सम्राट् अकबर एक समन्वयवादी शासक था। राजनीति, धर्म, समाज तथा संस्कृति के क्षेत्र में समन्वय की स्थापना उसकी उत्कृष्ट कल्पना थी। उसके शासनकाल की वास्तुकला शैली हिन्दू, मुस्लिम शैलियों का समन्वय था। पर्सी ब्राउन के अनुसार अकबर कालीन वास्तुकला शैली समन्वय युग तथा परिस्थितियों की उपज थी।[5] सम्राट् ने वास्तुकला के प्रति प्रेम तथा अभिरुचि को अपने पिता तथा पितामह से प्राप्त किया था। उसने अपनी उदारता एवं सहिष्णुता को स्थापत्य कला के माध्यम

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 526
2. कादिरी, पृ० 171
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 527
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 170
5. ब्राउन, पृ० 93

से भवनों में समाहित करने की चेष्टा की थी।[1] भारतीय तथा विदेशी शैलियों के बीच सुन्दर ढंग से सामञ्जस्य स्थापित करने का श्रेय उसी को है। फर्गुसन के अनुसार वह उनकी (हिन्दुओं) कलाओं को उतना ही चाहता था जितना अपनी कला को। फलस्वरूप उसकी सभी कृतियों में दोनों ही शैलियों का सुन्दर समन्वय हुआ है।[2]

भाग्यवश अकबर ने कलाकारों के मस्तिष्क में वास्तुकला की परम्परा को सजीव पाया।[3] अतः उसने उन्हें संगठित करके स्थापत्य कला को नवजीवन प्रदान किया। उसके शासनकाल की सुव्यवस्था तथा समृद्धि भवन निर्माण के विकास में सहायक सिद्ध हुई। समकालीन इतिहासकार अबुल फज्ल के अनुसार सम्राट् स्वयं सुन्दर भवनों की योजना बनाकर अपने मस्तिष्क एवं हृदय के विचारों को पाषाण एवं मिट्टी के आवरण से सुसज्जित करता था।[4] भवन निर्माण के पहले योजनाओं पर सम्राट् की स्वीकृति आवश्यक थी। इसके लिए उसने सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना की। अकबर के शासनकाल में वास्तुकला का सर्वांगीण विकास हुआ। अकबर के शासनकाल की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं—एक अबुल फज्ल की आइन-ए-अकबरी तथा दूसरा फतेहपुर सीकरी की इमारतें। इन दोनों कृतियों में अकबर के व्यक्तित्व का सजीव स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ये मूक होने पर भी अपने निर्माता की भावनाओं को स्पष्ट व्यक्त करते हैं।

अकबरकालीन इमारतों की विशेषताएँ

(i) अकबर की इमारतों में कलाकारी उच्चकोटि की है।
(ii) इमारतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धन का अपव्यय नहीं हुआ है।
(iii) इमारतें सुन्दर, सजीव हैं। सादगी के कारण सुन्दरता में अभिवृद्धि हुई है।
(iv) निर्माण शैली की विशेषता सजावट पूर्ण है।
(v) प्रायः सभी इमारतों में लाल पत्थर का प्रयोग हुआ है, क्योंकि यह आसानी से उपलब्ध हो जाता था।
(vi) कहीं-कहीं इमारत की शोभा को बढ़ाने के लिए संगमरमर का भी प्रयोग हुआ है, परन्तु इसका प्रयोग बहुत कम है।
(vii) दो इमारतों के स्तून एक समान नहीं हैं।

---

1. लइक अहमद, पृ० 119
2. फर्गुसन, पृ० 297
3. ब्राउन, पृ० 92
4. अबुल फज्ल, आइन-ए-अकबरी, पृ० 222

वास्तुकला के इतिहास में सम्राट् अकबर का शासनकाल एक महत्वपूर्ण युग था।

आगरा का किला

अकबर महान् द्वारा निर्मित विशाल भवनों में आगरा का किला सुप्रसिद्ध है। इसका निर्माण 1565 ई० में प्रधान कलाकार कासिम खाँ के नेतृत्व में प्रारम्भ किया गया।[1] यह किला 15 वर्ष में पूर्ण हुआ तथा इसके निर्माण में 15 लाख रुपया व्यय हुआ[2]। यमुना नदी के किनारे लगभग 1 मील के घेरे में यह स्थित है। प्रमुख द्वार दिल्ली का दरवाजा 1566 में तैयार हुआ। प्रमुख द्वार पर दो बुर्ज अठ पहले बने हैं। इनमें पारस्परिक अनुरूपता है।[3] इनमें कोष्ठकों तथा बालकनी का सुन्दर संयोग है। मेहराबों को संगमरमर तथा पशु, पक्षी, फूल-पत्तों से सुसज्जित किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अकबर ने इस पर कहीं भी कुरान की आयतों को नहीं लिखवाया है, जो इस्लामी शैली की विशेषता है।[4] किले में लाल पत्थरों का इतना सुन्दर तथा सघन प्रयोग हुआ है कि कहीं भी बाल का प्रवेश असम्भव है।[5] इसे 70 फीट ऊँची चहार दीवारी से घेरा गया है।

अबुल फज्ल के अनुसार सम्राट् अकबर ने कुल 500 इमारतों का निर्माण इस किले में लाल पत्थर से कराया था और उसकी शैली गुजरात तथा बंगाल की इमारतों पर आधारित थी।[6] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसने साम्राज्य के कोने-कोने से कारीगरों को बुलाकर अपने दरबार में आश्रय प्रदान किया था।[7] अनेक भवनों को शाहजहाँ ने गिरवाकर सफेद संगमरमर से पुनः निर्मित कराया।

जहाँगीरी महल

आगरा के किले में जहाँगीरी महल सम्राट् अकबर की सर्वोत्कृष्ट कृति है। राजकुमार सलीम के रहने के लिए इसका निर्माण किया गया था। पर्सी ब्राउन के अनुसार ग्वालियर के राजमहल तथा जहाँगीरी महल की तुलना से यह स्पष्ट हो

1. अबुल फज्ल, अकबरनामा 2, पृ० 246-7
2. लइक अहमद, पृ० 120
3. ब्राउन, पृ० 93
4. वही।
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 536
6. वही, पृ० 537
7. कादिरी, पृ० 230

जाता है कि एक हिन्दू शासक तथा मुगल सम्राट् की क्या आवश्यकताएँ थीं।[1] यद्यपि इसका निर्माणं लाल पत्थरों से हुआ है, तथा बाह्य भाग को सुसज्जित करने के लिए कहीं कहीं संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। इसके निर्माण में हिन्दू शैली का प्रयोग अधिक हुआ है। इसमें मेहराबों को सुन्दर ढंग से बनाया गया है।[2] जहाँगीरी महल में राजपूत रानियों की सुविधा का ध्यान रखा गया है। सूर्य की अर्चना तथा पूजा की पूर्ण व्यवस्था उनके लिए की गई थी। इसे देखकर कोई भी दर्शक अनुमान लगा सकता है कि यह किसी राजपूत शासक का महल है।

महल का फाटक नुकीला डाटदार दरवाजा में है। इसकी विशेषता कड़ियों तथा तोड़ों में है। इसके वर्गाकार स्तम्भों तथा छोटी मेहराबों की पंक्तियों में हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अमर सिंह दरवाजा सम्राट् के व्यक्तिगत प्रयोग के लिए बना था।[3] प्याले के आकार के हौज पर फर्श में कुछ-कुछ खुदा है।[4]

अकबरी महल

सम्राट् ने अकबरी महल का निर्माण कराया था। यह जहाँगीरी महल के निकट है। इस दो मंजिली इमारत को बंगाली बुर्ज से सुशोभित किया गया है। बीच के प्रांगण के चारों तरफ दो मंजिलों में सुन्दर कमरे हैं। जहाँगीरी महल की सुन्दरता का इसमें अभाव दिखाई देता है।[5]

लाहौर का किला

लौहार के किले का निर्माण कार्य आगरा के किले के साथ प्रारम्भ हुआ। इसकी शैली आगरा के समान है। परन्तु उसकी योजना बहुत अच्छी है। दक्षिण का भाग कर्मचारियों के लिए तथा उसके पीछे का भाग शाही परिवार के लिए बनवाया गया।[6] इसका भी निर्माण लाल पत्थरों से हुआ है। इसमें कोष्ठकों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। दीवारों को पशु-पक्षी, हाथियों के युद्ध, पोलो क्रीड़ा, शिकार खेलने की सुन्दर आकृतियों से सुसज्जित किया गया है।[7] ये आकृतियाँ इस बात को

---

1. ब्राउन, पृ० 93
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 537
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 173
4. लइक अहमद, पृ० 121
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 537
6. ब्राउन, पृ० 93
7. वही।

प्रमाणित करती हैं कि भारतीय हिन्दू कलाकारों ने इसके निर्माण कार्य में विशेष योगदान दिया था।[1]

इलाहाबाद का किला

इस किले का निर्माण गंगा-यमुना के संगम पर हुआ है। इसका निर्माण कार्य 1583 ई० में प्रारम्भ हुआ है। अधिकांश भाग ध्वस्त हो चुका है। बारादरी तथा जनाना महल इसके सबसे सुन्दर भाग हैं।[2] भीतरी कक्ष के चारों तरफ दो खम्भों की पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक कोने में चार-चार खम्भों का संयोग अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है।[3] इसकी शैली कलात्मक तथा अनुरूपता लिए हुए है। कोष्ठकों का प्रयोग उस किले का महत्वपूर्ण तत्व है।[4]

अजमेर का किला

अकबर ने इस किले का निर्माण 1570 में प्रारम्भ किया। इसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य राजस्थान विजय को सरल बनाना था। इसे दोहरी मोटी दीवार से घेरा गया है।[5] किले के बीच में विशाल आँगन के चारों ओर खम्भे हैं। दो मंजिलों में खम्भेदार बरामदे हैं और सुन्दर तोड़ों का प्रयोग किया गया है। इसकी सुदृढ़ता समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल है। राजस्थान यात्रा के समय सम्राट् इसी में ठहरता था।[6]

फतेहपुर सीकरी

मुगल सम्राटों की वास्तुकला की समस्त उपलब्धियों में ताजमहल को छोड़ कर फतेहपुर सीकरी सर्वोत्तम कृति है। शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी का जन्म हुआ। परिणामस्वरूप सम्राट् अकबर का झुकाव इस स्थान के प्रति हुआ। उसने सीकरी गाँव को राजधानी का रूप प्रदान करने का

---

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 538
2. कादिरी, पृ० 230
3. ब्राउन, पृ० 93-4
4. लइक अहमद, पृ० 122
5. ब्राउन, पृ० 94
6. वही।

निश्चय किया। अबुलफज्ल के अनुसार "उसके श्रेष्ठ पुत्रों ने सीकरी में जन्म लिया था, तथा शेख सलीम की दिव्यज्ञानयुक्त आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गई थी। अतः अकबर के पवित्र हृदय में इस आध्यात्मिक स्थान को सुन्दर रूप प्रदान करने की इच्छा प्रकट हुई। बादशाह ने निजी प्रयोग के लिए भव्य भवनों के निर्माण की आज्ञा दी।"[1] जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा तुजुक-ए-जहाँगीरी में लिखा है, पिता ने मेरे जन्म स्थान सीकरी गाँव को अपने लिए सौभाग्यपूर्ण समझकर, उसे राजधानी बनाने का निश्चय किया। चौदह-पन्द्रह वर्षों में जंगली पशुओं से भरी हुई पहाड़ी को बाग-बगीचों, भवनों, उच्च अट्टालिकाओं तथा हृदयग्राही महलों से युक्त, राजधानी बनाया।[2] 1570 में गुजरात विजय के उपलक्ष्य में उसने इसका नाम फ़तेहपुर सीकरी रखा।[3]

पन्द्रह वर्षों में इस नगर का निर्माण इतनी तीव्र गति से हुआ कि पर्सी ब्राउन के शब्दों में ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी जादूगर ने फतेहपुर सीकरी का निर्माण किया हो।[4] पादरी मांसरेट ने लिखा है कि इमारत के पत्थर के टुकड़ों को गढ़ कर लाया गया और उसे उचित स्थान पर वैसे ही रख दिया गया।[5] सम्भवतः शीघ्रता से निर्माण का यही प्रमुख कारण था।

यह नगर सात मील के क्षेत्र में पहाड़ी पर बना है। उत्तर-पश्चिमी भाग 20 मील की कृत्रिम झील से सुरक्षित है। शेष तीन भागों को ऊँची चहारदीवारी से सुरक्षित किया गया है। कुल नौ प्रवेश द्वारों में आगरा, दिल्ली, अजमेर, ग्वालियर, धौलपुर द्वार प्रमुख हैं।[6] इसके अन्दर राजमहल, मस्जिद, तुर्की शैली का स्नानगृह, विद्यालय, औषधालय आदि सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं।

1585 के बाद अकबर उसकी ओर ध्यान न दे सका। पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा ने 13 वर्षों तक सम्राट् अकबर को पंजाब में रहने के लिए बाध्य कर दिया। प्राकृतिक साधनों, विशेष रूप से जल के अभाव के कारण फतेहपुर सीकरी अकबर के उत्तराधिकारियों को भी आकृष्ट न कर सका।[7]

---

1. अकबरनामा, बेवरिज 2, पृ० 530-1
2. तुजुक-ए-जहाँगीरी, बेवरिज 1, पृ० 2
3. वही।
4. ब्राउन, पृ० 94
5. मेमोयार्स ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल 3, पृ० 560, 624
6. स्मिथ, पृ० 319-20
7. वही, पृ० 317

फतेहपुर सीकरी के जन्मदाता तथा उत्तराधिकारियों द्वारा उपेक्षित नगरी के विषय में पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि एक समय जनसाधारण, शाही परिवार और कर्मचारियों से भरी हुई नगरी उजाड़, शांत और निर्जन दिखायी देती है। इसके रक्षकों के घर चले जाने और समीप से ग्रामवासियों के लौट जाने के बाद गम्भीर निशा में शाही चहल-पहल की गूँज इमारतों में आज भी सुनाई देती है। झाड़ियों में पशुओं की चिल्लाहट, पक्षियों की चहक, सुदूर ग्रामवासियों की आवाज भव्य इमारतों के बरामदों में गूँज कर फतेहपुर सीकरी की गौरव गाथा गाती है।[1] फर्गुसन के अनुसार फतेहपुर सीकरी पत्थर में प्रेम तथा एक महान् व्यक्ति के मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है।[2] एक जर्मन इतिहासकार के अनुसार वार्साई महल की तुलना में इसका निर्माण अधिक पूर्ण है। वार्साई का महल एक सम्राट् के व्यक्तित्व तथा शासकीय गौरवपूर्ण शान की अभिव्यक्ति है, उसमें बौद्धिक गुणों, दर्शन तथा मानव उत्सुकता का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अकबर की उदारता की शिक्षा इन इमारतों के माध्यम से मिलती है।[3] निःसन्देह वास्तुकला के क्षेत्र में फतेहपुर सीकरी सम्राट् अकबर महान् की सर्वोत्कृष्ट कल्पना और कृति का सर्वश्रेष्ठ उपहार है। इसकी निर्माण योजना को कार्यान्वित करने का एकमात्र श्रेय महान् कला विशेषज्ञ बहाउद्दीन को है।[4] निःसन्देह फतेहपुर सीकरी एक महान् समृद्धशाली तथा शक्तिशाली शासक के व्यक्तित्व का प्रतीक है। इसकी इमारतों में उस सम्राट् के व्यावहारिक दृष्टिकोण तथा कलात्मक रुचि का परिचय मिलता है। इसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक सीमाएँ उस सम्राट् की विशाल योजना में अवरोधमात्र न थीं। स्मिथ के शब्दों में फतेहपुर सीकरी जैसी वास्तुकला की कृति न तो अतीत में हुई थी और न भविष्य में होगी।[5]

दीवान-ए-आम

दीवान-ए-आम का निर्माण एक ऊँची कुर्सी पर हुआ है। इसके सामने खम्भेदार ऊँचे बरामदे को लाल पत्थर के छज्जे से ढँका गया है। इस बरामदे को मनसबदारों

1. ब्राउन, पृ० 94
2. फर्गुसन, पृ० 297
3. गैरेट, पृ०
4. स्मिथ, पृ० 317
5. वही, पृ० 223

के नौकरों के लिए बनाया गया था।[1] इसके आयताकार कमरे को पत्थरों पर खुदाई के द्वारा सुसज्जित किया है।[2] दरबार में अकबर के बैठने के लिए एक सिंहासन था। सम्राट् के राजप्रासाद से सभी स्थानों में जाने की सुन्दर व्यवस्था है। इसके बरामदा में सम्राट् का दफ्तरखाना है। नवागंतुकों के घोषणा नौबत खाना नामक स्थान से की जाती थी। उसके उत्तर में कार्यालय, सराय, अस्तबल तथा सुसज्जित बगीचा है।[3] इसके मध्य भाग में एक नक्काशीदार स्तम्भ है, जिसके शिखर पर सम्राट् अकबर का सिंहासन है। इसको रोकने के लिए पुश्त बनाये गये हैं। सिंहासन तक पहुँचने के लिए चारों कोनों से छज्जों के रूप में चभू मार्ग बनाये गये हैं। यहाँ सम्राट् अकबर अनेक मंत्रियों से सलाह लिया करता था। स्मिथ के अनुसार उसके प्रमुख मंत्रियों में खान-खाना, राजा बीरबल, अबुल फज्ल तथा फैजी इस स्थान पर बैठकर सम्राट् को परामर्श देते थे।[4] फर्गुसन ने इसे भ्रम से इबादतखाना कहा है, जो तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

दीवान-ए-खास

यह भवन लाल पत्थरों से निर्मित है। लघु आकार की इस इमारत की योजना अन्य इमारतों से भिन्न है।[5] यह 47 फीट वर्गाकार भवन है। डाटदार कक्ष की छत पटी हुई है। प्रत्येक कोण के ऊपर स्तम्भदार छतरी है। बाहर से यह इमारत दो मंजिला दिखाई देती है। कक्ष के चारों ओर बरामदे में सीढ़ी से जाने के लिए मार्ग है। कक्ष के मध्य में फूल की आकृति के तोड़ हैं।[6] मध्य के ऊँचे चबूतरे पर बैठकर सम्राट् अपने कर्मचारियों की बहस सुनता था। हैवेल ने इसकी विष्णु-स्तम्भ से तुलना की है।[7]

कोषागार

यह दीवान-ए-खास के उत्तर में स्थित है। इसमें कई कक्ष हैं। इसकी छत ऊपर से पटी हुई है। इसके भीतरी भाग में खाने कटे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 177
2. ब्राउन, पृ० 94
3. वही।
4. स्मिथ, पृ० 323
5. लइक अहमद, पृ० 123
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 179
7. ब्राउन, पृ० 96

बहुमूल्य जवाहरातों को रखने के लिए यह व्यवस्था थी। कलात्मक दृष्टि से इस इमारत का विशेष महत्व नहीं है।[1]

ज्योतिषी का बैठक स्थान

यह कोषागार के पश्चिम में स्थित है। इसे खुदाई के द्वारा कलात्मक तथा सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है। कोष्ठकों का प्रयोग भारतीय शैली का मूल तत्व है।[2]

पंच महल

यह पाँच मंजिल की इमारत खम्भों पर निर्मित है। इस मंजिल का निचला भाग अन्य मंजिलों से बड़ा है। प्रत्येक मंजिल क्रमशः छोटी होती गई है। भवन के स्तम्भों को विभिन्न प्रकार की आकृतियों से सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।[3] एक मंजिल से दूसरे में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। खम्भों की घटियों को जंजीर से जोड़ा गया है। फूल-पत्तियाँ तथा रुद्राक्ष के दाने सुन्दर आकृति में खम्भों पर खुदे हैं। ये सभी प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के प्रतीक हैं।[4] सम्भवतः इसका निर्माण बेगमों को चाँद देखने के लिए किया गया था। पाँचवीं मंजिल पर गुम्बद है।

तुर्की सुल्ताना की कोठी

यह सुन्दर लघु आकार की इमारत है। इसमें एक मंजिल है। स्तम्भों पर आधारित बरामदे की योजना है।[5] भीतरी दीवार को पेड़, पौधों, पशु-पक्षियों की आकृति से सुसज्जित किया गया है।[6] इसकी सजावट में काष्ठकला का अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। इसके कारीगरों को अनेक स्थानों से बुलाया गया था।[7]

खास महल

दो मंजिलों की यह इमारत सम्राट् अकबर का आवास गृह थी। इस महल के निर्माण में लाल पत्थरों के साथ सफेद संगमरमर का प्रयोग किया गया है। इसकी दीवारों में जालियों की योजना है। भवन के दक्षिण में शयनागार है। यह शयनागार

1. लइक अहमद, पृ० 123
2. आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 179-80
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 543
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 80
5. ब्राउन, पृ० 104
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 452
7. ब्राउन, पृ० 103

15 फ़ीट का वर्गाकार कक्ष है, जिसमें चार दरवाजों की व्यवस्था है। उसी से मिला हुआ एक पुस्तकालय कक्ष है। खास महल के ऊपरी भाग में झरोखा दर्शन के लिए प्रबन्ध है। सम्राट् प्रत्येक दिन अपनी प्रजा को दर्शन देता था।[1]

जोधाबाई का महल

सीकरी के निर्मित भवनों में जोधाबाई का महल सबसे बड़ा है। इस आयताकार भवन की लम्बाई 320 फीट, चौड़ाई 215 फीट और ऊँचाई 32 फीट है।[2] महल की चहारदीवारी सादी और सुदृढ़ है। महल के चारों कोने पर गुम्बद है। इसमें हिन्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[3] इसका निर्माण इस भाँति हुआ है कि आवश्यकता पड़ने पर सभी आवास गृहों को एक दूसरे से अलग किया जा सके। ऋतुओं के अनुसार कमरों को ठण्डा तथा गर्म रखने की व्यवस्था है। इसमें अतिथि कक्ष, भोजन गृह, विश्राम कक्ष की व्यवस्था है।[4] इसमें डाटदार दरवाजों के स्थान पर वर्गाकार दरवाजे हैं। मूर्तियों के रखने के लिए आलों और तोड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम भारत के हिन्दू मंदिरों की कला का अनुकरण किया गया है। खम्भों पर घंटी तथा जंजीर की बनावट हिन्दू प्रभाव को स्पष्ट करती हैं। इसकी रूप-रेखा जहाँगीरी महल से मिलती-जुलती है। इसमें नीले टाइलों का प्रयोग, तोड़ों और कड़ियों की सुन्दर बनावट इसकी विशेषता है।[5] सम्भवतः इसके निर्माणकर्ता गुजरात के रहने वाले थे। इस महल का निर्माण सम्राट् अकबर ने अपनी रानियों की सुविधाओं को ध्यान में रख कर कराया था।[6]

हवामहल

जोधाबाई महल के उत्तर में एक दो मंजिल की इमारत है। इसमें हवा जाने के लिए सुन्दर जालियाँ हैं। ऊपर की मंजिल चारो तरफ से खुली है। इसीलिए इस इमारत को हवा महल कहते हैं।

मरियम की कोठी

मरियम की कोठी नामक एक छोटी इमारत जोधाबाई महल के निकट स्थित

1. लइक अहमद, पृ० 124
2. ब्राउन, पृ० 102
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 4, पृ० 541
4. वही।
5. वही, पृ० 542
6. ब्राउन, पृ० 95

है। इसमें कमरों के अतिरिक्त आँगन या स्नानागार की योजना नहीं है। इसके चारो ओर स्तम्भों पर बरामदा बना है।[1] इन स्तम्भों पर हाथी तथा पशु-पक्षी की आकृतियाँ हैं। इससे कलाकारों की शिल्प कला का अनुमान लगाया जा सकता है। दीवारों को अलंकृत करने के लिए मानव आकृतियों को रंगों से रँगा गया है।[2]

बीरबल का महल

महेश दास बीरबल अकबर के नवरत्नों में से था। पर्सी ब्राउन ने भूल से इस व्यक्ति को अकबर का प्रधान मंत्री कहा है।[3] इन दो मंजिलों के निचले भाग में चार कमरे, दो ड्योढ़ियाँ और ऊपर की मंजिल में दो कमरे हैं। यह महल मरियम के महल की शैली पर आधारित है। किसी भी दर्शक का ध्यान स्वाभाविक रूप से इसके शिल्पकार्य की ओर आकृष्ट हो जाता है।[4] इसकी दूसरी मंजिल पर बिखरे हुए गुम्बद तथा बरसातियों में पिरामिडों जैसी छतों की योजना है।[5] इसके निर्माण में कोष्ठकों का प्रयोग हुआ है। छज्जे कोष्ठकों पर आधारित हैं। कोष्ठकों पर शिल्पकारों ने सुन्दर ढंग से खुदाई की है। भीतरी तथा बाहरी भागों को समान रूप से सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार फतेहपुर सीकरी के किसी अन्य भवन में रचना तथा सजावट सम्बन्धी तत्वों का समावेश इतने सुन्दर ढंग से नहीं हुआ है।[6]

शाही अस्तबल

बीरबल के महल के कुछ दूर पर शाही हाथियों, ऊँटों तथा घोड़ों के लिए एक विशाल आयताकार अस्तबल का निर्माण सम्राट् अकबर ने कराया था। मध्य में एक विशाल आँगन तथा चारो ओर मेहराबदार बरामदे हैं। हाथियों, ऊँटों तथा घोड़ों के लिए अलग-अलग व्यवस्था है।

सराय तथा हिरन मीनार

मुगल दरबार में देश तथा विदेश के व्यापारियों एवं मन्त्रियों के ठहरने के लिए अकबर ने एक सराय का निर्माण कराया था। हरम की महिलायें इसी सराय

1. ब्राउन, पृ० 95
2. वही।
3. वही, पृ० 96
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 543
5. वही।
6. ब्राउन, पृ० 96

में आकर अपने पसन्द की वस्तुएँ खरीदती थीं। इस सराय को सुन्दर जाली की पर्देदार गली से मिलाया गया है।

सराय के कोने में एक कृत्रिम झील के किनारे सम्राट् ने एक हिरन मीनार का निर्माण कराया। यह मीनार वृत्ताकार 90 फोट ऊँचो है। अकबर उसी मीनार पर चढ़कर हिरन का शिकार देखता था। इसीलिए इसे हिरन मीनार कहा गया है।

जामा मस्जिद (फतेहपुर सीकरी)

पर्सी ब्राउन के अनुसार फतेहपुर सीकरी की प्रभावशाली कृतियों में निःसंदेह जामा मस्जिद सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।[1] इस मस्जिद का आयताकार क्षेत्र 542 फीट लम्बा तथा 438 फीट चौड़ा है।[2] इस आयताकार क्षेत्र में चार इमारतें हैं। दक्षिण मे बुलन्द दरवाजा, मध्य में शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, उत्तर में इस्लाम खाँ का मकबरा।[3] उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व की ओर मध्य में प्रवेश द्वार हैं। पूर्व के शाही द्वार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अकबर इसी द्वार से जामा मस्जिद में नमाज पढ़ने जाता था।[4] 1582 में अकबर ने दीन इलाही की घोषणा इसी स्थान पर की थी।[5]

इस मस्जिद के ऊपर तीन गुम्बद हैं। बीच का गुम्बद किनारे के गुम्बदों से बड़ा है। मस्जिद के भीतरी भाग में बरामदों, कक्षों तथा आँगन की सुन्दर योजना है। मेहराबों को कुशल शिल्पकारी द्वारा सुसज्जित एवं कलात्मक बनाने का प्रयास किया गया है।[6] इसका अग्रभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस्लामी शैली होते हुए भी हिन्दू शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उसके स्तम्भों, छतों तथा कोष्ठकों का प्रयोग भारतीयता का परिचय देता है।[7] इसको सुसज्जित करने के लिए खुदाई का कार्य अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है।[8] पर्सी ब्राउन के शब्दों में इस भवन की रचना को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि कलाकारों ने किसी अति सुन्दर हस्तलिखित

---

1. ब्राउन, पृ० 96
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 544
3. ब्राउन, पृ० 96
4. स्मिथ, पृ० 321
5. वही।
6. लइक अहमद, पृ० 127
7. ब्राउन, पृ० 97
8. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 544

ग्रन्थ के पृष्ठों को अपना आदर्श माना हो और उन्हें अपनी रेखागणित तथा रंगों द्वारा रिक्त स्थानों को सुसज्जित किया हो ।[1]

इसकी अन्य विशेषताओं में गुम्बद तथा स्तम्भदार छतरी है। सम्भवतः जामा मस्जिद के निर्माताओं ने सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग इसके निर्माण में किया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार इसके भीतरी भाग में खुदाई, पच्चीकारी तथा रँगाई के कार्यों में अद्वितीय सुन्दरता है।[2]

बुलन्द दरवाजा

सम्राट् अकबर की समस्त कृतियों में बुलन्द दरवाजा मुगल सम्राट् की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार गुजरात विजय के उपलक्ष्य में सम्राट् ने विजय स्तम्भ के रूप में इसका निर्माण कराया था।[3] पर्सी ब्राउन के अनुसार इसका निर्माण दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में किया गया था।[4] भारत का यह सबसे वैभवशाली तथा ऊँचा प्रवेश द्वार है। इसकी ऊँचाई पृथ्वी की सतह से 176 फीट है। इसके चबूतरे की ऊँचाई 42 फीट है और चबूतरे से दरवाजे की ऊँचाई 134 फीट है।[5] जामा मस्जिद के दक्षिणी प्रवेश द्वार को तोड़ कर इसका निर्माण किया गया। सम्भवतः विजय स्तम्भ के लिए यही स्थान अकबर की दृष्टि में उपयुक्त था। यह दरवाजा स्वयं एक पूर्ण भवन है। इसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह किसी मस्जिद का द्वार नहीं, अपितु किसी किले का विशाल द्वार है।[6] विजय स्तम्भ तथा मस्जिद द्वार के उद्देश्यों का बड़ा ही सुन्दर संयोग है। इसमें कई छोटे-बड़े कक्षों की योजना है। मध्य के बड़े भाग तथा दोनों ओर के कम ऊँचे और कोण पर छोटे भागों को तीन सतहों द्वारा उभारा गया है। इसके मध्य का भाग एक किनारे से दूसरे किनारे तक 86 फीट लम्बा है।[7] इसकी योजना आयताकार है। इसके किनारे पर तीन मंजिलें और प्रत्येक मंजिल पर खिड़कियों की सुन्दर योजना है। इसकी सबसे

---

1. ब्राउन, पृ० 97
2. वही।
3. स्मिथ, पृ० 320
4. ब्राउन, पृ० 97
5. वही।
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया 4, पृ० 546
7. ब्राउन, पृ० 97

बड़ी विशेषता महत्वपूर्ण मेहराबी मार्ग है।[1] सुन्दर मेहराब को सुसज्जित करने के लिए कलश की योजना है।

इस्लामी वास्तु शैली के अनुसार इस पर सुन्दर लिखित अभिलेख सम्पूर्ण मानव समाज के लिए सम्राट् अकबर के विश्वास, भाव तथा व्यक्ति का सन्देश प्रसारित करता है। "विश्व के एक किनारे से दूसरे किनारे जाने के लिए एक पुल है, इस पर भवन का निर्माण न करो, जो एक क्षण की आशा करता है वह अनन्त की आशा करता है। विश्व क्षणिक है। सम्पूर्ण समय ईश्वर की आराधना में व्यतीत करो, क्योंकि शेष अदृश्य है।"[2]

मस्जिद में इस विशाल, भव्य बुलन्द दरवाजे के निर्माण का उद्देश्य सम्पूर्ण मानव समाज के लिए इस सन्देश को प्रसारित करना था।

शेख सलीम चिश्ती का मकबरा

शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर के उत्तराधिकारी का जन्म हुआ था। उस महान् सन्त की पुण्य स्मृति में सम्राट् अकबर ने फतेहपुर सीकरी में उसका मकबरा तथा मुगल साम्राज्य की राजधानी बनाने का निश्चय किया। उसकी उपलब्धियों में यह सबसे सुन्दर कृति है।[3] इसका निर्माण जामा मस्जिद के प्रांगण में हुआ है। यह एक आयताकार 24 फीट तथा 16 फीट ऊँची इमारत है।[4] इसका निर्माण लाल पत्थर से हुआ था तथा गुम्बद को सुसज्जित करने के लिए सफेद प्लास्टर का प्रयोग किया। इसके दरगाह की जालियाँ अद्वितीय हैं।[5] बाहरी बरामदा सुन्दर स्तम्भों पर आधारित है। उसकी ड्योढ़ी तथा स्तम्भ भी बहुत सुन्दर है। इसमें तोड़ों का प्रयोग अच्छे ढंग से हुआ है।[6] स्मिथ के अनुसार इस इमारत में हिन्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[7] जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासनकाल में लाल पत्थरों को हटाकर संगमरमर का प्रयोग किया गया। इसकी फर्श रंग-बिरंगी है और जालियाँ सुन्दर

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ॰ 546
2. ब्राउन, पृ॰ 98
3. स्मिथ, पृ॰ 321
4. ब्राउन, पृ॰ 98
5. कादिरी, पृ॰ 233
6. ब्राउन, पृ॰ 98
7. स्मिथ, पृ॰ 321

हैं।[1] पर्सी ब्राउन के अनुसार इसकी शैली इस्लामी शैली की बौद्धिकता तथा गांभीर्य की अपेक्षा मन्दिर निर्माता की स्वतन्त्र कल्पना का परिचय प्रदान करती है।[2]

इस्लाम खाँ का मकबरा

यह मकबरा शेख सलीम चिश्ती के मकबरे के दक्षिण में स्थित है। यह एक मुगल मनसबदार था। इस मकबरे का निर्माण लाल पत्थर से हुआ है।

नौ महल

यह एक वैभवशाली दो मंजिल की इमारत है। इसका निर्माण नवाब इकराम खाँ के द्वारा हुआ था। यह इमारत शेख सलीम चिश्ती के मकबरे के दक्षिण में स्थित है।

अन्य भवन

सम्राट् अकबर ने उपर्युक्त भवनों के अतिरिक्त अन्य प्रशासनीय निर्माण कार्यों से फतेहपुर सीकरी को सुशोभित करने का प्रयास किया था। इनमें इबादतखाना, मरियम का चमन, जनाना बाग, शफाखाना, जनानारास्ता, मीना बाजार, दफ्तर खाना, हकीम का महल, जौहरी बाजार, नौबतखाना, बारहदरी, हमाम मोहम्मद बाकर हौज, शीरा लंगरखाना, कबूतरखाना, सगीन बुर्ज, मैदान-ए चौगान, मस्जिद शाहकुली तथा राजा टोडरमल का महल आदि प्रसिद्ध हैं।[3]

जहाँगीर

वास्तुकला के विकास में सम्राट् जहाँगीर के शासनकाल को यदि विश्राम का युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस तीव्र गति से सम्राट् अकबर ने कार्य प्रारम्भ किया था, उस गति का अभाव हम इस काल में पाते हैं। जहाँगीर की विशेष रुचि बाग-बगीचों और चित्रकला में थी।[4] फिर भी जहाँगीर के शासनकाल में जिन भवनों का निर्माण हुआ उनमें अकबरकालीन वास्तुकला शैली का उत्कृष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

अकबर का मकबरा

यह मकबरा सिकदरा नामक गाँव में स्थित है। इस गाँव को सुल्तान सिकंदर

---

1. लइक अहमद, पृ० 129
2. ब्राउन, पृ० 98
3. लइक अहमद, पृ० 131
4. वही, पृ० 130

लोदी ने अपने नाम से बसाया था। अकबर ने इसका नाम बहिस्ताबाद रखा।[1] यह स्थान आगरा से 5 मील की दूरी पर दिल्ली जाने वाली सड़क पर स्थित है। इस विशाल मकबरे की योजना सम्राट् अकबर ने अपने जीवन काल में बनाई थी।[2] सम्राट् जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा तुजुक-ए-जहाँगीरी में लिखा है कि "जब मुझे इस स्थान की तीर्थयात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब मैंने कब्र पर निर्मित भवन देखा। यह मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं था। मैंने आदेश दिया कि अनुभवी कारीगरों की सम्मति से विभिन्न स्थानों पर निश्चित योजना के अनुसार नींव डाली जाय। क्रमशः एक विशाल ऊँचे भवन का निर्माण हुआ, चारों ओर खुले उद्यान की व्यवस्था की गई, एक विशाल एवं ऊँचा प्रवेश द्वार सफेद पत्थर के मीनारों द्वारा बनवाया गया।"[3] अकबरकालीन निर्मित कुछ भागों को ध्वस्त कर दिया गया।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार इसका निर्माण कार्य 1613 ई० में समाप्त हुआ।[5]

यह मकबरा एक विस्तृत एवं सुनियोजित बाग के मध्य में स्थित है। बाग की परिधि डेढ़ मील है। इसके चारों ओर दीवार घिरी हुई है। इसके चारों तरफ प्रवेश द्वार हैं। इस समय केवल दक्षिण का भाग खुला है।[6] यह प्रवेश द्वार वैभवशाली एवं सर्वाधिक सुन्दर है। चारों कोने पर संगमरमर की चार सुन्दर-सुन्दर मीनारें हैं।[7] इन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मकबरे के निर्माणकर्ता तथा बगीचे के कारीगरों के बीच बड़ा ही प्रशंसनीय सहयोग था।

वास्तविक मकबरा वर्गाकृत 320 फीट तथा 100 फीट ऊँचा है। इस मकबरे में 5 मंजिल हैं। प्रत्येक ऊपर की मंजिल निचले भाग से छोटी होती गई है।[8] प्रत्येक मंजिल के प्रवेश द्वार पर फारसी की सुन्दर पंक्तियाँ खुदी हुई हैं। प्रथम मंजिल में असली कब्र है। ऊपर की मंजिल पर बनी हुई कब्र नकली है। दोनों कब्रों का निर्माण संगमरमर से हुआ है। उस पर विविध प्रकार के फूलों का चित्रण है, जिन्हें देखने से ऐसा लगता है कि कब्र फूल के आवरण से ढँकी हुई है। कब्र के सिरहाने

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4 पृ० 549
2. स्मिथ, पृ० 48
3. तुजुक-ए-जहाँगीरी, अनु० रोजर्स, पृ० 151-52
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 550
5. ब्राउन, पृ० 99
6. वही।
7. ।वही
8. लइक अहमद, पृ० 131

अल्लाहु अकबर तथा पैर की तरफ जल्ले-जल्लाह सुन्दर अक्षरों में खुदा है।[1] हैवेल के अनुसार कला की दृष्टि से यह अपने में पूर्ण है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर के शासनकाल में ही यह योजना पूर्ण हो गई थी।[3]

दूसरी मंजिल वर्गाकृत 186 फीट तथा 14 फीट 9 इंच ऊँची है। प्रथम मंजिल की अपेक्षा यह अधिक सुसज्जित है। प्रत्येक तरफ स्तम्भदार छतरी पर अष्टभुजीय संगमरमर का गुम्बद है।[4] तीसरी मंजिल 15 फीट 2 इंच तथा चौथी मंजिल 14 फीट 6 इंच ऊँची है। पाँचवीं मंजिल वर्गाकृत 957 फीट है। फर्गुसन के अनुसार पाँचवीं मंजिल पर एक गुम्बद बनाने की योजना थी। यदि यह योजना पूर्ण हो गई होती तो अकबर का मकबरा ताजमहल के बाद द्वितीय स्थान प्राप्त करता।[5] साधारणतः मकबरे में दफनाते समय मृत व्यक्ति का सिर मक्का की तरफ रहता है, परन्तु अकबर का सिर पूर्व में उदय होते हुए सूर्य की ओर है।[6] इसमें इस्लामी पद्धति का स्पष्ट परित्याग दिखाई देता है।

इसके दरवाजे डाट पर हैं। प्रथम मंजिल के गोल तोड़े मुसलमानी कला के प्रतीक हैं। द्वितीय तथा तृतीय मंजिल के तोड़ों पर हिन्दू शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसका निर्माण भारत के बौद्ध विहारों की शैली के आधार पर हुआ है। ऊपर की मंजिल तो पूर्णरूप से संगमरमर की है। सफेद संगमरमर की छतरियाँ राजपूत कला से ली गई हैं। फूल तथा सूर्य की आवृत्ति हिन्दू प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। अन्तिम मंजिल पर गुम्बद का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पर्सी ब्राउन के अनुसार विभिन्न प्रकार से खुली हुई छत तथा उसकी सुन्दर बनावट सब मिलाकर इस भवन के उपयुक्त है।[7]

हैवेल के अनुसार अकबर का मकबरा एक महान् भारतीय शासक का पुण्य स्मारक है।[8] वान नोअर के अनुसार जैसे अकबर समकालीन शासकों में अद्वितीय

---

1. लइक अहमद, पृ० 131
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 200
3. ब्राउन, पृ० 99
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 200
5. फर्गुसन, 2, पृ० 309
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 202
7. ब्राउन, पृ० 100
8. लइक अहमद, पृ० 132

था, उसी प्रकार भारतीय मकबरों में उसकी समाधि है। यदि एशिया के प्रसिद्ध मकबरों में इसे सर्वश्रेष्ठ कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।[1] सैय्यद मुहम्मद लतीफ के अनुसार सम्राट् अकबर की दीर्घकालीन, सुखद शासन की कल्याणकारी उपलब्धियों की तरह उसका मकबरा सार्वभौम प्रशंसा का पात्र है।[2] स्मिथ के अनुसार भारत में अकबर का मकबरा अद्वितीय है। इसकी तुलना ईरानी तथा सारसेनिक वास्तुकला की उपलब्धियों से नहीं की जा सकती।[3]

अकबर का मकबरा हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई शैलियों का अतीव सुन्दर सम्मिश्रण है। इसके निर्माण में बौद्ध विहार शैली को अपनाया गया है। अकबर का मकबरा एक महान् राजनीतिज्ञ तथा विचारक का पुण्य स्मारक है जिसने अपने सम्पूर्ण जीवन में विभिन्न सम्प्रदायों तथा जातियों के बीच समन्वय के लिए सतत प्रयास किया। पर्सी ब्राउन ने इसे मुगल काल की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कहा है।[4] सिकन्दरा में अकबर का मकबरा उस महान् सम्राट् के व्यक्तित्व तथा उदारवादी विचारधारा का बेजोड़ प्रतीक है।

जहाँगीर का मकबरा शाहदरा

जहाँगीर के शासनकाल की वास्तुकला की उपलब्धियों में उसका मकबरा महत्वपूर्ण है। यह इमारत रावी नदी के किनारे लाहौर के समीप शाहदरा में स्थित है।[5] सम्भवतः इसका निर्माण सम्राट् की मृत्यु के बाद उसकी बेगम नूरजहाँ ने करवाया था।[6] निःसन्देह इसकी योजना जहाँगीर ने अपने जीवनकाल में तैयार की थी।[7] बाबर की भाँति जहाँगीर भी प्रकृति का प्रेमी था। अतः उसके मनोभावोनुकूल रावी नदी के तट पर एक विशाल बाग के मध्य में उसकी समाधि का निर्माण हुआ, जिस पर वर्षा तथा ओस की बूँदें पड़ती रहें। चारों तरफ का क्षेत्र ईंट की ऊँची दीवार से घिरा हुआ है। विशाल बाग को 16 वर्गाकार क्षेत्रों में बाँटा गया है। इसका विभाजन मार्गों से किया गया है। प्रत्येक भाग कृत्रिम फौव्वारे तथा जल स्रोतों और

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 202
2. वही, पृ० 203
3. वही।
4. ब्राउन, पृ० 100
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 551
6. ब्राउन, पृ० 100
7. लइक अहमद, पृ० 133

सुसज्जित पुल से सुशोभित है।[1]

मध्य के भाग में मकबरा 32 फीट आयताकार एक मंजिला है। प्रत्येक कोने पर अष्टभुजीय सुन्दर पाँच मंजिल की 100 फीट ऊँची मीनार है। छत के मध्य में संगमरमर का सुन्दर मंडप है।[2] सिखों के प्रभुत्व काल में यह भाग ध्वस्त कर दिया गया। इस मकबरे को सुसज्जित करने के लिए जड़ाऊ संगमरमर, रंगीन टाइल्स तथा विभिन्न रंगों का प्रयोग किया गया है।[3] बरामदे से जुड़े हुए कई कमरों से होकर कब्र की ओर जाने का रास्ता है। पर्सी ब्राउन के अनुसार मकबरे को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँगीर प्राकृतिक दृश्यों का कितना प्रेमी था।[4]

एतमादुद्दौला का मकबरा

पर्सी ब्राउन के अनुसार यमुना नदी के किनारे आगरा में एतमादुद्दौला का मकबरा अकबर तथा शाहजहाँ की शैलियों के बीच एक कड़ी है।[5] एतमादुद्दौला नूरजहाँ तथा आसफ खाँ का पिता एवं सम्राट् जहाँगीर का श्वसुर था। साम्राज्ञी नूरजहाँ ने इसका निर्माण 1626 में किया था। इस इमारत को वास्तुकला के दो युगों के बीच की सीमांत रेखा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

इस मकबरे के निर्माण में लाल पत्थर तथा संगमरमर का प्रयोग अतीव सुन्दर ढंग से किया गया है। उसकी चहारदीवारी 540 फीट वर्गाकार क्षेत्र को घेरे हुए है। सुन्दर बाग, पेड़-पौधों से घिरे हुए मार्ग, कृत्रिम तालाब, जल स्रोत एवं फौव्वारों के मध्य में मकबरा 70 फीट व्यास पर बना हुआ है।[6] इमारत के चारों ओर मीनार के स्थान पर अष्टभुजीय बुर्ज बना हुआ है।[7]

मुगलकालीन वास्तुकला के विकास में यह प्रथम इमारत है जिसमें लाल पत्थर के स्थान पर शुद्धतम सफेद संगमरमर का प्रयोग हुआ है।[8] भीतरी कमरों से

---

1. ब्राउन, पृ० 100
2. वही।
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, 551
4. ब्राउन, पृ० 100
5. वही।
6. वही।
7. लइक अहमद, पृ० 132
8. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553

होकर समाधिस्थल पर जाने की व्यवस्था है।[1] इसकी छत पर संगमरमर का मंडप है। इसकी दीवार के निर्माण में सुन्दर जालियों का प्रयोग किया गया है। इसमें पच्चीकारी का काम ओपस ड्यूरा का है। सख्त बहुमूल्य पत्थरों लेपिस, ओनिक्सी-जैस्पर, टोपस और कोट नेलियल का प्रयोग इतने सुन्दर ढंग से हुआ है कि इसे देखने से ऐसा लगता है कि किसी जौहरी ने बहुमूल्य रत्नों को किसी सुन्दर आभूषण में जड़ा है।[2] इमारत को तोड़, बेल-बूटों और जालियों पर हिन्दू शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। साइप्रस का वृक्ष, शराब एवं जग फारसी शैली का प्रतीक है। इन शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण इस इमारत में हुआ है।

फर्गुसन के अनुसार इस मकबरे की फर्श का अलंकरण, बाग-बगीचे तथा प्रवेश द्वार की निर्माण शैली इस इमारत की श्रेष्ठता में वृद्धि करती है।[3] यह प्रथम इमारत है जिसमें पित्रादुरा शैली का प्रयोग हुआ है, जिसका पूर्ण विकास शाहजहाँ के शासनकाल में हुआ।[4] इस इमारत में इसकी निर्माणकर्त्री साम्राज्ञी नूरजहाँ के व्यक्तित्व एवं स्त्री गौरव की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।[5] वास्तुकला विशेषज्ञ ताज-महल के बाद इसे द्वितीय स्थान देते हैं।

खानखाना का मकबरा

अब्दुर्रहीम खानखाना के मकबरे का निर्माण हुमायूँ के मकबरे की शैली के आधार पर हुआ है। इसमें सादगी लाने के लिए अष्टभुजीय शैली का प्रयोग न करके वर्गाकार शैली का प्रयोग हुआ है।[6] इस इमारत का अधिकांश भाग ध्वस्त हो चुका है। परन्तु अवशेषों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका निर्माण ईरानी शैली के आधार पर हुआ है।[7]

मरियम उज-जमानी का मकबरा

कुछ विद्वानों का मत है कि यह इमारत सम्राट् अकबर की ईसाई बेगम की पुण्य स्मृति में बनी है। परन्तु जहाँगीर की माँ का नाम मरियम-उज-जमानी था

1. ब्राउन, पृ० 101
2. वही, पृ० 100
3. फर्गुसन 2, पृ० 307-8
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 208
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553
7. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 209

जिसे सम्राट् ने मरियम मकानी की उपाधि से विभूषित किया था। यह समाधि उसी की स्मृति में निर्मित है।[1]

यह इमारत अकबर के मकबरे से 2 फलाँग की दूरी पर स्थित है।[2] इसका गुम्बद प्रारम्भिक मुगल शैली का प्रतीक है। समाधि का क्षेत्र 5 फीट 6 इंच × 2 फीट 4 इंच है। इसके गुम्बद पर तख्ती का चिह्न नहीं जो पुरुषों के मकबरे में आवश्यक समझा जाता है। सिकन्दरा में अकबर के मकबरे की तरह इसका ऊपरी भाग खुला है। उसके ऊपरी मंडप को सुन्दर गुम्बद से सुसज्जित किया गया है।

पूरी इमारत का निर्माण लाल पत्थर तथा ईंटों से हुआ है। 145 फीट वर्गाकार क्षेत्र में स्थित यह मकबरा 39 फीट ऊँचा है। बगीचों एवं प्रवेश द्वार से इसे सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।[3] बीच के भाग का निर्माण सफेद संगमरमर से हुआ है। सम्भवतः इस भाग का निर्माण जहाँगीर के शासनकाल में हुआ है। स्तम्भों के निचले भाग तथा मंडप की नींव पर खुदाई का अच्छा कार्य हुआ है। कोने के मंडप पर पशु-पक्षियों की आकृतियाँ बनी हैं।[4]

शाहजहाँ

मुगल सम्राटों की वास्तुकला सम्बन्धी समस्त उपलब्धियों में सम्राट् शाहजहाँ का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। पर्सी ब्राउन ने तो उसके शासनकाल को स्वर्णयुग कहा है।[5] रोमन सम्राट् आगस्टस ने गर्वोक्तिपूर्ण शब्दों में कहा था कि मैंने ईंट का रोम पाया तथा संगमरमर का बनाकर छोड़ा। शाहजहाँ ने भी पत्थर निर्मित मुगल नगरों को पाया था और उन्हें संगमरमर निर्मित बनाकर छोड़ा।[6] शाहजहाँ की वास्तुकला सम्बन्धी उपलब्धियों के विषय में डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि यदि सम्पूर्ण ऐतिहासिक साहित्य नष्ट भी हो जाय तो शाहजहाँकालीन इमारतें तत्कालीन इतिहास को कहने में सक्षम हैं।[7]

इस काल में स्थापत्यकला के विकास का प्रमुख कारण सम्राट् की व्यक्तिगत-

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 204-5
2. वही, पृ० 204
3. वही, पृ० 208
4. वही, पृ० 206
5. ब्राउन, पृ० 102
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553
7. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 261-2

अभिरुचि थी। बचपन में राजकुमार के रूप में वह राजमहल के जिस भाग में रहता था उसे तोड़ कर पुनः बनवाने की उसकी बराबर रुचि थी। वह एक महत्वाकांक्षी सम्राट् था तथा अपने नाम को इतिहास में अमर करना उसका स्वप्न था। चित्रकला के क्षेत्र में विशेष योगदान की कोई सम्भावना न देखकर[1] उसने सम्पूर्ण साधन एवं ध्यान वास्तुकला के विकास पर केन्द्रित किया।[2]

शाहजहाँकालीन शैली के विषय में विद्वानों में मतभेद है। फर्गुसन ने अभारतीय प्रभाव का उल्लेख किया है।[3] हैवेल के अनुसार यह शैली पूर्णरूप से भारतीय शैली है।[4] डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार शाहजहाँकालीन शैली हिन्दू-मुस्लिम प्रभाव का प्रतिफल है।[5] शाहजहाँ की संरक्षणता में इसका पूर्ण विकास हुआ। उसने देश-विदेश से कारीगरों को बुलाकर उनकी विशिष्ट कलाओं का समन्वीकरण कराया।

शाहजहाँ को संगमरमर अत्यधिक प्रिय था। उसने भवनों का निर्माण संगमरमर से कराया। इसका प्रमुख कारण यह था कि जयपुर तथा जोधपुर के मकराना से संगमरमर आसानी से उपलब्ध हो सकता था। मकराना का संगमरमर इतना कोमल था कि उसपर खुदाई का कार्य सरलता से हो सकता था। उसके कारीगर रुखानी के स्थान पर सूक्ष्म यंत्रों का प्रयोग पित्रादुरा शैली के लिए करते थे।[6] सम्राट् ने वास्तुकला के विकास को पूर्णता के शिखर तक पहुँचाया। बादशाहनामा के लेखक के अनुसार सम्राट् शाहजहाँ अपने पूर्वजों की उपलब्धियों से प्रसन्न न होकर अपने शासन काल की उपलब्धि को चरम सीमा तक पहुँचाना चाहता था।[7] वह स्वयं वास्तुकला की योजनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण कर अपनी अन्तिम स्वीकृति देता था।[8] ऐसी परिस्थिति में यदि स्थापत्यकला का सर्वाधिक विकास हुआ तो आश्चर्य नहीं। उसकी उपलब्धियाँ सम्राट् की महत्वाकांक्षा तथा गर्व को सन्तुष्ट करने में पूर्ण समर्थ थीं।

---

1. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 263
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553
3. फर्गुसन, पृ० 286; स्मिथ, पृ० 177-180
4. हैवेल, पृ० 204
5. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 262
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 553
7. बादशाहनामा 1, पृ० 221
8. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 262

शाहजहाँबाद

मुगल सम्राट् शाहजहाँ की उत्कृष्ट अभिलाषा मध्ययुगीन दिल्ली के गौरवपूर्ण इतिहास में एक नवीन अध्याय को जोड़ना था। सम्भवत: इसी उद्देश्य से उसने मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा से दिल्ली स्थानान्तरित की और अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति यमुना नदी के किनारे 1628 में शाहजहाँबाद नगर का निर्माण कराया।[1] यदि सम्राट् अकबर फतेहपुर सीकरी के माध्यम से अपने नाम को इतिहास में अमर करना चाहता था तो शाहजहाँ नवनिर्मित नगर शाहजहाँबाद के माध्यम से। दोनों नगरों में विभिन्नता थी। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार "यदि फतेहपुर सीकरी किसी महान् पुरुष के व्यक्तित्व का प्रतीक है तो शाहजहाँबाद किसी सुन्दर सुसज्जित स्त्री के गुणों को प्रतिबिम्बित करता है।[2]

सम्राट् शाहजहाँ ने शाहजहाँबाद में एक किले का निर्माण कराने का आदेश दिया। उसकी इमारतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक व्यक्ति के मस्तिष्क की योजना थी, और एक व्यक्ति ने इस सुनिश्चित योजना को कार्यान्वित किया था। समकालीन ऐतिहासिक स्रोतों के अनुसार शाहजहाँ ने अपने व्यक्तिगत निरीक्षण में सभी निर्माण कार्य को संयत्र किया।[3]

दिल्ली का लाल किला 3100 फीट लम्बा तथा 1650 फीट चौड़ा वर्गाकार क्षेत्र में स्थित है।[4] यह फतेहपुर सीकरी की भाँति एक ऊँची तथा सुदृढ़ चहारदीवारी से घिरा है। इसके दो प्रमुख द्वार पश्चिम तथा दक्षिण में हैं। पश्चिम का लाहौर द्वार बड़ा ही भव्य और महत्वपूर्ण है। यही राज मार्ग था। दक्षिण का प्रवेश द्वार सम्राट् तथा उसके परिवार के उपयोग के लिए था।[5]

किले के भीतर का वर्गाकार क्षेत्र 1600 फीट तथा 3200 फीट का है। इसमें तीन प्रवेश द्वार हैं—राजपथ, व्यक्तिगत मार्ग, नदी के तरफ का द्वार।[6] इसमें राजप्रासाद, सरकारी कर्मचारियों के निवास, अस्तबल, फीलखाना के अतिरिक्त सुन्दर

---

1. ब्राउन, पृ० 103
2. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 265
3. ब्राउन, पृ० 103
4. वही।
5. वही।
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडियां 4, पृ० 555

बाग, बगीचे, जलस्रोत तथा फव्वारे हैं।[1] इन इमारतों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(i) मध्य के प्रांगण में दीवान-ए-आम।

(ii) इसके चारों तरफ विशाल सुन्दर बाग, बगीचों से सुसज्जित आँगन।

(iii) बगीचों के सामने अत्यन्त सुन्दर राजमहल, पीछे की ओर से निरन्तर प्रवाहित जमुना नदी का दृश्य।[2] इसकी तुलना मौर्यकालीन पाटलिपुत्र के राजप्रासाद तथा धम्मपाल वर्णित अशोक के महल से की जाती है।[3]

रंगमहल

यह दीवान-ए-खास से लगा हुआ स्थित है। इसका निर्माण बादशाह तथा उसकी बेगम और राजपरिवार के लिए किया गया था। यमुना नदी की लहरती हुई लहरें उसकी चहार दीवारी से टकरा कर इसकी शोभा को बढ़ाती हैं।[4] इसके भीतरी भाग में मोती महल, हीरा महल तथा रंगमहल बहुत ही आकर्षक इमारतें हैं।[5] इन महलों का निर्माण संगमरमर से हुआ है। इनके स्तम्भों और फर्शों की खुदाई तथा पित्रादुरा शैली के आधार पर रंगीन पत्थरों की जड़ावत, बेल, बूटे, फूल, पत्तियों से सजाकर सुशोभित किया गया है।[6] यमुना नदी से एक कृत्रिम नहर के द्वारा जल की सुन्दर व्यवस्था है। इसे नहर-ए-विहिस्त अथवा स्वर्ग का जल स्रोत कहते हैं।[7] कुछ मण्डपों में इसी से फव्वारे बनाए गये हैं। रंग महल के फव्वारे के विषय में सैय्यद अहमद ने लिखा है कि—"इसकी सुन्दरता अवर्णनीय है। संगमरमर का निर्मित यह भाग पूर्ण विकसित फूल की भाँति है। हथेली की भाँति इसकी गहराई है। पूर्णरूप से भरे हुए पानी के हिलोर में इसके अन्दर संगमरमर पर फूल-पत्तियों की खुदाई आगे-पीछे लहर की भाँति चलायमान दृष्टिगोचर होती है। मध्य में प्याला स्वरूप संगमरमर खिले हुए फूल की भाँति दिखाई देता है। प्रत्येक मोड़ पर लता, फूल-पत्तियाँ इसकी शोभा में वृद्धि करती हैं। संगमरमर के प्याले के मध्य की सुराख से गिरती

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 4, पृ० 555
2. ब्राउन, पृ० 103
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 4, पृ० 556
4. लइक अहमद, पृ० 130
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 4, पृ० 557
6. ब्राउन, पृ० 105
7. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० 557

हुई जल की धारा में फूल-पत्तियों की चंचलता नृत्य करती हुई प्रतीत होती है। सब कुछ जादूगर के दृश्य की भाँति दिखाई देता है।[1]

महल से पानी निकल कर बगीचे में आता है। ह्यातबख्श सबसे सुन्दर और विस्तृत बाग है। वर्गाकार फूल की क्यारियों को सिंचाई के जल मार्ग विभाजित करते हैं। यहाँ निर्मित दो मण्डपों को सावन, भादों नाम की संज्ञा दी गई है। रंगीन चित्रों से इसकी सजावट इतनी सुन्दर हुई है कि इसकी तुलना शेबा की महारानी तथा सोलोमन के रत्नजटित सिंहासन से की जाती है। इन दोनों के मध्य का कृत्रिम तालाब तथा उससे कृत्रिम जल प्रपात इसे सुशोभित करता है। दिन में रंग-बिरंगे फूलों के गमले तथा घनघोर काली रात्रि में इसके किनारे जलती हुई मोमबत्तियाँ काले बादलों से आच्छादित आकाश में चमकते हुए तारों की भाँति दिखाई देती हैं। जल में उन मोमबत्तियों का प्रतिबिम्ब बड़ा ही आकर्षक तथा हृदयग्राही है।[2]

खास महल में लाल पत्थर का भी प्रयोग हुआ है। इसका ऊपरी भाग, कमरे तथा गलियारे सफेद संगमरमर के बने हैं। इसकी दीवारों में तरह-तरह के कीमती पत्थर जड़े हुए हैं। यमुना की ओर दो सुनहरी बुर्ज हैं, जिन्हें फूल-पत्तों की नक्काशी से सुसज्जित किया गया है। उसके सामने अंगूरी बाग है।[3] इसकी दीवारों पर फारसी में कुछ लिखावट है।

दीवान-ए-खास

यह एक खुली इमारत है। इसका कक्ष 90 फीट लम्बा, 66 फीट चौड़ा है। इसके बाहरी भाग में 5 बराबर वृत्तखण्डनुमा मेहराबदार रास्ते हैं। इसकी फर्श संगमरमर की बनी है, जिस पर फूल से सजे हुए सेतुबन्धों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। मेहराब स्वर्ण तथा रंगों से सजे हैं। फिरदौसी ने लिखा है—

अगर फिरदौस वर रुए जमी अस्त।
हमीं अस्त हमीं अस्त हमीं अस्त।

यदि भूमि पर कहीं स्वर्ग का आनन्द है तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।

दीवान-ए-आम

यह पत्थर की इमारत है। यह 185 फीट लम्बी, 70 फीट चौड़ी है। यहीं बादशाह फरियाद सुनता था। बाहरी भाग में 9 मेहराब हैं। तीन ओर इसका रास्ता

1. सैय्यद अहमद खाँ, आसार-उस-सनादीद, पृ० 54
2. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1929, पृ० 580-88
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 215

दाँतेदार डातों से बना है। इसमें सम्राट् के बैठने के लिए एक मयूर सिंहासन है। समकालीन इतिहासकार ने लिखा है कि इसके निर्माण में इतना अधिक स्वर्ण का प्रयोग हुआ, जिसके परिणामस्वरूप विश्व में सोने की कमी महसूस होने लगी।[1] इस फूल, पत्ती, पशुओं की आकृतियों से सुसज्जित किया गया है।

नहर-ए-बहिश्तः

इसके द्वारा किले के सम्पूर्ण भाग में पानी पहुँचाया जाता था। इसी से बाग, बगीचों, हमाम आदि को जल मिलता था। महलों के जलाशय, स्नानागार तथा सुन्दर फव्वारों को इसी से जल दिया जाता था। रंग महल के मध्य में एक फौव्वारा है, जहाँ से सुगंधित पानी निकला करता था। इसके निर्माण में समकालीन कलाकारों ने अपने अद्भुत ज्ञान का परिचय दिया है।

शीश महल

वह दीवान-ए-खास के पास स्थित है। इसके दरवाजे तथा दीवारों में रंग-बिरंगे शीशे जड़े हुए हैं। इसमें स्नान करने के लिए दो जलाशय हैं, जो 10 गज लम्बा तथा एक गज चौड़ा है। इसके दूसरे विशाल कक्ष से मिला हुआ एक हमाम तथा तुर्की स्नान का जलाशय है। इसके मध्य में एक कृत्रिम फौव्वारा है। इसका गिरता हुआ जल शीशे में प्रतिबिम्बित होता है। इस स्नानागार में यमुना नदी तथा बगीचों का दृश्य शीशे में स्पष्ट दिखाई देता है।[2]

अंगूरी बाग

अंगूरी बाग 235 फीट लम्बा तथा 170 फीट चौड़ा है। इसके किनारे का कक्ष मुगल बेगमों के लिए बना हुआ है। इसके एक किनारे पर विशाल मंडप है। इसके बीच-बीच में फौव्वारे इसकी शोभा को दुगुना करते हैं।[3]

दीवान-ए-आम

किले का सबसे महत्वपूर्ण भाग दीवान-ए-आम है। इसका क्षेत्र 185 फीट लम्बा एवं 70 फीट चौड़ा है।[4] इसके डाटों के बीच दुहरे स्तम्भ तथा प्रत्येक कोने पर चार-चार खम्भे हैं। कुल मिलाकर 40 स्तम्भ हैं। इसका निर्माण 1627 में किया गया।[5]

1. ब्राउन, पृ० 104
2. वही, पृ० 214
3. वही, पृ० 216
4. ब्राउन, पृ० 104
5. लइक अहमद, पृ० 134

यह तीन तरफ से खुला है। चौथे भाग की दीवार पर पित्रादुरा शैली के अनुसार फूल-पत्तियों की सजावट सुन्दर ढंग से की गयी है। इसमें सम्राट् के बैठने के लिए ऊँचा स्थान है जिसे तख्त ताउस अथवा मयूरसिंहासन कहते हैं।[1] एक इतिहासकार ने लिखा है कि इसके निर्माण में इतना अधिक सोने का प्रयोग किया गया कि विश्व में सोने की कमी महसूस होने लगी। इसके पशु, पक्षी, फूल, पत्तों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पर इटालियन शैली का प्रभाव पड़ा है।[2] इसकी सुन्दर सजावट को देखकर ऐसा आभास होता है कि वृक्ष के नीचे पशु-पक्षियों के बीच बैठ कर आरफियस बाँसुरी बजा रहा है।[3] इसके नीचे फर्श के ऊपर एक संगमरमर की चौकी है, जहाँ वजीर बैठ कर सम्राट् से मन्त्रणा करता था।

मच्छी भवन

दीवान-ए-आम के पीछे मच्छी भवन एक आयताकार इमारत है। इसका आँगन 60 गज लम्बा और 55 गज चौड़ा है।[4] इसके चारों तरफ गलियारे के स्तम्भों पर सुन्दर सजावट है। इसी के पास जवाहरातों का कोष है। दक्षिण में छाते के आकार का एक संगमरमर का सुन्दर मंडप है।[5] इसमें एक सोने का सिंहासन है। इसके प्रांगण में एक जलाशय मछलियों के लिए है, जिसमें शाही परिवार के लोग मछली मारते थे। इसीलिए इस भवन को मच्छी भवन कहते हैं।

दीवान-ए-खास

यह मच्छी भवन के पश्चिमोत्तर में स्थित है। इसका निर्माण एक ऊँचे स्थान पर हुआ है, जहाँ से यमुना नदी का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यह संगमरमर का एक आयताकार भवन जो 64 फीट 9 इंच लम्बा, 34 फीट चौड़ा है और 22 फीट ऊँचा है। इसके चारों ओर स्तम्भदार बरामदा है। स्तंभों और डाटों पर सुन्दर सजावट का काम किया गया है। दीवार पर फारसी भाषा में सुन्दर लिखावट है। इसी कक्ष में 1666 में शिवाजी उपस्थित हुए थे।[6]

---

1. कॅम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 558
2. वही।
3. ब्राउन, पृ० 105
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 212
5. वही।
6. वही, पृ० 213

जामा मस्जिद (दिल्ली)

दिल्ली के लाल किले के बाहर ऊँचे चबूतरे पर स्थित जामा मस्जिद है। इसमें तीन प्रवेश द्वार हैं।[1] इसके भीतर पत्थर के टुकड़ों से जड़ा हुआ एक विशाल प्रांगण है। सामने का भाग लाल पत्थर का बना है। इसके किनारे का भाग सफेद और काले संगमरमर का बना है।[2] आँगन के तीन ओर मध्य में प्रवेश द्वार हैं। इसके मध्य में जलाशय वज़ू के लिए बना है।[3] नमाज पढ़ने के पहले लोग इसी जलाशय में हाथ धोते थे। इसके किनारे पर चार मंजिल की चार मीनारें हैं। इसके पूर्वी प्रवेश द्वार से सम्राट् नमाज पढ़ने के लिए आता था। इसका निर्माण 1644 में प्रारंभ किया गया।[4] अन्य दो प्रवेश द्वार साधारण प्रजा के लिए थे। उसका आँगन 325 फीट चारो ओर है।[5] इसके ऊपरी भाग पर तीन गुम्बद है। मध्य का गुम्बद किनारे के गुम्बदों से बड़ा है।[6] इसके मध्य में एक सुन्दर मेहराब है। दोनों किनारों पर ऊँची मीनार है। यह वास्तुकला का एक सुन्दर नमूना है।

आगरा का किला

शाहजहाँ ने आगरा के किले में अनेक भवनों को तोड़वाकर उनके स्थान पर संगमरमर की इमारतों का निर्माण कराया। जहाँगीरी महल को छोड़कर शेष भागों को संगमरमर की इमारतों से सुसज्जित किया। किले की प्रमुख इमारतों में दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, खास महल, अंगूरीबाग, मच्छी भवन हैं।[7] इसके अतिरिक्त मुसम्मन बुर्ज, मोती मस्जिद सम्राट् शाहजहाँ की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। आगरा के किले की कृतियों में शीश महल का भी प्रमुख स्थान है।

खास महल

यह आगरा के किले में दीवान-ए-खास से लगा हुआ है। सम्राट् शाहजहाँ ने इसका निर्माण हरम की बेगमों के लिए कराया था। इसका निर्माण सफेद संगमरमर से हुआ है। इसके स्तम्भों तथा दीवारों पर सजावट का कार्य बड़ा ही सुन्दर है।

1. ब्राउन, पृ० 105
2. वही।
3. वही।
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 558
5. वही, पृ० 559
6. लइक अहमद, पृ० 137-8
7. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 558

बेल-बूटों तथा फूल-पत्तियों द्वारा सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।[1]

इस महल के निर्माण में बहुमूल्य पत्थरों का प्रयोग किया गया है। खास महल सम्राट् शाहजहाँ के दैनिक जीवन की गौरवगाथा आज भी बताती है।[2] इसकी दीवारों पर फारसी भाषा में सुन्दर लिखावट का कार्य है।

झरोखा दर्शन

खास महल तथा मुसम्मन बुर्ज के मध्य में एक संगमरमर का निर्मित स्थान है। इसका निर्माण सफेद संगमरमर से हुआ है। सूर्य के प्रकाश में इसकी छत अधिक चमकती थी। शाहजहाँ इसी भाग से प्रांगण में उपस्थित जनता को दर्शन देता था। जंजीर के प्रयोग से जनता अपनी फरियाद सम्राट् तक पहुँचाती थी। सम्राट् उनकी फरियाद पर न्याय देता था। इसी स्थान से वह हाथियों का युद्ध देखता था।[3]

मुसम्मन बुर्ज

यह छः मंजिला भवन है। शाहजहाँ ने इसका निर्माण संगमरमर से करवाया था। यह खास महल के उत्तर में स्थित है। इसे कुछ दूरी से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हरे रंग की चहारदीवारी पर एक सुन्दर लता लटक रही है।[4] प्रत्येक मंजिल पर खुदाई का कार्य बहुत सुन्दर है। इसके ऊपर एक सुन्दर गुम्बद की योजना है। इसके समीप बरामदे में एक फौव्वारा है। कमरे में एक जल प्रपात है। इसी बुर्ज से शाही परिवार की स्त्रियाँ पशुओं का युद्ध देखती थीं।[5] मुमताज की मृत्यु के बाद शाहजहाँ इसी में रहता था और ताजमहल को देखता था।[6] इसी के नीचे संगमरमर की दो कृतियाँ हैं। जहाँगीर ने हाथी पर राणा अमर सिंह तथा उसके लड़के करण सिंह की मूर्तियों को बनवाया था। औरंगजेब ने इन्हें ध्वस्त करा दिया।[7]

किले की मस्जिदें

शाहजहाँ के शासनकाल में आगरा के किले में तीन मस्जिदों का निर्माण

---

1. लइक अहमद, पृ० 135
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 215
3. वही, पृ० 585
4. वही।
5. वही।
6. लइक अहमद, पृ० 136
7. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 217

व्यक्तिगत उपयोग के लिए किया गया था। इनमें एक मस्जिद बिना गुम्बद तथा मीनार की है। इसमें इमाम के बैठने के लिए स्थान भी नहीं है। खास महल तथा दीवान-ए-खास से इसमें जाने का रास्ता है। शाहजहाँ कालीन पर बैठकर नमाज पढ़ता था।[1]

नगीना मस्जिद (आगरा)

आगरा के किले में यह मस्जिद बनी है। मच्छी भवन के पश्चिमोत्तर में स्थित यह मस्जिद छोटी परन्तु अत्यन्त सुन्दर है। सम्भवतः इसका निर्माण हरम की बेगमों के लिए किया गया था।[2] कुछ लोगों ने इसकी तुलना मोती मस्जिद से की है। इसी मस्जिद से जुड़े हुए कुछ कक्ष हैं, जहाँ सम्राट् औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बनाया था। इसके सामने एक चौड़ा तथा खुला हुआ बगीचा है। वहीं पर राजकुमार सलीम ने मेहरुन्निसा को पहली बार देखा था।[3]

जामा मस्जिद (आगरा)

यह मस्जिद आगरा के किले के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित है। इसका निर्माण शाहजहाँ की ज्येष्ठ पुत्री जहाँआरा बेगम ने कराया था। निर्माण कार्य 1648 में पूर्ण हुआ।[4] इसके बनवाने में 5 लाख रुपया व्यय हुआ। यह आकार में 130 फीट लम्बी तथा 100 फीट चौड़ी है। मस्जिद की छत के प्रत्येक कोने पर अष्टकोणीय गुम्बददार छतरी है। इसके ऊपरी भाग पर तीन बड़े गुम्बद तथा चार सुन्दर मीनारे हैं। इससे मस्जिद की शोभा में वृद्धि हुई है। यह एक सुन्दर कृति है।[5]

इसके सामने को डाटें, प्रांगण, छतरी इस इमारत की विशेषताएँ हैं।[6] इसकी डाटें लकड़ी की बनी हैं तथा उनके ऊपर ईंट का काम है। समकालीन इतिहासकारों तथा ट्रेवर्नियर नामक समकालीन यात्री ने लिखा है कि मुगलकालीन इमारतों तथा ताजमहल में टिम्बर की लकड़ी और ईंटों का प्रयोग किया गया है।[7]

मोती मस्जिद (आगरा)

आगरा के किले में मोती मस्जिद सम्राट् शाहजहाँ की उत्कृष्ट उपलब्धि है।

1. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 264
2. लइक अहमद, पृ० 136
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 218
4. ब्राउन, पृ० 106
5. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 264
6. ब्राउन, पृ० 106
7. वही।

वह दीवान-ए-आम के उत्तर में स्थित है। इसके प्रांगण में प्रवेश के लिए लाल पत्थर का एक प्रवेश द्वार है। मस्जिद की लम्बाई, चौड़ाई क्रमशः 237 फीट और 187 फीट है। इसका निर्माण 1654 में हुआ, जब मुगल वास्तुकला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी।[1] इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसका सुन्दर गुम्बद है। इसके किनारे की छतरियाँ बड़ी दर्शनीय हैं। प्रांगण के चारों ओर स्तम्भदार संगमरमर का बरामदा है। इसका निर्माण सफेद संगमरमर से हुआ है।[2] इसके मध्य में एक सुन्दर फौव्वारा है। राजप्रासाद की ओर से सीढ़ियों द्वारा प्रवेश की विशेष व्यवस्था है। इसके समीप के कक्ष पर संगमरमर की जाली है, जहाँ से हरम की बेगमें नमाज पढ़ती थीं और जहाँ उन्हें नमाज के लिए उपस्थित जन समूह नहीं देख सकता था।[3] काले संगमरमर पर इसके निमंत्रण की तिथि लिखी हुई है। इसकी नींव 1648 में पड़ी थी और 1654 में निर्माण कार्य पूर्ण हुआ। इसके निर्माण पर 3 लाख रुपया व्यय हुआ था।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार मुगल वास्तुकला की यह सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।[5]

ताजमहल

ताजमहल वास्तुकला की कारीगरी का सर्वोत्कृष्ट नमूना तथा शाहजहाँ का विश्व को सर्वश्रेष्ठ उपहार है। शाहजहाँ ने नूरजहाँ की भतीजी एवं प्रधानमंत्री आसफ खाँ की प्रिय पुत्री अर्जुमंद बानू बेगम महल की पुण्य स्मृति में इस वैभवशाली ताजमहल का निर्माण कराया था। देश, विदेश के श्रेष्ठ कलाकारों को उसने इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए आमंत्रित किया था।

चौदह बच्चों को जन्म देने के बाद मुमताज महल की मृत्यु हो गई। अपनी प्रियतमा के प्रति अपने प्रेम को अमर करने के लिए सम्राट् एक समाधि का निर्माण कराना चाहता था। शाहजहाँ ने मुमताज महल के लिए दीवान-ए-खास के समीप एक ऐसा सुन्दर राजप्रासाद बनवाया था जिसकी तुलना शाहजहाँनामा के लेखक ने स्वर्ग की इमारतों से की है।[6] उसकी स्मृति में वह एक ऐसी इमारत का निर्माण करना चाहता था जो न केवल भारत अपितु विश्व में अद्वितीय हो।[7] फादर मनरीक

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 218
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 554
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 219
4. वही।
5. वही।
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 561
7. वही।

के अनुसार बेनेशिया के वास्तुकला विशेषज्ञ जेरोनिमो वरोनिओ ने इसकी योजना तैयार की थी।[1] स्लीमैं ने लिखा है कि इसकी योजना फ्रांसीसी अभियंता आस्टिन द बोर्दों ने बनायी थी।[2] परन्तु हैवेल ने ताजमहल पर पाश्चात्य कला के प्रभाव को अस्वीकार किया है।[3] सर जान मार्शल ने हैवेल के मत को स्वीकार करते हुए कहा है कि ताजमहल पूर्ण रूप से भारतीय शैली का प्रतीक है।[4] पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि सम्भवतः वेनेशिया तथा अन्य देशों के वास्तुकला विशेषज्ञों को योजना तैयार करने के लिए आमंत्रित किया गया हो, परन्तु सम्राट् शाहजहाँ ने भारतीय कलाकारों द्वारा तैयार की गई योजना पर अपनी स्वीकृति दी।[5] इस प्रकार पर्सी ब्राउन ने भी ताजमहल के निर्माण में पाश्चात्य प्रभाव को अस्वीकार कर दिया है।

आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने भी उपर्युक्त मत की पुष्टि की है। इसकी योजना तैयार करने का श्रेय उस्ताद अहमद लाहौरी को है, जिसे शाहजहाँ ने नादिर-उल-असर की उपाधि से विभूषित किया था।[6] ताजमहल का निर्माण-कार्य उसी के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ। उसकी सहायता के लिए बगदाद तथा शिराज से हस्तकला विशेषज्ञ, बुखारा से फूल-पत्तों की खुदाई करने वाले, कुस्तुनतुनिया से गुम्बद निर्माण के विशेषज्ञ इस्माइल खाँ रुमी, सकरकंद से शिखर-निर्माण के प्रवीण तथा बाग-बगीचों के कलाकारों को आमंत्रित किया गया।[7] परन्तु सभी ने उस्ताद इसा खाँ के निर्देशन में कार्य किया। निःसंदेह ताजमहल की सजावट के कार्यों में हिन्दू कारीगरों का भी विशेष योगदान रहा है।[8]

सम्भवतः इसकी निर्माण-शैली दिल्ली में हुमायूँ तथा खानखाना के मकबरे और विशेष रूप से आगरा में एतमादुद्दौला के मकबरे से ली गयी थी।[9] यदि इसे सिकन्दरा में अकबर के मकबरे का अनुकरण कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।[10]

---

1. स्मिथ, पृ० 183-5, हि० 304, पृ० 561
2. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 265
3. हैवेल, पृ० 33-39
4. मार्शल, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० 1-3
5. ब्राउन, पृ० 108
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 224
7. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 4, 562
8. वही।
9. ब्राउन, पृ० 108
10. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 224

आगरा से एक मील की दूरी तथा यमुना नदी के धनुषाकार मोड़ के किनारे इस अद्भुत इमारत के स्थान का चयन किया गया। सम्पूर्ण इमारत उत्तर से दक्षिण की ओर आयताकार फैली हुई है। इसकी लम्बाई 1900 फीट तथा चौड़ाई 1000 फीट है।[1] उद्यान के मध्य में मकबरा स्थित है। मकबरा के पश्चिम में एक मस्जिद तथा पूर्व में मेहमानखाना है।[2] इनमें जल मार्ग तथा स्थल मार्ग से प्रवेश की व्यवस्था है। इसके सुन्दर बगीचे से इसकी शोभा में और भी वृद्धि होती है। बीच में जल स्रोत तथा फौव्वारे में ताज का प्रतिबिम्ब स्त्री सौन्दर्य का प्रतीक है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई स्त्री शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देख रही है। अकबरकालीन पुरुषार्थ के युग की समाप्ति के बाद मुगल शासनकाल रीतिकाल में प्रवेश कर चुका था। सजावट तथा सुन्दरता इस युग की विशेषता रही है।[3]

बीच में मकबरा 22 फीट ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसकी ऊँचाई 108 फीट है। इसके चारो किनारों पर तीन मंजिल की ऊँची मीनारें इसकी शोभा को बढाती हैं। इन मीनारों के ऊपर संगमरमर की छतरियाँ हैं। चार मीनारों के मध्य में इमारत के ऊपर 187 फीट ऊँची गुम्बद है। इसकी आवृत्ति जरुसलम में बने हुए पत्थर के गुम्बद की भाँति है। नीले आकाश में यह सफेद गुम्बद एक सफेद बादल वायुसिंहासन पर विराजमान दिखाई देता है।[4] आधारशिला पर इस गुम्बद का निर्माण इस सुन्दर ढंग से हुआ है कि ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्याले में एक सफेद गेंद रखी हुई है।[5] इस मकबरा का ऊपरी भाग फारसी तथा निचला भाग हिन्दू शैली का प्रतीक है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में गुम्बद इस इमारत के सौन्दर्य का सर्वोत्तम अंग है।[6]

ताजमहल की आन्तरिक योजना दिल्ली में हुमायूँ के मकबरे का अनुकरण है।[7] इसमें मकरान के कोमल सफेद संगमरमर का प्रयोग किया गया है, जिस पर पित्रादुरा शैली में सुन्दर खुदाई का कार्य सम्भव हो सके। इसके अन्दर गुलाब के फूल

1. ब्राउन, पृ० 108
2. वही।
3. वही।
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 4, पृ० 564
5. वही।
6. ब्राउन, पृ० 109
7. वही।

पत्तियों की सुनहरे पत्थरों से जड़ाई अत्यन्त सुन्दर एवं रोचक ढंग से की गई है। दर्शक को उनमें सजीवता का आभास होता है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में ताजमहल की सबसे बड़ी विशेषता बाह्य तथा आंतरिक सौंदर्य में समन्वय है।[1] पित्रादुरा शैली के आधार पर सुन्दर जालियों तथा कटाई में भारतीय कलाकारों ने अपने परिश्रम का अभूतपूर्व परिचय दिया है।[2]

फर्गुसन के अनुसार जिसके दृष्टि पथ पर यमुना बह रही है, पीछे उद्यान, चश्में तथा प्रवेश द्वार हैं, वह ताज सम्पूर्ण विश्व में अतुलनोय कृति है। उसकी सुन्दरता सर्वोच्च श्रेणी की भले न हो, परन्तु अपनी श्रेणी में वह सर्वोच्च है।[3] पर्सी ब्राउन के शब्दों में ताजमहल प्रत्येक वातावरण के प्रत्येक क्षण में सुन्दर दिखाई देता है। प्रातः-काल की उषा किरण, दोपहर में सूर्य का चकाचौंध प्रकाश तथा रात्रि की चाँदनी में इसका प्रखर सौंदर्य दिखाई देता है। चाँदनी रात में तारों के बीच यह एक अतीव सफेद मोती के टुकड़े की भाँति दृष्टिगोचर होता है।[4] कुछ विद्वानों ने इस ताज को प्रेम का अमर काव्य तथा अनंत काल के गाल पर प्रेयसी के वियोग के अमिट अश्रु की बूंद कहा है। यदि फतेहपुर सीकरी अकबर के मस्तिष्क और व्यक्तित्व की सुंदर अभि-व्यक्ति है तो ताजमहल युगल प्रेम का शाश्वत एवं ज्वलंत प्रतीक है। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि ताजमहल में नेत्रों को संतुष्ट तथा हृदय को आनंदित करने की अद्‌भुत क्षमता है।[5]

ताजमहल सम्राट् शाहजहाँ का अधूरा स्वप्न था, क्योंकि वह ताजमहल के समकक्ष यमुना नदी के दूसरे किनारे पर काले संगमरमर का अपने लिए मकबरा बनवाना चाहता था। इन दोनों मकबरों को यमुना नदी पर एक पुल के द्वारा जोड़ने की योजना थी।[6] फ्रांसोसी यात्री ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि शाहजहाँ ने निश्चित रूप से इस मकबरे का निर्माण-कार्य प्रारम्भ किया था, परन्तु अपने पुत्रों में उत्तराधिकार के युद्ध तथा परिणामस्वरूप बन्दी बनाये जाने के कारण वह इस योजना को पूर्ण न कर सका।[7] मुमताज महल के मध्य में मकबरा इस कथन का स्पष्ट प्रमाण

1. ब्राउन पृ० 109।
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 227
3. उद्‌धृत; मेहरा, पृ० 297
4. ब्राउन, पृ० 103
5. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ० 265
6. ब्राउन, पृ० 109
7. ट्रेवर्नियर 1, पृ० 110-11

है।[1] उसकी समाधि बगल में है क्योंकि स्वयं वह अपनी योजना को कार्यान्वित न कर सका।[2]

शाहजहाँकालीन अन्य निर्माण कार्य

लाहौर के पास शहादरा में आसफ खाँ का मकबरा ईंट का बना हुआ है। कलात्मक ढंग से इसका कोई महत्व नहीं है। यह मकबरा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शाहजहाँ के शासनकाल में इन इमारतों में संगमरमर का प्रयोग नहीं किया गया है। इसमें फारसी शैली के आधार पर मोजायक टाइल्स का प्रयोग अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है।[3]

शाहजहाँ के श्वसुर तथा जहाँगीर के साले आसफ खाँ की मृत्यु 1641 में हो गई। उसे शहादरा में दफनाया गया। इस मकबरे में कहीं भी संगमरमर का प्रयोग नहीं हुआ हैं।[4] आन्तरिक कक्षों में प्लास्टर का सुन्दर कार्य है। सम्भवतः इटालियन अथवा सिसिलियन शैली के आधार पर यह कार्य सम्पन्न किया गया है।[5] लाहौर की अन्य इमारतों में वजीर खाँ का मकबरा, अलीमर्दा खाँ का मकबरा, गुलाबी बाग तथा चौबुर्जी उल्लेखनीय है।[6] इन इमारतों में फारस के कसान टाइल्स का अधिक प्रयोग हुआ है।

मुगल सम्राट् प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी थे। बाबर ने पानीपत के मैदान में काबुल बाग बनवाकर प्रकृति के प्रति प्रेम का भाव प्रदर्शित किया था।[7] शाहजहाँ के शासन-काल में लाहौर के समीप शालीमार बाग का निर्माण 1637 में हुआ।[8] इसको सिंचित करने के लिए अनेक जल स्रोत, फौव्वारों का प्रबन्ध है। कश्मीर में भी एक शालीमार बाग शाहजहाँ ने बनवाया था।

औरंगजेब

मुगल वास्तुकला ने बाबर एवं हुमायूँ की गोद में आँख खोली और अकबर

1. ब्राउन, पृ० 109
2. वही।
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 561
4. ब्राउन, पृ० 107
5. वही।
6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 561
7. ब्राउन, पृ० 109
8. वही, पृ० 110

तथा शाहजहाँ के संरक्षण में अपनी युवावस्था को प्राप्तकर ताजमहल जैसी उन्नतम कलाकृति को जन्म दिया। तत्पश्चात वह पतोन्मुख हो चली।[1] औरंगजेब के शासन काल को मुगल वास्तुकला के पतन का काल कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।[2] इसका प्रमुख कारण न केवल आर्थिक साधनों अपितु सम्राट् की अभिरुचि का अभाव था।[3] इस काल की निर्मित इमारतें सम्राट की रुचि तथा संकुचित आदर्शों के स्पष्ट प्रमाण हैं।[4] औरंगजेब की धार्मिक रूढ़िवादिता वास्तुकला के पतन के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी हुई।[5]

रबिया-उद्-दौरानी का मकबरा

औरंगजेब ने अपने शासनकाल का काफी समय दक्षिण भारत में व्यतीत किया। औरंगाबाद को अपनी राजधानी बनाकर उसे दक्षिण भारत की दिल्ली बनाना उसकी उत्कृष्ट अभिलाषा थी।[6] अपनी प्रेयसी रबिया की स्मृति में उसने एक मकबरा बनाने का निश्चय किया, जिसका निर्माण-कार्य अताउल्ला खाँ के नेतृत्व में 1679 में सम्पन्न हुआ।[7] इसकी योजना ताजमहल की शैली के आधार पर तैयार की गई। इस मकबरे का कुछ भाग अत्यधिक सुसज्जित किया गया है। मकबरे के चारों ओर अष्टभुजीय पर्दे तथा उसमें कुशल शिल्पकारी इसकी शोभा को बढ़ाती है।[8] इसके लोहे के प्रवेश द्वार पर फूल-पत्तियों का निर्माण धातुकला के विकास का सुन्दर उदाहरण है। परन्तु वास्तु-कला की अवनति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।[9]

दिल्ली की मोती मस्जिद

औरंगजेब ने दिल्ली के किले में एक मस्जिद का निर्माण 1662 में संगमरमर से कराया।[10] उसे मोती मस्जिद कहते हैं। औरंगजेब स्वयं इस मस्जिद में नमाज

---

1. लइक अहमद, पृ० 139
2. ब्राउन, पृ० 111
3. वही।
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 567
5. ब्राउन, पृ० 111
6. वही।
7. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 4, पृ० 567
8. लइक अहमद, पृ० 140
9. ब्राउन, पृ० 111
10. वही, पृ० 112

पढ़ना चाहता था।[1] इसमें मोती मस्जिद की सुन्दरता का अभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तीन छतरियों के निर्माण में कलाकारों को विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

बादशाही मस्जिद (लाहौर)

औरंगजेब ने 1674 में लाहौर में एक बादशाही मस्जिद का निर्माण फिदाइ खाँ के नेतृत्व में सम्पन्न कराया।[2] दिल्ली की जामा मस्जिद के आधार पर इसकी योजना तैयार की गई थी। इसके किनारे पर मीनार तथा मध्य में तीन गुम्बद बने हैं। इसमें नीले, गहरे तथा हलके काले और सफेद रंगीन टुकड़ों का प्रयोग किया गया है।[3] इसकी दीवारों पर लिखावट का कार्य अत्यन्त सुन्दर है। परन्तु इसकी सजावट में आकर्षण और रोचकता का अभाव दिखाई देता है।[4]

बनारस तथा मथुरा की मस्जिदें

हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर इन स्थानों पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। परन्तु कला की दृष्टि से दोनों स्थानों की मस्जिदें निम्नकोटि की हैं।[5]

प्रत्येक इमारत में वास्तुकला का पतन परिलक्षित होता है।

प्रांतीय वास्तुकला का विकास

तुगलुक वंश के अंतिम वर्षों में अनेक प्रांतों में क्षेत्रीय राजवंशों का उदय हुआ। यहाँ के शासकों ने कलाकारों को संरक्षण प्रदान करना प्रारम्भ किया। उनमें वास्तुकला के प्रति रुचि थी। परिणाम स्वरूप प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय वास्तुकला का विकास हुआ। इस प्रकार सुदूर राज्यों में एक मिश्रित स्थापत्यकला शैली का जन्म हुआ, जो शासकों का उचित संरक्षण प्राप्तकर विकसित हुई।[6]

जौनपुर

1394 में जौनपुर में शार्की राजवंश की स्थापना हुई।[7] यहाँ की इमारतों में अटाला की मस्जिद उल्लेखनीय है।[8] यह क्षेत्रीय वास्तुकला का अच्छा उदाहरण

1. मुहम्मद काजिम, आलमगीरनामा, पृ० 467-70
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 4, पृ० 569
3. वही, पृ० 570
4. ब्राउन, पृ० 112
5. वही।
6. लइक अहमद, पृ० 141
7. दिल्ली सल्तनत 6, पृ० 668
8. मार्शल, पृ० 607

है ।[1] जामा मस्जिद जौनपुर की दूसरी वास्तुकला की उपलब्धि है । इस इमारत का सबसे बड़ा दोष यह है कि कलाकारों के मस्तिष्क में समरूपता का अभाव है ।[2]

मालवा

मालवा की प्रसिद्ध इमारतों पर दिल्ली शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। मार्शल के अनुसार इन इमारतों में उद्देश्य पूर्ति की सफलता दिखाई देती है ।[3] इनमें समरूपता तथा सजावट का सुन्दर समावेश है । यहाँ की प्रसिद्ध इमारतों में कमाल मौला मस्जिद, लाट मस्जिद तथा दिलावर खाँ की मस्जिद हैं । स्तम्भों के बीच नकीले डाटों का प्रयोग इनकी विशेषताएँ हैं ।[4] मांडू के किले में दिल्ली दरवाजा वास्तुकला की महत्वपूर्ण उपलब्धि है । हुसंगशाह ने हिंडोला महल का निर्माण कराया ।[5] पर्सी ब्राउन के शब्दों में इसकी तुलना भारतवर्ष की प्रसिद्ध एवं वैभवशाली कलात्मक इमारतों में की जाती है ।[6] हुसंगशाह ने अनेक मदरसों तथा जामा मस्जिद का निर्माण कराया । कपूर तालाब तथा मुंज तालाब यहाँ के प्रसिद्ध जलाशय हैं । ये तालाब पोत की भाँति जल में तैरते हुए दिखाई देते हैं ।[7] मांडू के किले के ध्वसांवशेषों में आज भी बाजबहादुर तथा रानी रूपमती की प्रेम कहानियाँ गूँजती सुनाई पड़ती हैं । बाजबहादुर का महल मांडू के किले की प्रसिद्ध इमारत है ।[8]

गुजरात

गुजरात के सुल्तानों को वास्तुकला में विशेष रुचि थी । यहाँ की शैली में हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है । गुजरात जैन वास्तु शैली का प्रमुख स्थान था । गुजरात की विशेष परिस्थिति ने स्थानीय स्थापत्य शैली के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।[9] पाटन की जामा मस्जिद तथा शेख फरीद के मकबरे में हिन्दू और जैन मन्दिरों की सामग्री का अधिक उपयोग हुआ है । इसकी विशेषता

1. फर्गुसन, पृ० 226-27
2. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 702
3. मार्शल, पृ० 617
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 703
5. फर्गुसन, पृ० 251
6. ब्राउन, पृ० 64
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 707
8. मार्शल पृ० 621-22
9. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 710

यह है कि मस्जिद तथा मकबरे में यथोचित स्थानों पर इस सामग्री का प्रयोग किया गया है ।[1]

खम्भात में 1355 में जामा मस्जिद का निर्माण किया गया। इसके विशाल प्रांगण तथा मेहराब की योजना अत्यन्त सुन्दर है। इसकी ड्योढ़ियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये हिन्दू तथा जैन मन्दिरों के अवशेष हैं ।[2] धोल्का में हिलाल खाँ काजी की मस्जिद खम्भात की शैली पर निर्मित है ।

अहमद शाह की अभिरुचि वास्तुकला में थी। उसने अहमदाबाद में अनेक सुन्दर भवनों का निर्माण कराया। फरिश्ता के अनुसार वास्तुकला में सुसज्जित अहमदाबाद हिन्दुस्तान का सुन्दरतम नगर है[3] और यदि इसे विश्व का सुन्दरतम नगर कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी ।[4] फर्गुसन के अनुसार यहाँ की जामा मस्जिद पूर्व की मस्जिदों में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है ।[5] पर्सी ब्राउन के अनुसार यह पश्चिमी हिन्दुस्तान ही नहीं, अपितु भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है ।[6] तीन दरवाजा का निर्माण अहमदाबाद में प्रवेश की सुविधा के लिए किया गया। वास्तुकला की यह सुन्दर कृति है ।[7]

इन इमारतों के अतिरिक्त रानी का हुजा मुहम्मद शाह के मकबरे की गणना प्रसिद्ध इमारतों में की जाती है। कंकरियाँ में हौजे कुत्ब का निर्माण सुल्तान कुत्बुद्दीन ने कराया था। महमूद बिगढ़ तथा अचुत कूकी के मकबरे अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक हैं ।[8] महमूद बिगढ़ ने चम्पानेर में जामा मस्जिद का निर्माण कराया। शैली अहमदाबाद की जामा मस्जिद की भाँति है ।[9] गुजरात की इमारतों में भाव तथा कल्पना का बड़ा ही सुन्दर सयोग हुआ है ।

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 710
2. वही ।
3. ब्राउन, पृ० 47
4. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 711
5. फर्गुसन, पृ० 230
6. ब्राउन, पृ० 148
7. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 714
8. वही, पृ० 717
9. वही, पृ० 72

बंगाल

बंगाल में वास्तुकला का अद्‌भुत विकास हुआ। मस्जिद तथा मकबरों के निर्माण में धार्मिक भावनाओं का समावेश है। अधिकांश इमारतें आयताकारहैं। सुल्तान सिकन्दर शाह ने 1369-74 में जामा मस्जिद का निर्माण कराया। पूर्वी भारत की यह सबसे महत्वपूर्ण इमारत है। इसके मेहराब तथा बादशाह का तख्त अत्यन्त सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं।[1] गनमत तथा सदरबारी मस्जिदों का निर्माण 1448 तथा 1479 में हुआ। पाडुंआ की मस्जिद में हिन्दू शैली का प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ पर जलालुद्दीन मुहम्मद शाह का मकबरा है, जिसे इखलाखी मकबरा कहते हैं।[2] इसकी मुख्य विशेषता मेहराब तथा धरन का सुन्दर संयोग है। बंगाल की अन्य कृतियों मे दाखिल दरवाजा (1465), सदरबारी मस्जिद (1489), लोटन मस्जिद (1480), लोटा सोना मस्जिद (1510), बड़ा सोना मस्जिद (1526) और कदम रसूल मस्जिद (1530) आदि प्रमुख हैं। पर्सी ब्राउन के अनुसार बंगाल की इमारतें हिन्दू-मुस्लिम शैली की सर्वोच्च नमूना हैं।[3] यहाँ की इमारतों का निर्माण प्रायः ईंटों से किया गया है।

कश्मीर

कश्मीर की इमारतों में प्रायः लकड़ी का प्रयोग किया गया है। मार्शल के अनुसार कश्मीर की इमारतें हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य शैली की परिचायक हैं। यहाँ की इमारतों में श्रीनगर की जामा मस्जिद, शाह हमदान की मस्जिद, अखुन मुल्लाशाह का मकबरा मस्जिद, काठी दरवाजा, संगीन दरवाजा, पेरी महल तथा शालीमार बाग की बारादरी प्रसिद्ध है।

अहमदनगर

यहाँ के शासकों का अधिकांश समय राजप्रासादों में न व्यतीत होकर युद्ध स्थल में व्यतीत हुआ। परिणामस्वरूप वास्तुकला के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं था। जो भी समय मिला उसका उपयोग इन्होंने भवन निर्माण में नहीं, अपितु भवनों के चारों ओर बाग-बगीचों को बनवाने में किया। यहाँ की प्रसिद्ध कृतियों में अहमदनगर का किला, बाग-ए-रौजा, बाग-ए-बहिस्त, रुमी खाँ की मक्का मस्जिद, कार्ली मस्जिद, कोटला मस्जिद, रुमी खाँ का मकबरा प्रसिद्ध है। इसके

---

1. दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 688
2. लइक अहमद, पृ० 157
3. ब्राउन, पृ० 40

अतिरिक्त चंगेज खाँ महल, फरहाद खाँ की मस्जिद, सरजा खाँ का महल, तोर्रा बीबी मस्जिद, नियामत खाँ का महल, सलाबत खाँ मकबरा विशेष उल्लेखनीय हैं।

बीजापुर

बीजापुर के आदिलशाही शासक वास्तुकला के प्रेमी थे। दक्षिण भारत में इन शासकों ने उच्चकोटि की शैली को जन्म दिया। यहाँ के शासकों की अलंकरण में विशेष रुचि थी। गुम्बद तथा छज्जों को अत्यंत मनोरंजक ढंग से अलंकृत किया गया। यहाँ की प्रसिद्ध इमारतों में जामा मस्जिद, रौजा-ए-इब्राहिम, मोहम्मद आदिल शाह का मकबरा मेहतर महल, शाह करीम का मकबरा, शाहनवाज का मकबरा, अंदाजहान, मस्जिद, मलका जहाँ की मस्जिद, अली आदिल शाह पीर मस्जिद तथा गगन महल विशेष उल्लेखनीय हैं।

अध्याय 13

चित्रकला एवं संगीत

चित्रकला

स्थापत्य कला की भाँति चित्रकला भी सामाजिक वातावरण की अभिव्यक्ति है। अन्तर केवल इतना है कि स्थापत्य कला सर्वसामान्य के लिए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है, जबकि चित्रकला अप्रत्यक्ष कुछ स्थान तथा व्यक्ति तक ही सीमित है।[1] डॉ० ताराचंद के अनुसार "चित्रकला दो परस्पर विरोधी भावनाओं, सुख-दुख, सफलता-असफलता, लोक-परलोक, जीवन के प्रति आकर्षण-त्याग, महत्वाकांक्षा तथा कार्य के बीच समन्वय है।[2] विद्वानों ने इसका उद्भव तथा विकास ईसापूर्व प्राचीन भारतीय साहित्य विनय-पिटक, महाभारत, रामायण तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ढूँढ़ने का प्रयास किया है।"[3] चित्रकारों की कला की सुन्दर अभिव्यक्ति गुफाओं की दीवारों पर की गई है। गौतम बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन गुफाओं एवं चैत्य कक्ष में चित्रित किया गया है।

सल्तनत काल

अजंता की चित्रकला के बाद मध्ययुगीन भारतीय चित्रकला का उद्भव एवं विकास अधिक समय तक अन्धकारमय रहा है। रूसी विद्वान् एफरोसेनबर्ग के अनुसार सातवीं सदी से सोलहवीं सदी तक भारतीय चित्रकला का विकास अवरुद्ध था।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार 650 ई० के बाद अकबर के शासनकाल तक भारतवर्ष में चित्र-कला का विकास न हो सका।[5] डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद चित्रकला के विकास को प्रोत्साहन

---

1. एच० के० शेरवानी, कल्चरल ट्रेंड्स इन मेडिवल इण्डिया, पृ० 41
2. ताराचन्द, पृ० 258
3. वही, पृ० 258
4. रोसेनबर्ग, एफ० इण्डो पर्सियन एण्ड माडर्न इण्डियन पेंटिंग अनुवाद, इस्लामिक कल्चर, 1931, पृ० 38
5. पर्सी ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग, पृ० 38

नहीं मिला। दिल्ली के सुल्तानों का विश्वास था कि चित्रकार किसी मनुष्य, पशु, पक्षी का चित्र बनाकर उसे सजीव बनाने का प्रयास करता है और इस प्रकार वह ईश्वर का प्रतिद्वंद्वी होने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार रूढ़िवादी मुसलमानों के अनुसार सजीव पशु-पक्षी तथा मनुष्य का चित्रण अधार्मिक कार्य था। इसीलिए कुरान के अनुसार चित्रकारी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।[1] परिणामस्वरूप सुल्तानों के हृदय में चित्रकला के प्रति प्रेम नहीं था। अतः इन्होंने चित्रकारों को संरक्षण नहीं प्रदान किया।[2]

प्रो० शेरवानी इस मत से सहमत नहीं हैं।[3] उनके अनुसार दिल्ली के सुल्तान चित्रकला के प्रमी थे और उन लोगों ने चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया।[4] मिन्हाजुस्सिराज के अनुसार जिस समय खलीफा अलमुतसिम विल्लाह ने अपने दूत को दिल्ली भेज कर इल्तुतमिश को मान्यता प्रदान की उस समय राजधानी को सुसज्जित कर उसके मध्य में इल्तुतमिश का एक बड़ा चित्र रखा गया था।[5] इससे अनुमान किया जाता है कि इल्तुतमिश चित्रकला का विरोधी नहीं था।

मुहम्मद तुगलुक के समय (1353) का एक चित्र मिला है, जिसमें उसके दरबार का सुन्दर चित्रण किया गया है।[6] बर्नी के अनुसार रूढ़िवादी तथा धर्मांध सुल्तान फिरोज तुगलुक ने भी चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। उसके राजमहल की दीवारों को सुन्दर चित्रों से अलंकृत किया गया था।[7] चौदहवीं सदी में जैन तथा शक का सम्बन्ध कालिकाचार्यकथा नामक पुस्तक में चित्रित किया गया है। शकों का चित्र मुस्लिम तुर्कों की भाँति है। वे पगड़ी बाँधे, दाढ़ी रखे हुए तथा पूर्णतः आच्छादित शरीर के वस्त्र में चित्रित किए गए हैं।[8] जैनियों का चित्र धोती तथा अंगोछा धारण किए हुए दिखाया गया है।[9] वसंतविलास का चित्रण अहमद शाह के

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 233
2. वही।
3. शेरवानी, पृ० 42
4. वही।
5. मिन्हाजुस्सिराज-तबकात-ए-नासिरी, कलकत्ता, 1869, उद्धृत; शेरवानी, पृ० 43
6. शेरवानी, पृ० 42
7. बर्नी, तारीख-ए-फिरोजशाही, कलकत्ता, 1862, उद्धृत; शेरवानी, पृ० 43
8. शेरवानी, पृ० 43
9. चगतई ए० पेंटिंग ड्यूरिंग सल्तनत पीरियड, पृ० 47

शासनकाल 1451 में किया गया।[1] डॉ० मोतीचंद के अनुसार इन सभी चित्रों पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[2] गोएत्स के अनुसार क्षेत्रीय मुस्लिम शासकों ने हिन्दू चित्रकारों के साथ सद्व्यवहार कर उन्हें संरक्षण प्रदान किया।[3] मालवा के शासक महमूद खल्जी ने कल्पसूत्र का चित्रण अपने शासनकाल में कराया।[4] यह पुस्तक चित्रकारों की कला का उत्कृष्ट नमूना है।[5]

इसके अतिरिक्त चित्रकारों के कुछ स्पष्ट नमूने कुर्सी, मेज, अस्त्र-शस्त्र, बर्तन, पताका तथा कढ़ाई के वस्त्रों पर मिलते हैं।[6] राजमहल में प्रयोग आने वाले प्रतिदिन तथा विशेष अवसर के पात्रों को अलंकृत किया गया था।[7] इससे स्पष्ट हो जाता है कि दिल्ली के सुल्तानों के हृदय में चित्रकला के प्रति घृणा की भावना नहीं थी, अपितु उन लोगों ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया तथा चित्रकारों को राज्याश्रय एवं संरक्षण प्रदान किया।

मुगल काल

मुगलकालीन चित्रकला के विकास तथा पतन का इतिहास मुगल साम्राज्य के उत्थान तथा पतन से सम्बन्धित है।[8] इस युग में चित्रकला का प्रेरणास्रोत समरकन्द तथा हेरात रहा है।[9] तैमूरी चित्रशैली के जन्मदाता नक्वतुल मुहर्रीन थे।[10] इस शैली को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय बेहजाद को है, जिन्हें पूर्व का राफेल कहा जा सकता है।[11] इनका जन्म पन्द्रहवीं सदी के मध्य में हुआ था और कुछ समय तक इन्होंने मंसूर इब्न बैकरा के दरबार को संरक्षण प्राप्त चित्रकार के रूप में सुशोभित

---

1. शेरवानी, पृ० 44
2. मोतीचंद एवं खंडालवाला, इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग, पृ० 58
3. गोएत्स एच०, जरनल ऑफ दि गुजरात रीसर्च सोसाइटी, जुलाई, 1954, पृ० 68
4. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० 203
5. मोतीचन्द, इलस्ट्रेटेड वीकली, 26 जनवरी, 1958
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 233
7. वही।
8. गैरेट, पृ० 313
9. शेरवानी, पृ० 44
10. ताराचन्द, पृ० 265
11. गैरेट, पृ० 313

किया ।[1] 1506 में इन्होंने शाह इस्माइल सफवी का राज्याश्रय प्राप्त किया । 1526 में इनकी मृत्यु हो गई ।[2]

मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर एक महान् कला प्रेमी था । उसकी विशेष रुचि चित्रकला में थी ।[3] वह बेहजाद का समकालीन था और इस महान् चित्रकार से मिलने का अवसर उसे हिरात तथा शाह इस्माइल सफवी के दरबार में मिला था ।[4] बाबर ने अपनी आत्मकथा बेहजाद की प्रशंसा में लिखा है कि वह समकालीन चित्रकारों में सर्वश्रेष्ठ था ।[5] इससे स्पष्ट है कि उसने बेहजाद के चित्रों का आलोचनात्मक अध्ययन किया था । इस प्रकार बाबर ने मुगल साम्राज्य की नींव डालने के साथ ही साथ मुगल चित्रशैली की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

बाबर प्रकृति का महान् प्रेमी था । पूर्ण रात्रि की निरन्तर यात्रा करने के बाद सेव वृक्ष के नीचे शरद कालीन रंगीन पत्तों के सौन्दर्य को देख कर वह आत्मविभोर हो जाता था । उसने अपनी लेखनी से प्रकृति के सौन्दर्य का इतना यथार्थ चित्रण किया है जो किसी चित्रकार की तूलिका से सम्भव नहीं है ।[6] लेनपून ने लिखा है कि बाबर सदैव प्राकृतिक सौंदर्य के अन्वेषण में व्यस्त रहता था । वह कुछ विशेष प्रकार के पुष्पों की सुगन्ध को ढूंढ़ने में आनन्द का अनुभव करता था । अपने विशेष बगीचे के सुन्दर फूलों का चित्रण करने में उसने कभी थकान का अनुभव नहीं किया ।[7] भारतवर्ष में उसका चार वर्ष का शासनकाल इतना व्यस्त रहा कि वह चित्रकला के विकास में विशेष योगदान न दे सका । परन्तु उसकी आत्मकथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाबर ने अनेक चित्रकारों को संरक्षण तथा राज्याश्रय प्रदान किया था ।[8] उसने जिस चित्रशैली की नींव डाली वह एशिया की सांस्कृतिक उपलब्धियों में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने में सक्षम है ।[9]

---

1. ताराचन्द, पृ० 265
2. वही ।
3. लइक अहमद, पृ० 159
4. शेरवानी, पृ० 45
5. पर्सी ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग, पृ० 48
6. गैरेट, पृ० 315
7. लेनपूल, बाबर, पृ० 149
8. एल० वियान, कोर्ट पेंटर्स ऑफ दि ग्रैण्ड मुगल्स, पृ० 14
9 जे० वी० एस० विल्किसन, मुगल पेंटिंग, पृ० 2

हुमायूं

हुमायूं अपने पिता की भाँति कला का प्रेमी था। शासनकाल की निरन्तर कठिनाइयों के बावजूद उसने चित्रकला के क्षेत्र में जो कुछ किया उसे क्लार्क ने हुमायूं शैली की संज्ञा देकर उसके प्रति सम्मान प्रकट किया है।[1] समकालीन लेखक जौहर के अनुसार हुमायूँ ने एक दिन अमरकोट के किले में एक सुन्दर फाख्ता को पकड़कर उसका चित्र बनवाया और फिर उसे मुक्त कर दिया।[2] भारतवर्ष से निष्कासित होने के बाद वह ईरान के शाह तहमास्त्र के दरबार में पहुँचा। महान् चित्रकार आगा मीरक तथा मुजफ्फर अली से उसने भेंट की। मंसूर तथा उसके पुत्र मीर सैयद अली को काबुल आने के लिए आमन्त्रित किया। हुमायूँ के आमन्त्रण पर ख्वाजा अब्दुस समद तथा मीर सैय्यद अली 1550 ई० में काबुल पहुँचे।[3] इन कलाकारों ने राजकुमार अकबर को चित्रकारी की शिक्षा दी। मीर सैय्यद अली को दविस्तान-ए-अमीर हम्जा को चित्रित करने का कार्य सुपुर्द किया गया।[4] इन दोनों की शैली में ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। बादल, पर्वत शिखर, जल, वृक्ष, पशु, पक्षी के चित्रण में इन दो कलाकारों ने अपनी कलात्मक शैली का अभूतपूर्व परिचय दिया है।[5] प्रो० शेरवानी ने तो इन्हें शाही अथवा मुगल कलम का जन्मदाता स्वीकार किया है।[6]

अकबर

सम्राट् अकबर बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। उसकी रुचि कला, साहित्य तथा संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में थी। पर्सी ब्राउन के अनुसार अकबर का शासनकाल मुगलकालीन संस्कृति के विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त था।[7] सोलहवीं सदी के सौहार्दपूर्ण वातावरण ने सांस्कृतिक रंगमंच पर हिन्दू-मुस्लिम सहयोग तथा समन्वय का अद्भुत मार्ग प्रशस्त कर दिया था। अकबर की व्यक्तिगत रुचि ने चित्रकला के विकास में नवजीवन प्रदान किया।[8]

---

1. उद्धृत, ताराचंद, पृ० 270
2. उद्धृत, लइक अहमद, पृ० 159
3. गैरेट, पृ० 315
4. वही, पृ० 316
5. ताराचंद, पृ० 270
6. शेरवानी, पृ० 46
7. पर्सी ब्राउन, प० 49
8. वही, पृ० 48

अबुल फज्ल ने सम्राट् अकबर की रुचि का उल्लेख करते हुए उसके विचारों को प्रकट किया है। "अधिकांश लोग चित्रकला से घृणा करते हैं, परन्तु मैं ऐसे लोगों को पसन्द नहीं करता हूँ। क्योंकि मेरे अनुसार एक चित्रकार के पास ईश्वर को पहचानने की शक्ति है। चित्रकार किसी सजीव का चित्र बनाकर तथा उसके अंग प्रत्यंग को चित्रित करने के बाद यह अवश्य अनुभव करेगा कि वह अपनी कृति को जीवन प्रदान नहीं कर सकता। इस प्रकार जीवनदाता ईश्वर के सम्बन्ध में सोचने के लिए विवश हो जायगा तथा इस प्रकार उसके ज्ञान में वृद्धि होगी।"[1] चित्रकला में सम्राट् अकबर की विशेष अभिरुचि का एक मात्र श्रेय मीर सैय्यद अली को है, जिसे हुमायूँ ने अकबर का शिक्षक नियुक्त किया था।[2] उसने अकबर के हृदय में चित्रकला के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम पैदा कर दिया कि सम्राट् चित्रकला को ज्ञान तथा आनन्द का साधन मानता था।[3] सम्राट् स्वयं कहता था कि इस्लाम के रूढ़िवादी तथा धर्मांध अनुयायी भी अब यथार्थता को प्रत्यक्ष देखते हैं।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार अकबर के द्वारा चित्रकला को महत्व देने का कारण यह था कि वह इस कला के माध्यम से मृत को सजीव तथा सजीव को अमर बनाना चाहता था।[5]

पर्सी ब्राउन के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मुगल कालीन चित्रशैली पूर्ण रूप से विदेशी थी, परन्तु जैसे मुगल सम्राट् भारतीय वातावरण में भारतीय होते गए वैसे ही चित्रशैली भी धीरे-धीरे पूर्णरूप से भारतीय हो गई।[6] अकबर दरबार के प्रमुख मुसलमान चित्रकारों में फारुख कलमाक, अब्दुस समद, मीर सैय्यद अली तथा मिसकोन के नाम उल्लेखनीय हैं।[7] हिन्दू चित्रकारों में दासवंत, बसावन, केसो लाल, मुकुन्द, माधो, जगन्नाथ, महेश, खेमकरन, तारा, सानवाला, हरिवंश तथा राम का उल्लेख अबुल फज्ल ने किया है।[8] डॉ० ताराचन्द के अनुसार खुदाबख्श पुस्तकालय की पाण्डुलिपि में तुलसी, सुरजन, सूरदास, इसर, शंकर, रामआस, बनवाली, नन्द,

---

1. अबुल फज्ल, आइन-ए-अकबरी, अनु० ब्लाकमैन, पृ० 114
2. शेरवानी, पृ० 46
3. गैरेट, पृ० 317
4. एल० वियान, कोर्ट पेंटर्स ऑफ दि ग्रैण्ड मुगल्स, पृ० 40-41
5. पर्सी ब्राउन; पृ० 89
6. वही, पृ० 49
7. ताराचंद, पृ० 270
8. आइन-ए-अकबरी, 1, पृ० 108

नन्हा, जगजीवन, धरमदास, नरायन, चतरमन, सूरज, देवजीव, सरन, गंगा सिंह, पारस, धन्ना तथा भीम के नाम का उल्लेख मिलता है।[1] इस प्रकार मुगल चित्र शैली हिन्दू-मुस्लिम सहयोग तथा समन्वय का परिणाम रही है। मुगल दरबार में हिन्दू संगीतज्ञ तानसेन का चित्रण हिन्दू-मुस्लिम शैलियों के समन्वय का स्पष्ट उदाहरण है।[2]

अकबर ने अब्दुल समद के नेतृत्व में चित्रकारी का एक अलग विभाग खोल दिया तथा इस महान चित्रकार को शिरीन कलम की उपाधि से विभूषित किया।[3] प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दू चित्रकार भगवती ने ईरानी शैली को अपनाने में अपनी दक्षता का परिचय दिया। पर्सी ब्राउन ने कहा है कि वह एक गुलाम के रूप में विदेशी शैली का अक्षरशः अनुकरण करने लगा।[4] समय परिवर्तन के साथ-साथ विदेशी शैली का लोप होता गया और कुछ समय के बाद अकबर के समय के चित्रों का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष तथा प्रजातन्त्रवादी होता गया।[5] सम्राट् अकबर ने इन चित्रकारों को मनसब, अहदी तथा पैदल सिपाहियों के पदों पर नियुक्ति की।[6] अब्दुस समद को मुल्तान का दीवान बनाया गया तथा दासवन्त को टकसाल में पद प्रदान किया गया।[7] अबुल फज्ल के अनुसार "अकबर के समय में सौ चित्रकार कला के प्रसिद्ध स्वामी हो गये; उनमें पूर्णता को प्राप्त करने वालों अथवा मध्यम श्रेणी के लोगों की संख्या अधिक है। यह विशेषकर हिन्दुओं के साथ सत्य है। उनके चित्र हमारी वस्तु कल्पना को लाँघ जाते हैं। वास्तव में सम्पूर्ण विश्व में कुछ ही उनकी समानता कर सकते हैं।"[8] अकबर के समय में जिन चित्रों को तैयार किया गया उनमें सभी वर्गों एवं जातियों का योगदान है।[9]

---

1. ताराचन्द, पृ० 270-1
2. पर्सी ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग अंडर दि मुगल्स, पृ० 53-54
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 234
4. पर्सी ब्राउन, पृ० 89
5. वही, पृ० 50; शेरवानी, पृ० 47-48
6. मेहरा, पृ० 307
7. पर्सी ब्राउन, पृ० 49
8. आइन-ए-अकबरी, अनुवाद ब्लाकमैन, पृ० 144
9. शेरवानी, पृ० 48

पुस्तकों को चित्रित करने की प्राचीन परम्परा का अनुकरण अकबर के शासन-काल में भी किया गया। हम्जा नामा के चित्रण का कार्य मीर सैय्यद अली के नेतृत्व में हुमायूं ने प्रारम्भ कराया था।[1] इस योजना को पूर्ण कराने का श्रेय अकबर को है।[2] इसके अतिरिक्त पंचतंत्र, युसुफ और जुलेखा की कहानी, गुलिस्तान, रज्मनामा (महाभारत) तथा अकबरनामा का भी चित्रण कराया गया।[3] आज भी सचित्र रज्मनामा, जयपुर, अकबरनामा का चित्र विक्टोरिया तथा अल्बर्ट संग्रहालय में उपलब्ध है।[4] सचित्र बाबरनामा (ब्रिटिश संग्रहालय) की चित्रशैली अतीव रोचक है। शिकार का पीछा करते हुए उमरशेख मिर्जा तथा इसमें पशु, पक्षी तथा सुन्दर वृक्षों का चित्रण मार्मिक तथा हृदयग्राही शैली में मंसूर ने सम्पन्न किया है।[5]

भित्तिचित्र शैली का विकास अकबर की देन है। खंडालवाला के अनुसार अकबरकालीन भित्तिचित्र, अजन्ता तथा एलोरा के बाद पतनावस्था को संकेत करता है।[6] परन्तु स्मिथ ने उपरोक्त तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि अकबर के समय के भित्तिचित्र अपने सुन्दर चित्रण तथा रँगाई के लिए अद्वितीय हैं।[7] फतेहपुर सीकरी के राजप्रासादों में दीवालों तथा छतों पर बनाये गये पशु, पक्षी, वृक्ष तथा मनुष्यों की आकृतियों में एक विशेष प्रकार की गतिशीलता दिखाई देती है, जो अन्य समय के चित्रों में दुर्लभ है।[8]

लेनपूल फतेहपुर सीकरी के राजप्रासादों के भित्तिचित्रों को देखकर अपनी भावनाओं को न रोक सका। उनकी प्रशंसा करते हुए वह लिखता है, "जब हम अकबर के ख्वाबगाह अथवा स्वप्नगृह में प्रवेश करते हैं तो पत्थर के पर्दे पर सुनहरे रंग से चित्रित फारसी की कविता देखने को मिलती है, ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न में अकबर उस पर अपनी दृष्टि डालकर आनन्द का अनुभव करता था। मरियम की कोठी का भित्तिचित्र भारतीय चित्रकला का अद्वितीय उत्साहवर्द्धक उदाहरण है।"[9]

1. शेरवानी, पृ० 46
2. गैरेट, पृ० 315-16
3. शेरवानी, पृ० 48
4. गैरेट, पृ० 32
5. वही, पृ० 320-21
6. खंडालवाला, इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग, पृ० 56
7. स्मिथ, फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० 208
8. शेरवानी, पृ० 49
9. लेनपूल, मेडिवल इण्डिया अंडर मुहम्मडन रूल, पृ० 271-73

स्मिथ के अनुसार इन भव्य राजप्रासादों के पर्दों पर पच्चीकारों की रुखानी की भूमिका चित्रकारों की तूलिकाओं ने बड़ी कुशलता से निभाया है।[1] सम्राट् अकबर के कार्यों की प्रशंसा तथा उसके दीर्घ जीवन की प्रार्थना को चित्रकारों ने बड़ी ही मनोरंजक शैली मे चित्रित किया है।[2] लम्बा चोंगा पहने हुए अमीर, नौका विहार, फूल-पत्ती, हाथी युद्ध, युद्ध स्थल के दृश्य को देख कर कोई भी दर्शक मुग्ध हो सकता है।[3] हाथी पोल तथा मासुमत दुर्ज का चित्रण बड़ा ही रोमांचकारी है।[4] अबुल फज्ल ने लिखा है कि चित्रकारों ने कुशल चित्रण द्वारा निर्जीव वस्तुओं को भी सजीव प्रदर्शित करने का सफल अभिनय किया है।[5] अकबरकालीन चित्र शैली का मूल्यांकन स्मिथ के शब्दों में किया जा सकता है, "किंग्सटन में अकबरनामा का हस्ताक्षरयुक्त चित्र अकबरकालीन चित्रों के आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए पर्याप्त सामग्री है। परन्तु आधुनिक युग के किसी कलाकार ने चित्रों तथा रंगों की उचित व्याख्या करने का साहस नहीं किया है।"[6]

जहाँगीर

मुगल सम्राट् अकबर ने चित्रकला शैली की जिस आधार शिला को रखा, वह उसके पुत्र जहाँगीर के शासन काल में प्रौढ़ता को प्राप्त हुई।[7] पर्सी ब्राउन के अनुसार से बाबर की विशेष कलात्मक भावना जहाँगीर के हृदय में अतिरिक्त शक्ति के साथ पुनर्जागृत हो उठी।[8] जहाँगीर एक कुशल चित्रकार, चित्रशैली का सफल आलोचक एवं चित्रकारों का आश्रयदाता था। उसके उत्साहपूर्वक संरक्षण तथा चित्रकारों के प्रोत्साहन के कारण चित्रशैली का अभूतपूर्व विकास हुआ। यदि उसके शासनकाल को चित्रकला का स्वर्णयुग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। प्राकृतिक सौन्दर्य के महान् प्रमी जहाँगीर का व्यक्तित्व इतना कलात्मक था कि चित्रकला का विकास उसके काल में स्वाभाविक प्रतीत होता है। जहाँगीर के समान शायद ही

1. स्मिथ, पृ० xii
2. शेरवानी, पृ० 51
3. वही।
4. स्मिथ, पृ० 1-13
5. आइन-ए-अकबरी 17, पृ० 114
6. स्मिथ, अकबर: दि ग्रेट मुगल, पृ० 428-29
7. गैरेट, पृ० 324
8. पर्सी ब्राउन, पृ० 50

कोई मुगल सम्राट् चित्रकला का इतना कुशल पारखी हुआ हो। वह बड़े गर्व के साथ कहता था, "जब कोई चित्र मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है—चाहे मृत चित्रकार का हो अथवा जीवित मैं देख कर तुरन्त बता सकता हूँ कि वह किसकी तूलिका का फल है और यदि एक चित्रपट पर अनेक व्यक्तियों की आकृतियाँ हों, जिन्हें विभिन्न चित्रकारों ने तैयार किया हो तो मैं यह बता सकता हूँ कि कौन-कौन सी आकृतियाँ किन-किन चित्रकारों की कृति हैं। यदि एक मुख की भृकुटि तथा नेत्र को कई लोगों ने चित्रित किया है तो मैं बता सकता हूँ कि मुख, नेत्र और भृकुटियों के निर्माता कौन-कौन चित्रकार हैं।"[1] उपरोक्त कथन इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि सम्राट् जहाँगीर कितना बड़ा सूक्ष्मदर्शी, कला मर्मज्ञ तथा सफल पारखी था।

जहाँगीर के व्यक्तिगत प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप चित्रकला विदेशी प्रभावों से मुक्त होकर स्वावलम्बी बन गई।[2] दरबार के संरक्षण में चित्रकला के गुणों में भी विकास हुआ।[3] वह पूर्णरूप से प्रौढ़ तथा परिपक्व बन कर विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गई।[4] सम्राट् स्वयं सुन्दर चित्रों का संग्रहकर्ता था। कश्मीर घाटी में फूल पत्तों एवं सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों को देख कर वह इतना मुग्ध हो जाता था कि शीघ्र चित्रकारों को बुलाकर प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण कराता था। साम्राज्य के तथा विदेशी चित्रकार अपनी सुन्दरतम कृतियों को सम्राट् की सेवा में भेजते थे। जहाँगीर चित्र के गुणों के आधार पर उन्हें पुरस्कृत करता था।[5] वह स्वयं चित्रशैली सम्बन्धी निर्देशन भी देता था।

उसके दरबार के सुप्रसिद्ध चित्रकारी में हेरात का आगा रिजा था, जिसका विशेष उल्लेख जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में किया है।[6] अबुल हसन को नादिर उलजमाँ तथा उस्ताद मसूर को नादिर उल असर की उपाधियों से विभूषित कर उन्हें विशेष प्रोत्साहन दिया।[7] कलात्मक शैली के विशेषज्ञ फारूख बेग, अब्दुस समद की

---

1. मेमायर्स ऑफ जहाँगीर, अनुवाद रोजर्स 1, पृ० 20
2. गैरेट, पृ० 321
3. वही।
4. वही।
5. लइक अहमद, पृ० 163
6. गैरेट, पृ० 223
7. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 236

मृत्यु के बाद इस विभाग का अध्यक्ष हुआ।[1] उसके दरबार के अन्तिम विदेशी चित्रकारों में मुहम्मद नादिर तथा मुहम्मद मुराद के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[2] हिन्दू चित्रकार विसनदास मनोहर, गोवर्धन तथा माधव को राज्याश्रय प्राप्त था।[3] जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा तुजुक-ए-जहाँगीरी में लिखा है कि विसनदास ने मेरे भाई शाह अब्बास की ऐसी सच्ची शबीह लगाई कि मैंने जब उसे शाह के नौकरों को दिखाया तो वे मान गये। मैंने विसनदास को एक हाथी और बहुत कुछ पुरस्कार दिया।[4] जहाँगीर की चित्रकला सम्बन्धी योग्यता पर प्रकाश डालते हुए सर टामस रो ने लिखा है "बादशाह को मैंने एक चित्र दिया था। मुझे विश्वास था कि हिन्दुस्तान में उसकी नकल असम्भव है। एक दिन बादशाह ने मुझे बुलाकर पूछा उस चित्र को दुबारा बनाने वाले को क्या दोगे। मैंने कहा चित्रकार का पुरस्कार पच्चास रुपया है। सम्राट् ने उत्तर दिया कि मेरा चित्रकार मनसबदार है। उसके लिए यह पुरस्कार बहुत कम है। रात्रि में मुझे पुनः बुलाया गया और छः चित्र देकर मुझे अपना चित्र छाँटने के लिए कहा गया। कठिनता से मैं अपना चित्र पहचान सका।"[5]

जहाँगीर के समय में अधिकांश चित्रकारों ने भौतिक जीवन का चित्रण किया है। सम्राट् के दरबार, हाथी पर बैठकर धनुष-बाण के साथ शिकार का पीछा करना, जुलूस, युद्ध स्थल के वर्णन विस्तार से मिलते हैं।[6] इसके अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्य, फूल, पौधे, पशु-पक्षी, हाथी, घोड़े, शेर-चीता के चित्र मिलते हैं।[7] पुरुषों के चित्रों के किनारे को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम सन्तों का दृश्य तो अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है।[8] कहीं-कहीं कव्वाली में बैठे हुए लोगों का भी चित्र मिलता है।[9] रायदास, नामदेव, कबीर, लाल स्वामी तथा रामानन्द का भी चित्र उपलब्ध है।[10]

1. गैरेट, पृ० 223
2. वही।
3. लइक अहमद, पृ० 163
4. उद्धृत, लइक अहमद, पृ० 163
5. पर्सी ब्राउन, पृ० 89-90
6. शेरवानी, पृ० 52
7. वही।
8. वही, पृ० 100
9. वही।
10. वही।

जहाँगीर ने कुशल चित्रकारों को प्रोत्साहन प्रदान कर चित्रकला को उत्कृष्ट बनाया। प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेमी होने के कारण उसने सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण कराया। इस काल की चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता चित्रों की यथार्थता एवं सजीवता है। अकबरकालीन चित्रों में इसका स्पष्ट अभाव दिखाई देता है। इस समय के चित्रों पर पाश्चात्य प्रभाव दिखाई देता है। मुगल बादशाहों की आकृतियों को एक गोलाकार सफेद आकार से घेरना ईसाई प्रभाव का सूचक है।[1] पर्सी ब्राउन ने जहाँगीर को मुगल चित्रकला की आत्मा कहा है।[2] कुछ त्रुटियों के बावजूद जहाँगीर में अद्भुत कलात्मक दृष्टिकोण था।[3] 1628 में जहाँगीर की मृत्यु के साथ चित्रकला की अन्तरात्मा का भी अन्त हो गया। पर्सी ब्राउन ने ठीक ही कहा है उसके देहावसान के साथ मुगल चित्रकला की आत्मा विलीन हो गई।[4]

शाहजहाँ

मुगल सम्राट् शाहजहाँ की व्यक्तिगत अभिरुचि चित्रकला की अपेक्षा स्थापत्य कला में विशेष थी। पर्सी ब्राउन के अनुसार मुगल चित्रशैली की अवनति तथा पतन के लक्षण उसके शासनकाल में ही दिखाई देने लगे थे।[5] डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार चित्रकला के क्षेत्र में शाहजहाँ ने अपने पिता की परम्पराओं को जारी रखा।[6] मुहम्मद फकीर उल्ला तथा मीर हासिम मुगल दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार थे।[7] सम्राट् ने राज्याश्रय तथा संरक्षण कुछ ही चित्रकारों तक सीमित रखा। परिणामस्वरूप अपने जीविकोपार्जन के लिए इन कलाकारों ने अमीरों का संरक्षण प्राप्त करना प्रारम्भ किया। कुछ लोग चित्र बनाकर बाजार में बेचते थे।[8] शाहजहाँ के दरबार में चित्रों का उल्लेख मिलता है। राजसभा तथा राजप्रासादों के आन्तरिक जीवन का वर्णन मिलता है। इस प्रकार कलाकारों की चित्रकारी शाही

---

1. पर्सी ब्राउन, पृ० 90; अधिकांश चित्र ब्रिटिश म्यूजियम, अल्बर्ट म्यूजियम तथा बाडलियेन लाइब्रेरी में उपलब्ध हैं।
2. वही, पृ० 71
3. गैरेट, पृ० 322
4. उद्धृत, मेहरा, पृ० 308
5. पर्सी ब्राउन, पृ० 51
6. ब० प्र० सक्सेना, हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ दिल्ली, पृ० 266
7. वही, पृ० 267
8. गैरेट, पृ० 324-25

वैभव, सम्पन्न सामन्तों तथा रत्न जटित पदों तक ही सीमित रही। दरबारी चित्रों में अनेक रंगों तथा स्वर्ण का प्रयोग अधिक हुआ है। चित्रों के किनारों को फूल, पत्ती तथा लताओं से सुसज्जित किया गया है। चित्रों में सरसता, मौलिकता तथा सजीवता का स्पष्ट अभाव दिखाई देता है। प्रकाश तथा छाया का समुचित संकलन भी नहीं हो पाया। इस प्रकार शाहजहाँ के शासनकाल में मुगल चित्रशैली पतन की ओर क्रमशः अग्रसित होने लगी। पर्सी ब्राउन के अनुसार किसी भी वस्तु की अधिक परिपक्वता उसके नष्ट होने का लक्षण है।[1] शाहजहाँ के शासनकाल में चित्रों की सजावट अपनी परिपक्वता की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। इस अवस्था के बाद पतन स्वाभाविक था।

औरंगजेब

औरंगजेब धर्मांध तथा रूढ़िवादी सम्राट् था। चित्रकारों को वह इस्लाम धर्मविरोधी समझता था। अतः उसने चित्रकारों का संरक्षण तथा राज्याश्रय समाप्त कर दिया। उसकी धर्मांधता, रूढ़िवादिता तथा दोषपूर्ण शासन-नीति ने मुगल चित्रकला का मृत्युनाद बजा दिया।[2] परन्तु प्रो० शेरवानी इस मत से सहमत नहीं हैं। मुगल साम्राज्य की निरन्तर बिगड़ती हुई परिस्थितियाँ उसके नियन्त्रण से बाहर थीं। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल कला की आत्मा का ही अन्त कर दिया।[3] परन्तु औरंगजेब को चित्रकला के पतन के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता है। उसे इसके विकास में तनिक भी रुचि नहीं थी। उसने गोलकुण्डा तथा बीजापुर के राजप्रासादों में भित्तिचित्र की सफेदी कराकर अपनी धर्मान्धता तथा रूढ़िवादिता का परिचय दिया था।[4] उसकी आज्ञा से सिकन्दरा में अकबर के मकबरे पर भी सफेदी करा दी गई। मनूची ने इसका विस्तृत वर्णन किया है।[5]

मुगल चित्रशैली के वर्णन के अन्त में यह बताना आवश्यक प्रतीत होता है कि राजकुमारियों और बेगमों के भी चित्र लिये जाते थे। कुछ समय पहले यह विश्वास था कि ये चित्र काल्पनिक हैं, परन्तु प्रो० ओ० सी० गांगुली ने शोध के आधार पर

1. पर्सी ब्राउन, पृ० 89
2. गैरेट, पृ० 325
3. शेरवानी, पृ० 55
4. गैरेट, पृ० 325
5. वही।

प्रमाणित किया है कि बेगमों तथा राजकुमारियों के चित्र, स्त्री चित्रकारों द्वारा बनाये जाते थे।[1] राजमहल में इनके प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। प्रो० शेरवानी इस मत से सहमत हैं।[2]

राजपूत चित्रशैली

पर्सी ब्राउन के अनुसार राजपूत चित्रशैली का तात्पर्य अजंता की प्राचीन शैली है, इसका स्वरूप समकालीन मुगल चित्रशैली से बिलकुल भिन्न है।[3] राजस्थानी चित्रशैली के सम्बन्ध में दो मत हैं। आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार इसका अस्तित्व, प्रादुर्भाव एवं विकास पूर्णरूप से स्वतंत्र है।[4] डॉ० ताराचन्द के अनुसार आनंदकुमार स्वामी ने अनावश्यक राजस्थानी तथा मुगल शैली की विभिन्नता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।[5] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विभिन्नता नाम मात्र है, दोनों की शैलियों में समानता है।[6] स्मिथ ने लिखा है कि निःसन्देह राजपूत चित्रशैली के ऊपर बौद्ध चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव है, परन्तु दोनों की शैलियों में समानता है।[7]

आमेर के शासक भारमल की पुत्री से मुगल सम्राट् अकबर के वैवाहिक सम्बन्ध होने के बाद राजस्थान के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। राजपूत शासकों ने बड़ी तीव्रगति से मुगल सभ्यता तथा संस्कृति को अपनाना प्रारम्भ किया। ऐसी परिस्थिति में राजकीय संरक्षण में राजस्थानी चित्र-शैली के ऊपर मुगल चित्रशैली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।[8] यहाँ तक कि कुमार स्वामी ने भी स्वीकार किया है कि स्त्री-स्नान के चित्र पर मुगल शैली का प्रभाव दिखायी देता है। राजस्थानी हरम दृश्य पर राजपूत-मुगल शैली का पारस्परिक प्रभाव है।[9] डॉ० सत्यप्रकाश के अनुसार 1565 से 1580 तक राजस्थानी चित्र-शैली में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। इसका परिवर्तित स्वरूप मुगल शैली के

1. बुलेटिन ऑफ बड़ौदा स्टेट म्यूजियम, vii 1-2
2. शेरवानी, पृ० 55
3. पर्सी ब्राउन, पृ० 54
4. कुमार स्वामी, राजपूत पेंटिंग प्लेट्स, xix
5. ताराचंद, पृ० 272
6. वही।
7. स्मिथ, पृ० 225
8. शेरवानी, पृ० 56
9. कुमार स्वामी, प्लेट xx

अनुरूप है।[1] गोट्स के अनुसार राजपूत कला तथा मुगल शैली में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखाई देता है।[2] खंडालवाला ने भी इस तर्क को स्वीकार करते हुए कहा है कि राजस्थानी चित्रशैली मुगल शैलो ने प्रभावित करके स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया।[3] उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट स्वीकार किया जा सकता है कि मध्ययुग में राजस्थानो चित्रशैली का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह गया था। अतः राजपूत चित्रकला हिन्दू-मुस्लिम सहयोग तथा समन्वय का परिणाम था। डॉ० ताराचन्द ने इसी मत को स्वीकार किया है।[4] यदि मुगल सम्राट् अकबर ने फतेहपुर सीकरी के राजप्रासादों की दीवारों को चित्रित कराया तो इसका अनुकरण बीकानेर तथा उदयपुर के महाराजाओं ने सजावट तथा आकृतियों में अक्षरशः किया।[5] स्थापत्य कला के क्षेत्र में यदि हिन्दू-मुस्लिम समन्वय, सहयोग तथा आदान-प्रदान सम्भव था, तो चित्रकला शैली को पारस्परिक प्रभावों से वंचित रखना बिलकुल असम्भव था। अन्त में हम कह सकते हैं कि राजस्थानी चित्रकला के वस्तु विषय में विभिन्नता रहते हुए भी शैलियों में समानता थी। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने भी राजपूत चित्रकला पर मुगल चित्रशैली के प्रभाव को स्वीकार किया है।[6]

राजपूत मुगल शैलियों में समानता होते हुए भी दोनों का वस्तुविषय भिन्न है। मुगलकालीन चित्रकारों का विषय मुगल सम्राटों का भौतिक जीवन, राजदरबार, राजप्रासाद, आखेट रहा है, जबकि राजस्थानी चित्रकारों ने आध्यात्मिक विषय तथा जन साधारण के जीवन को प्राथमिकता दी है।[7] पूर्व मुगलकालीन राजपूत शासकों ने संस्कृत, पाली तथा मारवाड़ी में लिखित पुस्तकों तथा उसके किनारों को चित्रित किया है।[8] वि० सं० 1216 में कल्प सूत्र तथा 1422-23 में कुम्भलगढ़ में महाराणा कुम्भा के संरक्षण में पुस्तकों का चित्रण हुआ।[9]

1. सत्यप्रकाश, राजस्थानी पेंटिंग, सुवेनीर ऑफ यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1959, पृ० 22-34
2. गोट्स, इण्डियन एण्ड पर्सियन मिनियेचर पेंटिंग, पृ० 20
3. खंडालवाला, पृ० 60
4. ताराचन्द, पृ० 273
5. वही, पृ० 273
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 543
7. शेरवानी, पृ० 58
8. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 242
9. वही, पृ० 243

राजपूत शैली के चित्रकारों ने ग्राम जीवन, कृष्ण, नायक भेद, विभिन्न ऋतुओं यात्रा, रास, पौराणिक कथाओं का विशेषरूप से चित्रण किया है।[1] रामायण, महाभारत की विभिन्न घटनाओं का सजीव चित्रण किया है।[2] राधाकृष्ण की लीला के अतिरिक्त पालतू हिरण, मोर, आँधी, काले बादलों का समूह, घनघोर वर्षा, बिजली की चमक, चिपटी हुई लताएँ, पुष्पित कदम्ब वृक्ष, जमुना की भयंकर बाढ़ तथा धाराओं का इतना मनोहारी चित्रण अन्य किसी स्थान में देखने को नहीं मिलता है।[3] राजपूत चित्रकारों ने काल्पनिक जगत का नहीं, अपितु, चित्र के माध्यम से संसार के गूढ़ तत्वों का प्रदर्शन कराया है।[4] मनुष्य ही नहीं, बल्कि पशु, पक्षी, वृक्ष, पौधे, पर्वत तथा नदियाँ अद्भुत प्रेम की प्राप्ति के लिए सजीव तथा व्यग्र होते हुए दिखाई देते हैं।[5] गोधूली में वन से लौटती हुई गाय तथा ग्वालों के मध्य में कृष्ण; तथा बृन्दावन के घनघोर जंगली वृक्षों को छेदती हुई चन्द्रमा की किरणें धरातल पर इतनी मनोहारी दिखाई देती हैं कि वह विश्व के अन्य चित्रकारों की कल्पना के बाहर है।[6] इससे भी सजीव और सुन्दर चित्रण यमुना के किनारे पुष्पित कदम्ब वृक्ष, तमाल वृक्ष पर आच्छादित घनघोर बादल, कृष्ण की प्रशंसा के गीत गाते हुए पक्षियों का समूह का प्रदर्शन अत्यन्त मौलिक एवं मनोरंजक है।[7] बर्फ से आच्छादित पर्वतमालाओं के लम्बे देवदारु के बीच् शान्त वातावरण मे शिव-पार्वती की तपस्या के अनुकूल प्रदर्शित किया गया है।[8] डॉ० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार प्राकृतिक दृश्यों का ऐसा सजीव तथा सुन्दर वर्णन चित्रकार की कल्पना के बाहर है।[9]

राजस्थानी चित्रकारों ने लोकप्रिय राधाकृष्ण के चित्रों की भाँति जुलाहा, बढ़ई, ग्वाला, मोची, शासकवर्ग और अमीरों का चित्रण किया है।[10] संगीतज्ञ चित्र-

---

1. मेहरा, पृ० 313
2. वही, पृ० 314
3. राधा कमल मुकर्जी, पृ० 342
4. वही, पृ० 243
5. वही।
6. वही, पृ० 343
7. वही।
8. वही।
9. वही।
10. शेरवानी, पृ० 58

कार की कल्पना स्त्रियों के समान किया गया है।[1] बीकानेर के शासक सुजान सिंह के चित्र के विषय में गोट्स ने लिखा है कि इस पर मुगल चित्रशैली का इतना अधिक प्रभाव है कि राजपूत शैली का अस्तित्व समाप्त प्राय दिखाई देता है।[2] डॉ० ताराचंद के अनुसार राजस्थानी चित्रकारों का वस्तु विषय हिन्दू समाज के अनुकूल था, परन्तु मुगल चित्रशैली का उन पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।[3] अठारहवीं सदी के मध्य में मुगल तथा राजस्थानी चित्रशैली में परिवर्तन दिखाई देता है। खंडालवाला के अनुसार नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों का विनाशकारी प्रभाव राजस्थानी चित्रकला पर पड़ा।[4] इसके बाद चित्रकला का क्रमशः पतन प्रारम्भ हुआ।

दक्षिणी चित्रशैली

पर्सी ब्राउन के अनुसार दक्षिणी चित्रशैली दक्षिण भारत में मुगल शैली का प्रारूप है।[5] प्रथम चित्रित पुस्तक तारीफ हुसेन शाह पादशाह-ए-दकन भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना में उपलब्ध है।[6] हुसेन निजामशाह का चित्र लड़कियों से घिरा हुआ मिला है।[7] डगलस बैरेट ने कुछ दक्षिणी चित्रों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है।[8] डॉ० बैरेट के प्रयास के फलस्वरूप स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत में चित्रकार थे।[9] डॉ० चगतई के अनुसार 1581 में मुहम्मद कुली शाह के काल में लैला-मजनू का चित्र बनाया गया था।[10] अहमदनगर के पतन के बाद मुगल चित्रशैली का प्रभाव बढ़ने लगा। प्रो० शेरवानी के अनुसार, इसके बावजूद दक्षिणी चित्रशैली ने अपना अस्तित्व नहीं खोया।[11]

---

1. ताराचंद, पृ० 273
2. शेरवानी, पृ० 58
3. ताराचंद, पृ० 273
4. खंडालवाला, पृ० 60
5. पर्सी ब्राउन, पृ० 47
6. शेरवानी, पृ० 59
7. वही, पृ० 60
8. डगलस बैरेट, सम अनपब्लिश्ड डेकन मिनियेचर्स ललित कला, 1960, पृ० 9-13
9. शेरवानी, पृ० 51
10. चगतई, पेंटिंग ड्यूरिंग सुल्तानेट पीरियड, पृ० 43
11. शेरवानी, पृ० 62

बीजापुर के शासक अली आदिलशाह तथा गोलकुण्डा के शासक अब्दुल्ला कुत्बशाह चित्रकारों के संरक्षक तथा आश्रयदाता थे।[1] एन० सी० मेहता का कहना है कि इब्राहीम द्वारा लिखित नौरसनामा में तत्कालीन चित्रशैली पर प्रकाश पड़ता है।[2] डॉ० याजदानी ने लिखा है कि इब्राहीम आदिलशाह के समय की चित्रशैली का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में मिलता है। चित्रकला इस युग में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।[3] हैदराबाद संग्रहालय में उपलब्ध अब्दुल्लाह कुत्बशाह तथा अबुल हसन तना शाह के चित्रों से दक्षिणी चित्रशैली और भी स्पष्ट हो जाती है।[4] बीजापुर का असार महल भित्तिचित्र अपनी शैली की अद्वितीय उदाहरण है। इसमें फूल, पत्ती तथा वृक्षों का यथार्थ चित्रण बहुत ही उच्चकोटि का है। इसकी चित्रशैली पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[5]

कांगड़ा चित्रशैली

एम० एस० रंधावा के अनुसार कांगड़ा चित्रकला अपनी पंक्तियों तथा रंगों के लिए मानव समाज की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।[6] नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के परिणामस्वरूप मुगल तथा राजपूत शैलियों के चित्रकारों को बाध्य होकर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी। गुलेर, बसोहली, चम्बा तथा कांगड़ा, इन कलाकारों के शरण केन्द्र थे। भाग्यवश पंजाब के शासक राजा दिलीपचन्द तथा जम्मू के राजा बलवंत सिंह ने चित्रकारों को राजाश्रय तथा संरक्षण प्रदान कर मुगल-राजपूत चित्रशैली को सजीव रखा।[7] दिलीपचन्द के उत्तराधिकारी गोवर्धनचन्द प्रकाशचन्द की विशेष रुचि चित्रकला में थी। इन लोगों ने गुलेर के चित्रकारों को अपने दरबार में बुलवाया। संसारचन्द के काल में तो इस कला का इतना अधिक विकास हुआ कि आधुनिक विद्वानों ने तत्कालीन चित्रशैली को पहाड़ी शैली कहा है।[8]

---

1. शेरवानी, पृ० 62-63
2. एन० सी० मेहता, इण्डियन पेंटिंग, पृ० 100
3. याजदानी-मिनिएचर ऑफ बीजापुर इस्लामिक कल्चर, पृ० 211-17
4. शेरवानी, पृ० 64
5. स्टेला कैमरिश, पृ० 160-171
6. एम० ए० रंधावा, कांगड़ा पेंटिंग, डॉ० जी० याजदानी कमेमोरेशन वाल्यूम, 1966
7. शेरवानी, पृ० 66
8. वही।

मुख्य रूप कांगड़ा शैली मुगल राजपूत चित्रशैली का प्रारूप है। संसारचन्द ने गीतगोविन्द, रसिकप्रिया, सतसई, रामायण, महाभारत तथा भागवत को चित्रित कराया। पहाड़ी चित्रकारों ने प्राकृतिक दृश्यों का यथार्थ, सजीव तथा मनोहारी चित्रण किया है। आच्छादित मेघ मालाओं और पुष्पित तथा पल्लवित वृक्षों के दृश्य अत्यन्त यथार्थतापूर्ण हैं।

संगीत

हृदय की भावनाओं का रागबद्ध उद्गार ही संगीत है। वैदिक संहिताओं में इसके प्रादुर्भाव तथा विकास का इतिहास मिलता है। सामवेद में संगीत के तकनीक स्वरूप को बताना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है गीत गाने की परम्परा थी।[1] बौद्ध साहित्य को जातक कथाओं में संगीत का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संगीत प्राचीन भारतीय कला की एक शाखा है।

सल्तनत काल

इस्लाम के अधिकांश रूढ़िवादी समर्थक संगीत के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में संगीत विलासमय जीवन का एक साधन था।[2] भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद कुछ मुस्लिम शासक संगीत के प्रति उदासीन थे, कुछ सुल्तानों ने इसके प्रति अपनी अभिरुचि दिखाई। इसके विकास का एकमात्र श्रेय सूफी सन्तों को है। उनके अनुसार साधक संगीत सुनकर भावाविष्टावस्था को प्राप्त होता है।[3] इससे प्रेम-भावना उत्पन्न होती है। अतः सूफी सन्तों ने संगीत के औचित्य को सिद्ध किया।[4] शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के अनुसार संगीत आत्मा के लिए पौष्टिक आहार है।[5] रूढ़िवादी इस्लाम में संगीत को निर्दिष्ट माना गया है। जब उलेमा ने इसका विरोध किया तो सुल्तान इल्तुतमिश ने संगीत पर प्रतिबंध लगाने का आदेश निकाला।[6] इल्तुतमिश का उत्तराधिकारी रूकनुद्दीन फिरोजशाह अपना अधिकांश समय संगीतज्ञों तथा नर्तकियों के बीच व्यतीत करता था।[7] सुल्ताना रजिया को भी

---

1. एम० एल० भगी, मेडिवल इण्डिया कल्चर एण्ड थाट, पृ० 249
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 245
3. तिवारी, पृ० 446-47
4. वही, पृ० 447
5. युसुफ हुसेन, पृ० 46
6. तिवारी, पृ० 446
7. एम० एल० भगी, पृ० 251

संगीत से प्रेम था। उसने अनेक संगीतज्ञों को राज्याश्रय प्रदान किया।[1] डॉ० एम० डब्लू० मिर्जा के अनुसार बलबन संगीत का प्रेमी था। उसने भारतीय संगीत की प्रशंसा की तथा अनेक संगीतकारों को संरक्षण प्रदान किया।[2] बलबन ने स्वयं भारतीय संगीत की बड़ी प्रशंसा की है। इल्बरी वंश में सबसे अधिक संगीत का प्रेमी सुल्तान कैकुबाद था। उसका दरबार सदैव संगीतकारों से भरा रहता था।[3] बर्नी ने लिखा है कि कैकुबाद ने संगीतकारों एवं गजल गायकों को इतनी अधिक संख्या में संरक्षण दिया था कि राजधानी की गलियाँ तथा सड़कें इनसे भरी हुई थीं।[4] कैकुबाद का पिता बुगरा खाँ भी संगीत का प्रेमी था।[5]

सुल्तान जलालुद्दीन खल्जी चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया से विशेष प्रभावित था। उसके शासनकाल में संगीत समारोह का आयोजन होता था। अतः परिस्थितियों ने संगीत के प्रति उसकी रुचि पैदा की।[6] अलाउद्दीन खल्जी एक महान् संगीत प्रेमी तथा संगीतकारों का आश्रयदाता था। दक्षिण भारत बिजय के बाद गोपाल नायक को उसने राज दरबार में आश्रय प्रदान किया।[7] अमीर खुसरो उसके दरबार का महान् कवि तथा संगीतज्ञ था। राजधानी में प्रायः सूफी सन्तों द्वारा संगीत समारोह का आयोजन किया जाता था।

दिल्ली के सुल्तानों में गियासुद्दीन तुगलुक का रूढ़िवादी दृष्टिकोण संगीत के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस्लाम में संगीत को विलास का साधन माना गया है। अतः उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शेख निजामुद्दीन औलिया पर मुकदमा चलाया। परन्तु अधिकांश न्यायाधीशों ने न्याय शेख के पक्ष में दिया।[8] बंगाल अभियान से लौटते समय उसने राजकुमार उलुग खाँ को आदेश दिया कि शेख को राजधानी से निष्कासित कर दिया जाय, ताकि संगीत की आवाज उसके कानों तक न पहुँच सके।[9]

1. एम० एल० भगी, पृ० 251
2. वही।
3. आजीज अहमद, टर्किश एम्पायर ऑफ देलही, पृ० 296
4. उद्धृत, वही।
5. भगी, पृ० 251
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 245
7. भगी, पृ० 252
8. युसुफ हुसेन, पृ० 41
9. वही।

इससे स्पष्ट है कि संगीत के प्रति उसके हृदय में घृणा थी। यद्यपि मुहम्मद तुगलुक संगीत का प्रेमी था, परन्तु उसके शासनकाल में संगीत की विशेष उन्नति नहीं हुई। इब्नबतूता ने लिखा है कि तालाब के जल की भाँति संगीत के विकास के लिए विस्तृत सीमा न थी।[1] रूढ़िवादी फ़ीरोज तुगलुक के समय में उसकी उन्नति तथा विकास के लिए कोई सम्भावना ही नहीं थी।

लोदी वंश के अधिकांश शासकों की रुचि संगीत में नहीं थी। उन्होंने संगीत के विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया।

मुगल काल

मुगल शासन की स्थापना के पहले स्थानीय शासकों ने संगीत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। मालवा के शासक बाजबहादुर तथा उसकी पत्नी रूपमती का स्थान संगीत प्रेमियों में सर्वश्रेष्ठ है।[2] बीजापुर के सुल्तानों तथा ग्वालियर के राजा मानसिंह ने संगीतकारों को सर्वाधिक प्रोत्साहन एवं प्रश्रय प्रदान किया। रामानन्द, चैतन्य तथा मीराबाई ने भक्ति भावना का प्रचार संगीत के माध्यम से ही किया।

मुगल सम्राट बाबर उच्चकोटि का गायक था। वह स्वयं गीत की रचना करता था तथा उसे गाता था। उसने संगीतकारों को अपने दरबार में आश्रय प्रदान किया था। सम्राट् हुमायूँ आजन्म संगीत का प्रेमी था। उसने अमीरों के वर्गीकरण में संगीतकारों को अहल-ए-मुराद के अन्तर्गत विशिष्ट स्थान दिया था।[3] मालवा अभियान के समय माण्डू-विजय के बाद उसने कत्ल-ए-आम का आदेश संगीतकार मंझू के कहने से वापस किया।[4]

संगीत के विकास में सबसे अधिक रुचि सम्राट् अकबर ने दिखाई। अबुल फज्ल ने लिखा है, "सम्राट् अकबर ने संगीत पर विशेष ध्यान दिया और उसने सभी संगीतकारों को संरक्षण तथा प्रश्रय प्रदान किया।[5] उसके दरबार में अनेक हिन्दू, तुरानी, ईरानी, कश्मीरी स्त्री तथा पुरुष संगीतज्ञों को राज्याश्रय मिला था। उसने

1. भगी, पृ० 253
2. गैरेट, पृ० 333
3. भगी, पृ० 257
4. जे० चौबे, हिस्ट्री ऑफ गुजरात किंगडम, पृ० 252
5. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 681

संगीतकारों को सात वर्गों में विभक्त करके प्रत्येक वर्ग के लिए एक-एक दिन निर्धारित कर दिया था।[1] सम्राट् ने स्वयं वाद्य संगीत में दक्षता प्राप्त की थी। दरबार के संगीतकारों में तानसेन को विशिष्ट स्थान प्राप्त था।[2] 1556 मे रीवाँ के राजा ने तानसेन का परिचय अकबर से कराया था। अबुल फज्ल ने तानसेन की प्रशंसा में लिखा है कि गत एक हजार वर्षों में ऐसा संगीतकार भारतवर्ष में नहीं हुआ था।[3] उसने संगीत से यमुना के प्रवाह को रोक दिया था।[4] तानसेन की ख्याति आज भी भारत में है।[5] अकबर ने तानसेन को मिर्जा की उपाधि से विभूषित किया। उसने सरमंडल, बीन, नाई, करण, तम्बूरा, गीटक, सुरना तथा कानून आदि वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया।[6] तानसेन की मृत्यु अप्रैल 1589 में हुई और उसे ग्वालियर में मुहम्मद गौस के समीप दफनाया गया।[7]

अकबर के दरबारी संगीतकारों में बाबा रामदास का भी विशिष्ट स्थान है। बाबा रामदास को बैरम खाँ ने 1 लाख टंका का उपहार दिया था।[8] स्वामी हरिदास तथा उनके शिष्य बैजू, गोपाल, मदनलाल, दिवाकर, सोमनाथ तथा राजा सूरसेन अकबर के समय के प्रसिद्ध गायक थे।[9] सम्राट् अकबर ने साम्राज्य के संगीतकारों को संरक्षण तथा राज्याश्रय प्रदान कर संगीत के विकास में महान् योगदान दिया।

सम्राट् जहाँगीर भी संगीत-प्रेमी था। मोतामिद खाँ ने साठ दरबारी गायकों के नाम का उल्लेख किया है।[10] विलियम फिंच के अनुसार जहाँगीर ने अकबरकालीन परम्परा का ध्यान रखते हुए सप्ताह का प्रत्येक दिन गायकों को निर्धारित किया था।[11] फास्टर के अनुसार सैकड़ों गायिकाएँ एवं नर्तकियाँ दरबार में

1. गैरेट, पृ० 334
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 246
3. उद्धृत, वही।
4. वही।
5. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 406
6. गैरेट, पृ० 334
7. ओब्र्स, पृ० 32
8. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 246
9. भगी, पृ० 259
10. एन० एन० ला, प्रमोशन आँफ लर्निंग, पृ० 178
11. उद्धृत, गैरेट, पृ० 336

अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। योग्यतानुसार उन्हें पुरस्कृत किया जाता था।[1] सम्राट् जहाँगीर ने स्वयं अपनी आत्मकथा तुजुक-ए-जहाँगीरी में भारतीय गजल की प्रशंसा की है। उसके शासनकाल में दामोदर मिश्र ने 'संगीत दर्पण' 1625 में लिखा।[2] सम्राट् जहाँगीर के दरबार में जहाँगीर दाद, परवेज दाद, खुर्रम दाद, मक्खू हमजान तथा चतुर खाँ प्रसिद्ध गायक थे।[3]

शाहजहाँ भी एक महान् संगीत प्रेमी था। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार सम्राट् शाहजहाँ का मधुर राग इतना प्रभावकारी था कि बहुत से संगीत प्रेमी सूफी संत स्तब्ध रह जाते थे।[4] उसने अनेक संगीतकारों को प्रश्रय प्रदान किया था। वह प्रत्येक रात्रि को दीवान-ए-खास में संगीत का आयोजन करता था। ट्रैवर्नियर ने लिखा है कि दीवान-ए-खास में आयोजित संगीत की मधुर ध्वनि अमीरों के कार्यों में गतिरोध नहीं पैदा करती थी।[5] उसके दरबारी संगीतकारों में जगन्नाथ, रामदास, महापात्र, सुखसेन, सूरसेन, बुरंगखाँ, लाल खाँ, मिर्जा जुलकरबेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[6] जगन्नाथ संस्कृत तथा हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'रसगंगाधर' तथा 'गंगालहरी' हैं। शाहजहाँ ने इन्हें महाकविराय की उपाधि से विभूषित किया था।[7] विलियम क्रूक के अनुसार सम्राट् शाहजहाँ जगन्नाथ से इतना प्रभावित था कि स्वर्ण राशि से उसे तौल कर उसने सम्पूर्ण सोने को उसे दे दिया।[8] डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार शाहजहाँ की विशेष अभिरुचि के बावजूद संगीत शैली में विशेष परिवर्तन न हो सका, क्योंकि अकबरकालीन प्रसिद्ध संगीतकार की शैली में सुधार करने की क्षमता किसी भी गायक में नहीं थी।[9] शाहजहाँकालीन सबसे लोकप्रिय वाद्य यन्त्र गिटार तथा जीटर था। सुखसेन गिटार तथा सूरसेन जीटर के कलाकार थे।[10] इसके शासनकाल में समाज के सभी

1. फास्टर, अर्ली ट्रैवेल्स, पृ० 183
2. भगी, पृ० 260
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 247
4. उद्धृत, भगी, पृ० 260-61
5. यदुनाथ सरकार, स्टडीज इन मुगल इण्डिया, पृ० 12-13
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 247
7. सक्सेना, शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 268
8. गैरेट, पृ० 337
9. सक्सेना, शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 268
10. वही, पृ० 258

वर्गों ने संगीत को सर्वाधिक मान्यता दी। एडवर्ड टेरी ने अपने यात्रा वर्णन में इसकी पुष्टि की है।[1]

सम्राट् औरंगजेब स्वभाव से रूढ़िवादी तथा धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। वह संगीत से घृणा करता था और इसे विलास का विषय मानता था। राज्याभिषेक के बाद उसने संगीतकारों का संरक्षण तथा राज्याश्रय समाप्त कर दिया।[2] यही नहीं, उसने गायकों को दरबार से निष्कासित कर दिया। ब्लाकमैन के अनुसार एक दिन गायकों ने शोक में संगीत की अरथी निकाली। सम्राट् ने केवल इतना ही कहा कि इसे इतनी गहराई में दफनाया जाय कि वह पुनः सिर न उठा सके।[3] सम्राट् औरंगजेब ने अपनी निषेधाज्ञा को वापस नहीं लिया। परन्तु मनूची के अनुसार राज-महल की स्त्रियों तथा राजकुमारियों के मनोरंजन के लिए औरंगजेब प्रायः संगीत का आयोजन करता था। उसने नर्तकियों तथा संगीतकारों को सीमित संख्या में संरक्षण प्रदान किया।[4] बख्तावर खाँ के अनुसार औरंगजेब ने शासन के प्रारम्भ में संगीत के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, परन्तु ईमाम सफी के परामर्श से उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[5] उसने संगीत के उन कलाकारों को नकद तथा भूमि देकर पुरस्कृत किया, जिन्होंने संगीत के प्रति घृणा व्यक्त की।[6] इससे स्पष्ट है कि मुगल संस्कृति के अन्य विषयों की भाँति संगीत का भी पतन औरंगजेब के शासनकाल में हुआ और इसके लिए वह उत्तरदायी था।

---

1. डब्लू० फास्टर, अर्ली ट्रैवेल्स, पृ० 310
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० 247
3. आइन-ए-अकबरी, पृ० 681
4. मनूची, स्टोरियो डा मुगल, सम्पादित इरविन, पृ० 346
5. इलियट 7, पृ० 156
6. पी० केनेडी, पृ० 76–79

अध्याय 14

अन्य सांस्कृतिक विशेषताएँ

किसी भी युग में वस्त्र-आभूषण, खान-पान, रीति-रिवाज तत्कालीन समाज की सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक माने जाते हैं। प्राचीन भारत में अनेक विदेशी जातियों का आगमन हुआ। यहाँ पर स्थायीरूप से बस जाने के बाद उनकी सभ्यता भारतीय संस्कृति में विलीन हो गई। परन्तु इस्लाम के प्रवेश तथा मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति एक दूसरे में पूर्णरूप से विलीन न हो सकी। इस्लाम तथा हिन्दू सभ्यता का एक दूसरे पर प्रभाव अवश्य पड़ा, फिर भी उनकी विशिष्टताएँ बनी रहीं। परिणामस्वरूप दोनों समाजों का सांस्कृतिक अस्तित्व सजीव रहा है। यही मध्ययुगीन संस्कृति की विशेषता है।

वस्त्राभूषण

वस्त्राभूषण के अध्ययन के लिए समाज को शासक, अभिजात वर्ग तथा सर्वसाधारण वर्ग में विभक्त करना आवश्यक है। सल्तनतकालीन शासक वर्ग के वस्त्रों के सम्बन्ध में हसन निजामी ने लिखा है कि सुल्तान और राजकुमार कीमती वस्त्रों को धारण करते थे, जिनमें दिबा-ए-हृश्त-रंग (सात रंगों का जरी वाला वस्त्र), बिसत-ए-जमुर्रदी (मखमली वस्त्र), लिबास-ए-पनियान (चीना सिल्क का पतला कपड़ा), जामा-ए-संजब (फर कोट), लिबास-ए-बहमन (फूल-पत्ती का काम किया हुआ कपड़ा) उल्लेखनीय हैं।[1] बर्नी तथा अमीर खुसरो ने भी तबरेजी, शुस्तरी आदि वस्त्रों का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त दिल्ली, चीन, अवध, माड़वार और देवगिरि में बने हुए कपड़ों का प्रयोग दिल्ली के सुल्तान करते थे।[3] रूस, चीन, खुरासान, सीरिया से भी कीमती वस्त्रों को मँगाया जाता था।[4] अमीर खुसरो ने कतान-ए-रूसी, कतान-

1. पंजाब यूनिवर्सिटी जर्नल, 1963, पृ० 122
2. बर्नी, तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ० 311
3. रशीद, पृ० 53
4. वही।

ए-बिहारी, जामा-ए-देवगिरि, मवाज-ए-मारवाड़ी, रूपक-ए-बिहारी आदि का उल्लेख किया है।[1] पोशाक के विषय में बलबन सबसे अधिक ध्यान देता था।[2] रजिया पर्दा का परित्याग करके पुरुषों का वस्त्र धारण करने लगी थी।[3] दिल्ली के सुल्तान सिर पर कुलाह अथवा तारतारटोपी धारण करते थे।[4] जलालुद्दीन खल्जी एक प्रकार की पगड़ी पहनता था।[5]

मुगल सम्राट् अपने पोशाक के विषय में बड़े सावधान थे। सम्राट् हुमायूँ ने भारतीय परिवेश में अनेक नवीन वस्त्रों को अपनाया, जिनमें विशेष उल्लेखनीय उलब्रग्चा है। यह एक प्रकार का ढीला कोट है, जिसे काबा भी कहते हैं।[6] वह नक्षत्रों के अनुसार रंग-बिरंग वस्त्रों को धारण करता था।[7] सम्राट् अकबर की रुचि वस्त्रों में इतनी अधिक थी कि उसने अनेक दर्जियों को पोशाक तैयार करने के लिए नियुक्त किया था।[8] वह भी नक्षत्रों के अनुसार वस्त्र धारण करता था।[9] वह हिन्दुओं की भाँति धोती भी पहनता था। चुनट किये हुए निचले भाग में मोती जड़े रहते थे।[10] अपने पिता की भाँति जहाँगीर की भी रुचि वस्त्रों में थी। वह कलंगीदार पगड़ी पहनता था।[11] वह हीरा-जवाहरात जटित जंजीर को गले में धारण करता था। उसके वस्त्रों के ऊपर हीरा, मोती तथा अन्य रत्नों को जोड़ा जाता था। जहाँगीर ने एक आदेश निकाला था कि कोई उसके वस्त्रों का अनुकरण नहीं करेगा। सम्राट् द्वारा उपहारस्वरूप प्रदत्त उसी प्रकार का वस्त्र अमीर धारण कर सकते थे।[12]

---

1. खुसरो, इजाज-ए-खुसखी 1, पृ० 18
2. पाण्डेय, पृ० 94
3. वही, पृ० 72
4. अशरफ, पृ० 209
5. वही।
6. पी० एन० चोपड़ा, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मुगल एज, पृ० 3
7. वही।
8. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 88
9. चोपड़ा, पृ० 3
10. क्रिश्चियन मीशन टु दि ग्रेट मुगल, पृ० 62
11. सर टामस रो, पृ० 283-84
12. चोपड़ा, पृ० 4

अबुल फज्ल ने ग्यारह प्रकार के कोट का उल्लेख किया है—तकौचिया, पेशवाज शाहअजीदा, गदर, काबा इत्यादि।[1] चकमन तथा फरगुल का प्रयोग बरसाती कोट के रूप में किया जाता था।[2] फरगुल एक प्रकार का फरकोट था, जिसका उपयोग शीत काल में किया जाता था। हुमायूँ ने सबसे पहले इसका उपयोग किया था।[3] हुमायूँ इसे काबा पर पहनता था। यह कई रंग का होता था।[4] रात्रि के लिए अलग वस्त्र होते थे।[5] कभी-कभी खिलत के रूप में कोट अमीरों को उपहारस्वरूप दिये जाते थे।[6] शाहजहाँ की भी विशेष रुचि वस्त्रों में थी। वह मुगलकालीन शान-शौकत तथा वैभव के अनुरूप वस्त्र धारण करता था।[7] औरंगजेब रूढ़िवादी तथा धर्मांध सम्राट् था। वह साधारण वस्त्र पहनता था। गोलकुण्डा अभियान के समय वह सैनिक वस्त्र पहनता था।[8]

सभी मुसलमान शासक कुलाह या पगड़ी पहनते थे। अबुल फज्ल ने कश्मीरी टोपी का भी उल्लेख किया है।[9] शासक वर्ग जूते का प्रयोग करते थे।[10] बर्नियर के अनुसार भारत में इतनी अधिक गर्मी पड़ती थी कि मोजे का प्रयोग शासक वर्ग भी नहीं कर सकता था।[11] परन्तु कुछ इतिहासकारों ने मोजे के प्रयोग का उल्लेख किया है।

राजमहल की स्त्रियाँ चूड़ीदार पायजामा तथा घाघरा का प्रयोग करती थीं। यह सिल्क तथा कीमती सूती कपड़े का बना होता था। राजमहल में बुर्का, शलवार तथा कश्मीरी शाल के प्रयोग का प्रचलन था। नूरजहाँ नें अनेक प्रकार के वस्त्रों का उपयोग किया, जिनमें नूरमहली, हददुदामी, पंचतोलिया, बदला, कैनारी, फर्स-ए-

---

1. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 88-90
2. चोपड़ा, पृ० 4
3. अशरफ, पृ० 209
4. वही।
5. वही, पृ० 210
6. वही, पृ० 209-10
7. चोपड़ा, पृ० 4-5
8. वही, पृ० 5
9. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 88-90
10. चोपड़ा, पृ० 9
11. बर्नियर, पृ० 240

चावनी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1] मुसलमान राजकुमारियाँ दुपट्टे का प्रयोग करती थीं।[2]

हिन्दू शासक वर्ग प्रायः धोती, चूड़ीदार तथा कोट पहनता था। स्त्रियाँ साड़ी, कंचुकी तथा राजकुमारियाँ दुपट्टे का प्रयोग करती थीं। हिन्दू स्त्रियों में आभूषण पहनने का रिवाज था। उनमें चौक, बिंदुल, कर्णफूल, पीपल पत्ती, मोर पंख, नथ बेसर, हार, गुलबन्द, बाजूबन्द तथा चूड़ियों का विशेष प्रचलन था।[3] अबुल फज्ल ने पायल, बिछिया का भी उल्लेख किया है।[4] पुरुषों में बाजूबन्द तथा अँगूठी पहनने का प्रचलन था।

अभिजात वर्ग

हिन्दू तथा मुस्लिम अभिजात वर्ग प्रायः शासक वर्ग के ही वस्त्र को धारण करते थे। परन्तु उनके पास बहुमूल्य रत्न जटित वस्त्रों का अभाव था। विशेष अवसरों पर शासक द्वारा प्रदत्त खिलत भी पहनते थे। खान, मलिक तथा अन्य सैनिक अधिकारी तारतारों जैसा चोंगा (गाउन) तथा ख्वारिज्म का काबा धारण करते थे।[5] सिर की टोपी हीरा, जवाहरात तथा अन्य रत्नों से जटित रहता थी।[6] वे कमर में सोने तथा चाँदी की पेटी पहनते थे।[7] वे प्रायः सोरियन, जब्बा (लम्बी कमीज) मिस्री दस्तर भी धारण करते थे।[8] उलेमा वर्ग साधारण वस्त्र पहनता था। वे विशेष प्रकार की टोपी तथा पगड़ी बाँधते थे। इसीलिए इन्हे दस्तर-बंदान तथा कुलाह दरान कहा जाता था।[9]

हिन्दू अमीरों की स्त्रियाँ धोती, साड़ी तथा मुस्लिम अमीरों की स्त्रियाँ चूड़ीदार पायजामा, सलवार, कुर्ता, ओढ़नी तथा बुर्का पहनती थीं।[10] दुपट्टा का प्रचलन दोनों

1. चोपड़ा, पृ० 14

---

2. वही।
3. वही, पृ० 27-28
4. आइन-ए-अकबरी 3, पृ० 312
5. रशीद, पृ० 53
6. वही।
7. वही।
8. वही।
9. अशरफ, पृ० 96
10. चोपड़ा, पृ० 13

वर्गों में था। इस वर्ग में भी सोने-चाँदी के आभूषण का प्रचलन था। मुस्लिम स्त्रियाँ अरबी शैली तथा हिन्दू स्त्रियाँ स्वस्तिक चिह्नित बाजूबन्द पहनती थीं। मुगल काल में आभूषण के प्रयोग को विशेष प्रोत्साहन मिला।[1]

साधारण वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत कृषक, कारीगर, श्रमिक तथा दास थे। आर्थिक साधनों के अभाव में इनके लिए अच्छा वस्त्र पहनना सम्भव नहीं था। इब्नबतूता के अनुसार बड़ी कठिनाई से इन्हें सूती वस्त्र उपलब्ध होता था।[2] बाबर ने अपनी आत्म कथा में लिखा है कि साधारण वर्ग के लोग लंगोट पहनकर नंगे पाँव चलते थे। स्त्रियाँ केवल अपने शरीर को ढँकने के लिए धोती पहनती थीं।[3] अबुल फज्ल के अनुसार बंगाल के अधिकांश निवासी नंगे रहते थे। किसी तरह वे अपने शरीर के आवश्यक अंगों को ढक सकते थे।[4] निजामुद्दीन अहमद के अनुसार गोलकुण्डा के निवासी केवल आधे शरीर को ढक पाते थे।[5] गरीब जनता अपने शरीर से तब तक वस्त्र नहीं उतार पाती थी जब तक वह फट नहीं जाता था।[6] शीत काल में इनके पास पहनने के लिए उचित वस्त्र नहीं था। साधारण परिवार के ब्राह्मण धोती तथा कमीज पहनते थे। स्त्रियाँ साड़ी, चोली, लहँगा तथा अँगिया पहनती थीं।[7] स्त्रियाँ रंग-बिरंग की साड़ियाँ भी पहनती थीं।[8] डॉ० चोपड़ा ने लिखा है कि मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद भी हिन्दू समाज में धोती, साड़ी तथा कुर्ता उतना ही लोकप्रिय रहा है जितना गौतमबुद्ध तथा महावीर स्वामी के समय में था।[9]

आभूषण तो इस वर्ग के लिए स्वप्न था। परन्तु हिन्दू समाज में सुहाग सम्बन्धी चाँदी के आभूषण स्त्रियाँ पहनती थीं।

---

1. चोपड़ा, पृ० 26-27
2. रेहला, पृ० 83
3. उद्धृत, इरफान हबीब, दि ऐग्रेटियन सिस्टम ऑफ दि मुगल्स, पृ० 94
4. आइन-ए-अकबरी 2, पृ० 102
5. तबकात-ए-अकबरी 2, पृ० 100
6. चोपड़ा, पृ० 8
7. अशरफ, पृ० 213
8. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 155
9. चोपड़ा, पृ० 3

खान-पान

उच्च वर्ग

इसके अन्तर्गत शासक तथा हिन्दू-मुस्लिम अमीर वर्ग था। शासक वर्ग के लिए खास तथा आम खाद्य सामग्री की व्यवस्था रहती थी।[1] खास व्यवस्था कुछ सीमित व्यक्तियों के लिए तथा आम सभी अधिकारियों के लिए था।[2] मुस्लिम देशों में प्रचलित पोलाव का प्रचलन यहाँ हुआ, परन्तु भारतीय परिवेश में उसका स्वरूप परिवर्तित था। मुस्लिम समाज में चावल का विशेष प्रचलन प्रारम्भ हुआ। कभी-कभी चीनी तथा प्रायः गोश्त के साथ चावल पकाया जाता था।[3] हिन्दुस्तान में इसे खिचड़ी कहा जाता है। प्रातःकाल नाश्ता के समय दाल तथा चावल की मिली हुई खिचड़ी हिन्दू खाते थे। मुसलमान भुनी हुई रोटी तथा कबाब खाते थे।[4] अमीर खुसरो ने मूंग, चना, अरहर तथा मसूर के दाल का उल्लेख किया है।[5] मुसलमान रोटी तथा मुर्गा का मांस खाते थे।[6] भारतवर्ष में बना हुआ अचार, मुस्लिम तथा हिन्दू शासक वर्ग को बहुत प्रिय था। राजमहलों में पानी ठण्डा करने के लिए बर्फ का भी प्रयोग होता था।[7]

मध्ययुगीन समाज में मांस, मछली खाने की प्रथा थी। इब्नबतूता ने लिखा है कि तुर्क घोड़ों का वध करके उसका मांस खाते थे।[8] राजपूत सूअर का शिकार करके उसका मांस भी खाते थे।[9] जैन, ब्राह्मण और वैश्य मांस नहीं खाते थे।[10] मुगलकाल में मांस खाने की प्रथा का कम प्रचलन था।[11] मुगल गद्दी को पुनः प्राप्त करने के पहले हुमायूँ ने मांस खाना छोड़ दिया था।[12] अकबर की रुचि मांस खाने

1. अशरफ, पृ० 219
2. वही।
3. रशीद, पृ० 47
4. अशरफ, पृ० 219
5. इजाज-ए-खुसरवी 5, पृ० 65
6. अशरफ, पृ० 219
7. वही।
8. रेहला, पृ० 19-20
9. इलियट 3, पृ० 427
10. चोपड़ा, पृ० 32
11. वही, पृ० 33
12. अकबरनामा 1, पृ० 351

में नहीं थी। वह कभी-कभी मांस खाता था। बदायूँनी ने तो यहाँ तक लिखा है कि सम्राट् ने मांस के साथ लहसुन तथा प्याज खाना भी बन्द कर दिया था।[1] जहाँगीर ने रविवार तथा गुरुवार को पशुओं के वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।[2]

मुगल सम्राटों तथा अमीरों को भारतीय फल तथा मिठाइयाँ अधिक पसन्द थीं। आगरा के बाजार में सुगन्धित मिठाइयों की खूब बिक्री होती थी।[3] अमीर प्रायः प्रीतिभोज का आयोजन किया करते थे। एक अतिथि को बीस प्रकार के पदार्थ दिये जाते थे।[4] इनके भोजनालय में सोने, चाँदी के पात्र रहते थे। कभी-कभी मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग भी किया जाता था। औरंगजेब मिट्टी तथा ताँबे के बर्तनों का प्रयोग करता था।[5] हिन्दुओं का खाना रसोईघर में पकाया जाता था। इसमें कोई जूता पहन कर नहीं जा सकता था। इसकी सफाई गोबर से की जाती थी। साधारणतः चौके में दो बार खाना बनाया जाता था।[6] हिन्दू अमीरों तथा शासक वर्ग के पास सोने चाँदी के पात्र होते थे। साधारण लोगों को पत्तल में खाना खिलाया जाता था।[7] राजपूतों में दोना का प्रचलन था। इसके अनुसार खाना की थाली पहले किसी विशेष व्यक्ति के पास भेजी जाती थी। वह इस थाली के कुछ भाग को किसी कृपापात्र को देता था। मेवाड़ में इस प्रथा का विशेष प्रचलन था।[8]

मद्यपान

मद्यपान एक साधारण प्रथा रही है। सुल्तान कुतबुद्दीन एवं इल्तुतमिश शराब पीते थे।[9] कैकुबाद तथा मुबारक शाह खल्जी ने तो शराब पीने की सीमा का अतिक्रमण कर दिया था।[10] फिरोज तुगलक भी शराब पीता था।[11] अमीर वर्ग प्रीतिभोज

1. बदायूँनी 2, पृ० 103
2. तुजके-ए-जहाँगीरी, अनु० लो, पृ० 188
3. चोपड़ा, पृ० 34
4. अशरफ, पृ० 22
5. चोपड़ा, पृ० 42
6. वही।
7. वही।
8. अशरफ, पृ० 221
9. ताजुल मासीर, पृ० 264
10. रशीद, पृ० 51
11. वही।

के अवसर पर शराब पीते थे। जलालुद्दीन खल्जी के समय में ताजुद्दीन कूची ने अपने मित्रों को इतना अधिक शराब पिलाया था कि शराब के नशे में उन लोगों ने जलालुद्दीन खल्जी को अपदस्थ करके नासिरुद्दीन कूची को राजगद्दी पर बैठाने की योजना बनाई थी।[1]

मुगल काल में औरंगजेब को छोड़कर सभी मुगल सम्राट् शराब पीते थे। बाबर एक बहुत बड़ा शराबी था। परन्तु उसने खानवा के युद्ध में शराब के पात्रों को तोड़वा दिया तथा शराब को फेकवा दिया।[2] हुमायूँ की रुचि शराब में नहीं अपितु अफीम में थी। वह कई बार अफीम खाता था।[3] जहाँगीर अपना अधिकांश समय शराब पीने में व्यतीत करता था। वह 20 प्याला शराब पीता था।[4] अकबर तथा शाहजहाँ भी एक सीमा के अन्तर्गत शराब पीते थे। अकबर कभी-कभी शराब का सेवन करता था। बाबर की भाँति शाहजहाँ ने दक्षिण अभियान के समय शराब को चम्बल में फेकवा कर बहुमूल्य पात्रों को तोड़ने का आदेश दिया था।[5] औरंगजेब शराब का सेवन बिलकुल नहीं करता था।[6]

यद्यपि मुगल सम्राट् शराब का सेवन करते थे, परन्तु समाज में इसके सेवन पर प्रतिबन्ध लगाना चाहते थे। यहाँ तक कि सम्राट् जहाँगीर समाज के समक्ष उदाहरण रखने के लिए बृहस्पतिवार तथा शुक्रवार को शराब नहीं पीता था।[7] औरंगजेब ने भी 1668 में एक आदेश द्वारा शराब पीने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[8] परन्तु उसके निषेधाज्ञा के बावजूद भी अमीर वर्ग खूब शराब पीता था।[9] डॉ० चोपड़ा के अनुसार इस आदेश की विफलता का कारण मुगल सम्राट् की कमजोरी थी।[10] सर

1. पाण्डेय, पृ० 124
2. वही, पृ० 14
3- वही, पृ० 34
4. चोपड़ा, पृ० 47
5. बनारसी प्रसाद सक्सेना, शाहजहाँ ऑफ देहली, पृ० 27
6. चोपड़ा, पृ० 48
7. तुजक-ए-जहाँगीरी, अनुवाद लो०, पृ० 7
8. खाफी खाँ, इलियट 6, पृ० 283
9. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 34-91
10. चोपड़ा, पृ० 47

यदुनाथ सरकार के अनुसार दरबार के अनेक अमीर बाजार में शराब पीने तथा बिक्री को खूब प्रोत्साहन देते थे।[1]

साधारण वर्ग

साधारण वर्ग का खान-पान उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता था। कृषक, व्यापारी, श्रमिक तथा पेशेवर वर्ग किसी तरह अपना जीविकोपार्जन करते थे। वे रोटी, चावल, दाल तथा साधारण सब्जी खाते थे। अमीर खुसरो ने मूँग, अरहर, चना और मसूर के दाल का उल्लेख किया है।[2] वे मांस-मछली का भी प्रयोग करते थे। यह भी उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता था।[3] अमीर खुसरो के अनुसार आम, जामुन, खिरनी, संतरा तथा खरबूजा का प्रयोग सभी वर्गों में होता था।[4] बर्नियर के अनुसार साधारण वर्ग में खिचड़ी सबसे लोकप्रिय था।[5] हिन्दू तथा मुसलमान अचार का प्रयोग करते थे।[6] वे गेहूँ, ज्वार तथा बाजरा का भी प्रयोग करते थे।[7] दोनों सम्प्रदायों में अलग-अलग भोजनालय की व्यवस्था थी। हिन्दुओं का खाना चौका में बनता था। साधारणतः ताँबा, पीतल तथा मिट्टी के बर्तन का प्रयोग होता था।[8] इस वर्ग में शराब पीने का प्रचलन नहीं था। इसके प्रयोग को पागलपन का प्रतीक समझा जाता था।[9] परन्तु कुछ लोग महुवा, जौ, चावल तथा ताड़ के रस को शराब के रूप में प्रयोग करते थे। परन्तु यह निम्नकोटि का शराब माना जाता था। इस वर्ग के लोग भाँग, तम्बाकू तथा अफीम का प्रयोग भी करते थे।

रीति रिवाज

मनुष्य अपने संस्कारों की उपज होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक संस्कारों में बँधा रहता है। रीति रिवाज सम्पूर्ण समाज की देन होता है। जो मानव जीवन के प्रत्येक भाग को नियंत्रित करते हैं।

---

1. सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब 5, पृ० 461
2. इजाज-ए-खुसरवी 5, पृ० 65
3. रशीद, पृ० 47
4. इजाज-ए-खुसरवी 4, पृ० 63-64
5. बर्नियर, पृ० 249
6. चोपड़ा, पृ० 38
7. वही।
8. वही, पृ० 42-43
9. वही, पृ० 45

हिन्दू-मुस्लिम दोनों समाजों में बच्चे का जन्म खुशी का अवसर माना जाता है। अमीर खुसरो के अनुसार बच्चे के जन्म की तैयारी पहले से की जाती है।[1] छः दिनों के बाद इसका प्रथम संस्कार छट्ठी के रूप में मनाया जाता है।[2] मुस्लिम समाज में इसे अकीका कहते हैं।[3] उसकी रक्षा के लिए निसार तथा उतारा संस्कार भी होता है।[4] मुसलमान प्रायः अली, अहमद तथा मुहम्मद का नाम रखते हैं।[5] हिन्दू समाज में नाम संस्कार पाँचवें अथवा छठें महीने में होता है। प्रायः हिन्दू बच्चों का नाम देवताओं के नाम से जुड़ा रहता है। मुंडन-संस्कार को विशेष महत्व दिया जाता है।[6] पाँच वर्ष समाप्त हो जाने के बाद बच्चे की शिक्षा गुरू की देखरेख में प्रारम्भ की जाती है।[7] चार वर्ष चार माह तथा चार दिन समाप्त हो जाने पर मुस्लिम समाज में बिस्मिल्लाह होता है।[8] इसी समय से बच्चे को मकतब भेजा जाता है। सात से चौदह वर्ष के बीच में खतना अथवा सुन्नत संस्कार होता है।[9] कभी-कभी बिस्मिल्लाह के पहले भी यह संस्कार हो जाता है। अकबर ने एक आदेश के द्वारा इस संस्कार के लिए बच्चे की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गई थी।[10]

विवाह के पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातियों में उपनयन संस्कार होता है। इस अवसर पर जनेऊ पहनाया जाता है तथा गुरु मंत्र देता है।[11] किसी भी लड़के अथवा लड़की के जीवन में विवाह बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। इसके लिए हिन्दू-मुस्लिम समाज में निश्चित अवस्था नहीं थी। बाल विवाह का प्रचलन दोनों संप्रदायों में था।[12] अकबर ने एक आदेश के द्वारा विवाह के लिए लड़के की उम्र 16 वर्ष

1. उद्धृत, अशरफ, पृ० 176
2. रशीद, पृ० 74
3. वही।
4. अशरफ, पृ० 177
5. यासीन, पृ० 63
6. अशरफ, पृ० 178
7. वही।
8. यासीन, पृ० 63
9. वही, पृ० 64
10. आइन-ए-अकबरी, 1, पृ० 207
11. अशरफ, पृ० 176
12. यासीन, पृ० 65

तथा लड़की की उम्र चौदह वर्ष निश्चित की थी।[1] डॉ० यासीन के अनुसार "सम्राट् के इस आदेश का प्रभाव समाज पर बिल्कुल नहीं पड़ा था।[2] मुस्लिम समाज में वैवाहिक संस्कार को निकाह कहते हैं। इसके बाद रूख्सत होता है।"[3]

दोनों सम्प्रदायों में मृत्यु अन्तिम संस्कार होता है। हिन्दू समाज में दाह तथा मुस्लिम समाज में मृतकों को गाड़ना मन्त्रों तथा कुरान की आयतों के बीच होता है।[4] हिन्दू रीति रिवाज के अनुसार मृत्यु के दस दिन के बाद शुद्धक पर बाल बनवाता है। तेरह दिन पर ब्राह्मण भोजन तथा कुछ समय बीत जाने पर श्राद्ध होता है।[5]

मुस्लिम समाज में मृतक को दफनाने के तीसरे दिन जियारत किया जाता है। इस दिन वे लोग कब्र पर जाते हैं।[6] इस दिन वहाँ कुरान का पाठ होता हैं। शरबत पिलायी जाती तथा उपस्थित लोगों को पान दिया जाता है।[7] मृत्यु के चालीसवें दिन इसी प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति होती है। इसे चिहिल्लम कहते हैं।[8] कुछ लोग अर्ध वार्षिक तथा वार्षिक प्रीतिभोज का आयोजन करते हैं।

बहलोल लोदी ने जियारत के समय पान तथा शराब के वितरण पर प्रतिबंध लगाकर फूल तथा गुलाब जल के वितरण को अनिवार्य कर दिया था।[9]

सती प्रथा

हिन्दुओं में सती प्रथा का प्रचलन था। पति की मृत्यु के बाद स्त्री अपने को मृत पति के साथ जला देती थी। यह कई प्रकार का होता था—सहमरण, अनुमरण, सहगमन तथा अनुगमन।[10] इब्नबतूता के अनुसार धर्म के आधार पर ब्राह्मण सती के

1. आइन-ए-अकबरी 1, अनु०, पृ० 195
2. यासीन, पृ० 66
3. वही।
4. अशरफ, पृ० 183
5. वही, पृ० 184
6. यासीन, पृ० 68
7. वही।
8. बदायुँनी 2, अनुवाद लो०, पृ० 50
9. अशरफ, पृ० 285
10. वही, पृ० 186-87

लिए प्रोत्साहित करता था।[1] डॉ० अशरफ के अनुसार—हिन्दू समाज में विधवाओं की उपेक्षा के कारण स्त्रियाँ पति की मृत्यु के बाद सती हो कर अपने शरीर का त्याग कर देती थीं।[2] अबुल फज्ल के अनुसार प्रायः स्त्रियाँ स्वतः जलना पसंद करती थीं। कभी-कभी परिवार के सदस्य बाध्य भी करते थे। कुछ लोक-लज्जा के कारण जल कर भस्म होना चाहती थीं; अधिकांश रीति-रिवाज के कारण सती होना स्वीकार करती थीं।[3]

इब्नबतूता के अनुसार सल्तनत काल में सती होने के पहले सरकार की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था।[4] हुमायूँ तथा अकबर ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।[5] परन्तु इनके आदेशों का समाज पर कितना प्रभाव पड़ा, निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। क्योंकि भारतीय समाज में सती प्रथा कभी बन्द नहीं हुई। उन्नीसवीं सदी में राजा राममोहन राय तथा अन्य समाज सुधारकों के अथक प्रयास के परिणामस्वरूप यह कुप्रथा समाप्त हुई।

जौहर प्रथा

जौहर प्रथा राजपूत रानियों के लिए सम्मान तथा गौरव का विषय समझी जाती थी। अलाउद्दीन खल्जी के आक्रमण के समय रणथम्भौर के शासक हम्मीर देव के किले में राजपूत स्त्रियों ने जौहर किया था।[6] मुहम्मद ने जब कम्पिला पर आक्रमण किया तो रानियों ने जौहर के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा की।[7] बाबर के आक्रमण के समय मेदिनी राय ने रायसेन के किले में जौहर कराया था।[8] गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह के आक्रमण के समय रायसेन[9] तथा मेवाड़[10] की राजपूत स्त्रियों ने जौहर द्वारा अपनी सतीत्व की रक्षा की थी। अकबर के सेनापति आसफ

---

1. रेहला 2, पृ० 13-14
2. अशरफ, पृ० 189
3. आइन-ए-अकबरी 2, पृ० 191-92
4. रेहला, पृ० 13
5. अशरफ, पृ० 191-92
6. पाण्डेय, पृ० 148
7. अशरफ, पृ० 193
8. बाबरनामा, पृ० 312
9. जे० चौबे, हिस्ट्री ऑफ गुजरात किंग्डम, पृ० 291
10. वही, पृ० 304

खाँ के आक्रमण के समय में गोंडवाना की राजपूत स्त्रियों ने जौहर किया था।[1] मुस्लिम समाज में भी इस प्रकार का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। तैमूर के आक्रमण के समय भटनेर के गवर्नर कमालुद्दीन ने अपनी सम्पत्ति तथा स्त्रियों को जला कर आक्रमणकारी का सामना किया था।[2]

आमोद प्रमोद

प्रत्येक युग में समाज की आवश्यकताओं के अनुसार आमोद प्रमोद के साधन रहे हैं। डॉ० अशरफ के अनुसार मध्ययुगीन समाज के साधनों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। रज्म (युद्ध प्रणाली) तथा बज्म (सामाजिक मनोरंजन)।[3]

बाह्य मनोरंजन

रज्म के अन्तर्गत कुश्ती, दंगल, तलवार भाजना, तीरन्दाजी, चक्रप्रक्षेपण, जैबलिन प्रक्षेपण इत्यादि आते हैं। तैराकी को भी प्रोत्साहन दिया जाता था।[4] बाबर ने कई नदियों को तैर कर पार किया था।[5]

क्रीड़ा मैदान के खेलों में चौगान सबसे प्रसिद्ध रहा है। मुस्लिम प्रशासन के संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक का विशेष अभिरुचि इस खेल में थी। लाहौर में चौगान खेलते समय उसकी मृत्यु हुई थी।[6] तुर्कों के अतिरिक्त राजपूत तथा अफगान भी इस खेल में रुचि रखते थे।[7] बाबर भी चौगान खेलने का शौक रखता था।[8] अबुल फज्ल के अनुसार अकबर ने इस खेल को विशेष प्रोत्साहन दिया।[9] चौगान के खिलाड़ियों में मीर अशरफ तथा मीर गयासुद्दीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[10] फतेहपुर सीकरी तथा आगरा में इसके लिए मैदान बनाया गया था।

घुड़दौड़ तथा शिकार सल्तनत तथा मुगल काल में काफी प्रचलित थे। परन्तु

1. स्मिथ, पृ० 52
2. अशरफ, पृ० 194
3. वही, पृ० 222
4. वही, पृ० 224
5. वही।
6. रशीद, पृ० 100
7. अशरफ, पृ० 224
8. चोपड़ा, पृ० 65
9. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 219
10. वही, पृ० 151

ये शासक तथा अभिजात वर्ग तक ही सीमित थे। दिल्ली के सुल्तानों ने तो शिकार की व्यवस्था के लिए अमीर-ए-शिकार नामक मन्त्री की नियुक्त की थी।[1] इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन खल्जी, मुहम्मद तुगलुक तथा फीरोज तुगलुक की शिकार खेलने में विशेष रुचि थी।[2] शिकार के लिए पूर्ण व्यवस्था की जारी थी। बर्नी के अनुसार फिरोज तुगलुक को शेर का शिकार खेलने का विशेष शौक था। दिपालपुर, सिरुसती तथा बदायूँ के जंगल शिकार खेलने के लिए प्रसिद्ध थे।[3]

मुगल काल में भी शिकार मनोरंजन का प्रधान साधन था। हाथी, शेर, चीता, भैंस तथा जंगली बकरों का शिकार होता था।[4] शिकार के लिए अनेक पशुओं को प्रशिक्षण दिया जाता था। जहाँगीर ने इंग्लैण्ड तथा काबुल से अच्छे नस्ल के कुत्तों को मँगाया था।[5] अकबर ने एक विशेष प्रकार की शिकार की व्यवस्था की थी, जिसे कमरगा कहते थे।[6] अबुल फज्ल ने हाथी तथा चीते के शिकार का विस्तृत उल्लेख किया है।[7] मुगल सम्राटों को चिड़ियों के शिकार का भी बड़ा शौक था।[8] जहाँगीर मछलियों के शिकार का शौकीन था। एक बार उसने अकेले 766 मछलियों को पकड़ा था।[9]

मुगल सम्राट् नाव द्वारा भी मनोरंजन करते थे। बजरा को चलाने के लिए सुन्दर रंगीन डाँड़ा बनाया गया था। सम्राट् बीच में और उसके चारों ओर अमीर बैठते थे।[10]

प्राचीन काल से ही जानवरों की लड़ाई शासकों के लिए मनोरंजन का साधन रही है। दिल्ली के सुल्तानों ने इसमें विशेष रुचि नहीं ली, परन्तु मुगल सम्राट् जानवरों के युद्ध में विशेष रुचि लेते थे।[11] हाथी, चीता, सूअर और बैलों की लड़ाई

1. रशीद, पृ० 101
2. वही।
3. वही, पृ० 103
4. चोपड़ा, पृ० 69
5. सर टामस रो, पृ० 182
6. चोपड़ा, पृ० 69
7. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 293
8. चोपड़ा, पृ० 71
9. तुजक-ए-जहाँगीरी, अनुवाद लो० पृ० 188
10. चोपड़ा, पृ० 72-3
11. वही, पृ० 73

होती थी। बाबर ने अपनी आत्मकथा में हाथियों की लड़ाई का उल्लेख किया है।[1] आगरा, दिल्ली तथा फतेहपुर शिकारी में जानवरों के युद्ध के लिए बड़े-बड़े मैदानों की व्यवस्था की गई थी।[2]

साधारण जनता शासक और अमीर वर्ग जादूगरों की करामात से मनोरंजन करते थे। जहाँगीर ने कई नटों, सपेरों तथा जादूगरों को बंगाल से बुलाया था। राजमहल की स्त्रियाँ भी इस मनोरंजन को देखती थीं।[3] इसके अतिरिक्त संगीत तथा नृत्य से भी मनोरंजन होता था। उल्लेखनीय है कि सम्राट् औरंगजेब ने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह इस्लाम विरोधी था। उसने नर्तकियों को आदेश दिया कि वे शादी कर लें, नहीं तो उसके साम्राज्य के बाहर चले जायँ।[4] जहाँगीर और शाहजहाँ ने संगीत तथा नृत्य को विशेष प्रोत्साहन दिया था।[5]

अन्तःगृह मनोरंजन

मध्ययुगीन समाज में कुछ ऐसे आमोद-प्रमोद के साधन थें जिन्हें राजमहल, अमीरों के निवास स्थान तथा साधारण वर्ग के घरों में ही खेला जाता था। इनमें शतरंज सबसे लोकप्रिय रहा है। हसन निजामी[6] तथा अमीर खुसरो[7] ने इसका विस्तृत उल्लेख किया है। अमीर खुसरो के अनुसार भारत ही इस खेल का उद्भवस्थल है। भारतीय इस खेल में विशेष निपुण थे। जायसी के अनुसार चित्तौड़ के किले में राणा रतन सिंह तथा अलाउद्दीन खल्जी के बीज शतरंज के खेल का प्रबन्ध हुआ था।[8]

भारतीय समाज में ताश तथा चौपाल का प्रचलन रहा है। बाबर ने सबसे पहले ताश खेलने का प्रचलन किया।[9] परन्तु डॉ० चोपड़ा के अनुसार भारत में इस खेल का प्रचलन पहले से ही रहा है। कार्ड पर अश्वपति, गजपति, नरपति तथा गढ़पति का उल्लेख मिलता है।[10] सम्राट् अकबर नें उन पत्तियों पर कुछ विशेष

1. बाबरनामा, अनुवाद, जे० एस० किंग, पृ० 631
2. चोपड़ा, पृ० 75
3. वही, पृ० 77
4. वही।
5. वही।
6. पंजाब युनिवर्सिटी जनरल 1963, पृ० 122-23
7. इजाज-ए-खुसखी 2, पृ० 291-94; 294-304
8. उद्धृत, अशरफ, पृ० 234
9. वही, पृ० 236
10. चोपड़ा, पृ० 57

आकृतियों को बनवाकर इस खेल का नाम चण्डाल मण्डप रखा।[1] सम्राट् हुमायूँ अपनी माँ के साथ यह खेल खेलता था।

अन्तःगृह आमोद-प्रमोद में बिसात-ए-निशात का भी उल्लेख है। इसे मनोरंजन का गलीचा भी कहते हैं।[2] एक चक्र बनाकर उसका विभाजन नक्षत्रों के आधार पर किया जाता था। सात नक्षत्रों के अनुसार सैय्यद, उलेमा तथा अधिकारी बैठकर खेलते थे। इसकी गोटी मानव आकृति के विभिन्न स्वरूपों में होती थी। गोटी मारने वाले को उसकी आकृति के अनुसार बैठना पड़ता था।[3]

पचीसी प्राचीन हिन्दू खेल था। अकबर फतेहपुर सीकरी तथा आगरा के किले में एक चौकोर संगमरमर पर इसके चिह्नों को अंकित कराकर दासियों को उस स्थान पर खड़ा कराकर खेलता था।[4] इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन समाज में गोटी खेलने की प्रथा रही है।

जश्न भी मनोरंजन का साधन था। इस अवसर पर वाद्य तथा मौखिक संगीत का आयोजन होता था।[5] इस मनोरंजन का कार्यक्रम रात भर चलता था। मुगल सम्राट् अतिथियों के आगमन पर इस प्रकार का आयोजन करते थे। इस अवसर पर नृत्य, गान, शराब पीने का प्रबन्ध रहता था।[6] हुमायूँ ने इस प्रकार का जश्न यमुना नदी में बड़ी-बड़ी नावों एवं बजरे पर किया था। इसी अवसर पर नृत्य एवं संगीत का आयोजन भी होता था।[7] अधिकांश जश्न राजमहल एवं दरबार में ही मनाया जाता था।

इसके अतिरिक्त शासक वर्ग तथा अमीर वर्ग अपने मनोरंजन के लिए अनेक कथाकारों तथा संगीतकारों को भी दरबार में रखते थे।[8]

साधारण वर्ग का मनोरंजन

साधारण वर्ग का जीवन इतना अधिक सुखमय नहीं था कि वे अपने

1. अशरफ, पृ० 235
2. चोपड़ा, पृ० 60
3. वही, पृ० 61
4. वही।
5. अशरफ, पृ० 229
6. वही, पृ० 231
7. वही।
8. चोपड़ा, पृ० 80

व्यक्तिगत जीवन में आमोद-प्रमोद की व्यवस्था कर सकें। फिर भी कुछ अवसरों पर उनका मनोरंजन हो जाता था। सुल्तान तथा मुगल सम्राट् जब कभी विजय से लौटते थे तो राजधानी में खुशी मनाई जाती थी।[1] खलीफा द्वारा शासन की मान्यता प्राप्त करने पर इल्तुतमिश के आदेशानुसार राजधानी की जनता ने खुशी मनाई थी।[2] मुहम्मद तुगलुक के राज्याभिषेक के समय भी खुशी मनाई गई।[3]

कभी-कभी हिन्दू समाज में राम लीला तथा कृष्ण लीला का आयोजन होता था। परन्तु इस प्रकार की सुविधा केवल मुगल काल में ही प्राप्त थी।[4] शाहजहाँ के शासनकाल में नाटक का भी आयोजन होता था।[5]

मुशायरा तथा कौव्वाली का आयोजन सूफी सन्त करते थे। उनके यहाँ संगीत समारोह का प्रायः आयोजन होता रहता था।[6] साधारण के लिए यह मनोरंजन का विषय होता था। मुगल काल में ऐसे समारोहों का अभाव नहीं था।[7]

मुगल सम्राटों ने मीनाबाजार का आयोजन किया था। अकबर ने इसे विशेष प्रोत्साहन दिया। अकबर तथा मुगल हरम की स्त्रियाँ खरीद के लिए स्वयं इस बाजार में जाती थीं।[8] अबुल फज्ल के अनुसार खरीद करना अकबर का एक बहाना था। वह बाजार भाव की जानकारी के लिए मीना बाजार में आता था।[9] इस बाजार में साधारण के प्रवेश को सुविधा थी।

इसके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर मेलों का आयोजन होता था। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार भारतीय ग्रामीण जीवन के लिए यह सबसे खुशी का अवसर होता था।[10]

---

1. रशीद, पृ० 105
2. वही, पृ० 106
3. आगा मेहदी हुसेन, पृ० 99
4. चोपड़ा, पृ० 79
5. वही, पृ० 80
6. रशीद, पृ० 105-6
7. चोपड़ा, पृ० 80
8. अशरफ, पृ० 232
9. अकबरनामा 1, पृ० 200-1
0. हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब 5, पृ० 471-73

त्यौहार तथा मेला

भारतवर्ष में धार्मिक त्यौहार तथा मेला सर्व साधारण के लिए आनन्द का अवसर होता था। अनेक शासक आये और गए, प्राकृतिक प्रकोप के कारण जनता को असहाय कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु वह इन सभी कष्टों के बावजूद भी बड़े उत्साह से त्यौहार तथा मेलों में आनन्द का अनुभव करती रही। सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तन भी इनके अस्तित्व को समाप्त न करके प्रत्येक युग ने इसके महत्व की अभिवृद्धि ने अपना योगदान दिया है।[1] इस अवसर पर सभी वर्गों के लोग खुशी मनाते थे।

मुस्लिम त्योहार

मुस्लिम त्योहारों की कमी का प्रमुख कारण इस्लाम धर्म की रूढ़िवादिता है।[2] भारतीय परिवेश में मुस्लिम समाज परिवर्तित हुआ तथा मुसलमानों ने धार्मिक त्योहारों के अतिरिक्त अन्य अवसर खुशी मनाने के लिए खोज निकाले।[3] और उसके रूढ़िवादी स्वरूप में परिवर्तन हुआ।[4]

इदुल-अजाह

यह एक महत्वपूर्ण त्योहार है। इस अवसर पर अल्लाह के आदेशानुसार इब्राहीम अपने पुत्र इस्माइल के बलिदान के लिए तैयार हो गये थे। इस अवसर पर स्नान करके तथा साफ वस्त्र पहन कर मुसलमान शहर के बाहर ईदगाह में सामूहिक रूप से नमाज पढ़ते हैं। घर लौटने पर कुरबान की रीति का पालन करते हैं। शाहजहाँ इस अवसर पर जानवरों की कुरबानी करता था।[5] इसे बकरीद भी कहते हैं। मुगल सम्राट जहाँगीर स्वयं अपने हाथों से बकरों की कुरबानी करता था।[6] ईदगाह के नमाज में सम्राट सर्व साधारण के साथ उपस्थित होकर नमाज पढ़ता था।[7] उसके सामने मस्जिद की सीढ़ी के पास ऊँट की कुरबानी की जाती थी।[8]

---

1. अशरफ, पृ० 237
2. यासीन, पृ० 53
3. वही।
4. अशरफ, पृ० 240
5. यासीन, पृ० 54
6. चोपड़ा, पृ० 105
7. अकबरनामा 2, पृ० 31
8. चोपड़ा, पृ० 106

इदुल फित्र

यह त्योहार रोजा तोड़ने के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। रमजान के अन्त में इसका अवसर आता है। रमजान के रोजा की सकुशल समाप्ति के बाद लोग एक दूसरे को धन्यवाद तथा उपहार देते हैं।[1] मुस्लिम समाज में इसे विशेष खुशी का अवसर माना जाता है। सल्तनत काल में सिकन्दर लोदी इस शुभ अवसर पर अनेक कैदियों को बन्दीगृह से मुक्त करने का आदेश स्वयं अपने लेखनी से लिखता था।[2] मुगल काल में चाँद देखने की सूचना तोपों के आवाज से दी जाती थी।[3] ईद के शुभ अवसर पर सम्राट जहाँगीर स्वयं ईदगाह में उपस्थित होकर सामूहिक नमाज में भाग लेता था।[4] गरीबों को दान दिया जाता था। शाहजहाँ ने अपने पिता की नीति का पालन किया। औरंगजेब ईद के अवसर पर विशेष उत्साह दिखाता था। वह प्रांतीय गवर्नरों को इस त्योहार को मनाने के लिए आदेश भेजता था।[5]

मुहर्रम

इस्लामी वर्ष का पहला महीना मुहर्रम है। इस महीने के प्रथम दस दिनों तक शोक मनाया जाता है। पैगम्बर मुहम्मद के द्वितीय पौत्र शहीद हजरत इमाम हुसेन की पुण्य स्मृति में यह शोकपूर्ण त्योहार मनाया जाता है।[6] डॉ० अशरफ के अनुसार सल्तनत काल में एक निश्चित सीमा के बाहर यह त्योहार कभी नहीं मनाया गया।[7] ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि औरंगजेब ने अपने शासन काल में मुहर्रम पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।[8]

शब-ए-बरात

साबान महीने की चौदहवीं रात को यह त्योहार मनाया जाता है। मुसलमानों का विश्वास है कि भावी वर्ष का सुख तथा वैभवपूर्ण जीवन अल्लाह इसी रात को निश्चित करते हैं।[9] आतिशबाजी का कार्यक्रम सम्पूर्ण रात्रि तक चलता है। फिरोज

1. चोपड़ा, पृ० 103
2. रशीद, पृ० 123
3. चोपड़ा, पृ० 104
4. वही।
5. वही, पृ० 105
6. रशीद, पृ० 121
7. अशरफ, पृ० 243
8. ट्रेवर्नियर 2, पृ० 177
9. रशीद, पृ० 122

तुगलुक के शासन काल में यह कार्यक्रम चार रात्रि तक चलता था।[1] अमीर खुसरो के अनुसार अधिक आतिशबाजी में रात्रि दिन की तरह मालूम पड़ती थी।[2] जहाँगीर इस अवसर पर प्रीतिभोज तथा शराब का आयोजन करता था।[3] शाहजहाँ सम्पूर्ण रात्रि नमाज पढ़ने हुए व्यतीत करता था।[4]

पैगम्बर मुहम्मद का जन्म तथा मृत्यु दिवस

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पैगम्बर साहब का जन्म रबीउल अब्बल माह के बारहवें दिन हुआ था।[5] इसे मिलद-ए-शरीफ के रूप में मनाया जाता है। सम्भवतः इसी दिन उनकी मृत्यु भी हुई थी, इसे अर्स कहते हैं।[6] गुजरात का सुल्तान मुजफ्फर शाह द्वितीय उनके जन्म के दिन दान स्वरूप मिठाई तथा भोजन बँटवाता था। वह प्रीतिभोज के अवसर पर स्वयं भोजन बाँटता था। हाथ धोने के लिए पानी था।[7] बारहवें दिन वह मक्का के शरीफ की भाँति सभी को भोजन पर बुलाता था।[8] सम्राट अकबर भी इस दिन प्रीति भोज का आयोजन करता था।[9] शाहजहाँ भी रबी-उल-अव्वल के बारहवें दिन मजलिस-ए-मिलद पर प्रीतिभोज का आयोजन करता था और उलेमा के बीच दरी बैठता था।[10]

नौ रोज

मुगल काल में एक ईरानी त्योहार का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, जिसे नौरोज कहते हैं।[11] यह वसंत ऋतु का त्योहार था। इसे बड़े बगीचों तथा नदी के किनारे संगीत और फूलों के बीच मनाया जाता था।[12] यह केवल उच्च वर्ग का पर्व था।

1. अशरफ, पृ० 242
2. उद्धृत, अशरफ, पृ० 242
3. तुजुक-ए-जहाँगीरी 1, पृ० 385
4. बादशाहनामा 1, पृ० 364
5. यासीन, पृ० 59
6. वही।
7. बेली, मिरात-ए सिकन्दरी, पृ० 121
8. वही, पृ० 269
9. तबकात-ए-अकबरी, अनु० 2, पृ० 520
10. बादशाहनामा, 1; पृ० 539
11. अशरफ, पृ० 241
12. वही।

डॉ० अशरफ के अनुसार सम्राट हुमायूँ ने नौरोज मनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।[1] परन्तु नौरोज के अवसर पर प्रीतिभोज का आयोजन होता रहा। औरंगजेब ने तो इस पर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके स्थान पर उसने रमज़ान के बाद इदुल फित्र को शासकीय त्योहार का रूप प्रदान किया। इसे नीशात-ए-अफरोज जस्न कहते थे।[2] जहाँगीर के विषय में कहा जाता है कि वह गुलाब फोशी त्योहार मनाता था। सभी लोग गुलाब जल छिड़क कर आनन्द मनाते थे।[3]

इन त्योहारों के अतिरिक्त कुछ सूफी सन्तों के उर्स तथा खिज्री त्योहार भी मनाने की प्रथा मध्ययुगीन मुस्लिम समाज में थी। मुगलों के आगमन के साथ समाज में अनेक परम्पराओं और पर्वों का प्रचलन हुआ। हिन्दुओं की भाँति हुमायूँ तुलादान करता था। अकबर जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में होली दशहरा तथा वसन्त पंचमी के त्योहार मनाये जाते थे,[4] परन्तु औरंगजेब ने हिन्दू त्योहारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

हिन्दू त्योहार

अधिकांश हिन्दू त्योहारों का आधार धर्म रहा है। रामनवमी तथा जन्माष्टमी राम तथा कृष्ण के जन्म दिन के उपलक्ष्य में मनाये जाते थे। सम्पूर्ण देश में प्रायः एक ही तरह के व्यवहार मनाने की परम्परा रही है, परन्तु स्थानीय तथा भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव उन पर पड़ा है।

बसंत पंचमी

माघ शुक्ल पक्ष पंचमी को वसंत ऋतु के आगमन के उपलक्ष्य में यह त्योहार बड़े धूम धाम से मनाया जाता है।[5] इस अवसर पर सरस्वती की पूजा का प्रचलन सम्पूर्ण देश में, और विशेषरूप से बंगाल में रहा है। इस अवसर पर नाच गाना तथा पूजा का आयोजन होता है।[6]

---

1. अशरफ, पृ० 241।
2. यासीन, पृ०
3. वही।
4. चोपड़ा, पृ०
5. वही, पृ० 95
6. वही।

शिवरात्रि

शिवरात्रि को शंकर पार्वती के विवाह के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। हिन्दू समाज के स्त्री पुरुष शंकर की पूजा करते हैं। शंकर के साथ पार्वती की भी अर्चना की जाती है।[1]

होली

होली हिन्दुओं के सभी वर्ग का सबसे लोकप्रिय त्योहार माना जाता है।[2] होलिका दहन के दूसरे दिन सभी लोग दोपहर तक पानी का रंग तथा शाम को गुलाल खेलते हैं।[3] मुगल काल के यूरोपीय यात्रियों ने इस त्योहार का विस्तृत उल्लेख किया है।[4] मलिक मुहम्मद जायसी के अनुसार गुलाल का इतना अधिक प्रयोग होता है कि सम्पूर्ण आकाश हो लाल दिखाई देता है।[5] इस दिन सभी अमीर-गरीब नाच-गान के साथ इस लोकप्रिय त्योहार को मनाते हैं। सम्भवतः इतना उत्साह हिन्दुओं को किसी अन्य त्योहार में नहीं दिखाई देती है।

दशहरा

विजय दशमी हिन्दू समाज में क्षत्रियों का त्योहार माना जाता है। परन्तु समाज के सभी वर्ग के लोग इस त्योहार को बड़े धूम धाम से मनाते हैं।[6] इसी दिन भगवान रामचन्द्र ने रावण पर विजय प्राप्त की थी।[7] राजाओं के सैनिक अभियान के लिए यह शुभ अवसर माना जाता है।[8] मुगल सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में यह त्योहार धूम धाम से मनाया जाता था। मुगल सम्राट स्वयं इस त्योहार में सम्मिलित होते थे। अकबर सुसज्जित हाथियों का जुलूस निकालता था।[9] जहाँगीर इसी दिन हिन्दुओं को विशेष उपहार तथा सम्मान से विभूषित

---

1. वही, पृ० 239
2. आइन-ए-अकबरी 3, पृ० 321
3. अशरफ, पृ० 238
4. चोपड़ा, पृ० 96
5. उद्धृत अशरफ, पृ० 238
6. चोपड़ा, पृ० 97
7. अशरफ, पृ० 239
8. आइन-ए-अकबरी 3, पृ० 317-21
9. चोपड़ा, पृ० 239

करता था।[1]

शक्ति के उपासक दस दिन दुर्गा की आराधना करते हैं।[2] नौ दिनों तक दुर्गा पूजा करने के बाद देवी की प्रतिमा का विसर्जन किसी नदी में करते हैं।

दीवाली

दीवाली अथवा दीपावली का शाब्दिक अर्थ दीप-पंक्ति है। यह त्योहार कार्तिक कृष्ण पक्ष अमावस्या को मनाया जाता है। इसके पहले घरों की सफाई तथा सफेदी की जाती है। सायंकाल दीप जलाने के बाद गणेश तथा लक्ष्मी की पूजा की जाती है। इस अवसर पर आतिशबाजी तथा मिठाइयों का वितरण भी होता है।[3] जुआ खेलना इस अवसर पर शुभ माना जाता है। सम्पूर्ण रात्रि लोग अपने भाग्य की आजमाइश करते हैं।[4] दीवाली के त्योहार में अकबर विशेष रुचि लेता था। सम्राट-जहाँगीर स्वयं जुआ खेलता था और दो अथवा तीन रात्रि तक जुआ खेलने की अनुमति अपने कर्मचारियों को देता था।[5]

दीवाली के बाद गोवर्धन पूजा होती है। इस अवसर पर गायों को नहलाकर सुसज्जित किया जाता है।[6] गोवर्धन की पूजा में स्त्रियाँ अपने प्रियजनों को आयु वृद्धि की शुभ कामना करती हैं।

रक्षा बंधन

हिन्दुओं के त्योहार में रक्षाबन्धन का विशेष महत्व है। श्रावण पूर्णिमा को यह पर्व मनाया जाता है।[7] इस अवसर पर बहन भाई के हाथों में राखी बाँधकर अपनी रक्षा के लिए वचन माँगती है। असामाजिक तत्वों तथा दैवी प्रकोप के समय रक्षा की भिक्षा माँगती हैं। ब्राह्मण तथा पुरोहित भी अपने संरक्षकों के हाथों में राखी बाँधते हैं। मेवाड़ की महारानी कर्मवती ने हुमायूँ के पास राखी भेजकर बहादुर शाह के आक्रमण के समय सहायता माँगी थी।[8] राखीबंध भाई के रूप में

1. चोपड़ा, पृ० 98
2. अशरफ, पृ० 239
3. चोपड़ा, पृ० 98
4. आइन-ए-अकबरी 1, पृ० 221
5. तुजुके जहाँगीरी, अनुवाद राजर्स, पृ० 246
6. चोपड़ा, पृ० 99
7. वही, पृ० 96
8. जे० चौबे, हिस्ट्री ऑफ गुजरात किंगडम, पृ० 286

रानी की सहायता के लिए हुमायूँ ने प्रस्थान किया, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण उचित समय पर सहायता न कर सका।[1] अकबर भी रक्षाबंधन के त्योहार में रुचि लेता था अपने हाथों में राखी बँधवाता था।[2] अबुल फज्ल के अनुसार राजकीय कर्मचारी सम्राट् के हाथों में बहुमूल्य जवाहरातों की राखी बाँधते थे।[3] जहाँगीर ने आदेश दिया था कि हिन्दू अमीर तथा परिवार के श्रेष्ठ व्यक्ति उसके हाथों में राखी बाँधेंगे।[4]

अन्य पर्व

उपर्युक्त त्योहारों के अतिरिक्त हिन्दू समाज में अनेक छोटे-छोटे पर्वों का प्रचलन रहा है। सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण के अवसर पर भारी संख्या में हिन्दू पवित्र नदियों में स्नान करते हैं।[5] हरद्वार, काशी, प्रयाग और अन्य प्रमुख तीर्थ स्थानों पर स्नान होता रहा है। राम, कृष्ण, परशुराम के जन्म दिन मनोरंजन के विशेष अवसर माने जाते हैं।[6] चैत शुक्लपक्ष की नवमी को रामचन्द्र का जन्म और भाद्र कृष्णपक्ष अष्टमी भगवान् कृष्ण का जन्म मनाया जाता है। इस अवसर पर भजन, कीर्तन के साथ खुशी मनाई जाती है। पुरी में जगन्नाथ की रथयात्रा पर विशेष आनन्द मनाया जाता है।[7] मथुरा (ब्रज) में कृष्ण लीला का आयोजन अत्यन्त मनोरंजक होता है।[8] उसके अतिरिक्त आश्विन शुक्ल पक्ष में दशहरा के पहले रामायण के आधार पर रामलीला का आयोजन होता है। समय-समय पर हिन्दू तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। इस प्रकार हिन्दुओं का सम्पूर्ण वर्ष अनेक त्योहारों से भरा है।

•

---

1. जे० चौबे, हिस्ट्री ऑफ गुजरात किंगडम, पृ० 286
2. बदायुँनी 2, पृ० 261-62
3. आइन-ए-अकबरी, 3, पृ० 319
4. तुजके-ए-जहाँगीर, अनुवाद राजर्स, पृ० 246
5. चोपड़ा, पृ० 99
6. अशरफ, पृ० 239
7. वही, पृ० 240
8. वही।

ग्रन्थ सूची

अरबी और फारसी

अबुल फज्ल : **आइने अकबरी** अंग्रेजी अनुवाद एच० ब्लाकमैन, जिल्द 1, कलकत्ता, 1867-69; एच० एस० जैरेट, जिल्द 2 व 3, 1868-94

अमीर खुसरो : **हश्त बिहिश्त**, अलीगढ़, 1918
: **इजाजे खुसरवी**, लखनऊ, 1875-76
: **किरानुस्सदायन**, लखनऊ, 1884
: **खजायनुलफुतूह**, सम्पादित मोइनुलहक, अलीगढ़, 1918
: **मजनूं लैला**, सम्पादित मौलाना हबीबुर्रहमान खाँ शेरवानी अलीगढ़, 1335 (हिजरी)।
: **देवलरानी खिज्र खाँ**, सम्पादित रशीद अहमद सलीम, अलीगढ़, 1917
: **तुगलुकनामा**, सम्पादित सैय्यद हाशिम फरीदाबादी, औरंगाबाद, 1933

अहमद यादगार : **तारीखे सलातीने अफगाना**, सम्पादित हिदायत हुसैन, कलकत्ता, 1939

अब्दुल कादिर बदायुंनी : **मुन्तखबुत्तवारीख**, सम्पादित लीस, अहमद और अली, जिल्द 3, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द 1, रैंकिंग, जिल्द 2, लोव, जिल्द 3, हेग, कलकत्ता, 1884-1925

आबूरिहान अलबरूनी : किताबुल हिन्द, अंग्रेजी अनुवाद, ई० सखाऊ 'अलबरूनीज इण्डिया', लन्दन, 1910

आबू युसूफ : **किताबुलखराज**, काहिरा, 1884

इब्नबतूता : **किताबुररेहला**, जिल्द 4, संक्षिप्त, अंग्रेजी अनुवाद एच० ए० आर० गेब, लन्दन, 1929; अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द 2; आगा मेहदी हुसेन, बड़ौदा, 1953; उर्दू अनुवाद जिल्द 2; के० बी० मौलवी मुहम्मद हुसेन, दिल्ली, 1345, (हिजरी)

ईसामी : **फुतूहुस्सलातीन**, सम्पादित, आगा मेहदी हुसेन, आगरा, 1938, सम्पादित एम० उषा, मद्रास, 1948

गुलबदन बेगम : **हुमायूंनामा**, सम्पादित श्रीमती बेवरिज, रायल एशियाटिक सोसाईटी, 1902

ज़ियाउद्दीन बर्नी : **तारीखे फीरोजशाही**, सम्पादित सर सैय्यद अहमद खाँ, कलकत्ता, 1862

: **फतवाये जहाँदारी**, अंग्रेजी अनुवाद; प्रो० मुहम्मद हबीब और डॉ० अफसार सलीम खाँ, "दि पोलिटिकल थ्योरी ऑफ दि देहली सल्तनत", अलीगढ़, 1969

निजामुद्दीन अहमद : **तबकाते अकबरी**, जिल्द 3, सम्पादित बी० डे० और मुहम्मद हिदायत हुसेन, कलकत्ता, 1913–27, 1931, 1941; अंग्रेजी अनुवाद, बी० डे० और बी० प्रसाद, कलकत्ता, 1913–40

फवायेदुलफुवाद : शेख निजामुद्दीन औलिया का संभाषण, संग्रहीत, अमीर-हसन आला सिजी, लखनऊ, 1303 (हिजरी)

फुतुहाते फीरोजशाही : फीरोज तुगलुक, अलीगढ़, 1943; अंग्रेजी अनुवाद, शेख अब्दुर रशीद और एम० ए० मखदूमी; हिन्दी अनुवाद, एम० उमर, अलीगढ़, 1957

बाबरनामा : **तुजुके बाबरी**, बाबर की आत्मकथा, अंग्रेजी अनुवाद, जे० लीडन और अर्सकीन आक्सफर्ड, 1921

मिनहाजुससिराज : **तबकाते नासिरी**, सम्पादित लीस, खादिम हुसेन और अब्दुलहई, कलकत्ता, 1863–64, अंग्रेजी अनुवाद, एच० जी० रेवर्टी, जिल्द 2, कलकत्ता, 1873–77

मुहम्मद कासिम फरिश्ता : **तारीखे फरिश्ता**, लखनऊ, 1905, अंग्रेजी अनुवाद, जे० ब्रिग्स, 'राईज ऑफ मोहमडन पावर इन इण्डिया', जिल्द 4, लन्दन, 1827–29, पुनःमुद्रण, कलकत्ता, 1966

मुहम्मद हासिम खाफी खाँ : **मुन्तखबुललुबाब**, कलकत्ता, 1874

याह्याबिन अहमद सरहिन्दी : **तारीखे मुबारकशाही**, सम्पादित हिदायत हुसेन, कलकत्ता, 1931, अंग्रेजी अनुवाद, के० के० बसु, बड़ोदा, 1932

शम्ससीराज अफीफ : **तारीखे फीरोजशाही**, कलकत्ता, 1890, सम्पादित विलायत हुसेन, कलकत्ता, 1888–91

सफीनतुलऔलिया : द्वारा दाराशिकोह, लखनऊ, 1872

हाजीउद्–दबीर : जफरुलवालेह बि० मुजफ्फर वा आलिह, सम्पादित अंग्रेजी अनुवाद, ई० डी० रास, 'एन अरेबिक हिस्ट्री ऑफ गुजरात', लन्दन, 1921

संस्कृत और हिन्दी के मूल ग्रन्थ

अपरार्क : याज्ञवलक्य स्मृति पर भाष्य, पूना, 1903–4

अर्थशास्त्र : कौटिल्य, सम्पादक, आर० शामाशास्त्री, मैसूर, 1919

उपनिषद् : उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; गीता प्रेस, गोरखपुर बृहदारण्यक उपनिषद्, छांदोग्य उपनिषद्, ईसावास्य उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, केन उपनिषद्, कठ उपनिषद्, श्वेताश्वे उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्

कल्हण : राजतरंगिणी, एम० ए० स्टीन, जिल्द 2, 1900, वाराणसी, 1961; आर० एस० पण्डित, 1935

कात्यायन स्मृति : सम्पादक, नारायण चन्द्र, बंद्योपाध्याय, कलकत्ता, 1917

कामन्दक नीतिसार : सम्पादक, आर० मित्र, कलकत्ता, 1884

गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित, आनंदाश्रम, संस्कृत सीरोज, 1910

चण्डेश्वर : स्मृति रत्नाकर, कृत्य रत्नाकर, सम्पादक, पं० कमला कृष्ण, स्मृति तीर्थ, कलकत्ता, 1925
: विवाद रत्नाकर, सम्पादक, पं० दीनानाथ विद्यालंकार, कलकत्ता, 1887; अंग्रेजी अनुवाद, जी० सा० सरकार और डो० चटर्जी, कलकत्ता, 1899

चन्द बरदाई : पृथ्वीराज रासो, सम्पादक, एम० बी० पाण्ड्या और एस० एस० दास, बनारस, 1904

नारद स्मृति : सम्पादक, जोली, कलकत्ता, 1885

पराशर स्मृति : बम्बई, 1911

पाणिनि : अष्टाध्यायी, निर्णयसार प्रेस, 1929

पुराण : भागवतपुराण, श्रीधर टीका सहित, कलकत्ता

फोर्ब्स : रासमाला, सम्पादक, एच० जी० रालिन्सन, आक्सफोर्ड, 1924

बाणभट्ट : हर्ष चरित, अनुवाद कावेल और टामस, 1897
: कादम्बरी, सम्पादक, रामचन्द्र काले, बम्बई

भोज : समरांगणसूत्रधार और योगसूत्र, सम्पादक, ढुण्ढिराज शास्त्री, वाराणसी, 1930
: युक्ति कल्पतरु, कलकत्ता 1917

मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई, 1946
: मेधातिथि की टीका के साथ, कलकत्ता, 1932

महाभारत : नीलकण्ठ की टीका सहित, पूना, 1929–33

मलिक मुहम्मद जायसी : पद्मावत, सम्पादक, जी० ए० ग्रियर्सन और एस० द्विवेदी, कलकत्ता, 1886–1911

राजशेखर : कर्पूरमंजरी, कलकत्ता, 1948

रामायण : मद्रास, 1933

लक्ष्मीधर : कृत्य कल्पतरु, 11 खण्ड, बड़ोदा, 1941–53

विष्णु धर्मसूत्र : संपादक, जोली, कलकत्ता, 1881

शुक्रनीतिसार : मद्रास, 1882, अंग्रेजी अनुवाद, एम० एन० दत्ता, कलकत्ता, 1896

मुहनोत नैन्सी : ख्यात, जिल्द 2; हिन्दी अनुवाद, आर० एन० डूगर, संपादक, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, सं० 1982

आधुनिक ग्रन्थ

उर्दू

अब्दुल्ला : आदाबियाते फारसी में हिन्दुओं का हिस्सा, दिल्ली, 1942

जकाउल्ला : तारीखे हिन्दुस्तान, जिल्द 3, दिल्ली, 1875

महमूद शेरानी : पंजाब में उर्दू, लाहौर, 1928

मौलवी अबुल हसनत नदवी : हिन्दुस्तान के कादिम इस्लामी, अलीगढ़, 1324–37 (हिजरी)

सैय्यद अहमद खाँ : आसारुससनादीद, दिल्ली, 1854

हिन्दी

उमेश जोशी : **भारतीय संगीत का इतिहास**, फिरोजाबाद, 1957

गौरीशंकर हीराचंद ओझा : **राजपूताना का इतिहास**, अजमेर 1927
मध्य कालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 1951

जयशंकर मिश्र : **ग्यारहवीं सदी का भारत**, वाराणसी, 1970
प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1974

सावित्री सिनहा : **मध्य कालीन हिन्दी कवयित्रियां**, दिल्ली, 1953

सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी : **आदि तुर्क कालीन भारत**, अलीगढ़, 1956
: **उत्तर तैमूर कालीन भारत**, जिल्द 2, अलीगढ़, 1956-57
: **खल्जी कालीन भारत**, अलीगढ़, 1955
: **तुगलुक कालीन भारत**, जिल्द 2, 1956-57

अंग्रेजी

अजीज अहमद : **स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दि इण्डियन एन-वायरनमेण्ट**, आक्सफोर्ड, 1964
: **पोलिटिकल हिस्ट्री एण्ड इन्स्टीट्यूशन ऑफ दि अर्ली टर्किश एम्पायर ऑफ देहली**, लाहौर, 1949

अब्दुल करीम : **सोशल हिस्ट्री ऑफ दि मुस्लिम इन बंगाल**, ढाका, 1959

असितकुमार सेन : **पीपुल एण्ड पालिटिक्स इन अर्ली मेडिवल इण्डिया**, (1206-1398) कलकत्ता, 1963

अवधबिहारी पाण्डे : **दि फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इण्डिया**, कलकत्ता, 1956

असगर अली कादिरी : **हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य कला शैली**, आगरा, 1963

अहमद शाह : **दि बीजक ऑफ कबीर**, हमीदपुर, 1917

आई० एच० कुरेशी : **दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देहली**, लाहौर, 1942
: **दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर**

आई० एच० हल्टन : **कास्ट्स इन इण्डिया**, कैम्ब्रिज, 1946

आर० एच० मेजर : **इण्डिया इन दि फिफ्टीन्थ सेन्चुरी**, लन्दन, 1857

आर० पी० खोसला : **मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी**, इलाहाबाद, 1934

आर० जकारिया : रजिया, क्वीन ऑफ इण्डिया, बम्बई, 1966

आर० लेवी : दि सोशल स्ट्रक्चर ऑफ इस्लाम, कैम्ब्रिज, 1957

आर० सी० मजुमदार : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल, जिल्द 4, 5 और 6, भारतीय विद्या-भवन बम्बई, 1947-67

आर० के० मुकर्जी : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मारटाइम एक्टिविटी फ्राम दि अर्लियेस्ट टाइम्स, बम्बई, 1912

आर० एस० शर्मा : सम इकनामिक ऐस्पेक्टस ऑफ कास्ट सिस्टम इन एशियन्ट इण्डिया, पटना, 1962

आर० नाथ : हिस्ट्री ऑफ डेकोरेटिव आर्ट इन मुग़ल आर्कीटेक्चर, दिल्ली, 1976

: हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्कीटेक्चर, नई दिल्ली, 1978

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर दि ग्रेट, जिल्द 2, आगरा, 1967

मेडिवल इण्डियन कल्चर, आगरा, 1964

दि फर्स्ट टु नवाब्स ऑफ अवध, लखनऊ, 1933

आगा मेहदी हुसेन : तुगलुक डायनेस्टी, कलकत्ता, 1963

इरफान हबीब : दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया, बम्बई, 1963

इब्न हसन : दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल एम्पायर, लन्दन, 1936

ई० जी० ब्राउन : ए लिट्रेरी हिस्ट्री ऑफ पर्शिया, जिल्द 3, कैम्ब्रिज, 1951

इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जिल्द 8, लन्दन, 1887, पुनः मुद्रण, किताब महल, इलाहाबाद, 1964

ई० बी० हेवेल : इण्डियन आर्कीटेक्चर, लन्दन, 1915

ईश्वरी प्रसाद : हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इण्डिया, इलाहाबाद, 1948

ए हिस्ट्री ऑफ करौना टर्क्स, जिल्द 1, इलाहाबाद 1939

दि लाइफ एण्ड टाईम्स ऑफ हुमायूँ, कलकत्ता, 1956

ई० एफ० ओटेन : यूरोपियन ट्रेवेलर्स इन इण्डिया ड्यूरिंग फिफ्टीन्थ, सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरी, लन्दन, 1909

ए० युसूफ अली : मेडिवल इण्डिया सोशल एण्ड इकनामिक कन्डीशन, लन्दन, 1932

ए० एल० बाशम : दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1953

ए० के० कुमारस्वामी : सती, लन्दन, 1913

पी० एन० प्रभु : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई, 1958

ए० रशीद : सोसाईटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इंडिया, कलकत्ता, 1969

ए० एम० ए० शुस्तरे : आउट लाइन्स ऑफ इस्लामिक कल्चर, जिल्द 1 और 2, बंगलोर, 1938

ए० सी० बनर्जी : राजपूत स्टडीज, कलकत्ता, 1944

एम० अतहर अली : दि मुगल नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब, बम्बई, 1970

एम० एलफिन्सटन : हिस्ट्री ऑफ इंडिया, लन्दन, 1857

एम० एल० भग्गी : मेडिवल इंडिया कल्चर एण्ड थाट, अम्बाला, 1965

एलिजाबेथ कपूर : दि हरेम एण्ड दि पर्दा, लन्दन, 1915

एडवर्ड्स एण्ड गैरेट : मुगल रूल इन इंडिया, दिल्ली, 1956

एडवर्ड टामस : दि क्रानिकल्स आफ वि पठान किंग्स ऑफ देहली, लन्दन, 1971

एच० लैमेन्स : इस्लाम इट्स बिलीफ्स एण्ड इन्स्टीट्यूशन, लन्दन 1929

एच० ए० आर० गिब्स एण्ड हराल्ड बोवेन : इस्लामिक सोसाइटी एण्ड दि वेस्ट, जिल्द 1, भाग 2; लन्दन, 1957

एच० जी० कीन : दि, टर्क्स इन इंडिया, लन्दन 1879

एच० जी० रालिंसन : ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री सम्पादक सेलिगमैन, लन्दन, 1937

ए० बी० एम० हबीबुल्ला : दि फाउण्डेशन ऑफ मुस्लिम-रूल इन इंडिया, इलाहाबाद, 1961

एस० एम० जाफर : मेडिवल इंडिया अण्डर मुस्लिम रूल, पेशावर, 1940

: ऐजूकेशन इन मुस्लिम इंडिया, पेशावर, 1936

: सम कल्चरल ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, दिल्ली, 1972

एस० एम० टैगोर : दि कास्ट सिस्टम ऑफ दि हिन्दू, वाराणसी, 1963

एस० एम० युसुफ : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इस्लामिक कल्चर, लाहौर, 1961

एम० खुदाबख्श : कन्ट्रीब्यूशन टु इस्लामिक सिविलिजेशन, कलकत्ता, 1906

एफ० ई० किवी : ए हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान, कलकत्ता, 1959

एफ० पेल्सर्ट : जहाँगीर्स इंडिया, अनुवाद मोरलैण्ड और पीजिल, केम्ब्रिज, 1925

एफ० डब्ल्यू० टामस : म्युचुअल इन्फ्लुयेन्स ऑफ मुहम्मडन एण्ड हिन्दूज इन इंडिया, केम्ब्रिज, 1892

एम० ए० मेकालिफ : दि सिख रिलीजन, जिल्द 6, आक्सफोर्ड, 1909

एम० टी० टाइटस : इस्लाम इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान, कलकत्ता, 1959

: दि रिलीजस क्वेस्ट ऑफ इस्लाम, आक्सफोर्ड, 1930

एल० वर्थेमा : दि ट्रेवेल्स ऑफ, लन्दन, 1863

कालिका रंजन कानूनगो : शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, कलकत्ता, 1865

किशोरी शरण लाल : हिस्ट्री ऑफ दि खल्जीज, इलाहाबाद, 1960

: स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, दिल्ली, 1966

: दि मुगल हरेम, नई दिल्ली, 1988

के० एस० आयंगर : सम कन्ट्रीब्यूशन ऑफ साउथ इंडिया टु इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, 1923

के० एम० अशरफ : लाइफ एण्ड कन्डीशंस ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, दिल्ली, 1959

के० एम० कपाडिया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया, आक्सफोर्ड, 1958

के० टी० शाह - दि स्प्लेन्डर दैट वास इण्ड, बम्बई, 1930

खलिक अहमद निजामी : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग दि थर्टीन्थ सेन्चुरी, अलीगढ़, 1961

जी० एफ० दुरानी : अरब सीफेर्यारिंग इन दि इंडियन ओशन इन एन्शियन एण्ड अर्ली मेडिवल टाइम्स, प्रिंसटन, 1951

जी० ए० ग्रियर्सन : बिहार पीजेन्ट लाइफ, कलकत्ता, 1885

: दि मार्डर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, कलकत्ता, 1888

: स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, इलाहाबाद, 1966

जी० एन० शर्मा : सोशल लाइफ इन मेडिवल, राजस्थान, (1500-1800), आगरा, 1968

जान ब्रिग्स : हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहमडन पावर इन इण्डिया, जिल्द 4, कलकत्ता, 1910

जी० एस० घूर्या : कास्ट एण्ड क्लास इन इंडिया, न्यूयार्क, 1950

: इण्डियन कस्टूयुम्स, बम्बई, 1951

जी० टी० गैरट : लिगेसी ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1937

जे० ई० कार्पेन्टर : थीस्म इन मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1921

जे० चौबे : हिस्ट्री ऑफ गुजरात किंगडम, नई दिल्ली, 1975

जे० बर्जेस : आर्कीटेक्चरल एन्टीक्वीटीस ऑफ नार्दन गुजरात, लन्दन, 1903

जे० बी० चौधरी : मुस्लिम पैट्रोनेज टु संस्कृत लर्निग, कलकत्ता, 1954

जे० एन० फर्कूहार : एन० आउट लाइन ऑफ दि रिलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1920

जे० एन० दासगुप्ता : बंगाल इन दि सिक्स्टीन्थ सेन्चुरी, कलकत्ता, 1924

जे० ए० डुबायस : हिन्दू मैनर्स कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज, आक्सफोर्ड, 1894

जे० टाड : एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, जिल्द 3. आक्सफोर्ड, 1920

जे० फरगूसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, जिल्द 2, लन्दन, 1910

जे० फ्राम्पटन : मार्कोपोलो टुगेदर विथ दि ट्रेवेल्स ऑफ निकोलो कान्टी, सम्पादक एन० एन० पेन्जर, लन्दन, 1929

जे० जोली : हिन्दू ला एण्ड कस्टम्स, अनुवाद बी० घोष, कलकत्ता, 1928

जे० एच० क्रेमर्स : दि लिगेसी ऑफ इस्लाम, आक्सफोर्ड, 1931

जे० सी० ओमन : कल्ट्स कस्टम्स एण्ड सुपरिस्टिशन्स ऑफ इण्डिया, लन्दन 1908

: दि ब्राह्मण थीस्टस एण्ड मुस्लिम ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1907

जे०वी०एस० विलकिन्सन : मुगल पेण्टिंग,, लन्दन, 1948

जेड० फारुकी : औरंगजेब एण्ड हिज टाइम्स, बम्बई, 1935

टी० वी० महालिंगम : एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोशल लाइफ अण्डर, विजयनगर, मद्रास, 1939

टी० के० राय चौधरी, : बंगाल अण्डर अकबर एण्ड जहाँगीर, कलकत्ता, 1953
टी० सी० दासगुप्ता : ऐस्पेक्ट्स ऑफ बंगाली सोसाइटी फाम ओल्ड बंगाली लिटरेचर कलकत्ता, 1947
डब्ल्यू० क्रुक : रिलीजन एण्ड फाकलोर ऑफ नार्दन इण्डिया, लन्दन, 1926
डब्ल्यू० अर्सकीन : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ, जिल्द 2, लन्दन, 1854
डब्ल्यू० फास्टर : अर्ली ट्रेवेल्स इन इण्डिया (1583-1619), लन्दन, 1921
डब्ल्यू० हेग : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 3, 1928
डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड : दि अग्रेरियन सिस्टम ऑफ मोस्लेम इण्डिया, इलाहाबाद, 1929
: फ्राम अकबर टु औरंगजेब, लन्दन, 1923
: इण्डिया ऐट दि डेथ ऑफ अकबर, लन्दन, 1921
डी० पन्त : कार्मशियल पालिसी ऑफ दि मोगल्स, बम्बई, 1930
ताराचन्द : इनफ्लुयेन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, इलाहाबाद, 1963
: सोसाइटी इण्ड स्टेट इन मुगल पीरियड, दिल्ली, 1961
दशरथ शर्मा : लेक्चर्स आन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर, वाराणसी, 1970
नरेन्द्रनाथ झा : प्रमोशन ऑफ लर्निंग इन इण्डिया ड्यूरिंग मुहमडन रूल, लन्दन, 1916
पी० एल० रावत : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एजूकेशन, आगरा, 1956
पी० सरन : दि प्राविंशियल गवर्नमेन्ट अण्डर दि मुगल्स, इलाहाबाद, 1941
: स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, दिल्ली, 1952
पी० ब्राउन : इण्डियन आर्कीटैक्चर, (इस्लामिक पीरियड), बम्बई,
: इण्डियन पेंटिंग, मैसूर; 1930
पी० एन० चोपड़ा : सोसाइटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग मुगल एज, आगरा, 1955
पी० बी० काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 5, पूना, 1930, 1963
पी० एन० ओझा : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ नार्दन इण्डियन सोशल लाइफ, पटना, 1961

पुष्पा नियोगी : **कन्ट्रीब्यूशंस टु दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया फ्राम टेन्थ टु ट्वेल्फथ सेंचुरी**, कलकत्ता, 1962

फ्रायर ओडोरिक : दि ट्रेवेल्स ऑफ फ्रायर ओडोरिकि **ऑफ पोर्दनोन**, (1316-30), अनुवाद, यूल एण्ड कार्दीयर, कैथे, जिल्द 2

फ्रेंसिस ग्लेडविन : दि हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, संपादक, के० बी० आर० आयंगर, मद्रास, 1930

बनारसीप्रसाद सक्सेना : हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, इलाहाबाद, 1958

बर्नियर : ट्रेवेल्स इन दि मुगल एम्पायर, अनुवाद, कान्सटेबल

बारबोसा : दि बुक ऑफ डुरेट बारबोसा, जिल्द 2, लन्दन, 1918-21

बी० डार्न : हिस्ट्री ऑफ दि अफगान्स, भाग 1 और 2, लन्दन, (1829-36)

बी० एन० गंगोली : **रीडिंग्स इन इण्डियन इकनामिक हिस्ट्री**, बम्बई, 1964

बी० पी० मजुमदार : **सोशियो-इकनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया,** (1030-1194 ए० डी०) कलकत्ता, 1961

बी० ए० सेलीटोर : सोशल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन दि विजयनगर एम्पायर (1346-1646) जिल्द, 2, मद्रास, 1934

बी० एस० निज्जर : पंजाब अण्डर दि सुल्तान्स (1000-1526), दिल्ली, 1968

: दि पंजाब अण्डर दि ग्रेट मुगल्स, बम्बई, 1968

माखन लाल राय चौधरी : दि स्टेट एण्ड रिलीजन इन मुगल इण्डिया कलकत्ता, 1951

: दि दीने इलाही, कलकत्ता, 1941

मगन लाल : दीवान ऑफ जेबुन्निसा, लन्दन, 1911

बुद्धप्रकाश : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन कल्चर आन दि ईव ऑफ मुस्लिम इनवेजन, चण्डीगढ़, 1962

बेनी प्रसाद : हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, इलाहाबाद, 1962

मुहम्मद बसीर अहमद : दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इण्डिया, अलीगढ़, 1941

मुहम्मद वाहिद मिर्जा : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ अमीर खुसरो, कलकत्ता, 1935

मुहम्मद नाजिम : दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ सुल्तान महमूद ऑफ गजना, केम्ब्रिज, 1931

मोहम्मद हबीब : सुल्तान महमूद ऑफ गजनीन, दिल्ली, 1951

मोहम्मद यासीन : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया (1605-1748), लखनऊ, 1958

मोहम्मद हबीब एण्ड अफसार सलीम खाँ : पोलिटिकल थ्योरी ऑफ दि देहली सल्तनत, दिल्ली,

मोहम्मद हबीब एण्ड खलीक अहमद निजामी : ए काम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 5, दिल्ली, 1970

यदुनाथ सरकार : चैतन्यस पिलग्रिमेज एण्ड टीचींग्स, कलकत्ता, 1913
: फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर, जिल्द 4, कलकत्ता, 1950
: हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, जिल्द 5, कलकत्ता, 1921-22
: मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, कलकत्ता, 1952

युसुफ हुसेन : गिम्सेज ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर बम्बई, 1959
: इण्डो-मुस्लिम पालिटी, दिल्ली, 1972

यूल : दि बुक ऑफ सरे मार्कोपोलो, जिल्द 2, सम्पादक डी० : रास, लन्दन, 1931

यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1957

रिचर्ड बर्न्स : केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 4, 1937

रामाप्रसाद त्रिपाठी : सम ऐस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, इलाहाबाद, 1956

रेखा मिश्रा : वोमेन इन मुगल इण्डिया, दिल्ली

लइक अहमद : भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद

लेनपूल : मेडिवल इण्डिया अण्डर मुहमडन रूल लन्दन, 1903

लल्लनजी गोपाल : दि इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, (700-1200 ए० डी०), दिल्ली, 1965

वानग्रुनेबाम : मेडिवल इस्लाम, शिकागो, 1946

वाहेद हुसेन : एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस ड्यूरिंग दि मुस्लिम रूल इन इण्डिया, कलकत्ता, 1930

विल डुरन्ट	: दि एज ऑफ फेथ, न्यूयार्क, 1950
विलियम इरविन	: लेटर मुगल्स, जिल्द 2, सम्पादक यदुनाथ सरकार, कलकत्ता
	: दि आर्मी ऑफ दि इण्डियन मुगल्स, दिल्ली, 1962
विन्सेन्ट स्मिथ	: अकबर दि ग्रेट मोगल, दिल्ली, 1958
	: ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, आक्सफोर्ड, 1930
वी० उपाध्याय	: सोश्यो रिलीजस कन्डीशन ऑफ नार्थ इण्डिया, वाराणसी, 1964
वैद्या	: हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, जिल्द 3, पूना, 1924
श्री राम शर्मा	: दि रिलीजस पालिसी ऑफ दि मुगल एम्परर्स, बम्बई, 1940
	: मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, बम्बई, 1951
	: स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, शोलापुर, 1956
	: मुगल एम्पायर इन इण्डिया, जिल्द 3, बम्बई, 1940-45
सतीश चन्द्र	: पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट, अलीगढ़, 1959
सतीश चन्द्र	: मेडिवल इण्डिया, सोसाइटी दि जागीरदारी क्राइसिस एण्ड दि विलेज, 1986
सर टामस रो एण्ड डॉ० जान फ्रायर	: ट्रेवेल्स इन इण्डिया इन दि सेवेन्टीन्थ सेंचुरी, लन्दन, 1813
सिद्दिकी	: वीमेन इन इस्लाम, लाहौर, 1959
सैय्यद अमीर अली	: दि इस्लामिक कल्चर, लन्दन, 1957
	: दि स्पिरिट ऑफ इस्लाम, लन्दन, 1955
सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी	: मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेन्ट इन नार्दन इण्डिया इन सिक्स्टीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरीज, आगरा, 1965
हमीदा खातून नकवी	: अर्बनाइजेशन एण्ड अर्बन सेन्टर्स अण्डर दि ग्रेट मुगल्स (1556-1707), शिमला, 1972

लेख

आई० एच० सिद्दिकी : 'दि नोबिलिटी अण्डर दि खल्जी सुल्तान्स', **इस्लामिक कल्चर**, जनवरी 1963, जिल्द xxxvii

इरफान हबीब : 'इकनामिक हिस्ट्री आफ देहली सल्तनत,' एन एसे इन इन्टरप्रेटेशन' **इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस**, 1978

: 'पीजेण्ट इन इण्डियन हिस्ट्री', **प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस इण्डियन, हिस्ट्री कांग्रेस**, 1982

: 'जमीनदार इन दि आईन' **इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस**, 1958

ई० रेहतेस्क : 'अर्ली मुस्लिम एकाउन्ट ऑफ दि हिन्दू रिलीजन', जर्नल ऑफ **रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल**, जिल्द xiv, (1878-80)

ए० सी० बनर्जी : 'इस्लामिक ट्रेडिशन्स इन दि सल्तनत ऑफ देहली', **जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री**, जिल्द xiv, 1937, भाग 1 से 3

: किंगशिप एण्ड नोबिलिटी इन दि थर्टीन्थ एण्ड फोर्टीन्थ सेंचुरी, **इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटिरली**, जिल्द xi, 1935

ए० के० सेन : 'आन स्लेवरी इन मेडिवल इण्डिया', **इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस**, 1956

एम० एल० माथुर : 'मेवाड़ एण्ड दि टर्किश इनवेडर्स ऑफ इण्डिया', **जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री**, जिल्द xxxii, 1954

एम० ए० अन्सारी : 'एम्यूजमेन्ट एण्ड गेम्स ऑफ दि ग्रेट मुगल्स', **इस्लामिक कल्चर**, जिल्द 35, 1961

एच० के० शेरवानी : कल्चरल सिंथेसिस इन मेडिवल इण्डिया,' **जर्नल ऑफ इण्डिन हिस्ट्री**, जिल्द xii, भाग 1, अप्रैल, 1963

कन्हैयालाल श्रीवास्तव : 'दि नोबिलिटी अण्डर कुतबुद्दीन ऐबक एण्ड इल्तुतमिश (1206–1236), **प्रज्ञा** : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, जिल्द xvi, भाग 2, मार्च, 1971

'नोबिलिटी अण्डर दि ममलूक सुल्तान्स ऑफ देहली', **प्रज्ञा** : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, जिल्द xviii, भाग 2, मार्च, 1973

के० एस० लाल	: फूड एण्ड ड्रिंक इन मेडिवल इण्डिया, **इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली**, जिल्द 28 पृ० 192–97
जे० एच० कजिन्स	: 'एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया', **ईस्टर्न टाइम्स**, 1935
मोहम्मद यासीन	: 'सोशल कन्डीशन इन मेडिवल इण्डिया' **जम्मू एण्ड कश्मीर यूनिवर्सिटी रिव्यू**, 1967
युसूफ अब्दुल्ला	: 'सोशल इंकनामिक कन्डीशन्स ड्यूरिंग दि मिडिल एजेस ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री', **इस्लामिक कल्चर, जिल्द xiii**, 1939; जिल्द xiv, 1940
युसूफ अली	: 'दि सोशल इकनामिक लाइफ इन मेडिवल इण्डिया', **इस्लामिक कल्चर**, जिल्द 4, 1930
	'सोशल एण्ड इकनामिक कन्डीशन ड्यूरिंग दि मिडिल एजेज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री **इस्लामिक कल्चर**, जिल्द 2, जुलाई, 1928
युसूफ हुसेन खाँ	: 'सोशल इकनामिक कन्डीशन इन मेडिवल इण्डिया', **इस्लामिक कल्चर**, जिल्द xxx, 1956

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
तारीखे फरिश्ता भाग-1	अनु0 डा0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	400.00
तारीखे फरिश्ता भाग-2	अनु0 डॉ0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	330.00
पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास भाग-1 व 2	अनु0 पदमाकर चौबे एवं कुमारी मिसला मिश्र	186.00
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय	150.00
भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेई	195.00
उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	200.00
कौटिल्य कालीन भारत	आचार्य दीपांकर	87.00
कन्नौज का इतिहास	पं0 आनंदस्वरूप मिश्र	175.00
विश्व इतिहास	डॉ0 रामप्रसाद त्रिपाठी	75.00
क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डा0 ईश्वरी प्रसाद	40.00
उ0प्र0 के बौद्ध केन्द्र	प्रो0 अँगने लाल	166.00
पश्चिमी एशिया	डॉ0 के0के0 कौल	168.00
देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक	भगवती प्रसाद पांथरी	120.00
भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ0 राजेन्द्र पाण्डेय	80.00
प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	72.00
भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व	डॉ0 धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल	120.00
सिन्धु सभ्यता	डॉ. किरण कुमार थपल्याल एवं डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल	200.00
संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति	प्रो0 अँगने लाल	150.00
उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	100.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-58-2 संस्करण : षष्ठम् मूल्य रुपये 190=00